हिन्दी शब्दानुशासन

(भाषाविज्ञान से संवलित हिन्दी का मौलिक व्याकरण)

प्रथम आवृति, संवत् २०१४ वि०

लेखक

पं० किशोरीदास वाजपेयी, शास्त्री

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

ष विज्ञान ग्रन्थमाला

हिन्दी शब्दानुशासन

(भाषाविज्ञान से संवलित हिन्दी का मौलिक व्याकरण)

लेखक

पं० किशोरीदास वाजपेयी, शास्त्री

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
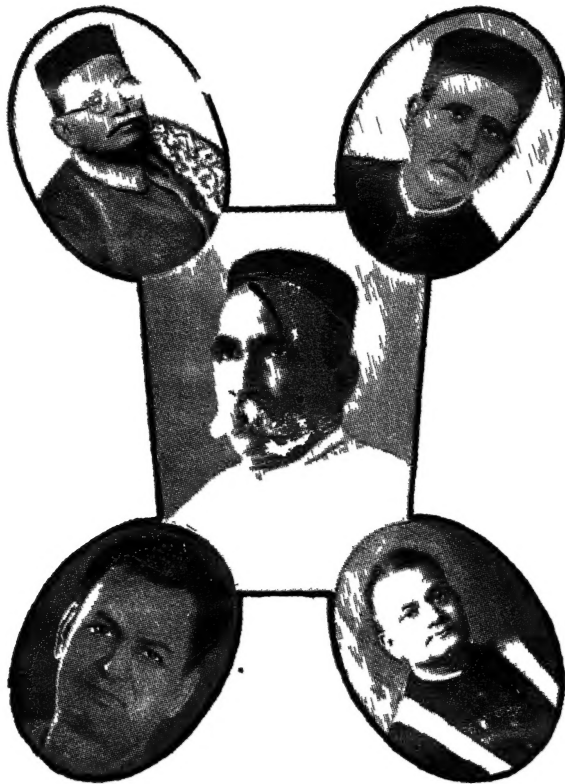
जो इस कृति के 'प्रेरक, कर्ता,'
जो है इस चिन्तन के बीज;
उन्हे छांड फिर और किसे यह,
करूं समर्पित उनकी चीज ?

श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी | श्री कामताप्रसाद गुरु
आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी
श्री राहुल साकृत्यायन | श्री अमरनाथ झा

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी

(महापंडित राहुल सांकृत्यायन)*

आज की दुनिया में कितना अन्धेर है, विशेष कर हमारे देश का सांस्कृतिक तल कितना नीचा है, इसका सब से ज्वलन्त उदाहरण हमें पंडित किशोरी दास वाजपेयी के साथ हुए और हो रहे बर्ताव से मालूम होता है। प्रतिभाएँ सभी क्षेत्रों में एवरेस्ट-शिखर नहीं होतीं; परन्तु जब किसी क्षेत्र में किसी पुरुष का उत्कर्ष साबित हो गया, तो उसकी कदर करना और उससे काम लेना समाज का कर्त्तव्य है। आज बहुत थोड़े लोग हैं, जो पं० किशोरीदास जी को समझते हैं। उनमें भी बहुतेरे उनके अक्खड़ स्वभाव या अपनी ईर्ष्या से नहीं चाहते कि लोग इस अनमोल हीरे को समझें, इसकी कदर करें! इसका परिणाम यह हो रहा है कि हिन्दी उनकी सर्वोच्च देनों द्वारा परिपूर्ण होने से बंचित हो रही है और उन्हें लिखना पड़ रहा है—"मैं क्या गर्व करूँ! गर्व प्रकट करने योग्य चीजें तो अभी तक दे ही नहीं पाया हूँ!" वाजपेयी जी पाँच बड़ी-बड़ी जिल्दों में हिन्दी को निर्वचनात्मक (निरुक्तीय) कोश दे सकते हैं; पर उस की जगह वे 'हिन्दी निरुक्त' के रूप में उस की भूमिका भर ही लिख सके हैं! वे हमें 'हिन्दी का महाव्याकरण' दे सकते हैं; पर यदि हमने उनके प्रति ऐसी ही उपेक्षा दिखलाई, तो 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' से ही संतोष करना पड़ेगा; यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि वह व्याकरण बिलकुल अपूर्ण है।

वाजपेयी जी किन विषयों पर अधिकारपूर्वक लिख सकते हैं; इसके बारे में उन्हों ने स्वयं लिखा है—"मैं जिन विषयों पर कुछ अच्छा लिख सकता हूँ; वे ये हैं—(१) काव्य के तत्त्व, रस, अलङ्कार, शब्द-शक्ति आदि। (२) हिन्दी का व्याकरण (३) निरुक्त (४) हिन्दी-साहित्य का इतिहास (५) बहुविज्ञापित हिन्दी का रहस्यवाद (६) कांग्रेस-युग का राजनैतिक

---

* ग्रन्थ की पूर्वपीठिका में राहुल जी के जिस लेख का उल्लेख हुआ है, वह ऐतिहासिक महत्त्व रखता है; इसलिए यहाँ ज्यों का त्यों दिया जा रहा है।

इतिहास (७) धर्मविज्ञान (८) शब्द-शिल्प। प्रायः इन सभी विषयों के नमूने मैं दे चुका हूँ। अब यह देश पर अवलम्बित है कि मुझसे कोई काम ले, या न ले।"

इन सभी विषयों पर अपने विशाल ज्ञान और सूझ के कारण कितनी ही नई चीजें वे दे सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं; पर जिन दो विषयों में उनके समकक्ष इस समय हिन्दी में कोई नहीं है, वे हैं व्याकरण और निरुक्त। उनका यह लिखना बिलकुल बजा है कि "कोई मुझे गाली न दे कि वह इस विषय पर लिख सकता था; पर कम्बख्त साथ ही सब लेकर मर गया!" वाजपेयी जी को लोग गाली नहीं देंगे; बल्कि आज के हिन्दी वालों को गाली देंगे। और विषयों पर काफी लिखा गया है; लिखने की क्षमता और रुचि रखने वाले लोगों की शायद कमी भी नहीं है; पर उपरोक्त दोनो विषय अभी पूरी तौर से अवगाहन नहीं किए जा सके हैं। ये केवल परिश्रम-साध्य ही नहीं हैं; इनके लिए प्रथम श्रेणी की प्रतिभा और साथ ही गम्भीर अध्ययन की जरूरत है।

प्रतिभा का प्रथम परिचय

पंजाब में १९१९ के मार्शल-ला के दिनों के एक सप्ताह पहले लाहौर में संस्कृत की सर्वोच्च 'शास्त्री' परीक्षा हुई थी। इन पंक्तियों का लेखक भी डी० ए० वी० कालेज से भेजे गए परीक्षार्थियों में से एक था। परीक्षा का परिणाम उस साल कितना कठिन था, यह इसी से मालूम होगा कि हमारे कालेज से भेजे गए प्रायः एक दर्जन विद्यार्थियों में से एक भी पास न हुआ! मैं घर के इम्तहान में प्रथम आया था और विश्वविद्यालय-परीक्षा में चारो खाने चित्त होने वालों में भी प्रथम था! मार्शल-ला के समय में ही परीक्षा का परिणाम निकला, जिसमें उस साल 'शास्त्री' में सर्वप्रथम आने वाले छात्र का नाम था—किशोरी दास। सभी विद्यार्थियों के मन में जिज्ञासा थी कि शास्त्री-परीक्षा के हत्याकाण्ड में यह असाधारण सफलता-प्राप्त वीर कौन है? हमें यही मालूम हो सका कि वह वृन्दावन का एक वैष्णव साधु है। उस समय हम यही आशा रखते थे कि किशोरीदास पुराने विचारों का, पगडंडी पर चलने वाला, हमारे सैकड़ों संस्कृत के विद्वानों में से एक हो गा। उस समय हम उसी युग में थे, जब कि संस्कृत के विद्वान् भी हिन्दी को उसी दृष्टि से देखते थे, जैसे हिन्दू-आंग्लियन लोग गँवारों और असंस्कृतों की श्रद्धा-

भाजन भाषा को, जिस में पढ़ने और सुनने लायक कुछ भी नहीं है ! अब भी उन लोगों के नामलेवा खत्म नहीं हुए हैं ! हाँ, अब उनकी बातें एक मनोरंजक उपहास की चीज जरूर हैं और वे अधिकतर उर्दू वालों के मुँह से सुनने में आती हैं।

हिन्दी की सार्वभौम सत्ता

किशोरीदास को मथुरा-वृन्दावन के बैरागियों के सम्पर्क से ही हिन्दी (ब्रजभाषा) कविता के साथ परिचय प्राप्त करने का अवसर मिल सकता था; पर उसके प्रति आदर तभी हो सकता था, जबकि वे संस्कृत के पंडितों को वैसा करते देखते। यह काम उन के लिए मधुसूदन गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी, राधाचरण गोस्वामी जैसे हिन्दी के स्वनामधन्य पितामहों ने किया। वाजपेयी जी लिखते हैं—"श्री किशोरीलाल गोस्वामी से इस लिए झगड़ बैठा था कि मेरे एक वाक्य में 'दश प्रकार की भक्ति' के 'दश' को काट कर 'दस' गलत क्यों कर दिया गया ! गोस्वामी जी उस समय (१९१६ ई० में) मुस्करा कर केवल इतना बोले थे कि हिन्दी में 'दश' की जगह 'दस' ही चलता है, यह सब आगे मालूम हो जाएगा।" यह देखने में छोटी-सी बात किशोरी दास जी के लिए बड़ी जबर्दस्त शिक्षा थी। वे समझने लगे थे कि हिन्दी एकदम संस्कृत की चेरी नहीं है; इसी लिए उस पर हर समय संस्कृत के व्याकरण को लादने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। संस्कृतज्ञ हिन्दी-लेखक अब भी इस धींगामुश्ती से बरी या बाज नहीं आते ! वस्तुतः इस दृष्टिकोण को छोड़े बिना वे अनेक हिन्दी-शब्दों का ठीक से निर्वचन नहीं कर पाते हैं। जब उनका सामना हिन्दी शब्दों से पड़ता है, तो वे यह नहीं समझ पाते कि हम संस्कृत-सार्वभौम के किसी छोटे-मोटे माण्डलिक के सामने नहीं खड़े हैं। हिन्दी अपने क्षेत्र में स्वयं सार्वभौम सत्ता रखती है। यहाँ उसके अपने नियम-कानून लागू होते हैं। हिन्दी में जो तत्सम (शुद्ध संस्कृत) शब्द आते भी हैं, वे संस्कृत की नहीं, बल्कि हिन्दी की प्रजा हैं और इस लिए हर समय संस्कृत (व्याकरण) के कानून की दुहाई नहीं देनी चाहिए। किसी संस्कृत के पंडित से यह आशा करना मुश्किल है।

इसका यह अर्थ नहीं कि वाजपेयी जी को इस के लिए अपने संस्कृत के ज्ञान को भुलाने की आवश्यकता पड़ी। संस्कृत-व्याकरण और निरुक्त

के आचार्यों ने धूप में अपने केश नहीं सफेद किए थे। उन्हों ने अपने व्यापक अध्ययन और पर्यवेक्षण द्वारा कितने ही ऐसे नियमों का आविष्कार किया था, जो हर काल और हर भाषा के लिए आम तौर से तथा हिन्दी के लिए खास तौर से उपयोगी हैं। अपनी सवा सौ पृष्ठों की छोटी-सी पुस्तक 'हिन्दी निरुक्त' में यास्क के बतलाए नियमों का उन्होंने बड़े चमत्कारी रूप में इस्तेमाल किया है! यह सभी जानते हैं कि पुराने अकाट्य नियमों का भी प्रयोग नई परिस्थिति में करना साधारण आदमी का काम नहीं है। पर वाजपेयी जी केवल पुराणों की देनों से ही संतुष्ट रहने वाले पुरुष नहीं हैं। 'अवधी' के वे सुपुत्र हैं तथा 'व्रज' और 'कौरवी' की भूमि में चिर और एकान्त निवास के समय उन्हों ने जन-मुख से निकले शब्दों को साधारण श्रोता के तौर पर नहीं सुना। उनके मनन का ही परिणाम है कि वे हिन्दी के शब्दों की सात पीढ़ी तक की नब्ज पहचानते हैं! पुराने शास्त्र-वाक्यों और आज की जीवित शब्द-राशि की सहायता बिना हिन्दी का व्याकरण और निरुक्त पूर्ण रूप से निष्पन्न नहीं हो सकते। व्याकरण और निरुक्त दोनो बड़े ही नीरस विषय हैं; पर वाजपेयी जी के हाथों में पहुँच कर वे कितने रोचक हो जाते हैं, इसे उनके ग्रन्थों को पढ़ने वाले भली-भाँति जानते हैं।

व्याकरण, निरुक्त और रस के भी पहलवान!

मैंने वाजपेयी जी को व्याकरण और निरुक्त (भाषा-तत्त्व) के आचार्य के तौर पर ही यहाँ पाठकों के सामने रखा है; पर वे साहित्य के भी आचार्य हैं। पंडित शालग्राम शास्त्री अपने समय के माने हुए संस्कृत के विद्वान् थे। वे अखिल-भारतीय संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन के सभापति भी बनाए गए थे। उनका हिन्दी पर भी कुछ छोह था, जिसका प्रमाण 'साहित्य-दर्पण' पर उनकी हिन्दी में 'विमला' टीका है। शास्त्री जी ने अपनी टीका में पुराने आचार्यों की बहुत कठोर आलोचना अभद्र भाषा में की थी। वाजपेयी जी ने उसे पढ़कर टीका के सुंदर होने की दाद दी; पर साथ ही उनकी खूब खबर लेते हुए कहा—"खंडन स्वर्गीय साहित्यकारों की कृतियों का कीजिए; पर उनके लिए शब्द-प्रयोग तो शिष्टजनोचित चाहिए!" 'विमला' की कठोर आलोचना लेखमाला के रूप में बहुत समय तक निकलती रही। शालग्राम शास्त्री और उनके अभिन्न मित्र पंडित पद्मसिंह शर्मा उससे बहुत तिलमिलाए! जवाब में दो-तीन लेख भी लिखवाए; पर वाजपेयी जी के प्रहारों का उनके

पास जवाब नहीं था। इस प्रकार स्पष्ट है कि किशोरीदास जी रस और अलङ्कार के अखाड़े के भी भारी पहलवान हैं। असहयोग के जमाने में असहयोगी किशोरीदास जी ने 'रस और अलङ्कार' के नाम से एक पुस्तक लिख डाली, जिसके स्वरचित सारे उदाहरण देशभक्ति और स्वातंत्र्य-प्रेम से इतने ओत-प्रोत थे कि पुस्तक के छपते ही बम्बई-सरकार ने उसे जब्त कर लिया !

सो, वाजपेयी जी साहित्य के भी आचार्य हैं; इसमें सन्देह नहीं। इस का और स्पष्ट प्रमाण पंडित पद्मसिंह शर्मा के 'संजीवन-भाष्य' पर उन की आलोचनात्मक लेखमाला है। वाजपेयी जी के ऊपर 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' की सूक्ति पूरी तौर से चरितार्थ होती है। पद्मसिंह शर्मा का खूब खण्डन उन्होंने 'बिहारी सतसई और उनके टीकाकार' नामक लेखमाला के रूप में करना शुरू किया। पर जब शर्मा जी का निधन हो गया, तो उन्होंने न छपे भाग को मँगवा कर नष्ट कर दिया और कहा—"जब सुनने वाला ही न रहा, तो बात कहने का फल क्या !" आज वाजपेयी जी प्यालों से नहीं, लोटों से चाय पीते हैं और पीते वक्त एक टीस-भरी आवाज में कह उठते हैं—"शर्मा जी ने मुझे चाय पीना सिखा दिया !"

नाजबरदारी की आवश्यकता

हरेक असाधारण प्रतिभाशाली पुरुष में कुछ ऐसी विलक्षणता या विशिष्टता भी होती है, जिसे सभ्य गुणग्राही समाज को बर्दाश्त करने के लिए तैयार रहना पड़ता है। यह कोई मँहगा सौदा नहीं है; क्योंकि थोड़ी-सी नाजबरदारी करके आप उनसे बहुमूल्य वस्तु प्राप्त कर सकते हैं। प्रतिभाएँ 'सात खून माफ' वाली श्रेणी में होती हैं। पावलोफ् लेनिन तथा सभी बोलशेविकों को हमेशा गालियाँ सुनाता था, जब कि बोल्शेविक अभी-अभी अधिकारारूढ़ हुए ही थे। लेकिन लेनिन उसकी सारी कटूक्तियों को हँसकर टाल दिया करते थे और कहते थे कि पावलोफ् जीवन और मनोविज्ञान के ऐसे तत्त्वों और तथ्यों का आविष्कार कर रहा है, जो मार्क्सवादी भौतिकवाद के जबर्दस्त समर्थक हैं। यह प्रतिभाओं की कदरदानी, उनकी नाजबरदारी और सब तरह से उनकी सेवा की भावना ही है, जिसके कारण बोल्शेविक आज ज्ञान-विज्ञान में दुनियाँ के अगुआ हैं।

किशोरीदास वाजपेयी के जीवन में हम क्या पाते हैं ? उन्हें अपने साहित्यिक जीवन के पिछले तीस साल चिन्ता और आर्थिक संघर्षों में बिताने पड़े हैं ! भला, जो नून-तेल-लकड़ी की चिन्ता से परेशान हो, वह सरस्वती की एकान्त साधना निश्चिन्त होकर कैसे कर सकता है ? पर आश्चर्य है कि इतने पर भी कई अनमोल पुस्तकें उन्होंने हमें दी हैं ! हिन्दी साहित्य के कितने ही विषय हैं, जिन पर खुलकर लिखने के उनके जैसे अधिकारी नहीं हैं। "इसे सार्वजनिक रूप से प्रकट की गई मेरी सफाई या वसीयतनामा भी समझ सकते हैं।" अपनी सफाई में उन्होंने कबूल किया है कि "यह गर्व बहुत करता है।" (पर) "गर्व की भावना प्रकृति या भगवान् ने पैदा की है।" "इस व्यक्ति का झगड़ालूपन ही वैसी असफलता का कारण है।"*

'गर्व करता है' 'झगड़ालू है' आदि कह कर हम किशोरीदास जी जैसी प्रतिभाओं की उपेक्षा करके आनेवाली पीढ़ियों के सामने मुँह नहीं दिखा सकते। किशोरीदास जी यदि वैसे ही चुपचाप चले जाते, जैसे बालू की पद-रेख, तो दूसरी बात थी; पर उन्होंने जो थोड़ी-सी चीजें हमें दी हैं, वे उनकी असाधारण क्षमता का परिचय देंगी और फिर कैसे हम उनके समकालीन अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो सकेंगे ? इस वक्त हमें दसवीं सदी के अपभ्रंश के महान् कवि पुष्पदन्त याद आते हैं। वे भी उन्हीं 'दुर्गुणों' के शिकार थे, जिनके हमारे वाजपेयी जी हैं ! पुष्पदन्त परिवार-मुक्त थे, यह उनके पक्ष में अच्छी बात थी। किशोरीदास जी भी कभी पुष्पदन्त जैसे ही फक्कड़ हो घूमते रहे। पुष्पदन्त अपने नाजदरबार-मन्त्री भरत के पास अपने पहुँचने का वर्णन करते हैं :—

"..................। महि परिभमन्तु नेपाडि णयरु ।
अवहेरिय खल-यणु गुण-महन्तु । दियहेहिंपराइयु पुष्फयंतु ।
दुग्गम दीहरपंथेण रीणु । णवयंतु जेम देहेण खीणु ।"

धूलिधूसरित थके-माँदे कृश-शरीर पुष्पदन्त को देखकर मन्त्री ने पूछा—"आप क्यों किसी सुन्दर विशाल नगर में नहीं प्रवेश करते ?" जवाब में 'अभिमान-मेरु' पुष्पदन्त ने कहा:—

"तं सुणिवि भणई अहिमाणमेरु । वरि खज्जइ गिरिकन्दरिकसेरु ।
णउ दुज्जण-भउंहा-बंकियाइं । दीसन्तु कलुस-भावंकियाइं ।

---

* 'साहित्यिक जीवन के अनुभव और संस्मरण'

चमराणि ल उड्डाविय गुणाइं । अहिसेय धोय सुयणतणाइं ।
संपइ जण णीरसु णिविवसेसु । गुणवन्तउ जहि सुर-गुरु-विवेसु ।
तहं अहमइ काणणु जि सरणु । अहिमाणे सहुँव वरि होउ मरणु ।"

धनियों और सामन्तों की नाजबरदारी करने की जगह पुष्पदन्त ने गिरि-कन्दरा के कसेरू खाकर कानन में शरण लेना पसन्द किया था। वाजपेयी जी भी 'अभिमानमेरु' हैं। वे भी पुष्पदन्त के मार्ग को पकड़ सकते थे, पर परिवार की जिम्मेदारी जो सिरपर है! इससे भी बढ़कर वे अपनी प्रतिभा के मूल्य को समझते हुए हिन्दी को अपनी देनों से समृद्ध करने की तीव्र लालसा रखते हैं; इसलिए बहुत पहले छोड़ आए पुष्पदन्त के मार्ग को अपना कैसे सकते हैं? लिखने के लिए भी बहुत-सी पुस्तकों की आवश्यकता होती है। एक आवश्यक पुस्तक के बारे में उन्होंने लिखा है (२६-७-५४)—"बहुत दिनों से मँगाने की इच्छा थी, पर इतने भी पैसे न बचा पाया।" कैसी विडम्बना है!

मैं इस लेखको उनकी छोटी-सी जीवनी नहीं बनाना चाहता, फिर भी जन्मतिथि और जन्मस्थान दे देना चाहता था। जानता था कि वे ऊपर ही ऊपर मेरा कुछ लिखना पसन्द न करेंगे। पर मैं दुर्वासा के अभिशाप को सिर-माथे पर चढ़ाने के लिए तैयार था। उन्होंने मेरी जिज्ञासा की पूर्ति निम्न पंक्तियों में की (२६-७-५४)—"आपने मेरी जन्मतिथि पूछी है, जो मुझे मालूम नहीं; क्योंकि वह सब बताने वाले माता-पिता मुझे दस वर्ष का छोड़ स्वर्गवासी हो गए थे। अन्दाजा यह है कि इस सदी से दो-तीन वर्ष आगे हूँ।··· मैं ५६-५७ का होऊँगा। पर यह सब आप किस लिए पूछ रहे हैं? मेरा व्यक्तित्व जो कुछ है, सब जानते हैं। कहीं कुछ छुपाना अनावश्यक है।"

क्या यह दुनिया एक क्षण के लिए भी बर्दाश्त करने लायक है, जिसमें अनमोल प्रतिभाओं को काम करने का अवसर न मिले और ऐरेगैरे-नत्थूखैरे गुलछर्रे उड़ाते राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय मंचपर अपना नाच दिखलाएँ?

———
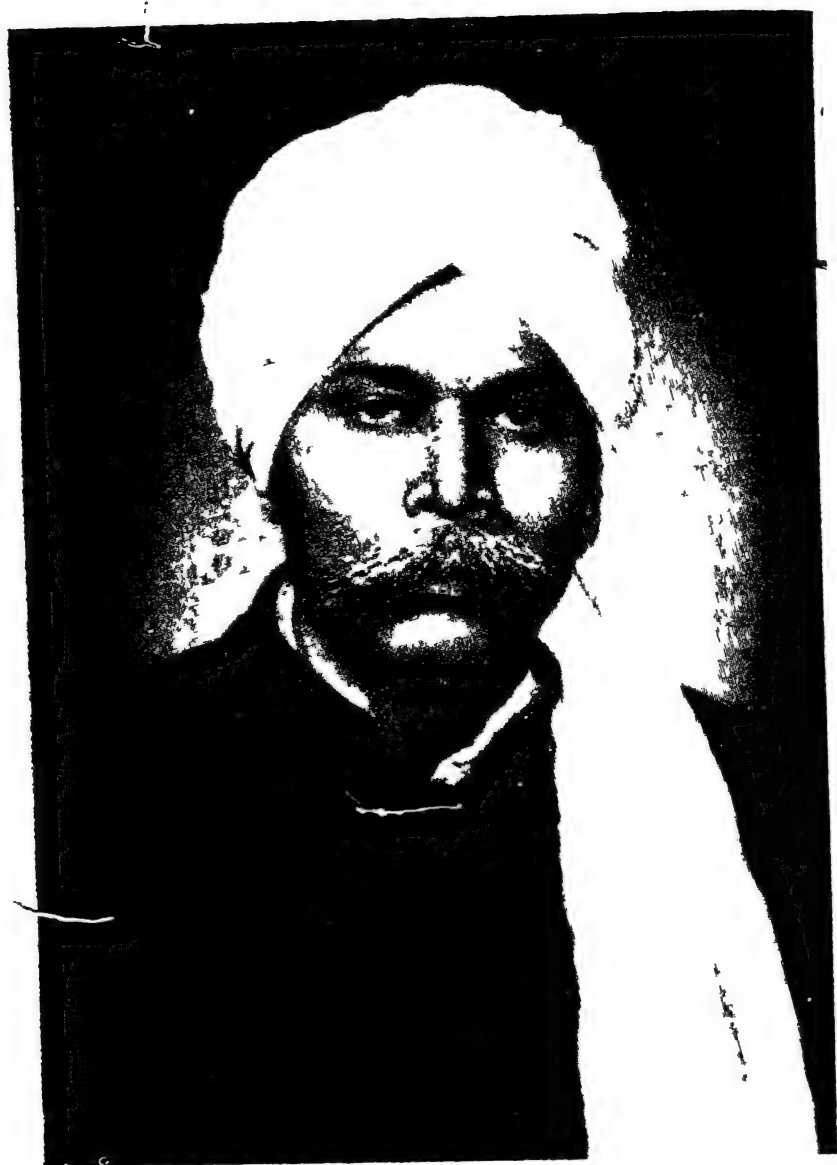
लेखक

लेखक का निवेदन

युक्तोऽयमात्मसदृशान् प्रति मे प्रयत्नः,
नाऽस्त्येव तज्जगति सर्वमनोहरं यत्!
केचिज्ज्वलन्ति, विकसन्त्यपरे निमीलन्-
त्यन्ये यदभ्युदयभाजि जगत्प्रदीपे।
—आचार्य भामह

'हिन्दी शब्दानुशासन' यह आप के हाथों में है। कैसा है, क्या है, यह सब कहना-बतलाना कोई अर्थ नहीं रखता।

मेरी इच्छा थी कि इस पर विद्वान् विचार-विमर्श करते चलें, तो अच्छा। इस लिए मैं ने 'सभा' को पत्र लिखा कि मैं महीने के महीने लिखा हुआ अंश भेजता जाऊँ गा और 'सभा' इस की दस प्रतियाँ टंकित करा-करा के अधिकारी विद्वानों की सेवा में महीने के महीने भेजती रहे, जिस से कि साथ के साथ विद्वानों के परामर्श मिलते रहें, उन पर विचार कर के वस्तु का परिमार्जन होता चले। ऐसा ही किया गया और अधिकारी विद्वानों से निवेदन किया गया कि इस ग्रन्थ में व्याकरण तथा भाषाविज्ञान सम्बन्धी नई उद्भावनाएँ हैं; इस लिए इन पर विचार कर के परामर्श देते रहने की कृपा करें—मत-विमत प्रकट करते रहें, जिस से कि चीज का निखार साथ-साथ होता चले। ग्रन्थ के आदि से अन्त तक की प्रतियाँ बराबर भेजी गईं। विद्वानों ने कृपा कर के उत्तर भी दिए; पर व्याकरण तथा भाषाविज्ञान की किसी भी उद्भावना पर किसी ने भी कोई मत प्रकट नहीं किया। डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने तो इतना ही लिख भेजा कि 'वाजपेयी जी इस विषय पर लिखने के पूर्ण अधिकारी हैं।' आदरणीय पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने भी व्याकरण के किसी सिद्धान्त पर तो कोई बात नहीं कही; परन्तु संस्कृत आकारान्त स्त्रीलिङ्ग संज्ञाओं को हिन्दी तद्भव-रूप में जो अकारान्त हो जाने की कारण-उद्भावना मैं ने की है, उस का अनुमोदन किया और 'नागरी' भाषा तथा लिपि के संबन्ध में लिखा कि मेरा भी यही मत है। वाजपेयी जी की सम्मति तो १६४३ में ही मालूम हो गई थी, जब मेरे व्रजभाषा-व्याकरण के भूमिका-भाग को आप ने खुल कर स्पष्ट-रूप से 'हिन्दी के व्याकरणों का

व्याकरण' बतलाया था। आचार्य द्विवेदी तथा आचार्य वाजपेयी के स्पष्ट समर्थन ने ही मुझे वैसी हिम्मत दी कि आगे बढ़ता गया।

इस ग्रन्थ के तयार करने-कराने में सब से बड़ा हाथ है महापण्डित राहुल सांकृत्यायन; का यह बात 'पूर्व-पीठिका' के अन्तिम पृष्ठों से ज्ञात हो गी। राहुल जी टंकित प्रति पढ़ कर सम्मति भी बराबर भेजते रहे; पर 'पूर्व-पीठिका' से ही संबद्ध विषयों पर। जैसे कि—वेदों के रचना-काल के बारे में उन्हो ने लिखा कि वेदो को बने इतने दिन नहीं, इतने दिन हुए हैं। परन्तु मै बहुत कुछ 'सनातनी' भी तो हूँ। इस संबन्ध में अपने कुछ 'संस्कार' हैं, जो जोर मारते हैं। तर्क-सिद्ध बात भी संस्कार कभी-कभी नहीं ग्रहण करते! राहुल जी ने यह भी लिखा था कि 'प्राकृत' 'अपभ्रंश' नाम बहुत प्रसिद्ध हैं; इन्हें ही रखना चाहिए। 'प्राकृत' तो मै ने रखा ही है; 'अपभ्रंश' हटा दिया है। 'तीसरी प्राकृत' इसे मै ने कहा है; पर लिख दिया है कि 'इसे ही लोग 'अपभ्रंश' कहते हैं।' इस के अतिरिक्त, राहुल जी के ये भी निर्देश थे कि—

१—अवधी आदि का विवेचन करते समय 'जेहिका, 'केहिका' और 'ओढ़ावत है' 'छोड़ावति है' आदि के 'ए'–'ओ' का ह्रस्व उच्चारण प्रकट करने के लिए उलटी मात्राओ का उपयोग करना चाहिए। सो किया गया है।

२—राहुल जी ने यह भी लिखा था कि अन्त में हिन्दी-धातुओं की पूरी सूची रहनी चाहिए। यह नहीं हो सका है। मैं ने सूची-मात्र देने में कोई लाभ नहीं सोचा। उन का विकास-निकास आदि पूरी तरह न बताया जाए, तब तक मुझे सन्तोष नहीं और यह एक अलग काम है; कभी स्वतंत्र चीज के रूप में आ भी जाए; तो अचरज नहीं।

३—राहुल जी ने यह इच्छा प्रकट की थी कि जहाँ संस्कृत का कोई वाक्य दिया जाए, वहाँ उस का हिन्दी अर्थ भी दे दिया जाए; भले ही पाद-पीठिका में। उन के इस परामर्श पर अमल किया गया है; पर जहाँ वैसा जरूरी नहीं समझा, वहाँ हिन्दी-अर्थ नहीं भी दिया है। मूल ग्रन्थ लगने में दिक्कत न पड़े, इतना ही ध्यान रखा गया है।

४—राहुल जी ने 'स्थान'–'प्रयत्नों' की सारणी देने को लिखा था; पर 'स्थान'-'प्रयत्न' बहुत स्पष्ट हैं और जो 'आभ्यन्तर'-'बाह्य' प्रयत्न हिन्दी के काम ही नहीं आते, उन्हें स्थान ही नहीं दिया गया है।

मुझे पूर्ण सन्तोष है कि राहुल जी ने टंकित प्रति पूरे मनोयोग से पढ़ी और अपने सौ काम छोड़ कर आवश्यक परामर्श दिए।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक परामर्श यह दिया था कि 'पढ़े' 'पढ़े गा' आदि में 'इ' प्रत्यय न मान कर 'ए' मान लिया जाए, तो अच्छा रहे। पढ़+इ = 'पढ़े' की अपेक्षा 'पढ़+ए = 'पढ़े' वे अधिक पसन्द करते हैं। परन्तु वैसा करने पर भी 'पढ़' के अन्त्य 'अ' का लोप तो करना ही पड़े गा! तो फिर 'गुण'-सन्धि ही सही! परन्तु आचार्य द्विवेदी (अन्य भाषाविज्ञानियों की ही तरह) हिन्दी की 'पढ़' आदि धातुओं को 'हलन्त' मानते हैं! इस लिए अ-लोप की बात ही नहीं, उन के मत से। परन्तु मुझे तो 'पढ़' हलन्त नहीं, अकारान्त दिखाई पड़ रहा है और इसी लिए द्विवेदी जी की सम्मति मैं ग्रहण न कर सका। 'इ' प्रत्यय मानने में मेरे सामने एक आकर्षण अन्य भी रहा है। वह आकर्षण यह कि 'करिहै' आदि भविष्यत् काल की क्रियाओं में भी 'इ' प्रत्यय है। तब 'पढ़े गा' के 'पढ़े' में भी 'इ' ठीक। दूसरे, काशी की ओर "राम अब न पढ़ी' जैसे रूप भविष्यत् में बोलते हैं—'न पढ़ी'—न पढ़े गा। यह 'ई' भी 'पढ़े'–'पढ़े गा' आदि में 'इ' प्रत्यय मानने में एक कारण है। व्रजभाषा में 'पढ़ै'–'पढ़ै गो' जैसे रूप होते हैं। वहाँ अ + इ = 'ऐ' सन्धि है और यहाँ अ+इ = 'ए'। यदि 'ए' प्रत्यय मान लें, तो व्रजभाषा में 'ऐ' भिन्न प्रत्यय रहे गा, जो ठीक नहीं। प्रत्यय-भेद क्यों किया जाए, जब कि सन्धि-भेद है ही।

बस, और कोई सम्मति कहीं से नहीं मिली। 'मौनं सम्मतिलक्षणम्' समझिए। 'ने' विभक्ति की उद्भावना जब मैं ने पहले प्रकट की थी, तब (१६४३) में 'डी० वर्मा' नाम से एक सज्जन ने 'लीडर' में मेरा मजाक उड़ाया था! पर अब तो सभी मान गए हैं। इस ग्रन्थ में कई नई उद्भवनाएँ मिलें गी। हिन्दी की संबन्ध-विभक्तियाँ (के, रे, ने) प्रकट हुई हैं। का, के, की—रा, रे, री—ना, ने नी संबन्ध-प्रत्यय हैं, विभक्ति नहीं। यह बात तो व्रजभाषा-व्याकरण में ही प्रकट कर दी गई थी। अब (के, रे, ने) संबन्ध-विभक्तियाँ स्पष्ट हो गई हैं—उन संबन्ध-प्रत्ययों से भिन्न। इस से हिन्दी-व्याकरण का स्वरूप निखर उठा है। इन विभक्तियों के उद्भव की परम्परा भी उद्भावित की गई है। पहले 'व्याकरण' था कहाँ हिन्दी का? 'राम ने रोटी खाई' को लोग 'कर्तृवाच्य' क्रिया समझाया करते थे! 'का, के, की' को विभक्तियाँ कहा करते थे! 'ने' को करण-

कारक की विभक्ति कहा करते थे ! 'जब'–'तब' आदि को क्रिया-विशेषण कहा करते थे ! 'राम को घर जाना है' इत्यादि वाक्यों को 'अनियमित' बतलाया करते थे ! कहाँ तक लिखा जाए ! मैं ने अपने व्रजभाषा-व्याकरण के भूमिका भाग में इन सब बातों की समीक्षा की है । वही हिन्दी-व्याकरण की नींव समझिए ।

इस व्याकरण में आप को हिन्दी की 'सिद्ध' और 'साध्य' क्रियाओं का स्पष्टीकरण भी मिले गा । इस से पता चले गा कि हिन्दी का विकास कितना वैज्ञानिक है ! निःसन्देह हिन्दी की पद्धति संस्कृत से भी अधिक कलात्मक तथा वैज्ञानिक है; यह आप स्वयं इस पुस्तक का अध्ययन कर के कहें गे । बहुत बड़ा काम हो गया है ।

आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन तथा डा० अमरनाथ झा के प्रोत्साहन और क्रियात्मक प्रेरणा का फल है कि यह ग्रन्थ सामने आ सका । 'सभा' के अधिकारी डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० राजबली पाण्डेय, पं० करुणापति त्रिपाठी तथा पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जैसे विद्वान् धन्यवाद के पात्र हैं, जिन के सहयोग से यह ग्रन्थ इतनी जल्दी प्रकाशित हो सका और मेरी इच्छा के अनुसार छपाई में इस की वर्तनी रखी जा सकी ।

पुस्तक में मुद्रण की ऐसी और इतनी गलतियाँ नहीं हैं कि 'शुद्धि-पत्र' छापना आवश्यक समझा जाए । व्याकरण-संबन्धी इतने बड़े जटिल ग्रन्थ में यदि कहीं छापे की भूल न रहती, तो अवश्य इस देश के लिए आश्चर्य की बात होती । 'सभा' का मुद्रण–विभाग बहुत योग्य है और पर्याप्त सावधानी से काम उस ने किया है; तदर्थ धन्यवाद ।

विद्वद्वर आचार्य पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ग्रन्थ का परिचय लिख कर गौरव प्रदान किया और डा० श्रीकृष्ण लाल जी ने अपने प्रकाशकीय वक्तव्य में व्याकरण-संबन्धी आवश्यक जानकारी दी है । इस के लिए कृतज्ञता प्रकट करना मेरा सब से प्रथम कर्तव्य है ।

कनखल (उ० प्र०)
१६–३–५८

—किशोरीदास वाजपेयी

भूमिका

मित्रवर पं० किशोरीदास जी वाजपेयी का यह 'हिंदी शब्दानुशासन' दीर्घकालीन चिंतन-मनन का परिणाम है। इसे प्रकाशित होते देख मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। वाजपेयी जी संस्कृत व्याकरण के सुपंडित हैं पर संस्कृत के अधिकांश विद्वानों की भाँति हिंदी को संस्कृत की पूर्ण अनुयायिनी मानने का आग्रह उनमें नहीं है। वे हिंदी की प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षक हैं। इस पुस्तक में उन्होंने हिंदी की इस प्रकृति का बड़ा अच्छा परिचय दिया है। सब लोग उनके निष्कर्षों से सहमत नहीं होंगे किंतु उन्होंने निष्कर्षों तक पहुँचने की पूरी प्रक्रिया बता दी है और विचारशील पाठक को स्वयं सोचने समझने को स्वतंत्र छोड़ दिया है। यह इस पुस्तक की बड़ी भारी विशेषता है। इसका पाठक वाजपेयी जी की विचार-पद्धति को, उसके समग्र रूप में, देख सकता है।

संस्कृत का व्याकरणशास्त्र केवल प्रकृति-प्रत्यय का विधान मात्र नहीं है। वह अपने-आप में परिपूर्ण दर्शन है। उसका रहस्य जाननेवाला भाषा मात्र का रहस्य समझता है। आधुनिक भाषाविज्ञान ने कई बातों में बड़ी उन्नति की है किंतु प्रत्येक भाषाशास्त्री संस्कृत व्याकरण की अत्यंत परिष्कृत विचारशैली का महत्त्व स्वीकार करता है। वाजपेयी जी ने उस व्याकरण शास्त्र की निर्मल दृष्टि पाई है। आधुनिक भाषाविज्ञान के निष्कर्षों की वे कहीं कहीं आलोचना कर गए हैं पर वस्तुतः वह भाषाविज्ञानियों के व्यक्तिगत रूप से गृहीत निष्कर्षों का विरोध है, भाषाविज्ञान का नहीं।

वाजपेयी जी फक्कड़ विद्वान् हैं। कबीरदास की तरह वे अपने विचारों पर दृढ़ विश्वास रखते हैं और उन्हीं की तरह वे दूसरों की बात को बिना कड़ी परीक्षा के ग्रहण नहीं करते। उनमें एक अजीब सरलता है। उनके विचारों में विश्वास का आग्रह अवश्य है परंतु जब वे दूसरों की बात को युक्तिसंगत मान लेते हैं तो आग्रह छोड़ने में जरा भी नहीं हिचकते। यह और बात है कि उनके सामने किसी बात को—जिसे वे अग्राह्य समझ चुके हैं—युक्तिसंगत सिद्ध करना बड़ा कठिन कार्य है। उनकी सरलता के साथ दृढ़ विश्वास का

जो मणिकांचन योग है उसे कभी कभी लोग अक्खड़पन मान लेते हैं। मैंने उन्हें जितना ही निकट से देखा है उतना ही उनके फक्कड़ स्वभाव के प्रति मेरा आकर्षण बढ़ा है। इस पुस्तक के कई प्रसंगों में उन्होंने बड़े धैर्य के साथ मुझे अपनी बात समझाई है, झुँझलाए बिल्कुल नहीं, पर सब समय उनकी बात मैं ठीक से समझ नहीं सका। जब भी मैंने कुछ समझकर उनकी बात मान ली तभी उनका चेहरा आनंद से खिल उठा। मेरा दुर्भाग्य यह रहा कि मैं कई अवसरों पर उनको आनंदोद्दीप्त नहीं देख पाया। मगर वाजपेयी जी हार माननेवाले नहीं हैं। उन्हें पूरा विश्वास है कि किसी शुभ मुहूर्त में मेरा रहा-सहा भ्रम भी दूर हो जाएगा।

वाजपेयी जी का यह ग्रंथ हिंदी व्याकरण को एक नये परिपार्श्व में देखने का आलोक देता है। यह इसकी बड़ी भारी विशेषता है। शास्त्रीय विचार-पद्धति में निष्कर्ष की अपेक्षा निष्कर्ष तक पहुँचने की प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण है। वाजपेयी जी का यह प्रयत्न निश्चित रूप से सहृदय विद्वानों को सोचने को बाध्य करेगा।

मुझे इस बात का खेद है कि वाजपेयी जी की प्रतिभा का यथोचित सम्मान हिंदी संसार ने नहीं किया है। उनके पास अभी देने योग्य बहुत सामग्री है। नागरीप्रचारिणी सभा ने इस ग्रंथ के रूप में उनकी प्रतिभा का एक अंश हिंदी संसार के सामने रखा है। अन्य संस्थाओं को भी उसका उपयोग करना चाहिए।

मेरा विश्वास है कि इस पुस्तक से हिंदी व्याकरण को एक नई दिशा प्राप्त होगी। अभी तक जो व्याकरण लिखे गए हैं वे प्रयोग-निर्देश तक ही सीमित हैं। इस पुस्तक में पहली बार व्याकरण के तत्त्वदर्शन का स्वरूप स्पष्ट हुआ है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्रकाशकीय वक्तव्य

(हिंदी-व्याकरण का विकास)

आज सभा की ओर से हिंदी शब्दानुशासन के रूप में व्याकरण का यह अभिनव ग्रंथ उपस्थित करते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। इससे पूर्व हिंदी व्याकरण के अनेक ग्रंथ प्रचार पा चुके हैं जिसमें सभा द्वारा प्रकाशित कामताप्रसाद गुरु का हिंदी व्याकरण अन्यतम रहा है। इतने ग्रंथों के रहते हुए भी जो इस व्याकरण को प्रकाशित करने की आवश्यकता जान पड़ी है उसके संबंध में कुछ निवेदन कर देना अनिवार्य जान पड़ता है।

हिंदी का व्याकरण आज से प्रायः ढाई सौ वर्ष पूर्व लिखा जाना प्रारंभ हुआ था। भारतवर्ष में व्याकरण लिखने की प्रथा अति प्राचीन है और संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं का व्याकरण हमारे आचार्यों ने विस्तार से लिखा है, परंतु हिंदी का व्याकरण लिखने की ओर शायद किसी का ध्यान गया ही नहीं। इसका कारण यही जान पड़ता है कि मध्यकाल में देश भाषा का आदर बहुत कम था। देववाणी संस्कृत की तुलना में लोक-वाणी का महत्व आचार्यों की दृष्टि में नगण्य था, इसीलिए तो सूर, तुलसी, विद्यापति, कबीर, मीराँ, बिहारी आदि महाकवियों की विशिष्ट रचनाएँ हो जाने पर भी लोक-भाषा की ओर आचार्यों की दृष्टि नहीं गई और वे संस्कृत व्याकरण की ऊहापोह में ही पड़े रहे। इसी कारण जहाँ रामानंद, नागेश भट्ट, पंडितराज जगन्नाथ आदि पंडितों ने संस्कृत व्याकरण-संबंधी अनेक रचनाएँ कीं, वहाँ देश भाषाओं की पूर्ण उपेक्षा की गई।

हिंदी भाषा का व्याकरण लिखने का प्रारंभिक प्रयास विक्रम की १८वीं शताब्दी में मिलता है। औरंगजेब के शासन काल (१७०४–१७५४ वि०) में मिर्जा खाँ ने व्रजभाषा का परिचयात्मक संक्षिप्त व्याकरण लिखा और प्रायः उसी समय हालैंड निवासी जोहन जोशुआ केटेलेर ने हिंदुस्तानी का एक व्याकरण लिखा जिसका परिचय डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ में 'हिंदुस्तानी का सबसे प्राचीन व्याकरण' शीर्षक एक लेख में दिया था। डा० ग्रियर्सन के मतानुसार यह व्याकरण सं० १७७२

(१७१५ ई०) के आसपास किसी समय लिखा गया होगा जो हालैंड के वाइडन नगर में १८०० वि० (१७४३ ई०) में दावीद मिल वा मिल्लिउस नामक पंडित द्वारा प्रकाशित हुआ।

केटेलेर के समान अन्य योरोपीय विद्वानों ने अपने देशवासियों को हिंदुस्तानी भाषा सीखने में सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से संभवतः कुछ और व्याकरण भी बनाएँ होंगे, परंतु विदेशियों द्वारा लिखे जिन व्याकरणो का उल्लेख प्राप्त होता है उनमें डा० जान बोर्थविक गिलक्राइस्ट का 'हिंदुस्तानी ग्रामर' (सं० १८४७—१७६० ई०); रोएबक का 'दि इंगलिश एंड हिंदुस्तानी डिक्शनरी विथ् ए ग्रामर प्रिफिक्स्ड' (सं० १८६७-१८१०ई०) जिसका व्याकरण भाग फोर्ट विलियम कालेज में पढ़ाया जाता था और टेलर के मतानुसार उस समय का सर्वोत्तम व्याकरण था, येट्स कृत 'हिंदुस्तानी ग्रामर' (सं० १८८१—१८२४ ई०); प्लाट्स कृत 'हिंदुस्तानी ग्रामर', पादरी आदम साहिब का 'हिंदी व्याकरण' जो हिंदी में लिखा गया था और डंकन फोरबस का लिखा 'ए ग्रामर आव दि हिंदुस्तानी लैंग्वेज', जो लंदन से सं० (१६१२—१८५६ ई०) में छपा था और जिसकी एक प्रति नेशनल पुस्तकालय कलकत्ता में रखी है[1], विशेष उल्लेखनीय हैं। पंद्रह वर्ष बाद सं० १६२७ (१८७० ई०) में काशी के एक पादरी एथरिंगटन साहिब ने अँगरेजी में हिंदी का एक व्याकरण लिखा जो अगले वर्ष सं० १६२८ में 'भाषा भास्कर' के नाम से हिंदी रूपांतरित होकर छपा। सं० १६३१ (१८७५) में केलाग साहब का 'ए ग्रामर आव हिंदी लैंग्वेज' प्रकाशित हुआ जिसका द्वितीय संस्करण सं० १६४६ (१८६२ ई०) में छपा जिस में हिंदी के व्याकरण के साथ ही तथाकथित उच्च हिंदी, ब्रज और पूर्वी हिंदी का भी विवेचन किया गया था। विदेशियों द्वारा लिखित सभी व्याकरण-ग्रंथों में केलाग का व्याकरण सर्वोत्तम स्वीकार किया जाता है। विदेशियों के लिये भारतीय द्वारा लिखा एक व्याकरण लल्लूजी लाल कृत 'दि ग्रैमेटिकल प्रिंसीपिल्स आव ब्रजभाषा' था जो सं० १८६७ (१८१० ई०) में लिखा गया था।

हिंदी व्याकरण के निर्माण का यह पहला दौर था जिसमें विदेशी अथवा

---

१. इस व्याकरण के पत्र इतने जीर्ण हो गए हैं कि नेशनल पुस्तकालय के पुस्तकालयाध्यक्ष ने प्रस्तुत लेखक को उसे देखने की अनुमति नहीं दी।

परदेशी विद्वानों ने विदेशियों और परदेशियों को हिंदी सिखाने के लिये हिंदुस्तानी या हिंदी व्याकरण लिखे। यूरोप निवासी पादरियों और भाषाशास्त्रियों के व्याकरण यूरोपीय भाषाओं के व्याकरण के नमूने पर लिखे गये थे और उनमें अधिकांश जनता की सामान्य बोलचाल की भाषा को ही आधार माना गया था।

हिंदी व्याकरण के निर्माण का दूसरा दौर विक्रम की बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से चलता है जब कि हिंदी के विस्तृत भूखंड में जन-शिक्षा का प्रचार होने लगा। प्रारंभिक पाठशालाओं में छात्रों को हिंदी भाषा बोलना और लिखना सिखाने के लिये पाठ्यक्रम में व्याकरण की आवश्यकता का अनुभव शिक्षाधिकारियों ने किया। प्रारंभ में पादरी आदिम साहब का व्याकरण ही काम में लाया गया परंतु पीछे देशी पंडितों ने भी छात्रोपयोगी हिंदी व्याकरण की रचना की। प्रारंभिक व्याकरणों में 'भाषा चंद्रोदय' जिसकी रचना सं० २०१३ (१८५६ ई०) के लगभग बिहार के पं० श्री लाल द्वारा हुई थी और 'भाषा-तत्व-बोधिनी' अर्थात् हिंदी भाषा का व्याकरण जिसे 'श्रीमान् अति दयावान नारमल पाठशालाध्यक्ष श्री ट्रेशम साहिब की आज्ञा से रामजसन पंडित ने बनाया' और जो 'बनारस नारमल कालिज में छापी गई सं० १८५८ ई०' में विशेष प्रसिद्ध हैं। 'भाषा चंद्रोदय' बिहार की तथा 'भाषा तत्वबोधिनी' तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रदेश (आज के उत्तर प्रदेश) की पाठशालाओं के पाठ्यक्रम में निर्धारित थी। इसी समय 'उर्दू मार्तण्ड' नाम का भी एक व्याकरण प्रसिद्ध था जिसका उल्लेख नवीनचंद्र राय ने अपने 'नवीन चंद्रोदय' में किया है। बाबू नवीनचंद्र राय एक बंगाली सज्जन थे जिन्होंने पंजाब में हिंदी के प्रचार का प्रशंसनीय कार्य किया था। इन्हीं के अथक उद्योग से पंजाब विश्वविद्यालय में 'प्राफिसिएन्शी' और 'हाई प्राफिसिएन्सी' नाम की दो परीक्षाएँ हिंदी में नियत हुईं। उन्हीं परीक्षाओं के पाठ्यक्रम के लिये सं० १९२५ (१८६८ ई०) में श्री नवीनचंद्र राय ने 'नवीन चंद्रोदय' नामक व्याकरण ग्रंथ की रचना की। इसकी भूमिका में बाबू साहब ने 'उर्दू मार्तण्ड' के संबंध में लिखा है कि 'उसमें यद्यपि हिंदी शब्दों के रूप सिद्ध हुए हैं, वस्तुतः उसका उद्देश्य उर्दू भाषा के नियम ज्ञापन से है, इसलिए हिंदी के यथार्थ व्याकरणों की गिन्ती में से उसे निकाल देना चाहिए।'[१] 'नवीन

---

१. नवीन चंद्रोदय, १९१५ ई० का संस्करण, पंजाब इकानोमिकल यंत्रालय लाहौर से मुद्रित—ग्रंथकार की उक्ति—'ख'।

चंद्रोदय' से पूर्व सभी हिंदी व्याकरणों में संस्कृत शब्द (तत्सम) जो हिंदी में व्यवहृत होते हैं उनके नियम नहीं दिए गए क्योंकि तत्कालीन शिक्षा-विभाग की भाषा संबंधी नीति यही थी कि वे तत्सम शब्दों को हिंदी मानते ही नहीं थे और तत्सम-प्रधान हिंदी को वे एक नए 'उच्च हिंदी' (हाई हिंदी) नाम से पुकारते थे।

'नवीन चंद्रोदय' इस दृष्टि से हिंदी का पहला व्याकरण था जिसमें तत्सम शब्दों के लिये भी नियम दिए गए थे। 'नवीन चंद्रोदय' के तीन वर्ष पश्चात् सं० १६२८ (१८७१ ई०) में काशी नगर के पादरी एथरिंगटन साहब ने विद्यार्थियों की शिक्षा निमित्त 'भाषा भास्कर' नाम का एक हिंदी भाषा का व्याकरण बनाया। पं० विष्णुदत्त की सहायता से रचित इस व्याकरण की लोकप्रियता इसकी उत्तमता का प्रमाण है। यह व्याकरण की पुस्तक बहुत दिनों तक छात्रोपयोगी व्याकरणों में सबसे अधिक प्रामाणिक मानी जाती रही।

'भाषा भास्कर' से पूर्व भी अवध देशीय उच्च शिक्षाधिकारी विलियम हैंडफोर्ड की आज्ञानुसार शीतलप्रसाद गुप्त हेडमास्टर गवर्नमेंट स्कूल उन्नाव ने 'शब्दप्रकाशिका' नामक व्याकरण ग्रंथ सं० १६२७ (१८७० ई०) में नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित कराया। सं० १६३२ (१८७५ ई०) में राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद ने बनारस से अपना 'हिंदी व्याकरण' प्रकाशित कराया जिसमें उन्होंने हिंदी व्याकरण और उर्दू कवायद को निकट लाने का प्रयास किया। राजा साहब हिंदी और उर्दू को एक ही भाषा मानते थे जिनके बीच की खाई भिन्न लिपि और भिन्न शब्द-भंडार के कारण निरंतर बढ़ती जा रही थी। व्याकरण की एकता के माध्यम से वे इस खाई को पाटना चाहते थे। उनका विचार था कि हिंदी उर्दू में भेद पैदा करने वाले डा० गिलक्राइस्ट के पंडित और मौलवी थे जिन्हें उत्तरी भारत की जन-सामान्य भाषा का एक व्याकरण लिखने को कहा गया था। मौलवी लोग संस्कृत से पूर्णतः अनभिज्ञ थे और देशभाषा आर्यभाषा परिवार की है यह बात भूलकर अरबी और फारसी के आधार पर एक नया व्याकरण बना गए। दूसरी ओर पंडित वर्ग ने देश भाषा पर सेमेटिक प्रभाव की पूर्ण उपेक्षा कर संस्कृत व्याकरण का आधार मानकर व्याकरण का निर्माण किया।[1]

---

1. The absurdity began with the Maulvis and Pundits of Dr. Gilchrist's time, who being commissioned to make a grammar

राजा साहब ने हिंदी और उर्दू के लिए एक ही प्रकार के नियम बनाने का प्रयत्न किया जो भिन्न लिपियों में लिपिबद्ध होकर दोनों भाषाओं का एक ही व्याकरण बन सके। राजा साहब के इस प्रयत्न से जो व्याकरण बना उसमें संधि, तद्धित और कृदंत को परिशिष्ट में स्थान देना पड़ा जहाँ अरबी के तार्लीव (संधि) को भी स्थान मिला था। अभी तक जो व्याकरण ग्रंथों में अंगरेजी के अनुकरण पर छंद प्रकरण भी दिया जाता था, राजा साहब हिंदी और उर्दू के छंदों में एकता के किसी भी सूत्र के अभाव में उसे स्थान न दे सके। भूमिका में उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है :

Prosody is omitted because it is beyond my present aim to suggest the means of reducing the Sanskrit and Arabic rules to a common system, applicable to vernacular metrical composition in both forms alike.

राजा साहब ने ऐसा जान पड़ता है कि, उच्च शिक्षाधिकारी (डाइरेक्टर आव पब्लिक इंस्ट्रक्शन) की उस आशा को मूर्तरूप दिया जो उन्होंने पश्चिमोत्तर प्रदेश में शिक्षा की प्रगति पर अपने प्रतिवेदन (१८७३–७४) में प्रकट किया था :

I hope, however, ere long it may be possible to have a common grammar for both forms of the vernacular (Urdu and Hindi) and convertible scientific terms.

उस समय के भाषा-शास्त्री इस बात का प्रचार कर रहे थे कि भाषा विज्ञान की दृष्टि से हिंदी और उर्दू दो नहीं एक ही भाषा है[1]। राजा साहब

---

of the common speech of Upper India made two grammars, the one exclusively Persian and Arabic, the other exclusively Sanskrit and Prakrit. The Maulvis knew nothing of Sanskrit and ignored tne Aryan basis of the vernacular. The Pundits were equally intolerant in refusing to recognise Semitic aftergrowth.

Prefaee Page I

1. It betrays, therefore, a radical misunderstanding of the whole bearings of the question and of the whole science of

भी इस बात को मानते थे और हिंदी उर्दू की खाई मिटाने के लिए प्रयत्नशील थे। परंतु इससे एक नया विवाद उपस्थित हो गया कि हिंदी उर्दू दो भाषाएँ हैं या एक। राजा लक्ष्मणसिंह ने रघुवंश के अनुवाद की भूमिका में सं० १९३५ (१८७२ ई०) में अपना स्पष्ट मत व्यक्त किया कि 'हमारे मत में हिंदी और उर्दू दो न्यारी न्यारी बोलियाँ हैं।' सितारेहिंद के व्याकरण के बाद लिखे गए व्याकरण ग्रंथों में भी स्पष्ट दो परंपराएँ मिलती हैं, कुछ व्याकरण तो हिंदी और उर्दू को एक भाषा मानकर लिखे गये, कुछ हिंदी को पूर्णतः स्वतंत्र भाषा मानकर। सं० १९३४ (१८७७ ई०) में मुजफ्फरपुर के बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री का हिंदी व्याकरण बिहारबंधु प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित हुआ जो हिंदी उर्दू का एक मिला-जुला व्याकरण था और दो जिल्दों में छपा। खत्री जी ने व्याकरण के पाँच खंड किए थे—पहला खंड—वर्ण विचार—आर्थोग्राफी (Orthography), दूसरा—शब्द विचार—इटीमोलाजी (Etymology), तीसरा वाक्यविचार—सिनटैक्स, (Syntax) चौथा—चिह्न विचार—पंक्चुएशन (Punctuation) और पाँचवाँ खंड—छंद विचार—प्रोसोडी (Prosody)। छंद-विचार दूसरे जिल्द में छपा था जिसमें हिंदी और उर्दू दोनों के छंदों का निरूपण था, शेष चार खंड पहले जिल्द में छपे थे। दूसरी ओर सं० १९४२ (१८८५ ई०) में बाबू रामचरण सिंह का 'भाषा प्रभाकर' खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित हुआ जिसका संशोधन अंबिकादत्त व्यास ने किया था। यह व्याकरण विशुद्ध हिंदी का व्याकरण था। लेखक ने प्रथम पृष्ठ की पाद टिप्पणी में ही लिख दिया था :

इस हिंदी 'भाषा' शब्द से लोग यह न समझें कि मुसलमानों की भ्रष्ट की हुई भाषा, जिसे उर्दू कहते हैं, वही यहाँ मानी गई है। नहीं, कदापि नहीं। उस भाषा का मूल संस्कृत से कोई प्रधान संबंध नहीं रखता परंतु और भाषाओं से अनेक शब्दों का संग्रह करके भी वह उस फारसी और अरबी के बल से स्थिर है, जो नितांत विदेशी भाषा है। इसलिए उस त्याज्य भाषा

---

philology to speak of Urdu and Hindi as two different languages. John Beams' Comparative Grammar of the Modern Aryan Languages. (Page 32.)

का नियम कहना 'भाषा प्रभाकर' का उद्देश्य नहीं है। यह उस शुद्ध हिंदी भाषा की नियमावली दिखलाता है जो प्रधान करके संस्कृत और प्राकृत से निकली है और जिसे गवर्नमेंट ने भी ठीक हिंदी समझा है। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो स्कूलों में हिंदी और उर्दू अलग अलग कोर्स न होते और यदि हिंदी से संस्कृत का द्वार-संबंध गवर्नमेंट न समझती तो संस्कृत और फारसी पढ़नेवालों के लिये नीचे के वर्गों में क्रम से भिन्न-भिन्न हिंदी और उर्दू के ग्रंथ न रखती। गवर्नमेंट का यही उद्देश्य है कि जो हिंदी पढ़ेंगे उन्हें इस हिंदी के बल से संस्कृत कुछ सुगम होगी और जो फारसी पढ़ेंगे उन्हें उस उर्दू से कुछ सहायता मिलेगी। बस बिचारे उर्दूवाले इस व्याकरण में न भटकें।

इस प्रकार हिंदी व्याकरण के निर्माण की जो दो परंपराएँ चलीं, उनमें हिंदी उर्दू को एक भाषा मानने वालों का व्याकरण मूलतः अंगरेजी व्याकरण का अनुसरण करता था और हिंदी को उर्दू से स्वतंत्र भाषा मानने वालों का व्याकरण संस्कृत व्याकरण का अनुसरण करता था। शिक्षा-विभाग अंगरेजी व्याकरण के अनुसरण पर लिखे गए व्याकरण को ही पसंद करता था इसलिये पाठ्यक्रम में उन्हीं व्याकरणों को स्थान मिला करता था। अंगरेजी व्याकरण के अनुरूप व्याकरण को सरकार केवल इसीलिए पसंद नहीं करती थी कि उसमें हिंदी और उर्दू भाषाओं के लिये समान नियमावली होती थी, बल्कि इसलिये भी कि अंगरेजी व्याकरण के अनुरूप व्याकरण द्वारा हिंदी सीखे छात्रों को अंगरेजी सीखने में पर्याप्त सुविधा होती थी। स्वर्गीय बाबू श्यामसुंदर दास ने सं० १९६३ (१९०६ ई०) में हिंदी और उर्दू का एक प्रारंभिक व्याकरण 'ऐन एलीमेंटरी ग्रामर आफ हिंदी ऐंड उर्दू' लिखा या जिसकी प्रस्तावना में उन्होंने लिखा था :

'इस व्याकरण के निर्माण में मैंने संस्कृत व्याकरण के अनुरूप हिंदी व्याकरण लिखने की पिष्टपेषित पद्धति का अनुसरण नहीं किया है। हिंदी यद्यपि मूलतः संस्कृत से ही उत्पन्न हुई है, परंतु अब उसने इतना भिन्न और स्वतंत्र रूप ग्रहण कर लिया है कि उपर्युक्त पद्धति का अनुसरण किसी भी तरह समीचीन अथवा सुरक्षित नहीं है। इसके अतिरिक्त, आज किसी भी विद्यार्थी की शिक्षा अंगरेजी भाषा के संतोषजनक ज्ञान के बिना पूर्ण नहीं समझी जाती। अस्तु, यदि अंगरेजी भाषा के व्याकरणों को आदर्श मानकर

हिंदी-उर्दू व्याकरण की रचना की जाय तो उससे अंगरेजी भाषा सीखने में भी सुविधा होगी। इसीलिये, मैंने, अबतक जिस सिद्धांत पर हिंदी उर्दू के व्याकरण बने थे, उसे छोड़कर आधुनिक अंगरेजी व्याकरणों के निर्देशों को स्वीकार किया है।[1]

अस्तु, छात्रों के पाठ्यक्रम के लिये बने व्याकरण ग्रंथों में कुछ में अंगरेजी भाषा के व्याकरण का आदर्श स्वीकार किया गया था; कुछ में संस्कृत भाषा का, और कुछ व्याकरण ऐसे भी बने जिनमें अंगरेजी और संस्कृत के व्याकरणों के नियमों के समन्वय का प्रयास किया गया। महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी और शीतलाप्रसाद त्रिपाठी जैसे दो चार ऐसे भी विद्वान् थे जिन्होंने संस्कृत के प्रकांड विद्वान् होते हुए भी, हिंदी की स्वतंत्र प्रकृति को पहचान कर उसका स्वतंत्र व्याकरण लिखा।

व्याकरण-रचना के इस दूसरे दौर में राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद, भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र, अंबिकादत्त व्यास, दामोदर सप्रे शास्त्री, केशवराम भट्ट, सुधाकर द्विवेदी, माधवप्रसाद पाठक, सूर्यप्रसाद मिश्र, प्रभृति चोटी के विद्वानों ने छात्रोपयोगी व्याकरणों की अपने ढंग से रचना की। इन व्याकरणों में छंद रचना को भी व्याकरण में स्थान दिया गया एवं विशेषण और सर्वनाम शब्दों को अलग न मानकर संज्ञा के ही भेदों में परिगणित किया गया। संज्ञा के पाँच भेद जातिवाचक, व्यक्तिवाचक, गुणवाचक,

---

1. In the preparation of this grammar, I have not followed, as already stated, the stereotyped method of writing Hindi Grammars after the Sanskrit ones. Hindi, although originally born of Sanskrit, has now assumed so different a form that it is not at all advisable or safe to follow that method blindly. Besides, the education of a boy is not now considered complete, without a sufficiently good knowledge of English. If, therefore, a Hindi-Urdu Grammar could be compiled after the model of the Grammars of the English language, it would facilitate the study of that language. I have, therefore, rejected the principle on which all grammars of Hindi and Urdu languages have so far been written and have accepted the guidance of modern English Grammars.

भाववाचक और सर्वनाम किया गया ; जिसमें गुणवाचक संज्ञा का ही दूसरा नाम विशेषण है। इस दौर के व्याकरणों में केशवराम भट्ट का हिंदी व्याकरण विशेष लोकप्रिय हुआ।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती के संपादक होने के पश्चात् अनुभव किया कि हिंदी भाषा में अस्थिरता आ गई है। हिंदी के विस्तृत भूखंड में जो साहित्य की रचना हो रही थी, उसमें एकरूपता का नितांत अभाव था। बात यह थी कि भारतेंदु युग की प्रतिमित (स्टैंडर्ड) हिंदी भाषा अधिकांश उच्चारण-सम्मत और तद्भव-प्रधान थी। हिंदी का यह दावा रहा है कि इसमें जो लिखा जाता है, वही पढ़ा जाता है और जो बोला जाता है वही लिखा जाता है। इस दावे के अनुसार भारतेंदुयुगीन साहित्य में बोलचाल की भाषा का जैसा उच्चारण होता था वैसा ही लिखा भी जाता था। हिंदी एक बहुत ही विस्तृत भूखंड की भाषा थी, इस कारण एक प्रांत में किसी शब्द का जो उच्चारण होता था, दूसरे प्रांत का उच्चारण उससे भिन्न होता था, अस्तु, एक ही शब्द भिन्न-भिन्न क्षेत्र में भिन्न-भिन्न रूप में लिखा जाता था। इसी प्रकार तद्भव शब्दों के प्रांतज प्रयोग भी अन्य प्रांतों की जनता के लिये बोधगम्य नहीं रह गए थे। द्विवेदी जी ने इस विस्तृत भूखंड की भाषा में एकरूपता और स्थिरता लाने के लिये व्याकरणसम्मत भाषा लिखने का आंदोलन प्रारंभ किया। सरस्वती में नवंबर १९०५ में उन्होंने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक एक महत्वपूर्ण लेख लिखकर यह दिखाने का प्रयत्न किया कि हिंदी के लेखकगण लिखते समय व्याकरण की ओर ध्यान नहीं देते इसी कारण भाषा में एकरूपता का अभाव है। द्विवेदी जी के इस लेख की प्रतिक्रियास्वरूप एक आंदोलन-सा प्रारंभ हो गया। 'भारतमित्र' के संपादक बालमुकुंद गुप्त ने इस लेख में आए 'अनस्थिरता' शब्द और द्विवेदी जी ने भारतेंदु युग के लेखकों की जो व्याकरण-संबंधी भूलें निकाली थीं उसे लेकर नौ-दस लेख 'भारतमित्र' में 'आत्माराम' के नाम से छपवाए और उसके उत्तर में गोविंदनारायण मिश्र ने 'आत्माराम की टेंटें' शीर्षक लेख लिखकर गुप्त जी के आक्षेपों का उत्तर देने का प्रयास किया। इस वादविवाद में कटुता भी प्रदर्शित की गई परंतु उस लेखमाला से एक बात स्पष्ट हो गई कि हिंदी में एकरूपता का अभाव है। दिल्लीवाले जहाँ लिखते हैं—'लेखनी उठानी चाहिए' वहाँ लखनऊवाले लिखते हैं—'लेखनी उठाना चाहिए।' दिल्लीवाले जहाँ लिखते हैं 'शिक्षा लेनी चाहिए' वहाँ लखनऊवाले 'शिक्षा लेना होगी' लिखते हैं।

यह अंतर प्रांतीय प्रयोगों के कारण थी। इसी प्रकार लिखने में भी अनेक-रूपता के दर्शन होते थे। ठहरना और ठैरना, सकता और सक्ता, पहचानता और पहचान्ता, मनोरथ और मनोर्थ दोनों रूप उस समय के लेखों में मिलते थे। लिखने में यह अंतर उच्चारण के कारण होते थे जो भिन्न भिन्न प्रांतों में भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ करते थे। द्विवेदी जी ने इसी अनेक-रूपता को दूर कर विशाल हिंदी क्षेत्र में एक समान भाषा के प्रयोग के लिये व्याकरणसम्मत भाषा लिखने की आवश्यकता की ओर लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया। कुछ लोगों ने इस प्रयत्न का मजाक भी उड़ाया। स्व० प० चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'बुद्धू का काँटा' शीर्षक कहानी का प्रारंभ इस प्रकार किया है :

रघुनाथ प्प्प्रसाद त्त्त्रिवेदी—या रुग्नात पर्शाद तिर्वेदी—यह क्या ?

क्या करें दुविधा में जान है। एक ओर तो हिंदी का यह गौरवपूर्ण दावा है कि इसमें जैसा बोला जाता है वैसा ही लिखा जाता है और जैसा लिखा जाता है वैसा ही बोला जाता है। दूसरी ओर हिंदी के कर्णधारों का अविगत शिष्टाचार है कि जैसे धर्मोपदेशक कहते हैं कि हमारे कहने पर चलो, हमारी करनी पर मत चलो वैसे ही जैसे हिंदी के आचार्य लिखें वैसे लिखो, जैसे वे बोलें वैसे मत लिखो; शिष्टाचार भी कैसा ? हिंदी-साहित्य-संमेलन के सभापति अपने व्याकरण-कषायित कंठ से कहें 'पर्सोत्तम दास' और 'हर्किसन लाल' और उनके पिट्ठू छापें ऐसी तरह कि पढ़ा जाय 'पुरुषोत्तमअ दासअ' और 'हरिकृष्णअ लालअ'।

निश्चित रूप से गुलेरी जी व्याकरणसम्मत भाषा के स्थान पर उच्चारण-सम्मत भाषा की ही वकालत करते जान पड़ते हैं। परंतु अधिकांश लोगों के मन में यह बात बैठ गई कि उच्चारणसम्मत भाषा लिखने से हिंदी के विस्तृत भूखंड में भाषा की एकरूपता नष्ट हो जायगी। अस्तु, व्याकरण-सम्मत भाषा लिखने की ओर लोगों की रुचि बढ़ी। परंतु कठिनाई तो यह थी कि हिंदी का कोई सर्वमान्य व्याकरण था ही नहीं। उस समय तक प्रारंभिक पाठशालाओं के छात्रों के उपयोग के लिये अनेक व्याकरण अवश्य बने थे अथवा बन रहे थे, परंतु विस्तृत हिंदी क्षेत्र के लेखकों और पाठकों के सामान्य उपयोग की दृष्टि से कोई सर्वमान्य व्याकरण उस समय तक नहीं बना था। द्विवेदी जी ने अपने 'भाषा और व्याकरण' लेख में यही बात

लिखी थी कि 'हिंदी भाषा में एक भी सर्वमान्य व्याकरण अभी तक नहीं बना' और अगस्त १६०८ की सरस्वती में पं० कामताप्रसाद गुरु ने भी 'हिंदी की हीनता' शीर्षक लेख में इसी प्रकार लिखा कि 'इस भाषा में न कोई माना हुआ व्याकरण है और न कोई प्रामाणिक कोष।''

नागरीप्रचारिणी सभा जो उस समय हिंदी की हीनता दूर करने के लिए सब प्रकार के प्रयास कर रही थी कोष और व्याकरण दोनों की कमी पूरी करने में जुट गई। प्रारंभ में बाबू गंगाप्रसाद एम० ए० और पं० रामकर्ण शर्मा से सभा ने व्याकरण ग्रंथ लिखवाये परंतु उससे संतोष न होने पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और माधवराव सप्रे के अनुरोध पर पं० कामता प्रसाद गुरु को व्याकरण लिखने का भार सौंपा। गुरु जी ने बड़े परिश्रम और लगन से एक अत्यंत प्रामाणिक व्याकरण लिखकर प्रस्तुत किया। इस व्याकरण को सर्वसम्मत बनाने की आकांक्षा से सभा ने एक संशोधन-समिति निर्वाचित की जिसमें आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की अध्यक्षता में साहित्याचार्य पं० रामावतार शर्मा, पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी, पं० लज्जाशंकर झा, पं० रामनारायण मिश्र, बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर', बाबू श्यामसुंदर दास, पं० रामचंद्र शुक्ल, पं० गोविंदनारायण मिश्र और पं० अंबिका प्रसाद बाजपेयी सदस्य थे। आश्विन शुक्ल ३ सं० १६७७ (१४ अक्तूबर १६२० ई०) को इस संशोधन-समिति का कार्य आरंभ हुआ जिसमें समयाभाव के कारण पं० गोविंदनारायण मिश्र तथा श्री पं० अंबिका प्रसाद बाजपेयी उपस्थित न हो सके। इस समिति से संशोधित हो सं० १६७७ में हिंदी का यह प्रथम सर्वमान्य व्याकरण प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशित होने से प्रायः सवा साल पूर्व ही पं० अंबिका प्रसाद बाजपेयी का 'हिंदी कौमुदी' नामक व्याकरण ग्रंथ कलकत्ते से प्रकाशित हो चुका था। हिंदी व्याकरण के निर्माण का यह तीसरा दौर था।

पं० कामताप्रसाद गुरु का व्याकरण प्रकाशित कर सभा ने हिंदी के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की। सं० १६७७ से आजतक प्रायः ३६-३७ वर्षों में इस व्याकरण ने लाखों छात्रों, लेखकों और पाठकों को शुद्ध हिंदी लिखना और बोलना सिखाया है। आचार्य द्विवेदी जी ने जिस व्याकरण-सम्मत भाषा का लक्ष्य स्थिर किया था गुरु जी के व्याकरण ने उसकी पूर्ति में महत्वपूर्ण योग दिया। इस व्याकरण के अनेक संस्करण अनेक रूपों—

संक्षिप्त, प्रथम, मध्य आदि—में प्रकाशित हुए। अभी इसका अनुवाद रूसी भाषा में भी हो गया है।

गुरु जी के व्याकरण छपने के बाद से हिंदी की स्थिति में अनेक महत्त्व-पूर्ण परिवर्तन हुए। सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि हिंदी को विश्व-विश्वविद्यालयों की सर्वोच्च परीक्षा के लिये एक विषय रूप में स्वीकृत किया गया और काशी तथा प्रयाग में विश्वविद्यालयों की बी० ए० तथा एम० ए० परीक्षा के लिये पाठ्यक्रम बने और हिंदी-विभागों की स्थापना हुई। ऊँची कक्षा के छात्र भाषा-शास्त्र का अध्ययन करने लगे और साथ ही व्याकरणों का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन प्रारंभ हो गया। साहित्य की अन्य रचनाओं के साथ ही हिंदी में भी भाषा-विज्ञान संबंधी पुस्तकें लिखी जाने लगीं। कुछ दिन बाद हिंदी भाषा और साहित्य में शोध का कार्य होने लगा तथा हिंदी की भिन्न-भिन्न बोलियों का भाषा वैज्ञानिक विस्तृत अध्ययन प्रारंभ हो गया। टैसीटरी ने राजस्थानी का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन पहले ही प्रस्तुत किया था। डा० बाबूराम सक्सेना ने १९३२ में अवधी का एक विस्तृत भाषा वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत कर प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। डा० धीरेंद्र वर्मा ने व्रजभाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया। फिर तो लहँदा, पंजाबी, भोजपुरी, खड़ी बोली का भी इसी प्रकार गंभीर गवेषणात्मक अध्ययन प्रारंभ हो गया और हिंदी के पाठकों में हिंदी व्याकरण के संबंध में जिज्ञासाएँ निरंतर बढ़ती ही गईं।

दूसरी ओर भारत की राजनीतिक एकता के लिये अंतःप्रांतीय व्यवहार के लिये एक भाषा के माध्यम की आवश्यकता का अनुभव राजनीतिक और सामाजिक नेता करने लगे थे और सर्वसंमति से हिंदी को इस गौरवपूर्ण पद के लिये स्वीकार किया गया। महात्मा गांधी के नेतृत्व में हिंदी को राष्ट्र भाषा का पद मिला और अहिंदी-भाषी क्षेत्र में हिंदी प्रचार के लिये प्रयत्न प्रारंभ हुए। पहले 'दक्षिण प्रचार सभा' द्वारा दक्षिण भारत में हिंदी का प्रचार किया गया, पीछे वर्धा में 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' की स्थापना सं० १९९३ (१९३६ ई०) में हुई और उसकी शाखाएँ देश के भिन्न-भिन्न प्रांतों में स्थापित कर हिंदी सिखाने का कार्य प्रारंभ हुआ। अहिंदी-भाषियों को हिंदी सीखने में हिंदी व्याकरण के कुछ नियमों को लेकर उलझनें उपस्थित हुईं और उन उलझनों को लेकर भी हिंदी व्याकरण की विशेष चर्चा प्रारंभ हो गई।

सब मिलाकर पिछले दश वर्षों से हिंदी के एक नए व्याकरण की आवश्यकता का अनुभव होने लग गया। स्वतंत्र भारत के संविधान में हिंदी को राजभाषा मान लिये जाने के पश्चात् केंद्रीय सरकार भी हिंदी का व्याकरण प्रस्तुत करने के लिये प्रयत्नशील हो उठी और उसने एक समिति का निर्माण भी कर दिया। परंतु कुछ कारणों से उस समिति का कार्य अग्रसर न हो सका और समिति अपने आप भंग हो गई।

नागरीप्रचारिणी सभा की हीरक जयंती सं० २०११ (मार्च १९५४ ई०) में मनाई गई। हीरक जयंती के पश्चात् सभा ने हिंदी के प्रकाशन के संबंध में कई योजनाएँ कार्यान्वित करने का निश्चय किया। हिन्दी शब्दसागर के संशोधन तथा हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास की योजना पर विचार हो रहा था। उसी समय सभा के परम आदरणीय सभापति स्व० डा० अमरनाथ झा ने सभा की प्रबंध-समिति को सुझाव दिया कि पं० किशोरीदास वाजपेयी से हिंदी शब्दसागर के संशोधन अथवा व्याकरण-निर्माण का कार्य लिया जाय। पं० किशोरीदास वाजपेयी पिछले पचीस-तीस वर्षों से हिंदी व्याकरण के संबंध में गंभीर विचार करते रहे हैं और पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख भी छपते रहे हैं। सन् १९४२ में उन्होंने 'व्रजभाषा का व्याकरण' लिखकर अपने गंभीर अध्ययन और मौलिक चिंतन का परिचय हिंदी संसार को कराया और १९४८ में 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' लिखकर उन्होंने न केवल राष्ट्रभाषा का व्याकरण ही लिखा वरन् नए हिंदी व्याकरण के निर्माण की भूमिका प्रस्तुत कर दी। वाजपेयी जी की पिछली सेवाएँ और उनकी अनुपम सूझ-बूझ तथा चिंतन-मनन को ध्यान में रखते हुए २४ सितंबर १९५४ को सभा की साहित्योपसमिति ने उनसे 'एक सुविचारित योजनानुसार हिंदी व्याकरण का निर्माण' कराने का निश्चय किया। प्रस्तावित व्याकरण की सामान्य रूपरेखा का निर्धारण करने के लिये एक मंडल संघटित किया गया जिसके सदस्य श्री कृष्णानंद, श्री करुणापति त्रिपाठी, श्री विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और श्री चंद्रबली पांडेय मनोनीत हुए। श्री करुणापति त्रिपाठी संयोजक बनाए गए।

१५ अक्तूबर १९५४ को सभा के व्याकरण योजना-मंडल ने निम्नांकित तीन प्रस्ताव रखे :

(१) श्री पं० किशोरीदास जी वाजपेयी को सूचित किया जाय कि प्रस्तावित व्याकरण लगभग ६०० पृष्ठों (डबल डिमाई सोलह पेजी) का हो।

(२) यह व्याकरण हिंदी के आधुनिक स्वरूप और उसकी प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए संस्कृत का आवश्यक आधार ग्रहण करके आधुनिक पद्धति पर लिखा जाय। यदि इस विषय की कोई योजना उन्होने बनाई हो तो उसे विचारार्थ मँगा लिया जाय। इस बीच वे अपना लेखन कार्य चालू रखें।

(३) व्याकरण में जो उदाहरण दिए जायँ वे हिंदी के मान्य लेखकों के ग्रंथों से ही लिये जायँ।

इसके अतिरिक्त व्याकरण-परामर्श-मंडल का संघटन इस प्रकार किया गया।

१—श्री करुणापति त्रिपाठी (संयोजक)
२—श्री कृष्णानंद
३—श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
४—श्री डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
५—श्री चंद्रबली पांडेय
६—श्री डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
७—श्री काका कालेलकर
८—श्री अंबिकाप्रसाद वाजपेयी
९—श्री राहुल सांकृत्यायन
१०—श्री श्रीकृष्ण लाल

वाजपेयी जी के अथक परिश्रम, संयोजक श्री पं० करुणापति त्रिपाठी की तत्परता तथा व्याकरण-परामर्श-मंडल के सदस्यों की संमतियों और सुझावो से व्याकरण-निर्माण का कार्य सुचारुरूप से चलता रहा और दो साल में ही पूरा व्याकरण लिखकर तैयार हो गया। हिंदी व्याकरण-निर्माण का यह चौथा दौर था जिसमें शास्त्रीय चिंतन और सूक्ष्म विश्लेषण की प्रवृत्ति प्रधान रही।

परंतु इस व्याकरण के छपने में जो एक साल का विलंब हो गया उसका कारण यह था कि व्याकरण-परामर्श-मंडल के सदस्य और पं० किशोरीदास जी वाजपेयी कुछ बातों में सहमत न हो सके। मंडल के सदस्यों ने वाजपेयी जी की इस विचारपूर्ण रचना के लिये साधुवाद देते हुए

भी कुछ बातों में अपनी असहमति प्रकट की। ८ अगस्त १९५७ को व्याकरण-परामर्श-मंडल ने 'हिंदी शब्दानुशासन' को सर्वसंमत और सर्वमान्य बनाने के उद्देश्य से वाजपेयी जी के संमुख कुछ अपने सुझाव रखे थे जो इस प्रकार हैं :

(१) भाषा-पक्ष :—

(क) भाषा अधिक संतुलित और शास्त्रानुरूप गंभीर होनी चाहिए।

(ख) अप्रासंगिक उक्तियाँ और हलके मुहावरे न रखे जायँ तो उत्तम हो।

(२) विषय-पक्ष :—

(क) व्याकरण शास्त्र का मेल भाषा के ऐतिहासिक विकास तथा भाषा-विज्ञान से होना आवश्यक है। ऐसे वक्तव्य इसमें न रखे जायँ जो उपर्युक्त दृष्टियों से संदिग्ध और विवादास्पद हों।

(ख) वैयक्तिक प्रसंग (अपने या अन्य लेखकों के संबंध में) जहाँ तक संभव हो, न आने चाहिए। सावधानी से केवल सिद्धांतों का ही आवश्यक विवेचन और विश्लेषण हो।

कुछ सदस्य हिंदी (खड़ी बोली के सर्वमान्य परिष्कृत रूप) के अतिरिक्त बोलियों का भी व्याकरण परिशिष्ट में देना चाहते थे। उसके संबंध में मंडल ने सुझाव दिया कि इस व्याकरण ग्रंथ में बोलियों अथवा उपभाषाओं का व्याकरण अनिवार्य रूप से अपेक्षित नहीं। यदि संभव हो तो हिंदी के सभी साहित्यसंपन्न उपभाषाओं के व्याकरण की संक्षिप्त रूपरेखा दी जा सकती है।

पं० वाजपेयी की अपनी एक विशिष्ट शैली है। सभा चाहती थी कि उस विशिष्टता की रक्षा करते हुए उसे कुछ अधिक गंभीर और शास्त्रानुरूप बनाया जाय परंतु वाजपेयी जी और मंडल के सदस्यों में पूर्ण सहमति न हो सकी। यह असहमति शैली, सिद्धांत और वर्तनी तीनों ही क्षेत्रों में कुछ कुछ बनी रह गई। शैली और सिद्धांत के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। वर्तनी के संबंध में सभा की एक निश्चित पद्धति रही है। बीसों वर्ष पूर्व सभा, संमेलन और हिंदुस्तानी एकेडेमी के प्रतिनिधियों ने मिलकर एक सर्वमान्य वर्तनी का निश्चय किया था जिसका व्यवहार पिछले बीसों वर्षों से

सभा की सभी प्रकाशनों और पत्र-व्यवहार में होता आया है। वाजपेयी जी सभा द्वारा स्वीकृत इस वर्तनी को अपने व्याकरण ग्रंथ के लिये पूर्णतः स्वीकार नहीं कर सके।

अंत में ४ नवंबर १९५७ को व्याकरण-परामर्श-मंडल में निश्चय हुआ कि 'हिंदी शब्दानुशासन' का प्रकाशन लेखक पं० वाजपेयी जी की शैली, सिद्धांत और वर्तनी के अनुरूप हो और प्रकाशकीय वक्तव्य में इसका स्पष्टीकरण कर दिया जाय। अस्तु, प्रस्तुत ग्रंथ में शैली, सिद्धांत और वर्तनी का मूल उत्तरदायित्व लेखक का है। यह लिखकर सभा अपने उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं होना चाहती। वास्तव में वाजपेयी जी तथा सभा के दृष्टिकोण में अंतर बहुत अधिक नहीं है। सभा अपने मान्य लेखकों का संमान करती आई है और आज भी करती है, इसीलिए उस थोड़े अंतर को भी सभा ने स्वीकार कर लिया।

इस ग्रंथ के प्रणयन में मूल प्रेरक शक्ति डा० अमरनाथ झा आज हमारे बीच नहीं हैं। अकाल में ही कालदेव के यहाँ से उन्हें बुलावा आ गया जिससे संपूर्ण हिंदी संसार और सभा विशेषरूप से उनके अनुभव और पथ-प्रदर्शन से वंचित रही। आज डा० अमरनाथ झा इस ग्रंथ को प्रकाशित देखकर कितने प्रसन्न होते उसकी कल्पना मात्र की जा सकती है। फिर भी उनका आशीर्वाद सभा तथा इस व्याकरण को प्राप्त है इसका हमें पूरा विश्वास है।

व्याकरण-योजना-मंडल और व्याकरण-परामर्श-मंडल के संयोजक पं० करुणापति त्रिपाठी ने बड़ी तत्परता और मनोयोग से व्याकरण के प्रणयन में अपना अमूल्य समय और विचारपूर्ण सुझाव दिया। स्वयं अस्वस्थ रहते हुए भी उन्होंने व्याकरण के प्रणयन और प्रकाशन में रुचि रखी जिसके लिये सभा उनकी ऋणी है। प्रस्तुत व्याकरण के लेखक पं० किशोरीदास वाजपेयी के अध्ययन और मौलिक चिंतन का लेखाजोखा तो प्रस्तुत ग्रंथ ही प्रमाणित कर देगा, परंतु उनके धैर्य और संयम, परिश्रम और लगन की जितनी भी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी है। सभा उनके तत्पर सहयोग के लिये उनकी आभारी है।

अंत में सभा व्याकरण-परामर्श-मंडल के सदस्यों के प्रति आभार प्रदर्शन करना अपना कर्तव्य समझती है जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर अपनी संमतियाँ और सुझाव दिए। श्री डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री पं० विश्वनाथ

प्रसाद मिश्र, श्री कृष्णानंद जी तथा प्रधान मंत्री श्री डा० राजबली पाण्डेय ने मंडल की बैठकों में उपस्थित होकर अपने विचारों और सुझावों से व्याकरण के कार्य में प्रगति प्रदान की। सभा इन सभी महानुभावों के प्रति अपना आभार प्रदर्शन करती है।

आशा है कि 'हिंदी शब्दानुशासन' हिंदी में सर्वमान्य प्रामाणिक व्याकरण के अभाव की पूर्ति और पाठकों की जिज्ञासा की तृप्ति कर सकेगा।

श्रीकृष्ण लाल,
मंत्री, साहित्य विभाग,
नागरीप्रचारिणी सभा,
वाराणसी।

दुर्गाकुंड, वाराणसी-५,
१५ मार्च, १९५८।

अनुक्रमणिका

पूर्व-पीठिका

(१-७५)

पूर्वार्द्ध

(७७-३८३)

उत्तरार्द्ध

(३८५-५१६)

पूर्व पीठिका

पूर्व-पीठिका

जिस भाषा का यह व्याकरण है, उसका जन्म, जन्मस्थान, विकासक्रम आदि समझ लेने से आगे बड़ी सुविधा मिलेगी और प्रतिपाद्य विषय सामने थिरकने लगेगा। इसलिए, वैसी कुछ आवश्यक प्रासंगिक चर्चा अत्यन्त संक्षेप में यहाँ की जाएगी।

हिन्दी की उत्पत्ति—हिन्दी की उत्पत्ति उस संस्कृत भाषा से नहीं है, जो कि वेदों में, उपनिषदों में तथा वाल्मीकि या कालिदास आदि के काव्य-ग्रन्थों में हमें उपलब्ध है। 'करोति' से 'करता है' एकदम कैसे निकल पड़ेगा? 'रामः करोति' की तरह 'सीता करोति' भी संस्कृत में चलता है, परन्तु हिन्दी में 'लड़का चलता है, करता है, खाता है' और 'लड़की चलती है, करती है, खाती है' होता है। कितना अन्तर! यह ठीक है कि 'चल, खा, कर' शब्द-रूप संस्कृत के 'चल्, कृ, खाद्' से मिलते-जुलते हैं। परन्तु इस मेल-जोल का यह मतलब नहीं कि 'चलति' से 'चलता है' निकल पड़ा! दोनों की चाल एकदम अलग-अलग है। रबड़ी में और दही में श्वेतिमा समान है, स्वाद से भी कुछ वैसा आभास समझदार को कदाचित् मिल जाए और दोनों को पृथक् पात्रों में घोलने पर भी रंग-रूप में समता नजर आएगी। वैज्ञानिक विधि से विश्लेषण करने पर तो प्रत्यक्ष ही हो जाएगा कि दोनों पदार्थों का मूल तत्त्व एक ही है। परन्तु यह सब कुछ स्पष्ट हो जाने पर भी कोई यह न कहेगा कि रबड़ी से दही बना है! इतना ही कहा जाएगा कि जिस मूल पदार्थ से रबड़ी बनी है, उसी से दही बना है।

यही स्थिति संस्कृत और हिन्दी की है। दोनो का पृथक् और स्वतंत्र पद्धति पर विकास हुआ है; परन्तु हैं दोनों एक ही मूल भाषा की शाखाएँ। बहुत बड़ी-बड़ी शाखाएँ हैं ये; इतनी बड़ी कि तना कहीं दिखाई भी नहीं देता और इतना विस्तार कि कोई सहसा समझ नहीं पाता कि कहाँ से ये चली हैं!

संसार में सबसे पहले मानवता ने विकास कहाँ प्राप्त किया, यह प्रश्न होने पर कोई भी कह देगा कि जहाँ भाषा का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु भाषा का प्रादुर्भाव कहाँ पहले हुआ, यह भी तो पूछा जाएगा न! इसका भी उत्तर है। जहाँ का साहित्य सबसे पुराना है, वहीं भाषा ने सबसे पहले कृपा की। भाषा

एक दिन में नहीं बन जाती है, साहित्य तो बहुत दूर की चीज है। सहस्रों वर्षों में मनुष्य ने शब्दों में अर्थ-संकेत करके व्यवहार की भाषा बना पाई। फिर आगे जैसे-जैसे ज्ञान तथा अनुभव बढ़ता गया, भाषा का भी विस्तार होता गया। धीरे-धीरे वह भी समय आया, जब भाषा में साहित्य की सृष्टि होने लगी। बहुत आगे चल कर ऐसा उत्कृष्ट साहित्य प्रकट हुआ, जिसे अनन्त-शक्ति काल भी कवलित न कर सका और वह आज भी विश्व को अपने प्रकाश से आश्चर्यचकित कर रहा है। विश्व का वह प्राचीनतम साहित्य है 'ऋग्वेद'। संसार भर के विद्वान् इस विषय में एकमत हैं कि ऋग्वेद मानव की प्राचीनतम साहित्य-रचना है। तो, साहित्य जहाँ बना, वहीं सभ्यता ने और उसे वहन करने वाली भाषा ने सर्वप्रथम जन्म लिया।

वेद-रचना जिस भाषा में हुई, उसे आप साधारणतः 'मूल भाषा' कह सकते हैं। ऋषियों ने मंत्र-रचना की। 'ऋषि' कहते हैं 'द्रष्टा' को, जिसे सब कुछ दिखाई दे। यहाँ 'दिखाई देना' वह साधारण चीज नहीं है, जो कि पामर से पामर जनों को ही नहीं, पशु-पक्षियों को भी प्राप्त है! तब ऋषित्व क्या? 'दर्शन' या 'देखना' वह, जो साधारण जनों से बहुत दूर की चीज है। प्राकृत (साधारण) जनों की समझ ही कितनी! असाधारण ज्ञान रखने वाले सुसंस्कृत महामनीषियों ने हमें वेद-साहित्य दिया। निश्चय ही साधारण (प्राकृत) जनों की अपेक्षा ऋषि (संस्कृत) जनों की व्यवस्था में, रहन-सहन में, बोल-चाल में, सभी बातों में कुछ अन्तर समझा जा सकता है। फिर, साधारण बोल-चाल की भाषा में और साहित्य की भाषा में कुछ अन्तर आ ही जाता है। साहित्य-निर्माण के समय हम भाषा पर अधिक ध्यान देते हैं। उस में कुछ विचित्रता लाने का भी प्रयास करते हैं—कविता में अलंकारों का उपयोग करते हैं। इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि प्राकृत जनों की (बोल-चाल की) भाषा से साहित्य की भाषा में कुछ अन्तर आ ही जाता है। हम लोग बाजार में जो हिन्दी बोलते हैं, वही साहित्यिक गोष्ठी में भी बोलते हैं। परन्तु यह भी कह सकते हैं कि बाजार की हिन्दी कुछ और चीज है, साहित्यिक गोष्ठी में चलने वाली दूसरी चीज है। इसके आगे, जब हम साहित्य-निर्माण के लिए कलम उठाते हैं, तब वह साहित्यिक-गोष्ठी की भाषा कुछ और गम्भीर तथा परिष्कृत हो जाती है। तब बहुत सँभल-सँभल कर पद-विन्यास होता है। अब उस बाजारू हिन्दी से इस साहित्यिक हिन्दी का मिलान कीजिए। पं० माखन लाल चतुर्वेदी, पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

तथा बाबू मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में जो हिन्दी है, उसके साथ प्राकृत (साधारण) जनों की चलतू हिन्दी को रख कर देखिए, कितना अन्तर है ! एक ही भाषा है, पर अन्तर है। एक रूप को संस्कृत या शिष्ट साहित्यिकों की भाषा कहेंगे, दूसरे रूप को प्राकृत या साधारण जनों की भाषा। संस्कृत या शिष्ट जन भी बाजार में वही भाषा बोलते हैं, जो कि दूसरे लोग। कभी-कभी अपने काव्यों में और नाटकों में भी साधारण भाषा का प्रयोग शिष्ट जन करते हैं, वैसा कुछ प्रसंग आने पर। ग्रामीण पात्र के मुख से नाटक में सुसंस्कृत हिन्दी का प्रयोग कराने से तो नाटककार अपना उपहास करा लेगा। कहने का तात्पर्य यह कि एक ही भाषा के (व्यवहार-भेद से) कई रूप हो जाते हैं—साधारण भाषा, शिष्ट-भाषा, साहित्यिक भाषा।

जब 'मूल-भाषा' में वेद-जैसे उत्कृष्ट साहित्य की रचना होने लगी, तो उसका रूप संस्कृत हो चला। साधारण जनों की भाषा वही प्राकृत रही। साहित्यिक भाषा का व्याकरण बनता है, उसकी व्यवस्था होती है, जिससे कि वह (साहित्य) बहुत दूर-दूर तक और लंबे से लंबे समय तक लोगों को आनन्द दे सके। सब लोग उसका अर्थ और मर्म समझ सकें, इसलिए भाषा में पदों तथा वाक्यों की व्यवस्था की जाती है। परन्तु प्राकृत जनों की भाषा एक उद्दाम नदी की तरह अपनी स्वतंत्र गति से चलती रहती है; इस लिए मार्ग बदलती रहती है। साहित्यिक भाषा एक बड़ी नहर समझिए, जो कि व्यवस्था में चलती है। इसके मार्ग आदि में वैसा परिवर्तन नहीं होता। परन्तु फिर भी, बहुत लंबे काल में कहीं कुछ परिवर्तन सम्भव है।

सो, मूल भाषा के दो रूप हो गए—वेदों की 'संस्कृत भाषा' और लोक-व्यवहार की साधारण 'प्राकृत-भाषा'। संस्कृत भाषा में बहुत धीरे-धीरे थोड़ा-बहुत परिवर्तन हुआ। साहित्यिकों की भाषा एक ही काल में भी परस्पर भिन्न-रूपता ग्रहण कर लेती है, कालान्तर की तो बात ही क्या ! परन्तु यह रूप-परिवर्तन कृत्रिम होता है। जन-भाषा का रूप-परिवर्तन अकृत्रिम (स्वाभाविक) होता है। वैदिक-संस्कृत आगे चल कर उस रूप में आई, जो कि हमें 'ब्राह्मण-ग्रन्थों' में तथा उपनिषदों में प्राप्त है। आगे चल कर वह रूप हुआ, जो वाल्मीकि की रामायण में तथा व्यास के 'भारत' में है। इस साहित्यिक भाषा को भगवान् पाणिनि ने ऐसा व्यवस्थित कर दिया कि लोग देख कर दंग रह जाते हैं। पद-पद की व्यवस्था ! पाणिनि-व्याकरण का ही यह प्रभाव है कि ऐसे उत्कृष्ट साहित्य के मधुर-ओजस्वी दर्शन हमें अर्वाचीन

काल में हो सके। प्रत्येक पद व्यवस्थित। न कहीं अर्थ में झंझट, न भ्रम-सन्देह। बड़े ही मोहक रूप में संस्कृत प्रकट हुई। यदि पाणिनि का वह अ-लोकसाधारण उद्योग प्रकट न होता, तो संस्कृत का रूप न जाने क्या से क्या हो जाता!

यों संस्कृत को यहाँ स्थिरता प्राप्त हो गई, जो कि साहित्य के लिए अत्यन्त आवश्यक थी।

अब उस प्राकृत को देखिए, जिसका संस्कार करके ऋषियों ने उस रूप में अपनाया था। मूल-भाषा के जन-गृहीत रूप को हमने 'प्राकृत' कहा है। साधारण बोल-चाल की भाषा में रूप-परिवर्तन देश-काल के अनुसार सदा होता रहता है। परन्तु यह परिवर्तन इस गति से होता है कि सहसा लक्षित नहीं होता। सहस्रों वर्षों के अनन्तर जान पड़ता है कि 'ओह! इतना परिवर्तन हो गया!' आपके जीवन से भाषा का जीवन बहुत बड़ा है। लाखों-करोड़ों वर्ष अच्छी भाषा जीवित रहती है। तभी तो सहस्रों वर्षों में रूप-परिवर्तन दिखाई देता है। आपका जीवन अधिक से अधिक सौ वर्षों का है न! आपके शरीर में प्रति दिन परिवर्तन होता है; परन्तु कुछ मालूम देता है? दस-पाँच वर्षों में वह कुछ जान पड़ता है।

यही स्थिति भाषा की है। काल की ही तरह देश-भेद से भी भाषा बदलती है, बहुत धीरे-धीरे। आप प्रयाग से पश्चिम चलें, पैदल यात्रा करें, चार-पाँच मील नित्य आगे बढ़ें, तो चलते-चलते आप पेशावर या काबुल तक पहुँच जाएँगे; पर यह न समझ पाएँगे कि हिन्दी कहाँ किस गाँव में छूट गई—पंजाबी कहाँ से प्रारम्भ हुई—पश्तो ने पंजाबी को कहाँ रोक दिया। ऐसा जान पड़ेगा कि प्रयाग से काबुल तक एक ही भाषा है। परन्तु यह यात्रा यदि वायुयान से करें और प्रयाग से उड़ कर पेशावर या काबुल उतरें, तो भाषा-भेद से आप चक्कर में पड़ जाएँगे। प्रयाग की भाषा कहाँ और काबुल की भाषा कहाँ! इसी तरह पूर्व की यात्रा पैदल करने पर आप हिन्दी की विभिन्न 'बोलियों' में तथा मैथिली-उड़िया-बँगला आदि में अन्तर वैसा न लख पाएँगे। यही क्यों, दक्षिण की ओर चलें, तो ठेठ मदरास तक पहुँच जाएँगे, भाषा-सम्बन्धी कोई भी अड़चन सामने न आएगी। किन्तु वायुयान से उड़ कर मदरास पहुँचिए, जान पड़ेगा भाषा में महान् अन्तर! आप कुछ समझ ही न सकेंगे।

यदि ऋग्वेद के निर्माण-काल के किसी जन को इतना लंबा जीवन मिल जाता कि आज हम लोगों के बीच होता, तो उसे उस मूल भाषा में और आज की भाषा (हिन्दी) में कुछ अन्तर मालूम ही न देता। इतने लंबे जीवन में वह अपनी वह मूल भाषा भूल भी चुका होता। एक सपने की सी याद रहती उसे कि पहले कुछ ऐसा बोलते थे। परन्तु हमें कितना अन्तर दिखाई देता है ?

हिन्दी का विकास

अब आप सीधे हिन्दी के विकास-मार्ग पर आ जाइए।

'मूल भाषा' का नाम तब 'प्राकृत भाषा' रखा गया, जब कि उसका एक रूप 'संस्कृत भाषा' कहलाने लगा। इस प्राकृत-भाषा का विकास या रूपान्तर देशकाल-भेद से होने लगा—होते-होते एक युग बीत गया। वैदिक काल की प्राकृत का कुछ आभास (वेद के) 'गाथा' छन्दों में मिलता है, ऐसा माना जाता है। सम्भव है, उस समय प्राकृत में भी सामान्य साहित्य-रचना होती हो और उसके लिए कोई विशेष छन्द निर्धारित हो गया हो और वही 'गाथा' हो। अब भी ऐसा देखा जाता है कि शिष्ट (साहित्यिक) भाषा के अतिरिक्त जनपदों की अपनी प्रकृत भाषा में भी कुछ गीत आदि बनते-चलते रहते हैं। ब्रजभाषा-साहित्य देश भर में फैला हुआ है। ब्रज की 'बोली' सँवार-बना कर 'ब्रजभाषा' बनायी गयी है। ब्रज की 'बोली' में और इस साहित्यिक ब्रजभाषा में कुछ स्वरूप-भेद हो गया है; यद्यपि मूलतः दोनो एक ही हैं। ब्रज में 'बगदना' जैसी क्रियाएँ (क्रिया-शब्द) खूब प्रचलित हैं, परन्तु इसके साहित्यिक रूप (ब्रजभाषा) ने इन शब्दों को दूर रखा है। ब्रज की बोली में जो गीत बनते हैं, उनमें ये शब्द मजे से चलते हैं—चल रहे हैं—'बगदि गयो पुलिया ते मेरो सरमीलो भरतार।' 'बगदि गयो'—लौट गया। ऐसे छन्दों को ब्रज में 'रसिया' कहते हैं। उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर-जिले में और उसके इधर-उधर के जनपद में 'कजरी' नाम का एक गेय पद बहुत रुचि से गाया-सुना जाता है। 'कजरी' वहाँ की जनपदीय भाषा या 'बोली' में ही सुनेंगे, वहाँ की साहित्यिक भाषा (हिन्दी यानी राष्ट्रभाषा) में नहीं। इसी तरह उत्तर-प्रदेश के कानपुर-उन्नाव आदि जिलों में 'बिरहा' नाम का एक मधुर-सरस छन्द वहाँ की अपनी 'बोली' में चलता है। बड़े-बड़े साहित्यिक इन (रसिया, कजरी तथा बिरहा आदि)

ग्राम्य-गीतों को सुनकर मुग्ध हो जाते हैं। इनमें रस होता है। यदि अवसर पाकर कोई साहित्यिक प्रसंगवश कहीं अपने नाटक-उपन्यास में किसी पात्रके मुख से कजरी, बिरहा या रसिया गवा दे, तो राष्ट्रभाषा में खप जाएगा; उसी तरह, जैसे वेद-मंत्रों में 'गाथा' छन्द। हिन्दी समझनेवाले सब पाठक अनायास कजरी, बिरहा या रसिया छन्दों की भाषा समझ लेंगे, रस लेंगे; यद्यपि यह भी स्पष्ट देखेंगे कि राष्ट्रभाषा से इन ग्राम्य और प्रादेशिक छन्दों की भाषा में कितना अन्तर है!

कहने का प्रयोजन यह कि वैदिक युग की प्राकृत का कुछ आभास हमें 'गाथा' में मिलता है। इसके अनन्तर, एक बड़े युग के बाद, हम उसी प्राकृत को ऐसे रूप में पाते हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। वैदिक युग की प्राकृत में और इस युग की प्राकृत में अत्यधिक अन्तर है; परन्तु यह स्पष्ट दिखाई देता है कि यह उसी प्राकृत का रूप है। किसी लड़के को आप बारह-चौदह वर्ष की अवस्था में देखें और फिर बहुत दिन बाद उसे युवावस्था में देखें, तो लगेगा कि यह दूसरा ही है; परन्तु ध्यान से देखने पर, अंगों की बनावट, रंग तथा विशेष चिह्नो पर ध्यान देने से आप समझ लेंगे कि यह वही लड़का है, इस रूप में। यही स्थिति इस दूसरी प्राकृत की (प्राकृत की दूसरी अवस्था की) है। भगवान् बुद्ध के कई शताब्दियों पहले से कई शताब्दियो बाद तक इस प्राकृत का बोलबाला रहा। इस समय देश-भेद से भी प्राकृत के भेद हो गए थे। बगाल, उत्कल, बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब, गुजरात, राजस्थान, मध्यभारत, महाराष्ट्र आदि में (एक ही प्राकृत के) भिन्न-भिन्न रूप प्रचलित थे और इन प्रदेशों के अवान्तर भागों में भी अपनी-अपनी प्राकृत के अवान्तर भेद भी जरूर होंगे। 'कोस-कोस पर पानी बदले, सवा कोस पर बानी'। परन्तु सवा कोस पर भेद ऐसा प्रस्फुटित नहीं होता कि लक्षित हो जाए। सौ-पचास मील पर वह प्रस्फुटित हो जाता है।

सो, इस प्रकार भारत के प्रदेशों में और छोटे-छोटे जनपदों में विभिन्न प्रकार की प्राकृत चल रही थी। भगवान् महावीर ने और भगवान् बुद्ध ने अपनी-अपनी 'बोली' में—अपनी-अपनी प्राकृत भाषा में—जनता को उपदेश दिए। इससे प्राकृत को बहुत बल मिला। महाराज अशोक के समय प्राकृत राजभाषा हो गई। इससे उसकी शक्ति और भी अधिक बढ़ गई। बुद्ध ने अपनी (मागधी) प्राकृत में ही जनता को उपदेश दिए थे, जो आगे चल कर

देश भर की सम्पत्ति हो गए और वे ऐसी प्राकृत में लिखे गए, जिसे वास्तविक 'मागधी' नहीं कह सकते। उस प्राकृत का नाम आगे चलकर 'पाली' पड़ गया। 'पाली' ऐसी प्राकृत है, जिसे न मागधी कह सकते हैं, न महाराष्ट्री और न शौरसेनी ही। बुद्धवचन देश भर की सम्पत्ति बन गए, तब वे 'मागधी' जैसी किसी प्रादेशिक भाषा में ही कैसे बँधे रहते? ऐसा जान पड़ता है कि प्रदेश-भेद से विभिन्न प्राकृत भाषाएँ होने पर भी कोई एक पुराना साहित्यिक रूप (प्राकृत का) ऐसा भी था, जिसे देश भर में स्थान प्राप्त था—देश के सभी भागों में जो समझी जाती थी। उसी राष्ट्रीय प्राकृत में 'त्रिपिटक' आदि लिखे गए और आगे चलकर वह अन्तर-राष्ट्रीय चीज बन गई—तिब्बत, चीन, लंका, स्याम, बरमा, काबुल, आदि न जाने कहाँ-कहाँ बुद्ध-वचन 'पाली' को ले गए।

बुद्ध-उपदेश तो 'पाली' में चले; परन्तु अन्य साहित्य विभिन्न प्राकृतों में भी बनता-चलता रहा। जिन प्राकृतों में साहित्य-रचना होती थी, उनके नाम हैं—मागधी, अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री, शौरसेनी आदि। परन्तु जिन प्राकृतों में वैसा साहित्य नहीं बना, उनके नामों का निर्देश प्राकृत-व्याख्याताओं ने नहीं किया है। बंगाल, उत्कल, पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के पश्चिमोत्तर भाग में जो प्राकृत-रूप चल रहे थे, उनके नामों का कोई उल्लेख नहीं है। जिसके पास कोई सम्पत्ति नहीं, उसका नाम कौन ले! ऐसा तो हो नहीं सकता कि इन प्रदेशों में उस समय साहित्यिक चेतना का अभाव रहा हो! असम्भव बात है। ऐसा जान पड़ता है कि इन प्रदेशों में मनीषी या तो 'पाली' में कुछ लिखते होंगे, या फिर संस्कृत में। 'अपनी' प्राकृत साधारण व्यवहार के लिए। आजकल भी देखिए, उत्तर प्रदेश के गढ़वाल, अवध तथा बैसवाड़े आदि में अलग-अलग 'बोलियाँ' हैं। परन्तु इन बोलियों में कोई साहित्य-रचना नहीं करता, सब राष्ट्रभाषा (हिन्दी) में ही लिखते-पढ़ते हैं। आपसी बोल-चाल में 'अपनी' भाषा चलती है। राजर्षि टंडन जी आपसी बात-चीत 'अवधी' में ही करते हैं, स्वर्गीय आचार्य द्विवेदी 'बैसवाड़ी' ही बोलते थे, अपने गाँव-घर में। राजस्थान, मध्यप्रदेश, विन्ध्य-प्रदेश, मध्य-भारत, हिमाञ्चल आदि प्रदेशों में अपनी-अपनी भाषाएँ हैं, परन्तु इन प्रदेशों के विद्वान् साहित्य-रचना हिन्दी में करते हैं। तभी तो यह राष्ट्रभाषा बनी! साहित्यिक भाषाओं के नाम गिनाते समय बँगला-गुजराती आदि के नाम लिए जाएँगे, गढ़वाली, बैसवाड़ी, मगही, छत्तीसगढ़ी और मालवी आदि

की ओर ध्यान न जाएगा ! परन्तु इससे यह तो निष्कर्ष न निकलेगा कि इन प्रदेशों की 'अपनी' प्राकृत भाषाएँ इस समय कोई हैं ही नहीं !

उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद से लेकर पंजाब के अंबाला जिले तक की लंबी पट्टी में जो प्राकृत बोली जाती थी, उसका नाम निर्देश भी नहीं किया गया है। इसी प्रदेश के मध्य-भाग की तीसरी प्राकृत 'अपभ्रंश' से हिन्दी का प्रादुर्भाव हुआ, जो आज राष्ट्रभाषा है, हिन्द की भाषा है, तत्त्वतः 'हिन्दी' है, जिस भाषा में ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं। मागधी, महाराष्ट्री, शौरसेनी प्राकृतों के नाम प्रादेशिकता सूचित करते हैं। इनसे भिन्न एक नाम ऐसा मिलता है, जिसमें प्रादेशिकता की गन्ध नहीं है, वह है—'नागर' प्राकृत; 'नागर' (शिष्ट) जनों की भाषा। बहुत सम्भव है कि जिन प्रदेशों की प्राकृतों के नाम नहीं लिए गए हैं, वहाँ साहित्यिक भाषा के रूप में 'नागर प्राकृत' का चलन रहा हो। विभिन्न प्रादेशिक प्राकृतों ने अपनी लिपियाँ भी अलग-अलग बना ली होंगी, किसी सामान्य रूप में कुछ भेद कर-कर के। परन्तु 'नागर प्राकृत' या 'नागरी भाषा' किसी एक ही पूर्वागत लिपि में लिखी-पढ़ी जाती होगी। यह लिपि 'ब्राह्मी' लिपि का रूपान्तर ही समझिए। 'ब्राह्मी' बोलने में कुछ क्लिष्टता जान पड़ती है; इसीलिए, आगे चलकर इस लिपि का नाम भी 'नागरी' पड़ गया होगा। रेलवे-स्टेशनों के नाम रोमन लिपि में देखकर आज भी, पढ़े लिखे लोग भी, कह देते हैं—'अंग्रेजी में लिखा है—भरतपुर।'

उत्तर-प्रदेश के मुरादाबाद से पश्चिम—मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, मेरठ तथा देहरादून के जिले किसी समय 'कुरुजनपद' कहलाते थे। कुरुजनपद के पड़ोस में ही 'शौरसेन प्रदेश' है, जिसे आजकल 'व्रज' कहते हैं। 'व्रज' में मथुरा, आगरा, अलीगढ़ आदि जिलों का भूभाग सम्मिलित है। 'शौरसेनी' वहाँ की प्राकृत कहलाती थी। कुरुजनपद की प्राकृत का नाम 'कौरवी' होना चाहिए। परन्तु कोई नाम मिलता नहीं है। लोगों ने समझ लिया कि जिन प्राकृतों के नाम मिलते हैं, वे ही उस समय थीं और बस ! समझ लिया गया कि 'मागधी' ही बिहार में तथा बंगाल-उड़ीसा में बोली जाती थी ! परिणामतः यह भी लिख दिया गया कि मागधी के अपभ्रंश (तीसरी प्राकृत) से मगही, मैथिली, भोजपुरी, बँगला तथा उड़िया भाषाएं बनीं ! इसी तरह शौरसेनी अपभ्रंश से हिन्दी (खड़ी बोली) की भी उत्पत्ति मान ली गई ! यानी, शौरसेनी अपभ्रंश से व्रजभाषा तथा 'खड़ी बोली' (राष्ट्रभाषा) का

विकास हुआ ! इसी भ्रम से आगे चलकर यह भी लिख दिया गया कि 'व्रजभाषा से 'खड़ी बोली' निकली है ।' यह सब प्रमाद है ।

शौरसेन तथा कुरुजनपद पड़ोसी हैं और दोनों की प्राकृतें एक दूसरे से प्रभावित हैं, यह सही है; परन्तु इनमें से कोई किसी से निकली नहीं है । ये दोनों किसी एक प्राकृत से निकली हैं, यह ठीक है । बहनें दोनो हैं, माँ-बेटियाँ नहीं । दोनों के रूप-रंग तथा अंग-विन्यास में बहुत बड़ा अन्तर है, जो आगे हम स्पष्ट करेंगे ।

शौरसेनी का प्रारम्भ व्रज से होता है । व्रज 'शौरसेन' (शूरसेन का प्रदेश) प्रसिद्ध है । वहाँ की भाषा 'शौरसेनी' । आज की 'व्रजभाषा' शौरसेनी का ही रूपान्तर है, जिस पर 'कौरवी' का प्रभाव पड़ा है । राजस्थानी का प्रभाव व्रज भाषा पर क्या कहें, ये दोनो तो शौरसेनी से हैं ही ।

तो, बुद्ध के आगे-पीछे इस देश में जो प्राकृतें चल रही थीं, वे द्वितीय अवस्था की हैं । आगे चल कर इनके रूपों का भी विकास हुआ और होते-होते इतना रूपान्तर हो गया कि इस तीसरी अवस्था में आ कर रूप एकदम बदल गए । इन तीसरी प्राकृतों को, या प्राकृत की तीसरी अवस्था के रूपों को, लोग 'अपभ्रंश' कहते हैं, जो ठीक नहीं । 'तीसरी प्राकृत' कहना ठीक है । कली खिल कर फूल बन जाए, तो कहा जाएगा—कली खिल गई, कली फूल बन गई । यह न कहा जाएगा कि 'कली बिगड़ गई—या कली का बिगड़ा हुआ रूप फूल है' ।

देश भर में जो तीसरी प्राकृत के विविध रूप चल रहे थे, उनका आगे विकास हुआ और ये पूर्ण विकसित रूप ही आज की हमारी प्रान्तीय या प्रादेशिक भाषाएँ हैं—बैसवाड़ी, अवधी, व्रजभाषा, राजस्थानी, बँगला, मराठी, उड़िया, गुजराती आदि । बहुत से प्रदेशों ने बहुत पहले से हिन्दी को ही अपनी साहित्यिक भाषा के रूप में ग्रहण किया और अपनी मातृभाषा साधारण व्यवहार में रखी । उत्तर प्रदेश के गढ़वाल, कुमायूँ, व्रज, बैसवाड़ा और अवध अपनी-अपनी पृथक् मातृभाषा रखते हैं । राजस्थान, मध्य भारत, मध्य प्रदेश, विन्ध्य प्रदेश तथा बिहार आदि की भी अपनी-अपनी भाषाएँ हैं । परन्तु इन सब जनपदों ने तथा प्रदेशों ने साहित्यिक भाषा के रूप में हिन्दी को ही ग्रहण किया । बँगला, उड़िया, गुजराती, मराठी, आदि साहि-

त्यिक भाषाएँ भी हैं। इन प्रदेशों में भी अब हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में गृहीत हो चुकी है।

प्राकृत और हिन्दी

ऊपर हमने दूसरी प्राकृत से तीसरी का और तीसरी से आज की भाषाओं का विकास बतलाया है, यानी तीसरी प्राकृत या 'अपभ्रंश' ही आगे विकसित व्यवस्थित रूप में आज की भारतीय आर्य-भाषाएँ (हिन्दी आदि) हैं। 'तीसरी' शब्द वस्तुतः 'तीसरी अवस्था' के लिए है; क्योंकि 'मूल भाषा' को हम तत्त्वतः प्राकृत मानते हुए भी नाम 'प्राकृत' नहीं देना चाहते; क्योंकि 'संस्कृत' नाम आए बिना 'प्राकृत' नाम भाषा का जँचता नहीं। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखने की बात है कि दूसरी अवस्था की प्राकृतें बहुत कुछ कृत्रिम रूप में हमारे सामने उपस्थित हैं। पाली के अतिरिक्त उस समय की अन्य प्राकृतों के रूप बहुत कुछ कृत्रिम जान पड़ते हैं, उस समय की जनभाषाओं से बहुत दूर! साहित्यिक लोग कभी-कभी अपनी विद्वत्ता प्रकट करने के लिए भाषा को कुछ का कुछ बना देते हैं! उस समय के जो प्राकृत रूप हमें साहित्य के द्वारा प्राप्त हैं, उन्हें देखने से जान पड़ता है कि साहित्यिक लोग उस समय संस्कृत के प्रभाव में ऐसे पड़े थे कि प्राकृत को उसी (संस्कृत) की पटरी पर चलाना चाहते थे और संस्कृत से प्रतिद्वन्द्विता भी प्रकट करते थे! उस अनुचित प्रभाव के कारण प्राकृत अपना रास्ता छोड़ कर भटक गई, अपनी चाल छोड़ कर कुछ अटपटी हो गई और प्रतिद्वन्द्विता के कारण विकृत हो गई, प्राकृत अप्राकृत हो गई! वर्ण-विकार और अन्धाधुन्ध व्यंजन-लोप ने उसे कर्णकटु बना दिया है। उस समय के लोगों को, साहित्यिकों को, वह मीठी लगती होगी; हम लोगों को तो बड़ी अटपटी तथा श्रवणकटु लगती है! निश्चय ही तीसरी प्राकृत (अपभ्रंश) में वह कृत्रिमता बहुत कुछ बनी रही। परन्तु वर्तमान लोकभाषाओं से वह एकदम उड़ गई। ऐसा जान पड़ता है कि दूसरी अवस्था की प्राकृतों में साहित्यिक लोग कृत्रिम प्रयोग करते रहे; परन्तु जनता उसे अपने सहज सुलभ रूप में ही बोलती रही। वही सहज रूप तीसरी अवस्था की जनभाषाओं में आया और वही अधिक विकसित होकर आज हमारी भाषाओं के रूप में उपलब्ध है। साहित्यिक प्राकृतों का प्रभाव साहित्य में चलता रहा, तीसरी अवस्था की प्राकृतों (अपभ्रंशों) में भी वह दिखाई देता है। अपभ्रंश—साहित्य की बात कही जा

रही है । पर साहित्य में भी कृत्रिमता आगे कम होती गई । अपभ्रंश का जो रूप हमें साहित्य में दिखाई देता है, बोल-चाल की भाषा भी वैसी ही होगी; नहीं कहा जा सकता ।

द्वितीय अवस्था की अन्य प्राकृतों के जो रूप हमारे सामने हैं और जिनका प्रभाव 'अपभ्रंश'—साहित्य में दिखाई देता है, वे ही उस समय की जनता के साधारण व्यवहार में भी यदि होते, तो हम लोग आज 'सूत' को 'सुत्त' और 'पूत' को 'पुत्त' बोलते होते ! पंजाबी अवश्य 'पुत्तर' बोलते हैं, परन्तु 'पुत्त' कोई नहीं बोलता । हिन्दी ही नहीं, वर्तमान सभी भारतीय भाषाओं में 'राजा' का उच्चारण-लेखन संस्कृत के ही समान है, परन्तु प्राकृतों में इसका रूप 'राश्रा' है ! निपट ग्रामीण स्त्री भी 'मोर राजा' कह लेती है, कहती है । कहीं कोई 'राश्रा' नहीं कहता । यदि 'राजा' का रूप 'राश्रा' कभी जन-गृहीत हुआ होता, तो आज भी वह उसी रूप में कहीं चलता दिखाई देता । उलटी गंगा पहाड़ पर न चढ़ती कि 'राश्रा' को फिर जनता 'राजा' कर देती । 'राश्रा' बनाया हुआ रूप है, प्राकृत व्याकरणों में दी हुई विधि के अनुसार । कहीं जन-भाषा में किसी पद के उपान्त्य व्यंजन का लोप देख कर वैसा लिख दिया गया होगा कि 'अन्तिम सस्वर व्यंजन का स्वर शेष रहता है, व्यजन का लोप हो जाता है' बस, वह नियम बन गया ! सर्वत्र वैसा बनाया जाने लगा । ऐसा विकृत रूप भाषा का कर दिया गया है कि अचरज होता है ! 'प्राकृत' के नमूने लीजिए—(शुक > सुअ+आ=) 'सुआ' देख कर कोई वैसा नियम बना दे और 'पिक' को 'पिआ' तथा 'काक' को 'काआ' कर दे, तो कैसा रहेगा ?

हृदय – हिअअ	पिता – पिआ, पिदा
माता – माआ	नदी – णई

'माआ' तथा 'राआ' का मतलब कहीं का भी कोई जन समझ सकता है ? 'माता' 'पिता' सब बोलते-समझते हैं ।

कर्णकटुता का तो कोई ठिकाना ही नहीं ! संस्कृत में तथा हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में ऐसा कोई शब्द न मिलेगा, जिसके प्रारम्भ में 'ण' हो । परन्तु प्राकृतो में णकारादि शब्दों की बेहद भरमार है ! यहाँ तक कि 'न' भी 'ण' कर दिया गया है ! प्राकृत की तीसरी अवस्था के आरम्भ (अपभ्रंश) में भी यह प्रवृत्ति कुछ-कुछ दिखाई देती है; परन्तु अधिकतर उन साहित्य-

कारों की रचना में, जो कि पाण्डित्य का गर्व रखते थे। निश्चय ही पुरानी प्राकृत के पण्डित ये लोग रहे होंगे और प्राकृत-व्याकरण का ध्यान रखकर पद रखते होंगे। तृतीय प्राकृत (अपभ्रंश) जहाँ 'हिन्दी' के रूप में आती दिखाई देती है, ('अपभ्रंश' जहाँ हिन्दी की किसी 'बोली' का रूप धारण करता नजर आता है,) वहाँ भी उपर्युक्त प्रवृत्ति आप साहित्य में देख सकते हैं। महाकवि पुष्पदन्त का नाम हम लोग बहुत पहले से सुनते आ रहे थे, जिन्हें किसी ने 'पुष्य' भी लिखा है। परन्तु इनकी कोई कृति उपलब्ध न थी। भगवान् भला करें हमारे राहुल सांकृत्यायन का, जिनके असाधारण पुरुषार्थ से पुष्पदन्त की तथा अनेक सिद्धों की वाणी सामने आई। 'सिद्ध' कवियों के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से कवियों का पुनरुद्धार राहुल जी ने किया है। आश्चर्य आप करेंगे, इनमें से कितने ही समसामयिक कवियों की भाषा में आकाश-पाताल का अन्तर है। कुछ कवियों की या सन्तों की भाषा तो ऐसी है, जिसे हम बहुत सरलता से ग्रहण कर लेते हैं और जो उच्चारण में भी हमें उद्वेजित नहीं करती। सन्त गोरख की वाणी ऐसी ही है। परन्तु दूसरे विद्वान् कवियों की भाषा बड़ी ही विचित्र है! महाकवि पुष्पदन्त व्याकरण तथा छन्दशास्त्र आदि के विद्वान् थे, अलंकार शास्त्र के भी ज्ञाता थे। वे कहते हैं—

णंदण-वणि किर वीसमइ जाम, तहिं बिण्णि पुरिस संपत्त ताम।

पणवेप्पिणु तेहिं पवुत्तु एवं, भो खंड-गलिय पावावलेव! क्या समझे? राहुल जी के द्वारा सम्पादित 'हिन्दी-काव्य-धारा' में ऐसी कविताओं का मजा लीजिए, यदि इच्छा हो। यहाँ अधिक उद्धरण न दिए जाएंगे। पृष्ठों की बचत का ख्याल नहीं, पर मुद्रण के समय झंझट बढ़ने का डर है! ऊपर की दोनों पंक्तियों की छाया राहुल जी ने यों दी है—

नन्दनवन फुरि विश्रमै जहां, तब दोउ पुरुष आयेउ तहां।
प्रणमीया तेहिं कहेउ राम, हे खंड-गलित-पापावलेप।

कौन सी भाषा आपको सहज जान पड़ती है? पुष्पदन्त का समय दसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। इनसे लगभग सौ वर्ष पहले की गोरख-वाणी देखिए—

"जड़ी-बूटी का नावं जिनि लेहु, राज-दुआर पावँ जिनि देहु।
यंमन मोहन वसीकरन छांड़ौ औचार, सुणौ हो जोगेसरौ जोगारम्भ की बाट।"

+ + +

सीस नवावत सतगुरू मिलिया,
जागत रैण बिहाणी ।
मेरा गुरू तीनि छन्द गावै,
न जाणौं गुरू कहां गैला,
मुझ नींदड़ी न आवै ।

\+ + +

गुदड़ी जुग च्यारि तैं आई,
गुदड़ी सिद्ध-साधिवां चलाई ।
गुदड़ी में अतीत का वासा,
भणंत गोरख मच्छन्द्र का दासा ।

निचली पंक्तियों में हिन्दी (राष्ट्रभाषा, खड़ी बोली) की भी कुछ झलक है। गोरख पुष्पदन्त से एक शताब्दी पहले और भाषा उनकी ऐसी कि आज भी हम लोग सरलता से समझ लेते हैं। यही कारण है कि गोरख की वाणी समझाने के लिए राहुल जी को प्रतिरूप पंक्तियाँ नहीं देनी पड़ी हैं।

तो फिर इस भाषा-भेद का कारण क्या है ? वही सहज और कृत्रिम रूपों का प्रयोग ! गोरख सहज जनभाषा में सब कुछ कहते हैं और दूसरे 'कवि' प्राकृत-व्याकरण टटोलते हैं ! आजकल के हिन्दी-व्याकरणों को पढ़ कर बहुत से अहिन्दीभाषी जन लिखने लगे थे—'राम ने तुम देखे' ! जब उनसे कहा गया कि यह गलत है, 'राम ने तुमको देखा' सही है, तो उत्तर मिला कि आप गलत कह रहे हैं। 'हिन्दी-व्याकरण' में हमने पढ़ा है कि सकर्मक क्रियाओं के भाववाच्य प्रयोग नहीं होते हैं। आपका प्रयोग गलत है।' इसी तरह प्राकृत-व्याकरण बने होंगे और उनका अनुगमन हुआ होगा। कवि जन तो आज भी भाषा बदल देते हैं। हिन्दी के रहस्यवादी काव्यों की भाषा देखिए और उन्हें जन-भाषा से मिलाइए। कितना अन्तर है ! इन काव्यों को देख कर आगे के लोग इस समय की जन-भाषा यही समझेंगे न ! और, ये महाकवि क्या 'साधारण जन' हैं ? बड़ा अन्तर है।

और, यदि यह मान लिया जाए कि उपलब्ध प्राकृत-काव्यों में जो भाषा है, वही उस समय की जनभाषा थी, तो कहना पड़ेगा कि वैसी किसी प्राकृत से हिन्दी का कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। उस प्राकृत की अपेक्षा तो संस्कृत ही हिन्दी के अधिक समीप है ! या फिर ऐसी कोई प्राकृत होगी,

जिसमें वर्ण-संहार वैसा न हुआ होगा। परन्तु उसका रूप आज हमारे सामने नहीं है। इस प्राकृत में साहित्य न रचा गया होगा। परन्तु गोरख आदि की वाणी में कुछ झलक जरूर मिल रही है। उसी प्राकृत से हिन्दी की उत्पत्ति समझिए। निश्चय ही वह कुरुजनपद की प्राकृत (या जनभाषा) संस्कृत से बहुत दूर न हटी होगी। उसी का विकसित रूप हिन्दी है।

कुरुजनपद की जनभाषा

कुरुजनपद में प्राकृत का तीसरा रूप जो प्रचलित था, उसका नाम-रूप कुछ भी हमारे सामने नहीं है! प्राकृत के (दूसरी तथा तीसरी अवस्था के) जो भी रूप साहित्य में उपलब्ध हैं, उनसे हिन्दी की पटरी बैठती नहीं है। इन सभी प्राकृतों में वर्तमान काल की क्रियाएँ तिङन्त हैं; जिनमें कर्ता के अनुसार पुल्लिंग-स्त्रीलिंग में कोई रूप-परिवर्तन नहीं होता। 'पिआ पुच्छइ' और 'माआ पुच्छइ'। उभयत्र 'पुच्छइ' है। यह संस्कृत के 'पिता पृच्छति' 'माता पृच्छति' की छाया है। हिन्दी में रूप बदलता है—'पिता पूछता है'—'माता पूछती है'। हिन्दी की यह विशेषता किसी भी प्राकृत में दिखाई नहीं देती। जिस (कुरुजनपद की) प्राकृत में यह बात थी, उसका कोई रूप हमारे सामने है नहीं। कई कड़ियाँ टूटी हैं। कुछ भी हो, साहित्य में उपलब्ध प्राकृतों में से कोई भी ऐसी नहीं है, जिससे हिन्दी (खड़ी बोली) का उद्गम माना जा सके। हाँ, अवधी आदि का संबन्ध उनसे जरूर है।

कुरुजनपद की 'बोली' ब्रज की 'बोली' से बहुत मिलती जुलती है। दोनों पास-पास हैं न! परन्तु दोनों में आधारभूत भेद है और वह भेद इसके 'खड़ी बोली' नाम से ही प्रकट हो जाता है।

'खड़ी बोली' नाम

कुरुजनपद (उत्तर प्रदेश के मेरठ-डिवीजन) की बोली को 'खड़ी बोली' नाम भाषाशास्त्रियों ने नहीं, साधारण साहित्यिकों ने दिया। परन्तु इसकी व्युत्पत्ति के बारे में लोग भटकते रहे! प्रारम्भ में तो 'खड़ी बोली' नाम इसलिए पड़ा कि इसमें कवियों को मधुरता न जान पड़ी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी इसमें खड़खड़ाहट पाई। जब दाल पकती नहीं, कची रह जाती है, तो लोग कहते हैं—'दाल खड़ी रह गई है'। इसी सादृश्य से लोग इसे 'खड़ी

बोली' कहने लगे होंगे। परन्तु इस चीज को न समझ कर कई विद्वानों ने लिख दिया कि 'खरी बोली' का रूपान्तर 'खड़ी बोली' है!

यह तो हुई कवि जनों की बात। आगे चलकर कवियों ने ही इसे लोच-दार और मधुर-कोमल बना लिया। इधर के काव्य देखिए न!

परन्तु 'खड़ी बोली' नाम भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी खरा उतरता है। 'मीठा' 'जाता' 'खाता' आदि में जो खड़ी पाई आप (अन्त में) देखते हैं, वह हिन्दी के अतिरिक्त इसकी किसी भी दूसरी 'बोली' में न मिलेगा। ब्रज में 'मीठो' और अवधी में 'मीठ' चलता है—'मीठो जल' 'मीठ पानी'। इसी तरह 'जात है' 'खात है' आदि रूप होते हैं। केवल कुरुजनपद में ही नहीं, यह खड़ी पाई आगे पंजाब तक चली गई है—'मिट्ठा पाणी लावँदा है'।

सो, इस खड़ी पाई के कारण इसका नाम 'खड़ी बोला' बहुत सार्थक है।

आप जानते हैं, यह खड़ी पाई मूलतः क्या चीज है? यह संस्कृत के विसर्गों का विकास है। 'उषः' को 'उषा' होते आपने देखा ही है। विसर्गों का उच्चारण 'ह' के समान होता है, इसीलिए विदेशी 'ज्यादह' 'तमन्नह' आदि शब्द हिन्दी में 'ज्यादा' 'तमन्ना' बन जाते हैं। कुछ दिन पहले तक लोग 'ज्यादः' 'तमन्नः' 'तर्जुमः' यों विसर्ग इन विदेशी शब्दों में भी दिया करते थे। इसके विरुद्ध बहुत कुछ लिखा-किया गया, तब अब प्रवाह बदला है। लोग 'ह' लिखने लगे हैं, यद्यपि 'छः' अभी तक लिखे चले जा रहे हैं! 'छह' शुद्ध है, 'छः' गलत है।

कहा जा रहा था कि खड़ी बोली की यह खड़ी पाई विसर्गों का विकास है। 'अ' का भी कंठ स्थान है और 'ह' का तथा विसर्गों का भी। इसलिए 'ह' तथा विसर्गों की जगह कभी-कभी 'अ' ले लेता है। फिर 'सवर्ण-दीर्घ' होकर 'आ' बन जाता है। 'उषः' से 'उषा' तथा 'तर्जुमः' से तर्जुमा' इसी विधि से बन गये।

हिन्दी में खड़ी पाई की एक व्यवस्था है, अन्धा-धुन्धी नहीं है। सदा पुल्लिंग-एकवचन में इसके दर्शन होते हैं। ऐसा जान पड़ता है, जान पड़ने की बात नहीं. निश्चय है कि संस्कृत के पुल्लिंग एकवचन (बालकः) आदि के विसर्गों का विकास हिन्दी ने 'आ' (ा) के रूप में किया है। हम इस 'आ'

विभक्ति को 'पुं-प्रत्यय' भी कहते हैं। हमने इसे 'पुं-विभक्ति' नाम दिया; क्योंकि यह एक संस्कृत-विभक्ति का विकास है।

इस खड़ी पाई को 'पुंविभक्ति' कहने में कोई अड़चन तब भी नहीं आ सकती, जबकि इसके आगे 'को' 'ने' आदि विभक्तियाँ लग जाती हैं। हिन्दी में एक विभक्ति के आगे दूसरी विभक्ति लगाने की पद्धति है—'इनमें से एक छाँट कर निकाल लो।' 'में' के अनन्तर 'से' विद्यमान है, इसलिए 'में' को विभक्ति कहना कौन बन्द करता है? एक विभक्ति के आगे दूसरी विभक्ति या शब्द लगाने की यह चाल प्राकृतों में भी है। 'पुत्त' (पुत्र) का तृतीया-बहुवचन रूप 'पुत्तेहिं' होता है और फिर इस 'हिं' को सामान्य विभक्ति मान कर इसके आगे 'तो' या 'दो' लगा कर पंचमी का एकवचन बनाया जाता है—'पुत्तेहिंतो, पुत्तेहिंदो'—'पुत्र से'।

पुल्लिंग एकवचन के 'बालकः' आदि के विसर्गों से इसका विकास हमने माना है और हिन्दी में पुल्लिंग एकवचन में ही यह अपने असली रूप में रहती है—'खड़ी पाई' आपको पुल्लिंग एकवचन में ही मिलेगी। पुंस्त्व प्रकट करने के लिए सर्वत्र इसकी सत्ता रहती है, बहुवचन में भी; परन्तु वहाँ (बहुत्व का मान-गौरव) पा कर कुछ झुक जाती है, नम्र हो जाती है—'लड़के आते हैं'। संज्ञा में तथा क्रिया में, दोनों जगह उस खड़ी पाई ने अपना रूप बदल लिया है, झुक कर दूसरे रूप में आ गई है। 'आ' में जो कड़कड़ाहट थी, वह 'ए' में नहीं रही है। यह गौरव प्राप्त करने का फल है। 'लड़के' में पुंस्त्व तथा बहुत्व, दोनों ही तत्त्व प्रकट हैं। पुंस्त्व तो इसलिए कि यह 'ए' उस 'आ' का ही रूप है और बहुत्व इसलिए कि एकत्व प्रकट करनेवाला रूप नहीं है, बहुत्व-व्यंजक 'ए' सामने है। 'ए' से बहुत्व प्रकट करने की रीति संस्कृत-प्राकृत से आई है—ते, ये, सर्वे–जैसे रूपों से तथा प्राकृत में इनके छायारूपों से।

एकवचन में भी यह खड़ी पाई 'ए' बन जाती है, जबकि कोई दूसरी विभक्ति सामने आ जाती है—'लड़के ने, लड़के को'। यहाँ इस रूप में आ जाने पर भी एकत्व बना रहता है-'ए' से बहुवचन का भ्रम कभी नहीं होता, इसलिए कि 'ने' 'को' आदि विभक्तियों की सत्ता में, बहुत्व प्रकट करने के लिए, हिन्दी ने बीच में 'ओं' विकरण लाने की स्थायी व्यवस्था कर दी है—'लड़कों ने, लड़कों को'। 'लड़के आते हैं' ऐसे स्थल में खड़ी पाई की सत्ता

एकदम न रहे, यह सम्भव नहीं है। 'आता है' 'जाता है' क्रियाओं में वह अनिवार्यतः रहेगी। तब फिर बहुवचन 'आते-जाते' होंगे ही। ऐसी स्थिति में 'लड़के आते, बछड़े जाते' दोनों जगह 'ए' कितने अच्छे लगते हैं!

संस्कृत से सीधे ही हिन्दी ने यह खड़ी पाई निकाल ली हो, ऐसा नहीं है। प्राकृत की दूसरी-तीसरी अवस्था में कोई न कोई रूप ऐसा होगा, जो हमारे सामने इस समय नहीं है। जिस प्राकृत का विकास हिन्दी है, उसका साहित्यिक रूप हमारे सामने नहीं है। इसलिए, नहीं कह सकते कि इसका प्रयोग कहाँ किस तरह होता था। परन्तु यह नहीं हो सकता कि प्रथमा एकवचन का आकारान्त रूप किसी भी प्राकृत में कभी न बनता-चलता रहा हो। यदि ऐसा होता, प्राकृत के किसी भी रूप में प्रथमा का एकवचन आकारान्त न बनता होता, तो हिन्दी को यह चीज कहाँ से मिलती? साधारण जनता संस्कृत नहीं पढ़ी होती कि वह वहाँ से कोई चीज किसी रूप में कर के निकाल लेती! तब उस दुर्लभ प्राकृत में 'सः' का रूप 'सा' होता होगा क्या! तब फिर स्त्रीलिंग 'सा' का रूप क्या होता होगा! 'पुल्लिङ्ग में 'सा' और स्त्रीलिंग में 'स' मात्र की कल्पना करें, तो संस्कृत की दिशा से एकदम उलटा मार्ग नजर आता है—अटपटा जान पड़ता है। परन्तु हिन्दी ने वस्तुतः यही पद्धति अपनाई है। इसका खुलासा लीजिए।

हिन्दी अपनी यह पुंविभक्ति संस्कृत के तद्रूप (तत्सम) शब्दों में नहीं लगाती—राम, प्रताप, प्रभाव आदि ज्यों के त्यों रहेंगे। विशेषण भी 'मिष्ट जल' 'मधुर जल' आदि तदवस्थ रहेंगे। इनमें हिन्दी कभी भी अपनी पुंविभक्ति न लगाएगी। परन्तु 'अपने' तथा संस्कृत के रूपान्तरित करके अपनाए हुए (तद्भव) शब्दों में जरूर यह पुंविभक्ति लगा देती है—'मीठा पानी' 'कड़वा पत्ता' 'कसैला फल' आदि। 'बालक' ज्यों का त्यों रहेगा, परन्तु 'लड़का' उस पुंविभक्ति को छोड़ न सकेगा। 'दण्ड' हिन्दी में इसी तरह चलेगा, परन्तु इसका रूपान्तर जहाँ 'डंड' हुआ कि हिन्दी ने उस पुंविभक्ति के रूप में अपनी मुहर लगाई और 'डंडा' बना। 'दण्ड-प्रहार किया'—'डंडा मारा'। 'डंड' भी है, अलग चीज—'डंड सौ रुपया बहुत है'—पूरब में। 'डंड' को 'डाँड़' तब कहते हैं, जब बहुत ही अन्याय से झटका जाए। 'डंड' को 'डंडु' भी बोलते हैं; पर 'डंडा' सर्वत्र इसी रूप में। इसी तरह कृदन्त में भी। हिन्दी ने नपुंसक-लिंग का झमेला हटा दिया है। संस्कृत में

'सामान्ये' नपुंसक-लिंग होता है; हिन्दी में पुल्लिंग होता है—'पठन' बना कि संस्कृत ने अपनी विभक्ति लगाई—'पठनम्'। हिन्दी में 'पढ़न' हुआ और पुंविभक्ति लगी—पढ़ना, जाना, खाना, पीना,। समास में—'तिमंजिला, तिकोना, मुछमुंडा' आदि इसके रूप हैं। कृदन्त क्रियाओं में 'कृत' का 'किय' होते ही पुंविभक्ति —'किया' नजर आएगा। 'खात' सामने आते ही पुंविभक्ति 'खाता है'।

मतलब यह कि 'आ' को हिन्दी ने 'अपने' शब्दों में 'पुंप्रत्यय के रूप में ग्रहण किया है, जब कि संस्कृत ने 'आ' को स्त्रीप्रत्यय के रूप में अपनाया है। हिन्दी अपने आकारान्त पुल्लिग शब्दों को स्त्रीलिंग में ईकारान्त कर लेती है— 'लड़का-लड़की' 'मीठा-मीठी' 'आता-आती' इत्यादि।

जैसे संस्कृत के तद्रूप (तत्सम) राम, मधुर, उज्ज्वल आदि शब्द हिन्दी ज्यों के त्यों पुल्लिग में रखती हैं, उसी तरह आकारान्त स्त्रीलिग भी ज्यों के त्यों रखती हैं—लता, शिला, कृपा आदि। दूसरे क्षेत्र के नागरिक हैं! मजे से अपने ढँग से रहो और काम करो। परन्तु जब कोई शब्द 'शुद्ध' हो कर हिन्दी की बिरादरी में आ मिलता है, हिन्दी की 'नागरिकता' स्वीकार कर लेता है, तब उसे यहाँ की रीति जरूर अपनानी पड़ती है। हिन्दी 'अपने' तथा संस्कृत के 'शुद्ध' किए हुए या तद्भव पुल्लिग शब्दों में पुंविभक्ति के रूप में खड़ी पाई लगाती है। खड़ी पाई यहाँ पुंस्त्व का प्रतीक है। तब स्त्री-प्रतीक क्या है? खड़ी पाई को 'ई' कर देना। यह तो पुंसंबन्ध से स्त्रीत्व प्रकट करने की बात हुई, परन्तु जहाँ पहले ही स्त्रीत्व है, वैसे संस्कृत के तद्भव शब्दों की क्या व्यवस्था है? तद्रूप शब्द तो 'लता' आदि ज्यों के त्यों रहते ही हैं, किन्तु जो स्त्रीलिंग 'शुद्ध' हो कर 'तद्भव' रूप हिन्दी में ग्रहण करते हैं, उनके उस 'आ' का क्या होता है, जिससे संस्कृत में (और उपलब्ध प्राकृतों में भी) स्त्रीत्व प्रकट होता है! यदि 'शुद्ध' (तद्भव) रूप में हिन्दी उस स्त्रीव्यंजक 'आ' को बना रहने दे, तो पुंस्त्व-स्त्रीत्व की पहचान में बड़ी गड़बड़ी पैदा हो जाए, क्योंकि यहाँ तद्भव शब्दों में 'आ' पुंविभक्ति करके गृहीत-प्रयुक्त है। इससे हिन्दी सावधान रही है। आकारान्त स्त्रीलिंग संस्कृत शब्दों को 'शुद्ध' करके हिन्दी जब पूर्णतः अपनाती है, तब उसकी वह लम्बमानता हटा देती है— द्राक्षा > दाख, खट्वा > खाट, शिला > सिल, नासिका > नाक, जिह्वा > जीभ आदि।

तो, यह संस्कृत (तथा उपलब्ध प्राकृतों) से एकदम उलटी पद्धति है न ? यह पद्धति प्राकृत के किस रूप से आई ? 'खड़ी बोली' के क्षेत्र में जो जनभाषा व्यवहृत होती होगी, उसी की यह पद्धति हो सकती है ।

उत्तर प्रदेश के 'अवध' तथा 'बैसवाड़े' आदि में उक्त पद्धति के विरुद्ध 'वृद्ध' से पु० 'बूढ़' और स्त्री 'बूढ़ा' रूप सुने जाते हैं। 'बूढ़ मनई' – 'बूढ़ा कहति रहै'। वहाँ वैसी कोई प्राकृत रही होगी। राष्ट्रभाषा में 'बुड्ढा' पुं० और 'बुड्ढी' स्त्री० रूप होते हैं। 'बूढ़' में 'इया' स्त्री-प्रत्यय लगा कर 'बुढ़िया' भी राष्ट्रभाषा ने बना लिया है। तुलसी ने 'बूढ़' में राष्ट्रभाषा की पुंविभक्ति लगा कर पुं० 'बूढ़ा' प्रयोग किया है—'जामवन्त मंत्री अति बूढ़ा'। परन्तु राष्ट्रभाषा में 'बूढ़ा' पुं० नहीं चलता, 'बुड्ढा' चलता है। यह इसलिए कि पूर्वी क्षेत्रों को स्त्रीत्व का भ्रम न हो।

खड़ी बोली में जहाँ 'आ' पुंविभक्ति लगती है, ठीक वहीं और उसी पद्धति पर ब्रजभाषा में 'ओ' विभक्ति लगती है—पुल्लिंग एकवचन में–मीठो, बूढ़ो, गयो, आयो आदि। बहुवचन में यह 'ओ' भी 'ए' बन जाता है और स्त्रीलिंग में 'ई' – 'मीठे फल खाए' – 'मीठी लगी मोहिं बंसी-धुनि'। 'को' आदि विभक्तियाँ परे हों, तो यह 'ओ' एकवचन में भी 'ए' के रूप में हो जाती है – 'मीठे सुर में कोयल बोली'। हाँ, वर्तमान काल की क्रियाओं में 'ब्रजभाषा 'ओ' विभक्ति का प्रयोग नहीं करती – 'जात उड़्यो खग एक'। राष्ट्रभाषा में 'जाता है' होता ही है। बस, यही इतना 'खड़ी बोली' की 'आ' तथा ब्रज की 'ओ' विभक्ति में प्रयोग-भेद है। यह 'ओ' विभक्ति प्राकृत से आई है। वहाँ विसर्गों को 'ओ' बना लिया गया है। इस चीज को न समझ कर 'मीठा' – 'मीठो' आदि को लोगों ने मूलतः आकारान्त-ओकारान्त समझ लिया है। 'ओ' विभक्ति साहित्य-दृष्ट प्राकृत से आई है और राजस्थानी तथा गुजराती आदि में भी यही है। सच बात तो यह है कि 'ओ' का प्रयोग राजस्थानी आदि में ही प्राकृत का अनुगमन पूर्णतः करता है; ब्रजभाषा में वैसा नहीं। ब्रजभाषा 'खड़ी बोली' तथा राजस्थानी के बीच में पड़ती है; इसलिए दोनों से प्रभावित है – दोनों का ही इस मीठी भाषा (ब्रजभाषा) में मिश्रण है। हम इसे 'ब्रजभाषा और राजस्थानी' शीर्षक से एक परिशिष्ट में स्पष्ट करेंगे।

मागधी प्राकृत में प्रथमा-एकवचन ओकारान्त नहीं, एकारान्त होता है और 'स' को 'श' हो जाता है। 'सो' की जगह 'से' चेलता है। यह 'ए'

पूरब में 'जे' 'के' ('जो' 'को') आदि के रूपों में भी चलता है; परन्तु 'मीठा'—'मीठो' की तरह विशेषणों में लग कर 'मीठे' जैसे रूप नहीं होते। 'सः' के विसर्गों का रूप किसी प्राकृत में 'उ' के रूप में भी कभी चलता होगा; जो कि प्राकृत-साहित्य में नहीं दिखाई देता। कविता में कहीं-कहीं 'जु' 'सु' आदि रूप ('जो' 'सो' के) दिखाई देते हैं, उनसे कुछ आभास मिलता है। 'बुद्धू' 'कल्लू' 'मटरू' आदि में वही दीर्घ रूप में दिखाई देता है। 'अवधी' में इस पुंविभक्ति के दर्शन होते हैं—'अचरजु एकु' आदि। अवध तथा बैसवाड़े की जन-भाषाओं में आज भी इसे किसी न किसी रूप में जहाँ-तहाँ आप स्पष्ट सुन सकते हैं। हाँ, क्रियाओं में इसका प्रयोग नहीं होता। 'देखु तौ सही' में बात दूसरी है, म० पु० का प्रत्यय है। (हाँ, ब्रज में 'जातु है' सुन पड़ता है।) 'अचरजु' एकु दीख' 'आजु जाडु बहुतु है' 'कारनु कवन' इत्यादि प्रयोग होते हैं। बहुवचन में या स्त्रीलिंग में यह 'उ' नहीं दिखाई देता। 'राम' आदि शब्दों में इसका प्रयोग प्रामादिक है, तुलसी-कृत नहीं। 'उ' का प्रयोग कहाँ होता है, कहाँ नहीं, इसका विवेचन कहीं न होने से लोग अब तक बड़े घपले में हैं और 'शुद्ध अवधी' की धुन में वे तुलसी के 'राम' को 'रामु' और 'भरत' को 'भरतु, कर देते हैं! व्यक्ति-वाचक शब्दों के रूपान्तर में भी 'उ' करना ठीक नहीं, जब कि वे बड़े लोगों के नाम हों। 'लखन' का 'लखनु' तथा 'बसिष्ठ' का 'बसिष्ठु' कर देना बहुत भद्दा। आदर के लिए बहुवचन आता है और तब एकत्व-सूचक यह 'उ' वहाँ लगाना बहुत भद्दा! 'खड़ी बोली' में भी आदर में बहुवचन होता है। इसलिए 'रामु' 'लखनु' 'वसिष्ठु' आदि प्रयोग ठीक नहीं। समझे-बूझे बिना तुलसी के 'राम' को 'रामु' कर दिया गया है। इसी तरह 'शुद्ध' ब्रजभाषा बनाने के लिए कुछ प्रसिद्ध कवियों ने, कुछ दिन पहले, सर्वत्र 'औ' का प्रयोग शुरू कर दिया था—'गयो' को 'गयौ' और 'आयो' को 'आयौ' ही नहीं, 'राम सो' को 'राम-सौ' भी उनकी कृतियों में आप देख सकते हैं! यह कृत्रिम कर्णकटुता 'शुद्ध' ब्रजभाषा लिखने के लिए पैदा की गई! ब्रजभाषा में 'करै' 'परै' प्रयोग होते हैं, जबकि 'खड़ी बोली' में 'करे' 'पड़े' रूप में। इन 'करै'-परै' रूपों को ध्यान में रख कर किसी पाश्चात्य हिन्दी-विवेचक ने कहीं लिख दिया कि ब्रज की प्रवृत्ति दीर्घाभिमुख है। उस विवेचन को पढ़ कर ब्रजभाषा गढ़ी जाने लगी—'कियौ, गयौ, राम-सौ' आदि। इसी तरह 'राम' को 'रामु' बनाया गया, 'अवधी' गढ़ने के लिए! छोटे को 'रामु' या 'रामू' कहा जा सकता है, कौशल्या कह सकती है, शिशु

राम को दुलराती हुई। या फिर अवज्ञा में—'कल्लू' 'बुद्धू' आदि।

यह इतना प्रासंगिक। अवधी तथा व्रजभाषा हिन्दी की बराबर की बहनें हैं—'खड़ी बोली' का क्षेत्र इनके क्षेत्रों से मिला-सटा हुआ है। ये हिन्दी की 'बोलियाँ' कहलाती हैं और हिन्दी की व्यापकता में इन सब का सन्निवेश है। अवधी तथा व्रजभाषा का ही नहीं, राजस्थानी का साहित्य भी 'हिन्दी-साहित्य' समझा जाता है। पंजाबी-साहित्य यदि नागरी लिपि में चले, तो वह भी हिन्दी-साहित्य का एक अंग समझा जाएगा। बहुत थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। यही क्यों, बँगला, उड़िया, गुजराती तथा मराठी आदि प्रादेशिक भाषाएँ भी यदि नागरी लिपि में लिखी जाएँ, तो कल वे भी हिन्दी की या हिन्द की बोलियाँ समझी जाने लगेंगी, नागरी लिपि एकसूत्रता लाती है। लिपि एक होने से सबको सुलभ हो जाएँगी। नागरी के कारण उन प्रादेशिक भाषाओं को समूचे हिन्द के लोग सरलता से समझ सकेंगे, जैसे कि हम (उत्तर प्रदेश वाले) राजस्थानी आदि समझते हैं। मराठी तो नागरी लिपि में चलती ही है। उन्हें भी हम इसी तरह पढ़ें-सुनेंगे; जैसे कि अवधी का 'रामचरित मानस' तथा व्रजभाषा का 'सूरसागर' पढ़ते सुनते हैं, या जिस तरह राजस्थानी का 'पृथ्वीराज-रासो' पढ़ते हैं। कारण, मूल धातु सब में प्रायः एक ही हैं—आ, जा, खा, पी आदि। प्रत्यय-भेद भर है। खड़ी बोली में एक प्रत्यय है, व्रजभाषा में दूसरा, अवधी में तीसरा। इसी तरह पंजाबी, बँगला, गुजराती, मराठी आदि में प्रत्यय-भेद भर है। कहीं-कहीं प्रत्ययों में एक-रूपता भी है, भिन्नता भी है। मराठी में—

टाँगा आला—टाँगे आले

हिन्दी में—टाँगा आया—टाँगे आये

कृदन्त प्रत्यय 'ल'-'य' रूप से भिन्न है, पर पुंप्रत्यय 'आ' तथा बहुवचन में 'ए' होने की प्रवृत्ति भो वही है। व्रजभाषा का पुंप्रत्यय गुजराती में भी है। जब कभी 'अन्तरभारती-व्याकरण' बनाने-बनवाने का महाप्रयत्न किया जाएगा, तब इन सब बातों का ऊहापोह होगा। मैं तो मराठी, गुजराती और बँगला आदि से अनभिज्ञ हूँ। यदि यह कमजोरी न होती, तो इस सम्बन्ध में कुछ सोचने-करने का प्रयत्न मैं भी करता। परन्तु अपने गुजराती तथा महाराष्ट्र मित्रों के मुख से जब सुनता हूँ, तो मुझे बहुत समता अपनी भाषाओं में दिखाई देती है। भिन्न-रूपता तो है ही, अन्यथा भाषा-

भेद कैसे होता ! परन्तु उस भिन्नता में गहरी एकता भी बैठी हुई है, जो देखने की चीज है ।

खड़ी बोली की विशेषताएँ

खड़ी बोली की मुख्य विशेषता का उल्लेख ऊपर हुआ । अब इसकी कुछ अन्य विशेषताओं पर ध्यान देना चाहिए, जो इसे अवधी तथा ब्रज-भाषा आदि से पृथक् करती हैं ।

१—'ह्' का लोप

विभक्ति तथा अव्ययों के 'ह्' का लोप 'खड़ी बोली' की (राष्ट्रभाषा हिन्दी की) एक प्रमुख विशेषता है । यह लोप कहीं 'नित्य' होता है, कहीं वैकल्पिक और कहीं होता ही नहीं ।

हिन्दी में 'भी' अव्यय समुच्चायक है, जब कि ब्रजभाषा में 'हू' है । 'राम भी चलेगा' को ब्रजभाषा में 'रामहू चलैगो' कहेंगे और पूर्वी बोलियों में 'ह्' का लोप हो कर सन्धि हो जाती है—'रामौ चलिहै' । 'अ' तथा 'ऊ' मिल कर 'औ' हो गए हैं । कभी-कभी ब्रजभाषा कविता में भी लोप-सन्धि दिखाई देते हैं—'ऊखौ लई उखारि' । बिहारी के इस 'ऊखौ' पद में 'ऊख हू' विच्छेद है । 'ह्' का लोप और 'अ' तथा 'ऊ' को मिल कर 'औ'-'ऊखौ । कुछ लोग 'ऊखौ' आदि को औकारान्त संज्ञा मानने के भ्रम में पड़े हैं ! कुछ ऐसे भी हैं, जो अवधी-सुलभ उकारान्त संज्ञा का और विकसित रूप यह 'औकारान्त' प्रयोग बतलाते हैं ! ऊपर हम कह आए हैं कि संज्ञा—विशेषण आदि में वहाँ 'उ' पुल्लिग—एक वचन में यथास्थान दिखाई देता है, बहु-वचन में या स्त्री-लिंग में नहीं । 'बहन' का 'बहनु' या 'आँख' का 'आँखु' कभी न होगा । 'मीचु' स्त्रीलिङ्ग में दृष्ट 'उ' पुंप्रत्यय नहीं हैं; विकास-प्राप्त रूप है—मृत्यु > मिच्चु > मीचु । 'ऊख' स्त्रीलिङ्ग संज्ञा है । 'इक्षु' > 'ईख' > 'ऊख' के विकास-क्रम से स्पष्ट है कि मूल शब्द का अन्त्य 'उ' इसीलिए छाँट दिया गया है कि 'ईख' > 'ऊख' को स्त्रीलिङ्ग बनाना था—मधुरता के कारण । और उस पुल्लिङ्ग- एक वचन के 'उ' को 'औ' कभी होता भी नहीं है । सो, हिन्दी की 'अपनी' सन्धियाँ न जानने-समझने का यह सब परिणाम है !

यहाँ हम 'भी' तथा 'हू' की चर्चा कर रहे थे और कह रहे थे कि हिन्दी ने जहाँ 'भी' रखा है, वहाँ इसकी दूसरी बोलियों ने 'हू' लिया है । परन्तु राष्ट्रभाषा को 'हू' से कोई चिढ़ नहीं है । कहीं इसे ग्रहण भी किया है, एक

विशेष स्थल में, विशेष काम के लिए। सो भी, उसमें कुछ परिवर्तन कर के, 'ह्' का लोप करके। समष्टि-बोध के लिए ब्रजभाषा में 'चारहू' 'चारहु' आदि प्रयोग होते हैं। राष्ट्रभाषा ने 'ह्' का लोप करके और 'अ' तथा 'ऊ' में 'ओ' रूप सन्धि करके—

चारो, तीनो, छहो, आठो,

जैसे रूप बना लिए हैं। ऐसी जगह 'चारों' जैसे अनुनासिक रूप लिखना गलती है, क्योंकि मूल शब्द ('हू') निरनुनासिक है। यहाँ 'ओ' प्रत्यय नहीं है। संख्यावाचक शब्दों के साथ 'हू' की सन्धि है, 'ओ' रूप में। बहुत्व-बोधक 'ओं' प्रत्यय इससे पृथक् चीज है, जो कि 'सैकड़ों' 'लाखों' 'करोड़ों' 'अनेकों' आदि में देखते हैं। 'ओं' का अर्थ है-'कितने ही'। कितने ही सैकड़ा, कितने ही लाख, कितने ही करोड़, या 'कुछ अधिक'। 'बीसों'-बीस से अधिक ही। यहाँ समष्टि-सूचक जैसी कोई बात नहीं है। दोनों में बड़ा अन्तर है। वह 'हू' तथा यह बहुत्व-सूचक 'ओं' प्रत्यय प्राकृत की धारा से यहाँ आए हैं। यही 'ओं' संज्ञा तथा विभक्ति के बीच में आकर 'बहुत्व-सूचक विकरण' बन जाता है–'लड़कों को' 'लड़कियों को' 'राजाओं को' आदि। यह सब आगे मूल ग्रन्थ में स्पष्ट होगा। 'दो' से आगे संस्कृत में ('तीन' से) बहुत्व होता है। 'ओम्' का बड़ा महत्त्व है। इसमें चारो वेद समाए हैं। इसमें तीन अक्षर हैं। 'म्' की जगह 'ओ' को अनुनासिक कर के यही तो 'ओं' नहीं है ?

केवल 'हू' के 'ह्' का ही लोप नहीं, 'ही' के 'ह्' का भी लोप होता है और प्रत्यय के 'हि' के 'ह्' का भी। ब्रजभाषा में अवधारण के लिये 'ही' आता है, जो कभी-कभी 'ई' के रूप में भी रह जाता है—'परयोई रहै गो'। परन्तु सर्वनामों में 'ही' ही प्रायः देखा जाता है—'याही ते मोहिं जानि परति है'—इसी से जान पड़ता है। 'मिल्यो सो आजु वाही टौर'—उसी जगह।

हिन्दी में सर्वनामों के साथ 'ही' लोप-सन्धि से आता है, अन्यत्र अपने उसी तात्त्विक रूप में—'उसी कमरे में। यहाँ 'ही' के 'ह्' का और सर्वनाम के अन्त्य 'अ' का लोप है। 'उस ही'>'उसी'। इसी तरह 'किसी' रूप है। यहाँ 'किस' के आगे कोई अवधारणार्थ प्रत्यय नहीं है, जैसा कि लोगों को भ्रम होता है। कोऽपि>कोई>'किसी' है। 'को' को 'किस' और आगे 'ई' है ही।

'इसी-उसी' आदि की तरह 'ऐसी-वैसी' आदि में भी 'ही' न समझ लेना चाहिए। यहाँ अवधारण नहीं है। अवधारण के लिये पृथक् 'ही' लानी पड़ती है—'ऐसी ही बात राम ने भी कही थी'। ये 'ऐसी, जैसी, कैसी' आदि रूप 'ऐसा, जैसा, कैसा' आदि के स्त्रीत्व में हैं।

'ऐसा' आदि रूपों में समास-विधि है। यहाँ कोई तद्धित प्रत्यय नहीं है। यह सब आगे विस्तार से बताया जाएगा। किसी-किसी ने 'सा' को अव्यय माना है और सादृश्य के लिए उसी से 'ऐसा' आदि रूप मान लिए हैं! यह भी गलती है। हिन्दी ने शब्द-विकास में संक्षेप-वृत्ति पसन्द की है, यह अभी अनुपद बताया जाएगा। संस्कृत 'सम' को हिन्दी ने केवल 'स' के रूप में तद्भव बनाया और इसमें फिर अपनी पुंविभक्ति लगा कर 'सा' कर लिया। तभी तो बहुवचन में 'से' होता है और स्त्रीलिंग में 'सी'। यदि अव्यय होता, तो एकरूप रखता। 'सम' भी हिन्दी में चलता है, पर इस तद्भव 'सा' का विशिष्ट स्थान-प्रयोग है। हिन्दी इस 'अपने' शब्द का प्रयोग ठीक वहीं करती है, जहाँ संस्कृत अपने क्षेत्र में 'इव' का—सादृश्य, उत्प्रेक्षा, सम्भावना तथा स्वार्थ आदि में। 'सम' तथा 'समान' आदि का प्रयोग केवल सादृश्य में होता है।

'इस-उस' आदि की तरह 'तुम' के भी अन्त्य 'अ' का लोप हो जाता है, यदि सामने 'ही' हो—'तुम्हीं'। 'हम्ही' देखने में नहीं आता। 'हमीं' जरूर चलता है। दो शेर एक जगह कम रहते हैं। 'हम' में जो 'स्' है, वह भी 'ह्' का ही संगी-साथी है। 'स' की जगह 'ह' प्रायः ले लेता है। 'दस' के 'स' को 'ह' कर के ही 'दहला' बना है। स, ह, ये दोनों महाप्राण हैं। दो 'स' तो इकट्ठे आ भी जाते हैं—'पिस्सू, मस्सा आदि; परन्तु दो 'ह' एक जगह नहीं बैठते! असली बब्बर हैं—'महाप्राण'! यही नहीं, क् त् आदि अल्पप्राणों के साथ बैठकर जब यह 'ह' उन्हें भी 'महाप्राण—'ख' थ' आदि बना देता है, तब इनकी भी स्थिति वैसी ही हो जाती है। दो 'थ' या 'ख' आदि एक साथ नहीं आ सकते—सट कर नहीं बैठ सकते। हाँ, कोई अल्पप्राण पीछे आ बैठे, तो यह दूसरी बात है—'कत्था' मक्खी' आदि। इसी तरह 'घ' 'ढ' 'ध' आदि को भी समझिए। अल्पप्राण को साथ ले सकते हैं—'बग्घी, बुड्ढा, मद्धे आदि।

अब प्रकृत लीजिए। 'उस' में जो 'स' है, 'ह' की ही बराबरी का है। 'ह' में जोर अधिक है, परन्तु 'स' भी समकक्ष है। यहाँ 'ह्' हट

गया। जब जगत् का शासन करने राम आ गए, तब परशुराम बन चले गए!

'तुम्हीं' में 'ही' की 'ई' अनुनासिक हो जाती है। बहुत्व के गौरव में मधुरता चाहिए। सर्वनाम के अन्त्य 'अ' का लोप। 'हमीं' में 'ही' के 'ह्' का लोप, क्योंकि 'हम' में एक महाप्राण 'ह' पहले से ही बैठा है। 'तुम्हीं ने' 'हमीं ने' में प्रकृति-प्रत्यय के बीच 'ही' अव्यय है, जैसे 'उसी में 'इसी को' आदि में। यह हिंदी की प्रकृति है। संस्कृत में ऐसा नहीं होता। यह विभक्ति को विभक्त करके लिखने का फल है। 'सब ही का' तुलसी-प्रयोग भी है। हिन्दी ने उपसर्गों का भी स्वतंत्र प्रयोग किया है—'इस पुस्तक की चार प्रतियाँ हमें देना'। 'प्रति, एक उपसर्ग है। उसका स्वतंत्र प्रयोग संज्ञा की तरह चलता है। 'याति' के 'या' को 'जा' धातु बना कर 'जाता है' आदि रूप बनते-चलते हैं, परन्तु 'आयाति' के 'आजा' को हिन्दी ने नहीं लिया। इसके 'आ' उपसर्ग को ही लेकर 'आ' धातु बना ली 'आता है'। 'आ जाता है कभी-कभी' यह पृथक् चीज है। हिन्दी में यों उपसर्गों का स्वतंत्र प्रयोग करने की प्रवृत्ति 'मूल भाषा' से ही आई है। पुरानी संस्कृत में भी क्वचित् ऐसा होता होगा। यास्क के निरुक्त में इसकी चर्चा है। उपसर्गों के प्रकरण में यास्क ने लिखा है—'उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति शाकटायनः'-शाकटायन ने लिखा है कि उपसर्गों के स्वतंत्र प्रयोग भी विविध अर्थों में होते हैं। टीका में श्री दुर्गाचार्य ने स्पष्ट किया है-'वियुक्तानामपि नामाख्याताभ्यामिति गार्ग्यः'-यानी नाम 'उपप्रधान' आदि तथा 'अख्यात' (क्रियाएँ) 'अवगच्छति' आदि से पृथक् स्वतंत्र रूप से भी उपसर्गों के विविध अर्थों में प्रयोग होते हैं, ऐसा गार्ग्य का मत है। गार्ग्य के समय तक वैसी चाल संस्कृत में रही होगी, जो यास्क के आते-आते क्षीण पड़ कर समाप्त हो गई। परन्तु जन-भाषा में वह प्रवृत्ति बनी रही, जो आज भी हिन्दी में स्पष्ट है।

कहने का मतलब यह कि प्रकृति तथा प्रत्यय के बीच में 'ही' आदि का आना परम्परा-प्राप्त है। पहले उपसर्ग भी कहीं के कहीं प्रयुक्त होते थे। वेद-मंत्रो में देखे जा सकते हैं। कालिदास के भी ऐसे प्रयोग हैं। संस्कृत में विभक्तियाँ संश्लिष्ट रूप में प्रयुक्त होती हैं, इसलिए प्रकृति-प्रत्यय के बीच में शब्दान्तर आने की बात ही नहीं। हिन्दी में भी संश्लिष्ट विभक्तियो का जहाँ प्रयोग है, बीच में कोई शब्द नहीं आ सकता—'उसे ही भेज दो'। यहाँ

'उसे' में संश्लिष्ट विभक्ति ('हि' ह्-लोप के साथ, सन्धियुक्त) है। बीच में कोई दूसरा शब्द आ ही नहीं सकता। परन्तु विश्लिष्ट 'को' विभक्ति के साथ—'उसी को भेज दो' प्रयोग होता है। 'हाल हीमें प्रधान मंत्री चीन गए थे, यों कोई कोई 'हाल हीमें' गलत लिख-छाप देते हैं। जहाँ मुद्रको को आदेश दिया गया है कि 'में' आदि विभक्तियाँ मिला कर छापो, वहीं 'हाल हीमें' आदि छपता है। प्रकृति 'हाल' में विभक्ति ('में') नहीं, अव्यय ('ही') में लग जाती है! अव्यय ('ही') इतना जोरदार है कि बीच में आ कूदता है—'गाड़ी छूटने ही वाली है'। यों प्रत्यय ('वाला' आदि) भी कहीं अलग रहते हैं। बीच में 'ही'

प्रासंगिक चर्चा बढ़ गई। हम कह यह रहे थे कि 'तुम ने ही' के साथ वैकल्पिक प्रयोग 'तुम्हीं ने' आदि भी हिन्दी में चलते हैं। ब्रजभाषा तथा अवधी आदि में यह बात नहीं। वहाँ 'तुम ही' 'हम ही' रहेंगे। एक बात और। 'तुम ही ने' की जगह 'तुम ने ही' प्रयोग हिन्दी को अधिक ग्राह्य है। प्रकृति और प्रत्यय के बीच सदा ही अव्यय आदि आ कूदें, यह अच्छा नहीं लगता। 'उसीने' 'तुम्हीं ने' आदि तो लोप-सन्धि के कारण एकाकार-से हो गए हैं—अव्यय पृथक् जान ही नहीं पड़ता।

'इसी से' आदि की तरह ब्रजभाषा में प्रयोग नहीं होते। वहाँ ज्यों का त्यों 'ही' बराबर रहता है—'याही विधि ते'। 'याही सों' आदि में प्रकृति-प्रत्यय के बीच 'ही' है। यह बात ब्रजभाषा की है। ब्रज की 'बोली' में तो 'ह्' का लोप प्रायः हुआ ही करता है—'याई ते' 'हम जात एँ' (याही ते, हम जात हैं)। राष्ट्रभाषा में—बोल-चाल में कभी-कभी 'काश्मीर तो हमारा हई है' जैसे प्रयोग होते हैं। 'है ही', 'हई'। स्पष्टता के लिए और जोर देने के लिए क्रिया की पुनरुक्ति 'हई है'।

राष्ट्रभाषा में एक और बड़ी विशेषता है, इसके 'अभी, कभी, तभी' आदि प्रयोग। अन्यत्र 'अब हीं, तब हीं' आदि चलते हैं। राष्ट्रभाषा में अव्ययों के अन्त्य 'अ' का लोप और 'ब्' तथा 'हीं' के 'ह्' को मिलकर 'भ्'। 'अभी, कभी' आदि।

राष्ट्रभाषा की 'ने' विभक्ति

'ने' विभक्ति भी राष्ट्रभाषा की अपनी विशेषता है। ब्रजभाषा तथा अवधी आदि में 'ने' नहीं है। 'मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो' आप

देखते हैं, पर राष्ट्रभाषा 'ने' के बिना न चलेगी—'मुझे दाऊ ने बहुत खिझाया' है।' 'ने' विभक्ति के अभाव में कभी-कभी भूतकाल की कर्मवाच्य क्रियाएँ झमेला पैदा कर सकती हैं—'लछिमन तबहिं निषाद बुलावा' कहा जाए, तो कर्ता-कर्म समझने में भ्रम हो सकता है; क्योंकि हिन्दी में तथा इसकी 'बोलियों' में कारक-विन्यास में आगे-पीछे का कोई विशेष विधान-नियमन नहीं है। संस्कृत में भी ऐसा ही है। लक्ष्मण के लिए एक वचन नहीं आ सकता, आदर में बहुवचन उचित है और निषाद लक्ष्मण को भला क्या बुलाए गा; इस औचित्य से ही 'लछिमन' को कर्ता समझ सकते हैं। 'मरम वचन सीता तब बोला' में देखिए, 'सीता' के आगे 'ने' विभक्ति है नहीं, जो बतलाती कि कर्मवाच्य क्रिया है—'वचन' के अनुसार पुल्लिंग। लोग 'सीता'—'बोला' के चक्कर में पड़ जाते हैं। कर्तृवाच्य 'बोला' समझ लेते हैं। 'ने' विभक्ति से भाषा में कितनी स्पष्टता आ गई है, यह यथाप्रसंग आएगा।

यह विभक्ति हिंदी में संस्कृत के 'बालकेन' से 'इन' अलग करके बनाई है। 'इन' को वर्ण-व्यत्यय से 'न इ' और फिर 'अ' तथा 'इ' में सन्धि कर के 'ने'। न+इ='ने'।

इस प्रकार 'ने' विभक्ति बना कर हिन्दी ने इसके प्रयोग में भी एक कौशल दिखाया है। संस्कृत में तथा प्राकृतों में तृतीया विभक्ति का प्रयोग कर्ता, करण तथा हेतु आदि विविध अर्थों में होता है। परन्तु हिन्दी को यह **गपड़चौथ** अच्छी नहीं लगी। यहाँ केवल **कर्ता कारक** में 'ने' का प्रयोग बँधा हुआ है, न करण में, न हेतु आदि में। हाँ, कर्ता-कारक में प्रयोग 'ने' का हिन्दी वहीं करती है, जहाँ संस्कृत तथा प्राकृत में तृतीया का होता है, सकर्मक क्रिया के भूतकालिक कर्मवाच्य तथा भाववाच्य रूपों के साथ। संस्कृत-प्राकृत में कर्मवाच्य तथा भाववाच्य प्रयोग तिङन्त-कृदन्त दोनों तरह के होते हैं, भूतकाल में। परन्तु हिन्दी ने **एकही लाइन पकड़ी है भूतकाल में केवल कृदन्त**, तिङन्त बिलकुल नहीं। कृदन्त (भूतकाल की) क्रियाएँ कर्तृवाच्य भी होती हैं,—'राम सोया, लड़की सोई'। यहाँ 'ने' का प्रयोग न होगा, जैसे कि संस्कृत में 'रामः सुप्तः' 'बालिका सुप्ता'। सहायक क्रिया (काल प्रकट करने के लिए तिङन्त ('है') रहती ही है—'लड़का सोया है'—'बालकः सुप्तः अस्ति'।

परन्तु कर्मवाच्य तथा भाववाच्य भूतकालिक कृदन्त प्रयोगों में 'ने' विभक्ति अवश्य रहेगी—

१—लड़की ने फल खाया—लड़के ने रोटी खाई

२—लड़की ने रो दिया ! हम ने भी पढ़ा लिखा है

पहला कर्मवाच्य और दूसरा भाववाच्य प्रयोग है—'बालिकया फलं भुक्तम्' 'बालिकया रुदितम्'।

'ने' विभक्ति संस्कृत से ली और भूतकाल में प्रयोग-पद्धति भी वही रखी, परन्तु बड़ी सुविधा हिन्दी ने यह कर दी कि सभी संज्ञाओं के आगे केवल 'ने' लगाने से काम चल जाता है। संस्कृत-प्राकृत में सभी संज्ञा-सर्वनामों के (तृतीया के) पृथक्-पृथक् सैकड़ों रूप बनाने पड़ते हैं! परन्तु हिन्दी में सीधी एक लाइन चली जाती है, देखिए—

संस्कृत	हिन्दी
१—बालकेन संहिता पठिता	१—बालक ने संहिता पढ़ी
२—बालिकया संहिता पठिता	२—बालिका ने संहिता पढ़ी
३—कविना संहिता पठिता	३—कवि ने संहिता पढ़ी
४—पित्रा संहिता पठिता	४—पिता ने संहिता पढ़ी
५—सरस्वत्या संहिता पठिता	५—सरस्वती ने संहिता पढ़ी
६—वध्वा संहिता पठिता	६—बहू ने संहिता पढ़ी
७—विदुषा संहिता पठिता	७—विद्वान् ने संहिता पढ़ी
८—यूना संहिता पठिता	८—युवक ने संहिता पढ़ी
९—सर्वैः संहिता पठिता	९—सब ने संहिता पढ़ी
१०—केनचित् संहिता पठिता	१०—किसी ने संहिता पढ़ी

इसी तरह विभिन्न स्वरान्त तथा व्यंजनान्त सहस्रों शब्दों के पु० स्त्री० तथा नपुंसक लिंगों के तीनों 'वचनों' में अनन्त रूप कृदन्त कर्मवाच्य तथा भाववाच्य क्रिया के कर्ता कारक में (संस्कृत तथा प्राकृत में) बनाने पड़ते हैं; परन्तु हिन्दी का सीधा-सरल 'अपना' मार्ग है। एक सीधी लाइन है, बदलती नहीं। हिन्दी ने पैतृक सम्पत्ति लेकर उसका अपनी सुविधा के अनुसार उपयोग किया है।

इस 'ने' विभक्ति से अहिन्दीभाषी जन बहुत झंझट में पड़ते थे; क्योंकि 'राम रोटी खाता है' तथा 'राम ने रोटी खाई' एक ही पद्धति की क्रियाएँ

समझी जाती थीं। हिन्दी-व्याकरणों में इन दोनों को ही 'कर्तृवाच्य' लिखा रहता था! तब लोग चक्कर में पड़ते थे कि एक जगह कर्ता ('राम') के साथ पुल्लिंग क्रिया 'खाता है' और दूसरी जगह स्त्रीलिंग 'खाई'; यह क्या बात! साधारण जनो की बात नहीं, विद्वद्वर डा० अमरनाथ झा जैसे हिन्दी के विद्वान् भी इस उलझन में थे! डा० सूर्यकान्त वर्मा जैसे विद्वान् तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा जैसे भाषाविज्ञानी भी इसी फेर में थे! मैं स्वयं बड़े चक्कर में था! परन्तु सन् १६१६ से सन् १६४२–४३ तक जो विचार इस विषय में मैं ने किया, उससे वस्तुस्थिति बहुत स्पष्ट हो गई। सन् १६४७ से १६५० तक तो और भी अधिक स्पष्ट विचार सामने आए और 'ने' का प्रकृत रूप सबने समझा। तिल की ओट पहाड़ था। यह 'ने' हिन्दी में प्राकृत के किस रूप से आई है, पता नहीं चलता! परन्तु आई तो प्राकृत की ही किसी धारा से है, इसमें सन्देह नहीं। साधारण अपढ़ जनता संस्कृत से कैसे प्रभावित हो सकती है! प्राकृत का वह ('ने' वाला) रूप निश्चय ही 'खड़ी बोली' के क्षेत्र में, कुरुजनपद में (उ० प्र० के मेरठ डिवीजन में) जन-गृहीत रहा होगा। अन्यथा वहाँ 'ने' कैसे कूद पड़ती? और कहीं क्यों न कूद पड़ी? संस्कृत के गढ़ काशी-क्षेत्र में वह क्यों न अवतरित हो गई? 'खड़ी बोली' के क्षेत्र में कदाचित् संस्कृत भी कृदन्त-प्रधान ही कभी चलती हो! महाकवि राजशेखर ने लिखा है—'कृत्प्रयोगरुचय उदीच्याः'। यानी, उत्तर भारत के (उत्तर प्रदेश के, उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र के) लोग कृदन्त क्रियाएँ बहुत पसन्द करते हैं। राजशेखर ने संस्कृत-प्रयोग के संबन्ध में यह निर्देश किया है। इसका मतलब यह भी हो सकता है कि इस क्षेत्र के संस्कृत-विद्वानों पर अपनी जनभाषा का प्रभाव पड़ा और वे अपनी मातृभाषा की पद्धति पर (संस्कृत के) कृदन्त प्रयोग अधिक करने लगे। यह भी संभव है कि संस्कृत नहीं, उस समय की 'खड़ी बोली' के बारे में ही उनकी कलम से वैसा निकला हो; यद्यपि संस्कृत-ग्रन्थ में वे वैसा कह रहे हैं! उस समय 'खड़ी बोली' प्रकट होकर जन-व्यवहार में मदद दे रही थी। सन्त गोरख की वाणी में 'खड़ी बोली' का आभास मिलता है और राजेश्वर का भी समय प्रायः यही पड़ता है। प्रचलित प्राकृतों के 'पुच्छेहिं' जैसे प्रयोगों के 'हिं' से 'ने' निकालना समझ में नहीं आता।

कुछ भी हो, यह 'ने' विभक्ति तथा कृदन्त क्रियाओं का बाहुल्य राष्ट्रभाषा की अपनी विशेषता है।

हिन्दी में एक और भी विशेषता है, जो इसकी विभिन्न 'बोलियों' में भी देखी जाती है। यहाँ अनुनासिक स्वरों का बाहुल्य है—दाँत, आँत, गाँव, पूँछ, अँगूठी, आँख, ईंट, छींट, अँगुली, नीवँ आदि अनन्त शब्दों में अनुनासिक स्वर देखे जाते हैं। संज्ञाओं तथा क्रियाओं के बहुवचन बनाने में भी स्वर को अनुनासिक कर देने की व्यापक प्रवृत्ति है—बहनें, नदियाँ, सैकड़ों, करें, पढ़ें, जाएँ आदि। संस्कृत में (बहुवचन बनाने में) वर्गीय पंचम अक्षरों का प्रयोग देखा जाता है—'पठति-पठन्ति'। हिन्दी ने एक वर्ण बढ़ाना व्यर्थ समझ कर स्वर को ही अनुनासिक कर दिया है। 'अनुस्वार' की सत्ता तो स्वरों से पृथक् है; पर अनुनासिक कोई पृथक् चीज नहीं, यह वर्ण-प्रकरण में स्पष्ट किया जाएगा। वर्गीय पंचमाक्षर का प्रतीक अनुनासिक के रूप में ग्रहण करना निश्चय ही प्राकृत-परम्परा का परिणाम है।

ऐसा जान पड़ता है कि 'मूल-भाषा' में अनुनासिक चलन अधिक रहा होगा। संस्कृत में भिन्न पद्धति है अनुनासिक की जगह वर्गीय पञ्चम वर्णों का प्रयोग होने लगा होगा। तो भी, वैदिक साहित्य में अनुनासिक स्वरों का पर्याप्त प्रयोग देखा जाता है। आगे चलते-चलते अनुनासिक (संस्कृत-साहित्य में) छीजता गया और वर्गीय पञ्चमाक्षर बढ़ते गए। किन्तु पाणिनीय व्याकरण में अनुनासिक स्वरों का प्रमुखता से उल्लेख किया गया है। प्राचीन संस्कृत साहित्य को ध्यान में रखने का ही यह परिणाम है। वैदिक-भाषा पर भी पाणिनि ने पूरा विचार किया है। पाणिनि-व्याकरण में स्वरों के दो मुख्य भेद किए गए हैं—अनुनासिक और अननुनासिक। यह पूर्व संस्कार से। पिछली संस्कृत को देखते तो यही लिखना पर्याप्त था कि 'कभी-कभी स्वर अनुनासिक भी देखा जाता है।' कारण, पिछली या आधुनिक संस्कृत में अनुनासिक स्वरों का प्रयोग नहीं के बराबर है।

पहले कहा जा चुका है कि 'द्वितीय प्राकृत' पर संस्कृत के पण्डितों का बहुत प्रभाव पड़ा है। या यों कहिए कि प्राकृत में धर्म-ग्रन्थ लिखनेवाले संस्कृत से प्रतिद्वन्द्विता करते हुए भी उसकी नकल करने में विवश थे! संस्कृत का प्रभाव ही ऐसा था। परन्तु फिर भी, प्राकृतों में अनुनासिक स्वर दिखाई देते हैं। तृतीय प्राकृत (प्राकृत की तृतीय अवस्था) का आद्य रूप देखिए, (जिसे लोगों ने 'अपभ्रंश' नाम दिया है,) तो जान पड़ेगा कि अनुनासिक की ओर पुनः प्रवृत्ति है। नकली प्राकृत का प्रभाव कम होता गया है, जन-भाषा की ओर झुकाव होता गया है। और तीसरी प्राकृत की प्रौढ़ अवस्था

में (आधुनिक भारतीय भाषाओं में) पुनः अनुनासिक का दौर-दौरा देखने को मिलता है। 'हैं' को 'हैङ्' या 'हैन्' न कोई बोलता है, न लिखता है। वैसा करना असम्भव है। अनुस्वार के स्थान पर वर्गीय पञ्चमाक्षर और इन (पञ्चमाक्षरों) के स्थान पर अनुस्वार दिया जा सकता है, परन्तु अनुनासिकत्व इधर-उधर नहीं हो सकता।

कुछ लोग 'अनुनासिक स्वर' को 'सानुनासिक स्वर' लिख देते हैं, जो गलत है। यह सब आगे वर्ण-प्रकरण में बतलाया जाएगा। 'सानुस्वार स्वर' कहना ठीक है, परन्तु 'सानुनासिक स्वर' कहना गलत, इतना प्रसंगतः यहाँ कहा जा रहा है। अनुस्वार की स्वर से पृथक् सत्ता है, परन्तु 'अनुनासिक' को स्वर से या स्वर को अनुनासिक से पृथक् नहीं कर सकते। अनुभव भर किया जाता है। अनुनासिकत्व स्वरूपगत चीज है। 'मधुर फल' की तरह 'अनुनासिक स्वर'। 'समधुर फल' नहीं। परन्तु पृथक् चीज—'साग्रज भरत' 'सानुस्वार स्वर'।

इसीलिए 'सानुनासिक स्वर' कहना गलत है। विस्तार से आगे मूल ग्रन्थ में लिखेंगे।

सो, हिन्दी की यह भी संस्कृत से एक विशेषता है। हिन्दी की विविध 'बोलियों' में तथा प्रसिद्ध प्रादेशिक भाषाओं में भी इस (अनुनासिकत्व) की सत्ता है।

'खड़ी बोली' का परिष्कार

'खड़ी बोली' हिन्दी (या राष्ट्रभाषा) यों ही, ज्यों की त्यों, नहीं बन गई है। खान से निकलने के बाद हीरा तुरन्त राज-गृहीत नहीं हो जाता, उसका परिष्कार होता है, शाणोल्लेख होता है, खराश-तराश होता है। तब वह सुडौल और मोहक बन जाता है। हीरा बनाया नहीं जाता, उसका परिष्कार जरूर होता है। इसी तरह भाषा का परिष्कार होता है। क्षेत्रीय 'खड़ी बोली' में और राष्ट्रभाषा हिन्दी में यही (परिष्कार-मूलक) अन्तर है।

कुरुजनपद में बोलते हैं–'धोत्ती ठाला' और 'तू उठ जा'। एक जगह 'ठ' है और अन्यत्र उसके पहले 'उ' है। इसी तरह 'तू उतर जा' और 'धोची तार ले' आदि के प्रयोग हैं। हिन्दी में 'उठा ला' 'उतार ले' प्रयोग होते हैं–'ठा ला' तथा 'तार ले' नहीं। 'बैठा-ठाला' में 'ठाला' मिलेगा और

'तार ले भवसागर से नाथ !' में 'तार ले' मिलेगा। 'तारना' तथा 'उतारना' दो पृथक्-पृथक् क्रियाएँ हैं।

इसी तरह 'खड़ी बोली' के क्षेत्र में 'धोत्ती' 'रोट्टी' जैसे शब्दों में वर्ण-द्वित्व करने-बोलने की चाल है। हिन्दी ने इस कर्ण-कटुता को हटा कर 'धोती' 'रोटी' जैसे सुडौल शब्द बना लिए हैं।

'खड़ी बोली' बोलने वाले अनुनासिक के स्थान पर वर्गीय पञ्चमाक्षर या अनुस्वार कहीं-कहीं बोलते हैं–'मेरे पैर में कान्टा लग गया'। हिन्दी में एकमात्र अनुनासिक रहता है–'काँटा'।

क्रिया-पदों के उच्चारण में भी अन्तर है। 'खड़ी बोली' के क्षेत्र (मेरठ) में 'है' का उच्चारण कुछ विचित्र होता है। 'ऐ' का श्रवण नहीं होता। 'अ' का एक झटके के साथ उच्चारण होता है। वैसे उच्चारण को व्यक्त करने के लिए नागरी लिपि में कोई संकेत नहीं है। कुछ ऐसा ही उच्चारण 'है' का बनारस में सुन पड़ता है—न 'ह्' और न 'है'। बीच की स्थिति। यह आश्चर्य की बात है कि बीच में (एक लंबे क्षेत्र में) पूरी तरह 'है' सुनाई देता है और व्रज में भी 'है' है; यद्यपि 'ह' घिस गया है। हाँ, साहित्यिक व्रजभाषा में 'है'–'हैं' का चलन है—'ऐ'–'ऐं' का नहीं।

अनेक-स्वर वाली क्रियाओं के भूतकाल में कर्मवाच्य या भाववाच्य प्रयोग मेरठ डिवीजन में प्रायः 'य्' सहित करते हैं–देख्या, पढ्या आदि। हिन्दी में 'देखा–पढ़ा' जैसे रूप चलते हैं, य् का लोप कर के। हाँ, व्रजभाषा आदि में 'देख्यो' 'सुन्यो' 'पढ़्यो' बोलते-लिखते हैं। 'य्' का लोप भाषा में महत्त्व रखता है। इसका विवेचन मूल ग्रन्थ में 'खायी-खाई' तथा 'खाये-खाए' आदि का विश्लेषण करते समय आप देखेंगे। 'खड़ी बोली' के क्षेत्र में 'ल' को कभी-कभी 'ड़' भी बोलते हैं—'निकड़ गया साड़ा'—निकल गया साला।

ऐसे ही छोटे-मोटे कुछ भेद क्षेत्रीय 'खड़ी बोली' में और राष्ट्रभाषा हिन्दी में देखे जाते हैं। साहित्यिक भाषा में विचार-विमर्श तथा परिष्कार चलता ही है। तभी तो कोई एकदेशीय चीज सार्वभौमता प्राप्त करती है। परन्तु उस 'बोली' में और राष्ट्रभाषा में बहुत-सी चीजें समान हैं। एक ऐसी चीज मेरठी बोली में है, जिसके कारण ही निश्चयात्मक रूप से इसे राष्ट्रभाषा की उपादान-सामग्री कह सकते हैं और वह है धातुओं का रूप। हिन्दी की अन्य बोलियों में सोव, रोव, धोव, आव आदि धातु-रूप हैं—'सोवत है'

आदि क्रियाएँ। 'व' को सम्प्रसारण ('उ') होकर 'सोउत है' आदि भी। परन्तु राष्ट्रभाषा में 'सो' 'रो' 'आ' आदि धातुएँ हैं; सोता है, रोता है, आता है आदि क्रियाएँ। मेरठ में 'सोता है' (या 'सोत्ता है') आदि बोलते हैं—'सोवता है' जैसा नहीं। 'सोवै है' व्रज आदि के प्रभाव से।

हिन्दी की विकास-पद्धति

हिन्दी ने अपने शब्दों की विकास-पद्धति में संक्षेप, औचित्य तथा स्पष्टता का पूरा ध्यान रखा है। कभी-कभी संस्कृत के तद्रूप शब्दों में भी अपनी पुंविभक्ति लगा कर विशिष्ट शब्द बना लिया गया है। 'रस' शब्द हिन्दी में उसी अर्थ में चलता है, जिस अर्थ में संस्कृत में। परन्तु 'रसा' कहते हैं साग-भाजी के मसालेदार पके 'रस' को—'रसेदार आलू बनाओ।' 'प्रहर' से हिन्दी ने 'पहर' बना लिया, उसी अर्थ में। तीन घंटे का पहर होता है। सिपाहियों से तीन घंटे काम लिया जाता था, चौकसी करने का। एक पहर की ड्यूटी। सिपाही के उस 'पहर' भर के काम को 'पहरा', कहा जाने लगा और उस काम का करनेवाला हो गया—'पहरेदार'। संस्कृत में पहरेदार को 'प्रहरी' कहते हैं। हिन्दी ने 'प्रहरी' से 'पहरी' नहीं बनाया, क्योंकि यहाँ 'दुपहरी' शब्द मध्याह्न के लिए चलता है—दो पहर बीत जाने पर दिन की बेला। पहरेदार को 'पहरी' कहते, तो 'दुपहरी' के अर्थ में झमेला पड़ता। दो पहरेदारों का समाहार भी समझा जा सकता था। 'दुपहरी' में स्पष्टता के लिए वर्ण-व्यत्यय तथा सन्धि आदि नहीं है। 'दो' का 'दु' तो वृत्ति में ही हो जाता है, सब समझते हैं। 'खड़ी बोली' में (मेरठी जनपद में) 'दुपहर' को 'धुपेरी' कहते हैं, जिसे राष्ट्रभाषा में 'दुपहरी' कहा जाता है। व्रज की बोली में दुपहर को 'धौपर' कहते हैं; परन्तु साहित्यिक व्रजभाषा में 'धौपर' गृहीत नहीं है।

स्वर-मात्रा घटा-बढ़ा कर शब्दान्तर बनाने की चाल बहुत पुरानी है। संस्कृत में 'आर्य' का अर्थ श्रेष्ठ तथा एक पूरी जाति है। परन्तु उसकी मात्रा में लाघव ला कर 'अर्य' बना लिया गया है—'अर्यो वैश्यः'—एक वर्ग-विशेष। सम्पूर्ण जाति में मात्रा-गौरव जो है, वह एक साधारण वर्ग में कैसे रहेगा? मात्रा-लाघव से संस्कृत ने अन्यत्र भी अर्थ-गत लघुता या हीनता प्रकट की

है। विद्वानों का 'भाषण' होता है; परन्तु कुत्तों के भौंकने को 'भषण' कहते हैं। परन्तु हिन्दी में दूसरी प्रक्रिया है। यह मात्रा बढ़ाकर लघुता प्रकट करती है। 'लक्ष्मण' का तद्भव रूप 'लछिमन' होता है। तद्भव रूप में पुंविभक्ति लगानी चाहिए; पर न लगेगी; क्योंकि एकवचन में उसका प्रयोग होता है—पुल्लिंग एकवचन उसमें प्रकट होता है और हिन्दी आदर में एक व्यक्ति के लिए भी बहुवचन देती है। इसलिए 'लछिमन' में पुंविभक्ति न लगेगी। परन्तु लघुता प्रकट करने के लिए उसका प्रयोग होगा। किसी छोटे को बुलाने में लछिमना, परसा, वसीटा आदि शब्द चलते हैं।

राष्ट्रभाषा के विकास में स्वर-लाघव पर भी ध्यान रहा है। 'भगिनी' का विकास अवध तथा बैसवाड़े आदि में 'बहिनी' हुआ, जिसे राष्ट्रभाषा ने 'बहन' बना लिया। संबुद्धि > 'समुझि' (पूरब में)—'समुझि तुम्हारि नीकि है बहिनी'। राष्ट्रभाषा में 'समझ' है। 'तुम्हारी समझ ही तो ठहरी।' इसी तरह अग्नि > आगि > 'आग' आदि।

विकास-क्रम में स्पष्ट प्रतिपत्ति का सबसे अधिक महत्त्व है। संस्कृत के 'पत्र' शब्द का विकास 'पत्ता' हुआ। 'पत्र' से 'पत्त' और फिर उसमें पुंविभक्ति। यह विकास वृक्षों के अवयव-विशेष के लिए ही हुआ। 'पत्ता आया' कहने से 'चिट्ठी आई' कोई न समझ लेगा। इसके लिए 'पत्र आया' कहना होगा। हाँ, 'पाती' कहने से चिट्ठी समझी जाएगी, जरूर। 'पिया न आए, पाती न आई।' 'पत्ता' का स्त्रीलिङ्ग तो 'पत्ती' बनता है। उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में 'पात' बना है, 'पत्र' से। वह 'पात' भी हिन्दी में एक तरह से चलता है–'साग-पात'। परन्तु 'पत्ते' की जगह न चलेगा। 'पेड़ से पत्ता गिरा' कहेंगे, 'पात गिरा' नहीं। तो, 'साग-पात' में जब 'पात' चलता है, तो फिर उसके स्त्रीलिङ्ग रूप 'पाती' से 'चिट्ठी' का बोध कैसे होने लगा? असम्भव है! 'पात' से वह 'पाती' नहीं है, संस्कृत 'पत्री' का विकास है। पूर्वी क्षेत्रों में भी छोटे पत्तों को 'पत्ती' ही कहते हैं, 'पाती' नहीं। 'पत्र' बोलना न आता हो, सो बात नहीं है। 'चिट्ठी-पत्री' में 'पत्री' ही चलता है–'पाती' नहीं। 'पत्र' में अपनी पुंविभक्ति लगाकर हिन्दी ने 'पत्रा' तद्भव रूप बना लिया है। पत्रा-पञ्चाङ्ग, जो प्रतिसंवत्सर नया बनता-चलता है। 'नया' 'नव' संस्कृत शब्द का हिन्दी-करण है। 'व' को 'य' और अपनी पुंविभक्ति। अन्यत्र 'नवा' चलता है–'नवा काल' मराठी का सुप्रसिद्ध पत्र। हिन्दी में 'नया समय' 'नया युग' होगा, या फिर 'नव युग' रहेगा। अवध तथा बैस-

वाड़े में 'व' की ही ओर अधिक झुकाव है। 'आया-गया' की जगह वहाँ 'आवा-गवा' रूप चलते हैं। वहाँ 'नवा' चलता है।

हिन्दी ने कुछ शब्द एक शृंखला के रूप में भी बनाए हैं। माता के लिए 'मा' एक छोटा-सा मधुर शब्द बच्चों ने बनाया। बहुत ही सुगम शब्द है। 'मा' स्त्रीलिङ्ग शब्द है, इसलिए ('का के, की' या 'सा, से, सी' की तरह) वह बदलता नहीं है—'मा का कपड़ा, मा के कपड़े'। 'मा' को कभी भी 'मे' या 'मी' न होगा, क्योंकि 'मा' में हिन्दी की वह पुंविभक्ति तो है ही नहीं! जैसे 'लता' के रूप-'लता को' 'लता की' आदि, वैसे ही 'मा' के रहेंगे।

'मा' की द्विरुक्ति कर के 'मामा' शब्द बना, मा के भाई के लिए। यह भी वैसा ही सरल। 'मामा' में भी वह पुंविभक्ति नहीं है, 'मा' की ही द्विरुक्ति हो गई है। अर्थ-प्राधान्य से पुलिङ्ग। इसके रूप भी 'मामा को' 'मामा ने' आदि होंगे, 'मामे को' जैसे नहीं। इसलिए कि यहाँ भी वह पुंविभक्ति नहीं है और इसीलिए बहुवचन में भी 'मामा' ही रहेगा, 'मामे' न होगा—'हमारे दोनो मामा आज आ गए।'

'मामा' की ही बराबरी के 'काका' 'चाचा' हैं, नकल पर गढ़े गए शब्द। यहाँ भी 'का' तथा 'चा' की द्विरुक्ति है। पुंविभक्ति यहाँ भी नहीं है। इस-लिए 'मामा' की ही तरह इनके भी रूप रहेंगे। 'दादा' और 'नाना' भी इसी तरह हैं। 'मौसा' भी इसी कोटि में हैं; परन्तु उसकी निष्पत्ति भिन्न पद्धति पर है। मा की बहन भी 'मा-सी' ही होती है। वह 'मासी' हो गई; पर उसका पति 'मा-सा' कैसे हो? वह बन गया—'मौसा'। फिर 'मौसा' के सम्बन्ध से 'मासी' भी 'मौसी' बन गई। हमें यहाँ मतलब 'मौसा' से है। 'मौसा' में 'आ' पुंविभक्ति से युक्त 'सा' विद्यमान है; इसलिए 'मौसे ने कहा है' रूप सुन पड़ते हैं। जो 'काका-मामा' आदि की लाइन पकड़े हैं, वे 'मौसा ने कहा' भी बोलते हैं। यह इतना अन्तर। 'मौसी की सीधी व्युत्पत्ति हमने 'मासी' दी है। संस्कृत के 'मातृष्वसा' से भी 'मौसी' सम्भव है। वस्तुतः प्रातिपदिक 'मातृष्वस्ट' से समझिए। 'ऋ' को 'ई'। 'मातृ' के 'तृ' का लोप और 'ष्' का लोप। 'व' को 'उ' और मा + उ=मौ। यों 'मौसी' और फिर इससे 'मौसा'।

परन्तु इन बड़े लोगों के अनन्तर 'लाला' भी 'ला' शब्द की द्विरुक्ति से है—'यह भी 'ला' और वह भी 'ला'! अनुकरण या वजन पर शब्द गढ़ने की

प्रवृत्ति हिन्दी की सदा रही है। 'मीठा' के वजन पर ही 'सीठा' है। भानजा भतीजा, साला में हिन्दी की वह पुंविभक्ति विद्यमान है और इसीलिए भतीजा-भतीजे, भानजा-भानजे, साला-साले तथा 'भतीजे को' 'भानजे ने' 'साले से' आदि रूप होते हैं। हिन्दी का व्याकरण समझने के लिए यह विकास-पद्धति समझ लेने की बड़ी जरूरत है। यह सब निरुक्त का विषय है, इसलिए यहाँ पल्लवित करना 'गंगा की गैल में मदार के गीत' जैसा अच्छा न रहेगा। प्रसंग से कुछ इंगित भर कर देना जरूरी है।

क्रिया-पदों के बनाने में भी हिन्दी ने अपनी वही दृष्टि रखी है। अवधी तथा ब्रजभाषा में 'आवत है' चलता है, परन्तु 'जात है' 'खात है' आदि में 'व' नहीं है। हिन्दी में जैसे 'जाता है' वैसे ही 'आता है' और उसी तरह 'खाता है'। 'आवत' की तरह 'जावत' तथा 'खावत' नहीं होता। 'आवत' में 'व' कहाँ से आ गया ? क्यों आ गया ? कहा जाए कि उच्चारण सौकर्य के लिए 'व' का आगम हो गया है, तो भी प्रश्न रहेगा कि 'जा' तथा 'खा' में वैसा क्यों नहीं ? 'जात' 'खात' में क्या उच्चारण-क्लेश है ? 'आवत है' की तरह 'जावत है' क्यों नहीं ? कोई उत्तर नहीं। भाषा की प्रवृत्ति ! परन्तु राष्ट्रभाषा में एक व्यवस्था है।

बात यह कि वहाँ 'व' का आगम नहीं, वर्ण-विकार है। 'याति' के 'या' को हिन्दी ने 'जा' बना कर धातु के रूप में ग्रहण किया-'जाता है'। अन्यत्र 'जात है।' 'आयाति' के 'आया'>'आय' अंश को लेकर अवधी ने 'य' को 'व' कर लिया, जैसी कि प्रवृत्ति वहाँ 'य' को 'व' कर देने की अन्यत्र देखी जाती है—'आवा'-'गवा'। ब्रज में-'आयो-गयो' प्रयोग होते हैं, परन्तु 'आवत' में वह अवधी से प्रभावित है। 'आवत' के पीछे फिर 'लावत' 'सोवत' 'रोवत' आदि का चलन। ब्रजभाषा पर खड़ी-बोली, राजस्थानी, कन्नौजी तथा अवधी का प्रभाव है; यह हम परिशिष्ट में विस्तार से समझाएँगे।

राष्ट्रभाषा हिन्दी ने संस्कृत या प्राकृत का उपसर्ग मात्र 'आ' लेकर उसे धातु-रूप दे दिया—'आता है'—जैसे 'जाता है'। एक सीधा मार्ग। हिन्दी ने संस्कृत उपसर्गों से अपनी संज्ञाएँ भी बना ली हैं—'दो प्रतियाँ रामायण की।' कोई चीज कहीं किसी काम आती है; हम उसे अपने यहाँ लाकर किसी दूसरे ही काम में लाते हैं।

बहुत पहले संस्कृत में भी उपसर्गों का स्वतंत्र पदों के रूप में प्रयोग होता था; यह बात हम पहले कह चुके हैं।

कहीं-कहीं हिन्दी ने संस्कृत शब्दों का रूपान्तर न करके उसी ढँग पर अपनी अलग चीज बनाई है। संस्कृत के 'उन्मूलन' शब्द के जोड़ का हिन्दी में 'उजड़ना' शब्द है। 'उत्' की जगह हिन्दी ने अपना उपसर्ग 'उ' रखा और संस्कृत 'मूल' की जगह अपने 'जड़' शब्द को बैठा दिया। 'उन्मूलन' के जोड़ का 'उजड़ना' शब्द तयार। इससे फिर 'उजड़ता है' आदि क्रियाएँ तथा 'उजाड़' आदि संज्ञाएँ। 'उजड्डु' महामूर्ख को कहते हैं, जो अलग है। वह इस 'जड़' से नहीं है। संस्कृत का 'जड' वहाँ ज्यों का त्यों रखा गया है, केवल 'ड' की द्विरुक्ति कर दी गई है–जड़ता बढ़ाने के लिए ! अपना उपसर्ग 'उ' भी लगा दिया है–करेला नीम पर चढ़ाने के लिए ! ऐसी अनन्त बातें हैं भाषा-विकास के मार्ग में। उदाहरणार्थ हिन्दी का अपना 'जड़' शब्द ही ले लीजिए। 'मूल' भी चलता है; पर हिन्दी का अपना शब्द 'जड़' है। स्त्रीलिङ्ग क्यों बना ? कैसे बना ? 'मूल' से इस 'जड़' में विशेषता है। संस्कृत का पु० 'जड' (मूर्ख) अन्धकार पसन्द करता है, प्रकाश से घबराता है, नीचे की ओर जाता है। यही सब हिंन्दी के स्त्रीलिङ्ग 'जड़' (वृक्ष-मूल) में भी है। भिन्नार्थता सूचित करने के लिए स्त्रीलिङ्ग। कैसी कलात्मक रचना है ?

विकास में अर्थ-भेद स्पष्ट करने पर सबसे ज्यादा ध्यान रहा है। संस्कृत में 'अस्' तथा 'भू' ये दो धातुएँ हैं। साधारणतः लिख दिया गया है कि 'अस्' 'भू' के अर्थ में है और 'भू' 'अस्' के अर्थ में–'अस्' भुवि–'भू सत्तायाम्'। परन्तु वस्तुतः इन दोनों में अर्थ-भेद है। एक सत्तामात्र बताती है और दूसरी प्रवृत्ति या प्रवर्तमानता की ओर इशारा करती है–'राम विद्वान् है' और 'कोई भी पढ़-लिख कर ही विद्वान् होता है'। 'होता है'–'बनता है'। इस अर्थ-भेद को ध्यान में रख कर ही हिन्दी ने प्राकृत-मार्ग से उपर्युक्त दोनों धातुओं का पृथक्-पृथक् विकास करके काम लिया है। 'अस्' का तो बना-बनाया रूप 'है' ग्रहण कर लिया गया है और 'भू' का ('भवति' 'भोति' 'भोदि'>) 'होदि' रूप देख कर उससे 'हो' अलग करके अपनी धातु बना ली। इस 'हो' धातु में 'त' प्रत्यय लगा कर और पुंविभक्ति के योग से 'होता' अपनी कृदन्त क्रिया। आगे 'है' सहायक क्रिया जोड़ कर 'होता है'। 'है' का पृथक् प्रयोग भी होता है, पर 'होता' भी 'है' को साथ लेता है, जैसे कि अन्य 'करता' 'खाता' 'गाता' आदि कृदन्त क्रियाएँ। 'है' तिङन्त क्रिया है, जो

स्त्री-पुल्लिङ्ग सर्वत्र एक-सी रहती है–लड़का है, लड़की है। परन्तु 'त'–प्रत्ययान्त क्रियाएँ रूपान्तरित होती हैं–होता, होते, होती–टंटा होता है, टंटे होते हैं, लड़ाई होती है। संस्कृत में जैसे 'बालकः सुप्तः अस्ति' 'बालकाः सुप्ताः सन्ति' और 'बालकः सुप्तः अस्ति' तथा 'बालिका सुप्ता अस्ति'। 'सुप्त' में परिवर्तन और 'अस्ति'–'सन्ति' एक-रूप। ये सब बातें मूल ग्रन्थ के क्रिया-प्रकरण में बताई जाएँगी। परन्तु यहां 'है' के विकास पर कुछ कहना है। प्रत्यय-कल्पना तभी की जाती है, जब कि उससे शब्दों की एक लड़ी बनती चली जाती हो। एक ही शब्द के लिए प्रत्यय-कल्पना अनावश्यक है। इसी लिए पाणिनि ने ऐसे एकाकी शब्दों की सूचना मात्र दे दी है। सो, हिन्दी की 'है' क्रिया 'हो' में प्रत्यय लगाने से नहीं है, एक स्वतन्त्र शब्द है। 'हो' तो 'भू' का रूप है। उस से यदि 'है' बने, तो अर्थ इसका भी 'होता है' ही होना चाहिए, जो कि संस्कृत 'भवति' का होता है। तो फिर 'वहाँ तमाशा होता है' की जगह 'वहाँ तमाशा है' बोला जाता। सो, 'है' एक स्वतन्त्र क्रिया-शब्द है। इसका विकास कैसे हुआ, सो देखने की चीज अवश्य है।

'अस्' ही नहीं, संस्कृत की सभी धातुएँ प्राकृत-पद्धति से हिन्दी में आ कर स्वरान्त हो गई हैं। हिन्दी में एक भी धातु व्यंजनान्त नहीं है। प्राकृत-धारा ने हिन्दी को एक 'हि' क्रिया-विभक्ति दी है, जो कि अवधी तथा ब्रजभाषा में 'करहि' 'जाहि' आदि रूपों में देखी जाती है। 'अस' का 'अह' होकर आगे यह 'हि' विभक्ति लग गई-'अहहि'। 'अहहि'-'है'। 'हि' विभक्ति भी 'अस' का ही अंश है; पर जब वह विभक्ति बन गई, तो नियम-पालनार्थ 'अह' में भी लगेगी। 'द्वि' के आगे जैसे संस्कृत में द्विवचन-विभक्ति लगती है, 'एक' के आगे एकवचन-विभक्ति और 'बहु' के आगे बहुवचन-विभक्ति। 'ह्' का लोप करके 'अहइ'। ये दोनों रूप 'मानस' में जगह-जगह आए हैं। 'अहइ' के 'अ' तथा 'इ' में सन्धि होकर 'अहै'। ब्रजभाषा तथा अवधी में 'अ' और 'इ' की 'ऐ' सन्धि होती है–'करै' 'पढ़ै' आदि। यह 'अहै' ब्रजभाषा में भी चलती है। इसके 'अ' का लोप करके हिन्दी ने 'है' बना लिया। यह शब्द ('है') आया है ब्रजभाषा में होता हुआ। इधर सीधे भी 'है' आया समझा जा सकता है–लखनऊ, शाहजहाँपुर, बरेली के रास्ते। 'रामचरित मानस' में 'हहि' का प्रयोग भी कई बार 'है' के अर्थ में हुआ है। इस 'हहि' के 'हि' का 'ह्' मुरादाबाद तक चलते-चलते घिसकर उड़ गया और 'ह' के 'अ' में तथा बचे हुए

'इ' अंश में 'ऐ' सन्धि होकर 'है' बन गया। इहि > हइ > 'है'। यद्यपि हिन्दी (राष्ट्रभाषा में) 'अ-इ' की सन्धि प्रायः 'ए' होती है- 'पढ़े करे' आदि में आप आगे देखेंगे; परन्तु 'इहि' की अवधी कुछ अपनी बात भी तो रखेगी न! पीहर की सब बातें ससुराल जाते ही थोड़े ही छूट जाती हैं! सो 'करै' आदि की तरह 'है' में सन्धि।

हमने ऊपर 'अहहि' या 'इहि' से 'है' की उत्पत्ति बतलाई। 'अहहि' से 'इहि' संभव है। संस्कृत 'अस्' का भी 'अ' क्रियाओं में बहुत कम रहता है। स्तः, सन्ति, स्वः, स्मः आदि में 'अ' कहाँ है? बहुत ही दुर्बल है। कम क्षेत्र रखता है। इसीलिए किसी-किसी वैय्याकरण ने 'अस्' की जगह 'स' धातु की ही कल्पना की है। 'अस्ति' आदि प्रयोगों में 'अ' का आगम। हिन्दी की 'है' क्रिया के आगे 'अ' का न रहना, या उड़-घिस जाना यों पूर्वागत चीज है।

ये 'अहइ' 'अहहि' 'अहै' तथा 'इहि' आदि ('अस्' के) रूप विभिन्न प्राकृतों से या किसी एक व्यापक प्राकृत के अवान्तर भेदों से आए हैं। 'रामचरित मानस' में तो खड़ी बोली, ब्रजभाषा तथा राजस्थानी ही नहीं, पंजाबी भाषा के भी शब्द यत्र-तत्र मिलते हैं, तब विभिन्न प्राकृतों के ये शब्द वहाँ आ जाएँ, तो कौन सी अचरज की बात है?

हिन्दी की यह 'है' क्रिया ब्रजभाषा में, उत्तर प्रदेश के पूर्वी कुछ अंचलों में तथा पंजाब में भी इसी तरह निर्बाध गति से चलती है। 'भू' का 'होत' रूप भी उपर्युक्त अंचलों की जन-भाषाओं या बोलियों में तथा उनके साहित्यिक रूपों में चलता है। 'मानस' में भी 'होत' तथा स्त्रीलिंग 'होति' के प्रयोग हुए हैं। ब्रजभाषा-साहित्य में तो हैं ही। राष्ट्रभाषा इस 'होत' में अपनी पुंविभक्ति भर लगा देती है-'होता है'; जैसे 'करता है' आदि। पंजाबी में 'त' को 'द' हो जाता है, धातुस्वर अनुनासिक भी 'होंदा है' 'जांदा है' आदि। यह अलग बात है कि 'होहि' का भी प्रयोग है-'हो' में 'हि' लगाकर। 'होहि'-'होता है' और 'होती है'। उभयत्र 'होहि' समान रहता है, क्योंकि 'हि' तिङन्त क्रिया का ही रूप है 'अस'>अह 'ह'>'हि'। तभी तो 'कर' धातु के आगे 'हि' विभक्ति लगाने से ('करहि' का) अर्थ 'करता है' होता है। 'करता' से काम न चलेगा, जब तक 'है' न साथ हो। 'करहि है' नहीं बोला जाता। 'करहि' मात्र चलता है। 'हि' की उपस्थिति में 'है' व्यर्थ। 'पं० पंडित

रामनाथ' कौन बोलता-लिखता है ? इसी तरह 'करहि है' नहीं । 'करइ' तथा 'करै' भी 'करहि' के विकास हैं । परन्तु 'करै' रूप बनते-बनते 'हि' की स्मृति उड़ गई । इसीलिए मेरठ में 'करै हैं' भी बोल देते हैं, आगे 'करै सै' भी । परन्तु राष्ट्रभाषा में 'होहि' का चलन नहीं है । 'हि' के 'ह्' का लोप विकल्प से हो जाता है-'होइ' । इसी तरह 'करहि-करइ' 'जाहि-जाइ' आदि द्विविध रूप चलते हैं । धातु के 'अ' में और विभक्ति के 'इ' में सन्धि ('ै') होकर 'करै' 'मरै' 'सरै' आदि रूप भी वहाँ (वर्तमान काल में) बनते-चलते हैं । इसी तरह 'करहु' विधि या आज्ञा के रूप भी 'करउ'-'करौ' होते हैं । यही 'हु' राष्ट्रभाषा के 'करो' आदि में भी है । 'ह्' का लोप और 'अ'-'उ' में सन्धि होकर 'ओ' । 'पढ़ो' 'गुनो' 'पटको' 'झटको' आदि में उसी 'हु' की आत्मा है, विभक्ति के रूप में । अकारान्त धातुओं से भिन्न अन्य धातुओं के साथ लगने पर 'उ' अकेला ही 'ओ' बन जाता है-जाओ, खाओ, आदि । इकारान्त धातुओं के अन्त्य 'इ' या 'ई' को विकल्प से 'इय्' हो जाता है । संस्कृत का 'श्रियौ' वाला 'इयङ्' समझिए-'पियो-पीओ' 'जियो-जिओ' आदि ।

इस प्रकार की सब बातें आगे यथास्थान आएँगी । भूमिका का अति विस्तार करना अभीष्ट नहीं । साधारण पाठक ऊब जाते हैं ।

हिन्दी में स्वकीय तथा परकीय शब्द

जैसे विभिन्न व्यक्तियों में, समाजों में तथा जातियों में परस्पर वस्तुओं का तथा भावों का आदान-प्रदान होता रहता है, उसी तरह प्रतिष्ठित भाषाएँ भी आपस में शब्दों का आदान-प्रदान किया करती हैं । यह आज की नई रीति नहीं है, सदा की पद्धति है ।

हिन्दी प्राकृत-परम्परा की भाषा है और इसका 'अपना' विपुल शब्द-भंडार है । संस्कृत-साहित्य में उपलब्ध अनन्त शब्द-राशि भी इसकी 'अपनी' ही सम्पत्ति है और संस्कृत के 'धातु' तो अटूट शब्दस्रोत के रूप में इसे प्राप्त हैं । परन्तु तो भी, हिन्दी एक स्वतन्त्र भाषा है और किसी भी भाषा के मूल शब्द उसका 'मूल धन' हैं, या होते हैं–१–क्रिया–पद २–अव्यय ३–विभक्तियाँ तथा ४–सर्वनाम । ये चार मुख्य स्तम्भ हैं, जिन पर किसी भी भाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व टिका रहता है । ये शब्द कभी बदलते नहीं, कभी भी किसी दूसरी भाषा से कोई भाषा नहीं लेती ।'करता है' की जगह 'करोति' हिन्दी में चलेगा नहीं, न 'जब तुम आए' की जगह 'यदा तुम आए' ही

कोई बोलेगा। 'राम का पुत्र आया' को कभी भी 'रामस्य पुत्र आया' न होगा। 'उसको मैंने देखा' की जगह 'तम् मैंने देखा' करना असम्भव है। जब संस्कृत से ही ये शब्द हिन्दी नहीं लेती, तो फारसी-अरबी या अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं की तो कोई चर्चा ही क्या ! शासकीय-शक्ति ने जब अनावश्यक फारसी-अरबी शब्दों को भर कर इसे 'उर्दू' बना दिया था, तब भी उपर्युक्त चतुवर्ग ज्यों का त्यों 'अपना' रहा। क्रिया-पद आदि न बदले जा सके। हिन्दी ही नहीं, संसार की सभी भाषाओं की यह रीति-नीति है।

आवश्यकता के अनुसार भाषाएँ परस्पर प्रायः संज्ञा-शब्दों का आदान-प्रदान करती हैं। हिन्दी के 'धोती' 'घी' तथा 'लोटा' अंग्रेजी ने लिए, तो उसके 'कोट' 'बटन' आदि हिन्दी ने भी ले लिए। हमारा 'खर' फारसी में 'ख़र' बन कर गया, तो हमने उसके 'कारीगर' आदि 'खुशी' से 'मंजूर' कर लिए। हमारा 'सिंह' अंग्रेजी में नहीं गया, तो वहाँ का 'लायन' यहाँ न आ पाया। आवश्यकतानुसार परतः शब्द-ग्रहण की यह बात हिन्दी के ही लिए नहीं, संसार की सभी भाषाओं के सम्बन्ध में एक-सी है। यहाँ तक कि हिन्दी या कोई भी भाषा अपनी जननी (पूर्ववर्तिनी) भाषा से भी क्रिया-शब्द तथा सर्वनाम आदि नहीं लेती। विभक्तियों के सम्बन्ध में भी यही नियम है। 'राम पाठशाला में वेदान्त-ग्रन्थ पढ़ रहा है' इस वाक्य में विभक्तियाँ तथा क्रिया 'पढ़ रहा है' हिन्दी के 'अपने' शब्द हैं, शेष सब संस्कृत का। परन्तु इस थोड़े-से ही महत्त्वपूर्ण अंश के कारण यह 'हिन्दी का वाक्य' है। इसी तरह 'मेरा अँबरेला, स्टिक, कप और रिस्टवाच लेते आना' इस वाक्य में 'मेरा' 'और' तथा 'लेते आना' शब्द हिन्दी के हैं। 'और' की जगह भी कोई दूसरा शब्द न आएगा। इन तीनों शब्दों के कारण यह वाक्य हिन्दी का कहा जाएगा—हिन्दी का है, यद्यपि 'बेढँगी हिन्दी' इसे कहेंगे; क्योंकि अनावश्यक अंग्रेजी शब्द भरे हैं। ऐसी हिन्दी को लोग 'साहबी हिन्दी' या 'बबुआनी हिन्दी' कह सकते हैं। इसी तरह की हिन्दी रोमन-लिपि में छाप कर भारत के अंग्रेज हाकिम उसे 'हिन्दुस्तानी' कहा करते थे। 'फौजी अखबार' इसी 'हिन्दुस्तानी' में छपता था—रोमन-लिपि में। मुसलमान शासकों के समय हिन्दी में फारसी-अरबी के शब्द इसी तरह जा-बेजा भर दिए गए थे और उस विशेष प्रकार की हिन्दी को वे लोग अपनी (विदेशी) फारसी-लिपि में लिखते-पढ़ते थे। उस हिन्दी का नाम 'उर्दू' पड़ गया था, जो अब तक है। मुसलमानी शासन के समय हिन्दी में जान-बूझ कर लोग फारसी-अरबी के

अनावश्यक शब्द भरते थे, अपने आपको 'शिक्षित' कहलाने के लिए! जब तक अपनी भाषा में फारसी-अरबी के शब्द न बोले, कोई उस समय 'शिक्षित' न कहलाता था; ठीक उसी तरह, जैसे आज-कल अंग्रेजी के बिना! ऊँचे दर्जे के सरकारी काम-काज फारसी में होते थे; मामूली मुंशियाना दफ्तर उर्दू में थे। ऊपर बढ़ने के लिए 'अच्छी उर्दू' का आना जरूरी था और 'अच्छी उर्दू' वह, जिसमें क्रिया, विभक्तियाँ और अव्यय-सर्वनाम इस देश के, शेष सब कुछ फारसी-अरबी का। उर्दू के सम्बन्ध में हम 'राष्ट्रभाषा के रूप' में कुछ लिखते हुए अधिक कहेंगे। यहाँ इतना समझ लीजिए कि फारसी-अरबी का इतना प्रभाव हिन्दी पर पड़ गया था कि अब तक उसकी गन्ध गई नहीं है और मेरे जैसे 'संस्कृत-पण्डित' की कलम से भी, अब तक वैसे शब्द निकलते रहते हैं, यद्यपि मैं उर्दू-फारसी का 'अलिफ-बे' भी नहीं जानता! परन्तु उस मुगलिया-हिन्दी (उर्दू) का तो अर्थ बड़े से बड़े पण्डित की भी समझ में न आएगा, जब तक वह अरबी-फारसी के शब्द ही नहीं, अरब-ईरान के रीति रिवाजों से तथा वहाँ की सामाजिक, भौगोलिक और ऐसी ही दूसरी बातों से परिचित न हो! फिर भी, क्रिया, अव्यय, सर्वनाम तथा विभक्तियों के कारण उस फारसी-अरबी शब्दसमूह को भी हिन्दी ही कहा जाएगा। जब तक वे मौलिक तत्त्व न बदलें, कोई नई भाषा नहीं बन सकती; भाषा-भेद नहीं हो सकता।

अविवेक-पूर्ण परकीय तत्त्वों की भरमार कर देने से भाषा का 'अपना' रूप बिगड़ जाता है। विवेक-पूर्वक ग्रहण करना तो एक अर्थ रखता है और उस तरह गोस्वामी तुलसीदास जैसे सन्त कवि ने भी परकीय शब्द अपने 'मानस' में ग्रहण किए हैं; हम लोगों का तो कहना ही क्या! आवश्यक शब्द किसी भी दूसरी भाषा से लिए जाते हैं; हिन्दी सदा से लेती आई है। कविवर भिखारीदास ने लिखा है कि हिन्दी को अपनी बड़ी पूँजी तो है ही, साथ में संस्कृत का अटूट भंडार भी अपना ही है, संस्कृत-शब्द तो हिन्दी में मिलेंगे ही, फारसी आदि के भी आवश्यक शब्द लिए जाएँगे, परन्तु शर्त यह है कि वे उच्चारण आदि में कठिन न हों—

'मिलै संस्कृत, पारस्यो, पै अति सुगम जु होय'।

यहाँ 'पारस्यौ' शब्द ध्यान देने योग्य है—'फारसी भी'। 'पारस्य हू' का 'पारस्यो' हो गया है। फारसी के शब्द भी, जरूरत पड़ने पर, लिए जाते हैं

हिन्दी में; परन्तु वे उच्चारण आदि में हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल होने चाहिए। संस्कृत के लिए वैसी कोई शर्त नहीं है। संस्कृत की और किसी विदेशी भाषा की तुलना क्या ? एक अपना मूल स्रोत है, दूसरी चीज दूसरी ही है। इसीलिए "मिलै संस्कृत" और 'पारस्यौ'-फारसी भी, परन्तु 'अति सुगम जु होय।' 'फारसो' शब्द सभी विदेशी भाषाओं का उपलक्षण है। हिन्दी ही नहीं, आधुनिक प्रायः सभी भारतीय भाषाओं की यही नीति और प्रवृत्ति है। 'दूसरी प्राकृत' को हम संस्कृत-पद्धति पर ही चलते देखते हैं। संज्ञा-विभक्तियाँ, क्रिया-विभक्तियाँ, और अव्यय आदि प्रायः सब संस्कृत के हैं, कुछ रूप-परिवर्तन के साथ। कुछ क्या, ऐसा रूप-परिवर्तन है कि पहचानना कठिन हो जाता है! परन्तु पद्धति सर्वांश में वही है। यह होने पर भी, आश्चर्य की बात है कि वहाँ—दूसरी प्राकृत के सभी भेदों में—संस्कृत के तद्रूप (तत्सम) शब्दों का एकान्त अभाव हम देखते हैं! यदि संस्कृत शब्द लिया गया, तो पहले उसे छील-छाल कर 'प्राकृत' बना लिया गया है। प्राकृत 'बनना' एक चीज है और 'बनाना' उससे भिन्न चीज है। हिन्दी में संस्कृत शब्दों का विकास बराबर हुआ है और उस प्रकृत-विकास से उन शब्दों में उच्चारण-सौकर्य तथा श्रवण-माधुर्य बहुत बढ़ गया है; परन्तु यह सब नैसर्गिक रूप में प्रवाह-प्राप्त हुआ है। इस नकल पर कोई संस्कृत-शब्दों को तोड़-मरोड़ कर नया रूप देने का प्रयत्न करे, तो उसकी प्रशंसा न होगी। उस तरह बलात् तोड़े-मरोड़े शब्दों को 'विकृत' ही कहा जाएगा, 'विकसित' नहीं। कली का स्वतः खिलना विकास है और उसकी पंखड़ियों को नोच कर उभार देना उसे विकृत कर देना है! महाकवि विहारी ने 'स्मर' को एक जगह 'समर' कर दिया है। यह विकास नहीं, विकार हुआ। 'स्मर' हिन्दी में तद्रूप चलता है; या फिर 'काम' 'मदन' आदि इसके दूसरे पर्य्याय। 'समर' तो युद्ध के पर्य्याय-रूप से हिन्दी में प्रसिद्ध है। यह 'स्मर का 'समर' ठीक उसी तरह हुआ, जैसे द्वितीय प्राकृत में संस्कृत शब्दों को प्राकृत बनाया जाता था! 'नीके लगैं न नेकहू फारि निहारे नैन'। विहारी ने कहा है कि स्वभावतः बड़ी आँखें अच्छी लगती हैं; परन्तु यदि कोई अपनी पलकों को बहुत ऊँचा उठाकर, आँखें फाड़कर, किसी की ओर देखे कि ये मेरी चितवन से मोह जाएँ, तो क्या होगा ? उसकी ये आँखें मोहक बन जाएँगी क्या ?

सारांश यह कि जन-प्रवाह ने जिस शब्द को जैसा बना दिया है, वह वैसा बन गया। उस दिशा पर कोई व्यक्ति, चाहे जिस शब्द को, खराश-

तराश कर कुरूप करेगा, तो भाषा उसे ग्रहण न करेगी। कोई हिन्दी के 'दहला' को देखकर वैसा कोई नियम बना दे और तब 'दसवाँ' को भी 'दहवाँ' कोई कर दे, तो कैसा रहेगा ?

संस्कृत के शब्द हिन्दी में कई तरह से चल रहे हैं। बहुत अधिक शब्द ऐसे हैं, जो तद्रूप चलते हैं, जैसे प्रभाव, प्रभु, प्रेम आदि। तद्भव शब्दों का तो अटूट भंडार है और इनकी जगह संस्कृत के तद्रूप शब्द चल ही नहीं सकते, जैसे दस, बीस आदि। संख्या-वाचक 'एक' को छोड़ शेष सब शब्द हिन्दी के 'अपने' हैं; चाहे ये जिस तरह बने हों। दो, तीन, चार आदि की जगह संस्कृत तद्रूप शब्द नहीं दे सकते। 'द्विविध' 'त्रिकोण' 'चतुर्भुज' 'पञ्चानन' आदि में जो संख्यावाचक संस्कृत शब्द समास में हैं, वे सब हिन्दी में तद्रूप चलते हैं। परन्तु हिन्दी ने इन संख्यावाचक शब्दों को अलग नहीं अपनाया है; प्रत्युत 'द्विविध' आदि समस्त शब्द बने-बनाए संस्कृत से ले लिए हैं; ले लेती है। पृथक स्वतन्त्र रूप से 'दो, तीन, चार' आदि का ही व्यवहार होगा।

कुछ शब्द उभयथा चलते हैं– तद्रूप भी और तद्भव भी; जैसे सूरज-सूर्य, सँदेसा–सन्देश, बिक्री-विक्रय आदि।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि हिन्दी ने संस्कृत शब्दों को जो तद्भव रूप दिया है, उसमें उच्चारण-सौकर्य ही नहीं, औचित्य का भी ध्यान रखा गया है ! 'प्रिय' से स्त्री-सुलभ 'पिय' शब्द बना, पुंविभक्ति से 'पिया' भी। परन्तु 'प्रिया' सदा इसी रूप में रहा है; कोई परिवर्तन नहीं।

यह साधारण भाषा की चर्चा है, जो कि कविता-उपन्यास आदि में भी चलती है। दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र तथा राजनीति आदि के ग्रन्थों में तो तद्रूप संस्कृत शब्द ही अधिक लेने होंगे ! इसके बिना काम ही न चलेगा।

संस्कृत से भिन्न स्थिति दूसरी भाषाओं की है। हिन्दी में, आगे चलकर विविध प्रान्तीय भाषाओं के भी शब्द आकर मिलेंगे। इससे हिन्दी समृद्ध होगी। कितने ही शब्द हिन्दी-अंचलों में भी अभी जन-प्रचलित ऐसे हैं, जिन्हें साहित्यिक हिन्दी में, राष्ट्रभाषा में, लेना जरूरी है। परन्तु ये प्रादेशिक या प्रान्तीय भाषाओं के शब्द उसी रूप में और उसी अंश में लेने होंगे, जिससे भाषा का अखिल भारतीय रूप विकसित होता रहे। यदि प्रादेशिक शब्दों की जगह संस्कृत शब्द अधिक दिए जाएँगे, तो सब को

सुविधा रहेगी। एक उदाहरण लीजिए। कानपुर के इधर-उधर पकी हुई दाल को 'पहिती' कहते हैं। अच्छा शब्द है। परन्तु राष्ट्रभाषा में 'दाल के साथ रोटी' तो सब समझ लेंगे; किन्तु 'पहिती के साथ रोटी' कहाँ-कहाँ के लोग समझ सकेंगे? उत्तर प्रदेश में ही सर्वत्र जब 'पहिती' शब्द पहेली बन जाएगा, तो अहिन्दी-प्रदेशों की बात ही क्या! इसी तरह राष्ट्र-भाषा में बँगला-शब्द देने से महाराष्ट्र-गुजरात आदि को और ठेठ गुजराती-मराठी शब्द देने से आन्ध्र-उत्कल आदि में कठिनाई बढ़ेगी। हाँ, जो प्रादेशिक शब्द बहुत जरूरी हो, जिसका पर्याय संस्कृत में भी न हो, उसे अवश्य राष्ट्रभाषा में ले लेना होगा। कुछ शब्दों को तद्भव भी करना होगा, परन्तु व्यक्ति-नाम तो तद्रूप ही रहेंगे, डा० सीतारामय्य; मि० राघवन आदि।

विदेशी (फारसी, अरबी, अँग्रेजी आदि) भाषाओं की स्थिति भिन्न है। इन भाषाओं के जो शब्द हिन्दी में आ कर घुल-मिल गए हैं, वे रहेंगे ही। कोट, बटन, रूमाल दवात आदि ऐसे ही शब्द हैं। परन्तु नए शब्द लेने की बात तब तक नहीं उठती, जब तक संस्कृत से तथा प्रादेशिक भाषाओं से पूर्ति सम्भव हो। इसके बाद ही किसी विदेशी भाषा की ओर देखना होगा।

हिन्दी ने तो विदेशी भाषाओं में भी तारतम्य किया है। एशिया तथा योरप में हिन्दी ने भेद किया है। एशिया की भाषाओं से संज्ञाएँ ही नहीं, विशेषण भी हिन्दी ने ले लिए हैं-'ताजी खबर है' हिन्दी में चल सकता है, परन्तु 'एक न्यू खबर आज है' ऐसा न चलेगा। तीन सौ वर्षों के संसर्ग के बाद भी हिन्दी 'हॉट पानी' नहीं माँगती 'गरम पानी' पसन्द करती है। कोई भी विशेषण योरप की किसी भी भाषा का हिन्दी ने नहीं लिया; संज्ञाएँ जरूर ली हैं। 'अवश्य' की जगह 'जरूर' तो चलता है, पर कोई अँग्रेजी शब्द नहीं आ सकता। परन्तु, जब, तब, यहाँ, वहाँ, आदि अव्ययों की जगह कभी कोई फारसी का भी अव्यय न आएगा। हाँ, 'सर्वत्र' जैसा कोई संस्कृत-अव्यय अवश्य ग्राह्य है; क्योंकि इस अर्थ में हिन्दी ने अपना स्वतंत्र कोई अव्यय बनाया नहीं। 'सर्वत्र' की जगह फारसी आदि का कोई अव्यय न चलेगा।

यह हम हिन्दी के विकास तथा शब्द-ग्रहण की चर्चा कर रहे हैं; प्रसंगवश। वस्तुतः व्याकरण से इन बातों का कोई सीधा विशेष संबन्ध नहीं। व्याकरण तो शब्द-प्रयोग पर विचार करता है और प्रयोगकृत शब्दों के रूपान्तर पर। जीवित-जागृत भाषा में शब्दों के आदान-प्रदान या निर्माण का काम चलता ही रहता है। आवश्यकता के अनुसार वह सब होता है। व्याकरणकार के बताए

प्रयोग-नियम ही लोग देखते हैं; उसकी भाषा का अनुसरण नहीं करते। पाणिनि ने 'विकल्प' के अर्थ में 'विभाषा' तथा 'अन्यतरस्याम्' शब्दों का भी प्रयोग किया है; परन्तु पाणिनि-अनुगत संस्कृत-ग्रन्थों में 'विकल्प' शब्द ही चलता है; 'विभाषा' तथा 'अन्यतरस्याम्' नहीं। मैं यह हिन्दी-व्याकरण लिख रहा हूँ; तो ध्यान प्रयोग-विधि पर है। वही यहाँ असली चीज है। मेरी भाषा में 'असली' 'चीज' 'जरूर' आदि विदेशी शब्द आते हैं। रम गए हैं। मैं इन्हें जबर्दस्ती निकालता नहीं। बोल-चाल की भाषा में पुस्तक लिख रहा हूँ। इसलिए सदा-सर्वत्र सब लोग मेरी इस भाषा को ही हिन्दी का असली रूप समझें; ऐसा नहीं हो सकता, न होना चाहिए। दर्शनशास्त्र आदि की भाषा का रूप कुछ दूसरा ही होगा। बँगला भाषा में अस्सी प्रतिशत शब्द संस्कृत के हैं। कोई बंगाली सज्जन हिन्दी लिखेंगे; तो 'जरूर' 'जगह' आदि शब्दों का वहाँ जगह कैसे मिलेगी? आगे चल कर कोई भाषा-संशोधन करे और अनावश्यक विदेशी शब्दों की छँटनी कर दे, तो क्या कोई अचरज की बात है? परन्तु उस स्थिति में भी यह व्याकरण ज्यों का त्यों रहेगा; क्योंकि यह तो शब्दों की प्रयोग-विधि समझाता है। किसी भी दूसरी भाषा का शब्द कोई भाषा ले, उसे अपने व्याकरण पर, अपने नियमों से चलाएगी। हिन्दी का 'धोती' शब्द अँग्रेजों ने लिया, तो वहाँ यह उसी के व्याकरण से अनुशासित होगा। वहाँ बहुवचन 'धोतियाँ' नहीं, 'धोतीज़' होगा। इसी तरह हमने अँग्रेजी का 'लन्टर्न' शब्द लिया। हिन्दी ने अपनी प्रकृति-पद्धति के अनुसार उसे 'लालटेन' जैसा सुन्दर रूप दे दिया। अब यह हिन्दी-व्याकरण के अनुसार यहाँ चलेगा। जो तद्रूप अँग्रेजी शब्द हिन्दी में 'कोट' 'बटन' आदि आए हैं, उनका भी प्रयोग हिन्दी-व्याकरण के अनुसार होगा। यही स्थिति फारसी आदि के शब्दों की है। 'अमीर' तथा 'गरीब' शब्द बहुवचन में 'बहुत से अमीर भी हैं, गरीब भी हैं' यों रहेंगे। विदेशी-व्याकरण से इनके बहुवचन 'उमरा' तथा 'गुर्बा' हिन्दी में न चलेंगे। परन्तु मुसलमानी शासन-काल में 'उमरा' तथा 'गुर्बा' हिन्दी में चलाए जाने लगे थे। हिन्दी ने वह सब ग्रहण नहीं किया और वह 'उमरा-गुर्बा' वाली हिन्दी (उर्दू नाम से) एक कृत्रिम रूप में शासन-बल से चलने लगी थी। अब आज उर्दू-प्रेमी भी राह पर आ रहे हैं और 'गरीबों की मदद' सोचने लगे हैं, 'गुर्बा की मदद' छोड़ रहे हैं। आज की उर्दू यदि इस देश की (नागरी) लिपि में लिखी जाए, तो वह राजा शिवप्रसाद (सितारे हिन्द) की 'हिन्दी' बन जाएगी।

नागरी लिपि और लिखावट

हिन्दी जिस लिपि में लिखी जाती है, उसका नाम 'नागरी' है। उर्दू फारसी-लिपि में अब भी चल रही है। रोमन-लिपि में हिन्दी का 'हिन्दुस्तानी' रूप जो अँग्रेजों ने चलाया था, वह अब समाप्तप्राय है।

नागरी-लिपि में ही संस्कृत लिखी जाती है। संस्कृत की मुख्य लिपि नागरी है; वैसे बँगला आदि प्रादेशिक लिपियों का भी प्रयोग लोग करते हैं! परन्तु संस्कृत के सार्वभौम प्रचार की दृष्टि से बंगाली, मदरासी, गुजराती आदि सभी प्रदेशों के विद्वान् नागरी लिपि का ही प्रयोग करते हैं। संस्कृत के अतिरिक्त एक अन्य आधुनिक भारतीय भाषा भी नागरी लिपि में चलती है—'मराठी'। बँगला, उड़िया गुजराती, तमिल, कन्नड़ आदि भाषाओं की अपनी-अपनी पृथक् लिपियाँ हैं। गुजराती, पंजाबी, उड़िया आदि की वर्तमान लिपियाँ नागरी के ही रूपान्तर हैं। हमने श्री मो० सत्यनारायण (मदरास) के एक भाषण में जाना कि दक्षिण भारत की लिपियों का विकास भी उसी 'ब्राह्मी' से है, जिससे नागरी का।

लगभग सौ वर्ष पहले कलकत्ता-हाईकोर्ट के जस्टिस श्री शारदाचरण मित्र महोदय ने एक बहुत बड़ा राष्ट्रीय एकता का उद्योग किया था! वे चाहते थे कि भारत भर की सब भाषाओं की एक ही लिपि रहे और इसके लिए उन्होंने 'नागरी' को चुना था। मित्र महोदय ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति इस महोद्योग में लगा दी थी। उन्होंने 'एकलिपि-विस्तार परिषद्' नाम की एक संस्था कलकत्ते में स्थापित की थी और उसके द्वारा जन्म भर उद्योग करते रहे कि किसी तरह नागरी लिपि देश स्वीकार कर ले। उन्होंने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक मासिक पत्र भी निकाला था, जिसमें सभी भारतीय भाषाओं के लेख नागरी लिपि में प्रकाशित होते थे। देश का दुर्भाग्य, मित्र महोदय का उद्योग सफल न हो सका! अब आज-कल फिर चर्चा उठ रही है कि नागरी लिपि को सभी भारतीय भाषाओं की सामान्य-लिपि बना दिया जाए; जैसे योरोपीय भाषाओं की एक लिपि रोमन है। पता नहीं, आगे क्या होगा!

नागरी लिपि पुरानी 'ब्राह्मी' लिपि का रूपान्तर है, ऐसा कहा जाता है। 'नागरी' नाम पड़ने के अनेक कारण बताए जाते हैं। मैं तो समझता हूँ, देश की राष्ट्रभाषा किसी समय जो प्राकृत थी, उसका नाम 'नागर' था। वह

'नागर-भाषा' या 'नागरी भाषा' जिस लिपि में लिखी जाती थी, उसे भी लोग 'नागरी' कहने लगे। जो भी हो, इस लिपि का नाम 'नागरी' है।

इसकी लिखावट में कुछ परिवर्तन करने के उद्योग हुए हैं, हो रहे हैं। इस पर भी विचार करना चाहिए।

नागरी-लिपि का विस्तार करने की दिशा में इधर एक बहुत बड़ा काम हुआ है—नागरी लिपि में तार भेजने की सुविधा। इसे लोग 'हिन्दी में तार भेजने की व्यवस्था' कहते हैं, जो गलत है। हिन्दी में तार तो पहले भी दिए जाते थे। मै सन् १६२६ में लखनऊ ('माधुरी'-कार्यालय में) था। एक दिन सम्पादक जी (पं० कृष्णबिहारी मिश्र) ने श्री रामदास गौड़ एम० ए० का भेजा हुआ एक तार दिखाया। रोमन लिपि में टाइप किया हुआ था। लिखा था 'लेख वापस भेजिए संशोधनार्थ।' इसकी देखा-देखी मैने अपने भतीजे के विवाह पर बधाई का तार भाई साहब को भेजा, हिन्दी में। सन् १६३५ की बात है। केवल 'बधाई' शब्द लिखा था, रोमन में। कानपुर तार पहुँचने पर लोग समझ न पाए कि क्या है! अंग्रेजी की 'डिक्शनरी' सब उलटते-पलटते रहे! कुछ पता न चला। तब तार देकर पूछा—'क्या बात है? तार समझ में नहीं आया'। यह रोमन-लिपि की अनिवार्यता अब हट गई है। नागरी लिपि में आप हिन्दी, संस्कृत, बँगला, गुजराती आदि चाहे जिस भाषा मे तार दे सकते हैं, जहाँ उसकी व्यवस्था है। यही नहीं, अंग्रेजी भाषा का भी तार नागरी लिपि में दे सकते हैं, साफ पढ़ लिया जाएगा—'कम सून' 'सैंड मनी' आदि। रोमन लिपि में हिन्दी-शब्द जिस गड़बड़ी में पड़ते थे, उसमें नागरी लिपि अंग्रेजी-शब्दों को नहीं डालती। 'नागरी तार-प्रणाली' आगरे के तार-कार्यालय में तीन-चार उद्योगी कर्मचारियो ने अपने बल-बूते पर प्रकट की। सरकारी काम पूरे समय करके वे लोग आठ-आठ घंटे इस काम में जुटे रहते थे। जब वे अपने उद्योग में सफल हो गए, तो उच्च अधिकारियों को सूचित किया और सरकार ने यह प्रणाली आंशिक रूप से स्वीकार करने की कृपा की! उन स्वनामधन्य कर्मचारियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए। मै उनके नाम भूल गया हूँ। पता लगा कर फिर कभी लिखने का यत्न करूँगा। नागरीप्रचारिणी (सभा) काशी तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग) में उन देश-प्रेमियों के तैल-चित्र लगने चाहिए।

परन्तु बार बार शिकायत की जा रही है-'हिन्दी तार-प्रणाली' से लोग लाभ नहीं उठा रहे हैं !' इसके लिए जरूरी है कि जहाँ-जहाँ नागरी-तार-प्रणाली जारी कर दी गई है, वहाँ साधारणतः रोमन में तार देने की व्यवस्था बन्द कर दी जाए। अंग्रेजों ने रोमन का प्रचार अपीलों के द्वारा नहीं किया था। हाँ, विदेशों में जाने वाले तार रोमन लिपि में लिए ही जाएँगे।

अब नागरी-लिपि की लिखावट में कुछ हेर-फेर करने का जो प्रयत्न चल रहा है, उसे भी एक नजर देख लीजिए।

'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' (वर्द्धा) ने लिखावट में कुछ हेर-फेर किया है। इस के पहले लोकमान्य तिलक ने इस सम्बन्ध में कुछ उद्योग किया था। वर्धा-प्रणाली इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, इन पृथक् वर्ण-संकेतों की जगह 'अ' में ही मात्राएँ लगा कर 'अि' 'अी' 'अु' 'अू' 'अे' 'अै' रूप में उन स्वरों को प्रकट करती है। इस प्रणाली का बहुत प्रचार हो गया है; परन्तु फिर भी अधिकांश हिन्दी-जगत् ने इसे स्वीकार नहीं किया है; यद्यपि पहले से ही चल रहे 'ओ' तथा 'औ' के संकेत उसके पक्ष में हैं।

इधर उत्तरप्रदेश सरकार ने एक और नई लिखावट अपनाई है। 'विद्यार्थी' को इस लिखावट में 'वीद्‍यार्‍थी' लिखा जाता है। इस लिखावट का लोगों ने बहुत विरोध किया है। पता नहीं, यह स्थायी चीज होगी, या समाप्त हो जाएगी। जनता ने इसे ग्रहण नहीं किया। बड़ा विरोध हुआ। अब इस पर सरकार फिर से विचार करने वाली है।*

भाषा से लिपि एक पृथक् विषय है और हमारा प्रतिपाद्य विषय भाषा से ही सम्बन्ध रखता है। इस लिए, इसे यहाँ बढ़ाना उचित नहीं। हिन्दी नागरी-लिपि में लिखी जाती है; इस लिए साधारण चर्चा कर दी गई।

हिन्दी-राष्ट्रभाषा के रूप में

हमारी राष्ट्रीय एकता का एक सुदृढ़ आधार (कुछ लोगो में) संस्कृत भाषा को ही कदचित् उस समय विदेशी शासकों ने पाया, जब कि उनका यहाँ प्रवेश हुआ। सम्भवतः प्राकृत परम्परा की कोई भी जनभाषा उस समय ऐसी

---

* इसी पिछले नवंबर (१६५७) में सरकार ने अपना वह 'लिपि-सुधार' वापस ले लिया।

न थी, जो सामान्यतः सम्पूर्ण राष्ट्र में समझी-बोली जा सकती हो। मुसलमानी शासन पश्चिमोत्तर दिशा से आया। दिल्ली पहुँच कर जब वहाँ वे (विदेशी शासक) जम गए, तो जनभाषा (खड़ी बोली) से काम पड़ा। दिल्ली और मथुरा जिले आपस में मिलते हैं—एक जगह 'खड़ी-बोली' और दूसरी जगह ब्रजभाषा है। मध्य रेखा बीच में है, जहाँ 'आ' तथा 'ओ' दोनो का सम्मिलन हो गया है। इसके इधर-उधर दोनों भाषाओं का अपना-अपना क्षेत्र है।

रहते-रहते मुसलमान शासक 'खड़ी-बोली' से अच्छी तरह परिचित हो गए; क्योंकि क्रियाएँ तथा संज्ञा–विभक्तियाँ आदि एकदम सीधे रास्ते चलती हैं। परन्तु किसी चीज का नाम याद न पड़ता था, तो वे लोग 'अपने' अभ्यस्त फारसी-अरबी शब्दों का प्रयोग कर देते थे। 'शाक' या 'साग' न याद पड़ा, या न मालूम हुआ, तो कह देते थे–'तरकारी में पानी कम छोड़ना'। 'पानी' और 'छोड़ना' यहाँ के, 'तरकारी' और 'कम' विशेषण अन्यत्र के। उन्हें प्रसन्न करने के लिए भारतीय अधिकारी भी वैसी ही भाषा बोलने लगे! अंग्रेज लोग 'देखो, वो छोटा वाला आम का क्या लेगा' ऐसी हिन्दी जब बोलते थे, तो उनके मातहत भी, उन्हें खुश करने के लिए और साधारण लोगों पर रोब जमाने के लिए, वैसी ही भापा का प्रयोग करते थे! 'काले साहब' इन बातों में प्रसिद्ध थे। खानसामा तथा अर्दली भी वैसी ही 'साहबी' हिन्दी झाड़ते थे! यही स्थिति उस समय थी।

मुसलमान शासक इस देश की यह भाषा अपनी (फारसी) लिपि में लिखने भी लगे। उन्हें दूसरे लोग भी कागज-पत्र उसी लिपि में और उसी भाषा में लिखकर देने लगे। धीरे-धीरे 'खड़ी-बोली' ने एक सर्वथा नया रूप ग्रहण कर लिया और इस 'शाही जबान' का नाम 'उर्दू' रख लिया गया। जैसे-जैसे देश में मुसलमानी शासन फैलता गया, उसके साथ यह उर्दू भी फैलती गई। देश के किसी भी भाग में पहुँच कर मुसलमान शासक पहले उर्दू से ही काम चलाते थे। वे सभी प्रान्तीय भाषाएँ सीखने में माथा-पच्ची क्यों करते, जब काम निकल जाता था। कोई बंगाली या दक्षिण-भारतीय भी फारसी-अरबी कैसे समझ लेता? और ये मुसलमान शासक भारत की उन भाषाओं को कठिन समझते थे। दिल्ली ने सबको उर्दू सिखा ही दी थी। 'करता' 'जाता' आदि क्रियाओं के मूल अंश तथा अधिकांश संज्ञाएँ सब सरलता से समझ लेते थे। इस तरह हिन्दी को (उर्दू के रूप में) इस राष्ट्र की सामान्य भाषा के रूप में मुसलमान शासकों ने सब से पहले प्रवृत्त किया।

राजकाज में तो हिन्दी इस विदेशी परिधान में चली-पनपी; परन्तु कट्टर राष्ट्रवादी लोग विदेशी लिपि तथा विदेशी शब्दों के पुट से उद्वेजित हुए! लोगों ने इस 'उर्दू' को मुसलमानी भाषा समझा और इससे दूर रहे! ऐसे लोगों ने नागरी लिपि में ब्रजभाषा को महत्त्व दिया। सूरदास की वाणी भारत भर में पहुँच गई। तुलसी के 'रामचरित-मानस' ने धार्मिक जनता में व्यापक प्रवेश किया। बंगाली वैष्णवों ने ब्रजभाषा में कविता की। महाराष्ट्र के सन्त नामदेव ने और गुजरात के नरसी मेहता ने ब्रजभाषा में उपदेश दिया। इन सन्तों की वाणी उसी तरह उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, मध्य भारत, विन्ध्य प्रदेश तथा राजस्थान आदि में समादृत हुई, जिस तरह महाराष्ट्र-गुजरात में। सन्त कबीर की वाणी ने भी राष्ट्रीय रूप धारण किया। इनकी भाषा अवधी, ब्रजभाषा तथा खड़ी-बोली की 'त्रिवेणी' समझिए। जन्मना मुसलमान होने के कारण खड़ी-बोली (उर्दू), व्यापक प्रचार के कारण ब्रजभाषा और उनकी अपनी बोली 'अवधी' या बिहारी। यह संगम भी अपना एक पृथक् रूप रखता है। पंजाब के महान् सन्त गुरु नानक देव कबीर-वाणी से बहुत प्रभावित हुए। 'गुरु-ग्रन्थसाहब' मे यद्यपि नामदेव, नरसी, सदन आदि सभी सन्तों की वाणी संगृहीत है; परन्तु कबीर को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। गुरु गोविन्द सिंह स्वयं अच्छे कवि थे। आप ने ब्रजभाषा में वीर-रस की कविता की और पंजाब को फिर से वीर-प्रदेश बना दिया। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी—

'जो चिड़ियों को बाज बनाऊँ
तौ गुरु गोविन्द सिंह कहाऊँ।'

इस तरह मुसलमानी शासन-काल में उर्दू राजाश्रय से और ब्रजभाषा धर्माश्रय से देश भर में पहुँची। महाकवि भूषण ने ब्रजभाषा में वीर-रस की कविता करके महाराष्ट्र के साथ सम्पूर्ण देश को जागरण दिया। यों द्विविध रूप से हिन्दी ने उस समय राष्ट्रभाषा का रूप ग्रहण किया।

जब मुसलमानी शासन उखड़ा और अंग्रेजी शासन जमा, तब भाषा-समस्या ने पलटा खाया। राजसत्ता का आश्रय हट जाने से उर्दू की वह स्थिति न रह गई। इधर विचारकों ने प्रकट किया कि उर्दू कोई विदेशी भाषा नहीं है, इस देश की अपनी भाषा है। यदि इस से अनावश्यक विदेशी भाषाओं के शब्द हटा दिए जाएँ और इसे नागरी लिपि में लिखा जाए,

साथ ही गृहीत विदेशी शब्दों को अपने व्याकरण के अनुसार चलाया जाए, तो यह निश्चित रूप से अपनी ही भाषा है। ऐसा उद्योग प्रारम्भ हुआ। अनावश्यक विदेशी भाषा का शब्द-समूह हटा दिया गया; जो शब्द स्वारस्य से रम-खप गए थे, उनका प्रयोग हिन्दी-व्याकरण के अनुसार किया जाने लगा और लिपि नागरी बरती जाने लगी—तो उर्दू बन गई हिन्दी। इसी बात को लेकर लोगों ने लिख दिया है कि 'उर्दू से हिन्दी बनी है!' यदि किसी भारतीय बालिका को ईरानी वेश-विन्यास में कर के बुर्का ऊपर डाल दिया जाए और नाम उसका 'सरोज' से 'गुलशन' जैसा कुछ कर दिया जाए, तो सचमुच वह कुछ विदेशी-सी जँचने लगेगी! परन्तु फिर उसका वह विदेशी-परिधान तथा नाम बदल कर सब कुछ पूर्ववत् कर दिया जाए, तो क्या यह कहा जाएगा कि 'ईरानी लड़की को हिन्दुस्तानी बना लिया गया'? हाँ, कहा भी जा सकता है। वह कुछ विदेशी-सी बन गई थी; अब फिर हिन्दुस्तानी बन गई।

इस तरह अंग्रेजी शासन-काल में हिन्दी को लोगों ने अपनाया। अब इस में साहित्य-निर्माण की चर्चा होने लगी। इसके प्रति लोगों में आत्मीयता बढ़ने लगी।

'भारतेन्दु' का उदय

आगे चल कर काशी में 'भारतेन्दु' का प्रादुर्भाव हुआ। इस समय हिन्दी की गंगा तरंगित हो रही थी। देश भर में एक नव जागरण था। भारतेन्दु (बाबू हरिश्चन्द्र) ने दूर-दूर के हिन्दी-प्रेमियों को (हिन्दी के साहित्यिकों को) अपनी ओर आकर्षित किया। एक प्रेम-संगठन हो गया। इस संगठन में जादू का असर था। हिन्दी के रूप में राष्ट्रीयता का उदय हो रहा था। अंग्रेज बड़ा दूरदर्शी होता है। वह विरोध के तरीके जानता है। भेद पैदा कर देना उसे खूब आता है।

उस समय राजा शिव प्रसाद साहब उच्च राजकर्मचारियों में थे। शिक्षा विभाग पर राजा साहब का प्रभाव था। आपकी सेवाओं से प्रसन्न होकर सरकार ने 'राजा' तथा 'सितारे-हिन्द' के खिताब दे रखे थे। राजा साहब ने हिन्दी के स्थान पर 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन किया—

'न खास हिन्दी, न खास उर्दू,
ज़बान गोया मिली-जुली हो।'

हिन्दी के उदयकाल में यह भेद बड़ा भयानक आया। राजसत्ता 'हिन्दुस्तानी' के पक्ष में थी; शायद भेद डाल कर शक्ति क्षीण करने के लिए ही! इधर भारतेन्दु-मण्डल ने हिन्दी का पक्ष लिया। इसी संघर्ष में विजयी होने पर जनता ने बाबू हरिश्चन्द्र को 'भारतेन्दु' पद से विभूषित किया। राजा साहब 'भारत के नक्षत्र' (सितारे हिन्द) बनाए गए सरकार की ओर से, तो जनता ने अपने प्रिय नेता को 'भारतेन्दु' बना दिया!

उस समय जनता की विजय हुई, हिन्दी का पक्ष ही देश ने ग्रहण किया। परन्तु शासक-वर्ग अपनी उसी ('हिन्दुस्तानी' की) धुन में रहा।

भारतेन्दु ने हिन्दी की नींव गहरी लगा दी थी, जिस पर आगे चल कर 'काशी नागरी-प्रचारिणी सभा' का विशाल भवन खड़ा हुआ। 'सभा' ने सन् १९१० में 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' को जन्म दिया। अब देश में हिन्दी की दो संस्थाएँ हो गईं और इनमें काम का बँटवारा-सा हो गया। आगे 'सभा' ने हिन्दी-साहित्य के विविध अगों को पूर्ण तथा बलिष्ठ बनाया और 'सम्मेलन' ने प्रचार का काम सँभाला। जिन प्रदेशों को लोग 'हिन्दी-भाषी' कहते हैं, वहीं नहीं; कलकत्ता, बम्बई; मदरास, इन्दौर, नागपुर, कराची, लाहौर आदि में 'सम्मेलन' के वार्षिक अधिवेशन धूमधाम से हुए। हिन्दी के रूप में राष्ट्रीयता सर्वत्र पहुँच रही थी। विभिन्न अहिन्दी-भाषी प्रदेशोंने 'सम्मेलन' के अधिवेशन अपने यहाँ बुला कर हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्पष्टतः स्वीकार किया। इस प्रवृत्ति में न कोई दबाव, न प्रभाव! केवल राष्ट्रीय भावना का जोर। राजर्षि टंडन, महात्मा गान्धी को भी 'सम्मेलन' में ले आए और तब इसका प्रभाव-क्षेत्र सहस्रगुण बढ़ गया।

इधर स्वराज्य-आन्दोलन भी बढ़ता जा रहा था और धीरे-धीरे हम विजयी होते जा रहे थे। जब स्वराज्य समीप आने लगा, तो एक बार फिर 'हिन्दुस्तानी' की आवाज जोर से उठी—'राष्ट्रभाषा मिली-जुली 'हिन्दुस्तानी' हो और वह दोनो (नागरी तथा फारसी) लिपियों में चले।' भाषा के स्वरूप पर उतना झगड़ा न था, जितना इस बात पर कि देश में सबको फारसी लिपि भी अनिवार्यतः सीखनी पड़ेगी। इस लिपि की दुरूहता तथा भ्रमजनकता सर्व-विदित है। 'सम्मेलन' अपने हिन्दी-नागरी के मार्ग पर बढ़ता गया और देश स्वागत करता गया।

सन् १९३७-३८ में ('प्रान्तीय स्वराज्य' आने पर) फिर जोर से 'हिन्दुस्तानी' की लहर चली। भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में कांग्रेसी-मन्त्रिमण्डल

थे। बिहार के शिक्षा-विभाग ने इस समय जो बच्चों के लिए पाठ्य-पुस्तकें बनवाईं, उनमें 'हिन्दुस्तानी' का रूप ऐसा रखा गया कि लोग क्षुब्ध हो गए! 'बेगम सीता' 'बादशाह दशरथ' 'उस्ताद वशिष्ठ' शब्द सामने आए! काशी में 'हिन्दी साहित्य-सम्मेलन' का जो अधिवेशन उन दिनों हुआ, उस में एक बिहारी सज्जन ने ही इस संबन्ध में बिहार सरकार के प्रति निन्दा का प्रस्ताव रखा। चर्चा चली। मंच पर वहाँ देशरत्न बाबू (अब 'डाक्टर') श्री राजेन्द्र प्रसाद जी भी विद्यमान थे। उन्होंने 'बेगम सीता' आदि पर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया और इन पुस्तकों को हटवा देने का वचन दिया। फलतः वह प्रस्ताव वापस ले लिया गया।

यह स्थिति उस समय थी। आगे चल कर देश स्वतंत्र हुआ। अब भी राष्ट्रभाषा के पद पर 'हिन्दी' हो, या 'हिन्दुस्तानी'; इस विषय में बड़ा गम्भीर समुद्र-मन्थन हुआ; परन्तु अन्ततः संविधान में 'नागरी में लिखी हिन्दी' ही राष्ट्रभाषा स्वीकृत हुई।

यह है संक्षेप में, हिन्दी के राष्ट्रभाषा बनने की कहानी। विस्तार से इस विषय को हमने 'राष्ट्रभाषा का इतिहास' नाम के ग्रन्थ में लिखा है। जो रुचि रखते हों, वहीं पढ़ें।

हिन्दी का परिष्कार

अंग्रेजी शासन के प्रारम्भ में ही हिन्दी विदेशी परिधान से तो दूर हो गई—उर्दू से हिन्दी रूप पृथक् हो गया; परन्तु स्वरूप में निखार न आया! नया-नया काम था। लोग 'हुए' को 'हुये' तथा 'हुवे' लिखते रहे; विभक्तियों का प्रयोग भी ठीक न होता था। 'को' की जगह 'का' और 'का' की जगह 'को' भी चलता रहा। 'पुस्तक को लाओ' जैसे प्रयोग भी होते रहे। जो उर्दू के विद्वान् हिन्दी लिखने लगे, उनके पूर्व-संस्कार छूटे न थे; इसलिए 'मुंशियाना हिन्दी' लिखने लगे! संस्कृत के पंडितों की हिन्दी में 'पंडिताऊपन' भी रहा। धीरे धीरे यह सब ठीक हो गया और सन् १९०१ से १९२० तक आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने तथा उनके सहयोगियों ने भाषा-परिष्कार का वह काम किया कि देश उन का सदा ऋणी रहेगा। 'द्विवेदीयुग' नाम से हिन्दी का यह युग प्रसिद्ध है।

'परिष्कार' का मतलब यह नहीं है कि भाषा के स्वरूप में कुछ खराबी आ गई थी, जिसे ठीक किया गया। ऐसा नहीं है। भाषा तो स्वतः शुद्ध है। उसमें जो ऊपरी विकार लोगों के प्रमाद से आ गए थे, उन्हें हटा दिया गया; बस ! गेहूँ बढ़िया हैं, परन्तु उनमें किसी कारण विजातीय पदार्थ राई-सरसों आदि मिल गए; या रेत-कंकड़ मिल गए; तो वह सब हटा दिया गया। यही परिष्कार है। हाँ, यदि चने कुछ मिले रहें, तो और बात है। स्वाद बढ़ेगा, बदलेगा। परन्तु ऐसी चीजें न रहने दी जाएँगी, जो स्वाद के साथ स्वास्थ्य भी बिगाड़ें !

आचार्य द्विवेदी ने जब लेखनी-संन्यास लिया, हिन्दी-अभ्युदय का स्वर्णयुग अपनी उषः-आभा दमका रहा था। सहस्रों लेखक अंग्रेजी से हिन्दी की ओर राष्ट्रीय भावना से आ रहे थे। राष्ट्रीय जागरण की वेला थी। १६२५ से १६३५ तक हिन्दी में लेखकों की नई भर्ती बड़े वेग से हुई। ऐसे समय में एक क्या, कई जागरूक पथ-निर्देशकों की जरूरत थी, जो भूले-भटके पथिकों को मदद पहुँचाते, उन्हें भटकने से बचाते। परन्तु हुआ यह कि महान् पथ-प्रदर्शक ने लेखनी-संन्यास ले लिया और अपने गाँव (दौलतपुर-रायबरेली) जाकर एकान्त-वास करने लगा ! भारी थकान थी—अंग-अंग शिथिल हो चुके थे ! इस समय राष्ट्रीय जागरण के कारण संस्कृत की ओर अभिरुचि देश की बढ़ी। हिन्दी-लेखकों का झुकाव उधर हुआ। परन्तु पूरी जानकारी के अभाव में लोग गलत-सलत शब्द-प्रयोग करने लगे ! 'अभिज्ञ' को 'भिज्ञ' लिखा जाने लगा और 'विकसित' के अर्थ में 'मुकुलित' चलने लगा ! इसके साथ ही वाक्य-विन्यास अंग्रेजी के ढँग पर होने लगा, जिससे हिन्दी का रूप नए ढँग से विकृत (अति विकृत) होने लगा ! पत्र-पत्रिकाओं में तथा पुस्तकों में ऐसे भी लंबे-लंबे वाक्य आने लगे, जिनमें सब कुछ तो अंग्रेजी भाषा में तथा रोमन लिपि में और अन्त में केवल क्रिया-पद 'था' 'है' 'होगा' आदि नागरी-हिन्दी में ! इस समय एक दूसरे ही (साधारण) व्यक्ति ने कलम उठाई और भाषा-परिष्कार का कुछ काम किया। पत्र-पत्रिकाओं में उसके लेख देख कर आचार्य द्विवेदी ने अपनी प्रसन्नता प्रकट की, जिससे उसे बल मिला। सन् १९३८-३६ तक उसने ऐसे बीसों लेख लिखे-छपाए और फिर परिष्कार में स्थायित्व लाने के लिए उसने एक पुस्तक ही लिख कर छपवा दी। यह पुस्तक हिन्दी में खूब चली और समादृत हुई। डा० सम्पूर्णानन्द जैसे विद्वानों ने लिखा कि 'इस पुस्तक से मैंने बहुत कुछ

सीखा है।' इसी तरह पं० माखन लाल चतुर्वेदी, डा० अमरनाथ झा तथा श्री मैथिली शरण गुप्त आदि ने इसकी असाधारण उपयोगिता स्वीकार की। इस पुस्तक के प्रसार से हिन्दी की वह विकृति दूर हुई।

इस उद्योग के लगभग १० वर्ष बाद काशी के विद्वद्वर बाबू रामचन्द्र वर्मा ने इधर ध्यान दिया और एक अच्छी पुस्तक आपने हिन्दी-संशोधन पर लिख कर प्रकाशित कराई। इससे भी बड़ा काम हुआ। हिन्दी-जगत् का ध्यान शब्दशुद्धि की ओर एक झटके के साथ आकर्षित हुआ।

परन्तु इस समय एक और प्रकार की विकृति हिन्दी में आने लगी। शब्दशुद्धि के झोंके में लोग यह भूल बैठे कि हिन्दी एक स्वतंत्र भाषा है, वह संस्कृत से अनुप्राणित है, जैसे अन्य भारतीय भाषाएँ; परन्तु वह अपने क्षेत्र में सार्वभौम सत्ता रखती है। हिन्दी की अपनी चाल है, अपनी प्रकृति है। संस्कृत का सब कुछ आँखें बन्द कर के हिन्दी न ले लेगी। कहीं से भी कुछ लेने में एक विवेक रखा जाता है \ इस चीज पर ध्यान न देकर हिन्दी में 'अन्ताराष्ट्रिय' जैसे शब्द चलाए जाने लगे! इस प्रयास में कोई अराष्ट्रीय भावना न थी, न पाण्डित्य का अभाव ही इसमें कारण था, केवल हिन्दी की प्रकृति पर ध्यान न देने के कारण यह उपक्रम था! इस प्रवाह को रोकने का भी उद्योग उसी (साधारण) व्यक्ति ने किया और बहुत जल्दी वह प्रवाह जहाँ का तहाँ रुक गया!

हिन्दी की प्रकृति

यहाँ हिन्दी की प्रकृति समझ लेनी चाहिए। जैसे एक व्यक्ति की प्रकृति होती है, उसी तरह भाषा की भी समझिए। प्रकृति-विरुद्ध कोई चीज यहाँ गृहीत न होगी।

एक उदाहरण लीजिए। संस्कृत में 'विस्तर' तथा 'विस्तार' ये दो शब्द एक ही धातु के एक ही अर्थ में चलते हैं। विषय-भेद से प्रयोग-भेद है। शब्द-संबंधी विस्तार के लिए संस्कृत में 'विस्तर' चलता है—'तत्तु मया विस्तरेण प्रोक्तम्'। यहाँ 'विस्तरेण' की जगह 'विस्तारेण' न रखा जाएगा, गलत हो जाएगा। परन्तु हिन्दी में इस संस्कृत-वाक्य का अनुवाद होगा-'वह तो मैंने विस्तार से कह दिया है'। यहाँ 'विस्तर से' करें, तो हिन्दी गलत हो जाएगी। संस्कृत में शब्द-संबन्धी विस्तार से अन्यत्र 'विस्तार' शब्द चलता है-'वनस्य विस्तारः'-

चन का विस्तार, 'देशस्य विस्तारः'—देश का विस्तार आदि। परन्तु 'शब्द-विस्तरः' और 'ग्रन्थ-विस्तरः'। यहाँ 'विस्तारः' नहीं। हिन्दी ने सर्वत्र 'विस्तार' ही रखा है—'विस्तर' नहीं लिया। ऐसा क्यों ? इस लिए कि हिन्दी ने सरल मार्ग अपनाया है। कहीं 'विस्तर' और कहीं 'विस्तार' करने से कठिनाई बढ़ती, भ्रम भी बढ़ता। सभी संस्कृत-व्याकरण नहीं पढ़ते। ऐसा होता, तो फिर हिन्दी का जन्म ही न होता। 'विस्तर' ले लेने पर लोग शब्द-संबन्धी 'प्रकार' को 'प्रकर' भी लिखने लग जाते! 'सब प्रकर से समझा दिया है' ऐसे प्रयोग भी संभावित थे। तब हिन्दी की क्या दशा होती ? 'राष्ट्रिय' देख कर लोग 'केन्द्रिय' तथा 'प्रदेशिय' आदि लिखने ही लगे थे ! प्रवाह चलता है, गलत या सही ! फिर उसे रोकना कठिन काम ! परन्तु वह उपक्रम तुरन्त दबा दिया गया। एक ही व्यक्ति ने उसे रोक दिया ! यों एक तूफान दब गया। हिन्दी को विकृत कर देता, यदि जहाँ का तहाँ दबा न दिया जाता।

हिन्दी ही नहीं, सभी भाषाओं की अपनी प्रकृति होती है। उसे कोई व्याकरण क्या, महाव्याकरण भी बदल नहीं सकता। पाणिनि-व्याकरण 'विश्रम' शब्द शुद्ध-सिद्ध बतलाता है; परन्तु चल रहा है 'विश्राम' अधिक ! हिन्दी ने तो 'विश्रम' कतई लिया ही नहीं। 'विश्रम' न लेने में भी वही कारण है, जो 'विस्तर' न लेने में ! हाँ, 'श्रम' चलता है, 'क्रम' चलता है।

इसी तरह 'राष्ट्रिय' तद्धित शब्द हिन्दी ने नहीं लिया। भारतीय, जातीय, केन्द्रीय, प्रान्तीय आदि की बिरादरी में 'राष्ट्रिय' क्या अच्छा लगता ? भ्रम से लोग दूसरे शब्दों को भी गलत लिखने लगते, जैसा कि देखने में आने लगा था। तब फिर उसका परिष्कार करने में एक युग लग जाता ! इसीलिए हिन्दी ने 'राष्ट्रिय' न लेकर 'राष्ट्रीय' ही ग्रहण किया। संस्कृत में 'राष्ट्रिय' तथा 'राष्ट्रीय' दोनो शब्द बनते हैं। प्रयोग दोनों का पृथक्-पृथक् श्रुत है। राजा के साले को 'राष्ट्रिय' कहते थे—'राजश्यालस्तु राष्ट्रियः' (अमरकोश)। विशेषण आदि में 'राष्ट्रीयं धनम्' चलेगा। इस भेद को न समझ कर लोगों ने हिन्दी में 'राष्ट्रिय भाषा' लिखना शुरू कर दिया था, जो कि इसकी प्रकृति के विरुद्ध था। इसी लिए न चल सका। और मान लीजिए, संस्कृत में 'राष्ट्रीय' नहीं, सर्वत्र 'राष्ट्रिय' ही चलता है। यह भी मान लीजिए कि अमर सिंह ने गलत लिख दिया कि राजा के साले को 'राष्ट्रिय' कहते हैं। यह सब सही; परन्तु फिर भी हिन्दी 'राष्ट्रिय' न लेगी; इस लिए कि सरलता का प्रवाह भंग होगा

और लोग इधर-उधर भटक कर 'केन्द्रिय' जैसे गलत प्रयोग करेंगे; जैसा कि करने लगे थे। हिन्दी को यह पसन्द नहीं; इसी लिए इसने 'विस्तर' ग्रहण नहीं किया। यदि संस्कृत का एकान्त आग्रह किसी हिन्दी-विद्वान् को हो, तो उसे फिर 'विस्तर से' अपने मन की बात बतानी होगी और हमारे इस विस्तार से प्रतिपादित मत का खंडन करना होगा। जब हिन्दी 'विस्तर' ग्रहण कर लेगी, तब 'राष्ट्रिय' के साथ 'राजनीतिक' भी ले लेगी। अन्यथा, 'राष्ट्रीय' तथा 'राजनैतिक' ही विशेषण यहाँ चलेंगे। यह न हो सकेगा कि 'नैतिक' एक जगह लोग लिखें और दूसरी जगह 'नीतिक' लिखें। हिन्दी का सीधा रास्ता है। संस्कृत का 'अभिलाष' ही हिन्दी में 'अभिलाषा' है और 'दार' यहाँ 'दारा' है। क्या 'अभिलाषा' और 'दारा' हिन्दी में गलत हैं ?

इसी तरह हिन्दी ने संस्कृत की प्रायः सब सन्धियाँ ज्यों की त्यों अपना कर भी 'रो रि' तथा 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः'—वाली संस्कृत-सन्धि ग्रहण नहीं की है। संस्कृत के 'ज्ञानेन्द्र' 'सुधोपम' आदि शब्द-प्रयोग यहाँ बराबर चलते आए हैं, चल रहे हैं और प्रलय-पर्य्यन्त चलते रहेंगे; परन्तु 'पुनारचना' या 'अन्तारमण' यहाँ न चलेंगे। वे प्रयोग हिन्दी-प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं। यहाँ 'पुनर्रचना' तथा 'अन्तर्रमण' ही चलेंगे। अन्यथा, 'पुनर्निर्माण' लिखिए, 'अन्तः-रमण' लिखिए। परन्तु 'पुना' तथा 'अन्ता' यहाँ न चलेंगे। 'पुनः-रचना' चल सकता है।

हिन्दी सर्वत्र संस्कृत-नियमों से बँधी नहीं है। संस्कृत में जहाँ 'दीनबन्धु' चलता है, हिन्दी ने वहाँ 'दीनानाथ' भी स्वीकार किया है-'दीनबन्धु, दीनानाथ, मेरी सुध लीजिए।' यह 'दीनानाथ' संस्कृत-व्याकरण के किस सूत्र से सिद्ध है ? क्या इस की जगह कोई 'दीननाथ' चला सकता है ? या हिन्दी से 'दीनानाथ' कोई हटा सकता है ? इसी तरह 'मूसलाधार' तथा 'सत्यानाश' जैसे शब्द हैं। क्या ये संस्कृत-व्याकरण से 'शुद्ध' हैं ? और क्या हिन्दी में इन्हें कोई अशुद्ध कह कर 'मूसलधार' लिख सकता है ? संस्कृत में जैसे 'विश्वामित्र' बन गया, उसी तरह हिन्दी में 'दीनानाथ' तथा 'मूसलाधार' बन गए। अपना-अपना क्षेत्र है।

यह भाषा की प्रकृति ही है कि संस्कृत के 'मूर्द्धन्य' जैसे क्लिष्ट शब्द सादर ग्रहण करती है, परन्तु विदेशी भाषा के 'हास्पिटल' जैसे उच्चारण-क्लिष्ट शब्दों को 'अस्पताल' जैसा कोमल रूप देकर अपनाती है। 'जरूर' हिन्दी में चलता जरूर है, परन्तु तद्भव रूप में-'ज़रूर' तद्रूप नहीं। कारण, 'जरूर' में 'ज'

का उच्चारण हम 'जलज' के 'ज' जैसा ही करते हैं। हम लोगों के गले खड़-खड़ाहट के साथ नहीं बोलते। ईरान आदि में वैसा उच्चारण जरूर है, जहाँ हमारा 'खर' भी 'ख़र' उच्चरित होता है। हिन्दी में फारसी आदि के जो शब्द खप गए हैं, वे हिन्दी-उच्चारण में ही चलते हैं। कुछ लोग 'ज़रूरत' 'बाज़ार' 'फ़ायदा' जैसे प्रयोग हिन्दी में पहले करते थे–'मुंशियाना तर्ज पर'; परन्तु अब वह बात नहीं रही। अब नीचे बिन्दी दिए बिना वे सब शब्द तद्भव रूप में चलते हैं। हाँ, उर्दू-फारसी का कोई पद्य-आदि उद्धृत करना हो, तब नीचे बिन्दी दे-दे कर तद्रूप शब्द अवश्य लिखने होंगे। इसी प्रकार अंग्रेजी-वाक्य नागरी लिपि में उद्धृत करते समय 'हास्पिटल' लिखा जाएगा– मेम साहब ने कहा–'आई एम गोइंग नाउ टू द हॉस्पिटल'। दूसरी भाषाओं में भी ऐसा ही होता है। हमारी 'गंगाजी' अंग्रेजी में 'गेंजिज' हैं। परन्तु रोमन-लिपि में जब संस्कृत या प्राकृत लिखी जाएगी, तब 'गंगा' शब्द ही लिखा जाएगा, 'गेंजिज' नहीं–'Sa Ganga Hari-Dware'– सा गंगा हरिद्वारे'। यहाँ 'गेंजिज' न रहेगा। हिन्दी में हम 'दीनानाथ' लिखते हैं। 'दीन' और 'नाथ' दोनों ही तद्रूप संस्कृत शब्द हैं। परन्तु संस्कृत में हम 'दीनानाथ' कभी भी न लिखेंगे, बड़ी गलती होगी, ऐसा वहाँ लिखना। ठीक वैसी ही गलती, जैसी कि हिन्दी में 'विंस्तर' और 'राष्ट्रिय' चलाना।

सो, प्रत्येक भाषा की अपनी प्रकृति होती है, अपनी चाल होती है। उसके विरुद्ध कोई जा नहीं सकता। हिन्दी में 'ज़रूरत' आदि तद्रूप फारसी शब्दों का प्रयोग अब कहाँ होता है? कोई समय था, जब बड़े-बड़े महारथी वैसे प्रयोग करते थे। परन्तु हिन्दी की प्रकृति ने उसे स्वीकार न किया। इस प्रकृति को लोग पहले भी पहचानते थे। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने इस सम्बन्ध में जो कुछ लिखा था, उसका कुछ अंश देखिए:–

"हिन्दी में खाली 'ज' होता है और उर्दू में (फारसी के) 'जीम' 'जाल' 'जे' और बड़ी 'जे' 'ज्वाद' और 'जोय'। 'जीम' के सिवा इन सब उर्दू-अक्षरों का उच्चारण 'ज़े' के उच्चारण के तुल्य होता है। 'ज़े' का उच्चारण जिह्वा के ऊपर दाँतों के साथ मिलने से होता है। हिन्दी में वैसा उच्चारण नहीं; क्योंकि वास्तव में 'ज़े' (ज़) का उच्चारण 'जीम' (ज) का ही विकार है। वह फारसी वालों के कंठ की खराबी के सिवा और कुछ नहीं। उस खराबी को हिन्दी में धँसाने से क्या लाभ ?

'जे-जाल' की खराबी उर्दू में यहाँ तक है कि बहुत लोग वर्षों शिक्षा पाने तथा लुगातों (शब्द-कोशों) को कीड़ों की तरह चाट जाने पर भी 'जे-जाल' का भेद ठीक-ठीक नहीं जान पाते ! कितनी ही बार वे इस झगड़े में पड़ते हैं कि अमुक शब्द 'जाल' से है, या 'जे' से ! जब स्वयं उर्दू जानने वालों की (उर्दू में ही) यह हालत है, तो फिर हिन्दी को पराए काँटों में क्यों घसीटा जाए ? 'लज्जत' 'जाल' से होती है, 'लाजिम' 'जे' से और 'जरूर' 'ज्वाद' से और 'जाहिर' 'जोय' से ! हिन्दी में 'ज' के नीचे बिन्दी लगा देने से क्या सब का उच्चारण 'शुद्ध' हो जाएगा ? इससे 'जाल' 'ज्वाद' और 'जोय' की क्या पहचान रही ? यदि 'जाल' 'ज्वाद' 'जोय' में फर्क करना मंजूर नहीं, तो 'ज' के नीचे बिन्दी लगाने की जरूरत नहीं और यदि उन सब में भेद समझा जाता है, तो फिर 'जाल' 'ज्वाद' 'जोय' की भी कुछ पहचान रखनी चाहिए। हमारा प्रश्न है कि इस बिन्दी से उर्दू न जानने वालों का क्या उपकार होता है ? वे कैसे जानेंगे कि किस शब्द के नीचे बिन्दी लगानी चाहिए। क्या बिन्दी लगा-लगा कर उनके लिए उर्दू-शब्दों का कोश तयार कर दिया जाएगा और हिन्दी वाले उस कोश को 'मियां मिट्ठू' की तरह दिन भर रटा करेंगे ? यदि ऐसा होगा, तो खुदा के फजल से हिन्दी उर्दू से भी सरल हो जाएगी और तीन महीने की जगह 'तीन-तीए' नौ वर्षों में सीखी जाएगी ! और, यदि उर्दू न जानने वालों को बिन्दी लगानी ठीक से न आएगी, तो हिन्दी में लबड़धोधों मच जाएगी ! कोई बिन्दी लगाएगा, कोई नहीं लगाएगा। वृन्दावन-निवासी पण्डित राधाचरण गोस्वामी ने नागरीदास-कृत 'इश्क-चमन' छापा था। उसमें उन्होंने उर्दू शब्दों में खूब (नीचे) बिन्दी की भरमार की थी। यहाँ तक कि जिन शब्दो के नीचे बिन्दी नहीं लगानी चाहिए, उनके नीचे भी लगा दी थी ! स्वर्ग-वासी पण्डित प्रतापनारायण मिश्र उसे पढ़ते-पढ़ते लोट-पोट हो गए थे और कहा था कि 'यह बिन्दी की बीमारी हिन्दी वालों को अच्छी लगी ! यह इनको दूर तक खराब करेगी !'

एक हिन्दी के पंडित 'वकील' में बड़ा 'काफ' बोलते थे। वे समझते थे कि बड़ा 'काफ' बोलने से ही उर्दू हो जाती है ! इसी तरह बिन्दी की बीमारी में पड़ कर उर्दू न जाननेवालों को बड़ी ठोकरें खानी पड़ती हैं।

उर्दू में 'ते' होती है, 'तोय' होती है। दोनों के उच्चारण का भेद हिन्दी में कैसे प्रकट किया जाएगा ? 'से' 'सीन' और 'स्वाद' इन तीनों अक्षरों का

उच्चारण एक-सा ही होता है। इन का भेद हिन्दी में किस तरह प्रकट किया जाएगा ? 'अलिफ' और 'ऐन' का भी कुछ भेद नहीं मालूम पड़ा ! इस प्रकार की घसीटन में हिन्दी को क्यों फँसाया जाए ?"

सन् १६००की १६ ता० के 'भारत मित्र' में गुप्त जी ने ये विचार प्रकट किए थे। गुप्त जी उर्दू-फारसी के बड़े भारी विद्वान् थे; उर्दू के 'कोहेनूर' जैसे पत्रों के सम्पादक रह चुके थे।

'सम्मेलन' के शिमला-अधिवेशन ने अपने एक निर्णय से स्व० गुप्त जी के उपर्युक्त विचारों पर अपनी मुहर भी लगा दी।

मतलब यह कि 'ज' 'फ' आदि के नीचे बिन्दी लगा कर फारसी आदि के तद्रूप शब्द हिन्दी में चलाने का उद्योग व्यर्थ, हानिकर तथा उपहासास्पद भी है। हिन्दीवालों का उच्चारण ही वैसा ही नहीं। फारसीवालों का उच्चारण हमारे उच्चारण से भिन्न है। हाँ, यदि हम फारसी लिखें-पढ़ेंगे, तब वैसा उच्चारण करने का भरसक यत्न जरूर करेंगे।

यही प्रकृति-अनुगमन शब्दों के आदान में भी है। हिन्दी ने कभी संकुचित मनोवृत्ति नहीं रखी है; परन्तु अपना स्वरूप बिगाड़ लेना भी पसन्द नहीं। शब्द तो सभी जगह से हिन्दी ने लिए हैं; लेती ही है। सन् १६०५ में आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' में लिखा था:—

"हिन्दी को कालसह बनाने के लिए बहुत जरूरी है कि इसकी रचना व्याकरण-विरुद्ध न हो और इसमें सिर्फ ऐसे शब्दों का प्रयोग हो, जो विशेष व्यापक हों; अर्थात् जिन्हें अधिक प्रान्तों के आदमी समझ सकें। देश भर में एक भाषा होगी, या नहीं; और होगी, तो कब होगी; यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। परन्तु तब तक हिन्दी को अधिक व्यापक बनाने में लाभ है। इस बात को सभी स्वीकार करेंगे। अतएव हिन्दी के साहित्य में प्रान्तीय (प्रादेशिक) और क्षणभंगुर शब्दों का आना अच्छा नहीं। जो शब्द किसी विशेष प्रान्त के ही लोग समझ सकते हों, उन्हें 'प्रान्तज' और जो किसी कारण-विशेष से थोड़े ही दिनों के लिए उत्पन्न हो गए हों, उन्हें 'क्षणभंगुर' कहते हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग न होना चाहिए। संस्कृत के सरल शब्द और ऐसे विदेशी शब्द, जिन्हें सब लोग समझते हैं, प्रयुक्त होने चाहिए। संस्कृत तक में विदेशी शब्द हैं। शब्द चिरस्थायी और सबके समझने लायक होने चाहिए।"

यह राष्ट्रभाषा का व्यावहारिक रूप है। संक्षेप यह कि अर्थ-बोध तथा हिन्दी का चिरप्रतिष्ठित रूप ध्यान में रख कर शब्दों का ग्रहण-प्रयोग सावधानी से करना चाहिए।

आचार्य द्विवेदी ने व्याकरण-सम्मत भाषा पर जोर दिया है। इस पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए।

व्याकरण और भाषा

'व्याकरण और भाषा' की जगह 'भाषा और व्याकरण' कहना अधिक अच्छा है; क्योंकि पहले भाषा बनती है, तब उसका व्याकरण बनता है। परन्तु यहाँ प्रकृत व्याकरण है, उसी की चर्चा करनी है; इस लिए वैसा शीर्षक दिया गया है—प्रकृत को प्रमुखता।

जब कोई भाषा विकसित होकर पूर्ण हो जाती है, जब वह अपने काम काज में किसी दूसरी भाषा की मुहताज नहीं रहती और उसमें साहित्य-रचना भी होने लगती है, तब उसका व्याकरण बनता है—तब उसके अंग-प्रत्यंग का विश्लेषण-निरूपण किया जाता है। यही व्याकरण है। जैसी भाषा है, उसका ज्यों का त्यों रूप व्याकरण में आना चाहिए। भाषा की चाल को व्याकरण बदल न देगा। यह उसकी शक्ति से बाहर की बात है। व्याकरण लक्ष्य-प्रधान शास्त्र है। जैसा लक्ष्य (शब्द-प्रयोग) लोक-प्रचलित है, उसका वैसा ही लक्षण बनाना पड़ेगा— उसका वैसा ही निरूपण करना होगा। यदि कोई वैय्याकरण अपने पाण्डित्य के दर्प से व्याकरण कुछ का कुछ बना देगा, तो भाषा की प्रकृति उसकी अवज्ञा कर देगी—उसे मानेगी नहीं। महाकवि श्री हर्ष ने बहुत ठीक कहा है:—

भङ्क्तुं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्पम्,
पदप्रयोगाध्वनि एष लोकः।
'शशो यदस्याऽस्ति' 'शशी' ततोऽयम्,
एवं 'मृगोऽस्यास्ति, 'मृगीति' नोक्तम्।

व्याकरण का दर्प-भंग, पद-प्रयोग के मार्ग में, जनता कर देती है! शश जिसके हो, वह 'शशी' कहलाता है। चन्द्रमा 'शशी' नाम से प्रसिद्ध है, जिसे 'शशाङ्क' भी कहते हैं और 'मृगाङ्क' भी। परन्तु 'शशी' की तरह उसे 'मृगी' कोई भी नहीं कहता; यद्यपि व्याकरण से 'मृगी' भी बनता है।

व्याकरण ही नहीं, कोश तथा भाषा-परिष्कार के ग्रन्थ भी यदि इधर-उधर जाएँगे, तो अपनी अवज्ञा करा लेंगे ! संस्कृत के शब्द-कोशों में 'कमल' शब्द पुल्लिंग भी लिखा है; परन्तु लिखा का लिखा रह गया ! सब नपुंसक लिंग में ही उसका प्रयोग करते हैं। कोई कोश-प्रमाण के बल पर 'कमलाः सरोवरे विकसन्ति' लिख दे, तो अपना मजाक़ उड़वाए ! इसी तरह हम हिन्दी-प्रयोग बताने के लिए कोई पुस्तक लिखें और अपनी नई चाल निकाल कर कुछ का कुछ चलाने का प्रयत्न करें, तो वही हाल होगा ! 'राम के सब कुछ है' 'राम का सब कुछ है' और 'सब कुछ राम को है' इन वाक्यों में 'के' 'का' तथा 'को' के कारण जो अर्थ-भेद है, सब समझते हैं। इस तरह अर्थ-भेद समझाने की शक्ति भाषा में जल्दी नहीं आ जाती है—सहस्रों वर्ष लग जाते हैं ! अब इस मात्रा-भेद के झगड़े को हटा कर यदि कोई वैय्याकरण यह नियम बना दे कि 'सर्वत्र' 'का' रहेगा, कहीं भी 'की' या 'को' न होगा, तो उसके नियम की क्या दशा होगी ?

परन्तु हाँ, व्याकरण भाषा का नियमन तब अवश्य कर सकता है, जब कि उसके पास अनुकूल तर्क हो और वह तर्क भाषा की प्रकृति के विरुद्ध न हो। 'प्रमाणवत्वादायातः प्रवाहः केन वार्यते' ?—उस प्रवाह को कौन रोक सकता है, जिसे प्रमाण का बल भी प्राप्त है ! उदाहरण लीजिए।

साधारणतः 'रखना' क्रिया का भूतकाल में प्रयोग करते समय हिन्दी-भाषी जनता प्रायः एक 'क्' का आगम कर लेती है। बोला जाता है-'पुस्तक मेज पर रक्खी है' 'पानी घर में रक्खा नहीं है' इत्यादि। परन्तु 'लिखना' आदि के प्रयोगों में वह बात नहीं। बोला जाता है—'चिट्ठी लिखी है' 'पत्र लिखा है' इत्यादि। तो, इस पर व्याकरण विचार करेगा, सार्वभौम दृष्टि से। देखा जाएगा कि अहिन्दी-भाषी जन जब राष्ट्र-भाषा का प्रयोग करेंगे, तो क्या स्थिति होगी ! क्या सब लोग पहले मेरठ पहुँच कर उच्चारण सुनेंगे और तब कुछ बोलेंगे ? सम्भव नहीं, आवश्यक नहीं। तब फिर वे 'रख' का प्रयोग भी 'लिख' की ही तरह करेंगे न ? वे लिखेंगे -'पानी रखा है'। क्या यह 'रखा' गलत है ? निःसन्देह उस अनियन्त्रित जन-बोली को देखते गलत कहा जाएगा; परन्तु व्याकरण यहाँ अनुशासन करेगा। नियम बनाया जाएगा कि राष्ट्रभाषा में 'पानी रखा' लिखना सही है; 'रक्खा' गलत है। ऐसा नियम बनाने में भाषा का गठन सहायक है—'पत्र लिखा' आदि प्रयोग प्रमाण हैं। धातु 'रख' है, 'रक्ख' नहीं। कोई पुस्तक 'रक्खता' नहीं, सब 'रखते' हैं।

तब यह 'रक्खा' कहीं किसी विकार का परिणाम है; ऐसा कहा जाएगा। जहाँ 'रक्खा' बोला जाता है, चलता रहेगा, चलता रहे! वहाँ 'रखा' को भी उसी तरह पढ़ेंगे। परन्तु राष्ट्रभाषा से वह 'गलस्तन' छूट जाएगा, जैसे कि 'रोट्टी' 'धोत्ती' आदि से अनावश्यक तत्त्व छूट कर 'रोटी' 'धोती' आदि बना लिए गए। बस, इतना अनुशासन व्याकरण करेगा।

इसके अतिरिक्त, व्याकरण यह भी देखेगा कि 'जायगा' 'जायेगा' 'जावेगा' 'जाएगा' आदि साहित्य-प्रचलित रूपों में सही कौन है और गलत कौन। यदि 'जायगा' लोग बोलते-लिखते हैं, तो फिर 'आयगा' क्यों नहीं? 'आयगा' शुद्ध है, तो फिर 'गायगा' क्यों नहीं? फिर तो 'सोयगा' 'धोयगा' आदि भी चलने चाहिए! यह हो नहीं सकता कि उपर्युक्त सभी रूप शुद्ध हों! चलते भी नहीं! तब विचार करना होगा और भाषा की प्रकृति तथा भाषा-विज्ञान के बल पर तर्क उपस्थित करने होंगे। बताना होगा कि इनमें से कौन-सा रूप शुद्ध है और शेष सब क्यों अशुद्ध हैं। अपना पक्ष तर्क से सिद्ध करना होगा। तब साहित्य उस रूप को ग्रहण करेगा। शेष सब छूट जाएँगे। साहित्यिक भाषा में इस तरह के नियन्त्रण व्याकरण कर सकता है; उसे करना चाहिए। और, सच पूछा जाए, तो यहीं उसकी शक्ति देखने को मिलती है।

व्याकरण व्यवस्था यहाँ भी दे सकता है कि 'लिए-लिये' 'चाहिए-चाहिये' आदि द्विविध रूपों में तर्क किस के साथ है। क्या दोनों रूप शुद्ध हैं, या एक? और एक शुद्ध, तो क्यों? इस प्रकार की व्यवस्था व्याकरण करेगा, तब साहित्यिक भाषा का रूप निखरेगा। यहाँ अवश्य ही उच्चारण-भेद नहीं, लिखावट का भेद है और यह निश्चय ही व्याकरण के नियन्त्रण का विषय है।

समास आदि पर भी व्याकरण व्यवस्था देगा। वह देखेगा कि स्वदेश के साथ जब देशान्तर भी सम्मिलित हों, तो उनके बारे में 'अन्तर्देश' शब्द का प्रयोग सही होगा, या 'अन्तर-देश' का? जो 'शब्द' 'अन्तर्गृह' में 'भीतर' या 'भीतरी' अर्थ देता है, वही 'अन्तर्देश' 'अन्तर्विश्वविद्यालय' आदि में 'अन्य' अर्थ भी दे सकता है क्या? दे सकता है, तो फिर 'अन्तर्देशीय पत्र' जो सरकारी लिफाफों पर छपा रहता है, उसका क्या अर्थ होगा? क्या निर्विशेष 'देशीय' शब्द से वह अर्थ निकल सकता है, जो 'अन्तर्देशीय' शब्द

से ? इन सब गड़बड़ों पर व्याकरण को विचार करना होगा और साहित्य में भी चिरप्ररूढ प्रामादिक प्रयोगों का निरसन करके शुद्ध पद्धति देनी होगी।

बस, इसी तरह के अव्यवस्थित प्रयोगों पर व्याकरण अपनी व्यवस्था देगा। अन्यत्र वह कोई हेर-फेर न कर सकेगा। हिन्दी का स्वरूप निखरे लगभग एक सहस्र वर्ष बीत गए। अब यह एक प्रौढ़ भाषा है। इसका गठन बदल दे, ऐसी शक्ति किसी में है नहीं। अमीर खुसरो ने कहा—

'ना काटा ना खून किया,
बीसों का सिर काट लिया'

इस पहेली की भाषा में और आज की हमारी भाषा में क्या अन्तर आ गया है ? 'न' को तो छन्द में आज भी लोग दीर्घ कर देते हैं। तब फिर क्या अन्तर है ? जो भाषा खुसरो बोलते थे, वही आज हम बोल रहे हैं, ठीक उसी रूप में। साहित्यिक भाषा का स्वरूप-गठन सौ-दो सौ, या हजार दो हजार वर्षों में बदल नहीं जाता है। बोल-चाल की जन-बोली बदलने में ही सहस्रो वर्ष लग जाते हैं, तब साहित्यिक भाषा का तो कहना ही क्या ! यदि भाषा का रूप वैसा अस्थिर होता, तो हम अपने पुरखों के अनन्त संचित ज्ञान से क्या लाभ उठा पाते, जो कि अपने शब्दों में बाँध कर वे सुरक्षित कर गए हैं ? ऐसी साहित्यिक और निखरी हुई भाषा का व्याकरण भी बार-बार नहीं बदलता। व्याकरण बदलना पड़े, तो समझिए कि वह ठीक बना ही न था। जिस अंश में गलती रह जाएगी, वही बदलना पड़ेगा। इसमें भाषा का कोई दोष नहीं। पाँच सौ वर्ष पहले भी यदि हिन्दी का शुद्ध व्याकरण बन जाता, तो आज भी वह उसी रूप में चलता। हाँ, यदि कोई नई बात किसी को सूझती, तो और बढ़ जाती। परन्तु उस पूर्ण व्याकरण को कोई बदल न सकता। पाणिनि के पहले बीसों व्याकरण संस्कृत के बने, पर वे सब अब कहाँ हैं ? पाणिनि ने उनके नाम हमें जरूर बता दिए हैं; बस ! वे सब व्याकरण क्यों लुप्त हो गए ? इस लिए कि ठीक-ठीक बने ही न होगे ! केवल पाणिनि का संस्कृत-व्याकरण संस्कृत-जगत् पर शासन कर रहा है। विश्व में ऐसा व्याकरण किसी भी भाषा का कोई आज तक न बना, न बनेगा, जो कि पाणिनि-व्याकरण के समकक्ष कहा जा सके। उसमें यत्र-तत्र कात्यायन ने कुछ नई बातें जोड़ दीं, जो कि छूट गई थीं, बस ! पतञ्जलि ने इस पर 'महाभाष्य' की रचना की और फिर

बीसों एक से एक बढ़ कर ऐसे 'टीका-ग्रन्थ' बने कि देख कर बुद्धि चकरा जाती है ! सो, पाणिनि का व्याकरण इसलिए रहा, क्योंकि वह संस्कृत-साहित्य के 'लक्ष्य' (शब्द-प्रयोग) पर दृष्टि रख कर बनाया गया। यदि ऐसा न होता, तो यह भी उड़ जाता !

व्याकरण की कहानी

संसार में सब से पहले व्याकरण का जन्म भारतवर्ष में हुआ। जब वेदों की रचना हुई, वैसा साहित्य बना, जो आज भी विश्व में अपनी जगमगाहट फैला रहा है, तब भाषा-व्यवस्था की सूझ भी पैदा हुई। देवता लोग इन्द्र के पास पहुँचे और उनसे प्रार्थना की—'आप हमारी भाषा का एक व्याकरण बना दीजिए।' इन्द्र ने देवों की यह प्रार्थना स्वीकार कर ली और वैदिक संस्कृत का व्याकरण बना दिया। संसार में पहले-पहल भाषा का यह विश्लेषण हुआ। आज इन्द्र का बनाया संस्कृत-व्याकरण उपलब्ध नहीं है, केवल नाम भर व्याकरण-इतिहास में आता है।

इसके अनन्तर 'लौकिक' संस्कृत के जो व्याकरण बने-बिगड़े, उनके भी प्रायः नाम ही शेष हैं। पाणिनि-व्याकरण अवश्य प्रलय-पर्यन्त ऐसा ही रहेगा।

द्वितीय प्राकृत के, प्राकृत के विभिन्न भेदों के, अवश्य वैसे व्याकरण बने, जिनके बताए नियमों पर चल कर प्राकृत-साहित्य के निर्माता, संस्कृत शब्दों को प्राकृत-रूप देने की धुन में, एक विचित्र भाषा ही बना गए ! आचार्य हेमचन्द्र ने तो प्रायः तीसरी प्राकृत ('अपभ्रंश-अवस्था') के समय अपना प्राकृत-व्याकरण बनाया। इस समय भी व्याकरण का पूरा ध्यान साहित्य में रखा जाता था। इस तीसरी प्राकृत ('अपभ्रंश') के समय (भारतीय आधुनिक भाषाओं के आदिकाल) में भी व्याकरण-प्रभाव साहित्य पर था। ईसवी आठवीं शताब्दी के भाषा-महाकवि 'स्वयंभू' ने व्याकरण का महत्त्व काव्य-भाषा के लिए स्वीकार किया है:—

'वायरण कमाइ ण जाणियउ,
णउ विचि-सुत्त वक्खाणियउ'

❀ ❀ ❀

'तो कवणु गहणु अम्हारिसेहिं,
वायरण-विहूणहिं आरिसेहिं।'

इन पद्यांशों की छाया महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने यों दी है:—

व्याकरण किच्छु ना जानियऊ,
ना वृत्ति-सूत्र वक्खानियऊ।

❀ ❀ ❀

तो कौन ग्रहण हमरे सदशहिं,
व्याकरण - विहून सतादशहिं।

ऐसा जान पड़ता है कि व्याकरण-सम्मत भाषा का साहित्य में बड़ा महत्त्व था और वह सूत्र-वृत्ति रूप से व्यवस्थित था। यहाँ कवि ने विनय-प्रदर्शन मात्र किया है, जैसे कि तुलसी ने 'कवि न होउँ, नहिं चतुर कहाऊँ' आदि रूप से। तुलसी पर स्वयंभू की 'रामायण' का गहरा प्रभाव है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का तो कहना है कि रामायण की रचना में तुलसी ने जो 'संभु' का नाम लिया है, वह 'स्वयंभू' ही है! हमें इस पर यहाँ कुछ नहीं कहना है।

इसके अनन्तर हमारा देश पराधीन हो गया और हिन्दी (विदेशी लिपि तथा विदेशी शब्दों में विदेशी भाव-भावनाएँ लेकर) 'उर्दू' नाम से चल पड़ी। उस समय उर्दू के तथा ब्रजभाषा के छोटे-मोटे व्याकरण बने! व्याकरण क्या, भाषा सीखने-सिखाने की प्रारम्भिक चीजें समझिए।

अंग्रेजी राज आने पर हिन्दी के व्याकरण बनने लगे। शासन की दृष्टि से तथा मजहब का प्रचार जनता में करने के लिए देश-भाषा सीखने की जरूरत विदेशियों को पड़ी। इसके लिए कई अंग्रेज विद्वानों ने तथा पादरी लोगों ने पृथक्-पृथक् हिन्दी के व्याकरण बनाए। कुछ अंग्रेजी में बने, कुछ हिन्दी में। एक पादरी साहब का बनाया 'भाषा-भास्कर' बहुत लोक-प्रिय हुआ, खूब चला। मेरी छात्रावस्था तक इस व्याकरण की ही धूम थी।

सन् १९१९ में जब मैं कुछ सोचने-समझने योग्य हुआ, तो हिन्दी-व्याकरण में दो विद्वानों के नाम सर्वोपरि थे १—पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी और २—पं० कामताप्रसाद गुरु। 'हिन्दी-कौमुदी' तथा 'हिन्दी-व्याकरण' (इन दोनों विद्वानों के व्याकरण-ग्रन्थ) १९२०-२१ में प्रकाशित हुए।

सौभाग्य समझिए, चाहे दुर्भाग्य, इन व्याकरणों के मूलभूत सिद्धान्त मेरी समझ में न आए ! इन्हीं के आधार पर वे सब पुस्तकें बनीं थीं, जो पाठ्य रूप से परीक्षाओं में चल रही थीं और मुझे भी पढ़ानी पड़ती थीं। कुछ समझ में न आने पर 'आकर-ग्रन्थ' देखे, फिर भी समाधान न हुआ। 'गुरु' जी से (जबलपुर जाकर) दो बार भेंट की; परन्तु फिर भी मेरा भ्रम-सन्देह दूर न हुआ ! अपनी जिज्ञासा-मान्यता पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित कराई। आचार्य द्विवेदी जी ने वह सब पढ़ कर प्रसन्नता प्रकट की। तब कुछ बल मिला। विचार मँजते गए, पक्के होते गए।

सन् १६४३ में 'ब्रजभाषा का व्याकरण' लिख कर मैंने प्रकाशित कराया। इस की लम्बी भूमिका में मैं ने सभी प्रचलित व्याकरणों की आलोचना की और अपना नया मार्ग भी प्रदर्शित कर दिया। इस पुस्तक की एक-एक प्रति आदरणीय वाजपेयी जी को तथा 'गुरु' जी को रजिस्टरी पैकेट से मैंने तुरन्त भेज दी और सम्मति की इच्छा प्रकट की। 'गुरु' जी ने तो कोई उत्तर न दिया, पर वाजपेयी जी (पण्डित अम्बिका प्रसाद वाजपेयी) ने मेरी इस पुस्तक की बहुत प्रशंसा की और इसके भूमिका–भाग को 'हिन्दी के व्याकरणों का व्याकरण' बताया। यह ध्यान देने की बात है कि 'गुरु' जी के साथ ही वाजपेयी जी के व्याकरण-ग्रन्थ की भी आलोचना भूमिका–भाग में हो गई थी। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य द्विवेदी की ही तरह आचार्य वाजपेयी ने भी सारस्वत-धर्म का पालन किया और खुल कर वस्तु-स्थिति प्रकट कर दी। जो कुछ उन्हों ने समझा, साफ-साफ कह दिया।

मैं पाँच वर्ष तक प्रतिक्रिया देखता रहा, सर्वत्र सन्नाटा रहा ! इसे चाहे उपेक्षा समझिए और चाहे 'मौनं सम्मतिलक्षणम्'। अन्ततः सन् १६४६ में 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' लिख कर मैंने प्रकाशित कराया। अध्ययन की यह दशा कि 'साहित्य-सन्देश' ने आलोचना में लिखा—'प्रारम्भिक श्रेणियों के लिए यह व्याकरण लिखा गया है, पर क्लिष्ट हो गया है'। जो चीज हिन्दी के प्रौढ़ विद्वानों को सोचने-समझने के लिए (एक रूप-रेखा के रूप में) दी गई थी, उसे प्रारम्भिक श्रेणियों के लिए समझा गया—'प्रथम' शब्द देख कर ! एक ने लिखा था—'हिन्दी के व्याकरण तो बहुत हैं, पर जब से हिन्दी राष्ट्रभाषा हुई है, तब से यह पहला ही व्याकरण है और इसीलिए 'प्रथम' शब्द दिया गया है !'

हाँ, अहिन्दी-प्रदेशों में इसका पूरा अध्ययन हुआ और मदरास तथा वर्धा में इसकी बड़ी प्रशंसा हुई।

इसके अनन्तर, कई वर्ष बाद, सन् १६५२ में 'गुरु' जी के 'हिन्दी-व्याकरण' का बड़ा संशोधित संस्करण प्रकाशित हुआ। इसे संशोधन न कह कर 'पुनर्निर्माण' कहना चाहिए। ग्रन्थ एकदम बदल गया है। इसके इस संस्करण की सामग्री पर हमें यहाँ कुछ नहीं कहना है, केवल इतना समझिए कि सन्तोष न हुआ! इस संशोधित ग्रन्थ में दो तरह के विचारों का साङ्कर्य हो गया है, जिससे स्पष्टता जो आनी चाहिए थी, न आ पाई; प्रत्युत उलझनें बढ़ गईं!

सन् १६५४ के अगस्त मास में मसूरी से वैद्य स्वामी हरिशरणानन्द जी का एक पत्र आया। सन् १६१६ के साथी निकले। लिखा था—'हमारी तो आयुर्वेदिक फार्मेसी खूब दे रही है। आजकल मसूरी का आनन्द ले रहा हूँ और आप अपनी साधना-तपस्या का फल मजे से भोगिए! मैं ने तो तभी कहा था कि आयुर्वेद कर लीजिए; पर आप न माने। जन्म के जिद्दी! खैर, अब आप नीचे लिखी पुस्तकें वी० पी० से भेज दीजिए।'

पुस्तकें मैंने भेज दीं। इन से ले कर राहुल जी ने भी पुस्तकें पढ़ीं, यह मुझे (स्वामी हरिशरणानन्द जी के ही) एक पत्र से ज्ञात हुआ। राहुल जी में भी वही सारस्वत-धर्म है। पुस्तकें पढ़ कर रहा-रहा न गया और तुरन्त एक लेख लिख कर कलकत्ते के 'नया समाज' में प्रकाशनार्थ भेज दिया। इस पत्र के सितम्बर के अंक में ही वह लेख प्रकाशित हो गया। व्याकरण और निरुक्त पर ही पूरा जोर था। इसी सितम्बर में विद्वर डा० अमरनाथ झा ने 'सभा' को एक पत्र मेरे सम्बन्ध में लिखा। राहुल जी के उस लेख की कतरन भी भेजी और व्याकरण लिखवाने की प्रेरणा की। इधर काशी के विद्वान् और 'सभा' के अधिकारी पहले ही कुछ सोच रहे थे कि इससे कुछ काम ले लेना चाहिए। यह बात मुझे आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने स्वयं बताई। इन सभी बातों ने मिल कर यह किया कि सितम्बर में ही 'सभा' की प्रबन्ध-समिति ने तथा 'साहित्योपसमिति' ने सब तै कर दिया और व्याकरण लिखने का काम मुझे सौंप दिया गया।

मैं ने काम दीपावली के प्रकाश में शुरू कर दिया और आज यह पूर्व पीठिका तयार। अब कल से व्याकरण लिखने का काम चल पड़ेगा।

डा० अमरनाथ झा, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, 'सभा' के प्रधान मन्त्री डा० राजबली पाण्डेय, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य पं० चन्द्रबली पाण्डे, साहित्य-उपसमिति के संयोजक डा० कृष्णलाल जी तथा विद्वद्वर पं० करुणापति त्रिपाठी आदि विद्वानों को धन्यवाद दीजिए, जिनकी तत्परता से यह काम पूरा होने जा रहा है।

प्रकृत ग्रन्थ के सम्बन्ध में

मैंने सन् १९४८ में जो व्याकरण की रूप-रेखा तयार की थी और सन् १९४९ में जिसका प्रकाशन हुआ था, उसका नाम 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' रखा जरूर गया है; परन्तु वस्तुतः राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण यही है, जो अब लिखा जा रहा है, जिसकी यह पूर्व-पीठिका आप पढ़ रहे हैं। वह तो रूप-रेखा भर दी गई थी, विद्वानों के परीक्षणार्थ। पाँच वर्ष तक परीक्षा हुई और सन् १९५४ के सितम्बर में उस की प्रामाणिकता पर हिन्दी ने मुहर लगा दी। यों तो विचार-विमर्श सदा चलता ही रहेगा, चलता रहना चाहिए; परन्तु चिरप्ररूढ़ विचार-धारा को हटाना और उस पर फिर अपनी नई कलम देना बहुत सरल काम नहीं है। पहले तो डर लगता था, उस धारा के विरुद्ध कुछ कहने में! 'लोग मुझे मूर्ख न समझने लगें कि ये जरा-जरा सी बातें यह नहीं समझ पाता!' परन्तु विचारों ने जोर मारा और सौ खतरे उठा कर भी उन का प्रकटीकरण ही इष्ट रहा। १९४३ में जोरदार शब्दो में उन विचारों को स्थायित्व दिया गया और १९४९ में नए विचारो की रूप-रेखा। अब यह हिन्दी का प्रथम व्याकरण बन रहा है। इसमें कुछ और नए विचार हैं, पहले के विचार पल्लवित भी किए गए हैं। इस ग्रन्थ की भी परीक्षा अपेक्षित है। इसके बाद, इसका दूसरा संस्करण ऐसा होगा, जिसे (सब के साथ) मैं भी हिन्दी का 'पूर्ण' और 'प्रामाणिक' व्याकरण कह सकूँगा।

इस ग्रन्थ की रचना प्रौढ़ जनों के लिए ही की जा रही है; इसलिए बहुत छोटी और प्रसिद्ध बातो की चर्चा न की जाएगी। उदाहरणार्थ व्यञ्जन में दूसरा व्यंजन मिला कर कैसे लिखा जाता है, स्वरों की मात्राएँ किस-किस रूप में किस तरह लिखी जाती हैं, इत्यादि के उल्लेख से पृष्ठ न बढ़ाए जाएँगे। इन सब बातों को जाननेवाला ही इस पुस्तक को हाथ में लेगा। इस के आधार पर जो पाठ्य पुस्तकें आगे छात्रों के लिए बनेंगी, उन में ही वैसी चर्चा की जानी चाहिए; की ही जाएगी।

साधारण शब्दों के सर्वजन-प्रसिद्ध प्रयोगों का समझाना भी पिष्ट-पेषण ही है। प्रौढ़ पाठकों की पुस्तक में वह ठीक नहीं। हाँ, विवादास्पद तथा दुरूह विषयों की उपेक्षा न की जाएगी। ऐसे ही स्थलों में शिष्ट-उद्धरण भी दिए जाएँगे। साधारण 'हम ने सब को देख लिया' समझाने के लिए भारतेन्दु या आचार्य द्विवेदी को गवाही में घसीटते फिरना किस काम का!

पिछले हिन्दी-व्याकरणों की आलोचना भी इस ग्रन्थ में न की जाएगी, अन्यत्र बहुत हो चुकी है! बहुत ही जरूरी होने पर कहीं किसी सर्वमान्य वैय्याकरण का या उसकी कृति का उल्लेख हो, तो यह विशेष चीज है। साधारणतः वैसे उल्लेख-उद्धरणों से पृष्ठ न बढ़ाए जाएँगे।

प्रतिपाद्य विषयों में भी काट-छाँट जरूरी है। संस्कृत की सन्धियाँ हिन्दी में प्रायः सब चलती हैं, परन्तु विवेक के साथ। 'काव्य पढ़नेवाले में कवि के साथ सहानुभूति चाहिए' यहाँ 'सह' तथा 'अनुभूति' में सन्धि हिन्दी को पसन्द नहीं है—'सह-अनुभूति' चाहिए। अनुभूति वैसी ही चाहिए। तब कवि के भाव समझ सकेगा पाठक। 'सहानुभूति' तो 'हमदर्दी हुई! कवि कौन सी आपदा में है, जो पाठक उस से 'सहानुभूति' करे! और, इस 'सहानुभूति' से कोई काव्य क्या समझ लेगा?

इसी तरह 'पुनारमण' जैसी सन्धि हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध है। इस तरह की सन्धियों के नियम आदि देना गोरख-धन्धा है। 'एचोऽयवायावः' तथा 'एङः पदान्तादति' आदि में निर्दिष्ट सन्धियों का वर्णन भी (हिन्दी के व्याकरणों में) अनावश्यक है। हिन्दी में पका-पकाया माल 'चयन'-'नयन' आदि रूप से आता-चलता है। इसके लिए 'चे+अन' तथा 'ने+अन' आदि रखना-बताना बेकार है। जो संस्कृत जानते हैं, उनके लिए तो यह सब व्यर्थ है ही, हिन्दीवाले 'चे' क्या समझेंगे और 'अन' क्या समझेंगे? आवश्यकता भी क्या? बने-बनाए 'चयन' 'नयन' आदि ले लिए और बस! छोटे-छोटे छात्र 'चे-अन' रटते-रटते उल्लू बन जाते हैं। परीक्षा के लिए रटना पड़ता है। सो, वह सब हिन्दी के लिए 'अवकर-निकर' है, व्यर्थ का वितंडा है।

वर्णों के 'स्थान' बताना तो ठीक, स्पष्ट है। और 'अल्पप्राण' 'महाप्राण' ये दो 'प्रयत्न' भी ठीक; परन्तु इनके अनन्तर और जो जंजाल हैं हिन्दी के लिए, उसे क्यों लिखा जाए? देखिए, कुछ आप स्पष्ट समझ-समझा सकेंगे?

"वर्णों के उच्चारण की रीति को प्रयत्न कहते हैं। ध्वनि उत्पन्न होने के पहले वागिन्द्रिय की क्रिया को आभ्यन्तर प्रयत्न और ध्वनि के अन्त की क्रिया को बाह्य प्रयत्न कहते हैं।"

सम्भव है, आप कुछ समझते हों। परन्तु समझाएंगे कैसे? हमें तो भरोसा नहीं कि आप भी समझ सकेंगे पूरा तत्त्व! और आगे भेद समझिए:—

'विकृत—इनके उच्चारण में वागिन्द्रिय खुली रहती है। स्वरों का प्रयत्न विवृत कहाता है।'

'वागिन्द्रिय खुली' रहने का क्या मतलब? अन्य वर्णों के उच्चारण में क्या वह बन्द रहती है? यह खुला रहना और बन्द रहना क्या चीज है? सभी स्वरों का 'विवृत' प्रयत्न है, ह्रस्व 'अ' का भी। परन्तु पाणिनि का एक सूत्र है—'अ अ'। इसमें पहला 'अ' विवृत है, दूसरा 'संवृत' है। इस सूत्र का अर्थ है-'अ' को 'अ' हो जाता है, यानी विवृत 'अ' को संवृत 'अ' हो जाता है। आप उपर्युक्त सूत्र के दोनों 'अ' में क्या अन्तर समझते हैं? टीकाकारों ने लिख दिया है-'विवृतमनूद्य संवृतमनेन विधीयते'—इस सूत्र में विवृत 'अ' को संवृत 'अ' होने का विधान है। इस टीका से संस्कृत के विद्वान् भी समझ लेते हैं कि सूत्र का प्रथम 'अ' विवृत और दूसरा 'अ' संवृत है! परन्तु समझते खाक भी नहीं कि इनके उच्चारण आदि में अन्तर क्या है! किसी समय हमारे पूर्वज इन स्वरों का कुछ विशिष्ट उच्चारण करते होंगे और उस उच्चारण-भेद से अर्थ-भेद भी होता होगा। आज वह सब हमें नहीं मालूम। वेद-भाषा में स्वरों के 'उदात्त', 'अनुदात्त' तथा 'स्वरित' नाम से जो उच्चारण-भेद हैं, उनसे अर्थ-विशेष प्रकट होता था। वह सब हम भूल गए। परन्तु वेदार्थ करने में वह अब भी अपेक्षित समझा जाता है, इस लिए यह याद रख-रख कर ब्राह्मण पण्डितों ने आश्चर्य का काम किया है कि किस मंत्र में कौन-सा स्वर उदात्त, अनुदात्त, या स्वरित है! सम्भव है, वैसे महान् पण्डितों में कोई ऐसे भी हों, जो उच्चारण भी वैसा कर लेते हों। परन्तु उन वेद-मंत्रों की भाषा से हिन्दी बहुत दूर पड़ गई है। अब यहाँ, उदात्त-अनुदात्त आदि स्वरों के भेद तथा 'विवृत-संवृत' आदि प्रयत्नों की कथा कोई अर्थ नहीं रखती। हाँ, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत तथा अनुनासिक-निरनुनासिक स्वरों के उच्चारण-विशेष अवश्य चर्चा के विषय हैं; क्योंकि हिन्दी में

ये सब स्पष्ट उपलब्ध हैं। संस्कृत-व्याकरण में भी उदात्त-अनुदात्त आदि वैसे अपेक्षित नहीं; वैदिक भाषा के व्याकरण में वह सब अपेक्षित है। 'प्रयत्न' भी पाणिनि-व्याकरण में वर्ण-सावर्ण्य आदि समझने भर के लिए हैं। कुछ तो उपयोगिता हुई। और, लौकिक संस्कृत के समीप है वैदिक संस्कृत, जिसके लिए वहाँ 'उदात्त' आदि तथा 'विवृत' आदि का उल्लेख करना जरूरी हो सकता है। संस्कृत के विद्वानों को वह सब समझने का प्रयत्न भी करना चाहिए। परन्तु हिन्दी में वह सब भर देना उचित नहीं है।

'स्पृष्ट' प्रयत्न समझाते हुए हिन्दी-व्याकरणों में लिखा गया है:—

'स्पृष्ट'-इनके उच्चारण में वागिन्द्रिय का द्वार बन्द रहता है। 'क' से लेकर 'म' पर्य्यन्त २५ व्यंजनों को 'स्पर्श वर्ण' कहते हैं।'

छात्र पूछेंगे कि 'क' बोलने में वागिन्द्रिय का द्वार कहाँ बन्द रहता है ? क्या मतलब ? तब अध्यापक बगलें झाँकने लगेंगे, लज्जित होंगे; यह समझ कर कि 'मेरी समझ में नहीं आ रहा है !' अध्यापकों को क्या पता कि हिन्दी के व्याकरणकार स्वयं ही इन बातों को कुछ भी नहीं समझते !

इसी तरह 'ईषद् विवृत' आदि समझाए गए हैं। इस व्याकरण में यह सब कुछ भी न लिखा जाएगा; क्योंकि मेरी समझ में ही नहीं आता ! तब दूसरे को क्या समझाऊँ ? जिन्हें यह सब समझने की इच्छा हो, वे 'सभा' द्वारा प्रकाशित 'गुरु' जी का 'हिन्दी-व्याकरण' देखें। वहाँ यह सब मिल जाएगा। जो यह समझते हैं कि हिन्दी के छात्रों को वह सब समझना जरूरी है और वे समझ भी लेते हैं, वे उपर्य्युक्त व्याकरण के आधार पर पाठ्य पुस्तकें लिखते ही रहेंगे। काम चलता रहेगा। मैं इस ग्रन्थ में यह सब न लिखूँगा, तो काम न चलेगा; ऐसी बात तो है ही नहीं ! सो, ये सब दुरूह या (हिन्दी के लिए) अनावश्यक विषय इस ग्रन्थ में वर्णित न होंगे।

इसी तरह कृदन्त प्रकरण में नेता, जेता, वक्ता, आदि की सिद्धि करने के लिए 'नी' 'जि' 'वच्' आदि का उल्लेख न किया जाएगा। 'नेता' आदि बने-बनाए तद्रूप शब्द यहाँ गृहीत हैं। 'नी' हिन्दी में कोई धातु है ही नहीं और न 'जि' है। 'जि' की जगह 'जीत' जरूर है। 'वच्' भी नहीं, 'कह' >सं.(कथ्) है। तब 'नी' 'जी' 'वच्' का उल्लेख क्या ? नेता, जेता, वक्ता शब्द बने-बनाए यहाँ गृहीत हैं।

विदेशी भाषाओं के 'तालीम' जैसे शब्द हम लोग समझ लेते हैं, परन्तु हिन्दी-व्याकरण में 'अलम' का ज्ञान अर्थ बता कर फिर उससे 'तफ़ईल' कर के 'तअलीम' बनाना और फिर इसका हिन्दी में तद्भव 'तालीम' बनाना-बताना बहुत बे-मजे चीज है ! गोरख धन्धा है ! अरबी का 'सल्तनत' हम समझ सकते हैं; पर इससे 'दारुस्सल्तनत' बनाने का विधि-विधान हिन्दी-व्याकरण में न किया जाएगा। हिन्दी का व्याकरण कोई तमाशा या भानमती का पिटारा नहीं है कि जहाँ सब कुछ हो ! इसे आप लेखक की कमजोरी तथा ग्रन्थ की कमी कह सकते हैं, मजे से कहिए। यह कमजोरी तथा कमी इस ग्रन्थ को हिन्दी के तात्त्विक व्याकरण का रूप देगी, ऐसा अडिग विश्वास है। 'वृथापुष्ट पोथा' आपके सामने रख दिया जाए और आप फिर बड़े धैर्य से सूप ले कर बैठे पछोरते रहें, मेरी चीज को; यह ठीक नहीं ! ऐसा मैं ऋषि नहीं कि घटाटोप में मेरे पृष्ठों की छान-बीन लोग करते रहें ! उतना बड़ा पोथा पड़ा रह जाएगा और उसमें जो जरूरी बातें हैं, वे भी रह जाएँगी। श्रम सफल न होगा। इसलिए, बहुत काट-छाँट से काम लिया जाएगा। 'काट-छाँट' का प्रयोग पुराने व्याकरणों को देखते; तत्त्वतः यों कहिए कि अनावश्यक तथा विजातीय तत्त्व ('फारन मैटर') दूर रखा जाएगा। 'नाऽमूलं लिख्यते किञ्चित्, नाऽनपेक्षितमुच्यते'।

संक्षेप में यह कि हिन्दी का यह ऐसा व्याकरण बन रहा है, जिसे संक्षिप्त भी नहीं कहा जा सकता और 'पूर्ण' भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अभी और कुछ सोचने-करने की कदाचित् गुंजाइश है। परन्तु, इसमें सन्देह नहीं कि इसे हिन्दी का पहला व्याकरण लोग अवश्य कहेंगे। व्याकरण के मूल तत्त्वों का इसमें उद्घाटन हुआ है। ये तत्त्व मेरी अन्य पुस्तकों में भी पहले आ चुके हैं; परन्तु यहाँ सब समवेत हो गए हैं; कुछ नए भी प्रकट हुए हैं। इन नई चीजों को ध्यान से देखने की जरूरत है। हमें कुछ बताइए, कुछ पढ़ाइए, कुछ समझाइए। यह बात तो निःसन्देह सभी पाठक कहेंगे कि हिन्दी-व्याकरण का श्रीगणेश अब हो रहा है। यों, यह छोटे व्यक्ति का छोटा प्रयत्न, प्राथम्य की दृष्टि से, महत्त्व रखता है। इसे इसी दृष्टि से देखना-समझना चाहिए, बस !

कनखल (उ० प्र०)
मार्गशीर्ष कृ० ११, २०११   किशोरीदास वाजपेयी

———

हिन्दी के विकास की सारणी

आद्य या मूल भारतीय-आर्यभाषा

प्रथम संस्कृत [वेदों की भाषा]

द्वितीय संस्कृत

['ब्राह्मण'-ग्रन्थों की और उपनिषदों की भाषा]

तृतीय संस्कृत

[जो आज भी अपने निखरे हुए रूप में 'लौकिक संस्कृत' नाम से प्रसिद्ध है; पाणिनि द्वारा व्यवस्थित, जिसमें कालिदास आदि की रचनाएँ हैं]

प्रथम प्राकृत

[वैदिक युग की साधारण जनभाषा]

द्वितीय प्राकृत

[जिस का 'पालि' रूप प्राकृत है और अन्य साहित्यिक रूप व्यंजन-लोप तथा णकार-प्रियता से विकृत कर दिए गए हैं।]

तृतीय प्राकृत

[जिसे 'अपभ्रंश' कहते हैं और जिस के विभिन्न प्रादेशिक भेदों से आज की भारतीय भाषाओं का विकास है। यानी यही प्राकृत विकसित-व्यवस्थित होकर आज की भारतीय (हिन्दी आदि) भाषाओं के रूप में स्थित है।]

खड़ी बोली

उर्दू

[विदेशी लिपि में और विदेशी रँग-ढँग में हिन्द की (किसी समय) भाषा]

[विदेशी प्रभाव कुछ कम कर के और फारसी तथा नागरी दोनो लिपियों में (सरकारी भाषा के रूप में) प्रस्तावित]

हिन्दी

[हिन्द की भाषा हिन्दी, जिसे नागरी लिपि में सम्पूर्ण राष्ट्र की सामान्य-भाषा के रूप में वरण किया गया है। इसी भाषा का विवेचन यह 'हिन्दी शब्दानुशासन' है।]

हिन्दी शब्दानुशासन

(पूर्वार्द्ध)

प्रथम अध्याय

शब्दानुशासन को ही व्याकरण कहते हैं। पाणिनि-व्याकरण के महाभाष्यकार महर्षि पतंजलि ने 'शब्दानुशासन' शब्द ही अधिक पसन्द किया है। 'व्याकरण' की अपेक्षा 'शब्दानुशासन' शब्द में स्पष्टार्थता अधिक है; तथापि 'व्याकरण' इतना प्रचलित है कि यहाँ वह 'अर्थ' स्पष्टतर दिखाई देता है। परन्तु योगार्थ 'शब्दानुशासन' में अधिक स्पष्ट है। शब्दों का अनुशासन ही यहाँ सब कुछ है। हिन्दी के शतशः प्रचलित व्याकरणों से यह एक पृथक् चीज है, यह ध्वनित करने के लिए ही हम इस कृति को 'शब्दानुशासन' नाम दे रहे हैं; क्योंकि इससे पूर्व इस नाम का कोई ग्रन्थ, इस विषय का, हमने देखा-सुना नहीं। वस्तु-भेद से नाम-भेद अर्थ रखता है। 'शब्दानुशासन' से उपक्रम कर के पतंजलि ने आगे सर्वत्र ('महाभाष्य' में) 'व्याकरण' शब्द का व्यवहार किया है। 'व्याकरण' शब्द बहुत पुराना है। संसार का सर्वप्रथम व्याकरण कैसे बना, इसका वर्णन 'ऐन्द्रवायव्य ब्राह्मण' में आया है, जिसे वेदभाष्यकार महामहिम सायण ने ऋग्वेद-भाष्य के उपोद्घात में उद्धृत किया है:—

'वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति-सोऽब्रवीत् वरं वृणे । तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् । तस्मादियं व्याकृता वाक् ।'

'प्राचीनतम भाषा पहले अव्याकृत थी—उसका कोई व्याकरण न था। फिर किसी समय देव जनों का एक शिष्ट-मण्डल इन्द्र के पास पहुँचा और निवेदन किया कि हमारी भाषा का व्याकरण बनना चाहिए, सो आप बना देने की कृपा करें। इन्द्र ने कहा—बहुत अच्छा, स्वीकार है। तब इन्द्र ने भाषा (के शब्दों या पदों) को बीच से तोड़-तोड़ कर इसे व्याकृत किया—भाषा का व्याकरण बनाया। अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना कर के इसे अधिक सुबोध सुन्दर बना दिया। तब से यह भाषा व्याकरण-नियन्त्रित है।'

इस 'ब्राह्मण'—कथा के 'व्याकुरु' तथा 'व्याकरोत्'-'व्याकृता' शब्दों में जो उपसर्ग तथा धातु शब्द हैं, उन्हें ले कर करण-प्रधान 'व्याकरण' शब्द बना लिया गया-'व्याक्रियतेऽनेनेति व्याकरणम्'-जिस शास्त्र से भाषा व्याकृत की जाए, इसके पदों को तोड़-तोड़ कर प्रकृति-प्रत्यय आदि का ज्ञान-विधान किया जाए, वह 'व्याकरण' है। 'व्याकरण' शब्द कर्तृ-प्रधान भी हो सकता है—'व्याकरोति भाषामिति व्याकरणम्'-जो शास्त्र भाषा को व्याकृत करे, वह 'व्याकरण'। 'व्याकृतिः-व्याकरणम्' यों भावप्रधान भी।

यों प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना करके पद-व्युत्पत्ति करने से यह शास्त्र 'व्याकरण' है और शब्दों का परस्पर सम्बन्ध-विधान आदि करने के कारण इसे 'शब्दानुशासन' कहते हैं। ने, से, को आदि विभक्तियाँ प्रकृति से अलग करके भाषा-तत्त्व समझाने के कारण यह 'व्याकरण' है और इन विभक्तियों का कहाँ कैसे प्रयोग होता है, या करना चाहिए; यह सब बताने के कारण इसे 'शब्दानुशासन' कहते हैं। कर्ता-कारक में ही 'ने' का प्रयोग होता है, अन्यत्र कहीं नहीं; यह अनुशासन समझ लेने पर कोई भी अहिन्दीभाषी कितना विश्वस्त हो जाएगा; समझ सकते हैं। 'को' तथा 'से' विभक्तियाँ भी कभी 'कर्ता' कारक में लगती हैं। कब और किस अवस्था में इनका ऐसा प्रयोग होता है, यह अनुशासन समझ लेने पर यह भ्रम उड़ जाएगा कि 'कर्म' तथा 'सम्प्रदान' में ही 'को' का प्रयोग होता है और 'करण' तथा 'अपादान' में ही 'से' का। इस भ्रम के उच्छेद से भाषा का ज्ञान कितना सरल हो जाएगा? भाषा की सब गति-विधि सामने आ जाएगी। इसी तरह

'समास' शब्दों का किस तरह होता है, इस स्थिति में शब्दों की पूर्वापर स्थिति किस तरह होती है, इनमें से फिर किस शब्द की प्रधानता रहती है, 'सम्बन्ध' किस शब्द के अनुसार पूर्व में रहता है और क्रिया-शब्द किसके अनुसार, यह सब इसी शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। इसी लिए इसे 'शब्दा· नुशासन' कहते हैं। प्रयोग-बाहुल्य से 'व्याकरण' तथा 'शब्दानुशासन' शब्द पर्य्याय-रूप हो गए हैं—एक की विशेषता दूसरे में आ गई है। अर्थात् 'व्याकरण' कहने से शब्दानुशासन और 'शब्दानुशासन' से व्याकरण गृहीत हो जाता है। व्याकरण में पद-प्रकृति आदि की व्यवस्था तथा शब्दों की प्रयोग-विधि समझाई जाती है। यही बात 'शब्दानुशासन' में है। शब्दानुशासन-शास्त्र में शब्दों की प्रत्यय-कल्पना तथा प्रयोग-विधि प्रतिपादित होती है।

'शब्दानुशासन' में 'अनु' शब्द ध्यान देने योग्य है। व्याकरण भाषा पर (भाषा के शब्दों पर) शासन नहीं करता है। व्याकरण अपनी आज्ञा से शब्दों के स्वरूप में परिवर्तन नहीं कर सकता, उनके अर्थों में कोई हेर-फेर नहीं कर सकता, भाषा की गति बदल नहीं सकता। वह तो 'अनुशासन' मात्र करता है। 'अनु' का अर्थ है 'पश्चात्' अथवा 'अनुसार'। परम्परा से जिस शब्द का जो रूप चलता आ रहा है और जिसका जिस अर्थ में प्रयोग है; व्याकरण उसी का अनुगमन करेगा। व्याकरण न तो शब्दों के रूप बदल सकता है, न मन-चाहे अर्थ में किसी शब्द को धकेल सकता है। वह भाषा के अनुसार ही चलेगा और भाषा की गति भंग करनेवाले अज्ञानी या उच्छृंखल जनों को सही रास्ते लाएगा। यही इसका 'शासन' है। भाषा के पीछे चलने के कारण 'अनुशासन'। हिन्दी की प्रकृति है कि यहाँ 'ऋ' के साथ 'ऋ' मिलकर दीर्घ-एकादेश नहीं होता, क्योंकि दीर्घ 'ॠ' का यहाँ प्रयोग है ही नहीं। तब हिन्दी का कोई भी व्याकरण यहाँ 'पितृ-ऋण' का 'पितॄण' सन्धि-विधान नहीं कर सकता। करे, तो फिर वह 'शब्दानुशासन' न रहेगा-'शब्दशासन' हो जाएगा! ऐसा शासन भाषा स्वीकार नहीं करती। संस्कृत के एक वैय्याकरण ने 'पुंक्षु' प्रयोग का विधान कर दिया, जो उनकी पुस्तक में ही धरा रह गया! आज तक किसी ने संस्कृत में 'पुंक्षु' का प्रयोग न किया! सब 'पुंसु' ही लिखते-बोलते हैं। स्वयं पाणिनि के ऐसे प्रयोग भाषा में नहीं चले, जो गति-विपरीत हैं। पाणिनि ने भाषा की गति का सही निर्देश किया—'समाहार द्वन्द्व' में नपुंसक लिंग और एकवचन होता है।' यह नियम भाषा की स्वाभाविक गति का अनुविधान, अन्वाख्यान या अनु-

शासन है। सबको मान्य है। ऐसा ही चल रहा है। परन्तु स्वयं पाणिनि यदि इस से हट जाएँ, तो उनका भी अनुसरण भाषा न करेगी। 'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः' इस सूत्र में 'ह्रस्व' 'दीर्घ' तथा 'प्लुत' शब्दों का 'समाहार द्वन्द्व' समास होने पर भी नपुंसक लिंग नहीं; पुल्लिंग पाठ है। परन्तु भाषा ने उनके इस पाठ का अनुसरण नहीं किया। वह 'समाहार द्वन्द्व' में सदा ही नपुंसक लिंग एकवचन रखती है, पुल्लिंग नहीं। जब स्वयं पाणिनि का प्रयोग भाषा में गति-विरुद्ध होने के कारण नहीं चला, तो हम पामर जनों की चर्चा ही क्या! विधि-मंत्री ने कोई अच्छी विधि बनाई, अच्छा अधिनियम दिया, तो अच्छी बात है। हम सब उसका पालन करेंगे। परन्तु उस विधि के विपरीत यदि वे स्वयं कहीं चले जाएँ, तो हम लोग उनके पीछे न जाएँगे। उसे उनका स्खलन ही समझा जाएगा। हम हिन्दी का परिष्कार कर रहे हैं, व्याकरण बना रहे हैं। भाषा की गति के अनुसार यह सब होगा, तो सब को मान्य होगा। परन्तु, इन नियमों के विपरीत, असावधानी से, हम कहीं कोई गलत शब्द-प्रयोग कर दें, तो वह प्रमाणकोटि में न आएगा। वह प्रामादिक प्रयोग समझा जाएगा। "अमुक वैय्याकरण ने स्वयं ऐसा प्रयोग किया है, इसलिए शुद्ध है" यह कह कर उस गति-विरुद्ध शब्द-प्रयोग का समर्थन कर के कोई चला न सकेगा। यही 'शब्दानुशासन' में 'अनु' शब्द का अर्थ है। शासन तो रहेगा ही। 'पुस्तक रक्खी है' के 'रक्खी' को व्याकरण गलत कहेगा; यद्यपि प्रदेश-विशेष में 'क्' की आवाज सुनी जाती है। हिन्दी प्रदेश-विशेष की चीज नहीं; इसलिए 'रख' धातु सामने रख कर वह 'रखी' को शुद्ध कहेगा। यही शासन है।

वर्ण-विचार

भाषा सार्थक शब्दों का समूह है। 'सार्थक' का अर्थ है—'अर्थ-संकेतित'। आपने ताली बजाकर एक शब्द किया और उससे चिड़ियाँ उड़ गईं, तो यह 'फट' या 'पट' शब्द निरर्थक तो न हुआ न? इससे एक अर्थ निकल गया-चिड़ियाँ उड़ गईं। यों यह ताली बजने का शब्द भी, एक तरह से, सार्थक ही हुआ। परन्तु ऐसे सार्थक शब्दों का समूह 'भाषा' नहीं है। यहाँ 'सार्थक' का अर्थ दूसरा है—'अर्थ-संकेतित'। 'इस शब्द से यह अर्थ समझना चाहिए' इस परम्परा-प्राप्त संकेत-व्यवस्था से युक्त शब्द ही यहाँ 'सार्थक' कहे जाते हैं। जो अर्थ (वस्तु) गले से नीचे उतार कर हम अपनी प्यास

बुझाते हैं, उसे 'पानी' कहते हैं। 'पानी' शब्द आप ने बोला और सुनने वाला झट समझ गया वह अर्थ (वस्तु), जिसका संकेत इस शब्द में गृहीत है। जो इस संकेत-ग्रह से दूर है, वह न समझ सकेगा। हिन्दी से अनभिज्ञ कोई सज्जन 'पानी' शब्द से वह अर्थ न समझ सकेंगे। उन की भाषा में इस अर्थ का संकेत जिन ('वाटर' या 'आब' आदि) शब्दों में है, उनके उच्चारण से ही वे वह अर्थ ग्रहण करेंगे। इसी तरह 'पढ़' शब्द का संकेत जिस क्रिया में है, उसे (इसके उच्चारण से) वे लोग तुरन्त समझ लेंगे, जो इस की संकेत-शक्ति से परिचित हैं। दूसरे लोग कुछ न समझ पाएँगे। वे अपनी भाषा के संकेतित ('रीड' आदि) शब्दों से वह अर्थ ग्रहण करेंगे। 'अर्थ' शब्द से हिन्दी-संस्कृत के जानने वाले जो अर्थ समझते हैं, उस से एक-दम भिन्न अर्थ ('पृथ्वी') अंग्रेज लोग समझेंगे; क्योंकि इस शब्द का संकेत वहाँ इसी (पृथ्वी-रूप) अर्थ में है।

इसी तरह के संकेतित शब्दों का समूह 'भाषा' है। भाषा की अनन्त इकाइयाँ 'वाक्य' कहलाती हैं। 'वाक्य' का विश्लेषण कर के अनेक 'पदों' में विभक्त किया गया। पदों को ही 'शब्द' भी हिन्दीवाले कहते हैं। वैसे 'शब्द' तो वह है, जो कान से सुनाई दे। ताली बजने की आवाज भी 'शब्द' है; पर उसकी यहाँ चर्चा ही नहीं। एक लम्बा व्याख्यान भी 'शब्द' ही है और उस व्याख्यान के पृथक्-पृथक् हजारों या लाखों वे वाक्य भी 'शब्द' ही हैं। पर वे वाक्य भी यहाँ 'शब्द' शब्द से गृहीत नहीं हैं। वाक्य के प्रधान-प्रधान अंग यहाँ 'शब्द' कहलाते हैं, 'पद' कहलाते हैं। 'पानी लाओ' वाक्य में दो पद हैं, एक 'नाम-पद' 'पानी' और दूसरा 'क्रिया-पद' है—'लाओ'। इन पदों का या शब्दों का भी विश्लेषण करने पर जो मूल अवयव निकलते हैं, उन्हें 'वर्ण' या 'अक्षर' कहते हैं।

'पानी' शब्द को द्विधा विभक्त कीजिए, तो दो ध्वनियाँ सामने आईं -'पा' और 'नी'। इन दोनो का भी सूक्ष्म विश्लेषण करने पर (दो-दूनी) चार खंड समझ में आते हैं—'प् आ न् ई'। ये चारो मूल ध्वनियाँ 'वर्ण' हैं। इन्हें ही 'अक्षर' भी कहते हैं। 'अक्षर' इसलिए कि इनके अब टुकड़े नहीं हो सकते; ये क्षरणशील नहीं हैं। वाक्य के आपने दो टुकड़े कर दिए और उसके एक टुकड़े ('पानी') के फिर दो टुकड़े किए। उन दोनो के भी दो-दो टुकड़े कर दिए—'प् आ' और 'न् ई'। बस, अब आगे इनके

टुकड़े नहीं हो सकते। आपने 'प्' या 'आ' लिख दिया और मैं ने उसे मिटा दिया, या उतना कागज फाड़ कर नष्ट कर दिया, तो इस से उन वर्णों के टुकड़े न हो गए! 'वर्ण' तो वह छोटी से छोटी ध्वनि है, जो कान का विषय है और जिसके टुकड़े नहीं किए जा सकते। यह लिखावट ('प्' 'आ' तो लिपि-संकेत हैं, उन उच्चारणों को प्रकट करने के लिए संकेतित विभिन्न रेखाएँ। आँखों का विषय है। दूसरी चीज है।

तो, किसी अर्थ के वाचक शब्द को 'पद' कहते हैं। 'पद' इसलिए संस्कृत-नाम कि ये चलते हैं। भाषा में जो चलते नहीं, वे 'पद' नहीं। अप्रयोगाई संकेतित शब्द (संस्कृतमें) 'पद' नहीं, 'प्रातिपदिक' या 'धातु' कहलाते हैं। इसी 'पद' को व्याकरणों में 'शब्द' भी कहा गया है। पदों से जो 'अर्थ' समझे जाते हैं, उन्हें 'पदार्थ' कहते हैं। लोटा, धोती, घड़ा आदि शब्दों से जो चीजे समझी जाती हैं, सब 'पदार्थ' हैं। पदाथ मूर्त ही नहीं, अमूर्त भी होते हैं। 'परमात्मा' शब्द से जिस दिव्य शक्ति का बाध होता है, वह मूर्त नहीं है। प्रेम, बैर, ईर्ष्या आदि शब्दों से जो अर्थ प्रकट होते हैं, मूर्त नहीं हैं। क्रियाएँ भी अमूर्त हैं, जो 'देखना' आदि शब्दो से समझी जाती हैं। यहाँ इतना ही कहना है कि पद या 'शब्द' के उस अंश को 'वर्ण' कहते हैं, जिसके खण्ड नहीं किए जा सकते। कभी-कभी एक ही वर्ण का भी एक पद होता है-'तू घर आ' इस वाक्य में 'आ' क्रिया-पद एक ही वर्ण का है। तो कहना चाहिए 'वर्ण' वह शब्द या ध्वनि, है जिसके खंड न किए जा सकें; चाहे वह पद का अंश हो, या कि पूर्ण पद हो।

इन वर्णों के दो मुख्य भेद हैं १—स्वर और २—व्यंजन। जो वर्ण स्वयं स्थित रहते हैं—'स्वयं राजन्ते'-वे 'स्वर कहलाते' हैं। अ, इ, उ, आदि स्वर हैं। जो वर्ण उच्चारण में वैसे समर्थ नहीं हैं, जिनका उच्चारण करने में स्वर की सहायता लेनी पड़ती है, वे 'व्यंजन' कहलाते हैं। 'क' 'च' 'ट' आदि व्यंजन-वर्ण हैं। स्वर की बैसाखी लगाए बिना ये नहीं खड़े रह सकते।

भाषा के मूल स्वर

अ, इ, उ, ऋ,

ये चार 'मूल स्वर' हैं। संस्कृत में 'ऋ' से आगे एक 'लृ' स्वर का भी उल्लेख रहता है। पाणिनि ने 'ऋलृक्' सूत्र में 'लृ' का भी गुम्फन किया है। परन्तु

संस्कृत भाषा में ऐसे शब्दों के दर्शन दुर्लभ हैं, जहाँ इस 'लृ' स्वर का अस्तित्व किसी भी रूप में प्राप्त हो ! 'द्वितीय संस्कृत' में ('ब्राह्मण'-ग्रन्थों में) तथा उपनिषद्-साहित्य में) भी प्रायः यही बात है। 'प्रथम-संस्कृत' में (वेदभाषा में) इस 'लृ' का अस्तित्व कदाचित् कहीं प्राप्त हो। वैसे मैं ने जितने मन्त्र देखे हैं, उनमें इस का प्रयोग नहीं मिला। परन्तु फिर भी, सुविस्तृत वेद साहित्य में लृ' का प्रयोग असम्भावित नहीं है । ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उस 'मूल' जनभाषा में 'लृ' स्वर का प्रयोग अवश्य होता होगा, जिसका परिष्कृत रूप वेदों में मिलता है। जनभाषा के कई उच्चारण साहित्यिक भाषा में छोड़ दिए जाते हैं। राष्ट्रभाषा की मूल जनभाषा में (आधुनिक 'कौरवी' में) 'ल' तथा 'ड़' के बीच का एक उच्चारण मिलता है। 'ल' की जगह किसी-किसी शब्द में यह उचरित होता है, आज भी। 'माड़ा जाड़ापुर गया है'-'लाला ज्वालापुर गया है'। परन्तु राष्ट्रभाषा ने (परिष्कृत या सुसंस्कृत कौरवी ने) वह उच्चारण ग्रहण नहीं किया। उसकी जगह 'ल' उचरित होता है यहाँ। फलतः उस उच्चारण के लिए लिपि में कोई संकेत भी नहीं—'वर्णमाला' में उस के लिए कोई स्थान नहीं। हाँ, कौरवी 'बोली' में ग्रामीण जन जो गीत बनाते-गाते हैं, उनमें वह ध्वनि सुनी जाती है। यदि वे गीत राष्ट्रभाषा में कोई कहीं उद्धृत करे, तो उस ध्वनि के लिए कोई संकेत निर्धारित करना आवश्यक हो जाएगा। अन्यथा, पूरा आनन्द न आएगा। इसी तरह जनभाषा के जो तत्त्व वेद में लिए गए होंगे, उनके लिए 'लृ' स्वर जानने-समझने की व्यवस्था हुई होगी। आगे चलते-चलते 'लृ' का प्रयोग एकदम उड़ गया; परन्तु पुरानी (वैदिक) संस्कृत समझने के लिए संस्कृत-व्याकरण में 'लृ' का स्मरण आवश्यक है। इसीलिए वह समाम्नाय-प्राप्त चीज वहाँ विद्यमान है।

'ऋ' का प्रयोग संस्कृत में खूब है—संज्ञाओं में, धातुओं में, अव्ययों में, सर्वत्र। परन्तु हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं का गठन ऐसा है कि यहाँ 'ऋ' का एकान्त अभाव है ! संस्कृत के जो तद्रूप शब्द यहाँ चलते हैं-ऋण, ऋतु आदि-उन्हीं में 'ऋ' के दर्शन होते हैं, अन्यत्र नहीं। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि दीर्घ 'ॠ' का प्रयोग संस्कृत शब्दों में भी कहीं ढूँढ़े ही मिलेगा ! ऋकारान्त शब्दों के बहुवचन में अवश्य 'ऋ' को दीर्घत्व प्राप्त हो जाता है—'पितॄन्-मातॄः' इत्यादि। तो, 'लृ' गया; 'ऋ' का दीर्घ रूप गया और हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के 'अपने' रूप-गठन में 'ऋ'

भी नहीं ! यह स्वर-संकोच की प्रवृत्ति क्यों ? 'एष शब्द-स्वभावः', या जन-प्रवृत्ति ऐसी, कहा जाएगा। ढूँढने से इस प्रवृत्ति का कारण भी कदाचित् मिल जाए।

'ऋ' तथा 'लृ' का उच्चारण आज अन्य स्वरों की तरह स्वतन्त्र नहीं है। 'र्' व्यंजन में 'इ' की 'मात्रा' लगा देने से 'रि' रूप जो बनता है, उसके उच्चारण में और स्वर 'ऋ' के उच्चारण मे क्या अन्तर है ? इसी तरह ल् र् तथा 'इ' को मिला कर 'लि्' लिखें, तो इसके उच्चारण में और स्वर 'लृ' के उच्चारण में क्या भेद है ? तब उनमें स्वरत्व कहाँ रहा ? अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ इन स्वरों में एक भी ऐसा नहीं है, जिसके उच्चारण में कोई व्यंजन अपनी गन्ध देता हो। इन में से किसी भी स्वर का उच्चारण किसी भी व्यंजन की सहायता से आप नहीं कर सकते, जैसा कि 'र्' तथा 'इ' को मिला कर 'ऋ' का उच्चारण प्राप्त हो जाता है। सम्भव है, इसी लिए 'ऋ' उड़ गया हो ! जब पृथक् स्वतन्त्र सत्ता ही न रही, तब उपेक्षा ! सम्भव है, 'लृ' के उड़ने में भी यही कारण रहा हो !

परन्तु मूल भाषा मे (तथा वैदिक संस्कृत में भी) 'लृ' का कोई स्वतन्त्र उच्चारण अवश्य रहा होगा। 'ऋ' का भी कोई विशेष उच्चारण रहा होगा। प्रयोगाभाव से आगे चलते-चलते वह उच्चारण जाता रहा। लिपि में उसके सकेत 'ऋ' 'लृ' बने रहे। इन संकेतो के वर्तमान उच्चारणो में कहीं कोई अंश उस मूल उच्चारण का होगा, हम नहीं कह सकते। महाराष्ट्र आदि में 'ऋ' का उच्चारण 'रु' जैसा होता है। 'मातृचरण' को वहाँ 'मात्रुचरण' जैसा बोलते हैं। इस 'रु' उच्चारण को भी 'ऋ' स्वर का सही उच्चारण नहीं माना जा सकता ; क्योंकि वही अनुपपत्ति यहाँ भी है। 'र्' में 'उ' लगा कर 'रु' उच्चारण।

कुछ भी हो, 'ऋ' स्वर हिन्दी के गठन में नहीं है। संस्कृत (तद्रूप) शब्दों में ही वह यहाँ रहता है। इसका बहिष्कार वैसे शब्दों में सम्भव नहीं है। 'ऋता' को 'रिता' लिख दें, तो अर्थ ही गड़बड़ में पड़ जाएगा ! संस्कृत में 'ऋ' का रहना अनिवार्य है, भले ही उच्चारण भूल गए हों। वहाँ ऋघटित शब्दों की अनन्त संख्या है, जो 'रि' लिखने से एकदम नष्ट-भ्रष्ट हो जाएँगे। इस लिए 'ऋ' का रहना अनिवार्य–आवश्यक है। अंग्रेजी में अनन्त शब्द ऐसे हैं, जिनके अवयवों का उच्चारण कुछ से कुछ हो रहा है ! जान पड़ता है, पहले वही उच्चारण होगा; जिसके लिए वैसा लिपि-विन्यास है। कालान्तर

में उच्चारण बदल गया; पर लिखावट नहीं बदली गई। बदल दें, तो पुराना साहित्य बहुत दूर पड़ जाएगा, नष्ट हो जाएगा! बहुत से (नज, नाइफ आदि) अंग्रेजी के शब्द ऐसे हैं, जिनकी लिखावट में अनेक ऐसे वर्ण दिए रहते हैं, जिनका कोई उच्चारण ही नहीं! इन 'मृत' वर्णों को भी अंग्रेजी ने इस लिए चिपटा रखा है कि उससे शृंखला बनी हुई है। हिन्दी का सम्पूर्ण शब्द स्रोत संस्कृत के हिमालय से निःसृत है। इस लिए हिन्दी की वर्णमाला में भी 'ऋ' की अनिवार्य सत्ता है। 'लृ' में वह बात नहीं। इसी लिए यहाँ (वर्णमाला में) इसे नहीं रखा गया।

'ऋ' के उच्चारण की बात छोड़ दीजिए। हमें उसका सही पता नहीं। जो उच्चारण आज है, 'मूर्द्धा-तालु' का है; यानी 'द्विवर्णीय' उच्चारण है। 'र्' तथा 'इ' का उच्चारण श्रुत होता है। इसी लिए पाणिनि-व्याकरण के महान् व्याख्याताओं ने 'ऋ' के लोप में 'द्विवर्णलोप' माना है। 'इ' 'उ' आदि के लोप में किसी ने भी 'द्विवर्णलोप' नहीं लिखा-माना। यह 'द्विवर्णता' ही तो सिद्ध करती है कि 'ऋ' का उच्चारण हम भूल गए! इसका मतलब यह हुआ कि इस प्रमुख स्वर का उच्चारण बहुत दिन पहले (संस्कृत के उन महान् वैय्याकरणों के समय में भी) यही था, जो आज है।

'ऋ' के अतिरिक्त शेष मूल स्वरों का उच्चारण मुख के विभिन्न भागों में जिस क्रम से सम्पन्न होता है, उसी क्रम से वर्णमाला में उन्हें रखा गया है–अ, इ, उ। भीतर से शब्द उठते ही जहाँ पहले आकर टकराता है, वह स्थान 'कंठ' है। कंठ द्वारा उच्चरित स्वर 'अ' सबसे पहले संस्कृत तथा हिन्दी की वर्णमाला में है। पाणिनि का प्रथम वर्णसमाम्नाय-सूत्र है–'अइउण्'। इस सूत्र में तीनों मूल स्वर आ गए हैं, जिनका स्वतन्त्र उच्चारण ज्यों का त्यों बना हुआ है। 'ऋ' तथा 'लृ' को इनसे पृथक् अगले स्वतन्त्र सूत्र में पाणिनि ने रखा है–'ऋलृक्'। इसमें 'ऋ' तथा 'लृ' ग्रथित हुए हैं। उन तीन मूल स्वरों से इन दो मूल स्वरों को अलग क्यों रखा गया? और भी कारण हो सकता है, परन्तु एक कारण यह भी कि उन तीनों का उच्चारण ज्यों का त्यों बना हुआ है और इन दोनो का लुप्त हो गया है। इसी लिए इन दोनो की उन तीनो से अलग बस्ती बनाई गई।

'कंठ' के अनन्तर 'तालु' है। 'इ' का उच्चारण तालु से होता है। इस-लिए वर्णमाला में 'अ' के बाद 'इ' को रखा गया है। 'उ' का उच्चारण ओष्ठ से होता है। इसी लिए 'इ' के अनन्तर इसे स्थान मिला है। उच्चारण

क्रम से, उच्चारण-स्थानों के क्रम से 'इ' के अनन्तर 'ऋ' को वर्णमाला में रहना चाहिए था। परन्तु उच्चारण असली तो हम सब भूल गए न! इसी लिए अन्त्य 'स्थान' जिस स्वर (उ) का है, उससे भी बाद पाणिनि ने 'ऋ' को वर्ण-समाम्नाय में रखा है 'ऋऌक्'। 'ऌ' का 'दन्त' स्थान जो प्रसिद्ध है, सही नहीं। इसका उच्चारण तो बहुत पहले उड़ गया होगा। इसी लिए तालु-स्थानीय स्वर (इ) के साथ भी इसे नहीं बैठाया गया। इसीलिए 'उ' के भा अनन्तर 'ऋ' वर्ण-माला में स्थित है। आज के उच्चारण के अनुसार तो 'उ' से पहले और 'इ' के बाद इसका स्थान आता है। परन्तु इससे क्या? अपने असली स्थान का महत्त्व होता है। उसी के लिए कहा गया है—'स्थानं प्रधानम्'। नकली स्थान की कोई कदर नहीं। कोई पूछ नहीं! वहाँ से हटना पड़ता है। 'ऋ' को वर्णमाला में 'र' के साथ भी नहीं बैठाया गया!

स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद

मूल स्वरों को कुछ खींच कर बोलने से स्वरूप में जो एक लम्बापन या दीर्घता आ जाती है, उसे प्रकट करने के लिए वर्णमाला में पूर्णतः पृथक् लिपि-संकेत नहीं रखे गए हैं;—प्रत्युत साधारण या ह्रस्व स्वरों में ही कुछ चिह्न लगा दिए गए हैं।

आ, ई, ऊ, ॠ

ये मूल स्वरों के ही (दीर्घ उच्चारण के) लिपि-संकेत हैं। 'ॠ' का दीर्घ उच्चारण तो हिन्दी में है ही नहीं, पर शेष तीनो स्वरों का वैसा उच्चारण बहुत अधिक है। 'अनार' 'इमली' 'उपमा' में तब तीनो स्वरों का साधारण उच्चारण है। लम्बे उच्चारण का नाम 'दीर्घ' रख लिया गया, तब इसे 'ह्रस्व' कहने लगे। उपर्युक्त तीनो शब्दों में ह्रस्व उच्चारण है, इस लिए ये 'ह्रस्व स्वर' कहलाए—ह्रस्व 'अ' ह्रस्व 'इ' और ह्रस्व 'उ'। परन्तु 'आम' 'ईख' 'ऊखल' शब्दों में वे तीनों स्वर दीर्घ हैं। यहाँ उच्चारण खींच कर है। दीर्घ से दीर्घतर या दीर्घतम उच्चारण हो, तो 'प्लुत' कहलाता है। स्वरों का प्लुत उच्चारण हिन्दी में साधारणतः नहीं होता; परन्तु दूर से किसी को लम्बी आवाज में बुलाने पर या जोर से रोने-गाने में स्वरों का प्लुत उच्चारण सुनाई देता है। दीर्घ उच्चारण बताने के लिए विशेष लिपि-संकेत हैं और व्यंजनों के साथ मिलने पर जो इनके 'मात्रा'—रूप होते हैं, उनमें भी दीर्घ-श्रवण स्पष्ट करने के लिए विशेष लिपि-संकेत हैं; परन्तु 'प्लुत' के लिए वैसी कोई व्यवस्था नहीं

है। संस्कृत में भी नहीं है। पहले अवश्य कोई लिपि-संकेत रहा होगा, जो कम व्यवहार पड़ने के कारण लुप्त हो गया होगा। अब तो प्लुत अभिव्यक्त करने के लिए तीन का अंक (३) आगे बना देते हैं—'ओ३म्'। यानी 'ओ' को कुछ खींच कर यहाँ बोलना है। इसी तरह मजदूर ने जोर से आवाज दी—'राम रे ३' 'ओ ३ राम ३'। आजकल 'राम रे ए ए' और 'राम अ अ अ' या 'रामऽऽऽ' जैसा भी लिख कर कोई-कोई प्लुत प्रकट करने लगे हैं। इन झंझटों से तो तीन का अंक ही अच्छा! 'ऽ' यह चिह्न भी ठीक जँचता है; क्योंकि छन्दशास्त्र में यह एक 'मात्रा' का चिह्न है। ह्रस्व में एक मात्रा, दीर्घ में दो और प्लुत में तीन। 'मात्रा' काल की है। ह्रस्व उच्चारण से कुछ अधिक काल दीर्घ में लगता है, इसी लिए उसकी दो मात्राएँ। प्लुत में कुछ और अधिक काल लगता है, इसलिए तीन मात्राएँ। इस हिसाब से प्लुत में चार और पाँच मात्राएँ भी हो सकती हैं। पं० ओंकारनाथ ठाकुर जैसे संगीताचार्य के 'आलाप' में एक-एक स्वर की छह-छह या सात-सात मात्राएँ भी उच्चारण की दृष्टि से, उस हिसाब से, हो सकती हैं और बीस भी! परन्तु सब के लिए 'तीन' ही मात्राएं प्रकट करने की चाल है। दो से आगे बहुवचन है, चाहे जितनी संख्या हो। '३' से बहुत्व प्रकट होता है, दो से आगे चाहे जितना!

ये 'आ' ई, ऊ' उन मूल स्वरों से पृथक् नहीं हैं। उन्हीं के दीर्घ उच्चारण हैं। स्थान-भेद से वर्ण-भेद होता है। यहाँ वैसा नहीं है। अ-आ, के उच्चारण में स्थान-भेद नहीं है। इसी तरह 'इ-ई' तथा 'उ-ऊ' की बात समझिए। दीर्घता या गुरुता प्रकट करने के लिए मात्राओं की स्थिति या रुख दाहिनी ओर है। दाहिना अंग शक्ति अधिक रखता है। ह्रस्व मात्राओं का रुख या स्थिति बाईं ओर है। बाम निर्बल होता है न!

सो, मूल स्वर ये चार हुए, 'ऋ' को ले कर।

संयुक्त स्वर

चार ही संयुक्त स्वर हैं—

ए, ऐ, ओ, औ

'अ' तथा 'इ' के मेल से 'ए' बना है। 'अ' और 'ए' मिल कर 'ऐ'। 'अ'+उ='ओ' और अ+ओ='औ'।

एक मात्रा 'अ' की और एक 'इ' की, 'ए' में दो मात्राएँ हुईं। इसी तरह अगले तीनो स्वरों में दो-दो मात्राएँ हैं और इसीलिए ये (संयुक्त) स्वर दीर्घ हैं, स्वभावतः। 'ए' का स्थान 'कण्ठ-तालु' है। 'अ' का कण्ठ और 'इ' का तालु; 'ए' का 'कण्ठ-तालु'। स्थान-भेद से स्वरों का स्वरूप-भेद और पृथक् सत्ता।

'ए' का और 'ओ' का उच्चारण हिन्दी में संस्कृत के ही समान है– 'एकः'–'एक' और 'ओष्ठ' 'ओठ'। हिन्दी की पूरबी बोलियों में इन दोनों स्वरो का लघु उच्चारण भी होता है–'एतना'–'ओतना'। यहाँ 'ए' का उच्चारण 'एक' के 'ए' जैसा नहीं, बहुत हलका है। इसी तरह 'ओतना' में 'ओ' समझिए। इस लघु-उच्चारण के लिए लिपि में कोई पृथक् संकेत नहीं हैं। तुलसी के 'रामचरित मानस' में 'ए' तथा 'ओ' के लघु उच्चारण पद-पद पर मिलते हैं। वैसे ही, अभ्यासवश लोग पढ़ते चले जाते हैं। जिन्हें वह उच्चारण नहीं मालूम, उन्हे छन्द की गति शिथिल जान पड़ती है। संस्कृत के 'एतावान' से 'एतना' निकला है। इसके वजन पर 'केतना' 'जेतना' शब्द गढ़े गए हैं! वहाँ 'तावान्' से 'तेतना' भी बना है और 'यावान्' से 'जेतना'। 'ए' सर्वत्र 'एतावान्' के लघु रूप 'एतना' के वजन पर। 'तेतना' की ही जगह 'ओतना' बोलते हैं, जिसमें 'वह' की झलक है। उर्दू के 'एकसा' आदि शब्दों में भी 'ए' का वैसा ही लघु उच्चारण है और इसीलिए वह होते-होते 'यकसा' भी हो गया है। 'मिट्टी कूट कर आँगन एकसाँ कर दो'। 'एकसा' समझिए। परन्तु 'एकसाँ' अव्यय की तरह सर्वत्र समरूप रहता है। 'एक-सा' 'एक-सी' की तरह बदलता नहीं है।

इन स्वरों का लघु उच्चारण प्रकट करने के लिए अब एक चिह्न बना लिया गया है–'केतना' 'जेतना' आदि में 'केतकी' का जैसा और 'जेठ' का जैसा 'ए' उच्चरित नहीं, हलका है। इसी तरह 'ओतना' में 'ओठ' की तरह 'ो' का उच्चारण नहीं, हलका है। परन्तु 'एतना पानी बहुतु है' को कैसे समझाया जाए? स्वरों की बारह–खड़ी चले, तब तो 'अतना पानी' हो सकता है और सम्भव है, 'ओ'– 'औ' के पृथक् लिपि-संकेत कभी (इ, उ, ए की तरह) रहे हों; पर अब तो 'अ' में (ो, ौ) मात्राएँ लगा कर ही वे स्वर प्रकट किए जाते हैं।

वह 'ए' तथा 'ओ' का लघु उच्चारण पश्चिम में बढ़ते-चढ़ते और भी लघु हो जाता है—एकदम 'इ' और 'उ' के रूप में वे स्वर आ जाते हैं। 'ओत-

ना' का 'उतना' और 'एतना' का 'इतना'। इसी तरह 'केतना' का 'कितना' बन गया है। राष्ट्रभाषा में या तो पूरा 'ए' और 'ओ' बोलते हैं, या फिर 'इ' और 'उ'।

यह भी सम्भव है कि राष्ट्रभाषा ने पहले 'इयान्' 'कियान्' (इयत्-कियत्) से 'इतना'–'कितना' शब्द बनाए हों, जो पूरब में 'अ॑तना' 'क॑तना' हो गए हों !

'ऐ' तथा 'औ' के भी द्विविध उच्चारण हैं। यहाँ (राष्ट्रभाषा में) 'ऐ' का उच्चारण बहुत कुछ 'अय्' जैसा होता है और 'औ' का 'अव्' से मिलता-जुलता—'ऐसा' 'और'। संस्कृत में इससे कुछ भिन्न उच्चारण इन स्वरों का है—'ऐश्वर्य्य-'औदार्य्य'। संस्कृत के उच्चारण से मिलता-जुलता उच्चारण इन स्वरों का हिन्दी की पूरबी बोलियों में है। मदरासी भाई भी इन दोनो स्वरों का वैसा ही उच्चारण करते हैं, जैसा कि उत्तर प्रदेश के पूरबी भागों में होता है। 'पैसा' को वहाँ 'पइसा' जैसा बोलते हैं। राष्ट्रभाषा का 'ऐसा' पूरब की बोलियों में 'ऐस' (अइस) है और 'कैसा' है 'कैस' (कइस)। खड़ी पाई (पुंविभक्ति) का क्षेत्र वह नहीं है। 'अ॑तना'-'क॑तना' आदि में पुंविभक्ति अवश्य है और भूतकाल की क्रियाओं में भी है। इतनी हवा वहाँ पहुँच गई है। हाँ, वे 'ऐस' तथा 'कैस' वहाँ 'अइस' तथा 'कइस' से मिलते-जुलते उच्चरित होते हैं।

यह उच्चारण-भेद कोई असाधारण बात नहीं है। स्थान-भेद से उच्चारण-भेद हो जाता है। संस्कृत का उच्चारण उत्तर प्रदेश के पंडित जैसा करते हैं, दाक्षिणात्य उससे भिन्न करते हैं। बंगाल के पण्डित 'एतस्य' को 'एतस्स' से मिलता-जुलता बोलते हैं, 'सरस्वतीम्' को 'सरस्सर्तीम्' बोलते हैं। 'यदि' को वहाँ 'जोदि' बोलते हैं, 'ओ' का लघु उच्चारण कर के। परन्तु संस्कृत का पाण्डित्य दक्षिण में और बंगाल में कैसा उदात्त-गम्भीर है, सब जानते हैं। सम्भव है, दाक्षिणात्य पण्डित उत्तर प्रदेश के संस्कृत-पण्डितों के उच्चारण को ही गलत बतलाते हों। परन्तु यह उच्चारण-भेद संस्कृत भाषा में कोई भेद पैदा नहीं करता ! सब सब की संस्कृत मजे से समझते हैं, वैसा उच्चारण-भेद होने पर भी। और, लिखावट में तो कोई अन्तर है ही नहीं। किसी भी सार्वभौम भाषा के कुछ शब्द देश-भेद से उच्चारण-भेद प्राप्त कर लेते हैं। अंग्रेजी में 'शिक्षा' का वाचक जो शब्द है, उसका उच्चारण कहीं 'एजूकेशन' होता है, कहीं 'एड्यूकेशन'। परन्तु तो भी, सब की अंग्रेजी सब समझ लेते हैं।

तो भी, एक भाषा के एक उच्चारण में जहाँ तक एकता रहे, अच्छी बात है। सब के हित की बात है। भ्रम-सन्देह को अवकाश नहीं मिलता है।

स्वरों के अनुनासिक-अननुनासिक भेद

इन सब स्वरों के दो भेद और किए जाएँगे-साधारण और अनुनासिक। एक भेद 'अनुनासिक' हुआ, तब 'साधारण' स्वरों को 'अननुनासिक' या 'निरनुनासिक' कहने लगे। कोई-कोई 'अनुनासिक' को 'सानुनासिक' कहते लिखते हैं, जो अभी अनुपद गलत सिद्ध होगा।

'पूर्वपीठिका' में जैसा निर्देश किया गया है, हिन्दी की प्रवृत्ति अनुनासिक-प्रधान है, संस्कृत की अनुस्वार-प्रधान। जब भी हिन्दी किसी संस्कृत शब्द को तद्भव रूप देती है, तब अनुस्वार तथा 'न्'-'ङ्' आदि को हटा कर उसके (आश्रय) स्वर को प्रायः अनुनासिक कर देती है। इस के अपवाद भी हो सकते हैं; परन्तु प्रवृत्ति यही है।—'अङ्गुष्ठ'-'अँगूठा', 'सम्भालन' (संभालन)—'सँभालना', 'अक्षि' 'आँख', 'अङ्गुलि'-'अँगुली', 'अंत्र'-'आँत', 'दन्त'-दाँत' आदि। 'अङ्' 'सम्' 'अन्' आदि का उच्चारण अनुस्वार से मिलता-जुलता है, इस लिए इन्हें भी हटा कर हिन्दी स्वर को अनुनासिक कर देती है। यानी अनुस्वार हो, या उसका कोई भाई हो, सबको एक दृष्टि से यहाँ देखा जाता है। 'अक्षि' में वैसी कोई चीज नहीं है, तो भी हिन्दी ने अपने तद्भव शब्द में अनुनासिक-प्रवृत्ति दिखाई है।

इसका यह मतलब नहीं कि हिन्दी में अनुस्वार का बहिष्कार है। संस्कृत तद्रूप शब्द 'संवाद' 'अहंकार' आदि यहाँ बराबर सानुस्वार ही चलते हैं। 'अंगूर' 'अंटा' 'डंडा' 'फंडा' 'झंडा' आदि अपने शब्दों में भी अनुस्वार स्पष्ट है। 'दन्त' कभी भी 'दंत' न होगा; परन्तु तद्भव 'दाँत' भी 'दान्त' या 'दांत' न बनेगा। संस्कृत (तद्रूप) शब्द 'दान्त' पृथक् चीज है–'दमनशील' तभी तो तद्भव अनुनासिक 'दाँत' बनाया गया है। 'दाँत को 'दांत' भी न लिखना चाहिए; क्योंकि उच्चारण (अहिन्दीभाषी) इसका 'दाङ्त' या 'दाम्त' करेंगे। अनुनासिक और अनुस्वार में अन्तर है। हिन्दीभाषी तो समझ ही लेते हैं; क्योंकि अभ्यस्त हैं। 'नींद' आदि में अनुनासिक चिह्न लगाना दिक्कत की चीज है और 'ऐंठना' आदि में भी। पर 'अ-आ' में अनुसिक चिह्न लगाने में दिक्कत नहीं। 'कंगाल' और 'कँगला' में अन्तर है। 'सँदेसा' को 'संदेसा' कहना करना ठीक नहीं।

अनुस्वार और अनुनासिक में भेद

अनुस्वार तथा अनुनासिक में भेद बताते हुए लोगों ने लिखा है कि अनुनासिक का उच्चारण हलका (लघु) होता है और अनुस्वार का खींच कर; यानी गहरा या गुरु ! यह कोई भेद की बात नहीं है और गलत भी है। अनुनासिक कोई पृथक् ध्वनि नहीं है कि इसके उच्चारण में लघुता या हलका-पन बताया जाए ! हाँ; अनुस्वार अवश्य पृथक् ध्वनि है और इसी लिए उस के उच्चारण की एक 'मात्रा' गिन कर तदाश्रय स्वर 'गुरु' माना जाता है। इसी लिए इस का उच्चारण वैसा गम्भीर होता है। परन्तु 'अनुनासिक' वैसी चीज नहीं है। इसकी (अनुस्वार की तरह) पृथक् सत्ता नहीं है—स्वर से पृथक् इस की ध्वनि नहीं की जा सकती। अनुस्वार स्वर से पृथक् चीज है, जैसे अंगूर की बेल से अंगूर का गुच्छा। 'अंगूर' कहने में 'अङ्गूर' की ध्वनि स्पष्ट होती है। पहले शुद्ध 'अ' उच्चरित होता है, जिसमें नासिका का तनिक भी सहारा नहीं लिया जाता। उस 'अ' के अनन्तर अनुस्वार उच्चरित होता है, जिसकी आवाज 'ङ्' जैसी श्रुत होती है। स्वर के अनन्तर आने से ही 'अनुस्वार'। 'अनुस्वर'>'अनुस्वार'। यों अनुस्वार स्वर से पृथक् है। इसी लिए 'अंगूर' के 'अ' को 'सानुस्वार' कहेंगे—'अनुस्वार के सहित'। जो चीज अलग है, वहीं 'साथ' रह सकती है; परन्तु जो चीज स्वरूपगत है, उसके लिए वैसा न कहा जाएगा। किसी ऊँची या नीची चीज से उसकी उँचाई या निचाई की अलग स्थिति नहीं। 'अनुनासिक' स्वरों की स्वरूपगत चीज है, इसलिए 'सानुनासिक स्वर' कहना गलत है। 'मधुर फल' की जगह 'समधुर फल' कौन बोलता है ? 'अनुनासिक' विशेषण है और 'अनुस्वार' संज्ञा है। 'अंगूर' में जैसे 'अ' के अनन्तर अनुस्वार मालूम पड़ता है, वैसे ही 'अँगुली' या 'अँगूठी' में अनुनासिक भी मालूम पड़ता है क्या ? यहाँ भी वैसा शुद्ध 'अ' पहले उच्चरित होता है क्या, जिसमें नाक का सहारा कतई न हो ? फिर उस 'अ' के अनन्तर कोई नासिक्य ध्वनि सुनाई पड़ती है क्या ? नहीं ! वह 'अ' स्वरूपतः अनुनासिक उच्चरित होता है—'अँ'। इसी लिए इसे 'सानुनासिक' नहीं, 'अनुनासिक' 'अँ' कहते हैं। नासिका यहाँ अनुस्यूत है। जैसे 'अनुस्वार अ' कहना गलत ,'सानुस्वार' ठीक; उसी तरह 'सानुनासिक' गलत, 'अनुनासिक अ' सही। सभी स्वर अनुनासिक हो सकते हैं। दीर्घ स्वरों में अनु-नासिक भी दीर्घ उच्चरित होगा—आँत, दाँत ईंट, छींट, ऊँट, खूँटा, में, हैं, लड़कों को, औंध, भौंरा आदि। इसलिए सदा ही अनुनासिक का उच्चारण

'लघु' बताना गलती है। हाँ, अनुस्वार तथा अनुनासिक के उच्चारण में जो अन्तर है, समझ लेने की चीज है। उच्चारण-भेद से ही तो वस्तु-भेद है।

अनुस्वार और विसर्ग

अनुस्वार और विसर्ग कई व्याकरण-पुस्तकों में 'एक तरह के व्यंजन' मान लिए गए हैं और व्यंजनों में ही इनका वर्णन किया गया है ! यह गलती है। ये ध्वनियाँ न तो स्वर हैं, न व्यंजन हैं। हाँ, स्वरों के सहारे इन्हें चलते जरूर देखा जाता है। स्वतन्त्र गति नहीं, इस लिए ये स्वर नहीं हैं और व्यंजनों की तरह ये स्वरों के पूर्व नहीं, पश्चात् आते हैं, इसलिए व्यंजन नहीं। वर्णों की दो श्रेणियों में से किसी के भी साथ इनका जातीय योग नहीं है। इसी लिए इन दोनो ध्वनियो को 'अयोगवाह' कहते हैं। न स्वरो से योग, न व्यंजनों से; फिर भी अर्थ-वहन करते हैं। इसी लिए 'अयोगवाह'। 'अनुस्वार' तो ऊपर देख ही चुके, स्वर के बाद रहता है। पूर्व में स्वर और पश्चात् अनुस्वार। व्यंजन स्वर से पहले आते हैं। 'कंकण' में 'क्' पहले है 'अ' से और उस 'अ' के बाद है अनुस्वार।

अनुस्वार की ही तरह विसर्ग भी स्वर के बाद आते हैं—'प्रायः'। 'य्' के 'अ' से बाद विसर्गों का उच्चारण है। एक झटके से विसर्जन है।

विसर्गों का उच्चारण 'ह' जैसा होता है। इसी कारण 'छह' तथा 'ज्यादह' आदि को लोग 'छः'-'ज्यादः' लिखने लगे थे ! बड़ी कठिनाई से यह गलती समझाई गई। अब तो 'छह' तथा 'ज्यादह' लिखा जाने लगा है। 'भामह' को भी लोगों ने 'भामः हिन्दी में कर दिया था !

परन्तु 'ह' से पृथक् ध्वनि विसर्गों की होनी चाहिए। प्रत्येक ध्वनि के लिए लिपि में पृथक् संकेत आर्य-पद्धति है। एक ही ध्वनि के लिए अनेक लिपि-संकेत नहीं हो सकते। निःसंदेह वह ध्वनि 'ह' की ध्वनि से मिलती-जुलती होगी; क्योंकि इन दोनो का उच्चारण-स्थान कंठ ही है। कालान्तर में वह सूक्ष्म भेद नष्ट हो गया ! अब आज तो (संस्कृत-जगत् में भी) विसर्गों का उच्चारण 'ह' जैसा ही होता है।

संस्कृत में विसर्गों के बिना काम ही नहीं चल सकता। वहाँ अनेक कारकों की अभिव्यक्ति विसर्गों के बल पर ही है। सो, उच्चारण चाहे कुछ इधर-उधर भी हो गया हो, परन्तु विसर्ग की स्थिति वहाँ ज्यों की त्यों है।

हिन्दी के गठन में विसर्गों का कोई स्थान नहीं है। 'रामः' के विसर्गों को हिन्दी ने 'आ' (ा) के रूप में पुंविभक्ति बना लिया है और 'तद्रूप' संस्कृत शब्द विसर्ग-रहित यहाँ गृहीत होते हैं—'रामः पिबति'—'राम पीता है'। इसी तरह 'हरिः पठति'—'हरि पढ़ता है'। 'आयुः' 'तेजः' 'पयः' आदि शब्दों के विसर्ग हटा कर 'आयु' 'तेज' 'पय' आदि के रूप में निर्विसर्ग यहाँ लिए गए हैं। हाँ 'प्रायः' आदि संस्कृत-अव्यय यहाँ तद्रूप जरूर चलते हैं। या फिर संस्कृत के सामसिक शब्द 'मनःस्थिति' 'तेजोमय' आदि में विसर्ग या उस के रूपान्तर ('ओ' आदि) चलते हैं। 'मनस्तत्व' 'निश्चेतन' आदि संस्कृत तद्रूप सामसिक शब्द हिन्दी में चलते हैं, जहाँ विसर्गों के 'स्' तथा 'श्' रूपान्तर दिखाई देते हैं। ठेठ हिन्दी शब्दों में विसर्ग कहीं न मिलेंगे। उस झंझट से अलग होने का ही परिणाम तो भाषा-विकास है। कहाँ विसर्ग लगाओ, कहाँ न लगाओ; कहाँ उनको 'ओ' करो और कहाँ 'स्' या 'श्' किंवा 'ष्' करो; यह सब साधारण जनता के लिए बड़ा सिरदर्द है। इसी लिए वह झंझट हटा दी गई। हिन्दी के गठन से विसर्गों का कोई सम्बन्ध नहीं। हाँ, जो शिक्षित जन अपनी भाषा को संस्कृत के तद्रूप शब्दों से समृद्ध-गम्भीर करना चाहें, करें। वे विसर्गों का यथास्थित प्रयोग करें, करते ही हैं। परन्तु संस्कृत शब्दों में ही। ऊपर हमने हिन्दी के गठन में विसर्गों की चर्चा प्रसंगवश संक्षेप में कर दी है। आगे यह विषय और स्पष्ट हो जाएगा, जब 'कारक' समझाए जाएँगे। 'मनः स्थिति' आदि तत्सम शब्दों में 'मनः' चलता है; परन्तु 'प्रातिपदिक' रूपसे 'मनः' न आएगा; यानी विसर्गान्त 'कारक' हिन्दी में न होंगे। 'मन चला गया' की जगह 'मनः चलागया' न होगा; न 'मनः को नियन्त्रित करो' चलेगा। 'मन को' हिन्दी है। इसी तरह सम्बन्ध और सम्बोधन में—'मन का रूप'—'मन, तू मानता क्यों नहीं' होगा—'मनः' कभी भी नहीं। विशेषणों में भी यही बात है। 'महामनाः' के विसर्ग अलग करके 'महामना मालवीय'। जो बात विसर्गों के सम्बन्ध में यहाँ कही गई है, वही व्यंजनों के सम्बन्ध में भी है। हिन्दी में सब कुछ स्वरान्त है।

इस तरह स्वरों की चर्चा संक्षेप से की गई और इनके साथी 'अयोग-वाह' (अनुस्वार-विसर्ग) का भी उल्लेख किया गया। 'अयोगवाह' स्वरों के ही अनन्तर आते हैं। अब वर्णों की दूसरी बड़ी जाति 'व्यंजन' देखिए। पहले स्वतन्त्र स्वर, तब पराश्रित व्यंजन।

व्यंजन और उनके भेद

व्यंजन वर्णों को तीन मुख्य श्रेणियों में बाँटा गया है–

(१) अन्तस्थ (२) ऊष्म और (३) वर्गीय।

य, र, ल, व इन चार वर्णों को अन्तस्थ' कहते हैं। श, ष, स, ह इन चार व्यंजन वर्णों को 'ऊष्म' कहते हैं, और 'क' से 'म' पर्य्यन्त, पचीस व्यंजन 'वर्गीय' कहे जाते हैं। इन्हें संस्कृत में 'स्पर्श' भी कहते हैं। पाँच-पाँच व्यंजनों का एक-एक वर्ग है। कुल पाँच 'वर्ग' हैं। ये वर्ग उच्चारण स्थान की एकता को लेकर किए गए हैं। उच्चारण में 'अन्तस्थ' तथा 'ऊष्म' भी इन्हीं पाँचो वर्गों में कहीं न कहीं आ जाते हैं, परन्तु उनके पृथक् उपनिवेश उन नामो से बन गए, तब वहीं अलग गिने जाते हैं। उन्हें यहाँ लाने से पाँच-पाँच की सुन्दर बनी हुई लड़िया भी घट-बढ़ कर बेमजे हो जातीं! इसी लिए पाँच-पाँच व्यंजनो के पाँच वर्ग बना दिए गए। इन्हे इसी लिए 'वर्गीय' व्यंजन कहते हैं हिन्दी वर्णमाला मे—

१—क, ख, ग, घ, ङ,		कंठ-स्थान कवर्ग
२—च, छ, ज, झ, ञ,		तालु-स्थान–चवर्ग
३ ट, ठ, ड, ढ, ण,	—	मूर्द्धा-स्थान- टवर्ग
४ त, थ, द, ध, न,	..	दन्त-स्थान–तवर्ग
५ प, फ, ब, भ, म,	...	ओष्ठ-स्थान–पवर्ग

कवर्ग–'क' के वर्ग वाले। इसी तरह 'चवर्ग' आदि। पाणिनि ने अपने वर्णसमाम्नाय में **स्थान भेद से नहीं**, 'अल्पप्राण'–महाप्राण ('प्रयत्नों' के) भेद से 'स्पर्श' व्यंजनो को व्यवस्थित किया है—

१—ञ, म, ङ, ण, न	—	(अनुनासिक अल्पप्राण)
२—झ, भ, घ, ढ, ध	—	(वर्गीय महाप्राण)
३—ज, ब, ग, ड, द	—	(वर्गीय अल्पप्राण)
४—ख, फ, छ, ठ, थ	—	(वर्गीय महाप्राण)
५—च, ट, त, क, प	—	(वर्गीय अल्पप्राण)

यों दूसरी तरह से पाँच 'वर्ग हो' गए। एक अनुनासिक अल्पप्राण वर्ग, दूसरा चतुर्थ व्यंजनों का महाप्राण वर्ग; तीसरा तृतीय व्यंजनों का अल्पप्राण वर्ग, चौथा वर्गीय चतुर्थ व्यंजनों का महाप्राण वर्ग, पाँचवाँ वर्गीय प्रथम अक्षरों का अल्पप्राण वर्ग।

पाणिनि ने सूत्रों में विशेष कार्य के लिए ऐसी पाँच लड़ियाँ बनाई हैं वस्तुतः 'प्रयत्न' के आधार पर तीन ही श्रेणियाँ की जा सकता हैं।

१—अल्पप्राण

क, च, ट, त, प

ग, ज, ड, द, ब.

२ – महाप्राण–

ख, छ, ठ; थ, फ.

घ, झ, ढ, ध, भ.

३ –अनुनासिक अल्पप्राण–

ङ, ञ, ण, न, म.

यों वर्गीय व्यंजनों को मुख्यतः त्रिधा विभक्त किया जा सकता है। इन तीनो व्यंजन-विभागों का संक्षिप्त परिचय अपेक्षित है।

१—अल्पप्राण व्यंजन

'अन्तस्थ' तथा वर्गों के प्रथम क, च, ट, त, प) और तृतीय (ग, ज, ड, द, ब) 'अल्पप्राण' हैं। इनका उच्चारण कोमल है, 'महाप्राण' व्यंजनों का अपेक्षा। 'क-ख' 'ग-घ' देखिए, कितना अन्तर है? कोमल वर्णन में 'अल्पप्राण'-प्रचुर पद अधिक अच्छे लगते हैं और वीर-रौद्र आदि रस या वैस उद्भट सिंह आदि के वर्णन में 'महाप्राण' वर्ण फबते हैं।

य, र, ल, व, को 'अन्तस्थ' इस लिए कहते हैं कि इन का उच्चारण व्यंजन तथा स्वरों का मध्यवर्ती-सा लगता है। 'अन्तः-स्थित' से ये जान पड़ते हैं, स्वर-व्यंजनों के। इसी लिए इनकी जगह 'सम्प्रसारण' से इ, उ, ऋ, लृ' हुआ करते हैं। इसीलिए सोसाइटी-'सोसायटी' जैसे द्विरूप शब्द सामने हैं। 'कोइ'-'कोय' और 'धोइ'-'धोय' जैसे रूप भी हैं। 'यज्' के 'य' को संस्कृत में 'इ' हो जाता है। अनन्त उदाहरण हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि मूल भाषा में एक ऐसा मूल स्वर था, जो वाद में लुप्त हो गया, जिसकी याद-गार या समाधि 'लृ' के रूप में विद्यमान है। शेष तीन स्वर तो बराबर य, व, र का स्थान ग्रहण करते रहते हैं और उन स्वरों का य् व् र् होना तो प्रसिद्ध ही है। कभी-कभी 'ए' तथा 'ओ' को भी 'य-व' (हिन्दी में) होते देखा जाता है। विधि-प्रत्यय 'इ' का व्याकरण-दृष्ट रूप 'ए' है—'राम आए' राम पढ़े, राम सोए। परन्तु साधारण जन-भाषा में यह ('इ', 'य' के रूप

में भी आ जाती है—'राम जाय' 'लड़की फल खाय' इत्यादि । 'ओतना' 'वतना' 'उतना' देखिए। 'इतना' कहीं (पूरब में) 'यतना' के रूप में भी जनगृहीत है, जो 'एतना' से है। इसी लिए इनका नाम 'अन्तस्थ' रखा गया होगा। 'अन्तः (मध्ये स्वरव्यञ्जनयोः) तिष्ठन्तीति 'अन्तःस्थाः'। 'अन्तः स्थ' के विसर्गों का लोप संस्कृत-व्याकरण की प्रक्रिया से होकर-'अन्तस्थ' । यह मेरी अपनी कल्पना है, जो जमती नजर आती है। कुछ भी हो, य, व, र, ल व्यंजन 'अन्तस्थ' हैं।

२—अनुनासिक अल्पप्राण

वर्गीय पंचम व्यंजन (ङ, ञ, ण, म, न) अनुनासिक 'अल्पप्राण' हैं। इनका उच्चारण कोमल तो (अन्य अल्पप्राण-व्यंजनों का सा) है ही; परन्तु उस (कोमलता) में मधुरता भी आ मिली है। 'मन मेरो नहिं मानै' का माधुर्य देखिए और 'चित्त कहा मेरा न करे' से मिलान कीजिए। एक जगह कोमल-मधुर ध्वनि है, दूसरी जगह केवल कोमल। ढ, ध, घ, भ, व्यंजनों से भरे पद दे दें, तो कठोरता आ जाएगी। 'भूधराकार' और 'पर्वताकार' इन दो विशेषणों में से कौन सा 'कुम्भकर्ण' के लिए ठीक बैठेगा ? तुलसी ने 'भूधराकार' दिया है। 'पर्वताकार' में वह बात नहीं।

सो, मधुरता की विशेषता से इनकी एक पृथक् श्रेणी रखनी चाहिए— 'अनुनासिक अल्पप्राण' या 'कोमल-मधुर' व्यंजन। इसी लिए 'नयन' और 'चक्षु' का प्रयोग-भेद है—एक का कोमलाङ्ग के लिए, दूसरे का परुषाङ्ग के लिए। हिन्दी के गठन में ङ, ञ तथा 'ण' का कोई योग नहीं है। जो मिठास 'न' तथा 'म' में है, वह इन तीनों में नहीं है। इसी लिए हिन्दी ने 'न' तथा 'म' को ही अपनाया है। संस्कृत (तद्रूप) शब्द जो हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं, उनमें ही ये (ङ, ञ, ण) व्यंजन आते हैं:—'वाङ्मय' 'चाञ्चल्य' 'पाण्डित्य' आदि। ङ तथा ञ की अपेक्षा 'ण' अधिक आता है—कारण, धारणा, मरण, भरण, पोषण आदि। 'ङ्' संस्कृत में भी बहुत कम अन्त्य रूप से ('प्रत्यङ्' आदि में) आता है; पर 'ञ' तो (अन्त में) मिलेगा ही नहीं! आदि में तो कभी भी ये (ञ, ङ, ण) आएँगे ही नहीं। हाँ, प्राकृत में जरूर णकारादि शब्दों की भरमार है।

इन 'अनुनासिक अल्पप्राण' व्यंजनों को 'द्विस्थानीय' समझना चाहिए, क्योंकि इनके उच्चारण में मुख के कंठ आदि भागों के साथ नासिका का भी सहयोग है। इसलिए—

१—'ङ' कण्ठ नासिका स्थान
२—'ञ' तालु-नासिका स्थान
३—'ण' मूर्द्धा-नासिका स्थान
४—'न' दन्त–नासिका स्थान
५—'म' ओष्ठ–नासिका स्थान

अनुस्वार का स्थान भी नासिका है। संस्कृत-व्याकरण के अनुसार 'म्' को प्रायः और 'न्' को कभी-कभी अनुस्वार हुआ करता है और अनुस्वार को भी यथास्थान ङ् ञ् ण् न् तथा म् हुआ करता है। यही (नासिका-सहयोग) कारण है कि अनुस्वार लगने से भी स्वर-व्यंजन मधुर ध्वनि देने लगते हैं—'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि'। जैसा 'न' वैसा ही अनुस्वार मधुर। दूध और मिसरी का मेल।

अनुनासिक व्यंजनों की ही तरह सानुस्वार स्वरों को भी 'द्विस्थानीय' कह सकते थे; परन्तु नहीं कहा जाता; इस लिए कि 'अँ' एक ध्वनि है; पर 'अं' में दो ध्वनियाँ हैं—'अङ्' जैसा श्रवण होता है। 'अ' से अनुस्वार पृथक् सत्ता रखता है, तब 'अं' को द्विस्थानीय कैसे कहा जाए? 'अ' का कण्ठ स्थान है, अनुस्वार का नासिका है; यों निर्देश होगा। पर 'अँगूठी' का 'अँ' द्विस्थानीय है। 'अं' कण्ठ और नासिका; पृथक्-पृथक् जैसे 'प्यास' का 'प्या' ओष्ठ-तालु-कण्ठ स्थान वाले पृथक् वर्णों से है। अनुनासिक स्वर भी मधुर होते हैं—'अँखियाँ हरि-दरसन की प्यासी' में अँखियाँ' देखिए। 'अँखियाँ' में जो मिठास है, वह 'अखरता है' में है क्या? अनुनासिक स्वरों को 'द्विस्थानीय' ध्वनित करने के लिए ही शायद 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' कहा गया है—'मुख-सहित नासिका से उच्चार्यमाण वर्ण 'अनुनासिक' होता है। 'वर्ण' में स्वर ('अँ' आदि) तथा व्यंजन (ङ् आदि) दोनों वर्ग अनुनासिकों के आ गए। जैसे 'अँ' में 'अ'से अनुनासिक नाम की चीज पृथक् नहीं, उसी तरह इन अनुनासिक व्यंजनों में भी आप देखते हैं। ध्वनि पृथक् नहीं, इसी लिए इन्हें 'संयुक्त वर्ण' नहीं कहा जा सकता। 'जन्म' में 'न्म' तीन वर्णों से है; तीन ध्वनियाँ हैं 'न् म् अ'। अब इन तीनों में से किसी भी एक को द्विधा विभक्त नहीं कर सकते। 'म्' एक वर्ण है, जैसे 'अँ'। एक अनुनासिक व्यंजन, दूसरा अनुनासिक स्वर।

महाप्राण व्यंजन

'ऊष्म' वर्ण (श, ष, स, ह) तथा वर्गों के द्वितीय-चतुर्थ अक्षर 'महाप्राण' हैं। इनका उच्चारण महाप्राणता प्रकट करता है। ऊष्मा (गरमाहट) इनमें स्पष्ट है। महाप्राण ही ठहरे! श, ष, स ये वर्ण आपस में एक दूसरे के रूप में आया करते हैं। हिन्दी के गठन में तो 'स' मात्र काम में आया है। संस्कृत (तद्रूप) शब्द जो हिन्दी में चलते हैं, उनमें 'श' तथा 'ष' आता है। कुछ विदेशी शब्द भी हिन्दी में 'श'-घटित चलते हैं—पेचिश, शाबाश, शेर, शोर आदि।

इन 'ऊष्म' वर्णों का उच्चारण 'क तथा 'य' आदि की अपेक्षा जोरदार है। इन सब का गुरु है 'ह'। 'स' को प्रायः 'ह' हो जाया करता है। पंजाब जैसे अक्खड़ प्रान्त में 'स' के जोर से काम न चला, तब उसे 'ह' कर दिया गया। हमारे 'पैसा' तथा 'ऐसा' आदि शब्द वहाँ 'पैहा' 'ऐहा' हो जाते हैं। 'और' वहाँ 'होर' हो जाता है। हिन्दी में 'दस' से जोरदार 'दहला' बन जाता है। जोरदार काम करने पर कहते हैं—'उसने तो अच्छा नहले पर दहला जमाया'।

विसर्गों का उच्चारण 'ह' से मिलता-जुलता है और इसी लिए संस्कृत में 'स्' को प्रायः विसर्ग तथा विसर्गों को 'स्' हुआ करता है।

भाषा के विकास में 'ह' वर्ण का जो स्थान है, अन्य किसी वर्ण का नहीं। इसका नमूना 'हिन्दी-निरुक्त' में देख सकते हैं।

वर्गों के अल्पप्राण ('क' आदि) व्यंजनों को भी 'ह' महाप्राण बना देता है, यदि ये उसके साथ अभिन्न होकर रहें। यह शक्ति दूसरे किसी महाप्राण वर्ण में नहीं है। ऐसा महाप्राण यह एक ही है, जो अल्पप्राणों को भी महाप्राण बना देता है। वीर तो बहुत हो सकते हैं, परन्तु जो दूसरों को भी वीर बना दे, उसकी विशेषता है। गुरु गोविन्द सिंह ने कहा था—'जो चिड़ियों को बाज बनाऊँ, तौ गुरु गोविन्द सिंह कहाऊँ'। उन्होंने चिड़ियों को—दबे-पिसे किसानों को—बाज बना दिया, 'सिंह' बना दिया, जिनका लोहा बड़ों-बड़ों को मानना पड़ा। भाषा का यह 'ह' भी ऐसा ही है। यह 'क् च् तथा ग् ज् आदि 'अल्पप्राण' व्यंजनों को सहयोग देकर उन्हें महाप्राण बना देता है—'ख छ' तथा 'घ झ' वे बन जाते हैं। 'ह् के सहयोग

से ही अल्पप्राण (वर्गों के प्रथम-तृतीय) वर्ण महाप्राण बन गए हैं, जो कि एक-एक सीढ़ी आगे बढ़ कर द्वितीय-चतुर्थ व्यंजनों के रूप में स्थित हैं। दो महाप्राण एक साथ संयुक्त हो कर नहीं रहते। 'ह्' 'ह्' मिलकर नहीं आते। इसी तरह 'घ्' में 'घ', 'ख्' में 'ख' और 'ध्' में ध का संयोग नहीं होता। एक नरम पड़ जाता है–'क्रुद्ध'-'बुद्ध'। पहला 'ध्' 'द्' बन गया है ! नरम-गरम का मेल हो सकता है। हाँ, 'स' के साथ 'स' मिलता है। 'मस्सा 'किस्सा' आदि। 'स' की अपेक्षा 'ह' जोरदार है—'असली बब्बर'

जैसे 'ए ऐ ओ औ' ये संयुक्त स्वर हैं, उसी तरह वर्गीय द्वितीय-चतुर्थ वर्णों को भी 'संयुक्त व्यंजन' कहा जा सकता है। और जैसे उन्हें 'द्विस्थानीय' कहा गया है, उसी तरह इन्हें भी कहा जा सकता है। इस दृष्टि से स्थान-निर्धारण यों किया जा सकता है। इनमें 'ख-घ' का कंठ (एक ही) स्थान रहेगा, क्योंकि कवर्ग का भी कंठ स्थान है और 'ह्' का भी। शेष वर्गीय महाप्राण 'द्विस्थानीय' समझे जाएँगे। एक स्थान अपना और दूसरा 'ह' का 'कंठ'–

१—छ झ – तालु – कंठ
२—थ ध – दन्त – कंठ
३—ठ ढ – मूर्द्धा – कंठ
४—फ भ – ओष्ठ – कंठ

जैसे उन संयुक्त स्वरों को विशिष्ट रूप प्राप्त हो जाने के बाद पृथक लिपि-संकेत प्राप्त हुए, उसी तरह इन संयुक्त व्यंजनों को भी। शेष संयुक्त व्यंजन पृथक् स्वरूप रखते ही हैं—क्या, स्त, स्म आदि। हाँ, 'क्ष त्र ज्ञ' का भी विशिष्ट रूप हो गया है और लिपि-संकेत भी पृथक् हो गए हैं। 'श्र' भी ऐसा ही है। वर्धा-प्रणाली में 'क्ष' 'त्र' के रूप भी 'क्ष' 'त्' लिखे जाते हैं, पर 'श्री' वहाँ भी एकरूप है। ये इस तरह की बातें (लिपि-संबन्धी) ऐसी हैं, जिन पर विस्तार से यहाँ लिखना न सम्भव है, न प्राकरणिक ही है।

ऊपर सर्वत्र 'क' 'ख' आदि व्यंजनों में उच्चारणार्थ अन्त में 'अ' है। इस 'अ' को अलग कर के 'क्' आदि व्यंजन मात्र के वे (कंठ आदि) 'स्थान' समझने चाहिए। अन्यथा, स्वर का स्थान भी समाविष्ट हो जाएगा। 'चि' का जरूर 'तालु' है; क्योंकि स्वर-व्यंजन दोनों समस्थानीय हैं। परन्तु उदा-

हरणार्थ 'च्' का तालु स्थान है, परन्तु 'अ'-सहित 'च' का 'तालु-कंठ' स्थान हो जाएगा। 'चु' का 'तालु-ओष्ठ' स्थान है। 'प' का कंठोष्ठ और 'पि' का 'ओष्ठ-तालु'। 'कि' का कंठ-तालु और 'कु' का कंठ-ओष्ठ स्थान। इसी तरह आगे सब समझ लीजिए। व्यंजन के उच्चारणार्थ स्वर अपेक्षित है। सो, स्वर-रहित व्यंजनों के ही वे 'कंठ' आदि स्थान समझने चाहिए।

हाँ, यदि व्यंजन से पूर्व स्वर हो, तब उसका स्वतंत्र उच्चारण होता है। 'वाक्' 'विद्वान्' आदि में 'क्' 'न्' आदि का उच्चारण अलग जान पड़ता है। यहाँ भी स्वर का सहारा तो पूर्व में है, परन्तु उसके पीछे व्यंजन पृथक् श्रुत है। पहले व्यजन आए, तब यह स्थिति न होगी। बोलते ही न बनेगा।

वर्ण-सन्धियाँ

जब दो या अधिक वर्ण पास-पास (आनन्तर्य से) आते हैं, तो कभी-कभी उनमें रूपान्तर हो जाता है। इसी रूपान्तर को 'सन्धि' कहते हैं। सन्धि सजातीय वर्णों में भी होती है, और विजातीयों में भी। अर्थात् स्वरों की आपस में सन्धि होती है, व्यंजनो की व्यंजनो से होती है और कहीं स्वर तथा व्यंजन की भी। सन्धि में कभी दोनो वर्ण अपना रूप बदल कर एक तीसरे ही रूप में प्रकट होते हैं और कभी उन में से एक ही अपना रूप परिवर्तित करता है, दूसरा वैसा ही बना रहता है। कभी-कभी ऐसी सन्धि होती है कि दो में से एक का रूपापहार ही हो जाता है—उस का प्रत्यक्ष अस्तित्व रहता ही नहीं है। इसे 'वर्णलोप' कहते हैं। किसी ने अलाउद्दीन बादशाह के बारे में कहा है—

सन्धौ सर्वस्वहरणं, विग्रहे प्राणनिग्रहः।
अलावद्दीननृपतौ, न सन्धिर्नच विग्रहः।

—अलाउद्दीन बादशाह से सन्धि की जाए, तो वह ऐसी होगी कि प्रायः सब कुछ चला जाएगा और लड़ाई की जाए, तो जान पर आफत। न सन्धि करने को मन करता है, न लड़ाई करने की हिम्मत पड़ती है!

भाषा के वर्णों में भी कहीं-कहीं ऐसी ही सन्धि होती है-एक का सर्वापहार! 'खरीद' के आगे 'दार' प्रत्यय करने पर एक दकार लुप्त हो जाता है-'खरीदार'।

कभी-कभी दो ऐसे वर्ण पास-पास आ जाते हैं कि 'मेल के लिए' कोई तीसरा ही 'वर्ण' बीच में आ कूदता है! यह भी सन्धि-परिणाम ही है! ऐसी सन्धि में कभी-कभी वे दोनों वर्ण पूर्ववत् (अपरिवर्तित) रहते तो हैं, परन्तु बीच में तीसरे के आ जाने से समुदित रूप कुछ बदल जाता है; जैसे कि छत्रपति शिवा जी तथा औरंगजेब के बीच में उस समय जयपुर-नरेश आ गए थे और रंग कुछ बदल गया था! 'कहलाना' आदि इसके उदाहरण हैं। प्रकृति (कह) तथा प्रत्यय (ना) के बीच में 'ला' का आगमन। 'क्' कंठ, 'अ' कंठ, 'ह्' कंठ और 'अ' या 'आ' कंठ! 'ह' इन में महा-प्राण! तब बीच में 'ल' आ गया। कुछ कोमलता आ गई। यह 'आगम' कहलाता है। य, र, ल, व 'अन्तःथ' हैं ही—बीच में आ कूदते हैं!

हिन्दी में प्रायः सभी संज्ञाएँ, सर्वनाम, विशेषण तथा धातु आदि स्वरान्त हैं। व्यंजनान्त शब्दों की कोई स्थिति यहाँ नहीं। इस लिए लोप तथा अन्य सन्धियाँ प्रायः स्वरों में ही देखी जाती हैं। कहीं स्वर का लोप होने पर व्यंजन मात्र जब रह जाता है, तब पास के दूसरे व्यंजन से उसकी सन्धि जरूर होती देखी जाती है। अब, जब, कब, तब अव्ययों से अव्यवहित परे यदि 'ही' अव्यय आए, तो उन अव्ययों के अन्त्य 'अ' का वैकल्पिक लोप हो जाता है और तब अवशिष्ट 'ब्' तथा ('ही' का) 'ह्' मिल कर 'भ्' हो जाते हैं और यह 'भ्' अपने उसी पुराने आश्रय (ई) में चिपट जाता है। तब रूप बन जाते हैं—अभी, जभी, कभी, तभी। यों व्यंजन-सन्धि भी देखी जाती है। कभी स्वर तथा व्यंजन दोनों का लोप हो जाता है। किसी का अन्त्य स्वर उड़ जाता है और किसी का आद्य व्यंजन शहीद हो जाता है। तब आद्य पद का अवशिष्ट अन्त्य व्यंजन आगे के स्वर में जा मिलता है। यह, वह, जो, कौन सर्वनामों से परे जब 'ने'–'को' आदि कोई विभक्ति हो, तो ये इस, उस, जिस, किस जैसे रूप ग्रहण कर लेते हैं—'इस के ही'। यह 'ही' जोर देने के लिए आता है और इतना जोरदार है कि प्रकृति तथा प्रत्यय के बीच में जबर्दस्ती घुस बैठता है! तब प्रकृति के अन्त्य स्वर ('अ') को लेकर यह छिप जाता है और अपने आश्रय 'ई' को सामने रहने देता है। तब अवशिष्ट अन्त्य 'स्' इस 'ई' से जा मिलता है। रूप बन जाते हैं—'इसी के,' 'उसी के' इत्यादि। 'किसी' से 'निश्चय' या 'अवधारण' नहीं 'अनिश्चय' प्रकट होता है। 'किसी का' 'किसी के'। 'कोई' में 'ही' नहीं है। 'ही' से निश्चय या अवधारण प्रकट होता है; पर 'कोई' अनिश्चय-वाचक है। 'कौन' का 'किस' रूप होता है, विभक्ति सामने होने पर। इसी तरह 'कोई' के प्रकृत्यंश

को भी 'किस' होता है। दोनों ('कौन' और 'कोई') की प्रकृति एक ही है; पर 'कोई' में एक अव्यय भी है। संस्कृत 'कोऽपि' का 'कोइ'-'कोई' रूप है। सो, 'अपि' का यह 'ई' दिखाई देता है—'किसी को' आदि में। यानी यहाँ 'ही' अव्यय नहीं है।

'अभी से' तथा 'किसी को' आदि सन्धि-रूपों से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी इन 'को' 'ने' आदि विभक्तियों को प्रकृति से विभक्त (हटा कर) लिखने की प्रेरणा देती है। कुछ लोग विभक्तियों को प्रकृति से सटा कर लिखा करते हैं, परन्तु 'बी० ए०' में अनुत्तीर्ण हो गया, जैसी जगह गड़बड़ा जाते हैं! यहाँ विभक्ति मिला कर क्यों नहीं लिखते ? लिख ही नहीं सकते ! तब वह 'सिद्धा-न्त' कहाँ रहा ? और, यह जोरदार 'ही' अव्यय तो बीच में आ ही कूदता है ! देखिए न, 'आ कूदता' के बीच में आ कूदा। तब चक्कर पड़ जाता है और 'नया समाज' जैसे पत्र प्रयोग कर जाते हैं—'हाल हीमें पं० जवाहर लाल नेहरू अपनी चीन की यात्रा से वापस आए हैं'। यह 'हीमें' क्या है ? इसी तरह 'हीका' आदि दिखाई देते हैं। यह उसी अभिनिवेश का परिणाम है ! विभक्ति सटा कर लिखनी है, प्रकृति से न सही, 'ही' से ही सही ! काशी का 'आज' विशेष सावधान है। वह 'हाल में ही' लिखता है, जो ठीक है। तो भी, अन्यत्र काम न चलेगा। सन्धियुक्त 'अभी से' 'उसी में' आदि प्रयोग 'आज' भी करता है। यहाँ प्रकृति से सट कर विभक्तियाँ कहाँ हैं ? यद्यपि 'अब से ही' प्रयोग भी होते हैं, परन्तु 'अभी से' आदि छोड़े नहीं जा सकते। दोनों तरह के प्रयोगों में अर्थ-भेद भी है। 'क्या बता दें हम अभी से क्या हमारे दिल में है' इसके 'अभी से' पद को 'अब से ही' कर ही नहीं सकते। अर्थ ही उड़ जाएगा। और 'गाड़ी छूटने ही को है, 'गाड़ी छूटने ही वाली थी' आदि में क्या करेंगे ? 'वाला' प्रत्यय है, वह भी प्रकृति से अलग पड़ा है—'छूटने ही वाली थी'। प्रकृति और प्रत्यय के बीच में 'ही' 'छूटनेहीवाली' लिखने से भी प्रकृति-प्रत्यय का मेल कहाँ हुआ ? लम्बी पूँछ बन गई; व्यर्थ !'

सो, हिन्दी की ये 'अपनी' सन्धियाँ अपनी पद्धति भी स्पष्ट करती हैं। अवधी तथा ब्रजभाषा की भी (प्रकृति-प्रत्यय के सम्बन्ध में) यही स्थिति है। अन्तर यह कि वहाँ सन्धि नहीं होती—'हित सब ही का' 'तू न तजै अब हीं ते'। प्रकृति से विभक्ति विभक्त है। 'सब' से 'का' और 'अब' से 'ते' सट कर हैं, या बहुत हट कर ? 'का' संबन्ध प्रत्यय और 'ते' विभक्ति है।

कभी-कभी दो स्वरों में ही सन्धि हो जाती है। विधि-अर्थ प्रकट करने के लिए हिन्दी में 'इ' प्रत्यय होता है, जो संस्कृत के 'इय्' के 'य्' को उड़ा कर बना-बनाया जान पड़ता है। धातु के अन्त्य 'अ' तथा प्रत्यय के 'इ' को मिल कर 'ए' (अवधी-ब्रजभाषा में 'ऐ') सन्धि हो जाती है और तब धातु का बचा हुआ (अन्त्य) व्यंजन इस 'ए' (या 'ऐ') में जा मिलता है। 'पठेत्' सं० से 'पढ़े' हिन्दी।—'इय्' को 'इ' रूप।

राष्ट्रभाषा			अवधी–व्रजभाषा आदि
पढ़+इ	=	पढ़े,	पढ़ै
कर+इ	=	करे,	करै
टल+इ	=	टले,	टलै-टरै
कह+इ	=	कहे,	कहै

कभी-कभी दो स्वरों के मेल में एक का ही रूपान्तर होता है, एक ज्यों का त्यों बना रहता है। दीर्घस्वरान्त धातुओं से परे यह विध्यर्थक 'इ' प्रत्यय स्वयं (अकेला ही) 'ए' बन जाता है। संस्कृत में भी 'इ' अनेक जगह 'ए' के रूप में आती दिखाई देती है:—

सो + इ = सोए	धो + इ = धोए
रो + इ = रोए	खो + इ = खोए
जा + इ = जाए	खा + इ = खाए
गा + इ = गाए	बजा + इ = बजाए
पका + इ = पकाए	पढ़ा + इ = पढ़ाए

ब्रजभाषा आदि में 'सो' 'रो' 'धो' आदि धातु-रूप नहीं; 'सोव' 'रोव' आदि हैं—'सोवत है' 'रोवत है' 'धोवत है' आदि क्रियाएँ हैं। वहाँ इन ('सोव' आदि) धातुओं के अन्त्य 'अ' तथा प्रत्यय 'इ' में वही ('ऐ') सन्धि हो जाती है—

सोव + इ = सोवै
रोव + इ = रोवै
धोव + इ = धोवै
आव + इ = आवै

अकारान्त धातु न हो, तो कभी-कभी 'इ' को 'य' हो जाता है—'सोखि न जाय कहूँ अब ही यह 'शंकर' को वृष भानुलली को'। 'जाए' राष्ट्रभाषा में। 'जावै' भी 'आवै' के वजन पर बना। परन्तु 'जाये' सर्वथा गलत है। 'इ' को 'ए' होगा, या फिर 'य'। दोनो चीजे नही हो सकती। 'जाय' तथा 'जाए' का संकररूप है—'जाये'! इसी तरह 'जायेगा, संकर है, गलत है।

यदि धातु दीर्घ-ईकारान्त हो, तो (धातु के) 'ई' को विकल्प से 'इय्' हो जाता है। और इस 'इय्' के 'य्' का विकल्प से लोप हो जाता है।

जी+ए=जिय् – ए, जिये

'य्' का लोप हो जाने पर रूप होगा – जिए

और 'ई' को जब 'इय्' होगा ही नहीं, तब जीए

इसी तरहः—

'पी' के पिये, पिए, पीए
'सी' के सिये, सिए, सीए

पहले बताया जा चुका है कि प्रत्यय का (या प्रत्ययादेश का) 'य्' इ–ई तथा 'ए' में मिलने पर विकल्प से लुप्त हो जाता है—सवर्ण प्रबल स्वर निर्बल व्यंजन को दबा देता है। इसी लिए—

गए – गये, आए – आये, लाये – लाए
तथा – गई,– गयी, आई – आयी, लायी–लाई

यो द्विविध रूप होते हैं। लोप हो जाने पर सवर्ण दीर्घसन्धि भी हो जाती है—

किया+ई – कि+ई = की, पिया+ई – पि+ई = पी
लिया+ई – लि+ई = ली, सिया+ई– सि+ई = सी

यहाँ पुंविभक्ति 'आ' जब स्त्रीलिंग मे 'ई' के रूप परिवर्तित हो गई, तब 'य्' का नित्य लोप और नित्य सवर्ण-दीर्घएकादेश। 'कियी' 'पियी' आदि प्रयोग नहीं होते, गलत हैं। 'गया' 'गयो' आदि मे य् की स्पष्ट श्रुति है, असवर्ण स्वर मे। इसी लिए लोप नहीं। यह लोप-लाप का बखेड़ा क्यो, यह पूछा जा सकता है। जवाब बहुत सरल तो यह हो सकता है कि तब यही प्रश्न संस्कृत के वैय्याकरणो से भी कीजिए कि 'हरयिह' का 'हरइह'

क्यों? 'य्' कहाँ गया ? क्यों गया ? वे तो कह देंगे कि "प्रयोग वैसे मिलते हैं और प्रचलित प्रयोगों का ही अन्वाख्यान व्याकरण में होता है। यह तो भाषा से ही पूछना चाहिए कि तेरी ऐसी प्रवृत्ति क्यों है ? भाषा में ('हरयिह-हरइह' यों) द्विविध प्रयोग होते हैं; वही व्याकरण में कह दिया गया।" संस्कृत के वैय्याकरणों ने जो कुछ कहा, वही यहाँ भी कहा जा सकता है। हिन्दी के जायसी, कबीर, सूर, तुलसी, आदि ने 'आई' 'आए' जैसे प्रयोग ही किए हैं,। 'य्' का नित्य लोप कर के। लल्लू जी लाल, सदल मिश्र तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि की भी प्रवृत्ति 'आए-आई' की ओर ही है। तो, क्या ये सब के सब पूर्ववर्ती साहित्यकार यह भी न जानते थे कि 'आया' का बहुवचन है, 'आये' होगा ? वे 'गया' का स्त्रीलिंग 'गयी' बनाना भी न जानते थे क्या ? क्यों वैसा हुआ ? 'गये' 'गयी' प्रयोग क्यों नहीं मिलते ?

उत्तर बहुत स्पष्ट है। उन लोगों ने प्राकृत भाषा में, जन-भाषा में, अपने-अपने ग्रन्थ लिखे हैं। वे उस भाषा के प्रकृत रूप को पहचानते थे। वे जानते थे कि भाषा में (भाषा के शब्दों में) एक-रूपता सुखद होती है। उन्हें पता था कि 'हरयिह' की तरह 'गये' रूप भी होता है; परन्तु एकरूपता उन्हें प्रिय थी; इस लिए सर्वत्र 'नित्य लोप' ही उनकी कृतियों में मिलता है। कारण, लोप ऐसी जगह हिन्दी में कहीं अनिवार्य भी है—

किया—की, पिया—पी, लिया—ली, दिया—दी आदि।

काम 'किया' और 'बात की'। पुंविभक्ति 'आ' को स्त्री-प्रत्यय 'ई' के रूप में आते ही 'किया' के 'य्' ने इस 'ई' को देख लिया और उसके प्राण सूख गए ! दोनो समस्थानीय हैं, 'सवर्ण' हैं; परन्तु स्वर प्रबल और व्यंजन निर्बल ! 'य्' की बोलती बन्द हो गई ! 'इ' 'ई' और 'ए' के साथ मिलने पर 'य्' की स्पष्ट श्रुति नहीं होती। किसी छोटे छात्र को 'गयी' बोल कर लिखवाइए—'गई' लिख देगा। यही स्थिति 'गए' की है; क्योंकि 'ए' में भी 'इ' विद्यमान है, जिसे 'य्' देख लेता है ! परन्तु उन्हीं छात्रों के सामने आप 'गया' या 'गयो' बोलें, वे इसी रूप में लिखेंगे। इसी नैसर्गिक प्रक्रिया से 'किया' का 'किय्ई' होने पर 'य्' का लोप हो जाता है। यह 'नित्यलोप' है; वैकल्पिक नहीं। यानी 'की' की जगह 'कियी' कोई कर नहीं सकता, न 'दी' को 'दियी'। इकार या ईकार से परे भूतकाल के 'य्' प्रत्यय का नित्य लोप होता है, यदि परे 'ई' आ जाए। जब 'य्' का लोप हो जाता है, तब दोनो सवर्ण स्वर मिल कर एक बड़े (दीर्घ) रूप में आ जाते हैं। यानी

कहने को 'इ' तथा 'य्' 'सवर्ण' हैं—एकस्थानीय हैं; परन्तु जब दो सवर्ण स्वर बीच में इस (व्यंजन) को कर पाते हैं, तो चाट जाते हैं और फिर ये दोनो गले मिल कर 'बड़े' हो जाते हैं ! सो, 'किया' का 'कियई' और 'कि ई' हो कर सवर्ण-दीर्घ एकादेश–'की'। इसे अब आप किसी भी तरह 'कियी' नहीं लिख सकते। कोई अहिन्दी-भाषी यदि 'किया' का स्त्रीलिंग अपनी बुद्धि से 'कियी' बना कर लिख दे, तो दूसरा अहिन्दीभाषी ही छात्र हँसने लगेगा ! कहेगा—"भैया, यह 'कियी' क्या चीज है ? 'की' होता है ! 'पिया' का 'पी' होता है—'उसने शराब कभी नहीं पी'। 'शराब नहीं'पियी' गलत है। यह भाषा की प्रकृति है।" तो, जब 'किया'-'पिया' आदि में 'य्' का लोप अनिवार्य है, तो अन्यत्र भी ऐसे स्थल में सही, एकरूपता के लिए। इसी लिए उन पूर्ववर्ती साहित्यकारों ने वैसे प्रयोग किए हैं। आप भी यदि एकरूपता चाहते हैं, तो 'गई-गए' लिखिए, अन्यथा 'गयी-गये' भी चल ही रहे हैं। सारांश यह कि भूतकाल के य्-प्रत्यय का लोप ऐसी जगह वैकल्पिक है, परन्तु इकारान्त-ईकारान्त धातुओं से परे इसका नित्य लोप हो जाता है; स्त्री-प्रत्यय परे होने पर।

इस लोप-प्रकरण के सिलसिले में यह भी समझ लेने की बात है कि 'यह-वह' सर्वनामों से परे 'ही' अव्यय आ जाए, तो अपने सगे (सर्वनाम के) 'ह' को समाप्त कर देता है ! स्वर-सहित 'ह' उड़ जाता है ! 'ह' तो महाप्राण है न ! दो शेर एक जगह नहीं रहते। सो–

वह + ही = वही
यह + ही = यही

यह लगभग 'नित्य लोप' है। 'वह ही' और 'यह ही' प्रयोग देखने में नहीं आते। भद्दे लगते हैं ! 'खरीददार' कैसा लगता है ? 'खरीदार' बढ़िया शब्द बन गया–एक 'द' लोप कर के। इसी तरह 'वही' आदि।

इसी तरह 'यहाँ' 'वहाँ' 'कहाँ' आदि स्थान-वाचक अव्ययों से परे 'ही' आ जाए, तो इनके 'हा' की भी वही दशा होती है; परन्तु अनुनासिकत्व 'ही' अव्यय छीन कर अपने पास रख लेता है। यह 'ही' बड़ा शक्तिशाली अव्यय है। अनुनासिक-मणि यह स्वयं धारण कर के यों चमकता है–

यहाँ + ही = यहीं
वहाँ + ही = वहीं
कहाँ + ही = कहीं

काल-वाचक 'जब' 'तब' आदि अव्ययों में 'ही' क्या परिवर्तन करता है, पीछे बता आए हैं।

कभी-कभी किसी विदेशी शब्द में भी वर्णलोप आदि होता है। 'खरीदार' की चर्चा की जा चुकी है। स्वर-लोप भी होता है–

हर + एक = हरेक

यह वैकल्पिक लोप है। 'हर एक' भी लिखते-बोलते हैं। 'ए' का लोप नहीं होता। 'चारक दिन से वह आया नहीं' यहाँ 'चारक' में 'ए' का लोप न समझ लीजिएगा। यह 'लगभग' का अर्थ देनेवाला तद्धित प्रत्यय है, जो कि संख्या-वाचक तथा परिमाण-वाचक शब्दों में लगता है। हिन्दी की अपनी चीज है। 'घरीक ह्वै ठाढ़े' में यही प्रत्यय है। 'थोरिक दूरि अहै' में 'क' अल्पार्थक है—'बिलकुल थोड़ी दूर'। 'बहुतक कहौं कहाँ लौं' में 'क' स्वार्थिक है—'बहुत तो कहाँ तक कहूँ'! यानी, ऐसे स्थलों में 'एक' के साथ समास तथा 'ए' का लोप ख्याल न कीजिएगा! 'पांच-एक' 'सात-एक' प्रयोग (लगभग के अर्थ में) गलत हैं। 'लगभग सात' जैसा कुछ लिखना चाहिए, या फिर 'सातक-पाँचक-आठक' आदि लिखना चाहिए, जैसा कि कानपुर आदि में चलन है। या, 'सात से कुछ ही कम'—'सातक'। इसी तरह 'बीसक' आदि। बड़ा सुन्दर प्रत्यय है। इसके विपरीत 'ओं' है, आधिक्य प्रकट करने के लिए 'बीसों आदमी जमा थे'। 'बीसो' पृथक् है। यहाँ केवल इतने से मतलब कि 'क' प्रत्यय भिन्न चीज है, 'ए' का लोप करके 'एक' यहाँ नहीं है। 'एक' का 'क' होता, तो 'पाँचक' का अर्थ 'छह' होता !

वर्ण-हानि ही नहीं, वर्ण-वृद्धि भी देखी जाती है। 'दीन' के सामने (समास में) 'नाथ' जब आ जाता है, तो दीन के 'न' में स्थित 'अ' दीर्घ हो जाता है:–

दीन + नाथ = दीनानाथ

इसी तरह 'मूसल-सी धार' के अर्थ में–

मूसल + धार = मूसलाधार

कभी-कभी 'मू' का 'ऊ' ह्रस्व भी हो जाता है—'मुसलाधार'। संस्कृत में जैसे 'विश्वामित्र', उसी तरह हिन्दी में 'दीनानाथ' आदि हैं।

'कायाकल्प' आदि हिन्दी-प्रयोगों में प्रकृत दीर्घ-विधि नहीं है। संस्कृत का पुल्लिंग 'काय' शब्द हिन्दी (जनभाषा) में 'काया' कर के स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है-

'मानुस-जैसे हाथ-पावँ हैं,
मानुस जैसी काया'

और—

'काया कैसी रोई'

इसी 'काया' से 'कायाकल्प' है। संस्कृत में 'कायकल्प'। हिन्दी में तद्रूप संस्कृत शब्द का प्रयोग करना चाहें, तो 'कायकल्प' विद्यमान है; यदि जँच जाए! परन्तु 'कायापलट' में तो 'काया' रहेगा ही! कहाँ तक 'काया' से बचेंगे ?

'काय' से 'काया' हिन्दी ने क्यों बनाया और क्यों स्त्रीलिंग में चलाया, ये सब बातें दूसरे प्रकरण की हैं। वहीं बताई जाएँगी। यहाँ इतना समझ लीलिए कि भाषा के अनन्त प्रवाह में कहीं कोई शब्द भिन्न गति ग्रहण कर सकता है। क्यों ऐसा होता है, क्यों वैसा हुआ, इसका पता भी लगाया जा सकता है। अध्यवसाय का काम है और मुख्यतः यह निरुक्त का विषय है। व्याकरण में तो प्रयोग मात्र पर विचार होता है। कोई पूछने लग जाए कि 'विश्वामित्र' की तरह 'संसारामित्र' क्यों नहीं होता ? 'विश्वामित्र' में ही 'अ' दीर्घ क्यों हो गया ? तो, इसका उत्तर वे महामहोपाध्याय जी भी न दे सकेंगे, जिन्हें महाभाष्य अक्षरशः याद है! 'लक्ष्यं प्रधानम्' उत्तर होगा। प्रयोग जैसा होता है, उसका उसी रूप में 'अन्वाख्यान' या 'अनुशासन' कर दिया गया! वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते 'काया' भूल न जाए! संस्कृत में 'काय' पुल्लिंग शब्द है। हिन्दी ने संस्कृत का यह शब्द लिया और वहीं का 'आ' स्त्री-प्रत्यय; बना लिया-काय + आ = 'काया'।

यहाँ हिन्दी की 'अपनी' वर्ण-सन्धियों की यह मामूली चर्चा संक्षेप से की गई। जब छात्रों के लिए नई व्याकरण-पुस्तकें बनेंगी, तब इनका वर्गबद्ध और ब्योरेवार विस्तृत वर्णन होगा।

यहाँ दो-एक और उदाहरण दे देने पर्य्याप्त होंगे। जैसे 'करे' 'पढ़े' आदि में गुण-सन्धि बताई गई, इसी तरह 'पढ़ो' आदि में भी है। 'पढ़हु'

मध्यम पुरुष (आज्ञा आदि में) रूप होते हैं—अवधी में तथा व्रजभाषा में भी। 'ह्' का लोप करके और धातु के अन्त्य 'अ' तथा उस अवशिष्ट 'उ' में गुण सन्धि करके 'ओ' बन जाता है। रूप चलते हैं—पढ़ो, करो, हटो आदि। व्रजभाषा आदि में भी 'ह्' का वैकल्पिक लोप होकर अ+उ='औ' सन्धि होती है—'पढ़ौ' 'करौ' आदि। यह 'उ' यहाँ (राष्ट्रभाषा में) स्वतंत्र तिङन्त-विभक्ति के रूप में गृहीत है, यह सब क्रिया-प्रकरण में स्पष्ट होगा।

अकारान्त धातुओं से भिन्न, अन्यस्वरान्त धातुओं से परे जब यह 'उ' प्रत्यय आता है, तब स्वयं (अकेला) ही 'ओ' बन जाता है—

खा + उ = खाओ
जा + उ = जाओ
सी + उ = सीओ
पी + उ = पीओ

कभी-कभी धातु के 'ई' को 'इय्' कर देते हैं—'सियो' 'पियो'। यह 'इय्' संस्कृत के 'इयङ्' की ही प्रतिमूर्ति है। स्त्री-लिंग बहुवचन-सूचक 'आँ' परे हो, तो भी 'इ' तथा 'ई' को 'इय्' हो जाता है—

बुद्धि + आँ = बुद्धियाँ
नदी + आँ = नदियाँ
गाड़ी + आँ = गाड़ियाँ
गाली + आँ = गालियाँ

कोई अन्य स्वर स्त्रीलिंग शब्दों के अन्त में हो, तो सामने का यह 'आँ' 'एँ' रूप में रहता है। यदि अकारान्त स्त्रीलिंग शब्द है, तो अन्त्य 'अ' का लोप हो जाता है और व्यंजन आगे के 'एँ' में जा मिलता है:—

बहन + एँ = बहनें
टिकट + एँ = टिकटें
सड़क + एँ = सड़कें

यदि अन्य कोई स्वर शब्द के अन्त में हो, तो 'एँ' तदवस्थ बना रहता है—

लता + एँ = लताएँ
माता + एँ = माताएँ
गौ + एँ = गौएँ
धेनु + एँ = धेनुएँ

यदि 'ऊ' अन्त में हो, तो 'उव्' हो कर 'व्' का लोप हो जाता है :—

बहू + एँ = बहुएँ

इस तरह की बहुत सी बातें वर्ण-सन्धि की हैं। कुछ आगे यथास्थान निर्दिष्ट होंगी। यहाँ प्रारम्भ में इतनी चर्चा इस लिए की गई कि आगे समझने में आसानी हो जाए।

संस्कृत की सन्धियाँ

अब हम संस्कृत भाषा की उन सन्धियों की चर्चा संक्षेप में करेंगे, जो हिन्दी में भी (तद्रूप संस्कृत शब्दों में) चलती हैं। उनका भी जिक्र किया जाएगा, जिन्हें हिन्दी ने स्वीकार नहीं किया है। संस्कृत की कुछ सन्धियाँ यहाँ चलती हैं, कुछ नहीं चलतीं। हिन्दी की 'अपनी' सन्धियाँ बहुत कम हैं और सो भी एकपदीय। अनेक पदों में सन्धि समास में ही होती है, जिसे हिन्दी ने प्रायः दूर ही रखा है! हिन्दी का गठन स्पष्ट प्रतिपत्ति के सिद्धान्त को सामने रख कर हुआ है। समास में अर्थ-भ्रम को बहुत गुंजाइश है, इससे हिन्दी सावधान है। दूसरे, समास में पदों की विधेयता-शक्ति कुछ कुंठित सी हो जाती है—समास में बँध कर विधेय पद जोर खो बैठते हैं! इस लिए राष्ट्रभाषा का गठन ऐसा है कि समास को बहुत कम स्थान मिला है। और, समास होने पर भी संस्कृत की सन्धियाँ नहीं होतीं! 'घर-आँगन' को भले ही 'घर आँगन' कर दीजिए, पर 'घराँगन' कभी भी न होगा। हिन्दी में 'मनोकामना' जैसा कोई पद अवश्य 'अपनी' सन्धि से मिल जाता है। यहाँ 'मन' से 'कामना' का गँठबन्धन है, 'मनः' से नहीं! विसर्ग हटा कर ही मन, तेज, आयु आदि संस्कृत शब्द हिन्दी ने लिए हैं। 'मन' शब्द के 'अ' को 'ओ' हो जाता है, 'कामना' परे हो, तो—'मनोकामना'! यह अकेला शब्द है। हिन्दी की यह अपनी सन्धि है। कहीं यह सन्धि नहीं भी होती है—'पूजै मनकामना तुम्हारी'। 'मनःकामना' हिन्दी में नहीं चल सकता, क्योंकि 'मनोकामना' ने घर कर लिया है। 'मनःकामना' संस्कृत में

भी नहीं चलता-चलन नहीं। 'कामना' चलता है। हिन्दी का 'मनोकामना' एक विशिष्ट अर्थ देता है। 'कामना' मात्र से वह बात न बनेगी। 'मनो-कामना' स्त्री-सुलभ प्रयोग है। आगे जो सन्धियाँ लिखी जाएँगी, उनका उपयोग हिन्दी के ठेठ 'अपने' या तद्भव शब्दों में नहीं किया जाता, विदेशी भाषाओं के शब्दों में भी नहीं! 'घराधीश' 'मकानाधीश' आदि प्रयोग कभी भी नहीं होते, परन्तु एक 'जिलाधीश' शब्द चल पड़ा है। जान पड़ता है, सन्धि में 'जिला' शब्द स्पष्ट रहने से सन्धि हो गई है। 'संहितैकपदे नित्या'—सन्धि 'एक पद' में अवश्य होती है, इस नियम का पालन बहुत कुछ हिन्दी ने किया है। राष्ट्रभाषा में 'करउ' तथा 'करइ' जैसे सन्धि-रहित पद नहीं चलते—'करो' 'करे' जैसे सन्धि-युक्त पद ही प्रयुक्त होते हैं। अवधी तथा ब्रजभाषा आदि दूसरे मार्ग पर हैं। 'वृद्धि'-सन्धि हिन्दी ने बहुत कम स्वीकार की है। कहाँ क्या हिन्दी ने ग्रहण किया है, क्या नहीं; इसे अभी देखा जाएगा। इतना सदा ध्यान में रहे कि संस्कृत के सन्धि-नियम तद्रूप संस्कृत शब्दों में ही हिन्दी चलाती है। अपना क्षेत्र, अपने नियम; परन्तु संस्कृत की प्रतिष्ठा है। उसके शब्दों का समास उसी के नियमों से। अन्य भाषाओं में भी समस्त पद सन्धि-युक्त आते हैं—कैन + नाट = 'कांट'। यह 'कान्ट' शब्द मैंने सुना है और 'कैन' तथा 'नाट' का मतलब भी जानता हूँ। अंग्रेजी तो नहीं पढ़ा, पर सुनने-सुनाते अन्दाजा है कि यह 'कान्ट' शब्द समास-सन्धि का ही परिणाम है। हाँ, संस्कृत में समास तथा सन्धियों का बहुत अधिक विस्तार है।

हिन्दी में सन्धियाँ दो ही तरह की हैं, स्वर-सन्धि और व्यंजन-सन्धि, जिनके कुछ उदाहरण पीछे देख चुके हैं। संस्कृत में तीसरा भेद एक और है—'विसर्ग-सन्धि'। यह विसर्ग-सन्धि संस्कृत की अपनी विशेष चीज है। संसार की किसी भी दूसरी भाषा में 'विसर्ग' जैसी कोई चीज है ही नहीं, तब 'विसर्ग-सन्धि' की वहाँ बात ही क्या! ऐसा जान पड़ता है कि मानव की 'मूल भाषा' का यह नाम-निशान भारत के महान् अध्यवसायी, त्यागी और दृढ़संकल्प ब्राह्मण-पण्डितों ने अब तक बचाए-बनाए रखा, भले ही उसके उच्चारण में किंचित् अन्तर आ गया हो! बहुत बड़ी बात है। अन्यत्र कहीं भी इतनी पुरानी भाषा का ऐसा चलन न मिलेगा; उसके किसी विशिष्ट अंश का सुरक्षित रहना तो बहुत दूर की बात है!

सो, संस्कृत में 'विसर्ग-सन्धि' नाम से वर्ण-सन्धियों का एक आवश्यक भेद है। इसे भी 'वर्ण-सन्धि' कहते हैं, क्योंकि 'वर्ण' में अनुस्वार तथा विसर्ग

भी हैं, यद्यपि स्वर या व्यंजन ये नहीं हैं, 'अयोगवाह' हैं। कहना चाहिए कि स्वर-व्यंजन से अतिरिक्त वर्णों का यह एक तीसरा, छोटा सा, परन्तु महत्त्वपूर्ण भेद है ?

जब स्वर या स्वरों में रूप-परिवर्तन वैसी स्थिति में होता है, तो 'स्वर-सन्धि' कहलाती है, जैसे—'जा + इ = जाए' और 'पढ़ ÷ इ + पढ़े'। जब व्यंजन या व्यंजनों में रूपान्तर हो, तो 'व्यंजनसन्धि' जैसे कि 'ब' के 'अ' का लोप होने के बाद 'अब् + ही='अभी'। यही स्थिति संस्कृत में भी है।

जब विसर्गों का रूपान्तर अन्य शब्द के अव्यवहित सान्निध्य से होता है, तो उसे 'विसर्ग-सन्धि' कहते हैं। संस्कृत में 'मनः' 'तेजः' 'आयुः' आदि नपुंसक-लिंग शब्द विसर्गान्त हैं, जिनके सन्धियुक्त रूप 'मनोरथ' 'मनः-स्थिति' 'तेजोमय' आदि होते हैं। ये समासयुक्त और सन्धि-सहित रूप ऐसे के ऐसे (तद्रूप) हिन्दी में भी चलते हैं। देख रहे हैं कि विसर्ग ('मनोरथ' में) 'ओ' के रूप में है और 'तेजोमय' में भी यही स्थिति है, परन्तु 'मनः स्थिति' में कोई परिवर्तन नहीं है। तो, 'मनोरथ' तथा 'तेजोमय' में विसर्ग सन्धि है। 'अन्तर्जगत्' में 'र्' आप देख रहे हैं, जो कि 'अन्तःकरण' में विसर्ग लिए है।

संस्कृत की इन सन्धियों के बारे में हिन्दी की अपनी रुचि क्या है, आगे देखने के लिए ही यह उपक्रम है। कारण, संस्कृत की सन्धियाँ सार्वभौम स्थिति रखती हैं—वे जैसे हिन्दी में चलती हैं, उसी तरह अन्य सभी भारतीय भाषाओं में भी। यह पुस्तक छोटे बच्चों के लिए नहीं है कि 'अति ÷ आवश्यक='अत्यावश्यक' आदि का विस्तार अपेक्षित हो; या ज्ञान + इन्द्र= 'ज्ञानेन्द्र' समझाया जाए। प्रसिद्ध बातों का उल्लेख न किया जाएगा।

संस्कृत की सभी सरल सन्धियाँ हिन्दी में चलती हैं। 'सवर्णदीर्घ-एकादेश' सन्धि ज्यों की त्यों गृहीत हैं—'रामाश्रम' आदि। एक अन्तर है। संस्कृत में ऐसी जगह सन्धि की अनिवार्यता अनुशासन-सिद्ध है, जिसे हिन्दी विकल्प से ग्रहण करती है। संस्कृत में 'समस्त' पद बिना सन्धि किए—'राम-आश्रम' यों लिखा जाए, तो गलत समझा जाएगा। 'नित्या समासे संहिता'-समास में सन्धि करना जरूरी है। परन्तु हिन्दी में ऐसी जगह सन्धि की अनिवार्यता नहीं है—'राम-आश्रम' भी चलेगा। और, इससे भी बढ़ कर, कहीं समास में सन्धि करने का एकदम निषेध हिन्दी में है। जब किसी

अन्य भाषा का शब्द संस्कृत शब्द के साथ समास-बन्धन में आता है, तो सन्धि नहीं होती। 'कांग्रेस' अंग्रेजी भाषा का शब्द हिन्दी में चल रहा है, एक बड़े संगठन के नाम के कारण। इसका समास किसी संस्कृत शब्द से करें, तो सन्धि न होगी। 'कांग्रेस-अध्यक्ष' और 'पत्रिका' का 'कांग्रेस-अंक' यों बिना सन्धि के ऐसे 'समस्त' पद रहेंगे। 'कांग्रेसाध्यक्ष' या 'कांग्रेसांक' न होगा। समास करना तो ऐसे स्थलों में जरूरी हो सकता है। 'कांग्रेस-अध्यक्ष की आज्ञा से ऐसा हुआ है' इसे 'कांग्रेस के अध्यक्ष की आज्ञा से' कर भी दें, तो 'कांग्रेस-अंक में अच्छी सामग्री छपी है' इसे 'कांग्रेस के अंक में' नहीं कर सकते। सो, समास आवश्यक, परन्तु सन्धि का निषेध। यह भाषा की स्वाभाविक स्थिति है। ऐसा क्यों है? हिन्दी किसी भाषा के शब्द को ज्यों का त्यों रखना चाहती है। 'ज्ञानोदय' 'ज्ञानेन्द्र' आदि 'समस्त' शब्द संस्कृत से बने-बनाए आए हैं। और मान लीजिए कि यहाँ समास करके बनाए गए; पर संस्कृत-शब्दों का ही समास, संस्कृत-पद्धति पर। 'गृहाधिपति' की तरह 'घराधिपति' न चलेगा। 'घर' को 'घरा' देखना पसन्द नहीं। 'काग्रेस' को 'काग्रेसा' कर देना अच्छा नहीं लगता, इसी लिए 'कांग्रेसाध्यक्ष' बुरा 'जिलाधीश' में 'जिला' दिखाई देता है; पर 'तहसीलाधीश' कभी भी न हुआ! 'तहसीला' भला नहीं लगता। 'अर्थागम' अच्छा लगता है। संस्कृत की चीज है।

विसर्गसन्धि में ही एक रूप (संस्कृत में) 'पुनारचना' 'अन्ताराष्ट्र' ऐसा बन जाता है। हिन्दी ने यह सन्धि स्वीकार नहीं की है। 'पुनः' तथा 'अन्तः' के विसर्गों को 'र्' के रूप में देखने का अभ्यास हिन्दी को है—'पुनर्विचार' 'अन्तर्जगत्' आदि में शतधा यह रूप आँखों के सामने आता है, परन्तु 'पुनारचना' जैसे शब्द-रूप यहाँ नहीं चलते। सौकर्य, सुबोधता तथा स्पष्टता हिन्दी को प्रिय है। केवल 'र' परे होने से जो रूप संस्कृत में बनता है, उसके चक्कर में पड़ कर क्लिष्टता क्यों बढ़ाई जाए? हाँ, 'नीरोग' जैसे दो-चार बने-बनाए वैसे शब्द ले लिए गए हैं, जो चल रहे हैं। बनाने की जरूरत नहीं। उससे बहुत क्लिष्टता बढ़ जाएगी। यहाँ 'पुनर्रचना' या 'पुनः-रचना' जैसे शब्द-रूप चलेंगे। संस्कृत के जो पण्डित हैं, उन्हें 'पुनर्रचना' जैसे शब्द-रूप अखरेंगे, खटकेंगे। परन्तु उन्हें समझना चाहिए कि यह हिन्दी का क्षेत्र है। यहाँ अपना स्वरूप है, अपनी गति है। संस्कृत के पंडितों को

हिन्दी में 'विस्तार से प्रतिपादन' भी अखरेगा ! वे 'विस्तर से प्रतिपादन' पसन्द करेंगे ! परन्तु हिन्दी उनकी पसन्दगी का ध्यान कर के अपना सरल मार्ग कैसे छोड़ देगी ? हिन्दी में 'र' के ऊपर 'र्' का उच्चारण खूब प्रचलित है, अन्य शब्दों में। हिन्दी ने अपने स्वरूप-गठन में यह झंझट (व्यंजनान्त शब्दों की) रखी ही नहीं है। यहाँ तो सब कुछ स्वरान्त है। परन्तु 'फर्रुआबाद' 'कार्रवाई' आदि में रेफ के साथ रेफ श्रुत है। जैसे 'फर्रुखाबाद' उसी तरह 'पुनर्रचना' ! जो भी हो, यह संस्कृत की 'रो रि' तथा 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' वाली सन्धि हिन्दी में नहीं चलती; न चलेगी। संस्कृत में भी 'अन्तर्ऋण' जैसे अटपटे रूप-उच्चारण चलते हैं ! यह 'अन्तर्रिण' ही तो है न ? परन्तु संस्कृत 'ऋ' को बनाए रख कर वैदिक भाषा तक पहुँचती है ! वहाँ 'ऋ' का रहना जरूरी है, भले ही उच्चारण कुछ हो ! यहाँ मतलब की बात इतनी कि 'र्' के साथ 'र' का उच्चारण संस्कृत वाले भी करते हैं। 'ऋ' में पहले 'र' है, इसी लिए वह आश्रित व्यंजनों को आत्मसात् नहीं करती। रा, रि, री, रू, की तरह 'र्' में 'ऋ' की मात्रा लगाइए न ! कैसे लगे ? सो, उच्चारण में कोई दिक्कत नहीं है–'पुनर्रचना' मजे से चलेगा। या फिर 'पुनः-रचना' ठीक। 'पुनारचना' 'अन्ताराष्ट्र' हिन्दी को ग्राह्य नहीं—यह सन्धि ग्राह्य नहीं।

'अतएव' शब्द में विसर्गों का लोप है। 'अतः तुम्हें यह काम करना होगा' आदि में 'अतः' अभ्यस्त है; इस लिए समझ में आ जाता है। 'अतएव' बना-बनाया माल हिन्दी ने ले लिया। अब इसके लिए वह व्यापक सन्धि-नियम बच्चों को रटाने की आवश्यकता नहीं। बतला दिया, यहाँ विसर्गों का लोप हो गया है, बस। नियम न लेने से 'अतः एक वर्ष पर्याप्त है' आदि में 'अतः एक' जैसे रूप चलते हैं। वह नियम ले लेने से तो 'अत एक वर्ष' करना होगा ! तब हिन्दी अपना स्वरूप खो बैठेगी ! यह हो नहीं सकता।

संस्कृत-व्याकरण से 'प्रथमोऽध्यायः' आदि में जो सन्धि-रूप बनते-चलते हैं, उनका हिन्दी में स्थान नहीं है। यहाँ विसर्ग-रहित-'प्रथम अध्याय' प्रयोग होते हैं। हाँ, पुरानी (अवधी तथा ब्रजभाषा की) कविता में क्वचित् संस्कृत भाषा का संस्कार कवियों से नहीं छूटा है और उन्होंने—'चलिबोऽब फितो' जैसे प्रयोग जरूर किए हैं—'चलिबो + अब = 'चलिबोऽब'। सो यह हिन्दी की विभिन्न बोलियों की अपनी प्रवृत्ति समझिए और चाहे 'आर्ष प्रयोग' समझिए। कवि वैसे भी कहीं रास्ता बदल देते हैं ! कालिदास भी कहीं

पाणिनि-व्याकरण या संस्कृत की प्रचलित पद्धति छोड़ कर इधर-उधर हो गए हैं। 'त्र्यम्बक' को त्रियम्बक' कर दिया है! उनके ऐसे प्रयोगों को गलत कौन कहे? उनके प्रति आदर प्रकट करने के लिए 'निरंकुशाः कवयः' कह दिया जाता है। 'निरंकुश' का मतलब वही है–'मनमानी करनेवाला'! अपनी शक्ति है, उधर चले गए! परन्तु हम लोग उनके उन प्रयोगों का अनुसरण नहीं करते हैं। सो, 'चलिबोऽत्र' जैसे क्वचित् 'आर्ष प्रयोग' मिल जाते हैं! वह हिन्दी की प्रवृत्ति नहीं है।

एक बात और। संस्कृत के महान् व्याकरणकारों ने भी सन्धि-प्रकरण में स्पष्टता का ध्यान रखा है। इसी लिए दूर से बुलाने में जब स्वर प्लुत हो जाता है, तो दूसरे किसी स्वर के साथ उस की सन्धि का निषेध कर दिया है, इस लिए कि स्पष्ट प्लुत मालूम पड़े। सन्धि हो जाने से क्या जान पड़ता कि स्वर प्लुत है, या ह्रस्व-दीर्घ! 'कवी अगच्छतः' आदि में भी सन्धि-निषेध साभिप्राय है। फिर, हिन्दी ने तो स्पष्ट से स्पष्टतर-स्पष्टतम मार्ग ग्रहण किया है।

सो, स्पष्टता का ध्यान रख कर सन्धि-विषयक विधि या निषेध सर्वत्र समझिए। 'विषम' तथा 'विस्मरण' जैसे तद्रूप संस्कृत शब्द हिन्दी में अबाध गति से चलते हैं। आठवीं श्रेणी का छात्र भी 'विषम' को देख कर 'विष्मरण' करने की भूल कभी भी न करेगा! अर्थ भी बच्चे समझ लेते हैं। हिन्दी-व्याकरण में इस विषय के नियम देने का बखेड़ा न किया जाएगा! हिन्दीवाले क्या जानें कि संस्कृत के किस धातु में मूलतः 'स' है और किस में 'ष' है। उन्हें क्यों इस चक्कर में डाला जाए कि 'सिद्ध' ही 'निषिद्ध' हो गया है! 'सम-विषम' प्रयोगों से समझ जाते हैं कि 'विषम' में 'स' को 'ष' हो गया है। जो संस्कृतज्ञ हैं, उनके लिए हिन्दी में इन नियमों का विस्तार अनावश्यक है और जो असंस्कृतज्ञ हैं, उनके लिए व्यर्थ का सिर-दर्द!

इसी तरह विदेशी भाषाओं के प्रचलित शब्द बने-बनाए हिन्दी ने ले लिए। अब हिन्दी के व्याकरण में उनकी सन्धि आदि की निष्पत्ति-चर्चा करना एक गोरखधन्धा भर है! क्यों बखेड़ा बढ़ाया जाए?

व्यंजन-सन्धि में संस्कृत शब्द 'म्' को अनुस्वार करके चलते हैं, यदि परे 'अन्तस्थ' अथवा स्वर हो – 'संरक्षण' 'संहिता'। हिन्दी में भी यही है। परन्तु संस्कृत में 'एकपद' में पर-सवर्ण जरूरी है, जैसे–'अङ्कित' 'अङ्क'

'पर्य्यङ्क' 'अञ्चित' आदि। हिन्दी में यह अनिवार्यता नहीं है—अंकित, अंक, पर्य्यंक, अंचित आदि रूप भी चलते हैं और अधिकतर ये ही चलते हैं। इन्हें 'अङ्कित' आदि के 'तद्भव' रूप कह सकते हैं। जो तद्रूप ही ('अङ्कित' आदि) लिखना चाहें, उनके लिए कोई रोक भी नहीं है! परन्तु 'सन्धि' 'सन्ध्या' 'गुम्फित' 'हिन्दी' आदि में 'न् म्' आदि ही रहेंगे, अनुस्वार न होगा न होना चाहिए। कारण यह कि यहाँ न्—म् आदि की स्पष्ट श्रुति है। इसी तरह 'पम्प' आदि दूसरी भाषाओं के शब्दों में समझिए। 'संधि' 'संध्या' 'दंत' 'पंप' आदि कर देने से हिन्दी के 'यथाश्रुत लेखन' का सिद्धान्त जाता है और उच्चारण-सम्बन्धी एकता भी नष्ट होगी। 'पंप' को आप 'पम्प' ही पढ़ेंगे—अनुस्वार का उच्चारण 'पङ्प' न करेंगे और 'दंत' को भी 'दङ्त' जैसा नहीं, 'दन्त' ही बोलेंगे। तब फिर लिखने में गड़बड़ क्यों की जाए? 'दंत' देख कर अहिन्दीभाषी जन 'दङ्त' या ऐसा ही कुछ उच्चारण सोचने-समझने की झंझट में पड़ेंगे! वे समझेंगे कि हिन्दी में 'दन्त' का उच्चारण कुछ भिन्न होगा, तभी तो 'दंत' लिखा है! इस झमेले को दूर रखने के लिए यथाश्रुत 'दन्त' आदि ही हिन्दी ने ग्रहण किए हैं। 'अङ्कित' को 'अंकित' कर देने से कोई वैसी गड़बड़ नहीं, क्योंकि अनुस्वार का और 'ङ्' का उच्चारण एक-जैसा ही है। 'अञ्चित' तथा 'पण्डित' के साथ 'अंचित-पंडित' चलने में वैसी बाधा नहीं है। और 'ञ' तथा 'ण' का स्पष्ट उच्चारण 'अञ्चित' 'पण्डित' में नहीं है—'न्' सुनाई देता है। 'अनुस्वार' यथास्थान सभी पञ्चम वर्णों का प्रतिनिधित्व कर लेता है। इसी लिए 'नासिका' ही अनुस्वार का स्थान बतलाया है—'नासिकानुस्वारस्य'। 'ङ' से 'म' तक सभी अनुनासिक व्यंजन नासिका के सहयोग से हैं। हिन्दी में ङ, ञ, ण वर्गों की स्थिति नगण्य है; इस लिए इनका प्रतिनिधित्व अनुस्वार करता है। 'न्' तथा 'म्' का ही उच्चारण विशेष ध्यान देने की चीज है। तद्भव 'टंडन' आदि को पर-सवर्ण कर के 'टण्डन' जैसा लिखना बेमजे है—रबड़ी का फिर दूध बनाने का प्रयत्न! इसी तरह डंडा, कंडा, कंघा, नंगा, लफंगा आदि अनुस्वार से ही चलते हैं। 'सुपरिंटेंडेंट' को 'सुपरिंटेण्डेण्ट' जैसा नहीं लिखा जाता। सुपरिन्टेन्डेन्ट' जैसा उच्चारण लोग करते हैं। परन्तु 'न् न् न्' की जगह ऊपर तीन बिन्दियाँ ज्यादा भली लगती हैं, इन्हीं का चलन भी है। विकल्प समझ सकते हैं। 'ङ, ञ, ण' न ठेठ हिन्दी की चीजें हैं, न अंग्रेजी आदि की ही। हाँ, राजस्थान, पंजाब तथा कुरु जनपद में 'ण' चलता है।

स्वर-सन्धि के बारे में भी चलन का ध्यान रखा जाता है। 'अत्यावश्यक' चलता है, पर 'अर्य्युक्ति' हिन्दी में न चलेगा—समास करना जरूरी ही हो, तो 'अरि-उक्ति' रहेगा। 'संसद्' तथा 'सदस्य' शब्द हिन्दी के सामान्य जन भी समझ लेते हैं; परन्तु समास में सन्धि होने पर 'संसत्सदस्य' में चकरा जाते हैं। 'संसद्-सदस्य' अधिक सुबोध है। 'प्रत्येक' जैसे शब्द संस्कृत से बने-बनाए लिए गए हैं और वे अपने उसी रूप में चलते हैं। 'प्रत्येक' को कोई 'प्रति एक' नहीं कर सकता। परन्तु 'अति-प्रति' जैसे उपसर्गों का यहाँ स्वतंत्र प्रयोग भी होता है और वहाँ सन्धि नहीं होती—'प्रति अश्व दस रुपए और देने पड़ेंगे।' यहाँ 'प्रत्यश्व' न होगा। इसी तरह 'अति आचार भी ठीक नहीं'। यहां 'अति + आचार = 'अत्याचार' न होगा; क्योंकि 'अति' का स्वतंत्र प्रयोग है। परन्तु 'अत्याचार से अपना ही पतन होता है' यहाँ 'अति-आचार' न होगा। हिन्दी की मधुर 'व्रजभाषा' आदि बोलियों में भी यही व्यवस्था है और इसी लिए 'अत्याचार' जैसे शब्द वहाँ तद्रूप चलते हैं। सन्धि-विच्छेद से इनका प्रयोग नहीं किया जाता। मेरी 'तरंगिणी' का एक दोहा है:—

'अति की भली न बात कोउ,
कैसी हू संसार !
होत तुरत आचार हू,
अति सों 'अत्याचार'।'

जिन उपसर्गों का स्वतंत्र प्रयोग नहीं होता, उन में तो संस्कृत की सन्धि बराबर रहेगी ही, परन्तु 'अति' 'प्रति' का भी स्वतंत्र प्रयोग न होने पर सन्धि-बन्धन अनिवार्य है। 'उच्चारण' को 'उद्-चारण' कोई न बोल सकता है, न लिख सकता है। 'अध्यादेश' आदि सहस्रशः संस्कृत तद्रूप शब्द चलते हैं, जिनमें 'नित्य सन्धि' है।

संस्कृत में जहाँ द्विविध सन्धि है, वहाँ सरल-मधुर शब्द ही हिन्दी ने ग्रहण किया है। 'बिम्बौष्ठ-बिम्बोष्ठ' तथा 'अधरोष्ठ'-अधरौष्ठ' में से 'बिम्बोष्ठ' तथा 'अधरोष्ठ' हिन्दी ने लिए हैं। 'बिम्बौष्ट' से 'बिम्बोष्ठ' मधुर है। 'गयो'–'गयौ' व्रज के द्विरूप शब्दों में भी यही स्थिति है। साहित्य ने परम्परा-प्राप्त और भाषाविज्ञान से अनुमोदित 'गयो' जैसे प्रयोग लिए हैं। 'गयो'–'आयो' आदि को 'गयौ'–'आयौ' करने से कर्कशता आ जाती है। हाँ, 'करौ' 'करै' आदि ठीक। 'करौ' में व्रजभाषा की 'ओ' पुंविभक्ति नहीं है।

सारांश यह कि क्लिष्टता से बचने की प्रवृत्ति है। परन्तु संस्कृत के सामासिक 'अत्याचार' आदि (तद्रूप) शब्दों में कोई हेर-फेर नहीं कर सकता। वैसा करने पर अर्थ का अनर्थ हो सकता है। 'सञ्चित' का 'संचित' (अर्द्धतत्सम रूप) और 'पण्डित' का 'पंडित' चलेगा ही। परन्तु 'वाङ्मय' ज्यों का त्यो रहेगा; यद्यपि 'शङ्कर'-'शंकर' दोनों चलेंगे।

इस तरह संक्षेप में वर्ण-सन्धियाँ इस प्रथम अध्याय में देखी-सुनी गईं। अब अगले अध्याय में शब्दों का या पदों का सामान्य परिचय और फिर प्रति-अध्याय पदों के एक-एक विशेष वर्ग का निरूपण होगा। अन्त में वाक्य-विश्लेषण आएगा। वैसे, पहले वाक्य, फिर पद और अन्त में वर्ण का निरूपण ठीक जान पड़ता है; परन्तु सभी व्याकरणों में व्युत्क्रम से वर्ण, पद, वाक्य रखे गए हैं। हमने भी ऐसा ही रखा है। क्या बिगड़ता है? उधर से न सही, इधर से ही सही।

सो, प्रथम तथा द्वितीय अध्याय सामान्य-निरूपण के हैं, शेष सब विशेष-निरूपण-परक।

———

द्वितीय अध्याय

'शब्द' या 'पद'

कहा जा चुका है कि अर्थसंकेतित शब्दों या पदों का समूह 'भाषा' है और भाषा के अंग-प्रत्यंग का विवेचन-विश्लेषण व्याकरण या 'शब्दानुशासन' है। प्रयोग-विवेचन के कारण इसे 'शब्दानुशासन' कहते हैं। 'शब्दानुशासन' में 'शब्द' शब्द 'पद' के अर्थ में आया है। वैसे 'वर्ण' भी शब्द है, 'पद' भी शब्द है और वाक्य भी शब्द है। व्याकरण में वर्णों पर, पदों पर और प्रसंगतः वाक्य पर भी विचार होता है। पर 'अनुशासन' पदों का होता है। पहले कह आए हैं कि 'व्याकरण' तथा 'शब्दानुशासन' मिल कर एक हो गए हैं। यानी, व्याकरण में शब्दों का अनुशासन भी रहता है और 'शब्दानुशासन' में वर्णों तथा पदों की बनावट आदि पर भी विचार होता है। यों, ये दोनो शब्द ('व्याकरण' तथा 'शब्दानुशासन') एक दूसरे के पूरक होकर बाद में पर्य्याय बन गए हैं।

संस्कृत-व्याकरण में 'सुबन्त' और 'तिङन्त' शब्द 'पद' कहलाते हैं— 'सुतिङन्तं पदम्'। 'रामः करोति' में 'रामः' तथा 'करोति' ये दो 'पद' हैं; एक 'सुबन्त' दूसरा 'तिङन्त'। वहाँ 'राम करोति' हो नहीं सकता, इस लिए 'सुबन्त' को पद कहा है। यही बात 'तिङन्त' के बारे में भी है। जैसे निर्विभक्तिक 'राम' कर्ता-कारक नहीं हो सकता, उसी तरह 'तिङ्'-प्रत्यय-रहित 'कृ' धातु भी कुछ कर-धर नहीं सकती! इस अवस्था में एक शब्द 'प्रातिपदिक' कहलाता है, दूसरा 'धातु'। न प्रातिपदिक का प्रयोग होता है, न 'धातु' का! जब विभक्तियाँ लग जाती हैं, तब दोनो 'पद' बन जाते हैं— 'पद' चलने लगते हैं। 'रामः' संज्ञापद और 'करोति' क्रिया-पद। 'धातु' के सम्बन्ध में जो कुछ कहना है, उसी के प्रकरण में कहा जाएगा। यहाँ संज्ञा-पद के बारे में ही विचार किया जाएगा।

संस्कृत का जैसा 'प्रातिपदिक' हिन्दी में नहीं है। कारण यह कि यहाँ विभक्ति-प्रयोग की अनिवार्यता नहीं है। यहाँ तो 'अर्थसंकेतित शब्द' ही 'पद' है, यदि वाक्य का अंश है। चाहे उसमें कोई विभक्ति हो, या न हो!

विभक्ति की अनिवार्यता नहीं है। निर्विभक्तिक 'शब्द' भी प्रयुक्त हो कर सब काम करते हैं। यदि विभक्ति के बिना काम चल जाए, तो फिर उसे 'अजा-गलस्तन' की तरह लटकाने-अटकाने की क्या जरूरत? 'अर्थश्चेदवगतः किं शब्देन'? अर्थ निकल गया, तो फिर उसके लिए व्यर्थ शब्द-प्रयोग किस काम का? संस्कृत में 'रामः मुखेन पठति रामायणम्' में 'मुखेन' देना ठीक नहीं समझा जाता; क्योंकि सब लोग जानते हैं कि मुहँ से ही पढ़ा जाता है। तब फिर 'मुखेन' करण देने की क्या आवश्यकता? इसी तरह 'मेघः जलं वर्षति' में 'जलम्' कर्म देना अनावश्यक है। मेघ क्या सोना-लोहा भी बरसाता है, जो 'जलम्' कहा जाए?

संस्कृत की इस पद्धति से हिन्दी कुछ आगे बढ़ी है। यहाँ यह सिद्धान्त है कि विभक्ति के बिना ही यदि कारक-ज्ञान हो जाए, तो फिर उस (विभक्ति) का प्रयोग क्यों किया जाए? 'अर्थश्चेदवगतः किं शब्देन'?

'राम गोविन्द को देखता है'

ऊपर के वाक्य में 'राम' निर्विभक्तिक पद है और 'देखता है' क्रिया का 'कर्ता' है। कर्तृत्व प्रकट करता है और इसी लिए 'पद' है; यद्यपि कोई विभक्ति साथ नहीं है। 'गोविन्द' कर्म है, जिसमें 'को' विभक्ति का प्रयोग है; जरूरी है। यदि यहाँ 'को' न रहे, तो पता न चले कि कर्ता कौन है, कर्म कौन है! कौन देखता है, किसे देखता है, यही न जान पड़ा, तो फिर भाषा क्या हुई? हिन्दी में कर्ता-कर्म आदि को आगे-पीछे रखने का कोई निर्देश-बन्धन सामान्यतः नहीं है। इसी लिए यहाँ कर्म में 'को' विभक्ति लगाना जरूरी है। परन्तु दूसरा प्रयोग देखिए:—

'राम घर देखता है'

इस वाक्य में कर्ता तथा कर्म दोनो ही विभक्ति-रहित हैं। फिर भी अर्थ स्पष्ट है। कर्तृत्व-कर्मत्व समझने में कोई दिक्कत नहीं; इस लिए कि 'देखना' क्रिया आँखों की अपेक्षा रखती है, जो 'राम' के ही हैं, 'घर' के नहीं। इस लिए, यह भ्रम किसी को हो ही नहीं सकता कि 'घर राम को देखता है'।

'राम घर मिलेगा'

इस वाक्य में 'घर' अधिकरण है; किन्तु न 'में' विभक्ति है, न 'पर' है ! विभक्ति के बिना ही अधिकरणत्व की प्रतीति होती है। 'में' या 'पर' के अभाव में भी 'घर' यहाँ किसी भी दूसरे कारक में नहीं समझा जा सकता।

'राम ने लड़का देखा'

यहाँ 'लड़का' कर्म निर्विभक्तिक है; क्योंकि कर्ता-कारक की 'ने' विभक्ति 'राम' में लगी है। जब 'राम' कर्ता है, तो 'लड़का' कर्म है ही ! परन्तु 'राम लड़का देखता है' यह गलत वाक्य होगा ! यहाँ कर्म में 'को' लगाना जरूरी है—'राम लड़के को देखता है'। संस्कृत में 'गच्छामि' कहने पर 'अहम्' लगाना अनावश्यक समझा जाता है; जैसे हिन्दी में—'जाता हूँ' कहने पर 'मैं'। क्रिया के रूप से ही कर्ता की प्रतीति हो जाती है; क्योंकि इन क्रियाओं के कर्ता 'अहम्'—'मैं' के अतिरिक्त और कोई हो ही नहीं सकते। जैसे 'अहम्' शब्द का प्रयोग अनावश्यक है, क्रिया की वैसी बनावट के कारण, उसी तरह 'राम घर जाता है' आदि में 'को' आदि विभक्तियों का प्रयोग भी हिन्दी ने अनावश्यक समझा है। जब कि निर्विभक्तिक शब्द ही कर्तृत्व आदि असन्दिग्ध रूपसे प्रकट करते हैं, तब विभक्ति क्यों दी जाए ? विभक्ति के सहित होने पर ही कोई शब्द 'पद' हो सकता है, ऐसा 'पद' का लक्षण संस्कृत में है। इस लिए सम्बोधन के 'राम' आदि में, स्त्रीलिंग (प्रथमा-एक वचन) 'लता' 'नदी' आदि में तथा 'प्रातः' 'सायम्' आदि अव्ययों में (पदत्व की सिद्धि के लिए) विभक्ति का 'लोप' माना गया है। जो होता हुआ भी न दिखाई दे, वही 'लुप्त' है। हिन्दी में ऐसी विभक्ति-लोप की कल्पना करने की जरूरत ही नहीं; क्योंकि यहाँ निर्विभक्ति शब्द भी 'पद' हैं। वाक्य की इकाइयाँ ही यहाँ 'पद' हैं—'राम जाता है' में 'राम' संज्ञापद तथा 'जाता है' क्रिया-पद है। वाक्य से पृथक् संज्ञापद 'शब्द' या 'प्रातिपदिक' हैं। हम कहेंगे—संस्कृत के 'राजन्' आदि प्रातिपदिक हिन्दी ने नहीं लिए; वरन 'राजा' जैसे उस के पदों को अपना 'प्रातिपदिक' बनाया है। संस्कृत में 'राजन्' प्राति-पदिक है—'राजा, राजानौ, राजानः' आदि प्रत्येक पद में उसका अस्तित्व है; इसी लिए (प्रति-पद रहने के कारण) राजन् 'प्राति-पदिक' है। हिन्दी में 'राजन्' प्रातिपदिक नहीं है। 'राजन् आया' 'राजन् को गद्दी से हटा दिया' नहीं बोला जाता। 'राजा आया' 'राजा को गद्दी से हटा

दिया' यों बोला जाता है। 'राजा' शब्द प्रति-पद मिलेगा। इस लिए 'राजा' यहाँ प्रातिपदिक है, जो हिन्दी की किसी विभक्ति के बिना भी 'राजा राज्य करता है' यों 'पद' है—चलता है। यदि किसी बच्चे का नाम 'राजन' रख दें, तब यह अलग चीज है। 'मेरा पौत्र राजन अभी एक बरस का है।' संस्कृत के प्रातिपदिक 'राजन्' से हिन्दी का यह प्रातिपदिक 'राजन' भिन्न है।

पद और अर्थ

व्याकरण में सार्थक शब्दों पर विचार होता है, यानी विचार तो शब्दों पर होता है; परन्तु ध्यान अर्थ पर भी रहता है। जिस पद से जो अर्थ (चीज) समझ में आए, वही उसका 'अर्थ'। शब्द को 'वाचक' और अर्थ को 'वाच्य' कहते हैं। 'अर्थ' मूर्त-अमूर्त सभी तरह के होते हैं। संसार में जो कुछ दृष्ट, श्रुत, अनुमित या कल्पित है, शब्द का 'वाच्य' है। शब्द वाचक और उस का अर्थ 'वाच्य'। 'राम ने पानी पिया' वाक्य में तीन पद हैं। 'राम' एक पद है, किसी व्यक्ति को बताता है। 'पानी' दूसरा पद है, जो उस चीज का वाचक है, जिसे संस्कृत में 'जल' और अंग्रेजी में 'वाटर' कहते हैं; जो नदियों में बहता है, मेघ से बरसता है और जिसे पी कर प्राणी जीते हैं। 'पिया' उस क्रिया का (भूत काल का) वाचक है, जो पानी आदि द्रव पदार्थों को मुँह में ले कर गले से नीचे (पेट में) उतार लेने में प्रसिद्ध है। 'ने' एक विभक्ति है, जो हिन्दी में भूत काल की सकर्मक क्रियाओं में लग कर कर्तृत्व प्रकट करती है। 'ने' विभक्ति के बिना भी छोटे बच्चे 'राम पानी पिया' बोल देते हैं, तो मतलब हम वही समझ लेते हैं। परन्तु 'राम गोविन्द देखा' वे बोलें, तब समझने में कठिनाई होगी कि किसने किस को देखा। यहाँ कर्ता-कारक में 'ने' लगाने की जरूरत है। ये विभक्तियाँ 'ने' आदि स्वतः किसी 'अर्थ' में संकेतित नहीं हैं; परन्तु अर्थ-संकेतित शब्दों में लग कर कर्तृत्व आदि प्रकट करती हैं। यही इनका अर्थ या प्रयोजन है। वैसे, आप किसी का नाम ही 'ने' या 'को' रख दें, तब ये शब्द जरूर (उस अवस्था में) 'प्रातिपदिक' होंगे; 'पद' भी कहला सकेंगे वाक्य में आकर। 'ने' को तब 'को' ने पीट दिया' यों वाक्य भी बन जाएगा। या फिर वैसी विवक्षा में विभक्ति के ही अर्थ में—'को' की प्रयोग-सीमा अधिक व्यापक है' यों स्वतन्त्र पद की तरह प्रयोग होगा। परन्तु 'राम ने' 'कृष्ण को' आदि पदों में ये विभक्ति-मात्र हैं; पदों का कर्तृत्व आदि प्रकट करने के लिए।

इन 'ने' 'को' आदि को 'विभक्ति' क्यों कहते हैं? कह सकते हैं कि 'राम ने' 'कृष्ण को' आदि में ये विभक्त रूप से (पृथक्) लिखी जाती हैं; इस लिए 'विभक्ति'! अन्य प्रत्ययों में यह बात नहीं है। 'ज्ञान' से 'ई' प्रत्यय करके 'ज्ञानी' बनाया। यहाँ 'ई' प्रत्यय अलग न रह कर 'ज्ञान' में ही रल-मिल गया है। परन्तु 'ज्ञानी को भी रोटी चाहिए' में 'को' ज्ञानी से विभक्त देख सकते हैं। इस तरह 'ज्ञानी' के 'ई' प्रत्यय को अलग कर के कोई नहीं लिख सकता। इसी लिए 'को' आदि को 'विभक्ति' कहते हैं। ठीक, बात समझ में आने योग्य है। परन्तु 'उसे भी रोटी चाहिए' में 'उसे' पद कुछ और कहता है! 'उसे' और 'उस को' एक ही बात है; परन्तु 'को' की तरह हम 'उसे' के उस अंश को 'उस' से पृथक् करके नहीं लिख सकते, जो 'को' की ही तरह एक विभक्ति है, उसी काम के लिए। समझाने के लिए 'उस + इ' कर सकते हैं; परन्तु इसका विभक्त प्रयोग नहीं कर सकते। यही बात 'तेरा, मेरा, तुम्हारा, हमारा' आदि की है। 'राम का' आदि की तरह यहाँ प्रकृति से उस प्रत्यय ('र') को भी पृथक् कर के नहीं प्रयुक्त कर सकते। तब फिर वे 'विभक्तियाँ' कैसे? और 'विभक्ति' शब्द तो हिन्दी में संस्कृत से आया है न? वहाँ तो 'बालकेन' 'बालकस्य' आदि सभी पद संश्लिष्ट प्रयुक्त होते हैं। वहाँ 'ने' और 'को' आदि की तरह विश्लिष्ट विभक्तियाँ रहती ही नहीं! तब वहाँ इन 'इन' तथा 'स्य' आदि को 'विभक्ति' क्यों कहते हैं? पता नहीं, क्या बात है! 'विभक्ति' परम्परा से इन 'चरम' प्रत्ययों को कहते चले आते हैं! प्रत्ययों की यह विशिष्ट श्रेणी है। 'ज्ञान' से 'ई' प्रत्यय होकर 'ज्ञानी' बना, तब इसमें 'को' आदि प्रत्यय लगेंगे, अन्त में। इसी लिए इन्हें 'चरम' प्रत्यय कहते हैं—सब से अन्त में प्रयुक्त होने वाले। इनके बाद फिर कोई प्रत्यय न लगेगा। हिन्दी में (तथा अनेक पूर्ववर्ती प्राकृतों में) एक विभक्ति के बाद दूसरी विभक्ति भी कहीं लग जाती है—'इनमें से एक छाँट लो'। यहाँ 'में' के बाद 'से' है। पर ये दोनो विभक्तियाँ हैं, दोनो 'चरम' प्रत्यय हैं। एक विभक्ति के बाद दूसरी विभक्ति ही लग सकती है, कोई अन्य (साधारण) प्रत्यय नहीं। सो, इन चरम-प्रत्ययों को विभक्ति कहते हैं, बस! 'विभक्ति' नाम यदि यौगिक है, तो इसके अवयवार्थ का पता नहीं; क्योंकि संस्कृत में (तथा हिन्दी के 'उसे' आदि पदों में) इनका विभक्त प्रयोग देखा नहीं जाता। यही स्थिति धातुओं में लगने वाली 'क्रिया-विभक्तियों' की भी है। तब फिर 'संज्ञा-विभक्ति' तथा 'क्रिया-विभक्ति' नाम क्यों?

क्या सम्भव है, संस्कृत की कोई ऐसी अवस्था रही हो, जब चरम-प्रत्ययों का विभक्त प्रयोग होता हो ! ऐसा दिखाई नहीं देता ! संस्कृत की सभी अवस्थाओं में संश्लिष्ट प्रयोग हैं और यह साहित्यिक भाषा है। इसके सभी रूप साहित्य में सुरक्षित हैं। इस लिए, सम्भावना को कोई अवसर नहीं। तब क्या है ?

सोचने से ऐसा लगता है कि संज्ञा-शब्दों को तथा क्रिया-शब्दों को ये प्रत्यय कर्तृत्व-कर्मत्व आदि तथा विधि-आज्ञा आदि विशेष अर्थों में विभक्त करते हैं; इसी लिए शायद इन्हें 'विभक्ति' कहा गया हो ! इनके बिना यह विशेष अर्थों में विनियोग-विभाजन सम्भव नहीं है। हो सकता है, इसी कारण इन्हें 'विभक्ति' कहा गया हो। जो भी हो, इन्हें 'विभक्ति' कहते हैं।

हिन्दी की विभक्तियाँ

ऊपर कहा जा चुका है कि हिन्दी में विभक्तियों का प्रयोग तभी होता है, जब इनके बिना काम ही न चलने की स्थिति हो। व्यर्थ ही 'को' 'ने' आदि की पूँछ नहीं लगा दी जाती। इस के अतिरिक्त, ये विभक्तियाँ हैं भी बहुत कम। गिनी-चुनी विभक्तियों से भाषा का सब काम पूर्ण हो जाता है; न कहीं सन्देह, न भ्रम, न अर्थ-संकट। यही तो विशेषता है इस भाषा की। और, स्वतः इसका इतना अधिक प्रसार-विस्तार होने का भी यही कारण है। संक्षेप में (स्पष्ट और असन्दिग्ध) बात कह देना भाषा की विशेषता है।

हिन्दी में दो तरह की विभक्तियाँ हैं—१-विश्लिष्ट और २—संश्लिष्ट।

विश्लिष्ट विभक्तियाँ

हिन्दी में ने, को, से, में-पर, विश्लिष्ट विभक्तियाँ हैं। इनमें से 'ने' विभक्ति का प्रयोग नियमतः कर्ता-कारक में ही होता है, जब कि क्रिया भूत काल की कर्म-वाच्य, या भाव-वाच्य हो। सकर्मक क्रिया में भी इसका प्रयोग नहीं होता, यदि 'कर्तरि' प्रयोग हो, क्रिया कर्तृवाच्य हो। यह सब क्रिया-प्रकरण में स्पष्ट होगा। मुख्य बात यह कि कर्ता-कारक से भिन्न, अन्य किसी भी जगह, किसी अन्य कारक में, कभी भी 'ने' का प्रयोग नहीं होता ! एक 'ने' और संश्लिष्ट विभक्ति भी है, जो सम्बन्ध प्रकट करने के लिए 'आप' में लगती है। वह पृथक् चीज है।

'में' तथा 'पर' विभक्तियाँ अधिकरण-कारक में काम आती हैं। जब 'भीतर' अर्थ विवक्षित हो, तब 'में' और जब 'ऊपर' अर्थ विवक्षित हो, तो 'पर' का उपयोग होता है–'घर में राम है' और 'छत पर मोहन है।' इन दोनो ही विभक्तियों का प्रयोग अधिकरण-कारक में नियत है। कहीं विशेष प्रयोग भी देखा जाता है। अवज्ञा या मूढ़ता प्रकट करने के लिए 'पर' का 'तादर्थ्य'-प्रयोग होता है—'दो रुपए पर ईमान खो दिया!' 'दो रुपए पर'-दो रुपए के लिए! संस्कृत में भी 'चर्मणि हस्तिनं हन्ति' जैसे प्रयोग हैं।

'को' तथा 'से' विभक्तियों का प्रयोग-क्षेत्र बहुत व्यापक है। यह सब कारक-प्रकरण में ज्ञात होगा। संक्षेप से यहाँ देख लीजिए। 'को' का प्रयोग—

कर्ता-कारक में—'को' विभक्ति

१—राम को घर जाना है
२—तुम को एक लेख लिखना है
३—मोहन को घर पर रहना है
४—सोहन को दिन भर खड़ा रहना है

ऊपर के दो वाक्यों में क्रियाएँ सकर्मक हैं और नीचे के दोनो में अकर्मक। 'को' का ही भाई 'इ' है:—

१—इसे अभी रोटी बनानी है
२—उसे बर्तन साफ करने हैं

सर्वत्र कर्ता कारक में 'को' (तथा 'इ') का प्रयोग है। 'इ' संश्लिष्ट विभक्ति है, जिसका विवरण आगे आएगा।

'को' कर्म-कारक में—

१—राम नेवले को देख रहा है
२—नेवला साँप को देख रहा है
३—मैंने तुम को समझाया
४—तुम लड़के को कहाँ भेज रहे हो?

'को' सम्प्रदान-कारक में—

१—मोहन राम को पुस्तक देता है
२—मैं ने मोहन को पुस्तक दी

३—मोहन ने सोहन को पुस्तक दी थी
४—सोहन अपनी बहन को वह पुस्तक देगा

'को' अधिकरण-कारक में—

१—सोमवार को पढ़ाई होगी, रविवार को छुट्टी
२—दुपहर को भोजन करने से ठीक रहता हूँ।

यों विभिन्न कारकों में तथा विभिन्न सम्बन्धों में 'को' का उपयोग होता है।

'से' विभक्ति कर्ता-कारक में—

१—राम से अब उठा नहीं जाता।
२—बूढ़े से चने फोड़े नहीं फूटते।

'से' कर्म कारक में—

१—मोहन राम से कहता है।
२—राम ने मोहन से कुछ कहा था।
३—मा लड़के से सौदा मँगवाती है।
४—मजदूर मुंशी से चिट्ठी लिखवाता है।

सभी उदाहरणों में 'गौण कर्म' में 'से' है

'से' करण या हेतु में—

१—राम चाकू से कलम बनाता है।
२—सब काम धनसे बनता है।
३—केवल पढ़ने-लिखने से ही सुख नहीं मिलता।
४—मुक्ति ज्ञान से ही सम्भव है।

'से' अपादान में—

१—छत से कूड़ा गिरा।
२—कूड़े से एक कीड़ा निकला।
३—कीड़े से बदबू आती है।
४—पानी नहर से आता है।

भय के हेतु में (जिससे डर या खतरा हो, या न हो, उसमें) 'से' विभक्ति लगती है:—

१—मोहन हम से डरता है ।
२—शेर से सभी डरते हैं ।
३—यहाँ बिजली से खतरा है ।
४—कमजोर से कोई नहीं डरता ।

भोज्य वस्तु के सहकार में-रोटी आदि के साथ दाल-साग आदि का प्रयोग होने पर इन (दाल-साग) आदि में 'से' विभक्ति लगती है—

१—कृष्ण मक्खन से रोटी खाते थे ।
२—हम लोग 'डालडे' से बने साग से रोटी खाते हैं !
३—कुछ न होने पर चटनी या नमक से ही रोटी खा लेते हैं !

प्रमुख भोजन में 'से' न लगेगी । 'रोटी से दाल' न होगा । 'खिचड़ी से रोटी' होगा, परन्तु खिचड़ी में भी प्रधानता हो, तब—'आज खिचड़ी और रोटी खाई है' होगा ।

उपेक्षा-व्यंजन में-उपेक्षा या अकिंचित्करत्व प्रकट करना हो, तब 'अँगूठा' आदि शब्दों में 'से' विभक्ति लगती है:-

'तू न पढ़ेगा, तो न सही, हमारे 'अँगूठे से'

यानी तेरे न पढ़ने से हमारी हानि क्या होगी ? तेरे न पढ़ने की हम उपेक्षा करते हैं ! इसी तरह—

'रोटी न बने, तो न सही, मेरी 'बला से'

आदि समझिए ।

हिन्दी की सम्बन्ध-विभक्तियाँ-के, रे, ने

'के' 'रे' तथा 'ने' हिन्दी की सम्बन्ध-विभक्तियाँ हैं । कारक-विभक्ति 'ने' अलग है, जिसका उल्लेख पहले किया गया । यह सम्बन्ध-विभक्ति 'ने' पृथक् है । इन तीनो विभक्तियों के प्रतिरूपक तीन सम्बन्ध-प्रत्यय पृथक् हैं—क, र, न । इन सम्बन्ध-प्रत्ययों को अब तक सम्बन्ध-विभक्ति समझा जाता रहा है ! इन में पुंविभक्ति (आ) लगा कर 'का' 'ना' 'रा' रूप होते हैं । 'क' 'न' 'र' तद्धित-प्रत्यय है, जिन में पुंविभक्ति लगती है ।

ब्रजभाषा तथा राजस्थानी में पुंविभक्ति 'ओ' लग कर इन तद्धित-प्रत्ययों के रूप 'को' 'नो' 'रो' हो जाते हैं। राम का, अपना, तेरा और राम को, अपनो, तेरो। बहुवचन में हिन्दी में 'अ' को 'ए' हो जाता है—राम के, अपने, तेरे। राजस्थानी में बहुवचन आकारान्त हो जाता है; पर ब्रजभाषा में एकारान्त, खड़ी बोली की तरह। यह सब आगे स्पष्ट होगा। तद्धित सम्बन्ध-प्रत्यय के रूप बदलते हैं—

त्वदीयः बालकः — तेरा लड़का
त्वदीयाः बालकाः — तेरे लड़के
त्वदीया बालिका — तेरी लड़की

परन्तु विभक्ति का रूप नहीं बदलता—

तव बालकः, तव बालकाः, तव बालिका

सर्वत्र 'तव' है, कोई परिवर्तन नहीं। 'त्वदीय' आदि में 'ईय' तद्धितीय चीज है, सम्बन्ध प्रकट करने के लिए। उसी में विभिन्न विभक्तियाँ या प्रत्यय लगा कर एकवचन-बहुवचन तथा पुं०-स्त्री रूप प्रकट करते हैं। 'त्वदीयः' और 'त्वदीया' आदि की ही तरह हिन्दी का 'तेरा'-'तेरी' आदि हैं। इसी तरह राम का, राम के, राम की आदि हैं, और अपना, अपने, अपनी भी। यानी ये तद्धित-प्रत्यय हैं—क, र, न,। इन के सम्बन्ध में आगे कहेंगे। यहाँ इतना समझिए कि ये विभक्तियाँ नहीं हैं। विभक्ति का रूप बदलता नहीं है। हिन्दी की 'ने' 'को' 'में' 'से' आदि विभक्तियाँ सदा एक-रूप रहती हैं। इसी तरह एक-रूप रहने वाली हिन्दी की के, रे, ने ये तीन सम्बन्ध-विभक्तियाँ हैं। 'रे' केवल म० उ० सर्वनामों में लगती है और 'ने' केवल 'आप' शब्द में। 'के' विभक्ति (उपर्युक्त दोनों विभक्तियों के विषय को छोड़ कर) सर्वत्र चलती है। इन विभक्तियों में भी कभी कोई परिवर्तन नहीं होता, सदा एक-रूप रहती हैं—

राम के एक लड़का है—रामस्य एकः पुत्रः अस्ति
राम के एक लड़की है—रामस्य एका पुत्री अस्ति
राम के चार गौएँ हैं—रामस्य चतस्रः गावः सन्ति

सर्वत्र 'राम के'–'बालकस्य' हैं, न वचन-भेद से रूप-भेद, न लिङ्ग-भेद से ही। इसी तरह–'रे' विभक्ति—

तेरे एक लड़का है—तव एकः बालकः अस्ति
तेरे एक लड़की है—तव एका बालिका अस्ति
तेरे चार गौएँ हैं—तव चतस्रः गावः सन्ति

'आप' शब्द में 'ने' विभक्ति लगती है, तब 'आप' को 'अप' हो जाता है—'अपने'—

अपने तो भाई, एक ही लड़का है
अपने तो भगवान् की दया से चार लड़के हैं
अपने एक गौ है, चार भैंसें हैं

सर्वत्र 'अपने' रूप है। इस तरह के, रे, ने, ये तीनो सम्बन्ध-विभक्तियाँ हैं। दिशा-वाचक शब्दों के योग में भी ये विभक्तियाँ लगती हैं—

राम के दाहिनी ओर गोविन्द है
सावित्री के बाईं ओर उस का भाई है।
उन लड़कियों के दाहिनी ओर उनकी अध्यापिका है
राम के दाहिनी बगल में गोविन्द बैठा है
राम के अगल-बगल उस के दोनो लड़के हैं
राम के बगल में ही गोविन्द का घर है।

सर्वत्र 'के' है। 'बगल' शब्द यदि दिशा-वाचक न हो, तो विभक्ति नहीं, 'सम्बन्ध-प्रत्यय' लगेगा—राम की बगल में फोड़ा हो गया है' 'उस की बगलों से बदबू आती है'।

'उत्पत्ति' कहना हो, तो भी 'के' विभक्ति आएगी, 'तेरे एक लड़की हुई' 'राम के एक लड़का हुआ'। अन्यत्र भी, जहाँ 'के' 'ने'' रे' रूप सदा अपरिवर्तित रहें, समझ लीजिए कि सम्बन्ध-विभक्ति है। उदाहरणार्थ—'मा लड़की के चपत लगाती है'। यहाँ 'मा' 'लड़की' तथा 'चपत' तीनो स्त्री-लिङ्ग एकवचन हैं; पर 'के' देखिए क्या है! सम्बन्ध-विभक्ति है। संस्कृत में जैसे कभी-कभी 'कर्मणि षष्ठी' होती है, उसी तरह यहाँ गौण कर्म ('लड़की') में 'के' विभक्ति लगी है। 'चपत' आदि की अनुपस्थिति में भी—'मा लड़की के लगाती है'। 'इस के लगाओ'। इत्यादि।

सम्बन्ध-प्रत्यय

इन तीनो (के, रे, ने) विभक्तियों के प्रतिरूप सम्बन्ध-प्रत्यय हैं–क, र, न। इन तद्धित-प्रत्ययों में हिन्दी की पुंविभक्ति लग कर रूप बन जाते हैं—का, रा, ना। 'के' विभक्ति को तथा 'क' प्रत्यय को भी प्रकृति से हटा कर लिखने की चाल है। ने, से, को, में, आदि विभक्तियाँ प्रकृति से हटा कर हिन्दी में लिखी जाती हैं, उसी तरह 'के' विभक्ति भी। –'रामके चार गौएँ हैं' यों मिला कर भी कोई-कोई लिखते हैं। परन्तु 'रे' तथा 'ने' सदा मिला कर ही लिखी जाती हैं–तेरे, मेरे, तुम्हारे, हमारे और 'अपने'। इसी तरह सम्बन्ध-प्रत्यय भी लिखे जाते हैं। 'के' विभक्ति की तरह 'क' प्रत्यय प्रकृति से हटा-सटा कर लोग लिख सकते हैं–लिखते हैं-रामका लड़का, रामकी लड़की और 'राम का लड़का, राम की लड़की। इन सम्बन्ध-प्रत्ययों में जब व्रज या राजस्थानी की 'ओ' पुंविभक्ति लगती है, तब 'को' 'रो' 'नो' रूप हो जाते हैं–राम को घर, तेरो घर, अपनो घर। पूरब में–'रामक कवन निहोर' और 'तुम्हार घरु' 'अपन घरु'। न 'आ' और न 'ओ'। प्रत्यय सर्वत्र 'क' 'र' 'न' हैं।

विभक्ति और प्रत्यय का विषय–भेद

हिन्दी में सम्बन्ध-विभक्ति तथा सम्बन्ध-प्रत्यय के विषय पृथक्-पृथक् और सुव्यवस्थित हैं। जब अस्तित्व-मात्र कहना हो, या उत्पत्ति कहना हो, तब सम्बन्ध-विभक्ति आती है–

राम के चार गौएँ हैं–(रामस्य चतस्रः गावः सन्ति)
राम के लड़की हुई है–(रामस्य कन्या जाता)
राम के चार लड़के हुए थे–(रामस्य चत्वारः पुत्राः अभवन्)

यहाँ (सम्बन्ध-विभक्ति की जगह) सम्बन्ध-प्रत्यय न आ सकेगा!

'तेरे चार गौएँ हैं'–'तव चतस्रः गावः सन्ति' 'तेरे लड़की हुई है'–'तव कन्या जाता' इन की जगह–

'तेरी चार गौएँ हैं,
'तेरी कन्या पैदा हुई'

ऐसे प्रयोग न होंगे। संस्कृत में भी तद्धित-प्रत्यय ऐसी जगह न लगेगा। ऐसे प्रयोग न होंगे–'

'त्वदीयाः चतस्रः गावः सन्ति'
'त्वदीया कन्या जाता'

ऐसे प्रयोग सम्भव नहीं। प्रत्यय-प्रयोग यों होते हैं—
तेरा लड़का पढ़ता है—त्वदीयः पुत्रः पठति
तेरी लड़की पढ़ती है—त्वदीया कन्या पठति

यानी भेद्य के सम्बन्ध में कुछ विशेष विधान करना हो, तो तद्धित-प्रत्यय आता है; अस्तित्व या उत्पत्ति मात्र विवक्षित हो, तो सम्बन्ध-विभक्ति। संस्कृत में भी अस्तित्व-उत्पत्ति की विवक्षा में विभक्ति ही आती है, प्रत्यय नहीं। 'तव पुत्रः जातः' की जगह कभी भी 'त्वदीयः पुत्रः जातः' न होगा। 'तव चतस्रः गावः सन्ति' की जगह 'त्वदीयाः चतस्रः गावः सन्ति' न होगा। यहाँ तक तो संस्कृत और हिन्दी में प्रयोग-साम्य। परन्तु आगे भेद है। भेद्य के सम्बन्ध में कुछ विशेष कहना हो, तो हिन्दी विभक्ति का नहीं, तद्धित-प्रत्यय का ही उपयोग करती है। 'तेरी लड़की पढ़ती है' की जगह 'तेरे लड़की पढ़ती है' कभी भी न होगा; परन्तु संस्कृत में, ऐसी जगह द्विविध प्रयोग होते हैं—'त्वदीया पुत्री पठति'—'तव पुत्री पठति'। हिन्दी में ऐसी जगह प्रत्यय ही रहेगा—'तेरी लड़की पढ़ती है'। जब अस्तित्व या उत्पत्ति की विवक्षा में विभक्ति ही रहती है, सम्बन्ध-प्रत्यय नहीं; तो फिर अन्यत्र एकमात्र सम्बन्ध-प्रत्यय को ही अधिकार दे कर हिन्दी ने अच्छा किया। स्पष्ट विषय-भेद हो गया। बस, संस्कृत से यह इतनी विशेषता। हाँ, यदि सम्बन्ध आदि पर जोर देना हो, तो 'है' क्रिया की उपस्थिति में भी सम्बन्ध-प्रत्यय आएगा—'यह राम का लड़का है'। यहाँ सम्बन्ध पर जोर है। इसी तरह 'यह राम की गौ है' 'वे पुस्तकें मेरी हैं' आदि समझिए। भेद्य के अनन्तर भेदक 'मेरी' आने से और अधिक जोर; यानी किसी दूसरे की हर्गिज नहीं। 'राम की गौ वह है' यहाँ 'वह' पर जोर है।

सम्बन्ध में 'भेद्य' और 'भेदक'

अभी ऊपर 'भेद्य' शब्द आया है। साधारणतः लोग 'भेद्य' कहते हैं 'विशेष्य' को और 'भेदक' कहते हैं 'विशेषण' को। 'विशेष्य' तथा 'विशेषण' शब्दों के रहते भी ये दो अन्य शब्द विशेष प्रयोजन से हैं। 'लाल फूल' में 'लाल' विशेषण है और 'फूल' विशेष्य। परन्तु जब किसी विशेष सम्बन्ध को ले कर यह विशेष्य-विशेषण भाव होता है, तब 'भेद्य'-'भेदक' इन्हें कहते हैं। 'पुष्प'

निर्विशेष शब्द है। 'वन्य पुष्प' में 'वन्य' विशेषण है, और इस विशेषण को 'भेदक' कहते हैं। सभी 'विशेषण' वस्तुतः 'भेदक' ही हैं। अन्यों से भेद करते हैं। परन्तु तद्वितीय सम्बन्ध-विशेषण के लिए 'भेदक' शब्द रहना सुभीते की बात है। विभक्ति-प्रयोग से भी 'भेद्य-भेदक' भाव होता है। 'वनस्य फलानि' में 'वनस्य' भेदक है और 'फलानि' 'भेद्य' है। 'वन्यानि फलानि' और 'वनस्य फलानि' एक ही बात है। 'वन्यानि' की ही तरह 'वनस्य' भी 'भेदक' है, विशेषण है। एक जगह समानाधिकरण विशेषण या भेदक है— 'वन्यानि फलानि'। दूसरी जगह व्यधिकरण विशेषण या भेदक है—'वनस्य फलानि'।

हिन्दी भेदक (विशेषण) विभक्ति-प्रयोग से व्यधिकरण नहीं करती, सर्वत्र समानाधिकरण रखती है—

जंगल के फूल, जंगल की जड़ी
जंगल का ठेका, जंगल के मालिक

संस्कृत में 'वनस्य पुष्पम्' और 'वन्यम् पुष्पम्' दोनों तरह से प्रयोग है। हिन्दी ने व्यधिकरण-पद्धति नहीं रखी।

भेद्य (विशेष्य) के अनुसार ही 'भेदक' (विशेषण) के लिङ्ग-वचन आदि रहते ही हैं—

तेरा लड़का, तेरी लड़की, तेरे लड़के
त्वदीयः पुत्रः, त्वदीया पुत्री, त्वदीयाः पुत्राः

(लड़का, लड़के, लड़की (भेद्य) के अनुसार ही तेरा, तेरे, तेरी (भेदक के लिङ्ग-वचन हैं।) इसी तरह—

राम का लड़का, राम के लड़के, राम की लड़की, अपना लड़का, अपने लड़के, अपनी लड़की। 'भेद्य' (लड़का, लड़के, लड़की) की तरह 'राम का,' 'राम के,' 'राम की' तथा 'अपना'-'अपने'-'अपनी' भेदक-रूप हैं।

प्रकृति-गत एकत्व-बहुत्व से मतलब नहीं, 'भेद्य' के ही एकत्व-बहुत्व को यहाँ महत्त्व प्राप्त है। देखिए—

तुम्हारा कपड़ा
मेरे कपड़े
राम की धोती

'तुम' प्रकृति बहुत्व प्रकट करती है; पर 'कपड़ा' एक ही है: इस लिए 'तुम्हारा कपड़ा'। 'मैं' एक वचन पर 'मेरे' में बहुवचन है; क्योंकि भेद्य 'कपड़े' है। 'मैं' एक और मेरे कपड़े बहुत ! संस्कृत में भी यही है—

युष्मदीयं वस्त्रम् (तुम्हारा कपड़ा)
मदीयानि वस्त्राणि–(मेरे कपड़े)
सर्वत्र 'भेद्य' का अनुवर्तन है 'भेदक' में।

यह हिन्दी की (के, रे, ने) इन सम्बन्ध-विभक्तियों का और (क, र, न) इन तद्धितीय सम्बन्ध-प्रत्ययों का संक्षेप में परिचय है।

हिन्दी की 'इ' संश्लिष्ट विभक्ति

'इ' विभक्ति यह, वह, जो, कौन सर्वनामों में वहाँ लगती है, जहाँ अन्य शब्दों में 'को' लगती है। इन सर्वनामों में भी इस का वैकल्पिक प्रयोग है। इसे–इसको, उसे–उस को, जिसे–जिस को, यों द्विविध प्रयोग यथा-रुचि या यथावश्यक होते हैं। 'तू-तुम' तथा 'मैं-हम' में भी इसका प्रयोग उसी तरह होता है। विभक्ति लगने पर 'वह' आदि को 'उस' आदि रूप मिलता है, उसी तरह 'तू मैं' को 'तुझ-मुझ'– तुझे-तुझको' 'मुझे'-'मुझको'। 'उसे' तथा 'तुझे' आदि में गुण-सन्धि; 'अ' तथा 'इ' मिल कर 'ए'। बहुवचन में प्रकृति तथा इस 'इ' प्रत्यय के बीच में एक 'ह' विकरण आ जाता है। प्रकृति-प्रत्यय के बीच में यों आ जाने वाला शब्द 'विकरण' कहलाता है। बहुवचन में, विभक्ति परे हो, तब यह, वह आदि को 'इन-उन' आदि हो जाता है। 'तुम' 'हम' ज्यों के त्यों रहते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि अनुनासिक से बहुत्व-सूचन की व्यापक प्रवृत्ति है। 'अस्ति-सन्ति', 'भवति-भवन्ति' आदि में 'न्' से बहुत्व सूचित होता है। 'रामान्' 'रामाणाम्' आदि में भी 'न्' 'म्' के दर्शन हैं। 'हूँ'-'हैं' जैसी हिन्दी क्रियाओं में (अनुनासिक व्यंजन की जगह) स्वर अनुनासिक कर दिए गए हैं। उसी तरह 'यह'-'वह' को 'इन'-'उन' कर दिया जाता है। 'तुम' 'हम' में 'म' पहले से ही है; इस लिए अन्य अनुनासिक की जरूरत ही नहीं। हाँ, 'इ' को अनुनासिक रूप (इँ) अवश्य प्राप्त हो जाता है—

'इन्हें'-इनको, 'उन्हें'-उन को
'तुम्हें'-तुम को, 'हमें'-हम को

'हमें' में 'ह' विकरण नहीं आया है। कैसे आए, वहाँ तो पहले से ही एक 'ह' जमा हुआ है! दो सिंह आगे-पीछे नही चलते; एक ही मॉद में दो नहीं रह सकते; बीच में छोटी-सी सिला का व्यवधान होने पर भी।

राष्ट्रभाषा में यह 'इ' विभक्ति जानी-पहचानी चीज है; पर है दूसरी जगह की। अवधी तथा व्रजभाषा में 'हिं' विभक्ति बहुत प्रसिद्ध है, जिसका उपयोग कर्मकारक आदिमें होता है—केवल सर्वनामो में ही नहीं, सभी नामो (संज्ञाओं) में भी। व्रजभाषा में—

अब के नाथ मोहिं उधारि

और—'कत रघुनाथ मूरि के कारन,
मोकौं लेन पठाए!'

यो 'हि' का वैकल्पिक प्रयोग सर्वनामो में और इसी तरह—

'आजु जो हरिहिं न सस्त्र गहाऊं'

तथा—'हरि कौं देखि न और देखिबो मोहि सखी अब भावै।'

'हिं' का वैकल्पिक प्रयोग है।

अवधी में—

'लै रघुनाथहिं ठाउँ दिखावा'

तथा—'परी न राजहिं नीद निसि'

इस तरह 'हिं' का प्रयोग होता है। जनभाषा में इस 'हिं' के 'ह्' का लोप भी हो जाता है—

'जो 'कबिरा' कासी मरै,
रामै कौन निहोर!'

'रामहि' के 'ह्' का लोप और फिर प्रकृतिगत 'अ' तथा इस 'इं' में सन्धि हो कर 'ऐं'—'रामै'।

यही लोप-विधि राष्ट्रभाषा में आई है, परन्तु 'अ' तथा 'इ' में सन्धि 'ए' होती 'है' 'ऐ' नहीं-'इसे'-'उसे'।

एक बात और। राष्ट्रभाषा ने एक वचन में 'इ' निरनुनासिक कर दी है, क्योंकि अनुनासिक से बहुत्व-सूचन होता है। बहुवचन में वह अनुनासिक है ही-'उन्हें, इन्हें, तुम्हे' आदि।

इन सब विभक्तियों को 'कारक-विभक्ति' तथा 'उपपद-विभक्ति' नामों से विभक्त करते हैं। जब किसी विभक्ति से कारकत्व प्रकट हो, तब 'कारक-विभक्ति' और उससे भिन्न स्थल में 'उपपद-विभक्ति' कहलाती है।

इस प्रकरण को समाप्त करने से पहले हिन्दी की इस 'ह' संश्लिष्ट विभक्ति की संक्षिप्त कथा कह-सुन लेना चाहिए। संस्कृत में तृतीया विभक्ति के बहुवचन में 'बालकैः' 'कविभिः' जैसे रूप बनते हैं। वैदिक संस्कृत में अकारान्त शब्दों के भी 'बालकेभिः' जैसे रूप मिलते हैं, जो कि संस्कृत की तीसरी अवस्था में आते-आते लुप्त हो गए—'बालकैः' जैसे ही रह गए। यानी 'भिः' के 'भ्' को उड़ाकर प्रकृति के अन्त्य 'अ' तथा प्रत्यय के 'इ' में 'ए' सन्धि हो गई। परन्तु प्राकृत की धारा में 'रामेहिं' जैसे रूप मिलते हैं, सभी संज्ञा-सर्वनामों के। इस का मतलब यह हुआ कि प्राकृतों मे 'बालकेभिः' की ध्वनि है। विसर्गों का लोप या वर्णों में रूपान्तर प्राकृतों ने कर लिया। विसर्ग प्राकृतों से सर्वथा उड़ ही गए हैं। तब 'भि' ने अपने रूप से 'ब्' को भी उड़ा दिया। विसर्गों के बदले अनुस्वार धारण किया और यों वैदिक काल का 'रामेभिः' यहाँ 'रामेहिं' बन गया! 'रामेहिं' मे अनुस्वार 'हिं' का उच्चारण अनुनासिक भी हो सकता है; जैसा कि हिन्दी में है। बहुत्वद्योतन से मतलब; 'न्' हो, अनुस्वार हो, अनुनासिक हो। 'इन्हें'-'उन्हें' आदि में 'ह' का 'एं' अनुनासिक है, सानुस्वार नहीं। यानी बिन्दु-चिह्न यहाँ चन्द्र-बिन्दु की जगह है।

प्राकृत की तीसरी अवस्था आई, जिसे लोग 'अपभ्रंश'-काल कहते हैं, तब उस 'हिं' का विविध कारकों में प्रयोग होने लगा और वही फिर 'अवधी' ब्रजभाषा आदि आधुनिक जनभाषाओं में आकर और भी अधिक व्यवस्थित हो गई। राष्ट्रभाषा हिन्दी ने उसका सूक्ष्मतम रूप 'ह' लिया, बहुवचन में अनुनासिक 'हं' और सो भी संज्ञाओं में या विशेषणों में नहीं, सर्वनामो में ही। कदाचित् अपनी परम्परा का चिह्न समझ कर ही इसे इस रूप में अपनाया हो; अन्यथा 'को' का व्यवहार सर्वत्र है। यह 'को' भी प्राकृत-परम्परा से ही है। 'कर्ता' की 'ने' विभक्ति ऐसी है, जिसका संस्कृत तथा प्राकृत, दोनो धाराओं से मेल दिखाई देता है। 'रे' विभक्ति संस्कृत से आई है।

हिन्दी में 'मूल भाषा' के (तथा वैदिक संस्कृत के) और भी कितने ही अवशेष विद्यमान हैं। 'कासों कहौं निज मूरखताई' और 'देखी सखी वह सुन्दरताई' आदि में भाववाचक 'ताई' तद्धित-प्रत्यय का ही उदाहरण ले

लीजिए। वैदिक संस्कृत में 'ताति' भाववाचक प्रत्यय है, जिसका उल्लेख पाणिनि भगवान् ने भी किया है। 'शिवतातिः' जैसे प्रयोग वेदों में हैं। आज कल की प्रचलित संस्कृत में 'शिवत्व' है, 'शिवता' है; 'शिवतातिः' नहीं है। सम्भव है, 'ताति' का घिसा हुआ रूप ही 'ता' हो। जनभाषा में ('ति' से) व्यंजन-लोप और स्वर दीर्घ करके 'ताई' आ गया—'मूरखताई'। संस्कृत में 'सुन्दरताई' असम्भव है। आगे चल कर 'ताई' का 'ता' भी विकल्प से लुप्त हो कर एक 'ई' स्वतन्त्र भाववाचक प्रत्यय बन गया—'बुद्धिमानी'। कहीं 'ता-ई' के 'ता' का व्यंजन मात्र लुप्त हुआ और 'आई' प्रत्यय बन गया—'चतुराई'। 'ताति' का 'ई' बन जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। 'स्नुषा' का जब पंजाबी में 'नू' (बहू) बन गया, तब 'ताति' का 'ई' भी सम्भव है। 'षट्' का 'षो' तथा 'दश' का 'डश' देखिए—'षोडश'। अंग्रेजी के 'ट्वैन्टी' में 'टैन टू' (दशकद्वय) क्या बन गए हैं? भाषा का प्रवाह है। सो, 'रामेभिः' वैदिक प्रयोग से हिन्दी की 'हिं' असम्भव नहीं है।

कारक-विचार

क्रिया के साथ जिसका सीधा सम्बन्ध हो, उसे 'कारक' कहते हैं – 'क्रिया-न्वयित्वं कारकत्वम्'। 'राम पानी पीता है' वाक्य में 'पीता है' शब्द एक क्रिया का वाचक है। किसी द्रव पदार्थ को मुँह में ले कर गले के नीचे उतार लेना, एक क्रिया है। इसी क्रिया के अर्थ में हिन्दी की 'पी' धातु संकेतित है, जिसका वर्तमान काल में प्रथम पुरुष एकवचन का रूप 'पीता है' शब्द है। क्रिया-वाचक होने से इसे 'क्रिया-पद' या 'क्रिया-शब्द' कहते हैं। वाच्य-वाचक का अभेद कर के केवल 'क्रिया' भी ऐसे शब्दों को कह देते हैं।

तो, 'राम पानी पीता है' इस वाक्य में वह 'क्रिया' कौन कर रहा है? 'राम' कर रहा है, यानी जिस व्यक्ति का नाम 'राम' है, वह पानी पी रहा है। तो, वह व्यक्ति 'कर्ता' कारक हुआ। वही उस क्रिया के करने–न करने में स्वतन्त्र है। 'स्वतन्त्रः कर्ता'। क्रिया के करने–न करने में जो स्वतन्त्र हो, उसे 'कर्ता' कहते हैं। जो करता है, वही 'कर्ता' है। कर्ता का क्रिया से सीधा सम्बन्ध है, इस लिए यह कारक हुआ—'कर्ता कारक'।

कर्ता के अनन्तर दूसरा कारक है 'कर्म'। सकर्मक क्रियाओं में 'कर्म' मिलेगा; अकर्मक क्रियाओं में ('राम सोता है' आदि में) कर्म होता ही

नहीं। इसी लिए ऐसी क्रियाओं को 'अकर्मक' कहते हैं। परन्तु 'पीना' क्रिया सकर्मक है। कोई चीज ही पी जाएगी। जो चीज पी जा रही हो, वही 'पीना' क्रिया का 'कर्म'। 'राम पानी पीता है' में 'पानी' कर्म-कारक है। 'राम दूध पीता है' में 'दूध' कर्म है।

कर्ता के अनन्तर कर्म ही महत्त्वपूर्ण कारक है, जिसका क्रिया से निकटतम सम्बन्ध है। क्रिया का फल भी इन दो कारकों पर ही पड़ता है, कभी कर्ता पर, कभी कर्म पर। अकर्मक क्रियाओं में 'कर्म' की कोई चर्चा ही नहीं! वहाँ क्रिया का फल 'कर्ता' पर ही पड़ता है। सोना, उठना, बैठना, ऊँघना आदि अकर्मक क्रियाएँ हैं। 'राम पलँग पर सोता है'। 'सोने' का परिणाम या फल ('अचेत हो जाना') 'राम' में ही है, अधिकरण ('पलँग') में नहीं। इसी तरह अन्य सभी अकर्मक क्रियाएँ समझिए। सब का फल कर्तृ-गामी होता है। सकर्मक क्रियाओं का फल कभी कर्तृगत दिखाई देता है, कभी कर्मगत। अन्य किसी भी कारक पर, कभी भी, क्रिया का फल या परिणाम नहीं पड़ता। 'राम पानी पीता है' में क्रिया का फल 'पानी' पर पड़ा—वही मुँह से गले के रास्ते पेट मे पहुँचा है। परन्तु यह पहुँचने वाली चीज ('पानी') यहाँ क्रिया में स्वतन्त्र नहीं है। यदि 'राम' उसे मुँह में न ले और फिर गले के नीचे न उड़ेले, तो वह कभी भी पेट में पहुँच नहीं सकता। 'राम' स्वतन्त्र है इस क्रिया में, चाहे पानी पीए, चाहे न पीए।

इसी तरह 'राम चावल पकाता है' में 'पकाना' क्रिया का फल चावलों पर है। वे ही क्लिन्न-नरम होते हैं, पकने पर। इस क्रिया का कर्ता तो 'राम' है, परन्तु फल चावलों पर है।

परन्तु 'राम पुस्तक पढ़ता है', तब 'पढ़ना' सकर्मक क्रिया का फल कर्म (पुस्तक) पर नहीं दिखाई देता। पुस्तक को कोई जानकारी या उससे हर्ष-विषाद आदि नहीं होता। वह सब पढ़ने वाले (कर्ता) 'राम' में होता है। इस लिए क्रिया का फल 'कर्तृगामी' हुआ।

अकर्मक क्रियाओं में 'नदी में पानी बहता है'—'बहने' का फल 'पानी' पर है। वही आगे सरकता है; नदी जहाँ की तहाँ रहती है। यहाँ पानी बहने में स्वतन्त्र है, कर्ता है। उसी पर क्रिया का फल है। 'पेड़ पर आम पकता है'। 'आम' से मतलब है, उस का फल। यहाँ कर्ता 'आम' (यानी आम का

फल) है। वह 'सूरज की गर्मी से पकता है'। 'गरमी' करण नहीं, हेतु है। पकने का फल जो है, (चीज का रँग बदलना, नरम हो जाना आदि,) वह सब 'आम पर है; फल पर है; न पेड़ पर और न हेतु ('गरमी')पर ही।

क्रिया के परिणाम को हमने 'फल' कहा है, जिसे संस्कृत-व्याकरण में 'भाव' कह कर 'कर्तृस्थ भाव' तथा 'कर्मस्थ भाव' कहा गया है।

क्रिया का फल या तो कर्ता पर, या कर्म पर; अन्य किसी भी कारक पर नहीं; इस लिए ये दो कारक (क्रिया की दृष्टि से) बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हीं को देख कर, इन्हीं के सहारे भाषा में क्रिया-पद चलते हैं। शुद्ध क्रिया में लिंग, वचन आदि कुछ है ही नहीं! उसे 'भाव' कहते हैं। आप लड़कों की गिनती कर सकते हैं, लिंग-भेद भी समझ सकते हैं; परन्तु 'लड़के पानी पीते हैं' कहने से 'पीने' की क्रिया को कैसे गिनेंगे? उस (क्रिया) में लिंग-भेद भी कैसे करेंगे? परंतु भाषा में जब कोई शब्द चलेगा, तो उसका प्रयोग किसी न किसी 'रूप' में ही तो होगा! कोई न कोई पुरुष, वचन, लिंग बोला ही जाएगा! तो, क्रियाओं में जब अपनी (पुरुष-वचन आदि) कोई चीज है ही नहीं, तब उनका चलन कैसे हो? जो समीप मिलता है, लता उसी का सहारा ले लेती है; उसी की तरह सीधे या टेढ़े-मेढ़े चलने लगती है। छोटा-बड़ा या टेढ़ा-मेढ़ा, उसी की तरह अपना रूप बना लेती है। इसी तरह क्रियाएँ प्रयोग में कर्ता या कर्म का सहारा लेती हैं। कहीं कर्ता के अनुसार उन के रूप देखे जाते हैं—

लड़का घर जाता है
लड़की घर जाती है
हम घर जाते हैं
मैं घर जाता हूँ

सर्वत्र कर्ता के अनुसार क्रिया के रूप हैं।

लड़के ने रोटी खाई
लड़कियों ने रोटी खाई
तू ने रोटी खाई
मैं ने रोटी खाई
सब ने रोटी खाई

सर्वत्र कर्म (रोटी) के अनुसार क्रिया के लिंग, वचन, पुरुष हैं— 'खाई'।

जब कभी इन दोनो में से किसी की भी पद्धति क्रिया नहीं स्वीकार करती और अपनी अलग पद्धति अपनाती है, तब किसी भी (तीसरे) कारक का सहारा नहीं लेती—सदा पुल्लिग-एक वचन रहती है, 'अन्यपुरुष'। अर्थात् या तो कर्ता के अनुसार, या कर्म के अनुसार या फिर सर्वथा स्वतंत्र—

हम ने तुम को देखा
तुम ने हम को देखा
लड़के ने मां को देखा
मा ने लड़के को देखा

सर्वत्र 'देखा' क्रिया है, भाववाच्य। न कर्ता के अनुसार, न कर्म के। अब यहाँ चाहे जो अन्य कारक (करण-अधिकरण आदि) आए, क्रिया कभी भी उसके अनुसार न चलेगी ! जब कर्ता तथा कर्म का ही सहारा छोड़ दिया, तब और किसी की ओर क्या देखना ! इस तरह की बातें क्रिया-प्रकरण में स्पष्ट होंगी। यहाँ इतना ही कहना है कि कर्ता तथा कर्म, इन दो कारकों की स्थिति क्रिया के लिए विशेष महत्त्व रखती है। जब करण या अधिकरण आदि का प्रयोग गौण कर्ता के रूप में होता है, तब अवश्य क्रिया इनके अनुसार चलती है—'चाकू अँगुली काट देती है, हाथ काट देती है'। 'शहर लाखों को बसा लेता है' इत्यादि।

तीसरा कारक है—'करण'। क्रिया की निष्पत्ति में जिसकी सहायता 'कर्ता लेता है, उसे 'करण' कहते हैं। 'करण' भी कारक है। 'राम ने बाण से रावण को मारा'। 'राम' कर्ता है, 'बाण' करण है। 'करण' भी कारक है। 'बाण' का मारने (क्रिया) से सम्बन्ध है। 'राम ने गोविन्द को पुस्तक दी'। राम ने दी, पुस्तक दी, यों 'राम' तथा 'पुस्तक' कर्ता-कर्म। 'गोविन्द को' दी वह पुस्तक, यों 'देने' (क्रिया) का संबन्ध 'गोविन्द' से भी हुआ। यह 'सम्प्रदान' कारक हुआ। जिसे कुछ दिया जाए, वह 'सम्प्रदान'।

'पेड़ से पत्ता पृथ्वी पर गिरा'। पत्ता गिरा, पेड़ से। तो 'पेड़' अपादान हुआ। 'पेड़' से भी गिरने का संबन्ध है, वहीं से गिरा है वह। इसलिए

'अपादान' भी कारक। वह पत्ता पृथ्वी पर गिरा, तो गिरने का संबन्ध पृथ्वी से भी हुआ, इसलिए 'पृथ्वी' भी कारक हुई—'अधिकरण' कारक। इस तरह कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण, ये छह कारक हुए।

ये कारक विभिन्न विभक्तियों से प्रकट होते हैं। कहीं बिना विभक्ति ही कुछ कारक आते हैं। कारकों के साथ लगने वाली विभक्ति को 'कारक-विभक्ति' कहते हैं।

क्रिया से जिसका संबन्ध न हो, उसे 'कारक' नहीं कहते। 'राम का लड़का गोविन्द मुझे मिला था' इस वाक्य में 'मिलने' का संबन्ध 'गोविन्द' से है और 'मुझ' से है, परन्तु 'राम' का संबन्ध 'मिलने' से कोई नहीं। इस लिए यहाँ 'राम' कारक नहीं है। उसका संबन्ध एक कारक से है, क्रिया से नहीं है। 'का' (क + आ) संबन्ध-प्रत्यय है। और 'राम के लड़की हुई' में 'के' संबन्ध-विभक्ति है।

संबोधन भी पृथक् कोई कारक नहीं। 'राम, जल्दी आओ' यहाँ जिस का संबोधन है, उसी पर कर्तृत्व है। 'कर्ता' कारक में ही उस का ग्रहण है। और—'राम, तुम्हे एक कहानी सुनाता हूँ यहाँ वह 'कर्म' कारक में गतार्थ है—'गौण कर्म' है। 'कहना' द्विकर्मक क्रिया है। मुख्य कर्म 'कहानी' है, 'गौण कर्म' 'तुम्हे' है, जो 'राम' के लिए ही आया है। 'राम, आज एक मजेदार घटना घटी' इस वाक्य में 'राम' को, बात सुनने के लिए, अभिमुख (मुखातिब) मात्र किया गया है। उसका क्रिया से कोई संबन्ध नहीं। इस लिए, संबोधन पृथक् कोई कारक नहीं। संबन्ध प्रकट करने के लिए के, रे, ने विभक्तियाँ और क, र, न तद्धित-प्रत्यय हैं; कहा जा चुका है।

कर्ता कारक

वर्तमान काल की कर्तृवाच्य सब क्रियाएँ अपना 'कर्ता' (कारक) 'ने' आदि विभक्तियों के बिना ही रखती हैं।

लड़का जागता है, लड़के जागते हैं, लड़कियाँ जागती हैं

'लड़का' में 'आ' संश्लिष्ट प्रत्यय है, जिसे हम 'पुंविभक्ति' भी कहते हैं; क्योंकि यह संस्कृत के विसर्गों का विकास है, जो विसर्ग अकारान्त पुलिङ्ग शब्दों में (प्रथमा एक-वचन में) लगते हैं। 'लड़की' में 'ई' स्त्री-प्रत्यय है।

संस्कृत में 'नदी' में स्त्री-प्रत्यय जो 'ई' है, उसके आगे विभक्ति लगती है। 'ई' कोई विभक्ति नहीं कहलाती। इसी तरह यहाँ 'लड़का' में 'आ' पुंप्रत्यय समझिए। 'बालक जागता है' में 'बालक' शब्द उस 'आ' प्रत्यय से रहित है।

पुंप्रत्यय ('आ') का विकास एक विभक्ति से है, 'रामः' आदि के विसर्गों का विकास यह है; इसलिए हम ने 'पुंविभक्ति' नाम भी दिया है। इसका प्रयोग संस्कृत के (तद्रूप) 'बालक' आदि शब्दों में नहीं होता। यदि इस पुंविभक्ति को तत्त्वतः विभक्ति ही मान लें, तो भी कोई हर्ज नहीं है। 'आं' स्त्रीलिंग शब्दों में लगनेवाली विभक्ति है, जो कि अकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों में 'एँ' बन जाती है—'सड़कें' 'नहरें' आदि। यह विभक्ति बहुवचन में ही आती है। 'आ' तथा 'आँ' को संश्लिष्ट विभक्ति माना जाएगा। यहाँ 'विभक्ति' से हमारा मतलब 'ने' 'का' 'से' आदि विश्लिष्ट विभक्तियों से है और 'को' की जगह आनेवाली 'इ' विभक्ति से। ये विभक्तियाँ कर्ता-कारक में नहीं लगतीं, जबकि क्रिया कर्तृवाच्य वर्तमान काल की हो—

बालक सोता है—बालक सोते हैं
बालिका सोती है—बालिकाएँ सोती हैं
बालक रोटी खाता है—बालक रोटी खाते हैं

भविष्यत् काल में भी कर्ता-कारक वैसी किसी भी विभक्ति के बिना ही आता है—

बालक सोएगा—बालक सोएँगे
बालिका सोएगी—बालिकाएँ सोएँगी
बालक रोटी खाएगा—बालिका रोटी खाएगी
बालक रोटी खाएँगे—बालिकाएँ रोटी खाएँगी

विधि तथा आज्ञा आदि में भी वैसी कोई विभक्ति कर्ता कारक में नहीं लगती—

बालक पुस्तक पढ़े—बालिका पुस्तक पढ़े
बालक पुस्तक पढ़ें—बालिकाएँ पुस्तक पढ़ें

परन्तु 'चाहिए' के योग से विधि सूचित की जाए, तब तो कर्ता में 'को' या 'इ' विभक्ति लगेगी ही—

बालक को अच्छी पुस्तक पढ़नी चाहिए
हमें बेद अवश्य पढ़ना चाहिए
तुम्हें दिन में न सोना चाहिए
हमें आपस में लड़ना न चाहिए
छात्रों को प्रेम से रहना चाहिए

क्रिया भूतकाल की यदि अकर्मक हो, तब भी उसमें कोई विभक्ति नहीं लगती—

लड़का सोया—लड़के सोए
लड़की सोई—लड़कियाँ सोईं

परन्तु क्रिया यदि सकर्मक हो, तो 'कर्ता' में 'ने' विभक्ति लग जाती है

लड़के ने पुस्तक पढ़ी
लड़कियों ने पुस्तक पढ़ी।

इसमें एक अपवाद है। यदि सकर्मक क्रिया गत्यर्थक हो, तो फिर 'कर्ता' निर्विभक्तिक ही आता है—

'राम काशी गया'—'लड़की वृन्दावन गई'

'काशी' तथा 'वृन्दावन' कर्म हैं, अधिकरण नहीं हैं। 'राम काशी में पढ़ता है' 'लड़की बृन्दावन में रहती है' यहाँ 'काशी-वृन्दावन' अधिकरण हैं। ऊपर के उदाहरणों में यह बात नहीं है। तो, गत्यर्थक सकर्मक क्रियाओ के भी कर्ता निर्विभक्तिक रहते हैं, चाहे क्रिया भूत काल की ही हो। हिन्दी ने यहाँ संस्कृत - व्याकरण का पूर्ण अनुगम किया है, जो 'वाच्य'-प्रकरण में अधिक स्पष्ट हो जाएगा। संस्कृत का (भूतकाल में) 'त' ('क्त') प्रत्यय 'य' बन कर हिन्दी में आ गया है। नियम-चलन सब वैसा ही है। तृतीया एकवचन (बालकेन) का 'इन' वर्ण-व्यत्यय तथा 'गुण'-सन्धि से हिन्दी में 'ने' बन गया है। जहाँ (कृदन्त भूत-काल में) संस्कृत तृतीया विभक्ति कर्ता में लगाती है, वहीं हिन्दी अपनी 'ने' विभक्ति का प्रयोग करती है, अन्यत्र नहीं—

बालकः सुप्तः—लड़का सोया
बालिका सुप्ता—लड़की सोई

सकर्मक—बालिकया पुस्तकं पठितम्—लड़की ने पुस्तक पढ़ी
बालिकाभिः पुस्तकं पठितम्—लड़कियों ने पुस्तक पढ़ी
अस्माभिः पुस्तकं पठितम्—हम ने पुस्तक पढ़ी
युष्माभिः पुस्तकं पठितम्— तुम ने पुस्तक पढ़ी

केवल 'ने' 'सर्वत्र'। परन्तु गत्यर्थक धातुओं में—

बालकः काशीं गतः—लड़का काशी गया
बालिका वृन्दावनं गता—लड़की वृन्दावन गई

'ने' विभक्ति नहीं है। संस्कृत में भी तृतीया विभक्ति नहीं है। न 'बालकेन' और न 'लड़के ने'। पूरी समता है।

यदि क्रिया प्रेरणात्मक हो, तब भी प्रयोजक 'कर्ता' उपर्युक्त स्थलों में निर्विभक्तिक ही रहेगा—

मा बच्चे को दूध पिलाती है (वर्तमान)
मा बच्चे को दूध पिलाएगी (भविष्यत् काल)
मा बच्चे को दूध पिलाए (विधि या आज्ञा)
मालिक नौकर से काम कराता है (वर्तमान)
मालिक नौकर से काम कराएगा (भविष्यत् काल)
मालिक नौकर से काम कराए (विधि-आज्ञा)

भूतकाल में अकर्मक क्रियाएँ भी प्रेरणा में सकर्मक हो जाती हैं--

मा बच्चे को सुलाती है (वर्तमान)
मा बच्चे को सुलाएगी (भविष्यत्)
मा बच्चे को सुलाए (विधि-आज्ञा)

भूतकाल की प्रेरणा में अकर्मक क्रिया न मिलेगी। तब उसका निर्विभक्तिक प्रयोग भी न होगा, 'ने' लगेगी—

मा ने बच्चे को सुलाया (भूतकाल)
बच्चे ने मा को उठाया (भूतकाल)

सकर्मक क्रिया के (प्रेरणा में) मुख्य तथा गौण, दो कर्म हो जाते हैं। तब भी विभक्तियों के (कर्ता कारक में) लगने के नियम वे ही रहते हैं।

निर्विभक्तिक 'कर्म' कारक

कर्ता कारक की ही तरह 'कर्म' कारक भी अनेक जगह निर्विभक्तिक रहता है। जब विभक्ति का प्रयोग न करने पर भी कर्मत्व का बोध अबाध रहे, तब निर्विभक्तिक ही प्रयोग प्रायः होता है—

१—राम पुस्तक लिखता है
२—राम ने यह पुस्तक लिख कर बड़ा काम किया है
३—व्याकरण बना कर आपने बड़ा काम किया है
४—आप पत्र लिख कर निश्चिन्त हो लें

यहाँ निर्विभक्तिक प्रयोग रहेगा। 'राम पुस्तक को लिखता है' प्रयोग गलत हो जाएगा। हाँ, 'पुस्तक को और अच्छा बना रहा है' हो भी सकता है। इसी तरह 'आप व्याकरण को बनाते हैं' गलत है। 'व्याकरण को ठीक कर रहे हैं' जैसा वैकल्पिक प्रयोग हो सकता है।—'व्याकरण ठीक कर रहे हैं' तो ठीक है ही। परन्तु 'व्याकरण को बनाते हैं' आदि एकदम गलत हैं! 'आप व्याकरण बनाते हैं' में किसी को भी भ्रम न होगा कि 'व्याकरण' कर्ता है और 'आप' कर्म! 'व्याकरण आप को बनाता है' कोई न समझ लेगा। ऐसी जगह 'व्याकरण' कर्म ही समझा जाएगा। यही नहीं, 'व्याकरण भाषा ठीक करता है' यहाँ भी कर्म (भाषा) विभक्ति-निरपेक्ष है। औचित्य से, सामर्थ्य से तथा 'करता है' इस पुल्लिंग-निर्देश से 'व्याकरण' ही कर्ता समझा जाएगा और तब 'भाषा' कर्म है ही! 'मोहन पत्र को पढ़ता है' आदि मे भी 'को' व्यर्थ ('अजागल-स्तन') समझिए! 'मोहन पत्र पढ़ता है' ठीक। अनावश्यक अंग-वृद्धि किसे अच्छी लगेगी?

प्रेरणार्थक क्रिया मे भी मुख्य कर्म, वैसी स्थिति में निर्विभक्तिक ही रहता है—

मा बच्चे को दूध पिलाती है
मालिक नौकर से काम कराता है
तू मोहन से चिट्ठी लिखाता है

'पिलाती है' की तरह 'पिलाएगी' 'पिलाए' आदि भी समझिए।

जब गौण प्रयोग में (सकर्मक क्रिया का) 'कर्म' कर्ता की तरह प्रयुक्त होता है, क्रिया अकर्मक हो जाती है, तब इस गौण 'कर्ता' में भी विभक्ति नहीं

लगती—'कपड़े सिलते हैं' 'रोटी बनती है'। भूतकाल में भी यही स्थिति रहेगी। यह विषय यथास्थान और स्पष्ट हो जाएगा।

कर्ता तथा कर्म की तरह (कभी-कभी) अधिकरण भी निर्विभक्तिक रहता है—'मैं घर मिलूँगा' 'तू उस जगह रहता है।' अधिकरणत्व स्पष्ट है; इस लिए 'में' या 'पर' देना अनावश्यक और इसी लिए बेमजे। इसी तरह 'तू मेरे हाथो पिट जाए गा' में 'करण' ('हाथों') निर्विभक्तिक है। 'हाथों' का मतलब स्पष्ट है—'हाथों से'। 'से' लुप्त समझिए।

विभक्तियों के विविध प्रयोग

जब जरूरत हो, तभी विभक्तियों का प्रयोग किया जाता है। रजाई अपने पास है, जाड़े में ओढ़ेंगे। सदा ही ओढ़े न फिरेंगे।

'ने' विभक्ति केवल कर्ता कारक में लगती है, जब कि क्रिया सकर्मक हो और भूतकाल में प्रयोग हो; यह पीछे एक जगह बतलाया गया। इस विभक्ति का प्रयोग अन्यत्र कहीं भी नहीं होता–न किसी अन्य कारक में और न कर्ता की ही अन्य स्थिति में! बहुत नपी-तुली स्पष्ट स्थिति है। यह भी कहा गया कि गत्यर्थक क्रियाओं के भी भूतकाल में कर्ता 'ने' विभक्ति नहीं रखता। अन्य सकर्मक सभी क्रियाओं के भूतकाल में कर्ता 'ने' विभक्ति के साथ रहेगा–

राम ने काम किया
राम ने कपड़ा लिया
राम ने पुस्तक ली

लोगों ने 'ने' को करण-कारक की विभक्ति गलती से समझ लिया है! 'ने' का 'करण' कारक से कोई सम्बन्ध नहीं! परन्तु एक जगह सकर्मक क्रिया का भूतकाल में ऐसा प्रयोग मिलता है, जहाँ 'कर्ता' में 'ने' विभक्ति नहीं लगतां और वह क्रिया गत्यर्थक भी नहीं है—

राम पुस्तक लाया
लड़की फल लाई

'लाना' क्रिया सकर्मक है, गत्यर्थक भी नहीं है और भूतकाल भी है। परन्तु फिर भी कर्ता 'ने' विभक्ति से रहित है। यह क्या बात! वह नियम कहाँ गया?

नियम कहीं नहीं गया है, जहाँ था, वहीं है। इस एक अपवाद से नियम नहीं डिगता। एक-एक व्यापक नियम के बीसों अपवाद होते हैं, यहाँ यह तो एक ही है। यों, 'यह अपवाद है' कह कर सरलता से आगे बढ़ा जा सकता है। भूगोल की पुस्तक में यही लिखा जाएगा कि भारत के उत्तरीय अंचल पर हिमालय है। वहाँ यह बताने की जरूरत नहीं कि वह उत्तर में ही क्यों है; दक्षिण में क्यों न उभरा! व्याकरणकार शब्द की स्थिति मात्र देखते हैं; परन्तु हिन्दी ऐसी वैज्ञानिक भाषा है कि किसी चीज को यों ही छोड़ देना कुछ अच्छा न लगेगा! 'राम ने फल लिया' और 'राम फल लाया' इन प्रयोगों पर सन् १६४२ से १९४४ तक मैं सिर खपाता रहा। आखर चीज ढूँढ़े मिल गई! बात ध्यान में आ गई और कई जगह मैंने उसे प्रकट भी किया। राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' लिखा, तब यह चीज कुछ विस्तार से समझाई। किसी ने भी आज तक इस पर कोई विप्रतिपत्ति नहीं उठाई है और मैं समझता हूँ, यह चीज भी पक्की हो गई है—पक्की है। भूमिका लम्बी हो गई!

बात यह है कि भाषा के प्रवाह में बहते-बहते कई संश्लिष्ट शब्द विश्लिष्ट हो जाते हैं और कई विश्लिष्ट संश्लिष्ट हो कर चलने लगते हैं। यह सब अपने आप होता है—किसी व्याकरणकार के नियम से या राजाज्ञा से नहीं। 'लाना' संयुक्त क्रिया है। 'ले' तथा 'आ' धातुओं का अलक्षित संश्लेष हो गया है—सन्धि हो गई है। 'ले कर आना' और 'लाना' एक ही चीज है। 'ले आना' यह विश्लिष्ट प्रयोग भी वैकल्पिक होता है, किंचित् अर्थ-भेद से। यानी दोनों धातुओं में वैकल्पिक सन्धि है। 'ले' के आगे 'आ' धातु आई। इस धातु में एक विशेषता है। संस्कृत के 'आ' उपसर्ग को हिन्दी ने धातु के रूप में ग्रहण कर लिया है। 'याति' के 'या' को तो 'जा' धातु बना लिया, पर 'आयाति' के 'आया' अंश को 'आजा' कर के ले लिया जाता, तो अनेक जगह शब्द-भ्रम होता। इस लिए 'आ' मात्र हिन्दी ने लिया, धातु के रूप में। परन्तु 'आ' का 'संस्कृत'—संस्कार भी शायद बना रहा। संस्कृत में नियम है—'नित्या धातूपसर्गयोः संहिता'—धातु तथा उपसर्गमें सन्धि अवश्य होती है। संस्कृत में 'हरति' के पूर्व 'वि' 'आ' 'सम्' आदि उपसर्गों के योग से 'विहरति' 'आहरति' 'संहरति' जैसे क्रिया-रूप बन जाते हैं—अर्थ ही धातु का बदल जाता है। हिन्दी में 'जाता है' 'खाता है' आदि क्रिया-रूपों की ऐसी बनावट है कि संस्कृत उपसर्गों का इन से मेल-मिलाप—सम्भव ही नहीं। परन्तु

'आ' को जब हिन्दी ने धातु बना कर ले लिया, तो 'नित्या धातूपसर्गयोः' की सन्धि इसे न भूली ! संस्कृत में उपसर्ग का पूर्व प्रयोग होता है, परन्तु यहाँ संस्कृत नहीं, हिन्दी है और वह उपसर्ग भी धातु-रूप में है। 'धातु और उपसर्ग' की सन्धि है—'ले' धातु और 'आ' उपसर्ग (भले ही भूतपूर्व सही)। सन्धि में धातु का स्वर उड़ गया और 'ल्' 'आ' में जा मिला—'ला' एक संयुक्त धातु बन गई; ऐसी कि हजारों वर्षों तक किसी का ध्यान ही उधर न गया कि ये दो मिल कर एक हैं। दोनों अपना-अपना अर्थ देती हैं। चीनी में कपूर मिला देने से आँखें तो दोनों को एक ही समझ लेंगी; परन्तु रसना तथा नासिका को सब भेद मालूम हो जाएगा कि यहाँ दो चीजें हैं। इसी तरह, अर्थ-भेद से जाना गया कि 'ला' धातु संयुक्त है; अन्त में 'आ' है। प्रायः अन्तिम शब्द के अनुसार भाषा में चलन होता है और यहाँ गत्यर्थक 'आ' अन्त में है। तब उसी के अनुसार शब्द-प्रयोग होगा। इसी लिए भूतकाल में कर्ता 'ने' विभक्ति से रहित आता है—

राम काशी आया—लड़की घर आई

'आना' क्रिया गत्यर्थक है और 'काशी' तथा 'घर' कर्म हैं। संस्कृत में—

रामः काशीम् आगतः—बालिका गृहम् आगता

तृतीयान्त नहीं, प्रथमान्त कर्ता-कारक है।

राम पुस्तक ले कर काशी आया

बालिका कंघा ले कर घर आई

इन्हें यों कर देने पर भी—

राम काशी पुस्तक लाया

बालिका घर कंघा लाई

तदवस्थ निर्विभक्तिक कर्ता रहेगा। इस तरह यह 'ला' सकर्मक धातु भी अपवाद नहीं रहा, उसी नियम में है। परन्तु बच्चों की पुस्तकों में इस तरह नियम की व्याख्या न करके अपवाद ही बतला देना चाहिए कि 'ला' सकर्मक धातु ऐसी है कि इसके भूतकाल में भी कर्ता 'ने' विभक्ति से रहित ही आता है।

वस्तुतः सभी अपवादों में कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए, भले ही हम उसका पता न लगा सकें। परन्तु ये सब बातें प्रायः निरुक्त से सम्बन्ध रखती हैं। बहुत आवश्यक होने पर यहाँ 'ला' की चर्चा इतनी की गई। इससे हिन्दी का वैज्ञानिक गठन सामने आ जाता है। कैसी नियमबद्ध भाषा है!

सो, इस 'ने' विभक्ति का प्रयोग-क्षेत्र बहुत छोटा और बहुत स्पष्ट है।

२—'को' हिन्दी की यह 'को' विभक्ति बहुत अधिक प्रभाव-क्षेत्र रखती है। इस का भी निकास-विकास प्राकृत-धारा से है।

'को' का प्रयोग जहाँ होता है, वहीं सर्वनामों में 'इ' संश्लिष्ट विभक्ति का भी (विकल्प से) होता है; यह पीछे कहा जा चुका है।

कर्ता-कारक में 'को' विभक्ति लगती है, जब कि क्रिया कृदन्त हो और 'अवश्यकर्तव्यता' या क्रिया की अनिवार्यता प्रकट करनी हो–

१—राम को अभी चार विषय तयार करने हैं
२—मा को (सबेरे ही उठ कर) दही बिलोना है
३—तुम्हें कल स्टेशन जाना है
४—किसी भी तरह हमें परीक्षा में बैठना ही है

और—

१—तुम्हें पाँच रुपए दण्ड भुगतना ही होगा
२—राम को अब स्कूल से निकलना ही पड़ेगा
३—लड़कियों को इधर से न जाना होगा
४—हम सब को अपने कर्मों का फल भोगना है।

नीचे के उदाहरणों में कर्ता की परवशता ध्वनित होती है—यह काम उसे करना ही होगा।

'मन' आदि के योग में 'मन' या इसके पर्य्याय शब्दों के कर्तृत्व में 'कर' आदि धातुओं की क्रियाएँ आएँ, तो उन भाववाचक संज्ञाओं में 'को' विभक्ति लगती है, जिनसे 'मन' आदि का सम्बन्ध हो—

१—वेदान्त पढ़ने को मन करता है
२—आपके साथ कुछ दिन रहने को चित चाहता है

३—कुछ फूल घर ले जाने को दिल करता है।
४—धनी बन जाने को सब का मन चलता है

ये भाववाचक संज्ञाएँ हैं। संस्कृत में भावे 'तुम्' होता है—पठितुम्' 'गन्तुम्' आदि। 'पठितुम्'-'पढ़ने को'। 'पठितुं मनो मे'—मेरा मन पढ़ने को है।

साधारणतः कर्म कारक में 'को' का प्रयोग प्रसिद्ध ही है। यदि आवश्यक न हो, तो और बात है।

१—गीता को सम्पूर्ण संसार मानता है
२—सभी सनातनी हिन्दू गंगा को मानते हैं

यहाँ 'गीता' तथा 'गंगा' कर्म कारक हैं 'मानने' के। 'को' का प्रयोग है। इसी तरह—

१—मैं इस घर को खूब जानता हूँ
२—उस देश को मैं समझता हूँ

यहाँ भी कर्म में 'को' विभक्ति है। निर्विभक्तिक प्रयोग यहाँ यों न होंगे—

१—गीता सम्पूर्ण संसार मानता है
२—सभी सनातनी हिन्दू गंगा मानते हैं
३—मैं यह घर खूब जानता हूँ
४—वह देश मैं समझता हूँ

ये प्रयोग गलत हैं! 'को' का प्रयोग आवश्यक है। परन्तु यहाँ 'को' के बिना कर्म रहेगा—

१—मैं यह रास्ता जानता हूँ
२—हम गणित खूब समझते हैं; पर कविता नहीं समझ पाते!

दोनो तरह के प्रयोगों में सूक्ष्म अर्थ-भेद है।

'दे' सहायक-क्रिया की तरह जब हो—

१—राम को अब पुस्तक पढ़ने दो
२—मुझे दो घड़ी सो लेने दो

३—लड़कियों को अब पाठशाला जाने दो
४—अब हम इन्हें अपना काम करने दें
५—इसे सोने दो, हम लोग खीर खाएँ।

ऊपर के वाक्यों में, ऐसा लगता है कि साधारण संयुक्त क्रियाएँ हैं; 'दे' सहायक क्रिया है ! परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। 'सहायक क्रिया' 'दे' यहाँ 'स्वार्थ' छोड़ कुछ दूसरा अर्थ दे रही है। 'दो' 'दे' आदि से यह नहीं निकलता कि किसी को कोई 'पढ़ना' या काम 'करना' प्रदान कर रहा है। हाँ, अध्ययन आदि में बाधा न देना भी एक तरह से 'अध्ययन-दान' ही है; यह दूसरी बात है। प्रथम वाक्य में यह ध्वनि है कि 'राम' को अब बातों में न उलझाओ, पुस्तक पढ़ लेने दो। देखिए, 'दे' की तरह 'ले' का भी उसी तरह प्रयोग है—'राम को पुस्तक पढ़ लेने दो'। 'ले' साथ आ जाने से 'दे' का अर्थ भी कुछ विशिष्ट हो जाता है। पाँचवें वाक्य में कुछ उपेक्षा है, या उपेक्षा-सी है ! ऐसी जगह 'दो' 'दें' आदि के कर्ता तो 'तुम' 'हम' हैं; परन्तु 'पढ़ना' 'सो लेना' 'जाना' 'करना' 'सोना' क्रियाओं के 'कर्ता' 'राम' आदि हैं, जिनमें 'को' विभक्ति लगी है और ये वाक्य 'दो' आदि के कर्म हैं। 'पुस्तक पढ़ने के समय राम को मत छेड़ो, मत अन्यत्र उलझाओ' यह मतलब। 'इसे सोता छोड़ दो'—'इसे सोने दो' का मतलब है। यों यह एक विशेष प्रकार है, सहायक क्रिया का।

नैसर्गिक आवेगों के उद्रेक में: नैसर्गिक आवेगों का उद्रेक जहाँ विधेय हो, वहाँ 'को' विभक्ति उसमें लगती है, जिसका वह आवेग हो। जैसे-

१—बीमार को कै हो गई
२—उसे कई दस्त हो गए
३—बच्चे को पेशाब लगे, तो यहीं बैठा देना
४—तुम्हें बार-बार टट्टी क्यों लगती है ?

इसी तरह मानसिक आवेगों में-

१—तब परशुराम को क्रोध आ गया
२—बुढ़िया को इतना लोभ है कि क्या कहा जाए !
३—मुझे भी फिर तैश आ गया !
४—भाई, तुमको बड़ी चिन्ता है !

और—

१-हमें प्यास लगी है-२-तुम को भूख लगी है

इन सब प्रयोगों में वहाँ 'को' विभक्ति है, जहाँ वे आवेग हैं। ये सब 'कर्म कारक ही हैं—आवेगों के आश्रय होने पर भी। इन आधारों को 'अधिकरण' रूप में ऐसी जगह नहीं रखते, जब कि इनका उद्रेक विधेय हो। साधारणतः 'राम में क्रोध बहुत है' कहा जाएगा। क्रोध का अधिकरण 'राम' है। परन्तु जब वह क्रोध उमड़ रहा हो, उसका उद्रेक विधेय हो, तब 'को' विभक्ति का प्रयोग होगा। स्पष्टता के लिए समझिए कि 'राम को भूख लगी' 'राम को क्रोध आ गया' आदि में 'भूख' 'क्रोध' आदि कर्ता-कारक हैं—स्वतः प्रवृत्त हैं। 'राम को भूख लगी' में 'भूख' है कर्ता-कारक और 'राम' है कर्म-कारक। कर्म का पूर्व प्रयोग भर है। 'राम घर आया' में 'राम' कर्ता है, 'घर' कर्म है। 'राम को क्रोध आया' में 'राम' कर्म है, 'क्रोध' कर्ता है। क्रोध आया है—राम को। एक विशेष प्रकार का कर्म समझिए। यानी आश्रय का कर्म-रूप से प्रयोग है। ऐसी जगह 'संबन्ध' मात्र बताने से काम न चलेगा। 'राम की भूख' न होगा। हाँ, उद्रेक का विधान न हो, तब जरूर कहा जाएगा-'राम की भूख तो परेशान कर देती है।' यहां 'भूख' उद्देश्य है।

परन्तु यहाँ 'को' विभक्ति न लगेगी—

१—राम के लड़का हुआ है

२—यशोदा के—कृष्ण हुए, ऐसा लोगों ने समझा।

यहाँ 'के' की जगह 'को' नहीं कर सकते। यह 'के' संबन्ध विभक्ति है, जो एकरस रहती है। 'यशोदा को कृष्ण हुए' कहने से मामला बिगड़ जाएगा! पुत्ररत्न को वैसा कैसे समझा जाएगा! 'को' तो कुछ दूसरी जगह प्रयुक्त होता है, उदाहरणों में देखिए। 'पुत्र' टट्टी-पेशाब थोड़े ही है!

'राम के पुत्र हुआ' यहाँ 'राम के' आगे 'घर' आदि किसी भी शब्द का अध्याहार नहीं है। 'के' से ही सब स्पष्ट है। यहाँ संबन्ध ही प्रकट है, विशेष रूप से। वह पुत्र राम का है, जो पैदा हुआ है। यदि 'घर' का अध्याहार हो, तो फिर यह बात न रहेगी! 'राम के घर में लड़का हुआ है' और 'राम के लड़का हुआ है' में बड़ा अन्तर है। 'राम के घर में लड़का हुआ है' तो पता नहीं चलता कि वह लड़का किसका है! घर में तो भाई, भतीजे, पुत्र, आदि सभी रहते हैं और सभी के लड़के हो सकते हैं। एक ही घर में सब रहते हैं, तो क्या पता चलेगा कि किसे पुत्र-प्राप्ति हुई! इसलिए

'राम के घर लड़का हुआ है' का प्रयोग 'राम के लड़का हुआ है' इस अर्थ में नहीं कर सकते। हाँ, यदि कुछ विशेष मालूम न हो, सामान्यतः इतना मालूम हुआ हो कि अमुक के घर में एक लड़का पैदा हुआ है, तो कहा जाएगा (पुरखे का नाम लेकर)—'रामू चौधरी के घर में किसी के लड़का पैदा हुआ है।' 'देवकी के कृष्ण हुए' तो क्या 'घर में' अध्याहार होगा ?

यदि पैदा होने जैसी कोई बात विवक्षित न हो, तब फिर के, रे, ने विभक्तियाँ न आकर (क, र, न) तद्धित-प्रत्यय लगेंगे—

१—राम का लड़का मुझे मिला था
२—तुम्हारी लड़की को एक पुस्तक मिली है

'तुम्हारी लड़की पैदा हुई' यों तद्धित प्रत्यय का प्रयोग न होगा। संस्कृत में भी 'तव पुत्री जाता' की जगह 'त्वदीया पुत्री जाता' न कहा जाएगा।

'मिलना' क्रिया के संबन्ध में 'मिलना' के दो अर्थ हैं, यानी 'मिल' एक धातु है 'प्राप्ति' अर्थ में और दूसरी 'मिल' है संगतिकरण या मेल के अर्थ में। 'प्राप्ति'-अर्थ में 'मिल' का कर्ता 'को' विभक्ति के साथ आता है:—

१—लड़के को पुरस्कार मिला
२—तुम को चिट्ठी मिली
३—मा को खबर मिली
४—मुझे गालियाँ मिलीं !

परन्तु 'संगतिकरण' या 'मेल' अर्थ में जो 'मिल' धातु है, उसका कर्ता निर्विभक्ति रहता है और कर्म में 'से' विभक्ति लगती है—

१—तुम झा साहब से मिल लेना
२—मैं उन से मिला था
३—तुम तो किसी से भी नहीं मिलते।
४—मैं आप से मिल कर बहुत प्रसन्न हुआ।

यदि 'प्राप्त होना' ही अर्थ विवक्षित हो, तो-

१—तुम्हें झा साहब मिल गए थे न !
२—मुझे मेले में वे मिल गए।

३—तुम को कोई सहायक ही नहीं मिलता !

४—मुझे आप मिल गए, तो सब कुछ मिल गया ।

यों कर्ता-कारक में 'को' विभक्ति रहेगी और कर्म निर्विभक्तिक। विशेष विवरण क्रियाओं के 'वाच्य'-प्रकरण में दिया जाएगा ।

गौण कर्म में: प्रेरणार्थक क्रिया के 'गौण कर्म' में 'को' विभक्ति लगती है, यदि क्रिया इसी (गौण कर्म) के लाभ की हो—

१—यशोदा कृष्ण को मक्खन खिलाती थीं ।

२—पिता पुत्र को पुस्तक पढ़ाता है

३—अध्यापक छात्र को लेख लिखाता है

४—पुत्र पिता को रजाई उढ़ाता है

यदि क्रिया तदर्थ न हो, 'प्रयोजक' 'कर्ता अपने लिए कुछ करा रहा हो, तब गौण कर्म में 'को' का प्रयोग नहीं होता, 'से' का होता है:—

१—तू उस से चिट्ठी लिखा ले

२—मा बच्चे से साग मँगाती है

मतलब यह कि 'को' सम्प्रदान में लगती है और 'से' करण में। इसी लिए 'तदर्थ' तथा तद्भिन्न अर्थ इन दोनो के प्रयोग से निकलते हैं। 'राम चाकू से आम तराशता है' में 'चाकू' करण है। 'उसे आम के स्वाद से क्या मतलब ! न उसे काटने से मतलब ! काटता पर है, परवश ! इसी तरह 'मालिक नौकर से काम कराता है'। 'को' में बात दूसरी है ।

सम्प्रदान में 'को' के प्रयोग सर्वजन-विदित हैं। कभी कहीं अधिकरण में भी देखा जाता है ।

'इस पुस्तक ने हिन्दी में व्याकरण की कमी को पूरा कर दिया'

इस वाक्य में 'कमी' कर्म 'को' विभक्ति के साथ है। 'कमी' पूरी हो गई। यहाँ 'कमी' कर्ता है, 'पूरी' उस का विधेय-विशेषण है, जिसे लोग 'पूरक' भी कह देते हैं ! 'हो गई अकर्मक क्रिया है। 'कर देना' सकर्मक क्रिया है। यहाँ 'कमी पूरी कर दी' यों निर्विभक्तिक कर्म भी आ सकता है। परन्तु—

१—लड़कों को अच्छा बनाओ ।
२—लड़कियों को अच्छा बनाओ ।

यहाँ 'को' विभक्ति के बिना काम न चलेगा । ऐसे प्रयोग न होंगे—

१—लड़के अच्छे बनाओ ।
२—लड़कियाँ अच्छी बनाओ ।

ऐसे प्रयोग तभी हो सकेंगे, जब कोई कुम्हार खिलौनों में 'लड़के' 'लड़कियाँ' बना रहा हो । तब उस से कोई कह सकता है—

'लड़के अच्छे बनाओ'
और 'लड़कियाँ भी अच्छी बनाओ'

कारण, वह 'लड़के' तथा 'लड़कियाँ' बना रहा है । परन्तु माता-पिता न लड़के बनाते हैं, न लड़कियाँ । यह सब भगवान् का या नियति का काम है । हाँ, माता-पिता उन्हें अच्छा या बुरा बना सकते हैं । इसी लिए—

१—लड़कों को अच्छा बनाओ
२ - लड़कियों को अच्छा बनाओ

प्रयोग होते हैं । केवल 'अच्छा' बनाना विधेय है और इसी लिए कर्म में 'को' विभक्ति लगी है । 'लड़की को अच्छा बनाओ' ! सर्वत्र 'अच्छा' क्रिया-विशेषण है । इसीलिए 'अच्छा' एक रस रहेगा, 'अच्छी' या 'अच्छे' रूप में न आएगा । अच्छेपन मात्र का विधान है । यदि बनाने का संबन्ध केवल गुण से न हो कर 'द्रव्य' से भी हो, तब 'को' विभक्ति न लगेगी—

१—जुलाहा धोती अच्छी बनाता है ।
२—जुलाहा कपड़े अच्छे बनाता है

यहाँ 'अच्छापन' 'धोती' तथा 'कपड़ों' के साथ ही आ रहा है । इसी लिए 'धोती' के साथ 'अच्छी' तथा 'कपड़े' के साथ 'अच्छे' विशेषण हैं । विशिष्ट धोती तथा कपड़े जुलाहा बना रहा है । परन्तु—

१—इस धोती को तुमने और अच्छा बना लिया ।
२—तुमने कपड़ों को अच्छा बना लिया ।

यहाँ बात दूसरी है। धोती तथा कपड़े बने-बनाए हैं, जिन्हें और 'अच्छा' बना दिया गया है। अच्छापन धोती के साथ-साथ आया हो, तो निर्विभक्तिक 'तुम ने अच्छी धोती बनाई है' किसी जुलाहे से कहा जाएगा।

'बनाना' क्रिया न हो, तब–
२—तुम ने धोती अच्छी कर ली
२—तुम ने कपड़े सुनहरे कर लिए
३—तुम ने कपड़े चमका दिए

यों निर्विभक्तिक कर्म अवश्य रह सकेगा। परन्तु निसर्ग-कृति निर्विवाद वैसी ही रहेगी। वहाँ 'को' का प्रयोग अवश्य होगा।

तुम ने लड़के को अच्छा कर लिया, अच्छा बना लिया।
उस ने लड़की को उद्दण्ड कर दिया, उदण्ड बना दिया।

'को' विभक्ति के बिना 'उस ने पढ़ा-लिखा कर लड़के अच्छे बना लिए' ऐसे प्रयोग भी होते हैं, ठीक हैं। 'पढ़ाने' से स्पष्ट है कि लड़के अच्छे बनाए गए हैं। 'उसने लड़के अच्छे बनाए' में यह बात नहीं है। जान पड़ता है कि लड़के बनाए गए हैं!

तुम ने लड़का अच्छा कर लिया
उस ने लड़की उद्दण्ड कर दी

इस तरह के प्रयोग भद्दे लगेंगे। भाषा की ऐसी प्रवृत्ति नहीं है।

३—'से' विभक्तिः हिन्दी की यह 'से' विभक्ति कर्ता, कर्म, करण तथा अपादान कारकों में और अनेक जगह उपपद-विभक्ति के रूप में भी प्रयुक्त होती है।

कर्ता कारक मेंः जब क्रिया में कर्ता की असमर्थता आदि सूचित करनी हो, तब (कर्मवाच्य या भाववाच्य क्रिया का) कर्ता 'से' विभक्ति के साथ आता हैः—

१—हम से अब पोथा न लिखा जाएगा!
२—बुड्ढे से चने नहीं चबते!
३—उस मूर्ख से अपना नौकर भी दबाए नहीं दबता!

४—मुझ से वह सब कहते न बनेगा !

५—तुम से वह कला न सीखी जाएगी !

यदि कर्ता में असामर्थ्य विवक्षित न हो, काम ही दुष्कर हो, तब कर्ता में 'से' का प्रयोग न होगा—

१—कई बार प्रयत्न करने पर भी कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर को फारसी लिपि न आई

२—अंग्रेजी अपनी वर्तनी के कारण बहुत लोगों को ठीक-ठीक नहीं आती !

यहाँ कर्म-वाच्य क्रियाएँ हैं। 'कर्ता' कारक 'को' विभक्ति के साथ हैं। संस्कृत में सर्वत्र तीसरी विभक्ति चलती है, ऐसी जगह—'विद्वद्भिरपि दुरूहा लिपिर्भाषा वा नाऽवगम्यते ।' हिन्दी में 'से' तथा 'को' विभक्तियों के प्रयोग-भेद की जो विशेषता है, वह वहाँ नहीं है। सर्वत्र तृतीया चलती है !

गौण कर्म में: गौण कर्म में 'से' विभक्ति प्रसिद्ध ही है—'राम से मैंने सब कह दिया'। 'कहना' क्रिया द्विकर्मक है। मुख्य कर्म निर्विभक्ति रहता है और गौण कर्म में 'से' विभक्ति लगती है।

प्रेरणार्थक क्रियाएँ जब द्विकर्मक होती हैं, तब भी गौण कर्म में 'से' विभक्ति लगती है, यदि क्रिया उस (गौणकर्म यानी प्रयोज्य कर्ता) के लिए न हो–

१—अंग्रेजों ने दूसरे देशों से वह सब करा लिया, जो चाहते थे।

२—सेठ जी ने उस गरीब से लेख लिखवा कर अपने नाम से छपा लिया।

यहाँ प्रत्यक्षतः 'लेख' दूसरे के काम आया है, भले ही उस के बदले कुछ पारिश्रमिक मिल गया हो ! लिखने का असली फल (श्रेय) अन्यत्र है।

अन्यत्र 'को' का प्रयोग–'मा बच्चे को रोटी खिलाती है।

मनोभावों के आलम्बन में; प्रेम, स्नेह, बैर आदि मनोभावों के आलम्बनों में भी 'से' विभक्ति लगती है–

१—राम से गोविन्द का स्नेह है
२—ऊधव से माधव का बैर न था
३— कोई-कोई सभी से ईर्ष्या रखते हैं
४—सन्त से कोई क्यों बुरा मानेगा, या बैर करेगा ?

'बुरा मानना' भी मनोभाव ही है। ऐसे स्थलों में 'से' का वैकल्पिक प्रयोग है। अधिकरणत्व की विवक्षा में 'पर' भी—

१—राम पर गोविन्द का स्नेह है
२—सन्त का प्रेम सब पर बराबर रहता है

परन्तु 'बैर' 'ईर्ष्या' आदि के आलम्बनों में 'से' का ही प्रयोग होता है। कभी कोई 'पर' लगा कर नियम उड़ा दे, यह अलग बात है।

'आदर' का आलम्बन बड़े लोग होते हैं और स्नेह का छोटे। 'प्रेम' बराबर वालों में चलता है। 'मा का बच्चों पर स्नेह' होगा, 'बच्चों से' नहीं। 'मैं राजर्षि का आदर करता हूँ'। 'मेरा राजर्षि से' (या 'राजर्षि पर') आदर' न होगा।

यदि वैर-प्रेम आदि के आलम्बन परस्पर दोनो हों, तो फिर 'में' विभक्ति लगेगी—

'साँप और नेवले में बैर है'
'राम और गोविन्द में परस्पर स्नेह है'

'में' का अन्वय उभयत्र है।

लाभ, प्रयोजन आदि के योग में: जिस से किसी का कुछ प्रयोजन या लाभ बताना हो, उस के साथ 'से' विभक्ति लगती है—

१—राम से गोविन्द का कुछ प्रयोजन है
२—गोविन्द से राम को क्या लाभ ?
३—उस से मुझे क्या ?

'मुझे क्या' में वही बात छिपी है।

इस तरह के अनन्त प्रयोग भाषा में चलते हैं, जो यथास्थान समझे जा सकते हैं। चलती भाषा के प्रत्येक शब्द का प्रयोग-दर्शन कुछ आवश्यक नहीं है। जगह भी नहीं! दिग्दर्शन मात्र चाहिए।

४-५ में, और पर: ये 'में' तथा 'पर' विभक्तियाँ अधिकरण कारक में लगती हैं। भीतर कोई चीज हो, तब 'में' का प्रयोग-'घड़े में पानी है'। ऊपर कोई चीज हो, तब 'पर'—'घड़े पर कौआ बैठ जाता है।' यह 'औपश्लेषिक' अधिकरण। 'घड़े' का 'पानी' से तथा 'कौए' से 'उपश्लेष' है। 'वैषयिक' अधिकरण भी होता है—'मेरा मन वैराग्य में है'। 'वैराग्य' का 'मन' से उपश्लेष-संबन्ध नहीं है—वैराग्य-विषयक मन है। तीसरा 'अभिव्यापक' अधिकरण भी बताया गया है, परन्तु वह एक तरह का 'औपश्लेषिक' ही है—'संसार में परमात्मा है' और 'तिलों में तेल है'। इतना अन्तर है कि यहाँ उपश्लेष व्यापक है, वहाँ साधारण। 'तेल में तिल हैं' औपश्लेषिक अधिकरण, जब कि निकले हुए तेल में तिल पड़े हों। निसर्गतः तो तिल तेल के 'आधार' हैं, 'अधिकरण' हैं। इसी तरह 'दूध में मिठास है' या 'इमली में खटास है' समझिए। दूध तथा इमली मिठास-खटास के आधार ही हैं, एक प्रकार से। 'मुझे भी दिल्ली में ही कहीं बुला लो' वाक्य में 'दिल्ली' अधिकरण है और उसमें 'कहीं' (कोई जगह) 'कर्म' है, पहुँचने की जगह।

क्रिया के आनन्तर्य में: एक क्रिया के अनन्तर दूसरी क्रिया हो, तब प्रथम क्रिया-शब्द के कृदन्त रूप में 'पर' विभक्ति लगती है—

१—अच्छी तरह सो चुकने पर ही चलूँगा
२—राम के चले जाने पर गोविन्द सो गया

प्रथम वाक्य में 'सोने' का तथा 'चलने' का कर्ता एक ही है, द्वितीय में कोई चला गया है, तब कोई दूसरा सो गया है। संस्कृत के 'रामे गते गोविन्दः सुप्तः' की तरह समझिए। अन्तर यह है कि 'राम गये पर' (या 'गए पर') प्रयोग न होगा। यद्यपि संस्कृत की ही छाया हिन्दी में—

१—रामः गतः　२—रामेण काव्यं पठितम्
१—राम गया　२—राम ने काव्य पढ़ा

जैसे प्रयोग हैं, परन्तु 'रामे गते' तथा 'रामेण काव्ये पठिते' के ढँग पर—'राम गए पर' और 'राम के काव्य पढ़े पर' प्रयोग हिन्दी ने स्वीकार नहीं किए हैं। 'राम के जाने पर' तथा 'राम के काव्य पढ़ लेने पर' जैसे भिन्न कृदन्त-प्रयोग यहाँ चलते हैं; यद्यपि 'गया' तथा 'पढ़ा' भी हिन्दी की कृदन्त ही क्रियाएँ हैं - इनके भी लिंग-वचन नाम-शब्दों की तरह चलते-

बदलते हैं। इस संबन्ध में बहुत अधिक कहना है। क्रिया प्रकरण ही तो किसी भी भाषा का असली व्याकरण है। वाक्य में क्रिया ही प्रधान होती है। उसी का विवेचन करने के लिए यह सब भूमिका चल रही है। पुस्तक का उत्तरार्द्ध इसी गम्भीर तथा जटिल विषय के लिए रखा गया है। वहीं सब भेद खुलेंगे। यहाँ 'गंगा की गैल में मदार के गीत' ठीक नहीं।

७—**संबन्ध-विभक्तियाँ के, रे, ने:** हिन्दी की ये तीन संबन्ध-विभक्तियाँ हैं। कर्ता-कारक में लगनेवाली 'ने' विभक्ति अलग है। वह सर्वत्र चलती है और यह संबन्ध प्रकट करनेवाली 'ने' विभक्ति केवल 'आप' में लगती है। का-के-की, रा-रे-री, ना-ने नी विभक्ति नहीं, तद्धित-प्रत्यय हैं। मूलतः 'क' 'र' तथा 'न' हैं, जो हिन्दी की अपनी पुंविभक्ति 'आ' से 'का' 'रा' तथा 'ना' बन जाते हैं—राम का, तुम्हारा, अपना। संबन्ध संसार में अनेक तरह के होते हैं—पिता-पुत्र संबन्ध, पति-पत्नी संबन्ध मालिक-नौकर संबन्ध, स्व स्वामि-संबन्ध आदि—

१—दशरथ का पुत्र राम
२—राम की पत्नी सीता
३—सेठ के वे नौकर
४—यह मेरी पुस्तक है

सर्वत्र पुंविभक्ति, रूप परिवर्तन 'ए' तथा 'ई' हैं।

कभी संबन्ध-प्रत्ययों से कर्तृत्व आदि भी प्रकट होता है,

१—फल हमारा भोजन है
२—फलों का भोजन उत्तम माना गया है

प्रथम वाक्य में 'हमारा' कर्तृत्व प्रकट करता है, 'भोजन' क्रिया है। 'फल' भोजन-क्रिया का कर्म है। दूसरे उदाहरण में 'फलों का' कर्मत्व प्रकट करता है। फल 'भोजन', याने 'खाने की चीज'। कर्ता अविवक्षित है। 'राम का काशी जाना अच्छा रहा' वाक्य में 'राम का' कर्तृत्व प्रकट करता है, 'जाना' क्रिया का। 'काशी' कर्म है। परन्तु ये संबन्ध-प्रत्यय से कहे गए कर्ता-कर्म आदि 'नाम' या संज्ञा की तरह अपनी स्थिति रखते हैं, जब कि 'राम काशी जाता है' 'राम काशी गया' आदि कृदन्त-क्रियाएँ 'आख्यात' रूप रहती हैं। 'जाते-जाते को न टोका करो' आदि में 'जाता-जाता' यह

वर्तमान काल का 'त' नहीं है, पृथक् चीज है, यह क्रिया-प्रकरण में स्पष्ट होगा।

क, र, न प्रत्ययों का प्रयोग सम्बन्ध में ही नहीं, तादात्म्य या अभेद में भी होता है। 'आम का रस' में सम्बन्ध है—आधार-आधेय भाव है। 'आम' (फल) आधार है और 'रस' आधेय है। परन्तु 'कबड्डी का खेल' में तादात्म्य है, अभेद है। 'कबड्डी' से भिन्न 'खेल' नहीं है। कभी-कभी 'आरोप' करने में भी 'क' आदि प्रत्यय काम आते हैं—'आकाश के समुद्र में जो चन्द्रमा का शेष-नाग दिखाई देता है, उस पर विष्णु भगवान् दिखाई देते हैं। उनके श्याम रूप को ही लोग 'मृगलाञ्छन' कह देते हैं।' यहाँ 'आकाश' में 'समुद्र' का आरोप है और 'चन्द्रमा' में 'शेषनाग' का। इसी तरह अनन्त प्रयोगों में 'क' आदि प्रत्ययों का उपयोग होता है।

क, र, न में ब्रज की पुंविभक्ति 'ओ' लगती है, तब इन के रूप 'को' 'रो' 'नो' हो जाते हैं—'राम को रूप निहारति जानकि कंकन के नग की परछाहीं।' बहुवचन में और स्त्री-लिङ्ग में खड़ी—बोली की ही तरह के, रे, ने तथा की, री नी रूप। पूरबी अञ्चलों में 'आ' या 'ओ' विभक्ति के बिना ही इन सम्बन्ध प्रत्ययों का प्रयोग होता है—'रामक कवन निहोर' 'तुम्हार हमार कामु आय' 'अपन-अपन कामु करौ'। बिहार की भोजपुरी, मगही और मैथिली तक 'क' चलता है और यथास्थान 'र' 'न' भी। आगे की भाषाओं में 'क' की जगह भी 'र' है; पर 'आ' या 'ओ' विभक्ति के बिना ही। ये विभक्तियाँ तो बिहार में ही नहीं; प्रत्युत इस से भी पश्चिम में नहीं हैं! परन्तु 'र' प्रत्यय कुछ भेद के साथ आगे भी है। बँगला में—'रामेर कथा' 'सीतार वनवास'। अकारान्त प्रकृति के अन्त्य स्वर को 'ए' हो जाता है। यों अलगाव कुछ हो गया है और इसी अलगाव के कारण 'बँगला' 'उड़िया' 'असमिया' आदि नाम भाषाओं के हैं, आकारान्त। 'मगही' 'भोजपुरी' 'मैथिली' नाम ईकारान्त हैं, जैसे 'अवधी' 'पहाड़ी' 'राजस्थानी' 'बैसवाड़ी' 'बुँदेलखण्डी' 'कन्नौजी' आदि। यों बिहारी भाषाओं को हम हिन्दी—परिवार में मानते हैं। दूसरे लोग पूरबी 'बँगला' आदि की बहनें उन्हें कहते हैं। सोचिए, 'मैथिली' का 'बँगला' और 'भोजपुरी'—'उड़िया' में रूप-साम्य है, या रूप-भेद? 'मैथिली' का 'अवधी' से मिलान कीजिए। हाँ, बिहारी-भाषाओं पर बँगला आदि का प्रभाव जरूर पड़ा है। पड़ोस का प्रभाव पड़ता ही है। पर उस से कुटुम्ब नहीं बदल जाता। 'रामक' और 'रामेर' देखिए। 'क' क्या कहता है?

बँगला आदि की ही तरह राजस्थानी में भी 'र' प्रत्यय की व्यापकता है-राम का घर-'राम रो घर'। परन्तु 'क' भी कहीं दिखाई पड़ता है। अपत्यार्थक भी 'क' प्रत्यय राजस्थानी में चलता है, और राजस्थानी-व्याकरण के अनुसार बहुवचन रहता है—'महादेव मुरारका', रामचन्द्र प्रह्लादका' 'मुरारका' का अर्थ है—'मुरार (मुरारी) के' (वंशज)। राजस्थानी में 'लड़का आया' बहुवचन है। यानी वहाँ ('लड़के आए' की जगह) 'लड़का आया' बहुवचन। एक वचन-'लड़को आयो'। उसी पद्धति पर 'प्रह्लादका' आदि बहुवचन-रूप हैं। एकवचन-रूप होता-'प्रह्लादको'। इस का चलन नहीं है, क्योंकि वंश किसी एक व्यक्ति को नहीं कहते। बहुत्व से वंश ध्वनित होता है। राजस्थानी आदि का विशेष परिचय इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में दिया जाएगा।

साराश यह कि क, र, न, सम्बन्ध-प्रत्ययों की व्यापकता है। दूर-दूर तक ये पहुँचे हैं। हिन्दी में विभक्तियाँ प्रकृति से हटा कर लिखी जाती हैं; 'राम ने रोटी खाई' 'राम से कह दो' 'राम के लड़का हुआ' आदि। इस का प्रभाव तद्धित-प्रत्यय 'क' पर भी पड़ा। यह भी पृथक् लिखा जाने लगा-'राम का घर'। परन्तु 'न' और 'र' प्रत्यय सटा कर ही लिखे जाते हैं—'अपना घर' 'तुम्हारा घर'। 'ने' तथा 'रे' सम्बन्ध-विभक्तियों का प्रभाव होगा। ये विभक्तियाँ सटा कर ही लिखी जाती हैं। 'अपने तो एक ही गौ है' 'तेरे चार गौएँ हैं'। 'ने' तथा 'रे' विभक्तियाँ सटा कर क्यों लिखी जाती हैं? भगवान् जाने! सम्भव है, राजस्थानी का प्रभाव हो! मतलब इतने से कि 'रे' 'ने' विभक्तियों की ही तरह 'र'-'न' प्रत्यय भी सटा कर लिखे जाते हैं। सम्बन्ध-विभक्ति ही 'ने' सटा कर लिखी जाती है। कर्ता-विभक्ति 'ने' में यह बात नहीं। कर्ता में लगने वाली 'ने' विभक्ति प्रकृति से हटा कर लिखते हैं—'आप ने भोजन किया?' सटा कर भी लिख देते हैं—'आपने भोजन किया?' सम्भव है, इस (कर्ता-विभक्ति) 'ने' से पृथकत्व प्रकट करने के लिए ही सम्बन्ध-विभक्ति (ने) सटा कर लिखने लगे हों। 'रे' को सटा कर लिखने के तो कई कारण हैं। पंजाबी में 'साडे' 'ध्वाडे' में 'डे' सटा कर है। 'डे' और 'रे' एक ही चीज हैं। व्याकरण के इस ग्रन्थ में इस संबन्ध में इतना ही बहुत है। अधिक विवेचन निरुक्त का विषय है। वहीं सब लिखना देखना चाहिए।

'भेद्य'-'भेदक' भाव

सम्बन्ध-प्रत्ययों से भेद्य-भेदक भाव विशेषतः प्रकट होता है। 'राम के चार गौएँ हैं'। यहाँ सम्बन्ध मात्र विवक्षित है। परन्तु 'राम का लड़का यहाँ नहीं है' में भेद्य-भेदक भाव मुख्य है। 'लड़का' भेद्य है और 'राम का' भेदक है। भेद्य के अनुसार भेदक रहता है। भेद्य के लिङ्ग-वचन ही भेदक में रहते हैं—

तुम्हारा काम
तेरे काम, तेरी बात

देखने से सब स्पष्ट हो जाएगा। 'काम' भेदक है एक वचन; इसी लिए 'तुम्हारा' एक वचन। 'तुम' बहुवचन, उसी का रूप 'तुम्हारा' है। संस्कृत में भी यही पद्धति है-'युष्मदीयः पुत्रः'-'तुम्हारा लड़का'। प्रकृति में बहुत्व होने पर भी भेद्य के अनुसार रूप है—'युष्मदीयः'-'तुम्हारा'। भेद्य ('पुत्रः' तथा 'लड़का') बहुवचन कर दें, तो (प्रकृति में एकत्व रहने पर भी) प्रयोग बहुवचन होगा—'तेरे लड़के'। 'तू' एक है, तेरे लड़के बहुत हैं। 'तुम्हारा खेत'-'तुम' बहुत हो, तुम्हारा खेत एक ही है। 'राम की लड़की'-'राम' पुलिङ्ग है; पर राम की लड़की स्त्रीलिङ्ग है। इसी लिए 'राम की'। यानी सम्बन्ध में भेद्य के अनुसार भेदक रहता है। 'भेदक' इस लिए कहते हैं कि यह भेद करता है। 'लड़का पढ़ता है' कहने से 'लड़का' सामान्य प्रयोग है। कुछ पता नहीं लगता कि किस का लड़का है, जो पढ़ रहा है! परन्तु 'राम का लड़का पढ़ता है' 'तेरे लड़के पढ़ते हैं' प्रयोगों में भेदक ('राम का' तथा 'तेरे') से पितृत्व स्पष्ट हो जाता है।

बहुत साफ यह कि जैसे विशेष्य के अनुसार विशेषण रहता है, उसी तरह भेद्य के अनुसार भेदक रहता है—

विशेषण—मीठा फल, मीठे खरबूजे, मीठी रोटी
भेदक—तेरा फल, तेरे खरबूजे, तेरी रोटी

तो फिर 'तेरा फल' आदि में 'तेरा' को विशेषण और 'फल' को विशेष्य क्यों नहीं कहते? विशेषण अपने विशेष्य की दूसरों से व्यावृत्ति करता है

और 'भेदक' भी वही काम करता है। गति-पद्धति भी एक ही है। तब फिर 'तेरे खरबूजे' में 'तेरे' को 'भेदक' न कह कर 'विशेषण' ही क्यों न कहें?

प्रश्न ठीक है। 'भेदक' वही काम करता है, जो विशेषण। गति-पद्धति भी वही है। फिर भी इसे ('भेदक' को) 'विशेषण' नहीं कह सकते; 'विशेषण-कल्प' कह सकते हैं—विशेषण जैसा ही। दोनो में अन्तर है। विशेषण विशेषता बतलाता है और 'भेदक' स्व-स्वामी का सम्बन्ध, या पिता-सन्तति जैसा कोई सम्बन्ध बतलाता है। 'मीठा आम' देखिए। मीठापन या मिठास आम में है। 'लाल कपड़ा' में 'लाल' रँग कपड़े में ओतप्रोत है। 'टेढ़ी लकड़ी' में टेढ़ापन 'लकड़ी' में व्याप्त है। 'मूर्ख बालक' में मूर्खता बालक में है। परन्तु 'तेरा लड़का' पृथक् चीज है। 'तू' अलग है—'लड़का' अलग है। 'तेरा' 'लड़के' से पितृ-पुत्र सम्बन्ध भर है। इसी तरह 'तुम्हारा घर' में स्वामी और स्वत्व का सम्बन्ध है। 'तुम' और 'घर' अलग-अलग हैं। एक तरह का सम्बन्ध भर दोनों का है। दोनों सँज्ञाएँ और संज्ञा-प्रतिनिधि (सर्वनाम) हैं। विशेषण अलग चीज है।

इसी लिए व्याकरण में 'भेद्य'-'भेदक' शब्द रखे गए हैं। किसी-किसी ने गलती से 'भेद्य' को 'विशेष्य' और 'भेदक' को विशेषण कह दिया है! संस्कृत में प्रसिद्ध है—

'भेद्यं विशेष्यमित्याहुर्भेदकं तु विशेषणम्।
... ...षष्ठ्युत्पत्तिस्तु भेदकात्।'

—यानी विशेष्य को भेद्य कहते हैं, और विशेषण को भेदक। षष्ठी (विभक्ति) भेदक में लगती है—'रामस्य पुत्रः पठति'—राम का लड़का पढ़ता है। हिन्दी में 'राम का' सम्बन्ध प्रत्यय से कहा है और संस्कृत 'रामस्य' में सम्बन्ध विभक्ति से प्रकट है। 'तव पुत्रः पठति' और 'त्वदीयः पुत्रः पठति' दोनो तरह के प्रयोग संस्कृत में होते हैं; पर हिन्दी ऐसी जगह तद्धितीय सम्बन्ध-प्रत्यय ही लगाती है, विभक्ति (के, ने, रे) नहीं। तद्धितीय प्रत्यय में भी सम्बन्ध प्रकट करने की वही शक्ति है, जो विभक्ति में। हिन्दी ने दोनो के प्रयोग-क्षेत्र पृथक् पृथक् निर्धारित कर दिए हैं। प्रकृत यह कि ऊपर दी हुई संस्कृत-उक्ति में जो विशेष्य को 'भेद्य' और विशेषण को 'भेदक' कह दिया है, वह ठीक नहीं। विशेष्य और भेद्य तथा विशेषण और भेदक में जो अन्तर है, ऊपर बतलाया

है हमने। जो काम बैल करता है, वही भैंसा भी करता है; तो इस से वे दोनों एक ही तो न हो जाएँगे न! अन्य-व्यवच्छेद दोनो ही करते हैं—विशेषण भी और भेदक भी; परन्तु दोनो के स्वरूप भिन्न हैं। एक ही पद्धति पर चलने के कारण दोनों को एक कह देना उचित नहीं। यह कह सकते हैं कि विशेषण की ही तरह भेदक भी व्यावृत्ति करता है और जैसे विशेषण अपने विशेष्य की तरह रहता-चलता है, उसी तरह भेदक अपने भेद्य की तरह। कार्य-साम्य है, गति-साम्य है। इस लिए भेदक को 'विशेषण-कल्प' और 'भेद्य' को 'विशेष्य-कल्प' कह लीजिए-समझाने के लिए। नाम 'भेदक' 'भेद्य' जरूर चाहिए। समझाया जा सकता है—'भेद्य' के अनुसार 'भेदक' रहता है; जैसे विशेष्य के अनुसार विशेषण। कभी-कभी विशेष्य-विशेषण भी सम्बन्ध से कहे जाते हैं—'भाषा का माधुर्य किसे न अच्छा लगेगा?' यहाँ विशेष्य-विशेषण ही प्रकारान्तर से हैं। 'मधुर भाषा किसे न अच्छी लगेगी?' मतलब। विशेषण 'मधुर' को जब भाववाचक संज्ञा बनाया 'माधुर्य', तब सम्बन्ध से कथन।

'सिद्ध' और 'साध्य'

कारक (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण) 'सिद्ध' होते हैं और क्रिया 'साध्य' होती है, 'विधेय' होती है। 'राम मोहन को पुस्तक देता है'। यहाँ 'राम' पहले से ही विद्यमान है, 'मोहन' भी विद्यमान और 'पुस्तक' भी सामने है। परन्तु 'देना' क्रिया विद्यमान नहीं है। यह 'साध्य' है। साध्य ही मुख्य होता है। विधेय ही प्रधान होता है। 'भोजन रखा है' में 'भोजन' सिद्ध है—एक चीज का नाम है, जो सामने है। 'खाना रखा है' में 'खाना' भी 'सिद्ध' है। परन्तु 'मुझे अभी खाना खाना है' में पहला 'खाना' (कर्म) 'सिद्ध' है और दूसरा 'खाना' साध्य है, क्रिया है। यह सब आगे यथास्थान स्पष्ट होगा।

कर्ता, सम्प्रदान, अपादान को कभी 'निर्देश' 'प्रदान' तथा 'अपकर्षण' कहा जाता था—

निर्देशः, कर्म, करणं, प्रदानमपकर्षणम्
स्वाम्यर्थोऽधिकरणं विभक्त्यर्थाः प्रकीर्तिताः।

—निर्देश, कर्म, करण, प्रदान, अपकर्षण, अधिकरण, ये छह कारक और 'स्वाम्यर्थ' स्व-स्वामी आदि सम्बन्ध, ये विभक्त्यर्थ हैं। विभक्तियों से ये अर्थ निकलते हैं; इन्हीं के अर्थ। इन्हीं को प्रकट करने के लिए विभक्तियों की सृष्टि है। तद्धितीय प्रत्यय भी विभक्त्यर्थ प्रकट करते हैं।

'कर्ता' को 'निर्देश' कहना ठीक ही है। 'राम' 'गोविन्द' 'रमा' निर्देश मात्र हैं। इन उद्देश्यों के विधेय—'पढ़ता है', 'सोता है', 'गाती है' आदि दे दिए जाएँ; तब पूरा अर्थ निकल आता है—'राम पढ़ता है' आदि। 'प्रदान' को 'सम्प्रदान' कर दिया गया है। 'अपकर्षण'-जिस से कोई चीज खींची जाए; या स्वतः अलग हो।

इस तरह हिन्दी की इन विभक्तियों की और क, र, न (सम्बन्ध) प्रत्ययों की चर्चा हुई। इनका प्रयोग 'नाम' तथा 'सर्वनाम' में होता है। विशेषणों में पृथक् विभक्ति हिन्दी नहीं लगाती, पंजाबी लगाती है—'मोटियाँ रोटियाँ'। हिन्दी में 'मोटी रोटियाँ'। किसी समय हिन्दी में भी ऐसा चलन था; प्रत्युत 'पढ़तियाँ हैं लड़कियाँ' जैसे प्रयोग भी उर्दू वालों ने किए हैं। आगे चलते-चलते परिष्कार हुआ और 'आँ' विभक्ति केवल विशेष्य में लगने लगी—'मोटी रोटियाँ'। 'पढ़ती हैं लड़कियाँ'। 'हैं' से ही बहुत्व प्रकट हो गया, तब 'पढ़ती' का 'पढ़तियाँ' किस काम का?

सम्बन्ध-प्रत्यय से कर्तृत्व-कर्मत्व आदि का भी प्रतिपादन होता है; यदि इन कारकों पर विधेयता न हो। 'फलों का भोजन स्वास्थ्य-प्रद है' यहाँ 'भोजन' का कर्म 'फल' है; यानी भेद्य 'भोजन' और भेदक 'फल' है—'फलों का भोजन'। यदि फलों पर कर्म-रूप से विधेयता हो, तो सम्बन्ध-प्रत्यय न लगेगा—'मैं फल खाता हूँ'। 'मनुष्य का भोजन फल है' यहाँ कर्ता (मनुष्य) में सम्बन्ध-प्रत्यय है। कर्म है 'भोजन'। कर्ता और कर्म का भेदक-भेद्य रूप से प्रयोग है। 'भोजन' कृदन्त संज्ञा है, जहाँ 'भाव' गौण है। इस लिए उद्देश्य-रूप से स्थित है। यानी 'भोजन' कर्ता है, 'है' क्रिया का। इस उद्देश्य ('भोजन') का विधेय (या विधेय-विशेषण) 'फल' है। अगले अध्याय में सब और स्पष्ट हो जाएगा।

सम्बन्ध विभक्तियों पर विशेष

सम्बन्ध-विभक्तियों का नया विवेचन है। इस लिए यहाँ और अधिक समझ लेने की जरूरत है। 'राम के लड़की हुई' जैसे वाक्यों में जब लोग संगति नहीं बैठा पाते थे, तो 'घर में' जैसा कोई शब्द ला कर वहाँ बैठा देते थे। कहते थे–'राम के' का मतलब है–'राम के घर में'। यह इस लिए कि 'के' का 'लड़की' से सामञ्जस्य न बैठता था! 'राम की लड़की' की जगह 'राम के लड़की' कैसे? परन्तु यह लचर चीज है! कोई स्त्री कहती है–'बहन मेरे एक लड़का हुआ और बस!' यहाँ वह अपने प्रसव की बात कह रही है। क्या यहाँ भी 'घर में' आ लगेगा! तब अर्थ क्या होगा? वह अपने प्रसव की चर्चा कर रही है, किसी दूसरी स्त्री की कोई बात नहीं है। सो, 'घर में' जैसा अध्याहार अगत्या किया जाता था! भूल से लोग करते थे। अध्याहार तो अगत्या होता ही है। जब स्वारस्य से अन्वय नहीं होता, तो जोड़-तोड़ करना जरूरी हो जाता है–अध्याहार आदि की शरण लेनी ही पड़ती है। परन्तु जब यह चीज सामने आ गई कि के, रे, ने हिन्दी की सम्बन्ध-विभक्तियाँ हैं, तब कोई अड़चन रहती ही नहीं है।

'राम के लड़की हुई' 'सुशीला के लडका हुआ' यहाँ 'पितृ-पुत्र' तथा 'मातृ-पुत्र' सम्बन्ध है। 'सुशीला के एक बकरी है' 'राम के चार गौएँ हैं' यहाँ 'सुशीला' और 'बकरी में' 'स्वामी' और 'स्व' का सम्बन्ध है और यही सम्बन्ध 'राम' तथा 'गौएँ' का है। सम्बन्ध-मात्र में विभक्ति है।

परन्तु जब 'प्रसव' का प्रयोग हो, तब सम्बन्ध-विभक्ति से काम न चलेगा। तब कर्तृ-कर्म सम्बन्ध रहेगा–

देवकी ने पुत्र प्रसव किया
यशोदा ने कन्या प्रसव की

यहाँ 'प्रसव' कर्म नहीं है। यदि 'प्रसव' कर्म होता, तो 'प्रसव की' क्रिया कैसे होती? 'प्रसव' के अनुसार पुल्लिङ्ग-एक वचन रहती। 'कन्या प्रसव की'। 'कन्या' कर्म है। 'प्रसव करना' क्रिया है। 'यशोदा' कर्ता-कारक है यहाँ। 'यशोदा के कन्या प्रसव हुई' ऐसा प्रयोग न होगा। कर्ता-कारक में 'यशोदा' रहेगी और भूतकाल में 'ने' विभक्ति लगेगी। 'ने' कर्ता-कारक वाली

विभक्ति। सम्बन्ध की 'ने' तो अलग है, जो केवल 'आप' में लगती है—
'अपने चार गौएँ हैं।'

'प्रसव करने' के अर्थ में ब्रजभाषा तथा राजस्थानी एक पृथक् क्रिया भी रखती हैं, जो संस्कृत 'जन्' (जनयति) से है। 'जन्' का 'जन' धातु-रूप- 'जननी जनै तौ अस जनै'। इसी 'जन' को भूतकाल में 'जा' हो जाता है, जब 'य' प्रत्यय सामने आता है—'जायो सुत जसुदा तैं ब्रजचन्द'। इसी का अकर्मक या कर्म-कर्तृक रूप भी 'जायो' होता है—

'नन्द महर घर ढोटा जायो'

नन्द के घर बालक हुआ है।

'नन्द के प्रगटे हरि आगु' में 'के' संबन्ध-विभक्ति है। 'महर' ब्रजभाषा में कभी 'चौधरी' के अर्थ में चलता था, जिस का स्त्रीलिङ्ग-रूप 'महरि' होता है। परन्तु ब्रजभाषा के एक 'मर्मज्ञ' ने 'महरि जसोदा' का अर्थ किया है—चौका-बर्तन करने वाली दासी! यानी 'महरि' को 'महरी' समझ लिया है!

खैर, यहाँ अपने को मतलब है संबन्ध-विभक्ति और संबन्ध-प्रत्यय से। ब्रजभाषा में प्रसवार्थक 'जन' धातु सकर्मक है, जिस मे भूतकाल में 'य' प्रत्यय 'कर्मणि' होता है—

'जसुदा ने इक कन्या जाई'
'देवकि ने इक ढोटा जायो'

'जायो' का स्त्री-लिङ्ग रूप 'जाई' है। इस का अकर्मक रूप भी ऐसा ही रहे गा—

'नन्द महर घर ढोटा जायो'

नन्द के घर बच्चा हुआ। सकर्मक क्रिया कर्म-वाच्य रहे गी और कर्ता में (ब्रजभाषा में) 'ने' विभक्ति विकल्प से लगे गी—'जसुदा जाई कन्या' रूप भी चलता है। सूरदास आदि टकसाली कवियों ने 'ने' के बिना ही अधिक प्रयोग किए हैं—'मैं नाहीं दधि खायो'। 'खड़ी बोली' के संसर्ग से कर्ता में 'ने' का भी प्रयोग सुलभ है। सो, 'जसुदा ने इक कन्या जाई' कहो, या 'जसुदा जाई कन्या' कहो; 'जसुदा' कर्ता कारक है। 'प्रसव करना' अर्थ है 'जा' (<'जन') का इस लिए—

'बसुदेव जायो सूनु'
या—'नन्द जाई कन्या'

जैसे प्रयोग न हों गे। प्रयोग हों गे—

वसुदेव के पुत्र हुआ
नन्द के कन्या हुई

व्रजभाषा—

बसुदेव के छोरा भयो
नन्द के छोरी भई

'भयो' और 'भई'—'हुआ'—'हुई'। 'खड़ी बोली' की 'हो' धातु भी संस्कृत 'भू' से ही है और व्रज की 'भयो' में 'भ' भी उसी से है। 'भू' धातु (संस्कृत में) 'उत्पन्न होने' के अर्थ में भी चलती है—'रामस्य कन्या अभवत्'—'राम के लड़की हुई'। 'है' धातु संस्कृत 'अस्' से है—व्रजभाषा में भी, 'खड़ी बोली' में भी। कुरुजाङ्गल में 'सै' है। वही 'सै' कुरुजनपद में 'है' और राजस्थानी में 'छै'।

के, रे, ने विभक्तियाँ हिन्दी की सभी बोलियों में हैं—

'भइ गलानि मोरे सुत नाहीं'
—'मानस'

अवधी में 'मोरे', अन्यत्र 'मेरे'। 'मोहिं सुत नाहीं' या 'मो कहँ सुत नाहीं' न हो गा; क्योंकि अस्तित्व मात्र 'सुत' का कहना है। 'रे' संबन्ध-विभक्ति है। इसी तरह व्रजभाषा तथा राजस्थानी आदि में भी।

हिन्दी की बोलियों में 'संबन्ध'

'हिन्दी की बोलियाँ' इन संबन्ध-प्रत्ययों से तथा संबन्ध-विभक्तियों से ही संबद्ध हैं। हिन्दी को सभी बोलियों में इन का अस्तित्व है। के, रे, ने एक-रूप विभक्तियाँ और क, र, न संबन्ध-प्रत्यय; कहीं 'आ' पुंविभक्ति के साथ, कहीं 'ओ' पुंविभक्ति के साथ और कहीं केवल—तुम्हारा, तुम्हारो, तुम्हार। कहीं—'यारो'—'यारा'—'यारी'। चीज़ एक ही है। यही स्थिति 'न' तथा 'क' की है। जहाँ इन की स्थिति यथावत् नहीं है, वहाँ 'हिन्दी की बोली'

शब्द का व्यवहार नहीं। 'खड़ी बोली' की पटरी पंजाबी भाषा से खूब बैठती है, 'खड़ी पाई' के कारण—'जाता है'—'जाँदा है'। 'मीटा पानी' 'मिट्ठा पाणी'। यह 'खड़ी पाई' व्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी आदि में नहीं है। परन्तु 'खड़ी बोली' हिन्दी-परिवार में व्रजभाषा आदि के साथ है; पर पंजाबी 'हिन्दी की बोली' नहीं कहलाती! यह इस लिए कि वहाँ 'क' संबन्ध-प्रत्यय नहीं है, 'के' संबन्ध-विभक्ति नहीं है। वहाँ 'ड' संबन्ध-प्रत्यय है और 'डे' संबध-विभक्ति है। 'ड' में पुंविभक्ति ('आ') लग कर—

साडा मुंडा (मेरा लड़का)
साडे मुंडे (मेरे लड़के)
साडी कुड़ी (मेरी लड़की)

और 'डे' विभक्ति—

'साडे हिक कुड़ी होई, ते त्रै मुंडे होए'
(मेरे एक लड़की हुई और तीन लड़के हुए)

यों 'डे' की स्थिति उसी तरह है, जैसे हिन्दी में 'रे' की। संभव है, 'रे' से ही 'डे' हो, या 'डे' से 'रे' हो। 'ड' और 'र' आपस में रूप बदलते ही रहते हैं। परन्तु भेद तो हो गया न! तब 'हिन्दी की बोली' कैसे कही जाए?

यही नहीं, 'क' की जगह 'द' है—पुंविभक्ति से दा, दे, दी।

राम दा पुत्तर (राम का पुत्र)
राम दे पुत्तर (राम के पुत्र)
राम दी कुड़ी (राम की लड़की)

संबन्ध-विभक्ति 'दे' है—

'राम दे हिक कुड़ी होई'
(राम के एक लड़की हुई)

इस मूल (प्रत्यय तथा विभक्ति के) स्वरूप-भेद के कारण पंजाबी 'हिन्दी की बोली' नहीं।

गुजराती में राजस्थानी की तरह 'ओ' पुंविभक्ति है; परन्तु 'क' संबन्ध-प्रत्यय नहीं—'न' सर्वत्र चलता है। पुंविभक्ति लग कर 'नो' और स्त्री-लिङ्ग

में 'नी'—'पाटण नी प्रभुता'—पाटन की प्रभुता। हिन्दी की सब बोलियों में 'अपना' 'अपनो' 'अपन' 'आपण' रूपों में ही 'न' संबन्ध-प्रत्यय लगता है। राजस्थान वीर-प्रदेश है; इस लिए 'न' की मधुरता को 'ण' जैसे रूप में वीरोचित ध्वनि दे दी है। परन्तु 'क' 'र' तथा 'न' का प्रयोग उसी तरह है। के, रे, ने विभक्तियाँ भी बराबर हैं। और 'आ' तथा 'ओ' पुंप्रत्ययान्तों के स्त्रीलिङ्ग रूप भी सर्वत्र ईकारान्त, या इकारान्त ही होते हैं।

पूरबी बोलियों में भी क, र, न संबन्ध-प्रत्यय तथा 'के' 'रे' 'ने' संबन्ध-विभक्तियाँ बराबर हैं। हाँ, प्रत्ययों में कोई संज्ञा-विभक्ति नहीं लगती—रामक, तुम्हार, अपन।

इसी तरह 'तोर' 'मोर' आदि। बिहार की भोजपुरी, मगही तथा मैथिली में भी उपर्युक्त तीनो सम्बन्ध-प्रत्यय तथा सम्बन्ध-विभक्तियाँ हैं। इस लिए ये भी हिन्दी-परिवार में हैं। बँगला आदि में 'क' प्रत्यय तथा 'के' विभक्ति नहीं है। वहाँ 'रे' विभक्ति ही कहीं 'र' रूप में और कहीं वर्ण-व्यत्यय से 'एर' रूप में है—'सीतार कथा'—'रामेर कथा'। यानी सम्बन्ध-प्रत्यय नहीं है, सम्बन्ध-विभक्ति है और 'क'-'के' का अभाव है। इस लिए बँगला आदि भी 'हिन्दी की बोलियाँ' नहीं हैं।

मराठी में 'क' प्रत्यय की जगह 'च' है और पुंविभक्ति कदाचित् 'खड़ी बोली' वाली ही 'आ' है—'राम चा'-(राम का)। सो, मराठी भी 'हिन्दी की बोली' नहीं। तथापि, पंजाबी, गुजराती, मराठी, बँगला आदि सभी भाषाएँ एक ही मूल से हैं। कर, खा, जा आदि धातु भी सर्वत्र प्रायः एक-रूप हैं। यानी इन सब भाषाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है १–'हिन्दी की बोलियाँ' और २–'हिन्द की बोलियाँ'।

भाषा–सम्बन्धी एक भ्रम

प्रासंगिक चर्चा बहुत बढ़ गई है; पर यहीं एक अन्य बात पर भी विचार कर लेना चाहिए, जिसका सम्बन्ध भी हिन्दी के सम्बन्ध-प्रत्ययों से तथा सम्बन्ध-विभक्तियों से ही है।

कुछ लोग, कुछ दिनों से, बिहार की भोजपुरी, मगही तथा मैथिली को हिन्दी-परिवार से पृथक् बँगला-असमिया आदि के साथ जोड़ने लगे हैं।

इन का कहना है कि भोजपुरी आदि पूरबी 'बँगला' आदि के परिवार की हैं। इस पर विचार करना है।

पहली बात तो वही क, र, न सम्बन्ध-प्रत्ययों की तथा 'के' रे, ने विभक्तियों की है। यदि बिहार की उपर्युक्त भाषाओं में ये दोनो तत्त्व हैं, तो ये 'हिन्दी की बोलियाँ' हैं, हिन्दी-परिवार की भाषाएँ हैं। और यदि बँगला आदि की तरह सर्वत्र 'र' विभक्ति है, तब बँगला-परिवार की सही, ठीक है। देख लीजिए।

दूसरी बात भी देखिए। हिन्दी-परिवार की सब भाषाएँ अपने नाम ईकारान्त रखती हैं और इन के पड़ोस की दूसरी सभी भाषाएँ भी-खड़ी बोली, अवधी, बैसवाड़ी, पहाड़ी, राजस्थानी, और मराठी-गुजराती आदि। परन्तु पूरबी परिवार की भाषाओं के आकारान्त नाम हैं—बँगला, उड़िया, असमिया आदि। यदि पूरबी (बँगला आदि के) परिवार की भोजपुरी, मगही, मैथिली भाषाएँ होतीं, तो इन के नाम भी आकारान्त अवश्य होते—'भोजपुरा', 'मैथला', 'मगहा' आदि। 'मगहा' का 'इया' प्रत्यय से 'मगहिया' रूप बहुत सम्भव है; पर 'भोजपुरिया' 'मैथिलिया' कैसे?

खैर, हमें इस से कोई मतलब नहीं। हम तो यहाँ शब्दानुशासन लिख रहे हैं, व्याकरण पर विचार कर रहे हैं। सो, सम्बन्ध-प्रत्यय तथा सम्बन्ध-विभक्तियों के प्रकरण में इतना प्रसंग से कह दिया गया। सच बात तो यह है कि अभी तक हमारी भाषाओं का, या बोलियों का साधार विश्लेषण हुआ ही नहीं है! अभी तो हिन्दी की विभक्तियाँ 'के' 'रे' 'ने' बतलाने में भी शास्त्रार्थ करना पड़ रहा है और का, के, की आदि का विभक्तित्व-निरसन के लिए महोद्योग करना पड़ रहा है!

विभक्ति या 'परसर्ग'

कुछ लोग हिन्दी की 'ने' 'को' आदि विभक्तियों को 'परसर्ग' कहते हैं! यह एक नया अड़ंगा, नई झंझट! 'विभक्ति' शब्द हमें परम्परा से प्राप्त है, प्रसिद्ध है। उस की जगह 'परसर्ग' चलाना किस काम का? क्या लाभ?

कहते हैं—ये 'को' 'ने' आदि विभक्तियाँ नहीं, 'परसर्ग' हैं; क्योंकि किन्हीं शब्दों के ये घिसे हुए रूप हैं—मूलतः विभक्ति नहीं। परन्तु संस्कृत की विभक्तियाँ भी तो किन्हीं शब्दों के घिसे हुए रूप कही जा सकती हैं न? और,

मान लीजिए, संस्कृत की विभक्तियाँ स्वतः उत्पन्न हैं और हिन्दी की 'ने' आदि किन्हीं शब्दों के रूपान्तर हैं; पर इस से नाम-भेद कैसे ? काम एक, नाम एक। कहते हैं, 'को' आदि का प्रयोग प्रकृति से सटा कर नहीं होता; इस लिए ये 'परसर्ग' हैं। क्या यह नहीं कह सकते कि हिन्दी में विभक्तियो के प्रयोग प्रकृति से सटा कर नहीं, हटा कर होते हैं ? साहब कहीं चम्मच से खाता है, तो उस के खाने का नाम ही बदल दिया जाए गा क्या ? या, यह कहा जाए गा कि हम लोग हाथ से खाते हैं और दूसरे लोग काँटे-चम्मच से खाते हैं ?

बड़ी विचित्र बात है ! व्यर्थ की बातें हैं। ऐसी ही बेकार और उथली बातों से पोथे बना कर 'भाषा-विज्ञान' नाम रखा गया है ! हम यहाँ भाषा-विज्ञान की चर्चा न करेंगे ! बहुत बड़ी राम-कहानी है ! परिशिष्ट में कुछ उतना ही कहा जाए गा, जितना व्याकरण के लिए जरूरी है।

अब यह प्रकरण समाप्त करना चाहिए। आवश्यकता से अधिक तो नहीं कहा गया है; पर फिर भी काफी कह दिया गया !

———

तृतीय अध्याय

नाम, सर्वनाम तथा विशेषण

पिछले अध्याय में जिन 'ने' आदि विभक्तियों का निदर्शन हुआ, वे 'नाम' या 'सर्वनाम' में लगती हैं। 'राम' 'गोविन्द' पर्वत, नदी आदि 'नाम' हैं। विशेषताओं के भी 'नाम' बना लिए गए हैं—सुशीलता, सुन्दरता, कठोरता, चञ्चलता या गम्भीरता आदि। 'राम सुशील है' यहाँ 'सुशील' विशेषण, जो 'राम में अच्छी सुशीलता है' यहाँ 'अच्छी' विशेषण के साथ पृथक् एक संज्ञा या 'नाम' के रूप में है। जो सब के नाम बन जाते हैं, उन्हें 'सर्वनाम' कहते हैं—मैं-तू, यह, वह आदि शब्द 'सर्वनाम' हैं, किसी एक ही में संकेतित नहीं। हाँ, यदि किसी विशेष व्यक्ति में किसी ऐसे शब्द को संकेतित कर दें, तो उस संकेत को समझनेवाले जनों में वह 'नाम' भी हो जाएगा। किसी लड़के का नाम 'मैं' रख दीजिए, तब 'मैं को बुलाओ' कहने से वही समझा जाएगा और तब 'मैं' सर्वनाम न रहेगा। परन्तु साधारणतः ये सब 'सर्वनाम' हैं। इस अध्याय में इन्हीं 'नाम' आदि शब्दों का अन्वाख्यान होगा।

भाषा में दो तरह के शब्द प्रमुख हैं—'नाम' और 'आख्यात'—संज्ञाएँ और क्रियाएँ। दूसरे दर्जे पर हैं—'उपसर्ग' और 'निपात' (या अव्यय)। महर्षि यास्क ने इसी लिए 'नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' कहा है। 'नाम' तथा 'आख्यात' स्वतंत्र चलते हैं और उपसर्ग-निपात इन्हीं की सेवा में रहते हैं। विशेषता चीज में ही रहती है; इसी लिए हिन्दी विशेषणों में पृथक् कोई विभक्ति नहीं लगाती।

'नाम' को हिन्दी-व्याकरणों में 'संज्ञा' नाम दिया गया है। परन्तु 'नाम'-'सर्वनाम' सीधे हैं। पाणिनि-पद्धति में भी 'नाम' चलता है। 'नाम-धातु' का वर्णन हिन्दी-व्याकरणों में भी आता है। 'नाम' को 'संज्ञा' कहने पर 'सर्वनाम' को 'सर्वसंज्ञा' तथा 'नामधातु' को 'संज्ञाधातु' कहना ठीक होगा। परन्तु हम इस झंझट में क्यों पड़ें? नाम में क्या रखा है? काम से मतलब। 'संज्ञा' ही कहते चलिए!

संसार के प्रत्येक पदार्थ का कोई न कोई नाम या संज्ञा लोकव्यवहार के लिए भाषा में निश्चित है। इन संज्ञाओं के वर्ग या श्रेणियाँ बनाना चाहें, तो संसार के सभी जड़-चेतन तत्त्वों का विभाजन करके उन के वर्ग या श्रेणियाँ बनाना जरूरी होगा—'अर्थभेदात् शब्दभेदः'। अर्थ के जितने भेद होंगे, शब्द उतने ही भेदों में विभक्त हो जाए गा।

हिन्दी में 'जाति', 'व्यक्ति' तथा 'भाव' शब्द उन विभागों के लिए रखे गए हैं। 'वस्त्र' जाति-वाचक शब्द है। 'शुक्ल वस्त्र' में 'शुक्ल' गुण बतलाता है। 'शुक्लता' 'श्वेतिमा' आदि गुण-वाचक संज्ञाएँ हैं, जिन्हें हिन्दी में 'भाव-वाचक संज्ञा' कहते हैं। 'राम' 'गोविन्द' आदि शब्द हिन्दी में 'व्यक्ति-वाचक संज्ञा' कहलाते हैं। 'करना' 'खाना' 'पीना' आदि कृदन्त-क्रियाएँ पुंविभक्ति से युक्त हैं; इस लिए 'लड़का' जैसी संज्ञाओं के समान चलती हैं। हिन्दी में इन कृदन्त क्रिया-शब्दों को 'भाववाचक संज्ञा' कहते हैं। 'भाव' यहाँ धात्वर्थ मात्र का बोधक है। 'करता है' 'करती है' से जान पड़ता है कि क्रिया का करने वाला पुरुष है, स्त्री है। 'करेगा' आदि से करने का काल मालूम देता है। परन्तु 'करना' 'जाना' 'आना' आदि क्रिया-शब्दों से 'पुरुष' 'लिङ्ग' 'वचन' आदि कुछ नहीं जाना जाता। क्रिया-मात्र प्रतीत होती है। इसी को 'भाव' कहते हैं। भावप्रधान क्रियाशब्दों के रूप संज्ञा-शब्दों की ही तरह चलते हैं —

'क्रियाभिनिर्वृत्तिवशोपजातः
कृदन्तशब्दाभिहितो यदा स्यात्।
संख्याविभक्तिव्ययलिङ्गयुक्तः
भावस्तदा द्रव्यमिवोपलक्ष्यः।'

'भाव' (धात्वर्थ) जब सिद्ध-अवस्था में कृदन्त-शब्दों के द्वारा प्रकट होता है, तब उस में 'द्रव्य' की ही तरह ('ने' 'को' आदि) विभक्तियाँ लगती हैं, 'वचन'—भेद भी उसी तरह होता है और स्त्रीपुंभेद भी वैसा ही होता है।

१—पुस्तक पढ़ने से ज्ञान बढ़ता है।

२—हम सब को पुस्तक पढ़नी चाहिए

३—राम को बहुत काम करने हैं

व्याकरण में 'द्रव्य' शब्द का अपना विशेष अर्थ है। जिन शब्दों में संज्ञा-विभक्तियाँ लगती हैं, उन्हें 'द्रव्य' कहते हैं—'लिङ्गसंख्यान्वितं द्रव्यम्'। संख्या विभक्तियों से प्रकट होती है। 'क्रिया' में स्वतः लिङ्ग-संख्या आदि हैं ही नहीं।

इसी लिए क्रिया-शब्द 'भावप्रधान' कहलाते हैं। 'द्रव्य' को ही 'निरुक्त' में 'सत्त्व' कहा गया है। 'करना' 'आना' 'जाना' आदि में 'भाव' निर्विशेष है। 'पचति' या 'पकाता है' कहने में 'भाव' (धात्वर्थ) विशेष रूप से है। इसी लिए कहा गया है:—

'भावप्रधानमाख्यातम्'

जिन शब्दों में 'भाव' की प्रधानता हो, उन्हें आख्यात' कहते हैं और जिन शब्दों में 'सत्त्व' की प्रधानता है, उन्हें 'नाम' कहते हैं:—

'सत्त्वप्रधानानि नामानि'

'सत्त्व' समझिए—'सत्ता'। 'पाचक आता है' में 'पाचक' शब्द सत्त्व-प्रधान है। यद्यपि 'क्रिया' का अंश या 'भाव' इस शब्द में है; परन्तु उस की प्रधानता नहीं है। 'पकाता है' 'पकाए गा' या 'पकाना' जैसी कोई चीज प्रतीत नहीं होती, जब कहा जाता है—'पाचक आता है' 'यह पाचक है' आदि। जो व्यक्ति पकाने का काम करता है, उसे 'पाचक' कहते हैं। उस रूप में अस्तित्व रखने वाले का वह नाम भर है। कहा है—'कृदभिहित-भावो द्रव्यवद् भवति'—कृदन्त से कहा गया 'भाव' 'द्रव्य' की तरह प्रयुक्त होता है; उस में लिङ्ग-भेद होता है; संज्ञा-विभक्तियाँ लगती हैं। इसी लिए 'आना; 'जाना' आदि को 'भाववाचक' संज्ञा कहते हैं।

परन्तु धातुओं से बने सभी शब्द संज्ञा-शब्दों में नहीं आ जाते। सत्त्व-प्रधान शब्द तो 'नाम' हैं ही; किन्तु जहाँ 'भाव' प्रधान है, उन्हें संज्ञा-शब्द नहीं कह सकते। ऐसे शब्दों में 'ने' 'से' आदि विभक्तियाँ भी न लगेंगी; पुंस्त्री-भेद से रूप-भेद जरूर होगा और वचन-भेद भी—

१—राम गया—सीता गई

२—लड़के गए—लड़कियाँ गईं

३—लड़के ने पाठ पढ़ा और पुस्तक पढ़ी।

४—राम को वेद पढ़ना चाहिए और कला सीखनी चाहिए। सर्वत्र संज्ञाओं की तरह क्रिया-शब्दों में लिंग-भेद तथा वचन-भेद है; परन्तु ये 'भावप्रधान' हैं, आख्यात हैं। इस लिए इन्हें 'संज्ञा' नहीं कह सकते; ये 'नाम' नहीं हैं। 'काम करने से रोटी मिलेगी' में 'करना' भाव-प्रधान नहीं, सत्त्व-प्रधान है। इसी लिए 'भाववाचक संज्ञा' है। 'आख्यात' में 'से' 'को' आदि विभक्तियाँ नहीं लग सकतीं। कारण 'आख्यात' में 'भाव' यानी क्रिया प्रधान है, विधेय रूप से है।

हिंदी में 'आख्यात' या क्रिया-शब्द कृदन्त ही अधिक हैं, जिनमें लिंग-भेद तथा वचन-भेद संज्ञा की ही तरह होते हैं। तिङन्त आख्यात बहुत कम हैं हिंदी में। इस भ्रम में न रहना चाहिए कि तिङन्त ही 'आख्यात' होते हैं, कृदन्त नहीं। 'भावप्रधानमाख्यातम्'। जहाँ 'भाव' (धात्वर्थ) प्रधान हो, वही 'आख्यात'। धात्वर्थ का आख्यान इन शब्दों से होता है। इन आख्यात-शब्दों में 'ने' 'को' आदि का वैसा प्रयोग नहीं होता—

'रामः काशीं गतः'

का 'गतः' संस्कृत में संज्ञा विभक्ति लगा भी सकता है—

'काशीं गतेन रामेण तत् कृतम्'।

काशी पहुँचे हुए राम ने वह किया। परंतु हिंदी में कभी भी—

'काशी गए ने राम ने'

न हो गा। हिन्दी में कृदन्त क्रियाएँ अधिक हैं और उन का आख्यातत्व प्रकट करने के लिए ही कदाचित् विशेषणों में विभक्तियाँ लगाना अभीष्ट नहीं। 'गये से, आये से' जैसे प्रयोग न होंगे—'जाने से, आने से' चलते हैं। 'राम के आये बिना काम न चले गा' गलत लिखा जाता है—'आए बिना' चाहिए। यह 'आए' भूतकाल के 'आख्यात' का रूप नहीं है। एक स्वतंत्र 'इ' भाववाचक कृदन्त प्रत्यय है—'पढ़े बिना'। दीर्घस्वरान्त धातुओं के आगे 'इ' को 'ए' हो जाता है—'जाए बिना'। यदि भूतकाल के आख्यात का वह रूप होता, तो वर्तमान तथा भविष्यत् से कैसे अन्वित होता—

१—राम के आए बिना काम चल नहीं रहा है

२—राम के आए बिना काम चले गा नहीं।

यही नहीं। भूतकाल के आख्यात का वह रूप होता, तो 'आये' 'आयीं' की तरह वचन-भेद तथा लिङ्ग-भेद भी होता। परन्तु वह कुछ नहीं; सर्वत्र एकरस 'आए' रहता है—

१—लड़कों के आए बिना

२—लड़कियों के आए बिना

सो, यहाँ 'आख्यात' नहीं है। विभक्तियाँ संज्ञाओं में लगी हैं।

अव्ययों में भी पुरुष, वचन या लिङ्ग का भेद नहीं होता; परन्तु विभक्ति कहीं लगती है—'जब से, तब से' आदि। 'जब ते राम ब्याहि घर आए' 'अवधी'। व्रजभाषा में भी यही स्थिति है। संस्कृत में भी अव्ययों के आगे विभक्तियाँ आती हैं, जिन का 'अव्ययादाप्सुपः' सूत्र से लोप हो जाता है। तभी 'अव्यय' पद कहलाते हैं। बिना विभक्ति के 'पद' न होते, उन का प्रयोग ही न होता! व्यापक प्रवृत्ति के कारण वैसा वहाँ कल्पना करनी पड़ी; अव्ययों से विभक्तियों का लोप मानना पड़ा। हिन्दी में विभक्तियों के बिना भी 'पद' चलते हैं; इस लिए लाने की और फिर लोप करने की कल्पना नहीं। अव्ययों में विभक्ति न लगे, ऐसा कोई विधान संस्कृत में भी नहीं है। केवल यह 'ब्रह्म-परक' वाक्य अव्ययों के लिए लिखा है :—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु च विभक्तिषु,
वचनेषु च सर्वेषु, यन्न व्येति, तदव्ययम्।

—जो सब लिङ्गों में एक-सा रहे और सभी विभक्तियों में तथा 'वचनों' में जो रूपान्तरित न हो, वह 'अव्यय'।

यहाँ इतना ही कहा गया है कि कोई भी विभक्ति आने पर अव्यय में रूपान्तर नहीं होता—

जब से, तब से, कभी का,

आदि देखिए, कोई रूपान्तर नहीं है। 'जबों से' 'जबी का' 'तबों ने'

जैसे विकृत रूप कभी भी नहीं होते! 'जब' 'तब' आदि सदा एकरूप रहेंगे। इसी लिए ये 'अव्यय' हैं। रूपान्तर हो जाए, तो फिर 'अव्यय' नहीं।

सो, क्वचित् अव्ययों में भी 'से' जैसी विभक्ति लग जाती है। परन्तु 'आख्यात' या क्रिया-पद में कभी भी संज्ञा-विभक्तियाँ 'से' आदि न लगें गी। क्रिया की विधेयता हो तो, 'आख्यात' और उसमें उद्देश्यता हो, तो भाववाचक संज्ञा।

संज्ञा के लिङ्ग-भेद

हिन्दी में सभी संज्ञा-शब्द दो भागों में बाँटे गए हैं १—पुल्लिङ्ग और २—स्त्रीलिङ्ग। 'लिङ्ग' को पहले 'व्यक्ति' कहते थे। 'व्यक्तिः स्त्रीपुंनपुंसकादिः'। पाणिनि-व्याकरण में भी शब्द-लिङ्ग के लिऐ 'व्यक्ति' शब्द आया है—'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने'। 'लिङ्ग'-चिह्न और 'व्यक्ति'-'व्यञ्जन'-शब्द का रूप-विशेष व्यञ्जित करना। परन्तु इन दोनो शब्दों से अच्छा 'जाति' शब्द है—'वृक्ष' पुंजातीय शब्द और 'लता' स्त्री-जातीय शब्द है। 'वृक्ष' की जाति 'पुरुष' और 'लता' की 'जाति' स्त्री। संस्कृत में शब्दों की एक तीसरी जाति भी है—'नपुंसक' या 'क्लीब'। हिन्दी में क्लीबता को स्थान नहीं। यहाँ सभी 'नाम' या संज्ञा शब्द दो ही श्रेणियों में विभक्त हैं—१—पुंवर्ग और २—स्त्री-वर्ग। 'पुरुष' या 'बालक' के समान जिन की बनावट है, वे 'जल' 'वन' 'पर्वत' आदि शब्द पुरुष-जातीय, पुंवर्गीय, या 'पुल्लिंग' कहलाते हैं। 'स्त्री' के समान जिन का कलेवर है, वे 'नदी' 'लकड़ी' 'मकड़ी' आदि शब्द स्त्रीजातीय, स्त्रीवर्गीय, या 'स्त्रीलिङ्ग' कहे जाते हैं।

शब्दों की लिङ्ग-व्यवस्था

आखर यह वर्ग-विभाजन हुआ कैसे? ऐसा जान पड़ता है कि जब भाषा बनने लगी, तब सब से पहले लोगों ने अपने-अपने घर वालों के—नाम रखे होंगे। अ, इ, उ, ऋ मूल स्वर प्रचलित थे। पहले 'अ' फिर उस का गुरु रूप 'आ'। लड़के का नाम 'रामः' अकारान्त, तो लड़की का नाम कुछ गौरव से 'रमा'। लड़के का नाम 'भारविः' तो लड़की का नाम गौरव से 'अरुन्धती'। यों अ-आ तथा इ-ई स्त्री-पुंभेद से विभक्त हो गए। अब जड़ पदार्थों के नाम रखे गए। 'रामः' की तरह जो 'पर्वतः' 'वृक्षः' आदि हुए,

वे सब पुल्लिङ्ग, पुंवर्गीय, या पुरुषजातीय; और 'रमा' जैसा गठन जिनका हुआ, वे 'लता' 'द्राक्षा' आदि शब्द स्त्रीलिङ्ग, स्त्रीवर्गीय, या स्त्रीजातीय। इसी तरह 'भारविः' की तरह 'रविः' 'पविः" आदि पुल्लिङ्ग और 'अरुन्धती' जैसे 'नदी' आदि स्त्रीलिङ्ग। कुछ शब्द ऐसे भी गढ़े गए, जिनकी आकृति और गति उन उभयविध शब्दों से भिन्न निकली—जलम्-वनम्, जलानि-वनानि वारि-वारीणि आदि। इन्हें कहाँ रखें? न 'रामः' जैसे, न 'रमा' जैसे! दोनों वर्गों से भिन्न! इन की तीसरी श्रेणी बना दी गई-'नपुंसक लिङ्ग'।

यों प्रारम्भ में, मूल भाषा में, शब्दों की तीन श्रेणियाँ बना दी गईं, जो संस्कृत में आज भी उपलब्ध हैं।

हिन्दी ने 'पर्वतः' के विसर्ग उड़ा दिए, 'पर्वत' मात्र लिया और 'जलम्' का 'म्' हटा कर 'जल' मात्र ग्रहण किया। तब 'पर्वत' की ही तरह 'जल' भी; 'राम' जैसा बन गया। 'पर्वत' तथा 'जल' दोनो पुल्लिङ्ग। इसी तरह 'कविः' का विसर्ग हटा कर 'कवि' मात्र यहाँ लिया गया, तब 'कवि' 'पवि' तथा 'वारि' एक जैसे हो गए—पुल्लिङ्ग। 'रमा' की तरह 'लता' आदि हैं ही। सो, सभी शब्दों को हिन्दी ने दो ही भागों में ग्रहण किया है—१—पुरुषवर्गीय २—स्त्रीवर्गीय। या, 'पुरुषजातीय' और 'स्त्रीजातीय' कहिए। 'पुल्लिङ्ग' और 'स्त्रीलिङ्ग' ही अच्छे लगते हैं, तो आप की मर्जी। मतलब इतने से कि बनावट के अनुसार हिन्दी के संज्ञा-शब्द दो भागों में विभक्त हैं। संस्कृत का अनुसरण है, एक विवेक के साथ।

पुंवर्गीय शब्द

हिन्दी ने अपनी जो 'पुंविभक्ति' 'आ' बनाई है, वह जहाँ होगी, वहाँ तो पुंवर्गीयता या पुल्लिङ्गता निश्चित ही है—

१—फंडा, पंडा, डंडा, झंडा, लहँगा आदि

२—करना, पढ़ना, गाना, बजाना, नाचना आदि

३—मीठा, सीठा, कड़वा, कषैला, विषैला, मटैला आदि

संज्ञाओं के अनुसार कृदन्त क्रियाएँ—

गया, आया, खाया पिया, उठा, बैठा आदि। संस्कृत के पुल्लिङ्ग सभी शब्द यहाँ भी प्रायः पुल्लिङ्ग ही हैं—

पर्वत, वृक्ष, वेद, ग्रन्थ, विकार, प्रकार,

संसार, विचार, भेद, विभेद, मृग, शावक, सिंह आदि।

भेद इतना है कि विसर्ग हटा दिए गए हैं। संस्कृत में 'वृक्षः पर्वतः' आदि रूप होते हैं, यहाँ 'वृक्ष' 'पर्वत' आदि। संस्कृत तद्रूप (तत्सम) शब्द हिन्दी ने 'प्रथमा' के एकवचन में बने हुए ले लिए हैं—पिता (पितृ), माता ('मातृ)' विद्वान् ('विद्वस्)' राजा ('राजन्)' आत्मा (आत्मन्) आदि। परन्तु अकारान्त शब्दों के ग्रहण में यह विशेष बात है कि विसर्ग हटा दिए गए हैं। 'वृक्षः' का 'वृक्ष' मात्र हिन्दी ने लिया है। यद्यपि 'प्रायः' तथा 'मनः-स्थिति' आदि तद्रूप संस्कृत शब्द हिन्दी में सविसर्ग ही चलते हैं; परन्तु पुंस्त्व-सूचक विसर्ग ग्रहण नहीं लिए गए हैं। हिन्दी एक स्वतन्त्र भाषा है और भाषा-स्वातन्त्र्य के लिए विभक्ति स्वातन्त्र्य अपेक्षित है। इसी लिए हिन्दी ने विभक्ति-रूप विसर्ग हटा कर 'वृक्ष' जैसे रूप ही अपनाये हैं। 'प्रायः' तथा 'मनः-स्थिति' आदि में विसर्ग विभक्ति-रूप नहीं हैं, 'प्रकृति' के अङ्ग हैं। बहुत साफ यों समझिए कि हिन्दी ने शब्दान्त विसर्ग तथा व्यंजन हटा कर संस्कृत शब्दों को अपना 'प्रातिपदिक' बनाया है। 'रामः' के विसर्ग हटा दिए और 'जलम्' का 'म्' हटा दिया।

जब कि संस्कृत के पुंस्त्व-सूचक विसर्ग हिन्दी ने हटा दिए, तब नपुंसकत्व-सूचक 'म्' भी हटा दिया। 'वृक्षः' संस्कृत में पुंवर्गीय शब्द है; ('बालकः' की श्रेणी का है) और 'फलम्' नपुंसक वर्ग का है। परन्तु हिन्दी में न विसर्ग, न 'म्'। 'वृक्षः' का 'वृक्ष' के रूप में ग्रहण है और 'फलम्' का 'फल' रूप में। जैसे 'वृक्ष' पुंवर्गीय, उसी तरह . 'फल' भी । नपुंसक-व्यंजक 'म्' हट गया, तब 'वृक्ष' और 'फल' एक-जैसे । इस लिए संस्कृत के अकारान्त नपुंसक-लिङ्ग शब्द हिन्दी में पुल्लिङ्ग बन जाते हैं। 'बल' 'फल' 'वन' 'पुष्प' 'दुग्ध' आदि (संस्कृत के नपुंसक-लिङ्ग) शब्द यहाँ 'वृक्ष' आदि की तरह पुंवर्ग में गृहीत हैं। यह ध्यान रखने की बात है कि 'लिङ्ग' चिह्न को कहते हैं। विसर्ग 'वृक्षः' आदि में पुरुष-लिङ्ग और 'म्' 'बलम्' आदि में नपुंसक-लिङ्ग ! कहीं कोई 'पुस्तक' जैसा शब्द

अपवाद में मिले गा। यह शब्द हिन्दी में स्त्रीवर्ग में चलता है। संस्कृत में एक तीसरा दर्जा बनाया गया, 'फलम्' जैसे शब्दों के लिए। परन्तु हिन्दी ने यह (नपुंसकों का) वर्ग उड़ा दिया। तब 'फल' 'वन' आदि प्रायः सभी वैसे शब्द पुंवर्ग में आ गए। कहीं कोई 'पुस्तक' जैसा शब्द दौड़ कर 'किताब' के साथ जनाने डिब्बे में जा बैठा! वहीं रम गया! 'पुस्तक अच्छी है' और 'ग्रन्थ अच्छा है'। 'पुस्तक' को जनाने डिब्बे से खींच कर मर्दाने में लाओ, तो अच्छा नहीं लगता! 'पुस्तक अच्छा है' कुछ जँचता नहीं। 'पुस्तक' शब्द 'पोथी' या 'किताब' के साथ स्त्रीवर्ग में चल पड़ा है। संस्कृत में 'पुस्तक' शब्द का चलन बहुत प्राचीन नहीं है। बहुत संभव है, ईरान में बोली जानेवाली आर्य-भाषा के किसी रूप में यह शब्द चलता हो और वहीं से कुछ रूपान्तरित हो कर भारतीय संस्कृत में आ गया हो और इसी लिए 'किताब' के मिलने पर हिन्दी में उस ओर फिर झुक गया हो।

हिन्दी के गठन में विसर्गों को स्थान नहीं है। जब कि 'वृक्षः' के विसर्ग हटा कर और 'फलम्' के 'म्' को हटा कर यहाँ 'वृक्ष' तथा 'फल' के रूप में ग्रहण हुआ, तब नपुंसक लिङ्ग—'तेजः' 'ओजः' आदि के भी विसर्ग हटा कर 'तेज' 'ओज' आदि शब्द-रूप स्वीकृत हुए और इन्हें भी पुंवर्ग में रखा गया। जैसे—वृक्ष और फल, उसी तरह 'तेज' और 'ओज'-पुंवर्ग में। सब एक-रूप हैं। 'अच्छा तेज है, अच्छा ओज है'। 'शिरः' के 'श्' को 'स्' कर दिया गया—'सिर'। 'बड़ा सिर है'। 'मुख' आदि (संस्कृत के नपुंसक-लिङ्ग शब्दों) के तद्भव रूप 'मुहँ' आदि भी पुंवर्ग में हैं। 'गृह' की तरह 'घर' भी पुंवर्ग में।

अध्ययनम्, पठनम्, पाठनम्, आदि के 'म्' को हटा कर अध्ययन, पठन, पाठन आदि सब यहाँ पुंवर्ग में हैं।

नकारान्त नपुंसक 'कर्मन्', 'चर्मन्', 'सद्मन्' आदि के रूप संस्कृत में 'प्रथमा' के एक वचन में—'कर्म, चर्म, सद्म' जैसे होते हैं, जिन्हें तद्रूप हिन्दी ने ग्रहण कर लिया है—पुंवर्ग में सम्मिलित कर के। जैसे 'वृक्ष' और 'फल' के आकार वैसे ही कर्म, चर्म, सद्म के भी हैं; सब पुंवर्ग में दाखिल।

संस्कृत की तद्धित भाववाचक नपुंसक-लिङ्ग संज्ञाएँ—'महत्त्वम्' 'पाण्डित्यम्' आदि से नपुंसकत्व ('म्') हटा कर हिन्दी ने 'महत्त्व' 'पाण्डित्य' जैसे रूप

कर लिए। ये सब भी पुंवर्गीय हैं। जैसा रूप 'वृक्ष' तथा 'फल' का है, वैसा ही 'महत्त्व' और 'पाण्डित्य' का भी—अकारान्त। सो, संस्कृत के (तद्रूप) अकारान्त प्रायः सभी शब्द यहाँ पुंवर्गीय हैं।

संस्कृत के 'अस्-अन्त' तथा 'अन्-अन्त' पुंवर्गीय शब्द हिन्दी में भी पुंवर्ग में ही चलते हैं। असन्त 'चन्द्रमस्' 'वेधस्' आदि के रूप संस्कृत में 'प्रथमा'-एकवचन में 'चन्द्रमाः' 'वेधाः' जैसे बनते हैं। इन के विसर्ग हटा कर 'चन्द्रमा' तथा 'वेधा' जैसे निर्विसर्ग रूप हिन्दी ने लिए, जो पुंवर्ग में ही चलते हैं। राजन्, परमात्मन् आदि शब्दों के रूप प्रथमा-एकवचन में 'राजा' 'परमात्मा' जैसे संस्कृत में बनते–चलते हैं। हिन्दी ने इन्हें इसी रूप में ग्रहण कर लिया और ये यहाँ भी पुंवर्ग में ही चलते हैं। केवल 'आत्मा' जैसा कोई शब्द अपवाद में मिल जाए गा ? न जाने क्यों, 'आत्मा' हिन्दी में स्त्री-रूप में चलता है—'हमारी आत्मा ने स्वीकार न किया' ! 'मेरा आत्मा' अच्छा नहीं लगता; यद्यपि 'परमात्मा' 'पुंवर्ग में ही है ! इसी तरह 'देह' हिन्दी में स्त्रीवर्ग में चलता है; यद्यपि 'शरीर' आदि पुंवर्ग में। परन्तु 'पुस्तक' 'देह' तथा 'आत्मा' जैसे अपवाद अँगुलियों पर ही गिने जा सकते हैं। व्यापकता पुंवर्ग की ही है। यह ध्यान देने की बात है कि जनता में 'देह' शब्द ही अधिक प्रचलित है, 'शरीर' आदि बहुत कम। 'आत्मा' और 'परमात्मा' ये दोनों ही शब्द जन प्रचलित हैं, परन्तु एक स्त्री-वर्ग में, दूसरा पुंवर्ग में ! क्या कारण है ? कुछ हो गा ! शब्दों की अपनी गति होती है। सम्भव है, अधीनता और स्वतंत्रता के कारण स्त्री-पुरुष का वर्ग-भेद जनता ने कर दिया हो। परमात्मा के अधान आत्मा और आत्मा के अधीन देह। सो 'परमात्मा' पुंवर्ग में रहा और उसके अधीन 'आत्मा' स्त्रीवर्ग में ! 'देह' भी स्त्रीवर्ग में इसी लिए कि 'आत्मा' से संचालित है। 'शरण' भी स्त्रीरूप में चलता है।

केश, बाल आदि हिन्दी में पुंवर्गीय हैं; परन्तु 'मूँछ' स्त्रीवर्ग में है; यद्यपि पुरुष-चिह्न है। पता नहीं, यह क्यों ! ऐसा जान पड़ता है कि 'शक्ति' स्त्रीवर्गीय शब्द है, जिस के साथ 'ताकत' भी है। 'शक्ति' शब्द स्त्रीवर्ग में होने के कारण ही कदाचित् शक्ति-पुञ्ज या शक्ति-व्यंजक अन्य शब्द भी स्त्रीवर्ग में चल पड़े हों ! तलवार, तोप, बन्दूक, सरकार, फौज, पुलिस, संसद, अदालत आदि शक्ति-पुञ्ज स्त्रीवर्ग में ही हैं ! सम्भव है, इसी लिए मर्दानगी का चिह्न 'मूँछ' भी स्त्री-वर्ग में चला गया हो !

सो, ये अपवाद बहुत कम हैं।

अवर्णान्त स्त्रीवर्गीय शब्द

संस्कृत आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के तद्भव रूप हिन्दी में प्रायः अकारान्त हो जाते हैं—

खट्वा > खाट, द्राक्षा > दाख, शिक्षा > सीख, भिक्षा > भीख, जिह्वा > जीभ, लाक्षा > लाख; आदि।

संस्कृत (तद्रूप) आकारान्त स्त्रीवर्गीय शब्द खट्वा, द्राक्षा, शिक्षा, भिक्षा, लता आदि हिन्दी में भी स्त्रीवर्गीय ही हैं और इन के तद्भव रूप खाट, दाख, साख, भीख आदि भी स्त्रीवर्गीय हैं। 'लता' जैसे शब्द तद्रूप ही चलते हैं। 'शाला' आदि शब्द और तदन्त सामासिक पद भी स्त्रीत्व में ही चलते हैं—'अश्वशाला देखी' 'पाठशाला देखी।' 'शाला' के साथ संस्कृत तद्रूप शब्दों का ही समास होता है। जब तद्भव शब्दों का समास करना होता है, तब 'शाला' का 'साल' तद्भव रूप गृहीत होता है—'घुड़साल' 'चटसाल' 'टकसाल' आदि। ये 'घुड़साल' आदि भी स्त्री-पद्धति पर चलते हैं। 'जम्बू' स्त्रीलिङ्ग शब्द है, जिस का तद्भव 'जामुन' है। 'जामुन' ने भी स्त्रीत्व नहीं छोड़ा—'जामुनें काली अच्छी होती हैं।' 'आम्र' का विकास 'आम' है, जो पुंमार्ग पर चलता है। इसी तरह कटहल, अमरूद, तरबूज आदि पुंवर्गीय हैं। सन्तरा, खरबूजा आदि में तो हिन्दी की पुंविभक्ति की छाया स्पष्ट ही है।

काट, छाँट, डाट, डाँट, भीड़, रेल-पेल आदि शब्द स्त्रीमार्ग पर ('खाट' आदि की तरह)चलते हैं। 'तार' पुंमार्ग पर चलता है; 'रेल' स्त्रीमार्ग पर। 'रेल' को हिन्दी ने 'गाड़ी' का विशेषण माना है। जैसे 'बैल-गाड़ी' 'घोड़ा-गाड़ी' 'ट्राम गाड़ी' आदि; उसी तरह 'रेल' (लोहे की पटरी) पर चलने वाली गाड़ी 'रेल गाड़ी'। फिर विशेष्य के बिना केवल 'रेल' का प्रयोग होने लगा—'रेल जा रही है'। 'रेल-पेल' के 'रेल' शब्द का भी असर पड़ा होगा। इसी लिए 'रेल' स्त्रीलिङ्ग बन गया और उस का 'टिकट' भी। 'रेला' पुंववर्गीय शब्द अलग है— 'रेला' जोर का प्रवाह। 'मेला' भी ऐसा ही है। 'मेल' भी पुंवर्गीय है। अर्थ-भेद से रूप-भेद। 'तार' पुंवर्गीय है, पर 'आ' विभक्ति नहीं है; क्योंकि पृथक् एक 'तारा' शब्दको हिन्दी ने

पुंवर्ग में ले लिया है। तारे-नक्षत्र । 'पर्चा' 'पुर्जा' 'रुक्का' आदि शब्द पुल्लिङ्ग हैं; हिन्दी की पुंविभक्ति का प्रभाव । परन्तु 'चिट' स्त्रीलिङ्ग है । इसी तरह 'टिकट' भी । यह ध्यान देने की बात है कि पेशावर से ले कर सीधे आसनसोल तक हजारों मील की यात्रा करने पर भी आप को 'रेल' तथा 'टिकट' स्त्रीलिङ्ग में ही चलते मिलेंगे । पंजाबी कहते हैं—'टिकट खरीद लीती' । हम कहते हैं—'टिकट खरीद ली' । पूरब में 'टिकट' को 'टिकटिया' और 'रेल' को 'रेलिया' कहते हैं । वहाँ 'इया' प्रत्यय स्वार्थिक स्त्रीलिङ्ग में चलता है ।

एक बार राजर्षि टंडन ने यह उद्योग किया था कि हिन्दी में सरलता लाने के लिए प्रायः सभी अकारान्त शब्द पुलिङ्ग मान लिए जाएँ । उन्हों ने कहा—'हमने राजेन्द्र बाबू के मुहँ से सुना है—'रेल वह गया' । जब 'सम्मेलन' के भूतपूर्व सभापति 'रेल वह गया' बोलते हैं, तो उसे भाषा की स्वाभाविक गति मान लेना चाहिए । ' परन्तु हिन्दी ने राजर्षि का वह प्रस्ताव अभी तक स्वीकार नहीं किया है । जन-प्रवाह कारण है । 'रेल वह गया' मुहँ से निकल गया ! ऐसा होता ही रहता है । परन्तु बिहारी लोग अपनी भाषा में 'रेल' का 'रेलिया' स्त्रीलिङ्ग प्रयोग करते ही रहेंगे—पुल्लिङ्ग 'रेलवा' न करेंगे ! वे 'आम' को पुल्लिङ्ग 'अमवा' बोलते हैं; पर 'जामुन' को 'जमुनियाँ' कहते हैं । 'जामुन' को 'जमुनवा' वे कभी भी न बोलेंगे ! राजस्थानी लोग 'आम' को पुल्लिङ्ग में 'आम म्हारो खायोड़ो छै' बोलते हैं और 'जामुन' को स्त्रीलिङ्ग—'खायोड़ी' । इसी तरह पंजाबी भी व्यवहार करते हैं । तो, छह-छह, बड़े-बड़े प्रदेशों में प्रचलित शब्द-व्यवहार के विरुद्ध कोई राष्ट्रभाषा का नियम कैसे बना दिया जाए ? उसे माने गा कौन ? हाँ, यदि कोई सज्जन 'आम' 'जामुन' के लिङ्ग-भेद से परिचित न हों, तो मजे से संस्कृत 'आम्र' तथा 'जम्बू' का प्रयोग कर सकते हैं । काम चल जाए गा । या फिर वे 'जामुन' का भी पुल्लिङ्ग प्रयोग करें, हम सब समझ लेंगे । यदि चलन वैसा ही अधिक हो गया, तो नियम बनाए बिना ही काम बन जाए गा । अन्यथा, नियम बना-बनाया पड़ा रहे गा, भाषा अपनी चाल पर जाए गी । 'कमल' शब्द को कुछ लोगों ने संस्कृत में पुल्लिङ्ग भी चलाना चाहा और वैसा कोश-ग्रन्थों में लिख भी दिया । परन्तु संस्कृत के प्रवाह ने वह स्वीकार न किया और उस ('कमल') का नपुंसक लिङ्ग में ही प्रयोग चालू रहा । यदि कोई 'कमलः विकसति प्रातः काले' लिख दे, तो गलत समझा जाए गा । जब

संस्कृत-प्रवाह की यह स्थिति है, तो हिन्दी के 'जामुन' तथा 'रेल' आदि का पुंस्त्व-विधान नियमतः कौन करे ? कौन उसे मानेगा ? बीस-बीस करोड़ जनता के प्रवाह को नियम बना कर कैसे कोई मोड़े ? यदि नियम बना भी दिया जाए और सरकारी आज्ञा से हम सब उसे मान भी लें, या राजर्षि की इच्छा समझ कर वैसा मान लें, तो फिर इतनी विस्तृत जन-भाषा से राष्ट्रभाषा की पद्धति अलग पड़ जाए गी। अंशतः एक कृत्रिम भाषा बनाने का उपक्रम हो गा। फिर द्राक्षा, खट्वा आदि के तद्भव रूप 'दाख'–'खाट' आदि भी उसी तरह चलें गे क्या ? बड़ी गड़बड़ी मचे गी ! हिन्दी ने अपनी पुंविभक्ति 'आ' (ा) स्थिर की और 'लड़का' 'डंडा' 'हंडा' 'कंघा' आदि का पुंमार्ग स्पष्ट किया। ऐसे शब्दों को स्त्रीलिङ्ग में लाने के लिए अन्त्य 'आ' को 'ई' कर देते हैं—'लड़की' 'डंडी' 'हंडी' 'कंघी'। संस्कृत-पद्धति का अनुकरण है। 'आ' हिन्दी ने पुंविभक्ति बना ली और उसे 'अपने' या तद्भव शब्दों में लगाती है, तब स्त्रीलिंङ्ग आकारान्त तद्भव शब्दों के लिए भिन्न व्यवस्था करनी पड़ी। 'द्राक्षा' 'खट्वा' आदि के अन्त्य दीर्घ स्वर को ह्रस्व कर दिया गया—'दाख, खाट'। संस्कृत में 'आ' प्रायः स्त्रीलिङ्ग का चिह्न है—'लता द्राक्षा आदि। हिन्दी ने 'आ' को पुल्लिङ्ग-विभक्ति बना लिया—'डंडा' 'लट्ठा' 'मट्ठा' खट्टा आदि। तब यहाँ आकारान्त (संस्कृत) तद्भव शब्दों को ह्रस्व करना पड़ा। 'दाख' 'खाट' आदि तद्भव स्त्रीलिङ्ग शब्द हिन्दी में हैं। यदि सभी अकारान्त हिन्दी शब्द पुल्लिङ्ग मान लिए जाएँ, तो फिर चिरप्रचलित (हिन्दी की) वह निसर्ग-वैज्ञानिक पद्धति बिगड़ जाए गी ! क्या यह ठीक होगा ?

हिन्दी में रेल, भीड़, जामुन, दाख आदि अकारान्त सहस्रशः शब्द हैं; परन्तु संस्कृत में ऐसा नहीं है। वहाँ आकारान्त 'लता' 'द्राक्षा' आदि स्त्रीलिङ्ग हैं। हिन्दी में भी उन सब का स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयोग होता है। कहीं कुछ हेर-फेर भी है। उदाहरण के लिए 'तारा' शब्द ले सकते हैं। संस्कृत में यह स्त्रीलिङ्ग शब्द है। हिन्दी में 'नक्षत्र' के पर्याय-रूप से इस का पुल्लिङ्ग प्रयोग होता है—'तारे निकल आए' और व्रजभाषा में—'एते तुम तारे जेते नभ में न तारे हैं।' 'जेते तारे'—'जितने तारे' पुल्लिङ्ग। परन्तु जब किसी लड़की का नाम 'तारा' रख देते हैं, तो स्त्रीलिङ्ग प्रयोग होता है—'तारा घर चली गई।' 'नक्षत्र' के लिए 'तारा' पुल्लिङ्ग है।

हिन्दी पु० 'तारा' (संस्कृत स्त्री० 'तारा' से) एक पृथक् शब्द है। 'तारक' से 'क' अलग करके 'तार' में अपनी पुंविभक्ति—'तारा'।

'दारा' हिन्दी का स्त्रीलिङ्ग शब्द है। संस्कृत पुल्लिङ्ग 'दार' में संस्कृत का ही स्त्री-प्रत्यय 'आ' लगाकर 'दारा'।

सारांश यह कि शब्दों का चलन-मार्ग स्वतः बनता है, बनाया नहीं जाता। 'संस्कृत' तथा 'प्राकृत' शब्द भाषा-विशेषों के लिए संस्कृत में नपुंसक-लिङ्ग चलते हैं—स्त्रीलिङ्ग नहीं। 'संस्कृतेऽनूद्यताम्' प्रश्नपत्रों में लिखा रहता है—'संस्कृतायाम्' नहीं। इसी तरह 'प्राकृतं षड्विधं स्मृतम्'। परन्तु हिन्दी में ये दोनों शब्द स्त्रीलिङ्ग में चलते हैं—'मैंने संस्कृत भी पढ़ी है, प्राकृत भी पढ़ी है।' यह मार्ग-भेद। 'संस्कृत' 'प्राकृत' शब्द हिन्दी ने 'रेल-दाख' आदि की तरह अकारान्त स्त्रीलिङ्ग मान लिए; यद्यपि (संस्कृत के) 'ज्ञान' 'वन' 'जल' 'दुग्ध' आदि नपुंसक लिङ्ग शब्दों को पुलिङ्ग माना गया है। क्या कारण? कारण है। 'संस्कृत' या 'प्राकृत' शब्द विशेषण हैं, विशेष्यनिघ्न हैं। 'संस्कृता भाषा' 'संस्कृतं गृहम्'। इसी तरह 'प्राकृत' भी। 'संस्कृता भाषा' समस्त हो कर 'संस्कृत-भाषा'। 'संस्कृतभाषा' संस्कृत में। और हिन्दी में साधारणतः भी 'संस्कृत भाषा बड़ी मधुर है'। 'संस्कृत' तथा 'मधुर' विशेषण हैं, 'भाषा' के। अर्वाचीन काल में संस्कृत भाषा में ऐसे हिन्दी-प्रयोग देखे गए और फिर 'भाषा' के बिना भी 'संस्कृत में सन्धि-नियम जटिल है' ऐसे केवल 'संस्कृत' के प्रयोग (संस्कृत भाषा के लिए) होने लगे। इसी 'संस्कृत' को देख कर लोग नपुंसक-लिङ्ग 'संस्कृतम्' 'संस्कृते' आदि प्रयोग करने लगे। यही स्थिति 'प्राकृत' की है। परन्तु हिन्दी में इन के स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयोग होते हैं। 'रेल गाड़ी आती है' और 'रेल आती है'। इसी तरह 'संस्कृत भाषा मैंने पढ़ी है' और 'संस्कृत मैंने पढ़ी है'। 'ऐसे प्राकृतों में' नहीं, 'ऐसी प्राकृतों में।' यों हिन्दी की पद्धति अधिक नियमबद्ध है। 'संस्कृत पढ़ा है' यहाँ न होगा। हिन्दी में 'नीलमणि' स्त्रीलिङ्ग है और 'नीलम' पुल्लिङ्ग है।

'नीलम' 'नीलमणि' से ही बना है। कभी-कभी विशेषण का ही प्रयोग विशिष्ट अर्थ में कर देते हैं। लखनऊ के खरबूजों के लिए 'लखनऊ'। खरबूजों की दूकान पर—'लखनऊ का क्या भाव है?' बोलते हैं। संस्कृत में ऐसी जगह नपुंसक चल पड़ता है। संस्कृतभाषा—'संस्कृतम्'। इसी तरह नीलमणि' का 'नीलम्' और सस्वर कर के 'नीलम'। नीलम, एक रत्न।

यह तो स्पष्ट ही हो चुका कि हिन्दी के पुंप्रत्ययान्त 'लड़का' आदि शब्द स्त्रीलिङ्ग में ईकारान्त हो जाते हैं। संस्कृत के नदी, सरस्वती, त्रिवेणी आदि

स्त्रीलिङ्ग ईकारान्त सभी शब्द यहाँ भी स्त्रीलिङ्ग में ही चलते हैं। हिन्दी के 'रबड़ी' 'मिठाई' 'खटाई' 'खिड़की' आदि ईकारान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं ही। विदेशी 'शाहजादा' आदि भी हिन्दी-पद्धति पर 'शाहजादा-शाहजादे' और 'शाहजादी'। 'शाहजादा' का 'जादा' एक तरह से तद्भव शब्द है—'जात' (पुत्र) का विकास। पुंविभक्ति लगी है। 'वालदा' ('मां') आकारान्त स्त्रीलिङ्ग है ही।

यह ध्यान रखने की बात है कि हिन्दी में शब्द विकास को ध्यान में रख कर ही पुंस्त्व या स्त्रीत्व का चलन प्रायः हुआ है। 'गात्र' संस्कृत में नपुंसक लिङ्ग है, हिन्दी में स्वभावतः पुल्लिङ्ग। इस 'गात्र' का तद्भव रूप 'गात' भी हिन्दी में पुल्लिङ्ग है, ठीक है। 'हस्त' और 'हाथ' भी पुल्लिङ्ग; परन्तु 'बात' तथा 'रात' स्त्रीलिङ्ग हैं; क्योंकि 'वार्ता' तथा 'रात्रि' स्त्रीलिङ्ग संस्कृत शब्दों के ये रूपान्तर हैं। 'दहेज' और 'परहेज' पुल्लिङ्ग हैं; परन्तु 'सेज' और 'लेज' स्त्रीलिङ्ग हैं; क्योंकि संस्कृत स्त्रीलिङ्ग 'शय्या' तथा 'रज्जू' के ये तद्भव रूप हैं 'काकर' पुल्लिङ्ग है; परन्तु 'शृंखला' का बना 'सांकर' स्त्रीलिङ्ग है। संस्कृत 'अर्क' से बना 'आक' पुल्लिङ्ग है; परन्तु 'नासिका' का तद्भव 'नाक' स्त्रीलिङ्ग है। 'कर्ण' का तद्भव 'कान' पुल्लिङ्ग है; परन्तु 'तान' स्त्रीलिङ्ग है। आन, जान, शान आदि भी।

कहीं-कहीं कोई, अपवाद भी है। 'नेत्र' 'नयन' आदि संस्कृत के नपुंसक लिङ्ग शब्द यहाँ पुल्लिङ्ग हैं (और 'गात्र' आदि के तद्भव 'गात' आदि भी); परन्तु 'अक्षि' का तद्भव 'आँख' यहाँ स्त्रीलिङ्ग है ! आँखें दुखती हैं' 'अँखियाँ हरिदरसन की प्यासी।' संस्कृत में 'जाति' स्त्रीलिङ्ग है; पर 'ज्ञाति' पुल्लिङ्ग है—'इमे मे ज्ञातयः'। अर्थ-भेद है। 'ज्ञातयो बान्धवाः'। हिन्दी में 'ज्ञाति' नहीं चलता, इस के तद्भव रूप 'नैहर' आदि समास में देखे जाते हैं। संस्कृत के 'उदधि' 'जलधि' आदि पुल्लिङ्ग शब्द हिन्दी में भी पुल्लिङ्ग ही हैं—'समुद्र' की तरह। परन्तु 'निधि' स्त्रीलिङ्ग है, 'सम्पत्ति' आदि की तरह। संस्कृत के 'अञ्जलि' आदि पुल्लिङ्ग शब्द हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग ही चलते हैं। परन्तु 'दधि' तथा 'दही' पुल्लिङ्ग चलते हैं—जैसा दूध, वैसा दही। 'नाक' के पास 'आँख' है, इसी लिए एक मार्ग चल पड़ा ! 'नाक' की ही तरह 'ताक' 'धाक' 'हाँक' आदि भी स्त्रीलिङ्ग। परन्तु संस्कृत के 'शाक' 'काक' आदि पुल्लिङ्ग हैं' इन के तद्भव 'साग' 'काग' आदि भी पुल्लिङ्ग। 'नाग' भी पुल्लिङ्ग है; परन्तु यह 'नाक' का रूपान्तर नहीं। 'नासिका' का 'नाक' बन

गया; फिर आगे कोई रूपान्तर नहीं। हिन्दी ने 'नासिका' से 'नाक' बनाया; 'नासा' से 'नास' नहीं; क्योंकि 'नाश' का तद्भव जन-बोली में 'नास' होता है।

यहाँ यह दिङ्-निर्देश भर है; परन्तु बहुत स्पष्ट। प्रतिपद विस्तार नवाभ्यासियों के लिए बननेवाली पुस्तकों में सविवरण मिले गा।

इस तरह आप देख सकते हैं कि हिन्दी में शब्दों को दो वर्गों में बाँट कर नपुंसक लिङ्ग का बखेड़ा हटा दिया गया। प्राकृत-भाषाओं में संस्कृत की ही तरह तीसरा मार्ग भी है; क्योंकि वहाँ शब्द-रचना वैसी ही है; विभक्तियाँ संस्कृत की ही कुछ हेर-फेर के साथ हैं—'फलम् फलानि' का 'ललं फलाइं' कर दिया जाता है; यानी 'न्' को अनुस्वार; बस! पुल्लिङ्ग में 'पुत्तो' जैसे रूप होते हैं। हिन्दी ने स्वतंत्र मार्ग ग्रहण किया। 'पूत' में कोई वैसी विभक्ति नहीं—'पूत आता है'। 'लड़का' 'छोरा' आदि पृथक् चीजें हैं। 'फल रखा है' 'फल रखे हैं'। प्राकृत में 'दहि' 'दहीइं' रूप होते हैं; परन्तु हिन्दी में 'दही'। संस्कृत की 'छाया-विभक्ति' नहीं; इस लिए नपुंसकता भी छूट जाती है। प्राकृतों में संस्कृत का 'द्विवचन' जरूर छूट गया है, जो हिन्दी में भी नहीं है। नपुंसक-लिङ्ग का बखेड़ा हट जाने से बड़ी सरलता हो गई और संस्कृत तद्रूप (तत्सम) तथा तद्भव शब्दों को प्रायः संस्कृत के अनुसार ही पु०-स्त्री० में रखा गया है। तद्भव शब्दों में विशेष व्यवस्था है। नपुंसक-लिङ्ग शब्दों को प्रायः पुल्लिङ्ग में ही रखा गया है। इकारान्त–उकारान्त शब्द हिन्दी के रूप-गठन में (अपने) प्रायः हैं ही नहीं। 'भाँति' जैसा कोई शब्द कहीं मिल जाए गा; जिस में लिङ्ग-भेद की बात ही नहीं। संस्कृत के शब्दों को जहाँ रूपान्तरित किया गया है, वहाँ भी ('इ'–'उ' को) हटा कर प्रायः अकारान्त कर दिया गया है—'रात्रि-रात' और 'बाहु बाहँ'। संस्कृत के इकारान्त (तद्रूप) शब्द कवि-मुनि आदि पुंवर्गीय हैं ही। अप्राणिवाचक 'जलधि' आदि कुछ पुंवर्ग में हैं और 'निधि' आदि कुछ स्त्रीवर्ग में। संस्कृत के नपुंसक-लिङ्ग इकारान्त शब्द 'दधि' आदि पुंवर्ग में गए हैं। तद्भव 'दही' आदि ईकारान्त भी। ईकारान्त शब्द हिन्दी में प्रायः स्त्रीलिङ्ग हैं—संस्कृत के (तद्रूप) भी, तद्भव भी और हिन्दी के अपने भी। संन्यासी, विद्यार्थी, दण्डी आदि (संस्कृत के 'इन्'–प्रत्ययान्त) तो पुंवर्ग में स्पष्ट ही हैं।

ऋकारान्त शब्द हिन्दी में चलते ही नहीं ! 'अपने' हैं नहीं और संस्कृत के 'प्रथमा-एकवचन' में गृहीत होने के कारण 'पिता' 'माता' जैसे आकारान्त रूप में आते हैं। इन के वर्गीकरण में कोई झंझट ही नहीं है। 'दुहिता' स्त्रीवर्ग और 'विधाता' पुंवर्ग। एकारान्त आदि शब्द भी हिन्दी में बहुत कम हैं और उन के लिङ्ग-निर्णय में भी कोई कठिनाई नहीं। संस्कृत का 'गौ' हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग है ही। संस्कृत का यह ओकारान्त 'गो' शब्द है, जिस का रूप 'प्रथमा' के एकवचन में 'गौः' होता है। विसर्ग अलग कर के हिन्दी ने 'गौ' मात्र ले लिया है। संस्कृत में 'गो' शब्द पुल्लिङ्ग भी है; हिन्दी में केवल स्त्रीलिङ्ग। संस्कृत में बैल को भी 'गौः' कहते हैं, पर कम।

एकतर वर्गग्रहण करने में शब्दों पर साहचर्य आदि का प्रभाव पड़ा है। 'सूर' पुल्लिङ्ग है; पर 'धूर' स्त्रीलिङ्ग। क्या कारण ? 'धूरछाहँ' का युग्म-प्रयोग प्रायः हुआ करता है। 'छाहँ' स्त्रीलिङ्ग है, 'छाया' का तद्भव रूप। 'छाहँ' के साथ रहते-रहते 'धूप' भी स्त्रीलिङ्ग बन गया ! 'सूर' शब्द संस्कृत के 'शूर' का रूपान्तर है। इस शब्द का विकास 'खड़ी बोली' के क्षेत्र में नहीं हुआ, किसी दूसरे अञ्चल में हुआ है; प्रायः उत्तर प्रदेश के पूर्वी अंचल में। इसी लिए पुंविभक्ति नहीं लगी। 'खड़ी बोली' ने भी 'सूर' ले लिया, जैसे 'वंश' का 'बाँस'। 'बाँस' भी पुल्लिङ्ग है, 'वंश' की ही तरह। परन्तु 'घास' स्त्रीलिङ्ग है ! यह क्यों ? ऐसा जान पड़ता है कि इस पर 'आस' (आशा), 'प्यास' (पिपासा) आदि की छाया पड़ी है और 'दूब (दूर्वा) का भी प्रभाव पड़ा है। 'तास' या 'ताश' पुल्लिङ्ग हैं, 'पत्ते' के प्रभाव से—'तास-पत्ते' या 'ताश-पत्ते' चलते हैं। संस्कृत का 'पक्ष' हिन्दी में पुल्लिङ्ग है ही; इसके विभिन्न तद्भव रूप 'पंख' 'पाँख' 'पाख' आदि भी पुल्लिङ्ग ही हैं; परन्तु 'भूख' स्त्रीलिङ्ग है। इस लिए कि यह संस्कृत स्त्रीलिङ्ग 'बुभुक्षा' का रूपान्तर है। भूख, दाख, लाख (<लाक्षा), परख (<परीक्षा), साख (<शाखा तथा साक्ष्य) आदि के प्रभाव से 'चाख' तथा 'देख-रेख' आदि भी स्त्रीलिङ्ग। फिर 'देख-रेख' के प्रभाव से 'देख-भाल' आदि और आगे एक लाइन—काट-छाँट, साल-सँभाल, चमक-दमक आदि !

'वंश' का 'बाँस' पुल्लिङ्ग; परन्तु 'श्वास' की 'साँस' स्त्रीलिङ्ग। 'हवा' का प्रभाव पड़ा होगा ! अकारान्त नपुंसक लिङ्ग संस्कृत-शब्द तथा इनके रूपान्तर हिन्दी में प्रायः पुल्लिङ्ग रहते हैं; परन्तु 'अन्त्र' का 'आँत' स्त्रीलिङ्ग बन गया है ! 'पाँत' (पंक्ति) का प्रभाव जान पड़ता है। पुल्लिङ्ग कर्कश-

कठोर 'दन्त' के रूपान्तर ('दाँत') पर वैसा प्रभाव नहीं। 'बहू' स्त्रीलिङ्ग और 'साहू' पुल्लिङ्ग है; मूल शब्दों को देख कर। 'वधू' का 'बहू' है, और 'साधु' का 'साहू'। 'गोधूम' का 'गेहूँ' भी पुल्लिंग। 'छाहँ' का प्रभाव 'बाहँ' पर पड़ा है।

शब्दों का साहचर्य, विकास-क्रम, अर्थ तथा रूप-गठन, आदि का प्रभाव वर्ग-ग्रहण पर पड़ा है; यह स्पष्ट है।

स्वरूप-गठन में 'डंडा' आदि पुल्लिङ्ग हैं ही। विदेशी शब्द भी इस प्रकार के पुल्लिङ्ग मान लिए गए हैं—'तर्जुमा अच्छा हुआ है'। 'जूता' के अर्थ में 'बूट' पुल्लिङ्ग। 'चप्पल' प्रायः स्त्रियाँ पहना करती थीं। 'चप्पल' स्त्रीलिङ्ग। 'न्यायालय' की तरह 'कोर्ट' पुल्लिङ्ग—'कोर्ट दस बजे लगता है'। परन्तु 'कचहरी' स्त्रीलिङ्ग, 'अदालत' भी इसी के साथ।

पुंप्रत्यय और स्त्री प्रत्यय

हिन्दी का पुंप्रत्यय 'आ' है और स्त्री प्रत्यय 'ई' है—नाना-नानी, दादा दादी, चाचा-चाची, छोटा-छोटी, बड़ा-बड़ी, गया-गई। सोना, ताँबा, राँगा आदि पुल्लिङ्ग; चाँदी, मिट्टी, थाली, धोती कमेटी, कचहरी आदि स्त्रीलिङ्ग।

'मट्ठा' का 'मट्ठी' न होगा; क्योंकि उस द्रव-पदार्थ में 'दादा-दादी' या 'बछड़ा-बछड़ी' आदि की तरह भाव नहीं। हाँ, अनभीष्ट बृहत्कायता आदि प्रकट करने के लिए 'पोथी' का 'पोथा' कर दिया जाता है। अनभीष्टता के अभाव में वैसा नहीं होता। परन्तु प्राणियों के छोटे-बड़े भेद प्रकट करने के लिए 'मकड़ी-मकड़ा' जैसे रूप होते हैं। 'गाड़ी' का 'गाड़ा' अनभीष्टता आदि प्रदर्शित करने के लिए। कभी-कभी अभीष्ट अर्थ-विशेष प्रकट करने के लिए भी स्त्री० से पु० बनता है—संस्कृत वटी > 'बड़ी'। 'बड़ी' का पुंरूप 'बड़ा' एक पृथक् संज्ञा। संस्कृत में तो 'पुंश्चली' का भी पुंरूप 'पुंश्चलः' कर लिया गया है।

किसी का 'भाव' या 'काम' प्रकट करने के लिए भी एक 'ई' स्त्री-प्रत्यय होता है—'दूकानदार का काम दूकानदारी'। 'दूकानदारी भी अच्छी, यदि ईमानदारी हो'। 'ईमानदार' का भाव 'ईमानदारी'। 'आई' भी स्त्री-प्रत्यय ऐसा ही है—'चतुराई सब जगह अच्छी नहीं'। इस तरह की बातें तद्धित-

प्रकरण में आएँगी। कृदन्त-प्रकरण में भी कितने ही स्त्रीत्व में प्रत्यय आएँ गे। 'लिखाई' 'पिटाई' आदि कृदन्त-संज्ञाएँ स्त्रीलिङ्ग हैं।

पुंविभक्ति-युक्त 'घंटा' आदि से लघुता प्रकट करने के लिए 'ई' प्रत्यय होता है—'घंटी'। 'डिब्बा-डिब्बी' आदि। 'इया' भी होता है—'डिब्बा-डिबिया'। ये सब तद्धित-प्रकरण में स्पष्ट होंगे। 'भैंस' से पुल्लिङ्ग 'भैंसा' बना और 'बकरा' पुं० से 'बकरी' स्त्रीलिङ्ग। 'बकरी' से 'बकरा' नहीं है। उस प्राणी को 'बकरा' इस लिए कहते हैं कि वह 'ब ब ब' किया ही करता है! 'भें भें' करने से 'भेड़'। इसका पुल्लिङ्ग 'भेड़ा' और लिपि-भ्रम से 'मेढ़ा'। 'बनिया' में पुंविभक्ति नहीं है; इस लिए 'ई' न होगा स्त्रीत्व में। बनज करे सो 'बनिआ'। इसी तरह 'जड़िया' 'धुनिया' आदि। यह 'इया' प्रत्यय तत्कर्म-कारिता में है।

जिन शब्दों में पुंविभक्ति नहीं, उन से 'ई' नहीं, अन्यान्य स्त्री-प्रत्यय होते हैं-सुनार-सुनारिन, बनिया-बनैनी आदि। परन्तु तीन स्वर वाले शब्दों में 'ई' प्रत्यय होता है, पुंविभक्ति न होने पर भी, यदि वे मनुष्येतर प्राणियों के वाचक हों:—हिरन-हिरनी, मेढक-मेढकी आदि। 'बन्दर' से 'बन्दरी' पंजाबी में बनता है, हिन्दी में 'बँदरिया' बनता है। 'बकरा' से 'बकरी' और बकरिया' दोनो। 'बुड्ढा' से 'बुड्ढी' ई-प्रत्ययान्त; परन्तु पूरब के ('बूढ़ मनई', वाले 'बूढ़' से 'इया' प्रत्यय होता है—'बुढ़िया'। 'बढ़िया' अलग चीज है—कृदन्त विशेषण—बढ़िया कोट, बढ़िया धोती।' संस्कृत के 'इन्द्राणी' आदि की तरह 'पंडित' से 'पंडितानी' आदि। 'आनी'-प्रत्यान्त शब्दों की प्रचुरता है। 'आइन' भी 'पंडिताइन' 'बबुआइन'। 'इन' भी 'सोनारिन'।

कृदन्त (कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य) पुल्लिङ्ग क्रिया को स्त्रीलिङ्ग बनाने में 'ई' स्त्रीप्रत्यय अनिवार्य्यतः लगता है—

आया—आई (आयी) सोया—सोई (सोयी)

खाया—खाई (खायी)। धोया—धोई (धोयी) आदि।

क्रियाएँ भाषा की जान हैं। यहाँ 'अपना' सब कुछ रहेगा। अपना पुंप्रत्यय और अपना ही स्त्रीप्रत्यय-'न परस्य किञ्चित्'।

भाववाच्य क्रियाएँ सदा ही पुल्लिङ्ग एकवचन रहती हैं। वहाँ स्त्रीप्रत्यय की कोई चर्चा ही नहीं—राम को उठना है, सीता को उठना है, लड़कों को

उठना है, छात्राओं को उठना है। 'न' कृदन्त प्रत्यय में सर्वत्र सदा पुंविभक्ति ('आ') के दर्शन होंगे। इस सम्बन्ध की विशेष बातें क्रिया-प्रकरण में बताई ही जाएँगी। विशेषणों की भी विशेष चर्चा पृथक् की जाए गी। इस लिए यहाँ इतना ही संक्षेप से कहने-सुनने की बात है कि हिन्दी का पुंप्रत्यय 'आ' है और स्त्रीप्रत्यय 'ई' है। इकारान्त-उकारान्त शब्द हिन्दी के 'अपने' प्रायः हैं ही नहीं! संस्कृत की पुंविभक्ति (विसर्ग) हिन्दी ने रखी नहीं है। स्त्रीप्रत्ययान्त 'रमा' 'नदी' आदि सब यहाँ स्त्रीलिङ्ग में चलते ही हैं। 'लक्ष्मी' के विसर्ग हटा कर 'लक्ष्मी' गृहीत है।

कुछ प्रासंगिक चर्चा। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि पं० सुमित्रानन्दन पन्त 'चन्द्रमा' का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में करते हैं; इस लिए कि यह बहुत सुन्दर है! ऐसा करना शब्द-जगत् मे अन्धाधुन्धी है। तब तो कवि पन्त को भी हम स्त्रीरूप से प्रयोग कर सकते हैं 'श्रीसुमित्रानन्दन पन्त कमनीय कविता करती हैं'। सुन्दर आप किसी स्त्री से कम थोड़े ही हैं! कुसुम, पुष्प, प्रसून आदि तथा पल्लव, शतदल आदि शब्द भी सुन्दरता-कोमलता के कारण स्त्रीलिङ्ग में कोई ले सकता है! यह सब गड़बड़ है।

'पंडित' से 'पंडितानी' 'पुंयोग' में ही बनता है—पंडित की स्त्री पंडितानी। यदि स्त्री में भी पाण्डित्य हो, तो फिर 'पण्डिता' प्रयोग होगा—'पण्डिता रमा बाई'। संस्कृत में जैसे 'आचार्यानी' और 'आचार्या'। 'आचार्यानी' में 'न' को 'ण' बनना चाहिए था, संस्कृत-नियम के अनुसार; जैसे 'इन्द्राणी' में। परन्तु वार्तिककार कात्यायन ने रोक लगा दी—'आचार्यादणत्वं च'—'आचार्य की स्त्री' कहना हो, तो प्रत्यय के 'न' को 'ण' नहीं होता है! यह विधान कदाचित् उस बेचारी का अपाण्डित्य प्रकट करने के लिए! साधारण जन 'ण' को 'न' बोलते ही हैं—'कारन' 'मरन' आदि। आचार्य की अपठित स्त्री भी ऐसा ही बोलती होगी। दूसरी स्त्रियाँ भी 'आचार्यानी' कदाचित् बोलती हों। इसी लिए 'अणत्वम्' का विधान! 'ण' बोल कर पाण्डित्य प्रकट करने की चाल इस की प्रतिक्रिया में ऐसी कि प्राकृत को अप्राकृत बना दिया गया! शब्द के आदि में भी 'ण'! 'नमो' को भी 'णमो'। कर्णकटुता बेहद हो गई! संसार की कोई भी अन्य भाषा ऐसी नहीं, जिसके शब्दों के आदि में 'ण' मिले! परन्तु प्राकृतों में यही है! 'ण' से पण्डित बनने की धुन! पाली में यह कृत्रिमता नहीं है। यह प्रासंगिक चर्चा।

इस से निष्कर्ष निकला कि साहित्यिक भाषा में कुछ प्रयोगों में विशिष्ट विधि अपनाई जाती है। 'खड़ी-बोली' के क्षेत्र (मेरठ) में 'ण' बहुत प्रचलित है—'सुण' (सुन), 'जाण दे' (जाने दे) 'भैण' (बहन) आदि सहस्रशः प्रयोग आप सुन सकते हैं। परन्तु निकटतम पड़ोस (व्रज) में 'ण' का एकदम अभाव है। 'न' का ही साम्राज्य है। इसी लिए इस (व्रजभाषा) में मिठास है। दिल्ली 'खड़ी-बोली' तथा व्रजभाषा के क्षेत्रों की 'देहली' है। इधर मेरठ और उधर मथुरा। दिल्ली ने 'खड़ी बोली' को साहित्यिक रूप दिया, जिस पर व्रजभाषा का प्रभाव है। व्रजभाषा बहुत पुरानी साहित्यिक भाषा है; वरन व्रजभाषा को ही पहले मुसलमान (फारसी के विद्वान्) 'हिन्दवी' या 'हिन्दी' कहते थे। फारसी का माधुर्य प्रसिद्ध ही है। वहाँ टवर्ग का, सुनते हैं, अभाव है। पड़ोसिन (व्रजभाषा) का तथा उसके साहित्य का प्रभाव, पूरबी पड़ोसिन (अवधी) का भी प्रभाव, जहाँ 'ण' नहीं है। इधर फारसी के विद्वानों का सहयोग। सो, 'खड़ी-बोली' का 'ण' राष्ट्र-भाषा में 'न' बन कर आया। 'सुण' की जगह 'सुन'। पालि में भी 'ण' की भरमार नहीं है।

अन्य 'प्राकृतों' में इस के विरुद्ध साहित्यिक विधान बने। वहाँ 'ण' की बेहद भरमार है! कुरुजनपद में 'सुन' को 'सुण' तो बोलते हैं; परन्तु निषेधार्थक 'न' को 'ण' नहीं बोलते; न 'नाम' 'नमस्ते' आदि के नकारों को ही 'ण' बोलते हैं। 'न' बोलते हैं। परन्तु प्राकृत-साहित्य में निषेधार्थक 'न' को भी 'ण' और 'नमो' को भी 'णमो'! पता नहीं, ऐसी ही भाषा बोली जाती थी, या कि कोई साहित्यिक विधान वैसा था! 'ण' के क्षेत्र (कुरुजाङ्गल) में आज भी 'मानस' को 'माणस' बोलते हैं! ऐसा जान पड़ता है कि इन सब णकार-प्रिय 'माणसों' को ध्यान में रख कर ही संस्कृत में एक 'माणव' शब्द बना है; इनका मजाक उड़ाने के लिए। 'इमे माणवाः समागताः' यों बात करते होंगे! 'माणव' का अर्थ है—'मूर्ख मानव'।

'भैण' के मूलरूप में भी 'ण' नहीं है। 'भगिनी' का 'भैण' है! 'भगिनी' बैसवाड़े में तथा पंचाल में 'बहिनी' है। फिर 'बहिन' और 'बहन'। कुरु-जनपद में 'बहण' और पंजाब में 'भैण'। राजस्थान में भी 'ण' खूब चलता है; पर शब्द के आदि में कहीं भी नहीं! वह तो प्राकृतों की 'मीठी' चीज है!

वह 'कोमल प्रयोग' की बात छूटी जा रही है। 'चन्द्रमा' का प्रयोग तो स्त्रीलिङ्ग में न हो गा; परन्तु वर्णन-विशेष में 'चन्द्रकला' जैसे रूप बना कर स्त्रीत्व में प्रयुक्त किए जाते हैं—'सीधे-सादे (भोले) जनों को चमक-दमक से दूर ही रहना चाहिए। चन्द्रकला शिव के सिर चढ़ कर कैसे-कैसे नाच नचा रही है !' इसी तरह सूर्योदय पर 'कमल' का विकास उतना अच्छा न रहेगा, जितना 'कमलिनी' का। कलाधर के वियोग में 'कुमुद' की जगह 'कुमुदिनी' का वैसा वर्णन अधिक फबेगा। 'प्रभात' को 'प्रभातवेला' बना कर ही स्त्रीत्व में प्रयोग कर सकते हैं, केवल 'प्रभात' का नहीं। आवश्यकता पड़ने पर स्त्रीलिङ्ग शब्द का भी पुंप्रयोग कर सकते हैं; पर वैसा रूप दे कर ही। सन्ध्या का भयंकर वर्णन करना हो, कोई रौद्र वर्णन हो, तो उसके आगे 'काल' शब्द लगा कर पुंप्रयोग कर सकते हैं। 'चकई के लिए फिर सन्ध्या-काल आ धमका।' परन्तु 'मा की तरह सन्ध्या ने सब को अपने अङ्क में आश्रय दिया' यहाँ 'सन्ध्या' के आगे 'समय' आदि कोई शब्द लगा कर पुंप्रयोग करना बहुत भद्दा हो जाए गा; और 'काल' शब्द तो एकदम सब बिगाड़ दे गा ! सन्ध्या के समय दो मित्रों का मिलन वर्णन करना हो, तब समय-निर्देश करते समय 'सन्ध्या' के आगे 'समय' लगा कर पुंप्रयोग ठीक रहे गा—'धीरे-धीरे वह समय आया, जब ताप-सन्ताप क्षीणता की ओर चला और सन्ध्या-समय ने अपने बिछुड़े हुए बन्धु इन्दु के दर्शन किए। इन्दु ने अपने कर दूर से ही फैला कर इस पुण्य-समय को रञ्जित कर दिया।' ऐसा वर्णन करने के अनन्तर बिछुड़े हुए मित्रों का मिलन-वर्णन अच्छा रहे गा। परन्तु प्रिय-प्रेयसी का मिलन वर्णन करना हो, तब 'सन्ध्या' या 'सन्ध्या-बेला' आदि स्त्रीप्रयोग ही ठीक रहेंगे। 'प्रिय इन्दु के करों का स्पर्श पाने के लिए सन्ध्या आगे बढ़ी। उस का अनुराग स्पष्ट ही सब ने देखा।' सो, कोमलता के लिए चन्द्र-इन्दु आदि का स्त्रीलिङ्ग–प्रयोग नहीं, इन शब्दों को शब्दान्तर से स्त्रीलिङ्ग 'बनाना' चाहिए।

संज्ञाओं की संख्या, या 'वचन'

पिछले प्रकरण में देखा गया कि 'नाम' या 'संज्ञा'-शब्दों के रूप को द्विधा विभक्त किया गया है—'पुरुष' तथा 'स्त्री' की तरह। इस प्रकरण में संख्या-कृत रूप ('वचन') पर विचार किया जाए गा।

एकत्व प्रकट करने के लिए 'एकवचन' और अनेकत्व प्रकट करने के लिए 'बहुवचन' का प्रयोग होता है। संस्कृत में 'द्विवचन' भी होता है।

संसार में 'जोड़े' बहुत नजर आते हैं—स्त्री-पुरुष, जाड़ा-गरमी, सुख-दुख गरीबी-अमीरी आदि। नेत्र दो, हाथ दो, पाँव दो, पक्ष दो, 'सूर्याचन्द्रमसौ' दो, आकाश-पाताल दो। इन्हें द्विवचन में ही प्रकट करने से एक सुन्दरता दिखती है। परन्तु प्राकृत भाषाओं ने 'द्विवचन' को एक बखेड़ा समझ कर हटा दिया! एकवचन और बहुवचन मात्र रखे। हिन्दी भी उसी परम्परा में है। यहाँ भी दो ही 'वचन' हैं। हिन्दी में 'एकवचन' बनाने के लिए कोई खटपट नहीं है। संज्ञा ज्यों की त्यों प्रायः रहती है। उस में कोई हेर-फेर नहीं होता।

राम जाता है, लड़का जाता है, लड़की जाती है
गोविन्द राम को देखता है, सीता सुशीला को देखती है
राम ने चाकू से कलम बनाई, गोविन्द ने कलम से लिखा
तू ने लड्डू राम को दिया, जलेबा मोहन को

ऊपर 'प्रायः' शब्द हम ने दिया है; इस लिए कि हिन्दी के पुंप्रत्ययान्त शब्दों के 'आ' को 'ए' हो जाता है, यदि सामने कोई (ने, को, से, आदि) विभक्ति हो,—

लड़का लड़के को देखता है
लड़के ने लड़के को देखा
लड़का पढ़ने में मन नहीं लगाता
मुझे वहाँ जाने में अभी देर है

ऊपर सर्वत्र 'आ' को 'ए' इस लिए एकवचन में हो गया है; क्योंकि सामने कोई न कोई विभक्ति है।

सो, केवल पुंप्रत्ययान्त शब्दों के लिए ही यह नियम है। अन्यत्र ज्यों का त्यों रहता है—नदी ने, कवि से, गौ पर, बहू को आदि। इस 'आ' को हम 'पुंविभक्ति' भी कहते हैं; इस लिए कि यह संस्कृत 'रामः' (अकारान्त पु० एक वचन) के विसर्गों का विकास है। परन्तु हिन्दी में इस से कोई खास कारक-बोध नहीं होता, स्त्री-प्रत्यय की ही तरह एक पुंप्रत्यय है, जिस के आगे 'ने' आदि विभक्तियाँ लगती हैं।

बहुवचन

'बहुवचन' बनाने के लिए कुछ नियम हैं, बहुत कम और बहुत सरल। बहुवचन-प्रयोग को दो भागों में बाँट लीजिए—निर्विभक्तिक और सविभक्तिक। ने, को आदि विभक्तियों के बिना जब बहुवचन हो, तो 'निर्विभक्तिक' और उन के साथ हो, तो 'सविभक्तिक'।

निर्विभक्तिक बहुवचन प्रायः 'कर्ता' तथा 'कर्म' कारकों में ही दिखाई देते हैं—

अकारान्त पुंवर्ग के शब्द निर्विभक्तिक बहुवचन में ज्यों के त्यों रहते हैं, कुछ भी रूपान्तर नहीं होता। क्रिया अथवा विशेषण से बहुत्व की प्रतीति होती है—

बालक पढ़ते हैं; कवियों ने बालक देखे।

एक जगह कर्ता और दूसरी जगह कर्मकारक में 'बालक' बहुवचन है। 'पढ़ते हैं' तथा 'देखे' क्रियाओं से स्पष्टता है। इसी तरह इकारान्त, ईकारान्त, उकारान्त, ऊकारान्त, एकारान्त, ओकारान्त तथा औकारान्त पुंवर्गीय शब्द निर्विभक्तिक बहुवचन में तदवस्थ रहते हैं—

कवि मस्त रहते हैं। हम ने कुछ कवि देखे
कुछ विद्यार्थी आए हैं। हमने सौ विद्यार्थी बुलाए हैं
प्रभु जो करेंगे, ठीक। यशोदा ने हजार भानु देखे
चाकू अच्छे हैं। हम ने दस चाकू लिए हैं
मथुरा के चौबे आए हैं। हमने चौबे देखे हैं
जौ अच्छे हैं। राम ने जौ बुवाए हैं

इसी तरह पुंवर्गीय संस्कृत (तद्रूप) शब्दः—

विधाता जो भी करें, मंजूर है
पिता जी कुछ चिन्ता में हैं
राजा सब बुरे ही नहीं थे

परन्तु हिन्दी के अपने या तद्भव आकारान्त पुंवर्गीय शब्दों के अन्त्य 'आ' की जगह 'ए' हो जाए गा—

लड़के पढ़ते हैं। हम ने लड़के देखे

गुरुत्व से नम्रता आ गई है। क्रियाओं के झुके हुए रूप के साथ कर्ता तथा कर्म के भी झुके हुए रूप भले लगते हैं; जैसे कि फलदार डालियाँ झुक रही हों। देखिए—

बालक पढ़ते हैं
लड़के पढ़ते हैं

इन दो पंक्तियों में कौन-सी अधिक अच्छी लगती है? इसी तरह—

बड़ी लड़की पढ़ती है
ज्येष्ठ कन्या पढ़ती है

इन पंक्तियों में भी तारतम्य स्वरूपगत निकालिए। खैर, कहने का मतलब यह कि हिन्दी के पुंप्रत्यान्त शब्द तथा इस रँग में रँगे विदेशी शब्द भी निर्विभक्तिक बहुवचन में एकारान्त हो जाते हैं।

शाहजादे भी काम करते थे।
बहुत शाहजादे देखे, पर ऐब सब में!
अब सब के कोटे पूरे हो गए

सविभक्तिक पुंवर्ग के बहुवचन बनाने की चर्चा पृथक् अनावश्यक है; क्योंकि वैसी स्थिति में स्त्रीवर्गीय शब्दों के भी बहुवचन उसी तरह बनते हैं। केवल निर्विभक्तिक बहुवचन में ही अन्तर है। सो, स्त्रीवर्गीय शब्दों के निर्विभक्तिक बहुवचन देख लीजिए।

अकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के निर्विभक्तिक बहुवचन में 'एँ' प्रत्यय सामने आता है; और तब प्रकृति के अन्त्य 'अ' का लोप हो जाता है। विभक्ति भी प्रत्यय ही है; एक विशेष प्रत्यय।

बहन-बहनें, लुहारिन-लुहारिनें, धोबिन-धोबिनें
लाइन-लाइनें, बाहें-बाहें, नस-नसें आदि

'इया'—प्रत्ययान्त अनुनासिक तथा इकारान्त-ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों से परे 'एँ' को 'आँ' हो जाता है—

बुढ़िया-बुढ़ियाँ, डिबिया-डिबियाँ
'या' को 'याँ' हो गया; बस।

इकारान्त-ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के 'इ' या 'ई' को 'इय्' हो जाता है, जब कि 'एँ' का 'आँ' रूप सामने हो—

निधि-निधियाँ, विधि-विधियाँ
उपाधि-उपाधियाँ, समाधि-समाधियाँ
नदी-नदियाँ, खाड़ी-खाड़ियाँ, धोती-धोतियाँ,
कठिनाई-कठिनाइयाँ, छिपकली-छिपकलियाँ

इकारान्त-ईकारान्त सभी तरह के स्त्रीलिङ्ग शब्दों से परे बहुत्व-सूचक उस 'एं' को 'आँ' हो गया है और 'इ' तथा 'ई' को 'इय्'। नदी-नदियाँ 'श्रीः-श्रियः' की तरह।

इन के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रीलिङ्ग शब्दों के निर्विभक्तिक बहुवचन में वही 'एँ' प्रत्यय रहता है:—

माता-माताएँ, गौ-गौएँ
संख्या-संख्याएँ, क्रिया-क्रियाएँ

'क्रियायें' आदि गलत प्रयोग हैं। इकारान्त-ईकारान्त शब्दों के अन्त्य को 'इय्' होता है और उकारान्त-ऊकारान्त शब्दों के अन्त्य को 'उव्' होता है। परन्तु अन्तर यह है कि 'आँ' में 'य्' बना रहता है, जब कि 'उ' या 'ऊ' के सामने 'व्' ठहरता नहीं है—लुप्त हो जाता है—

बहू-बहुएँ, वस्तु-वस्तुएँ

सविभक्तिक बहुवचन (स्त्रीलिङ्ग-पुल्लिङ्ग सभी) शब्दों का एक ही विधि से बनता है। प्रकृति तथा प्रत्यय के बीच में एक 'ओं' विकरण आ जाता है—अनुनासिक विकरण है; परन्तु ऊपर लगी मात्रा के कारण 'ँ' न दे कर केवल 'ं' दे देते हैं। अकारान्त पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग शब्दों के अन्त्य (अ) का लोप हो जाता है, और व्यंजन 'ओं' में मिल कर—

बालकों ने, बहनों ने, लुहारिनों ने, लुहारों ने,
खेतों से, आँतों में, दाँतों से, खरबूजों से आदि।

इसी तरह अन्त्य 'आ' का भी लोप—

लड़कों ने, बुड्ढों ने, भट्ठों में, फंदों से
बुढ़ियों ने; डिबियों में, बनियों ने आदि।

बुढ़िया, डिबिया तथा बनिया के अन्त्य 'आ' का लोप और 'य्' मिला विकरण ('ओं') में ।

परन्तु संस्कृत के तद्रूप शब्दों के अन्त्य 'आ' का लोप नहीं होता—

माताओं ने, पिताओं ने, राजाओं ने, आत्माओं पर,
महात्माओं से, कन्याओं को, लताओं में आदि ।

इसी तरह 'गौओं को' 'गौओं से' आदि रूप होते हैं। 'कोदों' तथा 'सरसों' आदि शब्दों में 'ओं' विकरण नहीं लगता; क्योंकि यहाँ प्रकृति में ही 'ओं' विद्यमान है। यानी एक वचन और बहुवचन में समान रूप–'सरसों से' 'कोदों से' आदि होते हैं। या, यों कहिए कि 'ओं' विकरण आने पर प्रकृति का अन्त्य 'ओं' लुप्त हो जाता है।

'इ' तथा 'ई' को 'इय्' हो जाता है—
कवियों ने, विधियों से, निधियों में
नदियों का, अँगूठियों का, दाइयों पर

'उ' तथा 'ऊ' को 'उव्' हो जाता है, परन्तु 'व्' का लोप हो जाता है। 'ओ' में 'उ' भी है; इस लिए 'व्' श्रुत नहीं, लुप्त—

प्रभुओं ने, बाबुओं को, बहुओं से, साधुओं को

इस तरह 'ओं' विकरण ने सरलता ला दी। स्त्रीलिङ्ग-पुल्लिङ्ग भेद के बिना, सब से समान बर्ताव ।

संस्कृत के व्यञ्जनान्त शब्दों का अन्त्य (व्यंजन) 'ओं' में जा मिलता है:—

विद्वानों को, बुद्धिमानों में, विपदों से

'विपदों से' में 'विपद्' शब्द है। विपदा-सम्पदा आदि हों, तो फिर

विपदाओं से, सम्पदाओं पर

इस तरह 'आ' का लोप हुए बिना रूप होंगे। 'दिक्' का 'दिकों में' रूप न होगा। हिन्दी में 'दिशा' चलता है—'दिशाओं में'। परन्तु 'संसद्' का 'विपद्' की तरह 'बहुत सी संसदों में स्थिति दूसरी होती है' ऐसे प्रयोग होते हैं ।

बस, यही एकवचन-बहुवचन बनाने की विधि है। कहीं कुछ विशेष भी है। 'दर्शन' का प्रयोग बहुवचन में ही होता है—'आप के दर्शन'। 'आप का दर्शन' न होगा। 'हस्ताक्षर' भी बहुवचन चलता है।

आदर में एक के लिए भी बहुवचन आता है:—'गुरु जी आ रहे हैं'। गौरव है। एक ही लाख के बराबर। कभी जाति में एक वचन होता है—'अंग्रेज साहसी होता है'। ये इस तरह की बातें पद-प्रयोग से सम्बन्ध रखने वाली हैं। इस पुस्तक के अन्तिम अध्याय में इस विषय का विवेचन होगा। विशेष हमारी 'अच्छी हिन्दी' में मिलेगा।

प्रकरण समाप्त करने से पहले सम्बोधन की भी 'वचन'—चर्चा कर लेनी चाहिए।

पुंप्रत्ययान्त हिन्दी की संज्ञाओं के सम्बोधन में एक वचन एकारान्त होता है—'लड़के, इधर आ।' पुंप्रत्यय से प्रभावित विदेशी शब्द भी—'हरामजादे, मानेगा नहीं ?'

शेष सभी शब्द सम्बोधन के एक वचन में ज्यो के त्यों रहते हैं। आदरार्थक बहुवचन में भी:—

'कवि, तुम अपने मन की बात कहो'
आदर में बहुवचन है; इस लिए सम्बोधन 'कवि'
ही रहेगा। यदि संख्या में अधिक हो, तब—
'कवियो, कुछ तो सोचो-समझो।'

यानी बहुवचन में 'ओ' विभक्ति आती है और प्रकृति के अन्त्य 'इ'-'ई' को 'इय्' हो जाता है। 'लड़कियो, ध्यान देकर सुनो!' 'उ'-'ऊ' को 'उव्' तथा 'व्' का लोप—'बहुओ, भोजन अच्छा बनाओ।' इसी तरह 'साथियो' आदि। 'साथियों' गलत है।

अन्त्य 'अ' तथा 'आ' का लोप—
'बालको, खूब प्रसन्न रहो।'
'लड़को, चुप रहो।' 'लड़कों' 'बच्चों' गलत प्रयोग हैं!

परन्तु संस्कृत तत्सम आकारान्त शब्दों को कुछ भी नहीं होता; केवल अन्त में 'ओ' लग जाता है—

'हे नगरपिताओ, क्या सचमुच तुम पालन करते हो ?'

'माताओ, बच्चों के चारित्र्य पर ध्यान दो !'

इसी तरह–'राजाओ' 'महात्माओ' 'विधाताओ' आदि। व्यञ्जनान्त संज्ञाएँ—

'हे मतिमान् !' 'हे मतिमानो !'

'माता' 'पिता' आदि के आगे 'जी' आदर के लिए लगाते हैं—माता जी, पिता जी, आदि। संस्कृत के 'हे पितः !' 'हे मातः' जैसे सम्बोधन हिन्दी में खपते नहीं हैं ! हाँ, 'देवि' खप जाता है। 'देवि, अपराध क्षमा हो।'

'छमब देवि बड़ि अविनय मोरी' तुलसी-प्रयोग भी है।

कारण यह कि विसर्गान्त प्रातिपदिक हिन्दी को कतई ग्राह्य नहीं।

इस प्रकरण को समाप्त करने से पहले एक प्रासंगिक बात और कहने की है। हमने कई जगह लिखा है कि संस्कृत-शब्दों के 'प्रथमा' के एक वचन का रूप हिन्दी ने अपने 'प्रातिपदिक' के रूप में ग्रहण किया है—लता, माता, नदी आदि। परन्तु संस्कृत के विभक्ति-चिह्न (विसर्ग या 'म्') कहीं मिले, तो उन्हें हटा दिया है—'श्रीः' का 'श्री' लिया है, और 'लक्ष्मीः' का भी 'लक्ष्मी'। इसी तरह 'वृक्ष' तथा नपुंसक लिङ्ग 'बल' आदि।

परन्तु कहीं 'वचन' के बारे में अपवाद भी देखा जाता है—'पितर'। स्वर्गीय पुरखों के लिए हिन्दी ने 'पितर' शब्द रखा है। 'पितृ' का एक वचन 'पिता' और इसी के बहुवचन 'पितरः' का निर्विसर्ग रूप 'पितर'–'देव पितर सब तुम्हहिं गुसाईं'–अवधी। हिन्दी के सम्पूर्ण परिवार में 'पितर' है—राजस्थानी, ब्रजभाषा, अवधी, बुँदेलखंडी; सर्वत्र। 'पितरों का श्राद्ध'। परन्तु 'पितर' के साथ 'श्राद्ध' का समास न करेंगे—'पितर-श्राद्ध' गलत हो गा। समास में 'पितृ–श्राद्ध' ही रहेगा। जैसे कि 'सविस्तार प्रतिपादन' गलत है; 'सविस्तर प्रतिपादन' सही। परन्तु समास न करें, तो 'विस्तार से मैं ने इस का प्रतिपादन किया है' यों 'विस्तार' आए गा। संस्कृत में ऐसी जगह 'विस्तार' गलत है, 'विस्तर' शुद्ध है—'विस्तरेण प्रतिपादितम्'–'विस्तारेण' नहीं।'सह' संस्कृत अव्यय का 'विस्तर' से ही समास होता है। इसी तरह 'पितृश्राद्ध'।

सो, उस व्यापक नियम का यह एक अपवाद है। संस्कृत की तरह हिन्दी में भी 'प्राण' का बहुवचन में प्रयोग होता है; क्योंकि 'पञ्च प्राणाः' यहाँ भी प्रसिद्ध हैं; परन्तु हिन्दी ने 'प्राणा' के रूप में नहीं, 'प्राण' के रूप में इसे ग्रहण किया है—'उस के प्राण निकल गए' 'उस के प्राणों पर आ बीती' इत्यादि। 'पितरः' का 'पितर' कर लेना दूसरी चीज है। एक संज्ञा ही पृथक् बना ली गई है।

वचन-विन्यास में हिन्दी स्वतन्त्र है; प्राकृतों की जैसी अधकचरी स्थिति में नहीं है। इसी लिए—

'दम्पती का आगम' गलत है!

हिन्दी में 'दम्पति का आगमन' शुद्ध है। 'दम्पति' संस्कृत का मूल शब्द (प्रातिपदिक) है, 'दम्पती' नहीं। 'दम्पति' एक सामासिक शब्द है। 'जाया' और 'पति' का समास हो कर 'दम्पति' शब्द बना है। चूँकि 'दम्पति' में दो हैं; इस लिए इस का प्रयोग वहाँ (संस्कृत में) सदा द्विवचन होता है—'दम्पती' 'दम्पतिभ्याम्' आदि। हिन्दी ने संस्कृत शब्द प्रथमा के एक वचन के रूप में लिए हैं—'राजा' 'आत्मा' (<राजन् <आत्मन् के रूप)। यह इस लिए कि व्यंजनान्त शब्द यहाँ प्रातिपदिक रूप से ग्राह्य नहीं। 'पितृ' आदि के 'पिता' जैसे रूपों के ग्रहण में भी वही बात है। ऋकारान्त प्रातिपदिक हिन्दी नहीं लेती। यही स्थिति 'चन्द्रमा' आदि की है, विसर्ग अलग कर दिए। कहीं प्रातिपदिक को ही सस्वर कर लिया है। संस्कृत प्रातिपदिक—'धनुष्' का हिन्दी-प्रातिपदिक—'धनुष'। 'धनुः' के विसर्ग उड़ा कर 'धनु' भी चलता है; पर 'धनुष' अधिक। इसका मतलब यह निकला कि हिन्दी को अपने सिद्धान्त से मतलब—व्यंजनान्त, विसर्गान्त, ऋकारान्त प्रातिपदिक ग्राह्य नहीं। 'वचन' में स्वतन्त्रता है ही। सो, हिन्दी ने 'दम्पति' शब्द लिया और 'दम्पति आए' 'दम्पति का आगमन' जैसे प्रयोग। 'दम्पति' शब्द का अर्थ वही यहाँ भी है—पति-पत्नी। परन्तु द्विवचन यहाँ होता नहीं। 'कवि आए' की तरह 'दम्पति आए'। संस्कृत में 'द्वौ कवी आगच्छतः' प्रयोग होता है; द्विवचन में 'कवि' का 'कवी' हो जाता है; पर हिन्दी में 'दो कवि आते हैं' होता है; 'दो कवी' नहीं। इसी तरह 'दम्पति आते हैं'। हिन्दी में द्विवचन भी होता, तो अपनी पद्धति रहती; संस्कृत की नहीं। 'कवि आते हैं' को 'कवयः आते हैं' नहीं कर सकते। सो, संस्कृत का द्विवचन रूप 'दम्पती' यहाँ न चले गा, गलत है।

'दो कवियों' का सम्मान' प्रयोग होता है; पर 'वर्मा-दम्पतियों का सम्मान' प्रयोग न होगा—'वर्मा-दम्पति का सम्मान' प्रयोग हो गा। यहाँ 'दम्पति' शब्द से ही द्वित्व प्रकट है; इस लिए 'ओं' विकरण न आए गा, न 'दो' विशेषण आए गा। दो मिल कर एक हो गए हैं, जो पृथक् समझे भी जाते हैं। 'कवि' आदि में यह बात नहीं। 'जोड़ा आया' की तरह एक वचन प्रयोग भी 'दम्पति' का न हो गा—'दम्पति आया' न बोला जाएगा। संस्कृत की द्विवचनता सामने है न! सो, 'दम्पति आए' चलता है। यदि पति-पत्नियों के अनेक जोड़े हों, तो 'ओं' विकरण आए गा—'सौ दम्पतियों के आगमन की सूचना है' 'ब्राह्मण-दम्पतियों को कुछ विशेषता दी गई थी' इत्यादि।

हिन्दी ने अनेक तरह से संस्कृत-शब्दों को ले कर अपना प्रातिपदिक बनाया है; पर प्रमुखता प्रथमा-एक वचन की है 'पितृ' के बहुवचन 'पितरः' के विसर्ग छाँट कर हिन्दी ने अर्थ-विशेष में 'पितर' प्रातिपदिक अपना बना लिया; पर बहुवचन में ही यहाँ भी इस का प्रयोग होता है। संस्कृत में 'पितर' जैसा कोई विशिष्ट शब्द नहीं है।

परन्तु यह कोई अनिवार्य नियम नहीं कि संस्कृत–बहुवचन शब्द को जब हिन्दी अपना प्रातिपदिक बना ले, तो उस का प्रयोग यहाँ बहुवचन ही हो! 'पितर' का बहुवचन–प्रयोग तो ठीक; क्योंकि सृष्टि के आदि से अब तक न जाने कितने हमारे पूर्वज हो चुके हैं! परन्तु हिन्दी ने संस्कृत 'नावः' के विसर्ग काट कर 'नाव' अपना प्रातिपदिक बना लिया। 'नौ' का क-प्रत्ययान्त 'नौका' भी यहाँ चलता है और उसी ('नौ') का बहुवचन–रूप 'नावः' भी निर्विसर्ग हो कर 'नाव' रूप से यहाँ प्रातिपदिक है, जो एक वचन में भी चलता है और बहुवचन में भी; पर 'नौ' की स्त्रीलिङ्गता ज्यों की त्यों है—'मेरी नाव'-'तेरी नावें'। बहुवचन में 'नौकाएँ' अधिक इष्ट है।

विशेषण-विश्लेषण

संसार के अनन्त प्राणियों के तथा पदार्थों के नाम या संज्ञाएँ (आवश्यकता के अनुसार यथाशक्य) निश्चित कर लेने पर भी व्यवहार में कमी रह जाती है; क्योंकि प्रत्येक प्राणी या पदार्थ में कुछ विशेषता होती है। पृथ्वी फोड़ कर ऊपर निकलने वाले हरे-भरे 'अर्थों' या 'पदार्थों का नाम 'उद्भिज्ज' रखा गया। पृथ्वी को उद्भिन्न कर के इन का जन्म होता है; इस

लिए यह नाम। परन्तु उद्भिज्जों की अनेक श्रेणियाँ दिखाई पड़ीं। तब उन (श्रेणियों) के पृथक्-पृथक् नाम रखे गए-वृक्ष, लता, गुल्म आदि। परन्तु वृक्षों के भी अनन्त भेद! तब इन का श्रेणी-विभाजन कर के आम, जामुन, नीम आदि नाम। फिर आम भी कितने ही प्रकार के निकले! तब इनकी पृथक्-पृथक् विशेषताओं के आधार पर 'कलमी' 'लँगड़ा' आदि नाम रखे, जो विशेषण के रूप में चलते हैं। वृक्षों के सूखे अवयवों को 'लकड़ी' कहते हैं, परन्तु सूखे पत्तों के लिए कोई पृथक् नाम नहीं। लकड़ी भी गीली-सूखी होती है, जिस के लिए कोई पृथक् संज्ञा नहीं। नील कमल को 'इन्दीवर' कहते हैं; परन्तु अन्य नीले पदार्थों के पृथक्-पृथक् विशिष्ट नाम कहाँ हैं? कहाँ तक ऐसे नाम रखे जा सकते हैं! इस लिए शब्दों की एक पृथक् श्रेणी बनाई गई, पदार्थों की विशेषता प्रकट करने के लिए। नीला आकाश, नीले वस्त्र, नीला कागज, नीला मंडप आदि। अब, चाहे जहाँ इस 'नीला' विशेषण से काम ले लो। 'इन्दीवर' तो नीले कमल को कहते ही हैं, इस लिए उस के साथ 'नीला' विशेषण न लगे गा, जरूरत ही नहीं। 'नीला इन्दीवर' कहना गलत हो गा। 'सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्'—जब कोई विशेषता कहीं कभी रहती हो, कभी न रहती हो, तभी विशेषण-शब्दों का प्रयोग होता है। विशेष प्रयोजन हो, तब 'नीले आकाश में चमकते हुए नक्षत्रों के मोती खूब फबते हैं।' ऐसी जगह 'आकाश' का 'नीला' विशेषण ठीक है। मोतियों की दमक नीलिमा में खूब खिलती है। विशेषण से स्वरूप पाठक या स्रोता के सामने आ जाता है। केवल 'आकाश' शब्द यहाँ उतना अच्छा न रहता; यद्यपि वह नीला ही दिखता है।

खैर, जरूरत पड़ने पर, किसी की विशेषता बतलाने के लिए जिन शब्दों का उपयोग किया जाता है, इन्हें 'विशेषण' कहते हैं। विशेषता रंग-रूप में, आकार-प्रकार में, स्वाद में, परिमाण में तथा अन्य विविध रूपों में होती है। विशेषताओं के इन्हीं प्रकारों के आधार पर विशेषण-शब्दों का भी श्रेणी विभाजन कर दिया गया है—गुणवाचक विशेषण, अवस्थावाचक विशेषण, परिमाणवाचक विशेषण आदि। कहीं शब्द-भेद न होने पर भी प्रयोग-भेद से नाम-भेद हो जाता है—'कुछ दूध,' 'कुछ कपड़ा' 'कुछ गेहूँ'। यहाँ 'दूध' के साथ 'कुछ' विशेषण परिमाण बतलाता है। दूध नाप-तोल की चीज है। यही बात 'कपड़ा' तथा 'गेहूँ' के साथ है। परन्तु 'कुछ आदमी' 'कुछ पुस्तकें' 'कुछ बकरियाँ' आदि में 'कुछ' संख्या बतलाता है; इस लिए

यहाँ वह 'संख्या वाचक' विशेषण है। 'रंगीन कपड़ा' में 'रंगीन' विशेषण है; परन्तु 'रंग' भी कई प्रकार का होता है! कैसा रंग ? जिज्ञासा होने पर 'रंग' के विशेष-भेद किए गए—काला, पीला, हरा आदि। 'काला रंग' में 'रंग' विशेष्य है और 'काला' विशेषण है। 'काला कपड़ा' में 'काला' विशेषण है। कपड़े का रंग 'काला' शब्द ने बता दिया। विशेषण है। अब यहाँ 'काले रंग का कपड़ा' कहने की जरूरत नहीं; क्योंकि 'रंग' के लिए ही 'काला' शब्द है; स्वाद आदि के लिए नहीं। अब 'काला' को कहीं लगा दीजिए। जहाँ लग जाए गा, अपना काम करे गा। सो, विशेषण शब्द पृथक् बना लेने से भाषा में अनन्त सौकर्य हो गया है। सभी भाषाओं में विशेषण होते हैं। भाषा के प्रारम्भिक काल में विशेषण नहीं होते। पहले तो साधारण प्राणियों के तथा पदार्थों के नाम (संज्ञाएँ) और फिर उन की विशेषताओं को देख-देख कर विशिष्ट 'इन्दीवर' जैसे नाम। परन्तु संसार के अनन्त प्राणियों के तथा पदार्थों के वैसे विशिष्ट नाम कहाँ तक रखे जाएँ ! 'शक्ति-ग्रह' भी कठिन ! प्रत्येक विशिष्ट पदार्थ के नाम याद करते-करते ब्रह्मा भी थक जाएँ ! इसी लिए 'विशेषण' शब्द गढ़े गए। 'काला' समझ लिया और बस ! जहाँ भी यह शब्द लगा होगा, समझ लिया जाए गा कि इस रंग की चीज। भाषा में 'नाम' रखने के अनन्तर विशेषण बने; इसी लिए व्याकरण में भी उसी क्रम से उल्लेख।

संस्कृत में विशेषण भी विभक्ति-युक्त होते हैं। जो विभक्ति विशेष्य में, वही विशेषण में भी रहती है; 'वचन' भी।

सुन्दरः बालकः, सुन्दरम् फलम्, सुन्दरी कन्या
सुन्दरेण बालकेन, सुन्दरेषु फलेषु, सुन्दरीभिः कन्याभिः

परन्तु हिन्दी में मार्ग-भेद है। यहाँ ने, को आदि विभक्तियाँ विशेष्य में ही लगती हैं; विशेषण निर्विभक्तिक रहता है:—

सुन्दर लड़के ने, सुन्दर लड़कियों ने, सुन्दर गृहों में। हिन्दी का सिद्धान्त यह है कि विशेषता तो पदार्थ या प्राणी में ओत-प्रोत है। पृथक् उस की स्थिति है ही नहीं; तब पृथक् विभक्ति देने से क्या लाभ ? 'सफेद घोड़े पर नजर है' यहाँ सफेदी कुछ अलग तो है ही नहीं कि ('सफेद' में) विभक्ति लगा कर 'घोड़े' से उस का समानाधिकरण बतलाया जाए; या अधिकरण प्रकट किया जाए ! केवल सफेदी पर नजर नहीं, केवल घोड़े पर भी

नहीं। जहाँ घोड़ा जाए गा, वहाँ सफेदी भी जाए गी। इसी लिए हिन्दी विशेषणों में पृथक् विभक्तियों का प्रयोग नहीं करती। विशेष्य में लगी विभक्तियाँ ही उस (विशेषण) की भी विभक्तियाँ हैं।

विभक्तियों की ही तरह पुंस्त्री-व्यंजक पृथक् प्रत्यय भी हिन्दी प्रायः नहीं लगाती, विशेषणों में। विशेष्य से ही बँधे हुए हैं विशेषण। जो विशेष्य की जाति या वर्ग, वही विशेषण की भी। केवल 'अपने' कुछ विशिष्ट शब्दों में वर्गभेद, सा प्रदर्शन पृथक् जरूर यहाँ होता है। हिन्दी ने अपनी जो पुंविभक्ति बनाई है—'आ' (ा), यानी खड़ी पाई, उसे नहीं हटाती है। परन्तु यह चिह्न तो पुंव्यंजक है—'घोड़ा' 'बछड़ा' 'गधा' आदि। स्त्री-वर्ग में 'घोड़ी' 'बछड़ी' 'गधी' शब्द-रूप हो जाएँ गे। तब पुंविभक्ति-युक्त विशेषण 'काला' आदि यहाँ कैसे जमे गा ? 'काला घोड़ी' कैसे चले गा ? बिलकुल अलग ! 'घोड़ी' की विशेषता कैसे बताए गा ? इस लिए, विशेषणों के पुंव्यंजक प्रत्यय को भी स्त्री-प्रत्यय में बदल दिया जाता है—'काली घोड़ी'। यही स्थिति 'वचन' में भी है। बहुवचन 'घोड़े' होगा। पुंविभक्ति बहुवचन में एकारान्त हो जाती है। यही पुंविभक्ति 'काला' विशेषण में भी है। तब बहुवचन में इसे भी एकारान्त करना होगा—'काले घोड़े'। शब्दों के गढ़ने में इस प्रत्यय का उपयोग हुआ है और इस लिए इसे पृथक् कर ही नहीं सकते। इसी लिए ऐसे विशेषणों में वचन-भेद से या वर्ग-भेद से विशेष्य की तरह रूपान्तर होता है। परन्तु ने, को, में आदि विभक्तियों का प्रयोग विभक्त होता है। प्रकृति से इन का अच्छेद्य सम्बन्ध नहीं, जैसा कि पुंविभक्ति का। इसी लिए विशेष्य-विशेषण दोनों में स्वतन्त्रता से अन्वय हो जाता है—'सुन्दर लड़के ने'। संस्कृत में विभक्ति संश्लिष्ट है; इस लिए विशेषण में पृथक् जरूरत—'सुन्दरेण बालकेन'। यदि विशेषण-विशेष्य का समास कर दिया जाए, तब एक ही विभक्ति लगे गी—'सुन्दरबालकेन'। अब 'सुन्दर-बालक' में विभक्ति लगी है; विशेष्य-विशेषण में एक ही। समास कर देने से एक विभक्ति कम लगानी पड़ी। संक्षेप हो गया। संक्षेप को ही 'समास' कहते हैं। परन्तु हिन्दी में 'ने' 'को' आदि विभक्तियों का विभक्त प्रयोग होता है; इसी लिए विशेषण में पृथक् उन का प्रयोग करने की जरूरत नहीं। उभयत्र अन्वय हो जाता है। हिन्दी में विश्लिष्ट विभक्तियों के कारण स्वतः ऐसी व्यवस्था है कि विशेषण में पृथक् विभक्ति नहीं लगाई जाती; इसी लिए यहाँ विशेषण-विशेष्य का समास प्रायः नहीं होता। 'सुन्दर रामेण' ऐसा

संस्कृत में नहीं कर सकते; विशेषण को निर्विभक्तिक नहीं रख सकते; क्योंकि 'इन' विभक्ति 'राम' से एकदम संश्लिष्ट हो गई है, बँध गई है। वहाँ से छूट कर वह 'सुन्दर' में भी आ लगे, यह नहीं हो सकता। हिन्दी की पद्धति अलग है—'राम, गोविन्द और माधव ने मुझ से कहा था'। मतलब 'राम ने, गोविन्द ने और माधव ने'। यानी एक ही 'ने' सर्वत्र काम चला देगी। इसी लिए पृथक्-पृथक्-'राम ने, गोविन्द ने और माधव ने' यों 'ने' का तिगड्डा कुछ अच्छा नहीं लगता; यद्यपि गलत नहीं कह सकते। तीनो अलग हैं। परन्तु विशेष्य इस तरह विशेषण से अलग नहीं रह सकता। इस लिए 'मधुर से फल से मैं तृप्त हो गया' ऐसा सविभक्तिक विशेषण-प्रयोग एकदम गलत होगा।

पहले कहा जा चुका है कि हिन्दी के पुंप्रत्यय से युक्त शब्द या इस पद्धति पर ढले दूसरे शब्द बहुवचन में तो एकारान्त होते ही हैं; परन्तु एक वचन में भी एकारान्त हो जाते हैं; यदि सामने ने, को आदि कोई विभक्ति हो—'घोड़े ने घास नहीं खाई'। इसी तरह आकारान्त पुंविशेषण भी (विशेष्य की ही तरह) एकारान्त हो जाए गा—'काले घोड़े ने घास नहीं खाई'।

आकारान्त पुंवर्गीय विशेषणों के अतिरिक्त अन्य सभी विशेषण, सभी कारकों में, दोनो वचनों में और दोनो वर्गों (लिङ्गों) में सदा एक-रस रहते हैं—

लाल घोड़ा, लाल घोड़े, लाल घोड़ी, लाल गौ, लाल घोड़ियाँ, लाल गाड़ी, लाल सूरज, लाल फूल। सर्वत्र 'लाल'। इसी तरह:—

लाल घोड़े पर, लाल कपड़ों पर, लाल चादर पर।

कहीं कुछ भी परिवर्तन नहीं। पीला, काला आदि की तरह 'लाल' भी पुंविभक्ति से 'लाला' क्यों न हुआ ? इस लिए कि 'लाला' एक अलग पहले से ही है। 'लाल' भी 'लाला' हो जाता; तो 'लाला बैल है' इत्यादि में भ्रम होता। इसी तरह 'लाली' में भी। 'लाली' ब्रज में 'लड़की'। दूसरे, 'लाल' अन्यत्र (दूसरे देश) का शब्द है; 'नील' जैसा अपना नहीं। इसी तरह—

शाही महल, शाही रँगरेलियाँ
घरेलू नौकर, घरेलू चर्चा, आदि

संख्या-वाचक शब्दों का प्रयोग भी विशेषण के रूप में ही होता है। यहाँ भी प्रयोग-विधि सब वही है। संख्या-वाचक शब्दों में पुंविभक्ति नहीं है—एक, दो, तीन, चार आदि। इस लिए इन का प्रयोग सर्वत्र एक-रूप होता है। 'एक' शब्द संस्कृत का तद्रूप है, शेष सब तद्भव। 'दश' को भी 'दस' कर के तद्भव बना लिया गया है। 'दश मेरे घर हैं' ऐसा न लिखा जाए गा। 'सूर्य' और 'सूरज' दोनो चलते हैं; परन्तु संख्या-वाचक शब्द ('एक' को छोड़, अन्य कोई) संस्कृत का 'तद्रूप' गृहीत नहीं है। हाँ, 'लक्ष' और 'कोटि' का प्रयोग 'लाख-करोड़' के विकल्प में चलता है। 'सहस्र' भी चलता है। परन्तु 'सौ' तक तो तद्रूप शब्द कतई नहीं चलते! मेरे 'पञ्च पुत्र हैं' 'उस के सप्त लड़कियाँ हैं' या 'कौरव शत भाई थे' ऐसे प्रयोग हिन्दी में नहीं होते।

संख्या-वाचक शब्दों से तद्धित-प्रत्यय कर के कुछ विशेष रूप बनते हैं। तद्धित-प्रकरण पृथक् दिया ही जाए गा। परन्तु यहाँ संक्षेप में संख्यावाचक शब्दों का रूपान्तर बतलाया जा सकता है। 'दस' तक तो संख्या-वाचक शब्द साधारण तद्भव हैं और आगे 'एकादश' आदि 'समस्त' शब्दों के रूपान्तर हैं। संख्या-वाचक शब्दों में बहुत रूपान्तर होता है; इस की साक्षी में संस्कृत के ही एकादश, द्वादश, त्रयोदश आदि समस्त शब्द हैं। 'एक' का 'एका' और 'द्वि' का 'द्वा' तथा 'त्रि' का 'त्रयः' सामने हैं। 'षोडश' आदि में तो बहुत अधिक परिवर्तन है! संस्कृत-शब्दों के संख्यावाचक शब्दों में इतना हेर-फेर इस बात की पुष्टि करता है कि किसी समय इस भाषा का व्यापक प्रचार था। साधारण जनता का काम गिनती से जरूर पड़ता है। निरक्षर भट्टाचार्य भी अपने पैसे गिन लेता है। बोलने में अन्तर पड़ जाता है। इसी लिए शब्द कुछ से कुछ बन जाते हैं। 'एकादश' से 'ग्यारह'! पहले 'इग्यारह' बना, फिर 'इ' का लोप हो गया। 'स' का 'ह' तो होता ही है; परन्तु 'द' का 'र' हो जाना मजे की बात है! स्पष्ट तब हो जाता है, जब यह ध्यान में आए कि भाषा में 'द' को 'ड' और 'ड' को 'र' होता रहता है। 'द्वादश' का 'बारह'। 'द' का लोप और दूसरे 'द' को 'र' हो गया। 'स' का 'ह' हो जाना ठीक ही है। 'वा' को 'बा' हो गया! यह 'बारह' शब्द ही इस में प्रमाण है कि संस्कृत (या तत्पूर्ववर्ती 'प्रथम प्राकृत' की बढ़ती हुई धारा) के शब्दों से ही हिन्दी के संख्या-वाचक 'ग्यारह' आदि शब्द निकले हैं। यदि ऐसा न होता, हिन्दी की धारा में पृथक् ये शब्द गढ़े जाते,

तो 'बारह' की जगह 'दोदस' या 'दुदस' जैसा कोई शब्द होता, जैसे कि 'दुमुही' 'दुधारा' आदि में 'दो' की सत्ता है। यह 'दो' स्पष्ट ही संस्कृत 'द्वौ' का रूपान्तर है; 'व्' का लोप और स्वर-लाघव। यहाँ व्' का लोप है और "द्' 'सामने है; जब कि 'बारह' 'बाईस', 'बत्तीस' आदि में 'द्' का लोप और 'व्' सामने है; 'ब' के रूप में। साधारण शब्दों में 'द्' और यौगिक शब्दों में 'ब' रखा गया है। यह सब निरुक्त का विषय है; परन्तु 'बारह' आदि में सामासिक रूप की चर्चा व्याकरण का विषय है। सो, समास-प्रकरण में कुछ बतलाया जाएगा। यों हिन्दी का 'दो' संस्कृत 'द्वौ' से है; पर ब्रजभाषा का 'द्वै' संस्कृत नपुंसक-लिङ्ग 'द्वे' से है। 'द्वै द्वै अमरूद खाय गयो'। पूरब का 'दुइ' संस्कृत 'द्वि' से है।

'दोनो' 'तीनो' जैसे समष्टिबोधक संख्यावाचक शब्दों में न कोई तद्धित प्रत्यय है, न समास की ही बात है। यहाँ संख्या-वाचक शब्दों के साथ 'हु' अव्यय चिपक कर बैठा है। 'हू' ब्रजभाषा में बहुत प्रसिद्ध है—'अपि' के अर्थ में। संस्कृत में 'अपि' से समष्टि का बोध होता है—'ते त्रयोऽप्यत्र समागताः'—वे तीनो ही यहाँ आ गए। ब्रजभाषा में 'तीनहु लोकनि मैं जस छायो' और 'चार हू मुखनि सों लेत राम-नाम है'। 'तीनहु'-'तीनो' और 'चार हू'—'चारो'। एक जगह 'उ' ह्रस्व हो गया है। 'राम हू चलै गो तिहारे संग'-राम भी तुम्हारे साथ चलेगा। यहाँ 'हू' 'भी' के अर्थ में है—समुच्चय। राष्ट्रभाषा ने अपना पृथक् अव्यय 'भी' रखा है। 'रामः अपि'—'रामोऽपि' का प्राकृत में 'रामो वि' होता है। यह 'वि' 'खड़ी बोली' के क्षेत्र (मेरठ) तथा कुरुजाङ्गल और पंजाब में 'बी' है। यही 'बी' राष्ट्रभाषा में 'भी' है। यहाँ 'हू' का प्रवेश नहीं है। 'हू हू' कई बार आ जाए, तो अच्छा नहीं लगता। परन्तु समष्टि-बोध कराने के लिए 'हू' का ग्रहण है। 'ह्' का लोप और गुण-सन्धि—तीन-तीनो, चार-चारो आदि। 'दो' से ब्रजभाषा में 'दोऊ' बनता है; परन्तु हिन्दी में 'दोनो'। 'तीन' के समीप है, छाया पड़ गई। 'न' का बीच में 'आगम' हो गया और फिर गुण-सन्धि—'दोनो'। 'दोनो भाई आ गए।' 'हू' अव्यय प्रथम प्राकृत से ही लुढ़कता-पुढ़कता आया है। संस्कृत में तथा उपलब्ध प्राकृतों में इसका अता-पता मुझे अभी तक नहीं मिला है।

हिन्दी के एक प्रमुख वैय्याकरण ने 'अकेला' को 'एक' का समष्टि-रूप माना है ! अनेकों की समष्टि तो सब जानते हैं; पर यहाँ एक ही की समष्टि ! वस्तुतः 'अकेला' संस्कृत के 'एकाकी' के अर्थ में है और प्राकृत के 'इकल्लो' आदि के वंश का है। कहीं 'एकला' भी चलता है। 'अकेला' वर्ण-व्यत्यय से। 'एकला' से 'एक ला' समझा जा सकता था। 'छह' का 'छहो' रूप समष्टि में होता है। कुछ लोग 'चारों' 'छहों' जैसे रूप लिख देते हैं, गलती से। 'हू' में अनुस्वार-अनुनासिक का पता नहीं। सम्भव है 'तीनो' के अनुनासिक 'न' का प्रभाव वैसे भ्रम का कारण हो ! यह भी सम्भव है कि 'बीसों' 'सैकड़ों' आदि शब्द वैसे भ्रम का कारण बन गए हों। 'बीसों' आदि में बहुत्व-बोधक 'ओं' है।

'दोनो' 'तीनो' आदि समष्टि-प्रधान संख्यावाचक शब्दों से 'बीसों' 'सैकड़ों' आदि शब्दों की श्रेणी पृथक् है। यहाँ 'ओं' एक पृथक् तद्धित-प्रत्यय है—'आधिक्य' प्रकट करने के लिए। यहाँ समष्टि-अर्थ नहीं है। 'बीसो' में और 'बीसों' में अन्तर है। 'अनेक' से भी यह 'ओं' होता है। सहस्रों, लाखों, करोड़ों, अरबों आदि। 'बीस' निश्चित संख्या और 'बीसों' अनिश्चित आधिक्य के साथ बीस। 'बीसों' का मतलब 'बीस से ऊपर'। संख्याधिक्य ही प्रकट करने के लिए 'ओ' विकरण संज्ञा-सर्वनामों में लगता है, जब कि 'का' 'ने' आदि विभक्तियाँ सामने हों—बालक को-बालकों को प्रकृति-प्रत्यय के बीच में आने वाले शब्दों को 'विकरण' कहते हैं। 'बीसों' आदि में 'ओं' प्रत्यय है। सभी संख्यावाचक शब्द तथा ये विशिष्ट संख्या-वाचक 'चारो' 'छहो' 'बीसों' आदि पुंस्त्री दोनों वर्गों में समान चलते हैं। 'आ'-प्रत्ययान्त 'दुगुना' 'कितना' आदि भिन्न रूप ग्रहण करते हैं।

'दुगुना' 'तिगुना' आदि में 'आ' 'पुंविभक्ति है; इस लिए बहुवचन में 'ए' तथा स्त्रीत्व में 'ई'—

दुगुना किराया, दुगुने नौकर, दुगुनी आमदनी। कोई-कोई 'दुगना' भी लिखते हैं; पर 'तिगना' 'चौगना' नहीं। यानी 'दुगना' एकमात्र वैसा प्रयोग क्वाचित्क है। 'दु' के अनन्तर दूसरे व्यंजन में भी 'उ' कुछ भला न लगा होगा। 'द्विगुण' आदि तद्रूप संस्कृत विशेषण एकरस रहेंगे ही। 'दुगुना' आदि से संख्या भी प्रतीत होती है, परिमाण भी।

इसी तरह 'कितना' 'उतना' आदि विशेषण संख्या तथा परिमाण प्रकट करते हैं। 'कितने छात्र' और 'कितना दूध'। यहाँ भी पुं-विभक्ति है; इस

लिए वे ही सब रूपान्तर। 'कौन' से 'कितना' विशेषण नहीं है। संस्कृत प्रकृति और संस्कृत ही प्रत्यय यहाँ है! 'किम्' का 'कि' लिया और 'सायन्तन' 'इदानीन्तन' आदि से 'तन' लिया; पुंविभक्ति फिर अपनी लगा दी–'कितना' बना। 'तन' प्रत्यय का अर्थ भी बदल दिया—'परिमाण' कर लिया। नाप-तौल का परिमाण और संख्या का भी परिमाण। हिन्दी में अव्ययों से 'तन' प्रत्यय नहीं होता; 'क' से काम चलता है, जो मूलतः तद्धित-प्रत्यय ही है। 'अद्यतनाः जनाः—'आज के आदमी'। 'अद्यतनी प्रवृत्तिः'—'आज की प्रवृत्ति'। यों अव्यय से बची चीज (तन) सर्वनामों में लगा दी गई, एक काम के लिए। संस्कृत में 'कियान्' 'कियत्' 'कियती' आदि विशेषण बनते हैं। हिन्दी में 'कितना'-'कितने'-'कितनी'। सीधे 'कियत्' से 'कितना' नहीं निकल सकता, जैसा कि लोग समझ लेते हैं! हाँ 'कितता' होता तब अवश्य 'कियत्' का विकास कहा जाता। हिन्दी ने प्रकृति कहीं से लेकर प्रत्यय कहीं से लिया। इसके अनेक उदाहरण निरुक्त में मिल सकते हैं। 'कितना' के वजन पर फिर अपने 'जो' आदि से 'जितना' आदि की टकसाल खड़ी हो गई। 'ओ' को 'इ' भी, 'कितना' के वजन पर। 'वह' का 'उ' हो गया-'उतना'। 'इतना' के मुकाबले 'उतना'। कई बोलियों में 'तितना' भी है। ब्रजभाषा में 'तन' का 'न' उड़ाकर 'त' मात्र प्रत्यय लिया और अपनी 'ओ' पुंविभक्ति—एतो, केतो जेतो। बहुवचन में 'एते-केते' और स्त्रीलिङ्ग में 'एती' आदि। 'इतो' 'कितो' आदि भी चलते हैं और पूरब में 'एत्ता' 'ओत्ता' आदि भी, आद्य स्वर का लघु उच्चारण करके। यहाँ भी 'आ' पुंविभक्ति है—'एत्ता पानी' 'एत्ती मिठाई'।

संख्यांश प्रकट करने के लिए 'पाव' 'आधा' 'पौन' 'सवा' आदि शब्द भी हैं। 'पाव भर आटा'। यहाँ 'पाव' शब्द उस तौल (बाँट) की संख्या या स्वरूप बताता है, जो कि परिमाण (तौल) के लिए नियत है। उतना आटा, उस बाँट की तौल के बराबर। एक 'सेर' के चार हिस्से किए, तो चौथा हिस्सा 'पाव' हुआ। जानवरों के चार पावँ होते हैं। संस्कृत में 'पाद' शब्द है, जिस से 'पावँ' बना; परन्तु किसी चीज का चतुर्थांश बताने के लिए 'पाव' बना। पुंविभक्ति इस लिए नहीं लगी कि खाट के चार आधारों को 'पावा' या 'पाया' कहते हैं। दृढ़ आधार रखनेवाली चीज को 'पायेदार' कहते हैं।

'आधा' शब्द में पुंविभक्ति है ही 'आधे-आधे छात्र दोनो ओर बँट जाएँ' और 'आधी रोटी कौआ ले गया'।

'आधा' को 'आध' भी हो जाता है—आध मन, आधा मन। आध पाव, आधा पाव। आध सेर, आधा सेर। स्त्री लिङ्ग 'आधी' बनाने के लिए पुंविभक्ति जरूरी है—आधा–आधी। 'सत्य' का तद्भव रूप 'सच' भी और पुंविभक्ति से 'सच्चा' भी। 'सच कहो' आदि क्रिया-विशेषणों में 'सच' ही रहेगा; 'सच्चा' नहीं। 'सच बात' का भी चलन है, परन्तु 'सच गवाही है' न होगा-'सच्ची गवाही' होगा। 'सच्चा मामला' और 'सच्ची घटना'। ऐसी जगह 'सच' न रहेगा। 'सच' तथा 'सच्चा' की ही तरह 'आध' और 'आधा' के प्रयोग हैं। 'आधा' से ही 'आधी' बनता है।

इसी तरह 'पौन' और 'पौना' शब्द चलते हैं। 'पौन छटाँक' और 'पौन तोला'। पुंविभक्ति से 'पौने दाम' 'पौनी कीमत'। 'पौन' या 'पौना'–तीन चौथाई, यानी 'पाद' (पाव)—ऊन एक। पाद-ऊन>पौन। 'पाद' के 'द' का लोप और 'आ' तथा 'ऊ' में वृद्धि-सन्धि—पौन-पौना।

'पौना' के वजन पर 'ऊन' के 'उ' को 'औ' करके पुंविभक्ति-'औना'। 'औना' का पृथक् प्रयोग नहीं होता; 'घट-बढ़' या 'कम-ज्यादा' के अर्थ में 'औना-पौना' चलता है। 'अरे भाई, इस समय औने-पौने में जमीन बेच हीं दो; आगे स्थिति ठीक नहीं।' यानी कुछ कम कीमत मिले, तो भी बेच दो। 'औनी-पौनी कीमत में तो मैं माल फेंकूँगा नहीं; आगे यह सवाये दामों जाएगा।'

(ऊन->ऊना>औना)। 'औने-पौने' में 'पौने' के साथ 'औने' देख कर भाषा में सर्वत्र 'रोटी-ओटी' जैसे शब्द चलने लगे। 'औना' को 'पौना' का ही रूपान्तर समझ कर द्विरुक्त शब्द में व्यंजन या स्वर में परिवर्तन करने लगे-'खाट–वाट''। कहीं अन्त्यांश में परिवर्तन 'धूल-धक्कड़'। यह प्रासंगिक।

'पौन' या 'पौना' शब्द जिसके साथ लगता है, उसी की ऊनता प्रकट करता है—'पौने चार रुपए'—ऊनता चौथे रुपए में है; 'चार' में नहीं। तीन रुपए पूरे और चौथे में पाद-ऊन; तीन रुपए-बारह आने। 'चार' में ऊनता हो, तो 'तीन' ही रह जाएँगे।

'साढ़ा' शब्द 'सार्द्ध' से बना है। 'साढ़े चार रुपए'—चार रुपए और आधा रुपया। 'सार्द्ध-चतुष्टय' समझिए। इस 'साढ़े' में भी पुंविभक्ति है; इसी लिए बहुवचन में 'आ' को ए' हो जाता है। सार्द्ध>साढ़+'आ'=साढ़ा। हिन्दी में 'एक और आधे' के लिए 'डेढ़' है और 'दो तथा 'आधा'

है 'ढाई' ('अढ़ाई')। 'डेढ़' और 'ढाई' विशेषणों में विशेष्य ('एक' तथा 'दो') पृथक् नहीं रहते। विशिष्ट शब्द 'डेढ़' तथा 'ढाई' बन गए हैं। 'तीन' से लेकर 'निन्यानबे' तक 'साढ़ा' का 'साढ़े' चलता है। परन्तु 'सवा' का 'सवे' नहीं होता! 'सवा दो गज' 'सवा तीन सेर' ही चलता है। 'सवे दो' 'सवे तीन' नहीं होता। यह क्यों? इस लिए कि जैसे 'सार्द्ध' का विकास 'साढ़' और फिर उस में पुंविभक्ति (ा) लग कर 'साढ़ा' बना है, उस तरह 'सवा' नहीं है। यह विशेषण संस्कृत 'सपाद' का विकास है। 'सपाद' के 'द' का लोप और 'पा' को 'वा'। यानी हिन्दी की पुंविभक्ति यहाँ नहीं है। इसी लिए 'आ' को 'ए' नहीं होता। 'सवा चार रुपए' का मतलब है—चार रुपए, चार आने (पचीस नए पैसे)।

परन्तु 'ऐसा' 'वैसा' आदि प्रकार-वाचक विशेषणों में पुंविभक्ति है; इसी लिए 'ऐसे लड़के' 'वैसे घोड़े' आदि में 'आ' को 'ए' होता है। एक वचन में भी ('ने' आदि विभक्ति के योग में)—'ऐसे लड़के से' 'कैसे लड़के से' 'कैसे लड़के ने'।' स्त्रीलिङ्ग में 'ऐसी लड़की' 'कैसी कथा'। यह पुंविभक्ति की पहचान है। 'ऐसा' 'कैसा' आदि विशेषण मूलतः 'ईदृशः' 'कीदृशः' के विकास हैं। 'ईदृश'>'ऐस' और 'कीदृश'>'कैस'। पूरब में 'ऐस' 'कैस' ही (संज्ञा-पुंविभक्ति से रहित) बोले जाते हैं; जैसे 'मीठ पानी'। परन्तु 'ऐ' का उच्चारण 'अइ' जैसा होता है; जैसा कि संस्कृत 'ऐश्वर्य' आदि में 'ऐ' का। राष्ट्रभाषा में 'ऐ' का उच्चारण 'अय्' जैसा होता है और ब्रज तथा राजस्थान में भी ऐसा ही। 'ऐस' कैस' आदि में राष्ट्रभाषा की पुंविभक्ति लगकर रूप 'ऐसा' 'कैसा' आदि। ब्रज तथा राजस्थान आदि में 'ओ' पुंविभक्ति 'ऐस' 'कैस' में लगकर 'ऐसो' 'कैसो' विशेषण-रूप। बहुवचन में ब्रजभाषा भी खड़ी-बोली की ही तरह 'आ' को 'ए' कर देती है— 'ऐसे छोरे आए'। एकवचन में विशेषण राजस्थानी की तरह और संज्ञा 'खड़ी बोली' की तरह 'ऐसो छोरा मिल्यो'। क्रिया का भी एकवचन रूप राजस्थानी की तरह 'मिल्यो' ओकारान्त। यानी ब्रजभाषा बीच में पड़ती है खड़ी-बोली (मेरठ) और राजस्थानी (जयपुर) के। फलतः दोनो से प्रभावित है। संज्ञा का रूप आकारान्त (एकवचन में) 'छोरा' होनेपर भी विशेषण ओकारान्त रहे गा—'ऐसो'। राजस्थानी में एकवचन की वे संज्ञाएँ भी ओकारान्त चलती हैं, जो राष्ट्रभाषा में आकारान्त हैं—'ऐसो लड़को आयो'। राजस्थानी का बहुवचन है—'ऐसा लड़का आया' 'मीठा

फल खाया'। राष्ट्रभाषा में जो एकवचन का रूप है, वह राजस्थानी में बहुवचन का है। स्त्री-लिङ्ग में सर्वत्र समानता है—ईकारान्त रूप-'ऐसी आई'।

कुछ स्पष्टता से समझिए। प्रदेश-भेद से 'प्रथम-प्राकृत' के ही रूप-भेद हो गए थे तब द्वितीय प्राकृतो में भिन्नता तो और भी अधिक स्पष्ट हो गई होगी। परन्तु सभी प्रादेशिक प्राकृतो में साहित्य नहीं बना। इसी लिए उन सब के उस समय के रूप आज हमारे सामने नहीं हैं। किसी एक ही प्राकृत में सभी प्रदेशों के लोग साहित्य-रचना करने लगते थे। आज भी पर्वतीय प्रदेश (कुमायूँ-गढ़वाल), व्रज, बुँदेलखण्ड, अवध, बिहार, छत्तीस गढ़ (म० प्र०), बघेल-खण्ड आदि की अपनी-अपनी पृथक् प्राकृत-भाषाएँ (बोलियाँ) हैं; पर सब जगह के लोग साहित्य-रचना हिन्दी में करते हैं, जो मूलतः उत्तर प्रदेश के मेरठ आदि दो-ढाई जिलो की प्राकृत-भाषा या 'बोली' है।

खैर, उपलब्ध प्राकृतो में पुल्लिङ्ग-एकवचन रूप ओकारान्त मिलते हैं, और यह 'ओ' संस्कृत पु० एक वचन ('रामः' आदि) के विसर्गों का विकास है। प्राकृतो ने विसर्ग उड़ा दिए थे; कहीं 'ओ' कर लिया और कहीं लोप कर दिया। अधिक खुलासा परिशिष्ट में करेंगे। यहाँ विशेषण-चर्चा में कुछ आवश्यक। एकवचन ओकारान्त रूप राजस्थानी में प्राकृत से आए हैं। उसी पद्धति पर विशेषण, क्रिया तथा संज्ञा-रूप—

	एकवचन	बहुवचन
संस्कृत—	पुत्रः आगतः—	पुत्राः आगताः
प्राकृत—	पुत्तो आगदो—	पुत्ता आगदा
राजस्थानी—	लड़को आयो—	लड़का आया

इस के विपरीत, कुरुप्रदेश मे कोई ऐसी प्राकृत चलती हो गी, जिस में विसर्गों का विकास 'ओ' रूप में न हो कर 'आ' रूप में हुआ हो गा। विसर्ग या उस से मिलती-जुलती ध्वनि 'आ' के रूप में बदलती रहती है—उषः > उषा, ज्यादह > ज्यादा आदि। सो, 'पुत्रः' का 'पुत्तो' रूप जहाँ अन्य प्राकृतों में हुआ, कुरुजन पद में (मेरठ के इधर-उधर) उसका आकारान्त रूप 'पुत्ता' हो गया हो गा। इसी से उस प्राकृत का विकास है, जिस के निखरे हुए रूप को समूचे हिन्द ने ग्रहण कर लिया, जो आज 'हिन्दी भाषा' के रूप में

राष्ट्र द्वारा गृहीत है। कुरुजन पद की द्वितीय प्राकृत के रूप यों सम्भावित हैं—

	एकवचन	बहुवचन
संस्कृत	पुत्रःआगतः	पुत्राः आगताः
प्राकृत	पुत्ता आगदा	पुत्ते आगदे
हिन्दी	लड़का आया	लड़के आये (आए)

'लड़का' की ही तरह 'ऐसा' 'वैसा' आदि विशेषण और 'आया' आदि कृदन्त क्रियाएँ। ब्रज में आकारान्त जातिवाचक संज्ञाएँ रहती हैं, 'खड़ी बोली' की ही तरह। इन के ओकारान्त रूप नहीं होते। हिन्दी में भाषा-विज्ञान के जो ग्रन्थ निकले हैं, उन में यह गलत लिखा है कि 'घोड़ा' जैसी संज्ञाओं के ब्रज में 'घोड़ो' जैसे रूप होते हैं। हाँ, विशेषण अवश्य ओकारान्त (राजस्थानी की तरह) हो जाते हैं। सब को एक जगह देख लीजिए—

	एकवचन	बहुवचन
राजस्थानी	ऐसो लड़को	ऐसा लड़का
ब्रजभाषा	ऐसो छोरा	ऐसे छोरे
खड़ी बोली	ऐसा लड़का	ऐसे लड़के

'ऐसा' की ही तरह सब तद्भव विशेषण रहते हैं।

ऊपर हम ने 'ईदृशः' से 'ऐसा' का विकास बतलाया। परन्तु व्याकरण में विकास-पद्धति से काम नहीं चलता; प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना करके सब समझाया जाता है। अन्यथा, 'वैसा' का विकास कैसे समझाया जाए गा ? सो, 'कीदृशः' आदि विशेषण संस्कृत में कृदन्त हैं; 'दृश्' धातु सामने है। परन्तु हिन्दी में 'देख' धातु है ! 'ईदृशः' से 'ऐसा' समझ में आ जाने पर भी 'वैसा' समझ में न आए गा ! 'वह' सर्वनाम सब समझते हैं। 'वह' से कोई प्रत्यय करके 'वैसा' बताना होगा। 'प्रत्यय' उसी को कहते हैं, जो किसी प्रकृति में लग कर विशेष प्रत्यय कराए। जिस का स्वतन्त्र प्रयोग न हो; जैसे कि 'लिया' में 'य' प्रत्यय है, जो भूतकाल बतलाता है। 'ऐसा' आदि में भी 'स' प्रत्यय कर के 'आ' पुंविभक्ति बतलाई जा सकती थी; परन्तु 'स' का (पुंविभक्ति के साथ 'सा' रूप से) पृथक् प्रयोग भी होता है—

राम का-सा घर
राम के-से वचन

राम की-सी बात-चीत

ब्रज में—

राम को-सो वर
राम के-से वचन
राम की-सी बातचीत ।

ब्रजभाषा-पद्यों में 'राम को-सौ रूप' गलत लिख देते हैं और 'कियौ' 'गयौ' आदि भी गलत ! 'ओ' परम्परा-प्राप्त है । सूर आदि ने 'ऐसो 'कैसो' 'मीठो' आदि प्रयोग किए हैं-'ऐसौ' 'कैसौ' 'मीठौ' जैसे नहीं । ब्रज-जनपद में कहीं 'औ' बोलते होंगे ! पर साहित्यिक ब्रजभाषा में 'राम को-सौ रूप' गलत है । अधिक परिशिष्ट में कहें गे ।

सो, यह 'स' संस्कृत 'सम' का संक्षिप्तरूप है । 'राम सम रूप' और 'राम सा रूप' एक ही चीज है । सम--स + आ (ा)='सा' । ब्रज में 'सो' ।

इस तरह 'ऐसा' आदि समस्त पद ठहरते हैं । 'यह' को 'ऐ' और 'वह' को 'वै' रूप मिल जाता है--'सा' परे आने से । इस का सा-'ऐसा' और उस का सा-'वैसा' । इसी तरह 'कैसा' आदि । छात्रों के लिए ब्रज-व्याकरण बनें गे, तो 'ऐसा' 'वैसा' आदि विशेषणों को 'यह' 'वह' आदि सर्वनामों के सादृश्य-वाचक 'सा' (<सम) से समास कर के बतलाने में सुविधा रहे गी; यह कहना है । 'कड़ा' संज्ञा से, या 'कढ़' धातु से 'कड़ाही' और इसका वृहदर्थक रूप 'कड़ाहा' बताया जाए गा; पर निरुक्त में संस्कृत 'कटाह' का विकास 'कड़ाह' बतलाया जाए गा ।

कहा जा चुका है कि 'खड़ी बोली' की ही तरह ब्रजभाषा में भी बहुवचन और स्त्री-लिङ्ग विशेषण रहते हैं-

जैसे मनोहर राम सखी, सुनु-
तैसी विदेह-सुता मन मोहै ।

'तैसो' का यह 'तैसी' रूप है । ब्रजभाषा में 'वैसो' के साथ 'तैसो' विशेषण भी चलता है । कारण यह कि वहाँ 'वह' के रूप 'वाको' आदि और 'सो' के रूप 'ताको' आदि चलते हैं । जब 'जो' सामने होता है, तब 'सो' रहता है-'जो जागै सो पावै' 'जाको मारा चाहिए बिन लाठी बिन घाव, ताको इहै सिखाइए कि घुइयाँ पूरी खाव' । हिन्दी में भी 'जैसे को तैसा' आदि चलता

है। परन्तु साधारण प्रयोगों में 'सो' नहीं, 'वह' है। वह—उसको। सो-ताहि। 'वह बात नहीं'-हिन्दी में 'वह' संकेत-वाचक विशेषण और 'सो बात नहीं' 'सो' ब्रजभाषा में। 'जो' संस्कृत का 'यः' है। 'य' को 'ज' और विसर्गों को 'ओ'। प्राकृत-परम्परा से आया है। संस्कृत 'सः' का 'सो' है। 'सः' का प्रातिपदिक 'तत्' है। 'सः' के वाद सर्वत्र 'त' है—तौ, तान्, तम्, आदि। ब्रज भाषा में भी 'सो' के बाद सर्वत्र 'त' है—'ताहि' 'ताको' आदि। खड़ी बोली ('हिन्दी') में 'सो' का 'वह' हो गया। 'सो' का विपर्य्यय 'ओस्'>ओस >ओह>'वह'। 'उ' का तरह 'ओ' का भी 'व' होता है। 'वह' का फिर 'उस'—'उसे'—'उसको' आदि।

'हिन्दी' में भी कभी 'सो बात' बोल देते हैं, यह अलग बात। जो तुम ने सुना, वह सब ठीक।' 'यहाँ 'जो' तथा 'वह' सर्वनाम हैं ? 'सब' विशेषण है—'ठीक' का। 'ऐसे न देखो' में 'ऐसे' क्रिया-विशेषण है—'आ' को 'ए'। ब्रजभाषा में 'ऐसो' का 'ऐसे'; कैसो' का 'कैसे' और अवध में 'ऐस' का 'ऐसे' क्रियाविशेषण—'ऐसे कामु न बनी'। उच्चरण 'अइसे'।

'सरिस' तथा 'सरीखा' आदि शब्द हैं, साहश्य-वाचक। 'राम सरिस कोउ नाहीं'—राम के समान कोई है नहीं। यह 'सरिस' 'खड़ी-बोली' के क्षेत्र से अलग विकसित हुआ है; इसीलिए पुंविभक्ति नहीं है। 'सदृश' का विकास 'सरिस' है। 'श' को 'स' और 'दृ' के 'द्' का लोप। 'ऋ' को 'रि' हो ही जाता है। 'सदृश' के ही सहोदर 'सदृक्ष' शब्द से 'सरीखा' बना है। 'सदृक्ष' शब्द सादृश्य के ही लिए आता है—'सुधासदृक्षं मधुरं फलम्'—अमृत के समान मीठा फल। 'सदृक्ष' के 'द्' का लोप और अवशिष्ट 'ऋ' को 'री'; साथ ही 'क्ष' के 'क्' का लोप और बचे हुए 'ष' को 'ख'। आगे लग गई पुंविभक्ति—'सरीखा'। 'ष' को 'ख' कर देने की प्रवृत्ति है ही। सो 'सरीखा' शब्द सादृश्य-बोधक है। इस 'सरीखा' का विकास ब्रजभाषा में 'सारिखो' प्रयुक्त होता है। मध्य की जगह आद्य स्वर दीर्घ और 'ओ' पुंविभक्ति—'दूल्हा राम सारिखो न दूल्ही सिया सारिखी'। परन्तु यह ध्यान में रखने की बात है कि उत्तर प्रदेश के पूर्वीय अञ्चल में ही 'सरीखा' शब्द जन-प्रचलित है; इस लिए उसी ओर के ब्रजभाषा-साहित्य में 'सरीखा' को ब्रजभाषा-सुलभ 'सारिखो' रूप मिला है; अन्यत्र बने साहित्य में दुर्लभता है।

विशेषणों के साथ 'सा' 'से' 'सी' का प्रयोग भी होता है—'यह छोटा-सा लड़का क्या करेगा ?' 'छोटो-सो ढोटो है काको' व्रजभाषा में। व्रजभाषा-काव्य में यह 'ढोटो' राजस्थानी झलक है; जैसे अवधी 'मानस' में 'काम-रूप केहि कारन आया' में 'खड़ी बोली' का 'आया' है। व्रजभाषा में ऐसी संज्ञाएँ आकारान्त ही रहती हैं—'राम साँवरो नगीना है'। (परिशिष्ट में अधिक देखिए।) 'छोटी-सी एक कुटी बन में है'। छोटी ही 'छोटी-सी'।

इसी तरह 'छोटो-सो' समझिए। कुछ कोमलता आ गई है। संस्कृत में 'इव' अव्यय 'वाक्यालंकारे' आ जाता है—'क इव सागरं तरिष्यति कपिः !' कौन-सा वानर समुद्र पार करेगा ! 'इव' की ही तरह यह 'सा' सादृश्य-बोध भी कराता है, संभावना में भी आता है, उत्प्रेक्षा भी करता है—

१—माखन-सा मन कोमल है; परंतु कर्तव्य में वज्र-सा कठोर !

२—वह देखो, एक नदी-सी दिखाई देती है।

३—बड़ा दर्द हुआ ! जान-सी निकल गई। साधारणतः कह सकते हैं कि संस्कृत में 'इव' अव्यय जितने काम करता है, हिन्दी में यह 'सा' भी उतने ही—और वे ही सब—काम करता दिखाई देता है। अन्तर यह है कि 'सा' अव्यय नहीं है। इसे अव्यय मानना बड़ी गलती है—रूप इसके बदलते हैं। संस्कृत के 'सम' का यह तद्भव रूप है। 'सम' तद्रूप भी हिंदी में चलता है; परन्तु उससे संभावना-उत्प्रेक्षा आदि की व्यंजना नहीं होती। न वह 'छोटा-सा' की तरह विशेषणों को ही अलंकृत करता है। इन सब कामों के लिए ही 'सा' अलग निकला है। 'सम' के 'म' का लोप और 'स' में पुंविभक्ति—सा, से, सी। 'सम' (तद्रूप) संस्कृत-शब्द में पुंविभक्ति न लगेगी; परंतु 'स' तो तद्भव हो गया न ! यहाँ पुंविभक्ति अवश्य लगेगी। 'मिष्ट' का 'मीठ' होते ही पुंविभक्ति लगती है—'मीठा पानी अच्छा लगता है'। 'मीठ पानी अच्छा लगता है' न होगा। 'मिष्ट जल किसको न भाता ?' चलेगा। इसी तरह 'घन सम' होगा। तद्भव 'घन सा' होगा, 'घन-स' नहीं।

'सरीखा' पर ये कुछ प्रासंगिक बातें। यहीं यह भी कह देना ठीक है, जैसा कि सब जानते हैं कि रूपक का विषय विशेषण से भिन्न है। 'राम सौंदर्य-सागर है' यह रूपक है। उपमान का भी प्रयोग विशेषण की ही तरह होता है। 'दुनिया क्या ही बाग है' और

'दुनिया के बगीचे में कैसे सुन्दर फूल खिले हैं !' इसी तरह भेदक भी 'राजा का पुत्र वह राम जंगलों में भटकता फिरा'। 'लखनऊ शहर' सामान्य विशेष हैं। 'शहर' सामान्य है। यहाँ विशेषण 'लखनऊ' समझिए। कभी-कभी 'रूपक' न होने पर भी आरोप देखा जाता है—कारण-कार्य मूलक'—

'विद्या परम सुख है'

'विद्या' का विशेषण 'परम सुख', नहीं है, 'कार्य' है। विद्या से परम सुख होता है। 'परम सुख' विद्या की विशेषता नहीं बतला रहा है। 'सात्त्विक विद्या' 'तामस विद्या' यहाँ 'सात्त्विक' तथा 'तामस' शब्द विद्या की विशेषता जरूर बतलाते हैं। परन्तु 'विद्या परम सुख है' में यह बात नहीं। वहाँ कार्य-कारण भाव विवक्षित है। विद्या को परम सुख का कारण बतलाना अभीष्ट है। इस लिए, यह विशेषण नहीं। हिन्दी के 'व्याकरणों' में 'राम मूर्ख है' इत्यादि प्रयोगों में 'मूर्ख' जैसे शब्दों को 'पूरक' नाम दिया गया है। 'मूर्ख लड़का दुख पाता है' में 'मूर्ख' विशेषण है; परन्तु 'लड़का मूर्ख है' कहा जाए, तो 'मूर्ख' पूरक है; ऐसा 'प्रवाद'! परन्तु 'ब्रजभाषा का व्याकरण' प्रकाशित होने के अनन्तर प्रवाह बदल गया। 'मूर्ख लड़का दुख पाता है' में विशेषण उद्देश्य-रूप से है और 'लड़का मूर्ख है' में 'मूर्ख' विशेषण 'विधेय' रूप से है। कुछ स्पष्टता से—'विधेय-विशेषण'।

जब किसी की विशेषता का विधान करना हो, तो विशेषण विधेय रूप से आता है। विधेय का पर-प्रयोग होता है, उद्देश्य का पूर्व-प्रयोग; यह सामान्य विधि। 'अच्छा लड़का पढ़ता है' में 'अच्छा' विशेषण लड़के की विशेषता बतलाता है—उद्देश्य-विशेषण है। परन्तु 'राम अच्छा लड़का है' में 'अच्छा' 'विधेय—विशेषण' है। 'यह लड़का दुष्ट है' में 'दुष्ट' 'विधेय विशेषण' है। 'लड़का अच्छा है, पढ़ता है' में भी 'अच्छा' 'विधेय—विशेषण' है परन्तु 'लड़का अच्छा पढ़ता है' में 'अच्छा' क्रिया-विशेषण है; क्रिया की विशेषता बतला रहा है। क्रिया-विशेषणों का उल्लेख पुस्तक के उत्तरार्द्ध में होगा।

विधेय-विशेषण को हिन्दी—व्याकरणों में पहले 'पूरक' कहा करते थे। जब 'ब्रजभाषा का व्याकरण' छपा, तब स्थिति बदली। व्याकरणों में संशोधन होने लगे; परन्तु एक प्रमुख वैय्याकरण ने 'विधेय विशेषण' स्वीकार करके भी 'उद्देश्य-विशेषण' को 'विशेष्य-विशेषण' नाम दिया है! विशेष्य के

विशेषण तो सभी हैं ! 'विधेय'-विशेषण जिस की विशेषता पर जोर देता है, वह क्या 'विशेष्य, नहीं है ? 'राम अच्छा पढ़ता है' में 'अच्छा' (विशेषण) का विशेष्य 'पढ़ना' क्रिया है। सो, 'विशेष्य-विशेषण' नाम गलत है। 'विधेय-विशेषण' और 'उद्देश्य-विशेषण' नाम ठीक हैं।

प्रविशेषण

विशेषणों के भी विशेषण होते हैं—'बहुत अधिक पढ़ना भी अच्छा नहीं होता।' 'अधिक' विशेषण है और उसका भी विशेषण है 'बहुत'। इसे 'प्रविशेषण' कहना चाहिए। इसे 'अन्तर्विशेषण' कहा करते थे, जो अन्वर्थ नहीं; भ्रामक भी है।

संस्कृत में व्यधिकरण विशेषण भी होते हैं—नगरस्य जनाः प्रायः धूर्ताः भवन्ति'। यहाँ 'जनाः' का व्यधिकरण विशेषण 'नगरस्य' है। इसे समानाधिकरण से 'नागराः जनाः प्रायः धूर्ताः भवन्ति' भी बोलते हैं। परन्तु हिन्दी में 'शहरी' और 'शहर के' दोनो ही 'समानाधिकरण' हैं। 'शहरी' में स्पष्ट विशेषता भरी है।

'राजा के घोड़े को मैं ने देखा'। यहाँ 'राजा का' शब्द 'घोड़े' का 'भेदक' है। 'राजकीय अश्व' और 'राजा का अश्व' एक ही बात है। 'राजकीयः अश्वः'—'राजाका घोड़ा'। 'राज्ञः अश्वः' कह देने से इतना अन्तर अवश्य आ जाता है कि विधेयता दबती नहीं है। 'अयं राज्ञः अश्वः अस्ति' को 'अयं राजाश्वः अस्ति' कहना ठीक न होगा। स्वामित्व की विधेयता समास में दब जाती है। यदि विधेयता विवक्षित न हो, तब 'राजाश्वाश्चरन्ति'—'राजा के घोड़े घूम रहे हैं' समासगत भेदक-भेद्य भी ठीक होगा। हिन्दी में 'राजाश्व अच्छे हैं' होता ही नहीं। 'राजा के घोड़े अच्छे हैं' चलता है। यह भेद्य-भेदक चीज पहले बतलाई जा चुकी है।

कभी-कभी पूरा वाक्य का वाक्य किसी का विशेषण होता है—'वह लड़का आ गया, जिस ने उस दिन सभा में वह कविता सुनाई थी।' उत्तर वाक्य 'लड़के' का 'उद्देश्य-विशेषण' है। कभी-कभी अनेक वाक्य किसी एक के विशेषण बन जाते हैं। सो, यह न समझना चाहिए कि विशेषण 'शब्द' ही होते हैं। पूरे वाक्य भी विशेषण होते हैं।

विशेषण और भाववाचक संज्ञा

विशेषण से भाववाचक संज्ञा और भाववाचक संज्ञा से विशेषण या 'भेदक' तद्धित-प्रत्ययों के द्वारा बनाने-चलाने की प्रवृत्ति भाषा में है। दूसरी संज्ञाओं से भी 'भेदक'-'विशेषण' शब्द बनते हैं—'भारत' से 'भारतीय' और 'हिन्दुस्तान' से 'हिन्दुस्तानी' आदि। परन्तु यहाँ हमें केवल 'भाववाचक' संज्ञा का जिक्र करना है।

विशेषणों से बनी भाववाचक 'चातुर्य' आदि से फिर 'चातुर्यवान्' विशेषण बनाना एकदम मूर्खता है! सीधे 'चतुर' का ही प्रयोग हो गा। परन्तु कृदन्त 'ज्ञान' आदि भाववाचक संज्ञाओं से 'ज्ञानी' आदि अनन्त विशेषण बनते-चलते हैं। 'राम में ज्ञान है' और 'राम ज्ञानी है' एक ही बात है। प्रयोजन-भेद से उभयविध प्रयोग होते हैं—समान स्थिति में इच्छानुसार!

इस देश में निरक्षर न रहेंगे

और—

इस देश में निरक्षरता न रहे गी

इन दोनो वाक्यों में कितना अन्तर है! निरक्षरता का मिट जाना एक बात है और निरक्षरों का मिट जाना दूसरी चीज है। इसी लिए तो भाषा में विशेषण तथा भाववाचक संज्ञा-शब्दों की पृथक्-पृथक् सृष्टि है। चने की जगह चने काम आएँ गे और बेसन की जगह बेसन। चने का बेसन बना लें गे—विशेषण से भाववाचक संज्ञा बनाएँ गे—

चतुर-चतुराई, निपुण-निपुणता

परन्तु 'चतुराई' से फिर विशेषण 'चतुराई वाला' न बने गा। बेसन से फिर चने न बनें गे। यह सब 'तद्धित' का विषय है। विशेषता प्रकट करने के लिए निसर्गतः भाववाचक संज्ञाओं से विशेषण जरूर बनाए जाते हैं—'राम खूब अध्ययनशील है'। 'अध्ययन' भाववाचक संज्ञा से 'अध्ययनशील' विशेषण बना लिया, विशेषता प्रकट करने के लिए। 'अध्येता' में वह बात नहीं, जो 'अध्ययनशील' में है। 'अध्ययनशील' की जगह हिन्दी की 'पढ़ना' भाववाचक संज्ञा से 'पढ़नेवाला' नहीं चल सकता। मतलब ही न निकले गा। 'पढ़ाकू' बहुत भोंड़ा! अवज्ञा में 'पढ़ाकू' कह सकते हैं—'बड़ा पढ़ाकू बना है!'

इसी तरह संज्ञाओं से भी विशेषण बनाए जाते हैं—'प्रज्ञावान् जन दूर तक दृष्टि रखते हैं।'

पहले हम लिख आए हैं कि संस्कृत के 'सुन्दर' 'मधुर'–'मूर्ख' आदि विशेषण हिन्दी में समान-रूप रहते हैं—विशेष्य के 'वचन' या 'वर्ग' का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। 'सुन्दर बालक' 'सुन्दर बालिका'। 'सुन्दर बालक पढ़ता है—सुन्दर बालक पढ़ते हैं।' इसी तरह 'मूर्ख बालक' और 'मूर्ख बालिका' आदि। सभी अकारान्त विशेषणों के लिए यह सीधा मार्ग है।

परन्तु संस्कृत के व्यञ्जनान्त विशेषणों के रूप वर्गभेद से भिन्न हो जाते हैं—'विद्वान् बालक'—'विदुषी कन्या'। 'विद्वान् कन्या' अच्छा नहीं लगता। इसी तरह 'गुणवान् पुत्र' और 'गुणवती कन्या'। 'महती वृष्टि' जैसे कम प्रयोग होते हैं, तो 'महान् वृष्टि' भी अच्छा नहीं लगता। इसी लिए 'बड़ी बरसा हुई' 'खूब बरसा हुई' या 'अत्यधिक वर्षा हो गई' जैसे प्रयोग होते हैं। 'महती वृष्टि' अच्छा न लगने का कारण यह हो सकता है कि हिन्दी में 'महत्' का प्रयोग प्रायः समास में ही अधिक होता है—महामूर्ख, महापण्डित, महाराज, महोदय, महाशय, इत्यादि। इस का फल यह हुआ कि 'महा' शब्द ही लोग विशेषण रूप से लिखने लगे—'हाय सखा दुख पाए महा, तुम आए इतै न, कितै दिन खोए!' 'खड़ी बोली' में भी बोलचाल में—'अरे, यह महा नालायक है!' यों विदेशी शब्द तक का विशेषण 'महा' लगा देते हैं। इसी प्रवृत्ति से 'बुढ़िया महा कंजूस है' यों भी बोलते हैं। यानी 'महा' को तद्भव मान कर प्रयोग चलते हैं। पुंवर्ग में तो 'महान् पण्डित है' चलता ही है; 'स्त्री महती विदुषी है' नहीं बोलते। 'महाविदुषी' चँचता है। 'गुणवती' आदि प्रयोग अच्छे लगते हैं; क्योंकि लड़कियाँ 'ज्ञानवती' 'विद्यावती' आदि नामों से दिन-रात पुकारी जाती हैं।

उद्देश्य-विशेषण, विधेय-विशेषण तथा क्रिया-विशेषण के प्रयोग में सावधानी अपेक्षित है। नीचे कुछ उदाहरण लीजिए—

१—अच्छी पुस्तकें खरीदो

२—पुस्तकें अच्छी खरीदो

दोनो जगह विशेषण उद्देश्य-रूप हैं; परन्तु दूसरे उदाहरण में अच्छेपन पर जोर अधिक है। यह पर-प्रयोग का फल है। प्रथम उदाहरण में उसी विशेषण का पूर्व-प्रयोग है; साधारण।

१—ये पुस्तकें मुझे अच्छी लगीं

२—ये पुस्तकें अच्छी नहीं हैं

दोनो जगह 'विधेय-विशेषण' हैं।

१—ये पुस्तकें मैं अच्छी तरह समझता हूँ

२—इन पुस्तकों को मैं अच्छा समझता हूँ

यहाँ दोनो जगह क्रिया-विशेषण हैं—'समझने' की विशेषता स्पष्ट है। 'इन पुस्तकों को मैं समझता हूँ' ऐसा निर्विशेष प्रयोग साधारण है। 'अच्छा समझता हूँ' में जोर है—'खूब समझता हूँ'। यह बात संज्ञा-विशेषण कर देने से न बने गी—

१—ये पुस्तकें मैं अच्छी समझता हूँ

२—वेद मैं अच्छे समझता हूँ

ये दोनो प्रयोग ठीक नहीं। संज्ञा-विशेषण होने से क्रिया में कोई विशेषता नहीं जान पड़ती। क्रिया-विशेषण साधारणतः पुंवर्ग-एकवचन में रहता है और संज्ञा में 'को' लग जाने पर उस का विशेषण भी—

१—वेदों को मैं अच्छा समझता हूँ

२—इन पुस्तकों को मैं अच्छा समझता हूँ

यों समझने की या 'वेदों' की विशेषता व्यक्त हो गी। 'तरह' शब्द स्त्री-लिङ्ग है और 'अच्छा' शब्द उस के साथ लगा कर 'अच्छी तरह' क्रिया-विशेषण है—

वेदों को मैं अच्छी तरह समझता हूँ।

'ये पुस्तकें मैं अच्छी समझता हूँ' में 'अच्छी' यदि संज्ञा-विशेषण है; तो चाहिए—'मैं समझता हूँ, ये पुस्तकें अच्छी हैं'। ('छात्र खड़े कर दो' की अपेक्षा 'छात्रों को खड़ा कर दो' अधिक अच्छा है।)

इसी तरह 'लड़कियों को खड़ा कर दो' आदि। परन्तु 'खड़ा कर दो' में 'खड़ा' विशेषण नहीं है। संयुक्त किया है। 'खड़ा करना' एक क्रिया है, केवल 'करना' नहीं।

क्रिया में विशेषण का भ्रम

अनेक जगह शब्दान्तर में लोगों को विशेषण का भ्रम हो जाता है ! काम के भेद से ही नाम का भेद होता है। कोई व्यक्ति जब कपड़े की दुकान कर लेता है, तो उसे लोग 'बजाज' कहते हैं और वही व्यक्ति जब मिठाई की दुकान कर लेता है, तब 'हलवाई' कहलाता है। यही स्थिति शब्द-जगत् की है। 'अच्छा लड़का जाता है' में 'अच्छा' उद्देश्य-विशेषण है और 'यह लड़का अच्छा है' कहें, तो 'अच्छा' विधेय-विशेषण। 'लड़का अच्छा गाता है'—'लड़की अच्छा गाती है' यहाँ 'अच्छा' क्रिया-विशेषण है।

'राम आया है' 'सीता आई है' 'लड़के आते' हैं' इत्यादि प्रयोगों में लोगों को भ्रम हुआ है कि 'आया' 'आई' 'आते जैसे शब्द विशेषण हैं, (राम' 'सीता' तथा 'लड़के') कर्ता-कारकों के। वे 'हैं' को ही क्रिया मानते हैं ऐसी जगह ! यह विशेषण-भ्रम साधारण जनों को नहीं, बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों के विभागाध्यक्षों को हुआ है ! यही नहीं, यह भ्रम संस्कृत के मत्थे भी मढ़ दिया गया है ! प्रयाग-विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष विद्वद्वर डा० बाबूराम सक्सेना ने संस्कृत के बारे में लिखा है कि 'आगतः' 'सुप्तः' आदि विशेषण ही हैं। 'बालकः आगतः' 'बालिका सुप्ता' आदि में 'आगतः' 'सुप्ता' विशेषण हैं; यह धारणा !

यह धारणा कैसे बनी ? बात यह हुई कि पहले हिन्दी-क्रियाओं को 'कृदन्त'—'तिङन्त' भेदों से विभाजित नहीं किया गया था। इसी लिए 'रामः करोति' के अनुसार 'राम करता है' को कर्तृवाच्य कह कर 'राम ने काम किए' आदि को भी ('रामः अकरोत्' जैसा समझ कर) 'कर्तृवाच्य' लिख दिया जाता था ! जब अन्यभाषा-भाषियों ने कहा कि 'भई, हिन्दी में बहुत गड़-बड़ है। 'राम काम करता है' और 'सीता काम करती है' यह 'करता'—'करती' क्या बला है ? क्रिया तो उभयत्र एक-रूप रहनी चाहिए !'' तब हिन्दी के विद्वान् गड़बड़ाए। कहना शुरू कर दिया कि 'करता' 'करती' तो 'राम' और 'सीता' के विशेषण हैं; क्रियाएँ नहीं हैं। क्रिया तो 'है' स्पष्ट है, जो दोनो जगह एक-रूप है।' ऐसा कह कर जान बचाई ! मैं १९३० तक हिन्दी के स्वरूप-विवेचन में लगा रहा। मैं भी १९१९ में 'रामः पुस्तकम् अपठत्' के ही अनुसार 'राम ने पुस्तक पढ़ी' समझता था और चक्कर में था कि 'राम पुस्तक पढ़ता है' में 'पढ़ता' है; तब 'राम ने पुस्तक पढ़ी' में 'पढ़ी' क्यों ! १९२५ तक सब स्पष्ट हो गया और 'ने' विभक्ति को (संस्कृत 'बाल-

केन' के 'इन' का रूपान्तर) समझते ही सब भ्रम दूर हो गए। १९३० आते-आते मैं वेधड़क हो कर 'राम ने पुस्तक पढ़ी' जैसी क्रियाओं को 'कृदन्त कर्मवाच्य' कहने लगा; दबंगपन से बताने लगा ! आचार्य द्विवेदी ने भी मेरे मार्ग की पुष्टि कर दी। तब और भी हिम्मत बढ़ी। आगे १९४३ में 'व्रजभाषा का व्याकरण' प्रकाशित कराया, जिस में हिन्दी के सभी व्याकरणों पर सुविस्तृत विचार कर के कहा कि हिन्दी का कोई व्याकरण अभी तक बना ही नहीं है ! 'तिङन्त'-'कृदन्त' क्रियाओं का पूर्ण विश्लेषण यहाँ हुआ। आगे फिर 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' लिखा, तो बात और भी स्पष्ट हो गई। परन्तु मेरी पुस्तकें जिन लोगों ने अब तक भी नहीं पढ़ी हैं, वे उसी अन्धकार में हैं ! 'हिन्दी-व्याकरण' में 'गुरु' जी ने भी 'राम ने रोटी खाई' को 'कर्तृवाच्य' लिखा था। जब मैं ने वैसी क्रियाओं को कृदन्त बताकर कहा कि वे वैसी क्रियाएँ कर्मवाच्य हैं, तब अगले संस्करण में संशोधन ऐसा किया गया कि पहले से भी अधिक झमेला बढ़ गया ! पहले "क्रिया जब कर्ता के अनुसार हो, कर्ता के अनुसार उस के लिङ्ग-वचन आदि हों, तो 'कर्तृवाच्य' कहलाती है" यह लक्षण लिख कर भी 'राम ने रोटी खाई' को 'कर्तृवाच्य' बतलाया जाता था। 'हिन्दी-व्याकरण' के संशोधित संस्करण में यह प्रतिपादन हुआ—

'राम ने रोटी खाई' कर्तृवाच्य, कर्मणि प्रयोग।'

क्या समझे ? कोई क्या समझे ? मैं ने कहा था कि 'राम ने रोटी खाई' स्पष्ट 'कर्म-वाच्य' है, कर्तृवाच्य' नहीं। कर्म के अनुसार क्रिया है—'खाई'। 'गुरु' जी ने संशोधित संस्करण में 'कर्तृवाच्य' (अपना) रखा और 'कर्मणि प्रयोग' मेरा लिया ! उन का कहना यह कि यहाँ 'कर्मणि प्रयोग' हैं, क्रिया कर्म के अनुसार है और 'कर्तृवाच्य' है ! 'कर्मणि प्रयोग' है और 'कर्तृवाच्य' है ! 'गुड़ नमक की तरह है और मीठा है' कहा जाए, तो क्या समझा जाएगा ? उसी तरह 'गुरु' जी का संशोधन है ! पहले लिख चुके थे—'राम ने रोटी खाई' कर्तृवाच्य, तब अब उसे कर्मवाच्य कैसे लिखते ! परन्तु यह भी लिख दिया कि क्रिया कर्म के अनुसार है—'कर्मणि प्रयोग' है—'राम ने रोटी खाई'।

ऊपर उदाहरण-रूप में गुरु जी का उल्लेख किया है। यही प्रवृत्ति बीसवीं शताब्दी के इस उत्तरार्द्ध में भी हिन्दी-जगत् में चल रही है ! दो और

दो 'तीन' या 'पाँच' याद कर-करा रहे थे ! बतलाया गया कि देखो, ये दो और ये दो, मिल कर 'चार' हुए; गिन लो। तब याद करने-कराने लगे–"दो और दो होते तीन ही हैं; पर 'तीन' को कुछ लोग 'चार' भी कहते हैं।' यानी 'चार' को हम 'तीन' कहते हैं !

यही बात कृदन्त क्रिया और विशेषण की है। या तो लोग अब भी समझ नहीं पाए हैं और या जान-बूझ कर भ्रम फैला रहे हैं।

कृदन्त क्रिया और विशेषण की स्पष्टता

कृदन्त क्रिया का और कृदन्त विशेषण का स्पष्ट विभाजन है। जब क्रिया में प्रधानता हो, तो उसे 'विशेषण' कहना गलती। 'भावप्रधानमाख्यातम्'—क्रिया की प्रधानता में 'आख्यात' होता है। 'आख्यात' को हिन्दी में 'क्रिया-पद' कहते हैं। क्रिया-प्रकरण आगे आएगा। हिन्दी की भी (संस्कृत की ही तरह) तिङन्त-क्रियाएँ पुलिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग में समान रहती हैं—'राम पढ़े' 'सीता पढ़े'। उभयत्र 'पढ़े' है। 'राम चतुर है' 'सीता चतुर है'। उभयत्र 'है' समान है। परन्तु कृदन्त क्रिया में पुंस्त्री-भेद होता है—

१– 'राम आया है'–'सीता आई है'
२—'राम आता है'–'सीता आती है'

यहाँ 'आया'–'आई' कृदन्त क्रियाएँ हैं और 'है' तिङन्त क्रिया है, सहायक रूप से, काल-विशेष द्योतन करने के लिए। यही बात 'आता'-'आती' में तथा 'है' में है। यानी ये कृदन्त-तिङन्त संयुक्त-क्रियाएँ हैं। 'आना' मुख्य क्रिया है और 'है' सहायक। संस्कृत में भी इसी तरह—बालकः सुप्तः अस्ति–बालिका सुप्ता अस्ति, कृदन्त-तिङन्त संयुक्त-क्रियाएँ चलती हैं। 'सुप्तः'–'सुप्ता' कृदन्त और 'अस्ति' तिङन्त। 'राम आया है' में केवल 'है' क्रिया नहीं है—'आया है' क्रिया है। 'आने' का विधान है; क्रिया पर जोर है।

यदि क्रिया पर जोर न हो, विधेयता अन्यत्र हो, तब 'कृदन्त-विशेषण' समझिए—

आए हुए राम को काम सौंपो
आई हुई सीता को काम सौंपो

यहाँ 'आया' कृदन्त-विशेषण है। 'आए' 'आया' का ही रूप है। 'आ' को 'ए' और य् का लोप। विभक्ति आगे 'को' है; इस लिए 'आ' को 'ए'

हो गया है। 'आया' का स्त्री-लिङ्ग रूप 'आई'–'सीता' का विशेषण। यहाँ 'आया' कृदन्त विशेषण है; क्योंकि वाक्य में 'आने' को विधेयता प्राप्त नहीं है। यानी 'आया' में क्रियात्व रहने पर भी उपसर्जनीभूत है। परन्तु—

'राम आता है'–'सीता आती है'

क्रियाएँ कृदन्त-तिङन्त (संयुक्त) हैं। 'आता'-'आती' कृदन्त मुख्य क्रियाएँ हैं और 'है' तिङन्त, सहायक क्रिया। यहाँ 'आता'-आती' विशेषण 'राम'-'सीता' के नहीं हैं; क्योंकि 'आने' पर जोर है, 'आने' का ही विधान है। यदि ऐसा न हो, 'आना' उपसर्जनीभूत हो जाए, तो 'विशेषण' हो गा—

यहाँ आता हुआ राम दिखाई दिया
यहाँ आती हुई सीता दिखाई दी।

यहाँ 'दिखाई देना' मुख्य क्रिया है। 'आता'-'आती' विशेषण हैं 'राम'-'सीता' के। इन विशेषणों में भी क्रियांश है; पर उस पर विधेयता नहीं है। विधेयता है 'दिखाई देने' पर। संस्कृत में भी—

रामः अत्र सुप्तः अस्ति
सीता अत्र सुप्ता अस्ति

इन वाक्यों में 'सुप्तः' 'सुप्ता' कृदन्त क्रियाएँ हैं और 'अस्ति' सहायक क्रिया। परन्तु—

सुप्तं रामं तत्र अपश्यम्
उपविष्टां सीतां तत्र अपश्यम्

(सोए हुए राम को मैं ने वहाँ देखा)
(बैठी हुई सीता को वहाँ मैंने देखा)

यहाँ 'सुप्त' तथा 'उपविष्टा' विशेषण हैं 'राम' और 'सीता' के।

जो लोग 'राम आता है' 'राम आया है' आदि में 'आता' 'आया' को विशेषण समझे बैठे हैं, वे—'राम आया' 'सीता आई' जैसे वाक्यों में क्या करें गे? यहाँ क्रिया कौन-सी है? 'आया' 'आई' को तो वे विशेषण कहें गे न! 'है' क्रिया का अध्याहार भी नहीं; क्योंकि आसन्न भूतकाल नहीं, सामान्य भूतकाल का प्रयोग है। 'है' लगा देने से तो 'सामान्य भूत' काल

रहे गा ही नहीं, 'आसन्न भूत' हो जाए गा। तब क्रिया कहाँ ? सब भ्रम-जाल है, और बड़े लोगों में है; इस लिए इतना लिखना पड़ा।

'विशेषण' और 'भेदक'

विशेषण की ही तरह 'भेदक' का भी प्रयोग होता है। जैसे विशेषण विशेष्य की तरह चलता है, उसी तरह 'भेदक' 'भेद्य' की तरह। संस्कृत में कहा है—

'षष्ठ्युत्पत्तिस्तु भेदकात्'

षष्ठी विभक्ति 'भेदक' में लगती है। विशेषण की ही तरह 'भेदक' भी भेद या व्यावृत्ति करता है। 'लड़का हुआ' कहने से पता नहीं चला कि किस के लड़का हुआ। परन्तु 'भेदक' से भेद खुल जाता है—

रामस्य बालकः अभवत्
(राम के लड़का हुआ)
तव बालिका अभवत्
(तेरे लडकी हुई)
आत्मनः चतस्रः कन्याः सन्ति
(अपने चार कन्याएँ हैं)

सर्वत्र 'भेदक' में षष्ठी (संबन्ध-विभक्ति) लगी है।

परन्तु जब तद्धित-प्रत्यय से 'भेदक' कहा जाता है, तब उसमें 'विशेषण' का भ्रम हो सकता है—

त्वदीया कन्या पठति
तेरी कन्या पढ़ती है

+ + +

त्वदीयाः पुत्राः पठन्ति
तेरे लड़के पढ़ते हैं

+ + +

यहाँ 'त्वदीया कन्या' और 'तेरी कन्या' में 'त्वदीया' तथा 'तेरी' भेदक हैं, 'कन्या' के। 'कन्या' भेद्य है। इसी तरह 'त्वदीयाः' तथा 'तेरे' भेदक हैं 'पुत्राः' तथा 'लड़के' भेद्यों के। 'कन्या पढ़ती है' 'लड़के पढ़ते हैं' कहने से

स्पष्टता नहीं कि वह पढ़ने वाली 'कन्या' किस की है और 'लड़के' किस के हैं! 'त्वदीया' तथा 'तेरे' भेदकों से भेद खुल जाता है। परन्तु—

१—सुशीला कन्या पठति (सुशील लड़की पढ़ती)
२—अच्छे लड़के पढ़ते हैं, बुरे लड़के दुख पाते हैं

यहाँ 'सुशील कन्या' 'सुशील लड़की' तथा 'अच्छे लड़के' प्रयोगों में विशेष्य-विशेषण हैं; भेद्य-भेदक नहीं। 'सुशीलता' कन्या में है और 'अच्छा-पन' लड़कों में है। परन्तु 'तेरी कन्या पढ़ती है' में 'तू' और 'कन्या' भिन्न-भिन्न हैं। 'राम के लड़के' में 'राम' और 'लड़के' अलग-अलग हैं। इसी तरह—

पहाड़ के लड़के, पहाड़ की लड़की, पहाड़ का लड़का

'क' प्रत्य से पहाड़ के लड़के, पहाड़ की लड़की, पहाड़ के लड़के।

यदि विशेषता बतलानी हो, तो 'ई' प्रत्यय से—'पहाड़ी लड़की है'। कोई विशेषता कहनी हो, तब यह विशेषण कहा जाए गा। 'नागपुरी सन्तरे'। 'लखनऊ के खरबूजे' में 'लखनऊके' विशेषण है। यानी कोई विशेषता लिए हो, तो विशेषण और संबन्ध मात्र हो, तो भेदक।

सौवर्णं कङ्कणम् (संस्कृत)
सोने का कंकण (हिन्दी)

यहाँ 'सौवर्ण' तथा 'सोने का' विशेषण हैं। यानी तद्धित-प्रत्यय से भेदक भी बनता है, विशेषण भी। सुवर्ण कङ्कण में ओतप्रोत है। इसी लिए 'विशेषण'। 'लोहे की जंजीर' में 'लोहे की' विशेषण है, 'जंजीर' का; इसी लिए स्त्री-लिङ्ग। आकारान्त पुल्लिङ्ग संज्ञा से परे तद्धित-प्रत्यय आता है, तब (प्रकृति के) अन्त्य 'आ' को 'ए' हो जाता है—'सोने की करधनी' 'लोहे के कड़े'। 'सोनेकी' और 'लोहेके' विशेषण हैं।

यानी जब चीज की विशेषता के कारण व्यावृत्ति हो, तो विशेषण और संबंध-विशेष से व्यावृत्ति हो, तो 'भेदक'। काम दोनो का एक है। मोटे तौर पर 'भेदक' को भी विशेषण कहा-समझाया जा सकता है; या भेदक को 'एक तरह का विशेषण' कहा जा सकता है। 'विशेषणकल्प' कह सकते हैं। बच्चों को तो साधारण विशेष्य-विशेषण बतला देना ही पर्याप्त है। परन्तु प्रौढ़ ग्रन्थों में भेद जरूरी है। इसी लिए यहाँ इतना कहा गया।

इतना निश्चय है कि—

तेरा लड़का (संस्कृत-त्वदीयः पुत्रः)
तेरी लड़की (संस्कृत-त्वदीया कन्या)
मेरे लड़के (संस्कृत-मदीयाः पुत्राः)
हमारा लड़का (संस्कृत-अस्मदीयः पुत्रः)
राम का कपड़ा (रामस्य वस्त्रम्)

आदि में 'तेरा' आदि भेदकों को विशेषण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इनसे संबंध मात्र की प्रतीति होती है। यदि ये 'विशेषण' होते, तो पृथक् 'भेदक' नाम की जरूरत ही क्या थी ! परन्तु संस्कृत के वैयाकरणों ने 'भेदक' को भी 'विशेषण' ही मान लिया है—सभी भेदक विशेषण—

'भेद्यं विशेष्यमित्याहुर्भेदकं तु विशेषणम्।'

और—

'षष्ठ्युत्पत्तिस्तु भेदकात्'

'विशेष्य को ही भेद्य कहते हैं और विशेषण को भेदक कहते हैं। भेदक में षष्ठी विभक्ति लगती है—'तव पुत्रः' 'रामस्य पुत्रः'। षष्ठी का अर्थ तद्धित-प्रत्यय से भी निकलता है; यानी भेदक तद्धितान्त भी होता है—'त्वदीयः पुत्रः'—'तेरा लड़का'। पर भेदक की तरह विशेषण से तो षष्ठी होती नहीं, न संबंध-प्रत्यय ही। 'नील कमल' में 'नील' विशेषण है। यदि सभी विशेषण भेदक हों, तो 'नील' में भी षष्ठी लग जाएगी और 'नीलं कमलम्' की जगह 'नीलस्य कमलम्' होने लगेगा ! 'नीला कमल' की जगह 'नीले का कमल' कौन बोलता है ? जब 'भेद्य' को विशेष्य और भेदक को विशेषण या विशेष्य को भेद्य और विशेषण को ही भेदक कहते हैं तो फिर 'षष्ठ्युत्पत्तिस्तु भेदकात्' गड़बड़ा जाता है। कहा यह जा सकता है कि 'भेदक' षष्ठीयुक्त होता है —

तव पुत्रः—त्वदीया पुत्री
हिन्दी — तेरा लड़का—तेरी लड़की

ये 'संबंध' से भेदक हुए। परन्तु विशेषण में षष्ठी नहीं लगती। यह दूसरी बात है कि भेदक कहीं विशुद्ध 'भेदक' ही रहे और कहीं विशेषण भी बन जाए। 'तेरा लड़का' 'तेरी लड़की' में 'तेरा'—'तेरी' भेदक ही हैं।

परन्तु 'क' 'र' 'न' से भिन्न तद्धित (संबंध-) प्रत्यय विशेषता अवश्य सूचित करते हैं और इसीलिए उनसे बने शब्द विशेषण हो सकते हैं—

बनैले पशु—वन्य पशु, गँवारू कपड़े

नागपुरी संतरे—बनारसी साड़ी आदि।

कभी-कभी 'क' से भी—'लखनऊ के खरबूजे'। लखनऊ की विशेषता खरबूजों में है। यदि संबंध मात्र का विशेषता मान लें, तब अवश्य सभी भेदक विशेषण कहलाएँगे। जैसी रुचि हो, जैसा ठीक समझें। यह भेद्य-भेदक तथा विशेष्य-विशेषण का विषय विचारणीय है।

सर्वनाम

संसार के प्राणियों के नाम रखे गए। फिर अलग-अलग (व्यक्तिशः) सब के नाम रखे गए। पदार्थों के नाम रखे गए। इन सब के गुणों के तथा भावों के नाम रखे गए। बड़ा विस्तार हो गया शब्दों का! सब के अलग-अलग 'नाम'—जो 'संज्ञा' शब्द से भी जाने जाते हैं। व्यवहार में सुगमता, स्पष्टता तथा सुन्दरता लाने के लिए फिर कुछ थोड़े से ऐसे शब्द गढ़े गए, जो सभी नामों के बदले आ सकें। इन्हें 'सर्वनाम' नाम मिला। सब के नाम 'सर्वनाम'। राम भी अपने को 'मैं' कहता है—'मैं घर गया' और आप भी अपने को 'मैं' कहते हैं 'और मैं बगीचे गया था'। इसी तरह आप किसी को भी 'तू' या 'तुम' कह सकते हैं और वह इन शब्दों से अपने आप को समझेगा। यानी 'मनुष्य' तथा 'राम' 'गोविन्द' आदि शब्द जाति-विशेष तथा व्यक्ति-विशेष के नाम हैं; परन्तु 'तू' 'मैं' आदि शब्द किसी एक के नाम नहीं हैं, सब के नाम हैं। इसी लिए इन्हें 'सर्वनाम' कहते हैं। साधारण नामों से इन में यही विशेषता है। यदि भाषा में 'सर्वनाम' न हों, तो व्यवहार ठीक न चले। आप का नाम 'राम' है और आप के एक मित्र का नाम 'श्याम' है। परन्तु इन नामों के और भी व्यक्ति हैं। अब आप अपने मित्र (श्याम) से बातें कर रहे हैं—'राम श्याम को ढूँढता रहा; पर श्याम राम को न मिला'। 'राम' 'श्याम' शब्द बार-बार आ कर फुदकते हुए कितने भद्दे लगते हैं! परन्तु फिर भी मतलब साफ नहीं! न जाने कौन सा 'राम' किस 'श्याम' को ढूँढता रहा! कुछ पता चल सकता है कि कौन किसे ढूँढ़ता रहा? इसी लिए 'मैं' और 'तू' शब्द बने—

'मैं तुझे ढूँढ़ता रहा, पर तू न मिला'

'तू' की पुनरुक्ति हटा दीजिए—

'मैं ढूँढ़ता रहा; पर तू मिला नहीं'।

ये 'मैं' और 'तू' सर्वनाम हैं—'उत्तम पुरुष' और 'मध्यम पुरुष'। 'अन्यपुरुष सर्वनाम' हैं—'यह' 'वह'। और भी इन के भेद हैं। 'उत्तम पुरुष' को अंग्रेजी मे 'थर्ड पर्सन' कहते हैं, जो ठीक ही है। 'उत्तम पुरुष' में 'उत्तम' का वह अर्थ नहीं, जो साधारणतः स्थिर है। 'मध्यम' नाम रखने से 'प्रथम' और 'तृतीय' स्वतः आ जाते हैं। परन्तु 'तृतीय' शब्द से 'चतुर्थ' की भी जिज्ञासा हो सकती है; और 'प्रथम, मध्यम, अधम' करना तो बहुत बुरा! इसलिए 'तृतीय' को 'उत्तम पुरुष' कह दिया। 'प्रथममध्यमोत्तमा;' में एक सुन्दर मकारान्त शब्दोंकी पंक्ति है। इसे—'प्रथममध्यमतृतीयाः' कर दें, तो कहने-सुनने में अच्छा न लगे गा। 'प्रथम' और 'मध्यम' के आगे 'तृतीय' बड़ा अटपटा जान पड़ता है—विजातीय-सा! इसी लिए 'उत्तम' कर दिया गया होगा! जाने दीजिए झगड़े को, 'उत्तमपुरुष' नाम है। 'मैं' और इसका बहुवचन 'हम' उत्तमपुरुष। 'तू' और 'तुम' मध्यमपुरुष (सर्वनाम) के एकवचन-बहुवचन हैं। 'यह' और 'वह' 'अन्यपुरुष' सर्वनाम। 'मैं'-'तू' से अतिरिक्त शेष संपूर्ण संसार अन्यपुरुष के दायरे में हैं। 'अन्यपुरुष'-सर्वनाम 'यह' और 'वह' हैं। 'जो' तथा 'कौन' आदि भी 'अन्यपुरुष' ही हैं; परन्तु उनकी एक पृथक् श्रेणी है—विशेष प्रकार के वे हैं।

'यह' समीपस्थ के लिए आता है और 'वह' दूरस्थ के लिए। बहुवचन में 'ये' तथा 'वे' रूप हो जाते हैं। सामीप्य या सान्निध्य मानसिक भी होता है। प्रेमचन्द के 'सेवासदन' पर विचार प्रकट करते समय हम लिखेंगे—'यह एक उत्तम उपन्यास है, जिसमें समाज का अच्छा चित्र उतरा है।' भले ही यह सब लिखते समय हमारे पास 'सेवासदन' न हो; बुद्धिस्थ तो वह है ही। 'नया समाज' 'कलकत्ते से निकलता है। वह एक अच्छा मासिक पत्र है······' यों 'वह' से आलोच्य का परामर्श ठीक नहीं। हाँ, यदि कहीं आत्मीय-अनात्मीय या इष्ट-अनिष्ट भाव प्रकट करना हो, तब दूसरे का परामर्श 'वह' से होगा—

'शिवाजी और औरंगजेब में कितना अन्त था ! इधर एकमात्र 'स्व' की भावना और साहस था; जब कि उधर अपरिमित शक्ति साधनों का घटाटोप ।'

शिवाजी के पक्ष का परामर्श 'इधर' से और दूसरे पक्ष का 'उधर' से हुआ है । कोई औरंगजेबी लिखेगा, तो वह उस (औरंगजेब) का परामर्श 'यह' से करेगा ।

'इधर'-उधर' दिशा-वाचक अव्यय इन्हीं दोनों सर्वनामों से बने हैं—इस ओर 'इधर' और उस ओर 'उधर'। दिशार्थक 'धर' तद्धित प्रत्यय है और 'यह' 'वह' के 'य'—'व' को 'सम्प्रसारण' । यानी 'य' को 'इ' और 'व' को 'उ' । य, व, र, को जब 'इ, उ, ऋ होता है, तो (संस्कृत में) उसे 'सम्प्रसारण' कहते हैं । हिन्दी में भी 'सम्प्रसारण' बहुत होता है । सो, 'सम्प्रसारण' होकर दोनो जगह 'ह' का लोप । 'इस' 'उस' से 'धर' करें, तो 'स' का लोप । 'ह' और 'स' सगे भाई हैं। संप्रसारण दोनो जगह । जब 'यह' 'वह' के सामने कोई प्रत्यय आता है; तो संप्रसारण होता है—'इसने' 'उसने' । 'ह' को 'स' हो गया । इसी तरह 'धर' प्रत्यय होने पर समझिए । ब्रजभाषा में दिशा-वाचक अव्यय 'इधर'-'उधर' नहीं चलते । धड़धड़ाते हुए धकारों से कोमल ब्रजभाषा के धड़कन उभड़ सकती है । वहाँ कोमल 'इत' 'उत' 'कित' 'जित' शब्द हैं । संस्कृत के 'इतः' से विसर्ग हटाकर 'इत' कदाचित् अपना लिया गया है और फिर 'इत' के वजन पर 'कित' 'जित' आदि गढ़ लिए । भाषा में इस तरह शब्द गढ़ने की चाल है । 'कृत' से 'किय' बनाकर पुंविभक्ति लगा ली—'किया' और ब्रजभाषा में 'कियो' । फिर 'किया' के वजन पर 'पिया' आदि ही नहीं, 'आया' 'खाया' आदि भी गढ़ लिए गए । यानी 'य' ('या'-'यो') भूतकाल के प्रत्यय मान लिए गए । इसी तरह 'इत' बनाकर फिर 'त' को दिशावाचक तद्धित-प्रत्यय मान लिया गया, जिसकी उपस्थिति में 'जो' आदि को 'जि' जैसा रूप मिल जाता है । 'वह' को तो 'उ' होगा ही । कहीं-कहीं (बुंदेलखंड आदि में) 'इत-उत' को 'इतै-उतै' जैसे रूप मिल जाते हैं । इधर (इत-इतै) आदि सब दिशावाचक अव्यय हैं ।

इसी तरह अधिकरण-प्रधान या स्थान-वाचक अव्यय 'यहाँ-'वहाँ' आदि बनते हैं । 'अहाँ' तद्धित प्रत्यय है । इस जगह—'यहाँ' और उस

जगह 'वहाँ'। इसी तरह 'जहाँ' 'कहाँ' आदि। 'अहाँ' प्रत्यय आने पर प्रकृति का आद्य अंश शेष, शेष सबका लोप।

जिस अर्थ के लिए हिन्दी अपने सर्वनामों से स्वतंत्र अव्यय बना लेती है, उस अर्थ में अन्य किसी भी भाषा के अव्यय (विकल्प से भी) नहीं ग्रहण करती। 'इधर आओ' को 'इतः आओ' नहीं कह सकते और 'वहाँ बैठो' को 'तत्र बैठो' भी नहीं कह सकते। यही स्थिति 'कित' 'जित' आदि व्रजभाषा-अव्ययों की है।

स्थान-प्रधान अव्यय 'यहाँ' 'वहाँ' के अनेक रूपान्तर विभिन्न बोलियों में हो गए हैं। 'जहाँ' के साथ कहीं 'तहाँ' भी चलता है; परन्तु राष्ट्रभाषा में 'वहाँ' रहता है। जहाँ, तहाँ, कहाँ के अन्त्य स्वर को ह्रस्व भी व्रजभाषा आदि में हो जाता है—'जहँ जहँ धेनु चराईं माधव, तहँ तहँ फिरतिं अधीर।' परन्तु राष्ट्रभाषा में 'यहाँ'-'वहाँ' आदि सदा एक-रूप रहते हैं।

'ऐसा' 'वैसा' आदि प्रकार-वाचक विशेषण भी 'यह' 'वह' आदि सर्व-नामों से बने हैं। 'सम' का तद्भव रूप 'सा' हिन्दी में है ही। सर्वनामों के साथ उस का समास कर के 'ऐसा' 'वैसा' आदि विशेषण। वे अव्यय तद्धित-प्रत्ययों से और ये विशेषण 'सा' के साथ समास करके। इस + सा='ऐसा' और उस+सा='वैसा'। सामने 'सा' आने पर 'वह' और 'यह' को सम्प्र-सारण तथा 'ह'-लोप। 'इ' की 'वृद्धि'–'ऐ'। बन गए–ऐसा, वैसा, कैसा आदि। संस्कृत में भी इकार को 'ऐ' तथा उकार को 'औ' के रूप में आते देखा जाता है—'नायकः' 'पावकः' आदि सामने हैं। ('नी' धातु को 'नै' और 'पू' को 'पौ' कर के आगे के 'अक' प्रत्यय से सन्धि है। 'औ' को'आव्' हो गया है।)

पीछे हम 'कीदृशः' आदि से 'कैसा' आदि प्रकार-वाचक विशेषणों का उद्भव बता आए हैं। परन्तु इस तरह भी इन का उद्भव सम्भव है। दूध से सीधे ही (क्रीम के रूप में) घी निकाल सकते हैं और दूसरी तरह से—दही जमा कर और फिर उसे मथ कर–भी निकाल सकते हैं। 'ऐसा' 'कैसा' आदि विशेषण दोनो तरह से सम्भावित हैं।

इस प्रकरण में इतना समझ लीजिए कि संस्कृत की ही तरह हिन्दी में भी सर्वनामों से विविध श्रेणियों के शब्द बनते-चलते हैं। हिन्दी के 'जब' 'कब' आदि

काल-वाचक अपने निजी अव्यय हैं। परन्तु इन का उद्भव हिन्दी के 'जो' 'कौन' आदि सर्वनामों से नहीं है। 'यह' से 'अब' और 'वह' या 'सो' से 'तब' नहीं बन गये हैं। सम्प्रसारण से 'य'-'व' को 'इ'-'उ' होता है—'अ' नहीं। कुरु-प्रदेश से लगे 'कुरुजाङ्गल' में (सहारनपुर और अम्बाला के बीच में) 'यदा-कदा-तदा' संस्कृत अव्ययों के तद्भव रूप 'जद' 'कद' 'तद' जनभाषा में चलते हैं। इन्हीं के 'द' को कुरु-जनपद में 'ब' हो गया है—व्रज में भी और आगे बैसवाड़े में तथा अवध में भी, विहार में भी। सो, 'जद-कद' आदि से 'जब-कब' बने। संस्कृत के 'इदानीम्' या 'साम्प्रतम्' आदि की ओर न देख कर 'जब-तब' के वजन पर 'अब' भी बना लिया गया—'अब' इस समय। इन्हीं अव्ययों मे 'ही' लग कर 'अभी' 'कभी' आदि रूप होते हैं। व्रजभाषा को 'ध' 'भ' आदि महाप्राणों की कठोरता पसन्द नहीं; इस लिए वहाँ सन्धि के विना—'अब हीं' 'तब हीं' जैसे रूप चलते हैं। पूरब में 'अबै-तबै'। 'ही' के 'ह्' का लोप, और 'वृद्धि'-सन्धि। कानपुर के इधर-उधर जन-बोली में 'अभै हम चले जैबे' सुन पड़ता है। 'अब' तथा 'ही' की प्रकारान्तर से सन्धि। कहीं 'ब' को द्वित्व भी जन-भाषा में 'अब्बै' (-अभी) और 'तब्बै' (तभी)।

'आप' हिन्दी में (मध्यमपुरुष -प्रयोज्य) आदरार्थक सर्वनाम है। 'तू' छोटों के लिए, 'तुम' बराबर वालों के लिए और 'आप' बड़ों के लिए। संस्कृत के 'भवान्' का समानार्थक है। संस्कृत के 'आप्त' का प्राकृत में, 'प्रथमा' के एक वचन में 'आप्पो' या 'अप्पो' रूप होता है। हिन्दी में यही 'आप' है। 'श्रीमान् क्या कहते हैं' 'महाराज की जो आज्ञा' 'हुजूर का जो हुक्म' जैसे आदरार्थक शब्द-प्रयोगों की तरह पहले 'आप की जो आज्ञा' जैसे शिष्ट-प्रयोग हुए होंगे। आगे चल कर, प्रयोगाधिक्य के कारण, यह शब्द मध्यमपुरुष के लिए आदरास्पद सर्वनाम ही बन गया। 'आप' में हिन्दी ने अपनी पुंविभक्ति नहीं लगाई; क्यों कि वह स्वभावतः एक वचन की निशानी है और यह ('आप') शब्द स्वभावतः बहुवचन में रहता है। कहीं-कहीं (राजस्थानी तथा व्रजभाषा आदि में) 'आपा' मिलता है; परन्तु 'आप' के अर्थ में नहीं, 'ममता' या 'गर्व' आदि के अर्थ में। 'आपा गयो बिलाय'। 'आपा'-अपनापन। यह अपना है ('मेरा है'); इस तरह का भाव 'आपा'। 'आपा' एकवचन रहता है, भाववाचक संज्ञा है।

'मैं आप कर लूँगा' आदि में 'आप' शब्द भिन्न है। 'स्वयं' या 'खुद' का अर्थ यहाँ है। यह 'आप' शब्द 'सर्वनाम' नहीं, विशेषण है। जोर देने के लिए पर-प्रयोग है। 'स्वयं' की तरह इसे भी 'अव्यय' कह सकते हैं। अव्यय भी विशेषण तथा क्रिया-विशेषण के रूप में चलते हैं। 'रामःस्वयं याचते'-राम स्वयं माँग रहा है। यहाँ 'स्वयं' को विशेषण न मान कर स्वतंत्र अव्यय-प्रयोग मानें, तो हिन्दी के इस 'आप' को भी वैसा ही समझ सकते हैं। परन्तु यह 'सर्वनाम' नहीं है। संस्कृत के 'आत्मन्' से इस का उद्भव जान पड़ता है। 'आत्मानं पृच्छ'—अपने आप से पूछ! यह 'आत्मन्' प्राकृत-परम्परा से 'आप' बन कर आ गया है। 'आत्मन्' का अर्थ 'स्व' या 'स्वयं' भी है और 'स्वकीय' भी है। 'स्वयं' के अर्थ में तो यह 'आप' है और 'स्वकीय' के अर्थ में 'अपना' है। आत्मनः-'अप्पणो–'अपना'। 'अपन' में पुंविभक्ति-'अपना'। इसी से 'अपने' और 'अपनी'। यानी 'आत्मनः' से 'न' लेकर 'आप' में लगा लिया। 'आ' ह्रस्व हो गया—'अपना'। यह 'न' हिन्दी का तद्धित-प्रत्यय है, 'क' 'र' की तरह—आप का, मेरा, 'अपना'। संस्कृत में भी 'स्व' का 'स्वक' और तद्धित-प्रत्यय-'स्वकीय'। 'स्व' से 'स्वीय'। इसी तरह हिन्दी में 'आप' से 'न' प्रत्यय—'अपना'। 'क' प्रत्यय दूसरे 'आप' से है—'आपका घर'।

संस्कृत में 'आत्मनः सर्वं नय'—अपना सब कुछ ले जा। 'आत्मनः' का प्राकृत रूप 'अप्पणो' होता है, जिस से ब्रजभाषा का 'अपनो' है। राष्ट्रभाषा (खड़ी बोली) जिस प्राकृत के वंश में है, उस में 'अप्पणा' रूप बनता होगा। यही 'अप्पणा' हिन्दी का 'अपना' शब्द है। विसर्गों की खड़ी पाई ('पुंविभक्ति') स्पष्ट है। इसी लिए 'अपने कपड़े' और 'अपनी टोपी' में 'ए–ई'। कहने का मतलब यह कि आदरार्थक और मध्यम पुरुष में प्रयुक्त होने वाले 'आप' सर्वनाम से ये 'स्वयं' तथा 'स्वकीय' अर्थों में चलने वाले 'आप' एवं 'अपना' शब्द भिन्न हैं। व्याकरण में 'न' प्रत्यय कर के और संज्ञा-विभक्ति ('आ' 'ओ') लगा कर 'अपना'-'अपनो' समझाया जाए गा। पूरब में संज्ञा–विभक्ति के बिना 'अपन घर'–'अपन सब कुछ'।

'आप' का प्रयोग कभी-कभी 'अन्य पुरुष' में भी होता है। 'आज कल अपने जिले के प्रशासक बाबू कुंजबिहारी वर्मा हैं। आप बड़े ही मिलनसार तथा न्यायप्रिय हैं।' 'तुम' के लिए भी प्रयोग अन्यपुरुष में ही होता है—'आप चलें'।

संस्कृत में 'मध्यमपुरुष' तथा 'उत्तमपुरुष' सर्वनाम तीनो लिङ्गों में समान रूप रहते हैं, शेष सभी सर्वनाम भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करते हैं। परन्तु हिन्दी में सभी सर्वनाम सर्वत्र एकरूप रहते हैं। 'वह जाता है'–'वह जाती है'। संस्कृत की अपेक्षा सर्वत्र सरलता है। संस्कृत में 'पञ्च' 'षट्' आदि शब्द ही तीनो लिङ्गों में समान रहते हैं; परन्तु हिन्दी के सभी संख्यावाचक शब्द सर्वत्र (दोनो वर्गों में) समान रहते हैं—'एक पुरुष–'एक स्त्री' और 'दो बैल'–'दो गौएँ' आदि। यहाँ एक-रूपता सर्वनामों में भी है। 'आप' शब्द भी दोनो वर्गों में समान रहता है—'आप जाएँ गे'-'आप जाएँ गी'। जब 'सर्वनाम' ही है, तो फिर सब जगह एक-सा ही रहना ठीक।

'आप' आदर के लिए बहुवचन में आता है—एक के लिए भी। जब संख्या का बहुत्व विवक्षित हो, तब स्पष्टता के लिए आगे 'लोग' लगा देते हैं—'आप लोग चलें; मैं आ रहा हूँ।'

'अपना' शब्द स्वकीय जनों के लिए 'अपनों को सब चाहते हैं'; परन्तु 'हम लोग' के अर्थ में सम्बन्ध-एकवचन-'अपने को क्या मतलब !'–यानी हम लोगों को क्या मतलब ! कहीं कर्ता-कारक में भी; पर बहुवचन में और संज्ञा-विभक्ति (ा) से रहित–'अपन मेले चलें गे'। यह मध्य प्रदेश में चलता है। 'यह' 'वह' आदि से वाक्य का भी परामर्श होता है—

"वह दीन दुखियों की मदद करता है। यही उसे पार लगाए गा।" 'यही'–दीन दुखियों की मदद करने का काम। 'सत्य धर्म का पालन करना कुछ हँसी-खेल नहीं है। यह आप-जैसे महात्माओं का ही काम है।' 'यह' यहाँ 'काम' का विशेषण है और 'सत्य–धर्म का पालन करना' इस का परामृश्य है।

जब किसी संज्ञा आदि के साथ 'यह'-'वह' आते हैं, तो 'संकेत-वाचक' विशेषण कहलाते हैं। अकेले आने पर 'सर्वनाम' हैं ही। परन्तु विशेषण के रूप में आने पर भी अपना काम छोड़ते नहीं हैं।

वह लड़का अब क्या कर रहा है ?

यह बालिका अब संगीत सीख रही है।

दोनो उदाहरणों में 'वह' तथा 'यह' दूरस्थ तथा समीपस्थ विशेष्यों की ओर संकेत कर रहे हैं ।—'वह' के साथ 'जो' सर्वनाम भी आता है, यदि संयुक्त-वाक्य हो—

'जो ईमानदारी से काम करता है, वह सदा प्रसन्न रहता है और उसी का सब लोग मान करते हैं।'

ईमानदारी से काम करने वाले के लिए 'जो' आया है और उसी का परामर्श उत्तर वाक्यों में 'वह' तथा 'उस की' शब्दों से हुआ है। 'जिस की लाठी, उस की भैंस'।

कबीर की वाणी में—

कबीर तेरी झोपड़ी, गलकटियों के पास।

करे गा, सो भरेगा, तू क्यों भया उदास ?

यहाँ 'करेगा' के पहले 'जो' लुप्त है—'जो करे गा' यह स्पष्ट है। सत्ता हो और प्रत्यक्ष दर्शन न हों, उसी को 'लोप' कहते है। 'अदर्शनं लोपः'। कभी-कभी 'वह' का भी लोप होता है—

'जो भी उपद्रव करेगा; सजा पाएगा।' उत्तर वाक्य में 'वह' का लोप है।

कबीर की उद्धृत वाणी में 'वह' के अर्थ में 'सो' आया है। यह काशी-वासी होने के कारण। वहाँ 'वह' के अर्थ में 'सो' जनभाषा में गृहीत है। ब्रजभाषा में 'वह' और 'सो' दोनो चलते हैं। पूरब में भी 'ओहिका' आदि में 'वह' का ही पूर्व-रूप 'ओह' है। इसीसे 'वह' है सो > ओस > ओह > वह। वहाँ 'कौन' के स्थान पर 'को' चलता है। ब्रजभाषा-साहित्य में 'को'-'कौन' दोनो चलते हैं। राष्ट्रभाषा में 'जो' के साथ 'वह' ही चलता है। अञ्चलान्तर के 'जैसे को तैसा' आदि प्रयोग ज्यों के त्यों चलते हैं। इन्हें 'जैसे को वैसा' नहीं कर सकते। मतलब ही न निकलेगा। 'ज्यों-त्यों' की जगह 'ज्यों-यों' नहीं कर सकते। 'जागे सो पावे' आदि में 'वह' कर दें; तो मतलब अवश्य निकलेगा; परन्तु मजा

बिगड़ जाए गा। इसी लिए तदवस्थ प्रयोग होते हैं। परन्तु स्वतन्त्र रीति से 'वह' की जगह 'सो' नहीं चलता। वाक्य के प्रारम्भ में—

सो, खूब सोच-विचार कर ही आगे बढ़िए गा।

तो, तुमने जाने का निश्चय कर ही लिया ?

यों, 'सो' तथा 'तो' के प्रयोग होते हैं। इनके कारकान्तर में प्रयोग नहीं होते। ऐसी स्थिति में, राष्ट्रभाषा में, ये 'सो' तथा 'तो' अव्यय ही हैं; 'यों' 'ज्यों' आदि की तरह। एकरूप रहनेवाले शब्द ही 'अव्यय' हैं। संस्कृत में 'चिरम्' तथा 'चिरेण' आदि अव्यय द्वितीया-तृतीया विभक्तियों से युक्त ('कालम्' 'कालेन' आदि की तरह) समय-वाचक संज्ञाएँ जान पड़ते हैं, परन्तु 'तस्मिन् समये' आदि की तरह 'चिरस्मिन् काले' जैसे प्रयोग नहीं होते। केवल 'चिरस्मिन्' भी नहीं। इस लिए उन्हें अव्यय ही माना गया है। 'जो करे गा, सो भरे गा' में 'सो' अवश्य सर्वनाम है, परन्तु उस तरह वाक्य के आदि में आनेवाले 'सो' और 'तो' किसी का भी वैसा परामर्श नहीं करते। निष्कर्ष आदि प्रकट करते हैं संस्कृत में 'पशु' अव्यय भी है, परन्तु भिन्नार्थक। यही बात हिन्दी के 'सो' तथा 'तो' अव्ययों की है। इन्हें 'सर्वनाम–प्रतिरूपक' अव्यय समझिए। पूर्व-कथन का आधार लेकर ही प्रवृत्त होते हैं। यदि पहले कोई बात न कही हो, तब इन ('सो'-'तो') अव्ययों का प्रयोग कभी भी किसी वाक्य के प्रारम्भ में न होगा।

हिन्दी का 'क्या' भी अव्यय ही है—प्रश्नार्थक। क्षुद्र जड़ पदार्थ, या कीट-पतंग आदि की विशेष जिज्ञासा में आता है—'क्या पड़ा है दूध में ?' कारण में भी आता है—'क्या सो रहे हो दिन में ?' 'क्यों' के अर्थ में। विशेषण के रूप में भी—'क्या-क्या बातें हुईं ?' 'क्या चर्चा हुई ?' 'क्या हाल है ?' अव्यय विशेषण-रूप से भी चलते हैं।

'कुछ' शब्द भी अव्यय ही है और विशेष ज्ञान के अभाव में प्रयुक्त होता है—'दूध में कुछ पड़ा है'। वही क्षुद्र जड़ पदार्थ, या कीट-पतंग आदि का विषय। परन्तु विशेषण-रूप से चलने पर तो विशेष्य के साथ लग लेता है—'कुछ घोड़े' 'कुछ बल'। अनिश्चित संख्या और अनिश्चित परिमाण बतलाता है। कभी-कभी विशेषण विशेष्य के बिना भी आते हैं– 'विद्वान्

सदा सुखी रहता है।' इसी तरह 'कुछ का यह मत है, कुछ इससे भिन्न मत रखते हैं'। 'विद्वान्' तथा 'कुछ' विशेषणों के विशेष्य स्वतः समझ में आ जाते हैं; इस लिए प्रत्यक्ष प्रयोग नहीं हुआ। 'विद्वान्' मनुष्य ही होता है और वैसा 'मत' भी मनुष्य ही रखते हैं।

मतलब यह कि प्रयोग-भेद से शब्दो का श्रेणी–भेद होता है। 'कुछ' के साथ 'एक' लगाकर 'कुछेक' प्रयोग ठीक नहीं है। विशेष संख्या का ज्ञान होने पर विशेष संख्यावाचक शब्द आते हैं; परन्तु जब ऐसा न हो, या निश्चित संख्या बताना अभीष्ट न हो, तब 'कुछ' आता है—'कुछ छात्र आए थे'! इसी तरह परिमाण में—'कुछ दूध रखा भी है'। यहाँ 'कुछ' के आगे 'एक' लगाना व्यर्थ है। 'कुछ' से ही मतलब पूरा हो जाता है। सच बात तो यह है कि 'एक' का प्रयोग ऐसी जगह भ्रमात्मक है। 'कुछ' अनेकत्व का वाचक है और 'एक' शब्द इसके विपरीत है—निश्चित रूप से 'एक' का बोधक है। तब 'कुछ' के साथ 'एक' का क्या मेल ? इसी तरह 'चार एक' आदि गलत प्रयोग हैं।

बात यह है कि संस्कृत में अल्पार्थक 'क' प्रत्यय है और 'स्वार्थिक' भी है। 'बालः' से 'बालकः' स्वार्थ में 'क' है। 'हरिणकानां जीवितं चाऽतिलोलम्' में 'हरिण' से 'हरिणक' अल्पार्थ में 'क' है। छोटे-छोटे हिरन-'हरिणक'। हिन्दी में इन दोनों 'क' प्रत्ययों का ग्रहण है। 'बहुतक कहौं कहाँ लौं' में 'बहुत' से 'बहुतक' स्वार्थिक 'क' है; परन्तु 'यहि घाटते थोरिक दूरि अहै' में 'क' अल्पार्थक है। बिलकुल थोड़ी दूर 'थोरिक दूर'। राष्ट्रभाषा में 'सातक दिन की बात है' में 'क' 'लगभग' के अर्थ में है—सात से कुछ कम दिन हों, या सात हों। 'घरीक है ठाढ़े' में भी यही बात है। 'एक घड़ी' मतलब नहीं है। इसी 'क' को लोगों ने 'एक' समझ लिया और 'कुछेक' 'सात–एक' आदि लिखने लगे, जैसे कि 'इकतारा' का सुधार 'एकतारा' से सूझा! 'दुपट्टा' का भी 'दोपट्टा' सुधार! बलिहारी सुधार की!

वस्तुतः 'कः' तथा 'एकः' का बड़ा मेल है; 'किसी दिन' की जगह 'एक दिन' भी आ जाता है। संस्कृत में भी 'कस्मिंश्चिद्दिने' की जगह 'एकस्मिन् दिने' आता है। रूप भी-कस्मै-एकस्मै, कस्मात्-एकस्मात्, कस्मिन्-एकस्मिन् आदि समान ही होते हैं। 'ए' हटा दो, 'कः' रह जाए गा; 'ए' हटा दो,

तो 'एकस्मिन्' का 'कस्मिन्' रह जाए गा। बड़ा मेल है। इसी मेल के कारण 'किसी दिन' की जगह 'एक दिन' हो जाता है। परन्तु फिर भी दो भिन्न शब्द हैं। 'केचित् एवं मन्यन्ते' की जगह 'एके एवं मन्यन्ते' भी हो जाए गा; परन्तु 'एकेचित् एवं मन्यन्ते' नहीं हो सकता। सो, 'कुछेक' प्रयोग गलत है; इसी तरह 'सात-एक' आदि भी। 'सातक' 'आठक' आदि ठीक; लगभग सात, आठ। 'सातक कोस चल कर बुढ़िया बीमार पड़ गई'। लगभग सात कोस चल कर!

'कौन' प्रश्नार्थक सर्वनाम है। 'क्या' अव्यय भी प्रश्नार्थक है, जो कि जड़ पदार्थों के लिए तथा क्षुद्र प्राणियों के लिए आता है। 'कौन' का प्रयोग इस से आगे के क्षेत्र में है—'कौन आ रहा है?' सामान्य ज्ञान है; दिखाई यह भी दे रहा है कि कोई आदमी आ रहा है, पशु आदि नहीं; परन्तु विशेष ज्ञान नहीं है। कभी-कभी सामान्य ज्ञान भी नहीं होता। 'पता नहीं, कौन जिए, कौन मरे!' यहाँ 'कौन' प्रश्नार्थक नहीं, अनिश्चयार्थक है। 'हम में से कौन जाए गा?' विशेषार्थक प्रश्न है।

'कोई' यह सर्वनाम सामान्यार्थक है। 'कोई आ रहा है'। सामान्य ज्ञान है। प्रश्न नहीं है। इतना (विशेष) ज्ञान भी है कि पशु आदि नहीं, कोई आदमी आ रहा है। जातिगत विशेषता ज्ञात है; पर व्यक्तिगत नहीं। व्यक्ति-विशेष पहचान में नहीं आया; सामान्यतः पुरुष-प्रतीति है। कभी-कभी जाति-सामान्य का ज्ञान होता है; पर जाति-विशेष का ज्ञान नहीं रहता। तब जाति-सामान्य का वाचक शब्द विशेष्य के रूप में आता है—'कोई कीड़ा जा रहा है'। 'कौन' भी—'यह कौन सा कीड़ा जा रहा है?' 'कौन' प्रश्नार्थक है। इस सामान्य-ज्ञानार्थक 'कोई' सर्वनाम को लोगों ने 'अनिश्चय-वाचक' सर्वनाम लिखा है! अनिश्चय प्रकट करने के लिए तो कहा जाए गा—

'पता नहीं, कौन है! न जाने कोई पशु है; या कौन है!'

सामान्य ज्ञान भी नहीं है।

'कोई' शब्द संस्कृत के 'कोऽपि' का रूपान्तर है। 'कोऽपि' से 'कोइ' और फिर स्वर दीर्घ कर के 'कोई'। अवधी आदि में 'को' के साथ 'हू' अव्यय का 'ऊ' जोड़ कर 'कोऊ' रूप चलता है—'दोऊ' की तरह।

'कोई' के विभिन्न कारकों में रूप—

किसी को, किसी ने, किसी पर, किसी से आदि होते हैं। प्रश्नार्थक 'कौन' के रूप—किस को, किस ने, किस पर, किस से यों अकारान्त होते हैं। 'किस' रूपान्तर दोनों का समान। यह संस्कृत की पद्धति है—'कस्मिन्' और 'कस्मिंश्चित्' या 'कस्मिन्नपि'। हिन्दी ने 'चित्' को नहीं, 'अपि' को रूपान्तरित कर के 'कोई' बनाया है। फिर अपनी ('कोई' की) 'ई' का सर्वत्र प्रयोग। 'कौन' को 'किस' हो ही जाता है, विभक्ति या शब्दान्तर सामने होने पर–'किस ने' 'किस लड़के ने'। दूसरे प्रयोग में भी विभक्ति के कारण ही 'किस' आदेश है; अन्यथा 'कौन छात्र जाए गा ?' आदि में 'कौन' ही रहे गा; विशेष्य सामने रहने पर भी।

संस्कृत 'कः' प्राकृत 'को' (अवधी आदि में भी 'को') राष्ट्रभाषा में 'कौन'। विभक्ति आगे आने पर 'कौन' को 'किस'; जैसे 'यह-वह' को 'इस-'उस'। 'कोई' विभक्ति या तद्धित सम्बन्ध-प्रत्यय परे होने पर 'किसी' बन जाता है'–'किसी ने' 'किसी का' आदि। यानी प्रकृत्यंश ('को') को 'किस' हो गया और आगे ('अपि' वाली) 'ई' है ही। किस+ई=किसी। 'किसी ने,' 'किसी का' आदि। सर्वत्र एकवचन—

किसी ने, किसी पर, किसी से; इत्यादि।

'कोई' शब्द संस्कृत के एकवचन 'कोऽपि' का रूपान्तर है, इस लिए स्वभावतः एक वचन है। इस का 'बहुवचन' नहीं बनता; परन्तु आवश्यकता पड़ने पर द्विरुक्ति कर के काम चला लेते हैं—

'कोई-कोई इसके विपरीत भी कहते हैं'

'किसी-किसी के मत में वेद ईश्वरीय रचना नहीं।'

'किसी-किसी के मत में' का मतलब 'कुछ लोगों के मत में'। विशेष ज्ञान होने पर भी अविवक्षित है। यही बात 'कोई-कोई' में भी है।

वस्तुतः 'कौन' भी कुछ ऐसा ही है। इसी लिए 'किस का' आदि 'एकवचन' ही रूप देखे जाते हैं, और 'कौन आता है' आदि एकवचन ही प्रयोग अधिक होते हैं। बहुवचन के लिए इसी कारण द्विरुक्ति करनी पड़ती है—

कौन-कौन आएँ गे ?

या फिर 'लोग' शब्द से—

कौन लोग आएँ गे ?

यदि संख्या एक ही बतलानी हो; परन्तु आदर के लिए बहुवचन करना हो, तो द्विरुक्ति नहीं होती; 'लोग' जैसा शब्द भी साथ नहीं रहता; केवल क्रिया-रूप से बहुवचन-प्रतीति होती है—'कौन आए हैं ?

सामान्यज्ञानार्थक 'ई' से निश्चयार्थक 'ई' भिन्न है, जो कि 'यह'-'वह' आदि शब्दों के 'इस' 'उस' में लगती है—

'उसी में रख दो' 'इसी ने कहा था'।

यहाँ यह 'ई' अवधारणार्थक 'ही' का घिसा-घिसाया रूप है। 'उस में' साधारण प्रयोग, 'उसी में' अवधारणा के साथ। 'इसी में – उसी पर आदि की बिरादरी से बाहर हैं 'किसी ने' 'किसी को' आदि शब्द-प्रयोग। फिटकरी और सेंधा नमक को मिसरी न समझ बैठना चाहिए। स्वाद (अर्थ) देखो।

'कोऽपि' का 'कोई' है; यानी 'कोई' में 'ई' अवधारणार्थक 'ही' अव्यय का रूपान्तर नहीं है। सामान्य ज्ञान विवक्षित है, विशेष का पता नहीं। 'कोई' के 'को' को 'किस' हो जाता है, विभक्ति आगे आने पर। आगे 'ई' है ही। किस + ई = 'किसी'। 'किसी को'—'किसी से'; यह ऊपर कहा जा चुका है। तद्धित प्रत्यय—'किस का'।

'कुछ' तथा 'क्या' के प्रयोग विविध अर्थों में विविध रूप से होते हैं; परन्तु इन के रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता और सभी कारकों में इन के रूप नहीं चलते। विशेषण–रूप से 'कुछ सज्जनों का विचार है' 'स्थिति क्या से क्या हो गई' यों इन के भी प्रयोग होते हैं। 'कुछ' यहाँ अनिश्चित संख्या-वाचक है और 'क्या' प्रकारवाचक। 'क्या से क्या' का अर्थ है—'कैसी से कैसी'।

'क्या' और 'कुछ' सर्वनाम हैं; तो 'अव्ययकल्प' सर्वनाम हैं और अव्यय हैं, तो 'सर्वनाम—प्रतिरूपक' अव्यय हैं। दोनो का मतलब एक फि

सर्वनाम का काम देते हैं ये दोनो और सदा एकरूप रहते हैं; परन्तु सभी कारकों में चलते नहीं हैं। अब नाम आप इन के चाहे जो रख लीजिए। प्रयोग के अनुसार शब्दों के नाम चलते हैं। 'बहुत लोगों ने खाया है' में 'बहुत' संज्ञा-विशेषण है, संख्या-वाचक। 'लोगों ने बहुत खाना खाया' में भी 'बहुत' संज्ञा-विशेषण है—'खाने' (भोजन) का परिमाण बतलाता है। यहाँ अनिश्चित परिमाण-वाचक विशेषण है। 'आज तो हमने बहुत पढ़ा' में 'बहुत' क्रिया-विशेषण है—'पढ़ने' का परिमाण बतलाता है।

इसी तरह कह सकते हैं, 'क्या' तथा 'कुछ' सर्वनाम भी हैं, अव्यय भी हैं; या अव्यय भी हैं और सर्वनाम भी हैं। देवदत्त मिठाई बनाने-बेचने का काम करे, तो 'हलवाई' कहलाएगा और कपड़े बेचने लगे, तो 'बजाज'। दोनों काम करेगा, तो यथास्थान हलवाई भी और बजाज भी।

क्रोडीकृत शब्दों का तिरोभाव

जब किसी 'संज्ञा' या 'सर्व-संज्ञा'—नाम या सर्वनाम—का काम उसकी अपनी प्रत्यक्ष उपस्थिति के बिना ही निकल जाता है, तो उसका प्रत्यक्ष प्रयोग अनावश्यक हो जाता है। तब वह सामने न आकर अपने साथी-सहयोगी के द्वारा ही अपना काम करा लेता है। रेल के एक डिब्बे में लिखा है—'५० आदमी बैठ सकते हैं'; तो इसका मतलब होगा कि 'पचास स्त्री-पुरुष बैठ सकते हैं'। 'आदमी' के साथ 'औरत' लिखने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि लोक-व्यवहार से उसकी प्रतीति वैसे ही हो जाती है। 'अर्थश्चेदवगतः किं शब्देन ?' अर्थ निकल जाता है, तो फिर तदर्थ शब्द का प्रयोग किस काम का ? परन्तु, यदि कहीं लिखा हो—'इस कमरे में दस महिलाएँ ठहर सकती हैं,' तो फिर महिला-मात्र का बोध होगा; 'पुरुष' का नहीं। कहीं लिखा है—'मर्दाना पाखाना' तो 'मर्द' के साथ 'औरत' का ग्रहण न होगा; क्योंकि मर्दाने पाखाने में औरतें नहीं जातीं। 'इस गाँव में दस धोबी रहते हैं' कहने से 'धोबिनें' स्वतः गृहीत हैं। परन्तु 'इस घर में दो धोबिनें रहती हैं' कहने से 'धोबी' की उपस्थिति प्रायः न होगी। कहीं जंगल में हिरनों और हिरनियों को चरते देख कोई कह देता है—'हिरन चर रहे हैं', तो उसका मतलब यह नहीं होता कि वहाँ हिरनियाँ नहीं हैं। वह पुंस्त्री दोनो वर्गों के लिए सामान्य प्रयोग 'हिरन' करता है

और इसी लिए श्रोता भी वैसा ही समझता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि 'हिरन और हिरनियाँ'। हिरनियों का प्रतिनिधित्व भी 'हिरन' से हो गया। 'हिरन' शब्द में 'हिरनी' भी अन्तर्हित है। इसी को शब्दों का 'क्रोडीकरण' हम कहते हैं। संस्कृत में इसे 'एकशेष' कहते हैं। दो में से एक शब्द शेष रहता है, एक 'लुप्त' हो जाता है। व्यवहार में देखा जाता है कि मानसिक झुकाव जिस ओर अधिक हो, उसी का उच्चारण होता है और शेष स्वतः गृहीत होता है। ऊपर के उदाहरणों में देखा, पुंवर्गीय शब्द सामने हैं और स्त्रीवर्गीय लुप्त या अनुच्चरित हैं।

परन्तु यह सार्वत्रिक और एकान्त नियम नहीं है कि पुंवर्गीय शब्द ही सदा सामने रहे और सदा स्त्रीवर्ग का शब्द लुप्त ही रहे। 'गौएँ चर रही हैं' 'बकरियाँ चर रही हैं' 'भैंसें चर रही हैं' ऐसे प्रयोगों में स्त्रीवर्गीय शब्दों की प्रधानता है; पुंवर्गीय शब्द (बैल, बकरे तथा भैंसे) क्रोडीकृत हैं। जहाँ गौएँ चर रही हैं, वहाँ बैल भी चर रहे हों; तब यही कह देते हैं—'गौएँ चर रही हैं'। इसी तरह बकरे भी चर रहे हों और बकरियाँ भी चर रही हों, तो कह देते हैं—'बकरियाँ चर रही हैं'। परन्तु हाथी और हथिनी; ऊँट और ऊँटनी, घोड़ा और घोड़ी आदि का व्यवहार पुंप्रयोग से होता है। 'इस जंगल में हाथी बहुत रहते हैं'। मतलब यहाँ 'नर' हाथी से ही नहीं है। हथिनियाँ भी क्रोडीकृत हैं। 'टाँगों में घोड़े जुतते हैं'। यहाँ 'घोड़ी' का भी अन्तर्भाव है।

क्या कारण कि एक जगह स्त्रीवर्गीय (गौ, बकरी, भैंस आदि) शब्दों से पुंवर्गीय (बैल, बकरे तथा भैंसे आदि) शब्दों का ग्रहण होता है और अन्यत्र पुंवर्गीय (घोड़ा आदि) से स्त्रीवर्गीय (घोड़ी आदि) का? कोई कारण होना चाहिए। है कारण। प्रधानता और अप्रधानता में मानव-भावना कारण है और भावना में स्वार्थ कारण है। सृष्टि में पुंवर्ग अधिक शक्तिशाली दिखाई देता है और इसलिए सवारी या लादने के काम में पुंवर्गीय पशुओं को ही अधिक पसन्द किया जाता है। इसी लिए घोड़े, ऊँट तथा हाथी आदि की ओर ध्यान जाता है और झट कह दिया जाता है—'घोड़े यहाँ हल भी जोतते हैं।' चाहे घोड़ियों से भी हल खिंचवाया जाता हो; परन्तु बोलने में 'घोड़े' ही आएगा।

बैल तथा भैंसे गाड़ी-हल आदि में जोते जाते हैं; परन्तु यहाँ मनुष्य का स्वार्थ दूध-घी से अधिक संबद्ध है। दूध-घी आदि की ओर अधिक

ध्यान होने के कारण गौ, भैंस तथा बकरी आदि की प्रधानता है। गौओं के साथ बैल भी चर रहे हों, तो भी यहीं कहा जाएगा—'गौएँ चर रही हैं।' इसी तरह 'भैंसें चर रही हैं' 'बकरियाँ चर रही हैं' इत्यादि।

संस्कृत में माता और पिता के लिए 'पितरौ' वैकल्पिक प्रयोग होता है। यानी 'माता' अनुच्चरित। 'पितरौ' इस द्विवचन से 'माता' की भी प्रतीति हो जाती है। परन्तु हिन्दी में ऐसा नहीं है। यहाँ 'माता-पिता' प्रयोग होगा। 'पिता जी आ रहे हैं' कहने से यह न समझा जाएगा कि माताजी भी आ रही हैं। 'माता' को अप्रधानता यहाँ नहीं दी गई है। माता की पृथक् सत्ता है।

प्रथमपुरुष, मध्यमपुरुष तथा उत्तमपुरुष शब्दों के जमघट में उत्तम पुरुष शेष रहता है; अन्य लुप्त रहते हैं। मेले में तू भी चलेगा, मोहन भी चलेगा, सुशीला भी चलेगा और मैं भी चलूँगा, तो समष्टि में कह दिया जाएगा—'हम सब चलेंगे'। 'तुम सब' या 'वे सब' कहने से मतलब न निकलेगा। यदि उत्तमपुरुष का अभाव हो और अन्यपुरुष तथा मध्यम पुरुष शब्दों का जमघट हो, तो फिर मध्यम पुरुष शेष रहेगा; 'अन्य पुरुष' लुप्त या अनुच्चरित रहेंगे। मेले में राम भी जाना चाहता है, सुशीला भी जाना चाहती है, तू भी जाना चाहता और दादी-नानी भी जाना चाहती हैं; तो 'तुम सब चले जाओ'। यहाँ 'तुम सब' की जगह 'वे सब' न कह सकेंगे। वैसा कहने से मध्यमपुरुष गृहीत न हो सकेगा। जो सामने है, जिससे बातें की जा रही हैं, उसे ही प्रधानता मिलेगी; तब काम चलेगा। 'तुम सब चले जाओ, में 'वे सब' भी सम्मिलित हैं। परन्तु 'वे सब' में 'तू' या 'तुम' नहीं गृहीत हो सकते। अब 'उत्तम' 'मध्यम' और बाद में 'अन्य' स्पष्ट हुए।

यह 'एकशेष' या शब्दान्तर का क्रोडीकरण भाषा में स्वभावतः हुआ करता है। यदि ऐसा न हो, तो अनावश्यक शब्दों की भरमार से भाषा भद्दी हो जाए—'घोड़ों से और घोड़ियों से बोझ ढोने का भी काम लेते हैं' अच्छा लगता है? 'घोड़ों से' पर्याप्त है।

'कितने छात्र इस वर्ष बी० ए० में बैठे?' यहाँ 'छात्र' से 'छात्रा' भी गृहीत है। परन्तु 'छात्रों को और छात्राओं को अपने-अपने जीवन की दृष्टि से पाठ्य विषय चुनने चाहिए' यहाँ 'छात्राओं' का पृथक् निर्देश जरूरी है। छात्रों के जीवन में और छात्राओं के जीवन में अन्तर है।

सामान्य-प्रयोग पुंवर्गीय

सामने कोई आ रहा है। देख कर जान लिया कि मानव-व्यक्ति है और यह भी जान लिया कि पुरुष नहीं; स्त्री है। यह सब जान कर भी पुंप्रयोग किया जाता है—'कोई आ रहा है'। सामान्य-प्रयोग पुंप्रधान होता है। 'कोई आ रहा है' पुंप्रयोग है; परन्तु सुननेवाला इस से यह न समझे गा कि आनेवाला कोई पुरुष ही है, स्त्री नहीं है! बोलने वाले का भी यह अभिप्राय नहीं कि आनेवाला 'पुरुष' ही है। उस ने वर्ग-भेद करना अनावश्यक समझ कर 'सामान्य-'प्रयोग कर दिया और श्रोता ने भी वैसा ही समझ लिया। यानी स्त्री पुंभेद प्रकट करना अभीष्ट न हो, वैसी 'विवक्षा' न हो, तो सामान्य-प्रयोग पुंवर्ग में हो जाता है। इसी तरह 'कौन आ रहा है' समझिए। 'जो करे गा, सो भरे गा' आदि भी ऐसे ही प्रयोग हैं। सामान्यतः (सब के लिए, स्त्री-पुरुष दोनों के लिए) पुंप्रयोग है—'जो करे गा, सो भरे गा'। 'करे गा' से 'करे गी' भी गृहीत है। 'वचन' भी सामान्यतः एक-वचन है। 'एकत्व' की विवक्षा नहीं है। जो जैसा करते हैं, वैसा भोगते हैं; इसी को 'जो जैसा करता है, वैसा भोगता है' यों एकवचन से भी प्रकट करते हैं। परन्तु जोर देने के लिए 'एकवचन' ही ऐसी जगह अधिक आता है। 'सत्यं वदेत्' सच बोलना चाहिए। 'वदेत्' 'अन्यपुरुष' एकवचन की क्रिया है। सामान्य प्रयोग है। 'मनुष्य' मात्र सामान्य 'कर्ता' अभीष्ट है। प्रत्येक मानव के लिए यह विधि है; इस लिए एकवचन ही रखने की चाल है।

'कर्ता' ही नहीं, 'कर्म' भी सामान्यतः पुंवर्ग में एक वचन ही आता है—'हम सब ने सब कुछ खूब खाया-पिया'। विशेष विवक्षा नहीं है; इस लिए पुं० एकवचन 'खाया'-'पिया'। विशेष जानकारी के लिए प्रश्न भी सामान्य रूप में हो गा—'क्या-क्या खाया-पिया ?' इस के उत्तर में 'कर्म' की विविधता बताई जाए गी, तब 'वर्ग-भेद' तथा 'वचन'-भेद हो गा ही—'फल खाए, पूड़ियाँ खाईं, चाय पी, पापड़ खाए और फलों का रस पिया'। प्रत्येक 'कर्म' के अनुसार क्रियामें पुंस्त्री-भेद तथा वचन-भेद है। 'अच्छा, यह सब खाया-पिया !' यों श्रोता (वह सब विशेष विवरण सुनकर) सामान्य-प्रयोग करता है। 'यह सब' में वे सब चीजें आ जाती हैं। संस्कृत में सामान्य-कथन नपुंसक लिङ्ग से होता है—'तत्र किं किं भुक्तम् ?' 'भुक्तम्' की जगह 'भुक्तः' नहीं हो सकता। परन्तु हिन्दी में पुल्लिङ्ग ही चलता है—'क्या क्या खाया ?'।

यह इस लिए कि हिन्दी के गठन में नपुंसक-लिङ्ग जैसी कोई चीज है ही नहीं ! जहाँ संस्कृत में नपुंसक-लिङ्ग सामान्य-प्रयोग में चलता है, हिन्दी में वहाँ पुंप्रयोग चलता है । कुछ उदाहरण—

मधुरं भोक्तव्यम्—मीठा खाना चाहिए

प्रभाते सर्वं शोभते—सबेरे सब कुछ अच्छा लगता है

सदा मधुरं वक्तव्यम्—सदा मीठा बोलना चाहिए;

मह्यं मधुरं न रोचते—मुझे मीठा अच्छा नहीं लगता ।

संस्कृत में क्रिया-विशेषण सदा नपुंसक लिंङ्ग एकवचन रहते हैं और यहाँ (हिन्दी में) सदा पु० एकवचन । यह सब क्रिया-प्रकरण में स्पष्ट हो गा । तिङन्त-क्रियाएँ संस्कृत में (सामान्ये) अन्यपुरुष एकवचन रहती हैं । हिन्दी में भी यही स्थिति है । 'कामं म्रियेत, न च चौर्यं समाश्रयेत्'—भले ही मर जाए; पर चोरी न करे ! कर्ता का निर्देश अनावश्यक है; क्यों कि ऐसी विधि पशु-पक्षियों के लिए तो होती ही नहीं है । संक्षेप यह कि सामान्य प्रयोग पुल्लिङ्ग एकवचन में और अन्यपुरुष एकवचन में होते हैं ।

चतुर्थ अध्याय

अव्यय और उपसर्ग

विविध अर्थों मे विभिन्न शब्दों का सकेत करके, 'उद्देश्य'-'विधेय' नाम के दो भागों में, उन्हे व्यवस्थित किया गया और 'उद्देश्य' भाग के शब्दों को 'नाम' तथा 'सर्वनाम' संज्ञा दे कर उन के विशेषण बतलाए गए। 'विधेय' अश (क्रिया-प्रकरण) इस पुस्तक के उत्तरार्द्ध मे आए गा।

इस तरह इन रूपों मे शब्दसमूह बाँट देने पर भी कुछ शब्द बच रहे। इन का अन्तर्भाव किसी भी निर्दिष्ट श्रेणी में सम्भव नहीं, यद्यपि विविध अर्थों मे ये आते हैं और भाषा में प्रमुख स्थान रखते हैं। ऐसे शब्द हैं— 'आह' ! 'ओह' ! 'अहा' ! 'ही' 'तो' 'भी' आदि। न ये नाम (संज्ञा) हैं, न सर्वनाम हैं, न विशेषण हैं और न क्रिया-पद ही हैं। तो फिर इन्हें कहाँ रखा जाए ? क्या नाम इस श्रेणी का रखा जाए ? देखा गया कि इन शब्दों का चाहे जैसा प्रयोग किया जाए, इन में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। सदा ज्यों के त्यों रहते हैं। इन की इसी विशेषता को ले कर इन का नाम 'अव्यय' रख दिया गया—'न व्येति, विविधं विकारं न गच्छतीत्यव्ययम्' तरह-तरह के विकार (रूप-परिवर्तन) जो नाम-सर्वनाम आदि में (प्रयोग-भेद से) होते हैं, वे इन (आह, ओह आदि) शब्दो में कभी नहीं देखे जाते, इस लिए इन का नाम 'अव्यय' रख लिया गया। संसार की सभी भाषाओं में 'अव्यय' हैं। एकदम असस्कृत वन-जातियो की भाषा में भी 'अव्यय' हैं। (न जाने क्यों, 'वन-जाति' शब्द को लोग 'जन-जाति' लिखने लगे हैं ! प्रसंगान्तर है !) मतलब यह कि भाषा में 'अव्यय' का प्रमुख स्थान है। जब असह्य पीड़ा किसी को होती है, तो बर-बस मुख से 'आह' या 'ओह' जैसा कोई शब्द निकल जाता है। यह शब्द उस पीड़ा की व्यंजना करता है। यही शब्द साहित्यिक भाषा में भी पीड़ा-व्यंजना के लिए व्यवहृत होने लगता है। तब व्याकरण में 'अव्यय' नाम प्राप्त करता है। आगे चल कर ऐसे शब्दो की एक बड़ी जाति बन जाती है, जिन के रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता—न, हाँ, तो, भी आदि।

और आगे चल कर 'अव्यय' शब्द गौण-अर्थ ग्रहण कर लेता है। तिलों से निकली चीज (चिकनाई, स्नेह) को 'तैल' नाम मिला; परन्तु आगे अर्थ-विकास हुआ। सरसों, अलसी, रेंड़ी आदि किसी भी चीज से निकली चिकनाई को 'तैल' (तेल) कहने लगे। 'चिकनाई' मात्र सामान्य गुण ले कर शब्द आगे बढ़ा। इसी तरह 'अव्यय' शब्द भी समझिए। परिवर्तन का न होना 'सामान्य-गुण'। क्रिया-विशेषण 'ध्यानपूर्वक' आदि भी 'अव्यय' माने गए; क्योंकि इन के रूप भी सदा एकरस रहते हैं। व्याकरण में 'एक वचन' तो औत्सर्गिक होता है। जहाँ एकत्व की कोई स्थिति-विवक्षा नहीं, वहाँ भी 'एकवचन' होता है—संस्कृत में नपुंसकलिङ्ग और हिन्दी में पुल्लिङ्ग। 'रामः निपुणमधीते' की तरह 'सीताऽपि निपुणमधीते'। हिन्दी में 'राम अच्छा पढ़ता है' और 'सीता भी अच्छा पढ़ती है'। 'अच्छा' में कोई व्यय-परिवर्तन नहीं। इस लिए ये क्रिया-विशेषण भी 'अव्यय'। कुछ लोगों ने उलटा ही समझ लिया! 'क्रिया-विशेषण अव्यय होते हैं' का मतलब समझ लिया—'अव्यय क्रियाविशेषण हैं'। व्याकरणों में ऐसा लिख भी दिया और 'जब' 'तब' तथा 'यहाँ' 'वहाँ' आदि अव्ययों को भी क्रिया-विशेषणों में रख दिया! अव्यय भी कोई क्रिया-विशेषण हो सकता है; यह और बात है। परन्तु 'जब-तब' तथा 'यहाँ-वहाँ' आदि से तो क्रिया में कोई विशेषता मालूम नहीं देती! तब ये 'क्रिया-विशेषण' कैसे? वही भ्रम! क्रिया-प्रकरण में जब क्रिया-विशेषणों की चर्चा आए गी, तब यह सब विस्तार से बतलाया जाए गा।

'जब'-'तब' तथा 'यहाँ'-'वहाँ' आदि शब्द समयवाचक तथा स्थान-वाचक अव्यय हैं, जिन का उद्भव सर्वनामों से है। ये सब 'तद्धित'-प्रक्रिया से बने हैं। संस्कृत में 'यदा-तदा' तथा 'अत्र'-'तत्र' आदि से संज्ञा-विभक्तियाँ नहीं आतीं; परन्तु हिन्दी में 'अब-तब' आदि के आगे 'से' जैसी विभक्तियाँ आती हैं—

१—अब से इस बात का ध्यान रखना

२—तब से राम बराबर पढ़ रहा है।

३—यहाँ से चार कोस की दूरी पर मन्दिर है

४—वहाँ से राम को आए एक महीना हो गया।

परन्तु (विभक्ति लगने पर भी) शब्द के रूप में कहीं कोई परिवर्तन नहीं है; इसी लिए ये 'अव्यय' हैं। संस्कृत में 'यदा-तदा' तथा 'अत्र-तत्र'

आदि तद्धित शब्दों के आगे संज्ञा-विभक्ति यद्यपि नहीं आती; परन्तु अन्य तद्धित-शब्दों के आगे आती है और वैसी स्थिति में भी उन शब्दों को 'अव्यय' ही माना गया है। हाँ, 'कर्ता' कारक आदि की प्रमुख विभक्तियाँ इन में जरूर नहीं लगती हैं और 'एकवचन' ही सदा रहता है। इसी (कम परिवर्तन के) कारण अव्ययत्व। यानी 'अव्यय' का अर्थ यह लिया गया कि बहुत कम परिवर्तन! वस्तुतः स्वरूप-परिवर्तन तो कतई नहीं हुआ; केवल विभक्ति लग गई। विभक्ति लगने से भी अव्ययत्व की हानि नहीं। पाणिनि के 'तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः' का अर्थ है—'तद्धित प्रत्ययान्त भी कुछ शब्द 'अव्यय' हैं, जिन के आगे सब तो नहीं, कहीं कोई विभक्ति आ जाती है। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए वैय्याकरणों ने 'असर्वविभक्तिः' का अर्थ किया है—'जिस शब्द के आगे पूरी विभक्ति न आए यानी एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन; ये तीनो 'वचन' न आ कर सदा ही 'एकवचन' आए, वह तद्धित-शब्द 'अव्यय' समझिए—'सर्वा वचनत्रयात्मिका विभक्तिः यस्मान्नोत्पद्यते, किन्त्वेकवचनान्येवोत्पद्यन्ते, स तद्धितान्तोऽव्ययसंज्ञः स्यादिति फलति'—मतलब यह कि 'जिस तद्धित शब्द में तीनों 'वचन' न हो कर सदा 'एकवचन' ही विभक्ति में हो, उसे 'अव्यय' समझना चाहिए।' परन्तु ऐसे सभी तद्धित-शब्दों को अव्यय नहीं मान लिया गया है। 'परिगणनं कर्तव्यम्' कह कर स्पष्ट निर्देश कर दिया गया है कि ये इतने तद्धित-शब्द 'अव्यय' हैं।

यही स्थिति हिन्दी में है। अन्तर यह इतना कि संस्कृत में अव्यय से परे विभक्ति का लोप हो जाता है; हिन्दी में लोप नहीं होता, विभक्ति सामने रहती है। भाषा ही दूसरी हुई। अपना मार्ग-भेद।

इस मार्ग-भेद को न समझकर हिन्दी के कई बड़े विद्वान् भी चक्कर में पड़ जाते हैं; जब 'व्याकरण' का ज्यादा ख्याल करते हैं। मैंने हिन्दी के एक बड़े विद्वान् के मुख से सुना है—'सदा काल से हमारी यह परम्परा चली आ रही है।' 'सदा से' बोलने में कदाचित् उन्हें ऐसा लगता होगा कि हम 'गलत' बोल रहे हैं। 'गलत' इस लिए कि संस्कृत में तो 'सदा' के आगे कोई विभक्ति आती नहीं है; तब हिन्दी में कैसे आ जाएगी! इसी लिए 'सदा से' को गलत समझ 'सदा काल से' प्रयोग! यानी 'से' लगाए बिना काम चलता नहीं है और लगाने से 'व्याकरण' का विरोध होता है; इस लिए आगे 'काल' ला कर काम चलाया! परन्तु 'सदा' में 'काल' तो पहले

ही बैठा है ! 'सदा काल' बहुत भद्दा प्रयोग है ! यह सब उन हिन्दी-'व्याकरणों' का परिणाम है, जो संस्कृत के आधार पर लिखे गए हैं।

संक्षेप यह कि हिन्दी में 'अब' आदि के आगे 'से' आदि विभक्तियाँ आती हैं; परन्तु सदा एकवचन ही रहता है और प्रकृति में कोई विकृति (परिवर्तन) न होने से उनका अव्ययत्व अप्रतिहत रहता है। हिन्दी की सभी 'बोलियों' में यही स्थिति है—'अब के नाथ मोहि उबारि'। राष्ट्रभाषा में 'अब की बार तुम्हें पुरस्कार मिलेगा'। विभक्ति से परिवर्तन नहीं, किसी दूसरे अव्यय से सन्धि जरूर—'अभी' 'तभी' आदि।

तद्धित की ही तरह वे कृदन्त शब्द भी अव्ययों में ही गिने जाते हैं, जो सदा एकरस रहते हैं। संस्कृत में भी 'कृत्वा' 'कर्तुम्' आदि कृदन्त शब्द 'अव्यय' माने गए हैं। हिन्दी में 'पढ़कर' आदि पूर्वकालिक तथा 'पढ़ने जाएगा' आदि में 'पढ़ने' आदि क्रियार्थक क्रियाएँ 'अव्यय' श्रेणी में हैं; क्योंकि इनके रूप सदा एकरस रहते हैं।

संस्कृत के अव्यय भी हिन्दी में चलते हैं; परन्तु जहाँ 'अपने' अव्यय स्थिर कर लिए गए हैं, वहाँ किसी भी दूसरी भाषा का—संस्कृत का भी—कोई अव्यय नहीं चलता ! संस्कृत के ए, ओ, हे, रे आदि संबोधन-अव्यय हिन्दी में भी चलते हैं। 'न' भी ज्यों का त्यों चलता है। परन्तु 'ही' अवधारणार्थक 'अपना' अव्यय है; इस लिए संस्कृत का 'एव' यहाँ कतई नहीं गृहीत है। 'राम ही जाए गा' आदि में 'ही' की जगह किसी भी भाषा का कोई अव्यय न चले गा; तत्सम 'हि' भी नहीं। इसी तरह 'भी' हिन्दी का अपना अव्यय है, समुच्चयार्थक—'राम भी चले गा'। यहाँ 'भी' की जगह 'अपि' या 'च' संस्कृत-अव्यय नहीं रखे जा सकते। हिन्दी का 'तो' अव्यय संस्कृत के 'तु' का ही विकास है; परन्तु तो भी, 'तो' की जगह 'तु' कभी भी न आए गा। संस्कृत का 'सदा' अव्यय हिन्दी में चलता है; परन्तु 'साम्प्रतम्' आदि नहीं। कभी-कभी 'सम्प्रति' आ भी जाता है। परन्तु 'यदा' 'कदा' आदि नहीं आते। 'जब तुम आए' की जगह 'यदा तुम आए' नहीं हो सकता और 'कब तुम जाओ गे' को 'कदा तुम जाओ गे' नहीं कर सकते। 'सदा' इस लिए चलता है कि इस की जगह हिन्दी का अपना कोई अव्यय है ही नहीं। कुरुजांगल (करनाल रोहतक आदि) में 'यदा'-'कदा' को 'जद'-'कद' जैसा बोला जाता है। कुरुजनपद (मेरठ-मण्डल) में 'द' को

'ब' कर के 'जब'-'कब' आदि रूप हो जाते हैं। कुरुजाङ्गल में 'सदा' का रूप 'सद' नहीं हुआ; क्योंकि वहाँ और उस के पड़ोस (व्रज) में 'सद्यः' अव्यय को 'सद' बोलते हैं—'सदलोनी'–ताजा मक्खन, सद्यः समुद्धृत नवनीत। जब 'सद्यः' का 'सद' बन गया, तब 'सदा' को वह रूप न दिया गया। भ्रम क्यों बढ़ाया जाए ? हिन्दी में 'कदा' का जैसे 'कब' बना, उसी तरह 'सदा' का 'सब' बन जाता, तो भी ठीक न होता। 'वे सब खाते हैं' आदि प्रयोगों में भ्रम-सन्देह आ उमड़ते ! 'वे सब खाते हैं' के 'सब' को 'सद' (ताजा) भी समझा जाता ! हिन्दी-विकास की यह पद्धति नहीं है। सो, संस्कृत का तद्रूप शब्द 'सदा' चलता है। हाँ, संयुक्त-रूप से 'यदा-कदा' जरूर चलते हैं—'यदा-कदा अच्छी गम्भीर पुस्तक भी देखने में आ जाती है।' इसी तरह 'यत्र-तत्र'—'यत्र-तत्र बिखरी सामग्री यहाँ इकट्ठी कर दी गई है।' अलग-अलग 'यत्र' और 'तत्र' न आएँ गे। 'जहाँ चाहो, चलो' में 'जहाँ' की जगह 'यत्र' कभी भी न बैठ सके गा और न 'वहाँ हमें भी चलना है' में 'वहाँ' की जगह 'तत्र' ले सके गा। संस्कृत के 'च' की जगह हिन्दी में 'और' है, जो 'कभी' के साथ संयुक्त हो कर 'अन्यदा' का काम देता है—'और कभी सही'।

हिन्दी का 'क्या' अपना अव्यय है; इस लिए संस्कृत का 'किम्' न आए गा। 'कुछ' अपना है; इस लिए 'किमपि' न आए गा। अवश्य कभी-कभी 'किञ्चित्' तद्रूप आ जाता है—'किञ्चित् धन पा कर ही क्षुद्र जन इतराने लगते हैं !' अन्य भाषाओं के शब्दों के साथ 'किञ्चित्' न आए गा। 'किञ्चित् दौलत' नहीं कह सकते ! पूरा 'किञ्चित् धन' संस्कृत तद्रूप समझना चाहिए।

संस्कृत की कोई-कोई संज्ञा हिन्दी में 'अव्यय' बन गई है; उदाहरणार्थ 'श्री'। सम्मानार्थक 'श्री'-अव्यय नाम के आगे लगाया जाता है—'श्री श्रीराम शर्मा' 'श्री सरला शर्मा'। नाम के अन्त में 'जी' अव्यय सम्मानार्थ लगता है—'आचार्य पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी'।

'तो' और 'सो' हिन्दी के अपने अव्यय हैं, जो वाक्य के प्रारम्भ में भी आते हैं:--

तो, ऐसी क्या जल्दी पड़ी है कि भोजन भी नहीं कर रहे हो ?

सो, एक बात तो निश्चित है—वे अब यहाँ न रहें गे।

संस्कृत के यथा–तथा की जगह हिन्दी के ज्यों-त्यों अव्यय हैं और 'इत्थम्'-कथम्, की जगह 'यों-क्यों'। सीधा मार्ग-ज्यों, त्यों, यों, क्यों।

स्वीकारार्थक हिन्दी का अपना अव्यय 'हाँ' है; इस लिए संस्कृत के 'आम्' या 'बाढम्' आदि यहाँ नहीं चलते। 'आम्' का ही कदाचित् 'हाँ' बन गया है। 'म्' का अनुनासिक और 'ह्' का आगम। संस्कृत का 'हुम्' हिन्दी में 'हूँ' हो गया है—'हूँ! ऐसा अभिमान!' 'ऊँ' अलग अव्यय है, अधसुनी बात को फिर से पूछने आदि में। इसी अर्थ में 'एँ' भी है। आश्चर्य तथा अरुचि आदि प्रकट करने में भी प्रयोग होता है—'एँ! ऐसी उद्दण्डता!'

'न' और 'नहीं' दोनो निषेधार्थक हैं; परन्तु विषय-भेद से आते हैं। 'वह न जाए गा' साधारण प्रयोग है; परन्तु प्रश्न में—'वह जाए गा नहीं?' 'न' का प्रयोग अन्त में हो, तो निषेध की जगह अभीष्ट-दृढ़ता प्रकट करने लगता है—'यह मेरा काम कर दो न!' अनुनय है। 'तुम वहाँ जाओ गे न?' निषेध नहीं; प्रश्न है; परन्तु अपनी रुचि के साथ। 'नहीं' का ऐसा प्रयोग नहीं होता।

और कोई विशेष बात इस सम्बन्ध में कहने की है नहीं। 'न' तथा 'नहीं' के प्रयोग-भेद में कुछ और भी कहना है। 'न' और 'ही' मिल कर ही 'नहीं' एक पृथक् अव्यय बन गया है। 'न' के अनन्तर 'ही' का स्वर अनुनासिक हो गया है—टोकनी ÷ इया = 'टोकनियाँ' आदि। परन्तु आगे यह मूल बात ओझल हो गई और तब 'वह नहीं ही गया' में पृथक् 'ही' भी। जान-बूझ कर भी जोर देने के लिए 'ही' की द्विरुक्ति हो सकती है, जोर देने के लिए।

'न' साधारण निषेध है और 'नहीं' दृढ़ता के साथ। 'शेर अन्न नहीं खाता है' निश्चय है। दृढ़तापूर्वक शेर के अन्न खाने का निषेध है। 'राम अभी नहीं आया है' दृढ़ता के साथ राम के आने का निषेध है। परन्तु— 'राम कलकत्ते न जाए, तो अच्छा' यहाँ क्रिया की निष्पत्ति निश्चित नहीं है। यह नहीं मालूम कि राम कलकत्ते जाए गा, या नहीं। इसी लिए 'नहीं' यहाँ न दिया जाए गा। 'भगवान् करे, राम अब कभी भी ऐसी विपत्ति में न पड़े'। यहाँ भी क्रिया अनिश्चित है। राम विपत्ति में नहीं ही पड़े गा,

ऐसा निश्चय नहीं। केवल कामना भर है, असीस है। इसी लिए 'नहीं' अव्यय न दिया जाए गा। 'आप न आइए गा' यहाँ भी वही बात है। न आने का निश्चय नहीं है। एक सुझाव या प्रार्थना है। वह आए गा कि नहीं, यह पक्का नहीं है। इसी लिए 'न' अव्यय है, 'नहीं' नहीं। 'राम यहाँ नहीं है' में उपस्थिति का दृढ़ता से निषेध है। मालूम है कि राम यहाँ नहीं है। परन्तु 'राम न हो, तो उस के भाई को ही बुला लाना' यहाँ राम के न होने में पूरा निश्चय नहीं है; इसी लिए 'न' अव्यय है। सम्भावना में निश्चय कैसे होगा ? 'वह न आए गा क्या ?' यहाँ भी वही स्थिति है। परन्तु–'वह आए गा नहीं' में न आने का निश्चय है। 'वह आए गा न ?' यहाँ 'न' निषेधार्थक नहीं, प्रश्नार्थक है। साधारणतः 'सिद्ध' क्रिया के साथ 'नहीं' और 'साध्य' के साथ 'न' आता है।

'न' के रूपान्तर

जब 'न' में प्रधानता यानी विधेयता नहीं रहती है, तब इस का रूप बदल जाता है। अप्रधानता आने पर सभी की वही दशा प्रायः हो जाती है! समास में पड़ कर विधेयता जाती रहती है। किसी के साथ नत्थी हो जाने का यह फल है! संस्कृत के 'एकादश' 'द्वादश' देखिए! 'एक' को 'एका' और 'द्वि' का 'द्वा' रूप हो गया है! हिन्दी में 'दुतरफा' 'दुमंजिला' 'तिगुना' में 'दो' का 'दु' और 'तीन' का 'ति' हो गया है!

'न' भी जब समास में पड़ जाता है, तो रूप बदल लेता है; कठिनाई से पहचान में आता है कि यह 'न' का ही रूप है!

राम हमारा शत्रु नहीं है
राम कलकत्ते न जाए गा
राम क्या न दे देगा ?

यहाँ सर्वत्र 'न' के द्वारा निषेध का विधान है। परन्तु—

असाहित्यिक जन वहाँ न जाने पाएँ गे
असाहित्यिक संस्थाओं में भी साहित्यिक मिल सकते हैं
अहिंसक लोग क्रूर नहीं होते।

ऊपर 'असाहित्यिक, तथा 'अहिंसक' शब्दों में 'न' का रूप 'अ' हो गया है; यानी उस का आद्य अंश (व्यंजन) लुप्त हो गया है! कभी उलट-पुलट हो जाता है—'न' का 'अन्' हो जाता है, स्वर पहले, और व्यंजन बाद में—'अनीश्वरवाद' 'अनुपम' 'अनेकता, आदि।

हिन्दी में समास-गत 'न' के उपर्युक्त 'अ' तथा 'अन्' दोनों रूप चलते हैं, संस्कृत-तद्रूप सामासिक शब्दों में ही। परन्तु ठेठ अपने शब्दों में 'अन्' को सस्वर कर के 'अन' रूप ही सदा समास में चलता है—'अनमोल हीरा' 'अनदेखी बात' 'अनसुनी कहानी' आदि। संस्कृत शब्द 'आप की अमूल्य सम्मति मेरे बड़े काम आई' आदि में 'अमूल्य' रहे गा। 'नहीं' भी 'न' का ही जोरदार रूप है; 'ही' के साथ। परन्तु समास में तो जोर रहता ही नहीं। सो, सर्वत्र 'अन' रहेगा। विदेशी शब्दों के साथ भी–'एम० ए० और अन—एम० ए० सब एक से वहाँ हैं। योग्यता देखी जाती है।' कभी-कभी 'ना' हो जाता है—'नाचीज' 'नालायक' आदि। कभी 'अपने' शब्दों के साथ 'अ' भी–'अमोलक राम'–'अकह कहानी'। स्वरादि शब्दों में भी

'आँकी चीजें अलग रखो, अन–आँकी अलग।'

एक विशेष बात यह कि हिन्दी ने संस्कृत के अव्यय प्रायः तद्रूप ही अपनाए हैं। उन में कोई हेर-फेर नहीं किया है। सदा, प्रायः, अन्यत्र, सर्वत्र आदि ज्यों के त्यों चलते हैं। 'जब-तब' आदि का उद्भव भी सीधे 'यदा-तदा' से नहीं है, कुरुजाङ्गल के 'जद-तद' से है; यह पीछे लिखा जा चुका है। 'अन्यत्र' का तद्भव रूप 'अनत' ब्रजभाषा में चलता है और 'अन्ते' चलता है हिन्दी की 'बैसवाड़ी' बोली में। 'अनत कहाँ सचु पावै' ब्रजभाषा और 'हम अन्ते कहूँ न जैबै' बैसवाड़ी—'हम अन्यत्र कहीं न जाएँ गे। राष्ट्रभाषा में 'अनत' या 'अन्ते' गृहीत नहीं है; सीधा 'अन्यत्र' चलता है। जहाँ 'अन्यत्र' का 'अनत' बना, वहाँ 'सर्वत्र' का 'सरबत' नहीं बना; क्योंकि विदेशी भाषा का 'शर्बत' भी जन-भाषा में 'सरबत' जैसा चलता है। 'प्रायः' आदि तद्रूप संस्कृत शब्दों में विसर्गों की स्थिति अक्षुण्ण रहती है; परन्तु 'दुःखद' विशेषण के विसर्ग प्रायः लुप्त हो जाते हैं। इसी तरह 'दुःखदायी' का 'दुखदायी' या 'दुखदाई' तद्भव रूप हो जाता है! परन्तु अव्ययों में यह बात नहीं। 'धीरे धीरे' के स्थान पर यदि कोई संस्कृत अव्यय दे गा, तो तद्रूप ही—'शनैः-शनैः शुभ मुहूर्त आया।'

हिन्दी के अपने अव्यय 'चाहे' 'भले' और (संयुक्त) 'भले ही' आदि बहुत अधिक हैं। सब का निर्देश यहाँ सम्भव नहीं।

कभी-कभी अव्यय में किसी संज्ञा का भ्रम हो जाता है! 'भई' अव्यय को लोग 'भाई' का लघु-रूप समझ बैठते हैं! यह गलती है। पति पत्नी से कहता है—'भई, मेरे बूते का काम यह नहीं है'। यहाँ 'भाई' का अर्थ कहाँ है? यह 'भई संस्कृत के 'भो' के वंश का जान पड़ता है। इसी तरह 'चाहे' क्रिया-प्रतिरूपक अव्यय है। इसे लोग क्रिया समझ लेते हैं! 'वह चाहे न जाए' 'मैं चाहे न जाऊँ' 'मा चाहे न जाए' 'आप चाहे जो करें' सर्वत्र 'चाहे' है। 'आप चाहें, तो हो सकता है' 'मैं चाहूँ, तो भी वह काम न हो गा' यहाँ 'चाह्' इच्छार्थक धातु के बने क्रिया-पद हैं; रूप-परिवर्तन स्पष्ट है। 'भले' अव्यय में 'भला' विशेषण का भ्रम हो जाता है! 'भले ही वह कुछ भी करे, 'तू भले ही मुझे मार दे' इत्यादि प्रयोगों में 'भले' ('विशेषणप्रतिरूपक') अव्यय है। संस्कृत में ऐसी जगह 'कामम्' अव्यय आता है। यानी संज्ञा-प्रतिरूपक, विशेषण-प्रतिरूपक तथा क्रिया-प्रतिरूपक अव्यय भाषाओं में होते हैं, उन्हें समझ लेना चाहिए। उन्हें संज्ञा, विशेषण आदि न समझ लेना चाहिए। 'अस्मि' संस्कृत का क्रिया-प्रतिरूपक अव्यय 'अहम्' के अर्थ में है—'त्वाम् अस्मि वच्मि'—मैं तुझ से कहता हूँ। यहाँ 'अस्मि' क्रिया-प्रतिरूपक अव्यय है। अव्यय इस लिए कि इसके रूप बदलते नहीं। इसी तरह ब्रज भाषा में 'हौं' क्रिया-प्रतिरूपक अव्यय 'मैं' के अर्थ में है—'हौं समझौ कछु और' मैं कुछ और हो समझो। इस 'हौं' के रूप बदलें गे नहीं। 'मैं' के 'मेरे' आदि रूप हों गे; पर 'हौं' के कभी भी 'हौं के' या 'हौं को' जैसे प्रयोग न हों गे। न कोई प्रत्यय, न विभक्ति!

'कभी भी' प्रयोग होते हैं; क्योंकि 'कभी' में 'भी' नहीं है; कब + ही = 'कभी' है। 'अभी भी' में 'ही' का अवधारण-अर्थ उपसर्जनीभूत है— 'अब भी समय है' और 'अभी भी समय है' प्रायः समानार्थक प्रयोग हैं।

उपसर्ग

हिन्दी में संस्कृत के उपसर्ग भी चलते हैं और हिन्दी ने अपने भी दो-एक उपसर्ग बनाए हैं। इन उपसर्गों के बँधे-बँधाए प्रयोग हैं। संस्कृत में उपसर्गों को अव्ययों में रख कर भी इन की एक विशिष्ट श्रेणी मानी है।

इन के विशिष्ट प्रयोग हैं। अव्यय होने पर भी, प्रयोगों पर अच्छी तरह ध्यान देने से ऐसा लगता है कि इन की एक पृथक् श्रेणी माननी ही चाहिए; भले ही फिर अव्ययों की ही एक विशिष्ट श्रेणी कहें। प्रयोग-भेद से ही शब्दों का श्रेणी-भेद सर्वत्र है। 'उपसर्ग' शब्द में 'उप' भी ध्यान देने योग्य है। 'प्रहार' 'आहार' 'विहार' आदि में 'प्र' 'आ' तथा 'वि' शब्द 'हार' के साथ लग कर अर्थ कुछ का कुछ कर देते हैं। परन्तु स्वतन्त्र इन का प्रयोग नहीं होता। अव्ययों का स्वतन्त्र प्रयोग अबाध गति से होता है। हिन्दी में एकाध उपसर्ग संज्ञा या क्रिया के रूप में जरूर चलता है। पर ऐसी स्थिति में उसे उपसर्ग न कह कर 'संज्ञा' या 'क्रिया' ही कहेंगे—'पुस्तक की चार प्रतियाँ' और 'राम आता है' में 'प्रति' संज्ञा तथा 'आ' धातु है। काम-भेद से नाम-भेद। परन्तु साधारणतः सभी उपसर्ग किसी शब्द की मदद भर करते हैं, स्वतन्त्र रूप से पृथक् आ कर काम नहीं करते। उपसर्ग तथा अव्यय के इसी प्रयोग-भेद को ध्यान में रख कर ही महर्षि यास्क ने—'उपसर्ग निपाताश्च' यों पृथक् 'उपसर्ग' शब्द गृहीत किया है और शब्दों का श्रेणिशः विभाजन करते हुए 'उपसर्ग' को अव्यय से पृथक् माना है। परन्तु उपसर्गों में भी अव्ययत्व है ही; इस लिए एक साथ दोनो को नत्थी कर के 'उपसर्ग निपाताश्च' कह दिया है। 'निपात'—अव्यय। 'उपसर्ग' नाम से भी इस श्रेणी के शब्दों की विशेषता जान पड़ती है। संज्ञा, विशेषण, क्रिया, अव्यय आदि अर्थ-सृष्टि करने में स्वतन्त्र हैं; सब के स्वतन्त्र प्रयोग होते हैं; परन्तु संस्कृत के 'प्र' 'उत्' आदि और हिन्दी के 'उ' आदि स्वतन्त्र नहीं आते। इसी लिए 'उपसर्ग'।

हिन्दी के 'अपने' उपसर्ग 'उ' तथा 'नि' जैसे हैं। 'उचक्का' 'उजड़ना' आदि में 'उ' है, जो 'उत्' के 'त्' को अलग कर के बना लिया गया है। 'नि' उपसर्ग 'निखट्टू' 'निधड़क' आदि में है। यह संस्कृत के 'निर्' से 'र्' अलग कर के बनाया गया है। संस्कृत में 'नि' उपसर्ग भी है। परन्तु एक सिद्धान्त हिन्दी की विकास-पद्धति में यह दिखाई देता है कि 'अपने' या तद्भव शब्दों में हिन्दी संस्कृत के तद्रूप उपसर्ग नहीं लगाती है। इस लिए हिन्दी के 'नि' उपसर्ग को 'निर्' का ही तद्भव रूप मान लेना चाहिए।

संस्कृत में 'प्रहार' 'विहार' आदि कृदन्त शब्दों में ही नहीं; 'प्रहरति' 'विहरति' आदि अख्यात (क्रिया) शब्दों में भी उपसर्ग लगते हैं—खूब लगते हैं। परन्तु हिन्दी में ऐसा नहीं होता। 'खाता है' 'पीता है' आदि के

साथ कोई उपसर्ग नहीं लगता। क्रियाएँ हिन्दी की सब तद्भव हैं; इस लिए संस्कृत के उपसर्ग तो स्वभावतः लग ही नहीं सकते; पर हिन्दी के 'अपने' 'नि' 'उ' जैसे उपसर्ग भी नहीं लगते। 'उठता है' में 'उ' उपसर्ग हो और 'ठता है' क्रिया हो; ऐसी बात नहीं है। 'ठता' कोई क्रिया नहीं; 'ठ' कोई धातु हिन्दी का है नहीं। एक ह्रस्वस्वर अकेले या किसी व्यञ्जन को साथ ले कर हिन्दी का कोई भी सार्थक शब्द बनाता दिखाई नहीं देता। अव्यय 'कि' जैसा कोई शब्द अपवाद स्वरूप मिल सकता है। दीर्घ स्वर अवश्य सार्थक शब्द के रूप में आता है—अकेला भी और किसी व्यंजन के साथ भी 'राम इधर आ' और 'राम उधर जा'। 'उठता है' में 'उठ' धातु है, जो कि 'उत्था' का तद्भव रूप है। 'उत्था' के 'त्' का लोप और 'था' का 'ठ' विकास। यों 'उठ' धातु है; किसी हिन्दी धातु में हिन्दी का 'उ' उपसर्ग नहीं है। हाँ, संस्कृत के कृदन्त 'प्रहार'–'विहार' आदि से 'प्रहार करता है' 'विहार करता है' यों संयुक्त-क्रियाएँ अवश्य उपसर्ग ले कर चलती हैं; परन्तु ये उपसर्ग जहाँ के तहाँ 'प्रहार' आदि तद्रूप संस्कृत शब्दों में ही रहते हैं।

हिन्दी के 'सँभालो अपना माल' आदि प्रयोगों में 'सँभालना' क्रिया का पूर्वांश 'सम्' उपसर्ग के विकास 'सँ' से संवलित जरूर है। परन्तु इसे भी यहाँ उपसर्ग न कहा जाए गा। पूरी क्रिया 'सँभालना' है। 'मालना' हिन्दी में कोई क्रिया-शब्द नहीं है। संस्कृत में 'भाल्' धातु अवश्य है, जिस के तिङन्त प्रयोग तो दुर्लभ हैं; परन्तु कृदन्त 'जगत् सर्वं केन वा विनिभालितम्' आदि प्रसिद्ध हैं। यही 'भाल्' सस्वर हो कर हिन्दी में 'देख-भाल' आदि के रूप में आता है। केवल 'भाल' का प्रयोग नहीं होता। संस्कृत में 'सम्भालितं हि स्वं द्रव्यम्'-(अपना माल सँभाल लिया) चलता है। इसी 'सम्भाल' को हिन्दी ने 'सँभाल' बना लिया है, जिस का स्वतन्त्र प्रयोग होता है। सो, हिन्दी में 'सँभाल' धातु है—'भाल' नहीं। 'भाल' है अवश्य; परन्तु उस का प्रयोग 'देख' के साथ होता है—'देख-भाल'। 'भालता है' प्रयोग नहीं; इस लिए हिन्दी के 'सँभालता है' आदि में 'सँ' (हिन्दी का) उपसर्ग नहीं है।

व्रजभाषा तथा अवधी आदि में 'पजरत' (जोर से जलता है, धधकता है) तथा 'निहारत' जैसे क्रिया–रूप हैं। ये संस्कृत प्रज्वल् > 'पजर' नि-

भाल्>'निहार' आदि तद्भव धातु हैं। 'जर' धातु ब्रजभाषा तथा अवधी में है और हिन्दी में 'जल' धातु है--'जलता है'। 'जर' धातु में 'प' उपसर्ग ब्रजभाषा आदि ने नहीं लगाया है; 'प्रज्वल' से 'पजर' बनी-बनाई धातु आई है। यदि 'पेंचत' 'पींजत' आदि क्रियाओं में भी कहीं 'प' लगता, तो अवश्य यह हिन्दी का पृथक् उपसर्ग समझा जाता। 'उ' उपसर्ग हिन्दी का जरूर जान पड़ता है—उजड्ड, उजाड़; उचक्का, आदि शब्दों में उसकी स्थिति है।

कुछ भी हो, राष्ट्रभाषा की क्रियाएँ 'पजलता है' जैसी नहीं होतीं। यानी यहाँ हिन्दी की 'अपनी' धातुओं में 'अपने' भी उपसर्ग पृथक् नहीं लगते।

ऐसा जान पड़ता है कि स्पष्टता और संक्षेप-प्रियता के ही कारण हिन्दी ने पृथक् उपसर्ग क्रिया आदि में नहीं पसन्द किए। जब 'होता है' और 'करता है' ये दो क्रिया-रूप बन गए, तब 'भवति'-अनुभवति' की तरह एक ही धातु में उपसर्ग-प्रयोग से अर्थ-भेद करना बेकार! 'होता है'—'अनुभव होता है' 'दुख होता है' आदि प्रयोग होते हैं। इसी तरह 'करता है' समझ लिया, फिर 'विहार करता है' 'प्रहार करता है' 'संहार करता है' आदि। सीधा मार्ग।

इस प्रवृत्ति को प्रकट करने के लिए हिन्दी ने अपने पड़ोस (पंजाब) की 'वेख' धातु नहीं ली। 'वेखदा है'—देखता है। 'वेख' संस्कृत 'वीक्ष' से है। 'ई' को 'ए' और 'क्ष्' से 'क्' का लोप कर के 'ष्' को 'ख' सस्वर। यानी 'वि' उपसर्ग के साथ 'ईक्ष्' संस्कृत का 'वेख' हिन्दी ने न ले कर 'देख' एक पृथक् धातु बनाई, जिस में स्पष्टतः 'वेख' की छाया है। 'दृश' से 'देख' है, उसी 'वेख' के अनुकरण पर। 'उपविष्ट' के 'उप' को हटा कर 'विष्ट' मात्र से 'बैठ' धातु हिन्दी ने बनाई। संस्कृत में 'हरति' के साथ 'वि' 'सम्' 'प्र' आदि उपसर्ग लगा कर 'विहार करना' 'संहार करना' 'प्रहार करना' आदि अर्थ प्रकट किए जाते हैं। हिन्दी ने झमेला नहीं बढ़ाया। अपनी किसी धातु में उपसर्ग लगा-लगा कर अर्थ-भेद नहीं किया। 'करता है' क्रिया बना ली और फिर संस्कृत के 'विहार' 'संहार' 'प्रहार' आदि शब्दों के साथ उसे लगा दिया—'विहार करता है' 'प्रहार करता है' आदि। संस्कृत में 'आहरति' का अर्थ है—'खींचता है' और 'आहार' कहते हैं—'भोजन' को। 'रामः वस्त्रम् आहरति'—राम कपड़ा खींचता है'। 'रामः दुष्टान् संहरति' और 'रामः दुष्टानाम् संहारम् करोति' का एक ही अर्थ है।

हिन्दी ने दूसरी पद्धति पकड़ी है। 'रामः दुष्टान् संहरति' का मतलब तो ठीक; पर 'रामः फलानि आहरति' और 'रामः फलानाम् आहारम् करोति' के अर्थ भिन्न पड़ जाते हैं। 'आहार' शब्द देख कर 'रामः फलम् आहरति' को कोई 'रामः फलानाम् आहारम् करोति' के अर्थ में बोले, तो गलत हो जाए गा। 'आहार' तथा 'आहरण' में अन्तर है। हिन्दी ने यह सब झंझट दूर रखी है। हाँ, ब्रजभाषा आदि में साहित्यिक प्रयोग जरूर होते हैं— 'प्रहार्‌यो' 'संहारत प्रभु दनुज सदा हीं' आदि। ये 'प्रहार' 'संहार' आदि से बनाए प्रयोग हैं।

'परसर्ग' की नई बला !

हिन्दी में भाषा-विज्ञान के जो ग्रन्थ निकले हैं, उन में बड़ी मजेदार बातें देखने को मिलती हैं ! हिन्दी में कोई भी 'अपना' शब्द हलन्त नहीं है; सभी स्वरान्त हैं। परन्तु 'भाषा-विज्ञान' के ग्रन्थों में लिख दिया गया है कि 'हिन्दी के पढ़, कर, मर, लिख आदि वे सभी धातु-शब्द 'हलन्त' हैं, जिन्हें सब देख रहे हैं—अकारान्त हैं ! परन्तु वे लोग भी 'पढ़ता है' 'करता है' जैसे रूपों में ही क्रिया-पद लिखते हैं ! तो भी 'पढ़' आदि को 'हलन्त (व्यञ्जनान्त) 'पढ़्' बतलाते हैं ! पूछो कि ये सब धातु हलन्त हैं, तो फिर 'पढ़्ता है' 'कर्ता है' जैसे क्रिया-पद लिखो; 'पढ़ता है' 'करता है' क्यों लिखते हो ? तो, कहते हैं कि लिखने में 'अ' अन्त में आ मिलता है ! कहाँ से आ मिलता है ? क्यों आ मिलता है ? आप ने यह कैसे समझा कि 'पढ़' आदि धातु 'हलन्त' हैं ? कोई उत्तर नहीं ! उत्तर यही कि 'हम हलन्त मानते हैं !' अच्छे हो तुम ! जो हिन्दी अकारान्त, व्यञ्जनान्त तथा विसर्गान्त शब्दों का काट-छाँट कर लेती है, उस के सिर ये भाषा-विज्ञानी यह कूड़ा-कचरा थोप रहे हैं कि 'पढ़' आदि 'हलन्त' धातु हैं ! यही नहीं, घर, पाठ, पट आदि संज्ञा-शब्दों को भी ये 'हलन्त' बतलाते हैं; पर लिखते 'हलन्त' नहीं हैं ! 'घर में' ही सब रहते हैं; 'घर् में' नहीं ! कहते हैं, लिखने में 'अ' आ मिलता है ! पहले अलग कर के 'हलन्त' बतलाते हैं; फिर कहते हैं कि 'आ मिलता है' ! यही नहीं, संस्कृत के 'जल' 'पवन' आदि शब्दों को भी ये लोग 'हिन्दी में हलन्त' बतलाते हैं ! हद हो गई न ! जो हिन्दी 'नभस्' 'पयस्' आदि के 'हल्' (व्यञ्जन) 'स्' को छाँटकर 'नभ' तथा 'पय' के रूप में अपना प्रातिपदिक स्वीकार करती है, उसी में प्रयुक्त संस्कृत के 'जल'

'पवन' आदि को ये भाषा-विज्ञानी 'हलन्त' बतलाते हैं ! 'पवन' अकारान्त संस्कृत-शब्द हिन्दी में व्यञ्जनान्त 'पवन्' होता, तो फिर यह (हिन्दी) संस्कृत के 'चर्मन्' 'कर्मन्' जैसे प्रातिपदिकों के 'न्' को अलग कर के 'चर्म' 'कर्म' आदि के रूप में क्यों अपनाती ? व्यञ्जनान्त शब्द तो पहले ही प्राकृतों में छूट गए थे। यह उलटी गंगा अब फिर हिमालय पर क्यों चढ़ाई जा रही है ?

खैर, इस तरह की बहुत ही मजेदार बातें हिन्दी के 'भाषा-विज्ञान'-ग्रन्थों में हैं। जो धमाचौकड़ी पहले 'व्याकरण' में थी, वही आज 'भाषा-विज्ञान' में है और 'रस-अलङ्कार' को तो कूड़ा ही बना दिया गया है ! प्रसंगान्तर है, कभी देखा जाए गा। यहाँ 'उपसर्ग' के सिलसिले में 'परसर्ग' याद आ गया था, उसी पर कुछ कहना था। 'परसर्ग' नया शब्द गढ़ा गया है, चलाया जा रहा है। को, ने, रे, के, से, में आदि संज्ञा-विभक्तियों को ये लोग 'परसर्ग' कहते हैं ! पूछो, यह नया नाम क्यों ? 'विभक्ति' नाम क्यों बुरा ? तो, कहते हैं कि ये 'को' 'ने' आदि प्रकृति से हटा कर लिखे जाते हैं, सटा कर नहीं, इस लिए 'विभक्ति' नहीं और इसी लिए 'परसर्ग' हैं ! परन्तु 'तेरे गौएँ हैं, 'अपने एक लड़की है' आदि में तो 'रे' 'ने' विभक्तियाँ सट कर हैं ! इन्हें क्या कहो गे ? और, बहुत से लोग तो 'को' आदि को भी सटा कर ही लिखते हैं। बहुत से ऐसे हैं, जो हटा कर लिखते हैं; पर सर्व-नामों में सटा कर ही लिखते हैं—'राम को फल' और 'इसको मधु'। यहाँ एक 'को' परसर्ग है और दूसरा विभक्ति ? क्या लाभ ? यह क्यों नहीं कह देते कि हिन्दी में विभक्तियाँ प्रकृति से हटा कर लिखी जाती हैं, कोई-कोई सटा कर भी लिखते हैं। संस्कृत में विभक्तियाँ सटा कर ही लिखी जाती हैं, तो लिखी जाएँ। हिन्दी तो एक स्वतन्त्र भाषा है। कोई विभक्ति सटा कर भी लिखी जाती है, हटा कर भी लिखी जाती है। 'परसर्ग' नाम रखने का कोई कारण तो नहीं नजर आया !

कहते हैं, ये 'को' आदि हिन्दी की विभक्तियाँ नहीं हैं, कुछ दूसरे शब्दों के घिसे हुए रूप हैं ! इसी लिए ये 'परसर्ग' हैं ! बहुत खूब ! संस्कृत की विभक्तियाँ कैसे बनीं ? क्या वे स्वतन्त्र शब्दों के घिसे हुए रूप नहीं हैं ? कोई चीज कैसे बनी, यह अलग बात है। रेशमी कपड़ा क्या 'कपड़ा' नहीं है; क्योंकि वह रुई से नहीं बना है ? रुई से बनी चादर हम ओढ़ते-बिछाते हैं और रेशमी चादर भी। दोनो चादरें हैं। रेशमी चादर को 'चादर' न

कहो, 'बगड़ी' कहो; क्योंकि वह किसी दूसरी चीज से बनी है; यह कह कर कोई 'बगड़ी' शब्द दे, तो कैसा रहे गा ? तब ऊनी चादर के लिए 'भगड़ी' भी बने गा !

हमें कुछ विशेष नहीं कहना है—'परसर्ग' ही सही ! जो कुछ हम 'विभक्ति' के बारे में कह आए हैं, 'परसर्ग' के बारे में समझा जाए ! हिन्दी में 'विभक्ति' ही नहीं, अन्य साधारण प्रत्यय भी पृथक् लिखे जाते हैं। 'शहरी' 'सावधानी' आदि में 'ई' तद्धित प्रत्यय सटा कर है, प्रकृति से; परन्तु 'गाड़ी छूटने ही को थी कि मैं पहुँच गया, और 'गाड़ी छूटने ही वाली है; जल्दी जाओ, यहाँ 'को' की ही तरह 'वाली' कृदन्त-प्रत्यय भी प्रकृति से बहुत दूर है। तो, ऐसे प्रत्ययों का नाम क्या 'अभिसर्ग' रखा जाए ? सब तमाशा है !

पञ्चम अध्याय

यौगिक शब्दों की प्रक्रियाएँ

भाषा में शब्द दो तरह के होते हैं—'रूढ़' (या साधारण) और 'यौगिक'। किसी का नाम आप ने 'क' रख दिया और उस का यह नाम जन-प्रसिद्ध हो गया; लोग उसे इस 'क' नाम से पुकारने-समझने लगे; तो यह ('क') नाम उस के लिए 'रूढ़' हो गया। इस से मतलब नहीं कि 'क' नाम क्यों रखा गया। 'पेट' जिस अङ्ग को कहते हैं, हम सब समझते हैं; परन्तु क्यों 'पेट' कहते हैं, यह हमें जब तक न मालूम हो, हमारे लिए यह शब्द 'रूढ' ही रहे गा। पता नहीं, क्यों 'पेट' नाम रखा गया! सम्भव है, कुछ सोच कर ही रखा गया हो। परन्तु जब तक हमें पता न लगे; तब तक हमारे लिए यह 'रूढ' शब्द है। 'दावात' रूढ शब्द है हमारे लिए; किन्तु 'मसी-पात्र' यौगिक शब्द है। मसी (स्याही) का पात्र। यदि 'दावात' का भी कोई योगार्थ हो और वह हमें मालूम हो जाए, तो उसे भी हम यौगिक शब्द कहने लगें गे। 'बुहारी' यौगिक शब्द है— जिस से बुहारा जाए, वह 'बुहारी'। परन्तु 'सूप' हमारे लिए 'रूढ' शब्द है, जब तक कोई व्युत्पत्ति न मालूम हो जाए। 'जलज' कमल को कहते हैं—यौगिक शब्द है। कमल जल में पैदा होता है। परन्तु जल में पैदा होने वाली सभी चीजें 'जलज' शब्द से न जानी जाएँ गी; क्योंकि 'कमल' के ही लिए यह शब्द 'रूढ' हो गया है। इसी लिए 'जलज' को 'योगरूढ' शब्द कहेंगे।

निरुक्त-शास्त्र के कुछ आचार्यों का मत है कि भाषा के— उनके सामने संस्कृत भाषा के—सभी शब्द यौगिक हैं; यह अलग बात है कि उन में से बहुतों का योगार्थ या व्युत्पत्ति हम भूल गए और इन्हें 'रूढ़' शब्द कहने लगे! सोचने पर व्युत्पत्ति मालूम हो सकती है। कुछ लोगों का कहना है कि भाषा में स्वभावतः दोनो तरह के शब्द पहले से ही चले आ रहे हैं। जो भी हो, हम यह मान लें कि जिस शब्द की व्युत्पत्ति शिष्टजन-प्रसिद्ध है, वह यौगिक और जिसकी व्युत्पत्ति बहुत सोचने पर भी विद्वत्समाज के सामने नहीं, वह 'रूढ़' शब्द है। जब इस की व्युत्पत्ति मालूम हो जाए गी, तब यह भी हमारे लिए 'यौगिक' हो जाएगा।

कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी अति प्राचीन शब्द की व्युत्पत्ति भूल कर लोग उसे रूढ शब्द समझ लेते हैं और फिर कोई विद्वान् उस शब्द का ऐसा योगार्थ प्रकट करता है कि लोग उसे मान लेते हैं—उस शब्द को यौगिक समझने लगते हैं—इस नई व्युत्पत्ति के कारण। कभी-कभी ऐसे शब्दों की व्युत्पत्ति कई तरह से निरुक्ताचार्य करते हैं। फिर उन में से जो भी जन-गृहीत हो जाए। महर्षि यास्क ने अपने 'निरुक्त' में लिखा है कि ऐसे दुरूह शब्दों की व्युत्पत्ति जितनी भी तरह से समझ में आए, प्रकट कर देनी चाहिए। उन का मतलब यह कि अन्दाज ही तो है! न जाने कौन सही हो!

योगार्थ की दृष्टि से व्याकरण में कृदन्त, तद्धित तथा समास नाम के तीन प्रमुख प्रकरण रखे गए हैं। यानी शब्दों की व्युत्पत्ति त्रिधा संभावित है। पूर्वार्द्ध के इस अन्तिम अध्याय में हम इन तीनों ही प्रकरणों का संक्षेप से उल्लेख करेंगे, जिससे हिन्दी का स्वरूप-गठन तथा योग-प्रयोग स्पष्ट हो जाए।

पिछले अध्यायों में शब्दों की जिन श्रेणियों का उल्लेख हुआ है, वे सब कृदन्त, तद्धित तथा समास से संवलित हैं। इसी लिए उनके बाद (और क्रिया-प्रकरण प्रारम्भ करने से पहले) यह अध्याय रखा गया है।

१—कृदन्त प्रकरण

भाषा में 'कृदन्त' प्रकरण का बड़ा महत्त्व है। 'कृदन्त' तथा 'तद्धित' शब्द हिन्दी-व्याकरण में 'रूढ' शब्द के रूप में गृहीत हैं। ये संस्कृत-व्याकरण के शब्द हैं। वहाँ ये 'यौगिक' शब्द हैं। परन्तु हिन्दी में 'कृत्' जैसी कोई चीज नहीं है। इस लिए यहाँ यह रूढ शब्द है—उसी अर्थ में। जिस संज्ञा या विशेषण आदि में किसी क्रिया ('धातु') का अर्थ झलक मारता हो, उसे 'कृदन्त' शब्द कहते हैं।

कृदन्त प्रकरण अत्यन्त महत्त्व का इस लिए है कि संज्ञा-विशेषण आदि से तो इस का सम्बन्ध है ही; हिन्दी के क्रिया-प्रकरण में भी इसकी सर्वाधिक सत्ता है। हिन्दी के अधिकांश क्रियापद कृदन्त हैं, बहुत कम 'तिङन्त'। संस्कृत में तिङन्त क्रियाओं की प्रधानता है, हिन्दी में कृदन्त की ओर झुकाव है। ऐसा देखा जाता है कि आगे-बढ़ते-बढ़ते संस्कृत 'यङन्त' 'यङ्लुगन्त' तथा 'सन्नन्त' जैसी प्रक्रियाओं का ह्रास होता गया है और कृदन्त का जोर बढ़ता गया है। संस्कृत-काव्यों का अनुशीलन करने से यह बात स्पष्ट हो

जाए गी। इस का कारण यह है कि कृदन्त रूप संक्षिप्त, सुडौल तथा श्रवण-सुखद होते हैं, तिङन्त रूपों की अपेक्षा। 'यङन्त' आदि के रूप तो बड़े बेढब होते हैं। इसी लिए संस्कृत-काव्यों में यङन्त आदि की क्रियाएँ 'नहीं' के बराबर हैं और साधारण 'तिङन्त' की अपेक्षा भी कृदन्त की ओर अधिक झुकाव है। संस्कृत की ही तरह जन-भाषा में भी कृदन्त की ओर अधिक प्रवृत्ति रही है। इसी लिए हिन्दी में कृदन्त क्रियाओं का आधिक्य है। परन्तु कृदन्त क्रियाओं का विवेचन तो आगे उत्तरार्द्ध में होगा। यहाँ संज्ञा-विशेषण आदि से संबन्ध रखनेवाली ही चर्चा चले गी। यों समझ लीजिए कि कृदन्त प्रकरण को हम द्विधा विभक्त कर रहे हैं। पूर्वार्द्ध से संबन्ध रखनेवाला अंश यहाँ यह है और उत्तरार्द्ध के 'आख्यात' अंश से जितना संबन्ध है, वह वहीं आए गा! यहाँ वह झमेला ठीक नहीं।

भाववाचक संज्ञाएँ

हिन्दी कृदन्त शब्दों में 'भाववाचक' संज्ञाएँ सबसे अधिक हैं। तद्धित 'भाववाचक' संज्ञाओं का विवरण आगे यथास्थान आए गा; यहाँ कृदन्त भाववाचक संज्ञाएँ ही देखनी हैं। कृदन्त और तद्धित के 'भाव' पृथक्-पृथक् हैं। कृदन्त 'भाव' का मतलब है—'शुद्ध धात्वर्थ'। केवल धातु का अर्थ 'भाव' कहलाता है, जिसमें न कोई 'काल' और न कोई 'पुरुष' की प्रतीति। वचन-भेद भी नहीं, सदा एकवचन। यद्यपि शुद्ध 'भाव' में लिङ्ग-वचन का भी कोई संबन्ध नही होता; तो भी एकवचन केवल व्यवहार के लिए होता है। वस्तुतः वहाँ न कोई 'वचन' होता है, न कोई वर्ग-भेद। हिन्दी में पु० एकवचन सामान्य-प्रयोग है—औत्सर्गिक है; जैसे संस्कृत में नपुंसक लिङ्ग-एकवचन। 'पढो' में 'पढ़' धातु का अर्थ पुरुष-वचन तथा प्रेरणा (आज्ञा) से मिला हुआ है। जान पड़ता है कि 'मध्यम पुरुष' को 'पढ़' धातु के अर्थ में प्रवृत्त किया जा रहा है। वचन भी स्पष्ट है। 'पढूँ गा' कहने से पुरुष-वचन के साथ 'काल' की भी प्रतीति होती है। इस लिए यहाँ धात्वर्थ 'शुद्ध' या अकेला नहीं है। 'कतरनी' कहने से कारक की प्रतीति होती है। धात्वर्थ के साथ-साथ 'करण' कारक दिखाई देता है—जिससे कतरा जाए, उसे 'कतरनी' कहते हैं। इस लिए यहाँ भी 'शुद्ध धात्वर्थ' नहीं है। परन्तु 'पढ़ना' 'कतरना' 'जाना' 'आना' आदि धातुज शब्दों से अन्य कोई भी अर्थ सामने नहीं आता—न पुरुष, न वचन, न लिङ्ग, न कारक,

न आज्ञा-प्रार्थना आदि। केवल धात्वर्थ (शुद्ध क्रिया) की प्रतीति होती है। इसी लिए ऐसे शब्दों को 'भाववाचक संज्ञा' हिन्दी में कहते हैं। संस्कृत की 'अध्ययनम्, पठनम्, शयनम् आदि भाववाचक संज्ञाएँ हैं। यानी क्रिया के सामान्य रूप को 'भाव' कहते हैं और उस के लिए प्रयुक्त होनेवाली संज्ञाएँ 'भाववाचक' संज्ञाएँ कहलाती हैं। 'पढ़ना-लिखना' कहने से धात्वर्थ के अतिरिक्त और कुछ मालूम नहीं होता। 'पढ़ना' आदि में 'न' भाववाचक कृदन्त प्रत्यय है और हिन्दी की औत्सर्गिक पुंविभक्ति (पु० एकवचन) 'आ' (ा) सर्वत्र स्पष्ट है। संस्कृत में नपुं०-एकवचन औत्सर्गिक है—'पठनम्'। यानी हिन्दी में 'पढ़ना' आदि शब्दों में पुंविभक्ति से पुंस्त्व तथा एकवचन विवक्षित नहीं है। पुंस्त्व-स्त्रीत्व तथा संख्या (वचन) कर्ता-कर्म जैसे कारकों में होता है, क्रिया में नहीं। क्रिया में न स्त्रीत्व, न पुंस्त्व और न कोई संख्या। कर्ता तथा कर्म की ये उपाधियाँ गौणतः क्रिया-शब्दों में आ जाती हैं—'राम पढ़ता है' 'सीता पढ़ती है' 'लड़के पढ़ते हैं' और 'राम ने पुस्तक पढ़ी', 'लेख पढ़ा'। वस्तुतः क्रिया में यह सब कुछ भी नहीं। 'पढ़ना' आदि कहने से केवल धात्वर्थ स्पष्ट होता है और कुछ नहीं। जब किसी संज्ञा का उच्चारण होगा, तो कोई न कोई लिङ्ग-वचन जरूर ही बोलना पड़ेगा। सो, कृदन्त भाववाचक संज्ञाओं में कहीं पु० एकवचन रहता है, और कहीं स्त्रीलिङ्ग एकवचन। [भाववाच्य 'क्रिया-शब्द' (तिङन्त) सदा अन्य पुरुष एकवचन में रहते हैं; यह क्रिया-प्रकरण में आएगा।]

भाववाचक संज्ञाएँ एकवचन पुल्लिङ्ग—

राम का पढ़ना, सीता का पढ़ना, लड़कों का पढ़ना

मेरा पढ़ना, तेरा पढ़ना, उनका पढ़ना, किसी का पढ़ना

सभी भेदकों में:—

लड़कों के पढ़ने से, सीता के पढ़ने में

हमारे पढ़ने का, तुम्हारे पढ़ने को

सब जगह पुल्लिङ्ग एकवचन। संस्कृत की ही पद्धति है (पु० न० भेद छोड़ कर)—

बालकानामध्ययनेन, सीतायाः अध्ययने
अस्माकमध्ययनस्य, युस्माकमध्ययनम्

संस्कृत में बहुवचन भी आ जाता है:—

'प्रवर्तन्तामध्ययनानि चिन्तनानि च'

परन्तु हिन्दी में ऐसा न होगा। सदा पु० एकवचन रहेगा—

'पढ़ना-विचारना अब प्रारम्भ हो'

'प्रवर्तन्तामध्ययनानि' की तरह 'पढ़ने जारी हों' ऐसा कभी न होगा—'पढ़ना जारी हो' रहेगा। संस्कृत में 'अध्ययनानि' जैसे प्रयोग कर्ता या कर्म के बहुत्व को ध्यान में रख कर हैं। हिन्दी की प्रवृत्ति है कि जब 'भाव' ही है, तो सदा एकवचन ही ठीक। बस, यह अन्तर है।

तद्धित भाववाचक संज्ञाएँ भी हिन्दी में एकवचन ही रहती हैं। परन्तु तद्धित का 'भाव' दूसरी चीज है। वहाँ 'धात्वर्थ' जैसी कोई बात ही नहीं। वह तो संज्ञा से संज्ञान्तर या विशेषण से संज्ञा आदि बनाने का स्थल है। वहाँ 'भाव' का मतलब है—स्वरूपाख्यान। 'पण्डित' का भाव—'पाण्डित्य' या 'पण्डिताई'। स्वरूपाख्यान में भी सदा एकवचन रहेगा और वर्ग-भेद भी न होगा—राम की चतुराई देखी, सीता की चतुराई देखी, बच्चों की चतुराई देखी। इसी तरह—'राम का पाण्डित्य, सीता का पाण्डित्य, दाक्षिणात्यों का पाण्डित्य।

कृदन्त भाववाचक संज्ञाएँ जब स्त्रीलिङ्ग होती हैं, तब 'न' में पुंविभक्ति नहीं लगती—

जलन, सूजन, उलझन, उड़ान, पहचान।
पुंविभक्ति लगा दो, तो पुल्लिंग—

जलना, सूजना, उलझना, उड़ाना, पहचानना।
परन्तु दोनो वर्ग अर्थ-भेद रखते हैं। अर्थ-भेद के बिना तो हिन्दी में शब्द-भेद होता ही नहीं।

संस्कृत में भी भाववाचक संज्ञाएँ स्त्रीलिङ्ग होती हैं—प्रवर्तना, प्रेरणा, संमानना। यानी 'न' को 'ना' कर दिया गया। 'प्रवर्तन' का 'प्रवर्तना'। हिन्दी में इस के उलटे, 'ना' की जगह 'न' स्त्रीलिङ्ग में होता है; 'ना' पुल्लिङ्ग में—'जलन' स्त्रीलिङ्ग, 'जलना' पुल्लिङ्ग।

कभी-कभी हिन्दी की भाववाचक कृदन्त पुं० संज्ञाएँ पुंविभक्ति के बिना भी रहती हैं। 'खाना-पीना' सब समझते हैं; परन्तु विशेष-अर्थ में 'खान-पान' रहता है। 'उनका खान-पान हमें कुछ जँचता नहीं है।' यहाँ संस्कृत का तद्रूप 'पान' शब्द है; इस लिए हिन्दी ने अपनी पुंविभक्ति नहीं लगाई। 'पान' के साथ मेल के लिए अपने 'खाना' से भी पुंविभक्ति अलग कर ली—'खान-पान'। 'अपनी' धातु 'पी' से भाववाचक संज्ञा 'पीना' है ही। (हमने 'पान' के साथ 'खाना' को 'खान' कर लेने की बात कही है; परन्तु संस्कृत के बड़े कोश-ग्रन्थों में 'खान- पान' को संस्कृत शब्द माना है—संस्कृत 'खाद्' से 'खान' माना है—'खानम्-भोजनम्')। 'नहान' भी इसी तरह अर्थ-भेद से है—'नहान कब पड़ेगा ?'। साधारण 'नहाना' पृथक् है। इसी तरह 'मिलना' और 'मिलान' में अन्तर है। पुंविभक्ति लगा कर या अलग कर के अर्थ-विशेष प्रकट करने की पद्धति हिन्दी में है। 'खर्च' विधेय-विशेषण है—'सब रुपए खर्च हो गए'। इसमें 'आ' लगा कर तद्धितीय 'भाव' प्रकट कर लिया—'क्या खर्चा पड़ेगा ?'

'न' के अतिरिक्त अन्य कृदन्त-प्रत्यय भी 'भाव' प्रकट करने के लिए आते हैं; परन्तु अर्थभेद के लिए ही—'बहाव'। 'बह' धातु से 'आव' प्रत्यय है। 'जल का बहाव' यानी प्रवाह। 'बहना' अलग है—'प्रवहण'। इसी तरह 'चढ़ाव'-'उतराव' आदि हैं। 'चढ़ाई'-'उतराई' में 'आई' भाव-प्रत्यय है। 'चढ़ना'-उतरना' भी भाववाचक संज्ञाएँ हैं, अर्थ-सामान्य में।

'न' प्रत्यय हिन्दी में 'कर्म-प्रधान भी होता है—'तीन-चार अच्छे गाने सुने'। यहाँ 'गाना' शब्द भाववाचक नहीं है; नहीं तो 'गाने' बहुवचन न होता, 'तीन-चार' विशेषण भी न लगता। यहाँ 'गाना' में 'न' कर्म-प्रधान है—जो (पद्य आदि) गाया जाए, वह 'गाना'-गीत। चार गीत-'चार गाने'। भाववाचक संज्ञा 'गाना' कभी भी बहुवचन में न आएगी—'सब का गाना सुना; परन्तु उस बालिका का गाना सब से अच्छा रहा।' यहाँ 'गाना' भाववाचक संज्ञा है।

इसी तरह 'खाना रखा है' 'तरह-तरह के खाने बनाने में सुशीला निपुण है' यहाँ 'खाना' में 'न' प्रत्यय कर्म-प्रधान है—खाई जाने वाली चीज 'खाना'। भाववाचक 'खाना' सदा एकवचन रहेगा—'खाना-पीना भी सब को नहीं आता है!'

भाववाचक संज्ञाएँ 'न्त' स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय से भी बनती हैं—भिड़न्त, रटन्त आदि।

प्रत्यय-रहित भाववाचक संज्ञाएँ भी स्त्रीलिङ्ग होती हैं—

देख-रेख, देख-भाल, लूट, चमक, दौड़, सँभाल आदि। पुंविभक्ति नहीं लगी; क्योंकि 'देखा-भाला' तथा 'लूटा' 'चमका' आदि शब्दान्तर अर्थ-विशेष में विद्यमान हैं।

कहीं-कहीं पुल्लिङ्ग में भी पुंविभक्ति नहीं लगती है, अर्थ-विशेष जब प्रकट करना हो; यह कहा ही जा चुका है—'लगान'। कर्म-प्रधान 'न' है। जो (भूमि-कर) लगाया जाए, शासन के द्वारा, वह 'लगान'। भाववाचक संज्ञा 'लगाना' है।

संस्कृत में 'न' ('अन') प्रत्यय 'भाव' के अतिरिक्त करण तथा अधिकरण में भी होता है और तब वह पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग रूप में वचनभेद भी ग्रहण करता है। हिन्दी में भी 'न' वैसा ही है। 'छननी'–जिस से आटा छाना जाता है, वह 'छननी'। जिस से सेव या बूँदी झारी जाती हैं, वह 'झारा'। 'झारा' में 'आ' ('करण' में) कृदन्त प्रत्यय है। 'झरना' अलग चीज है। पर्वत से झर-झर कर निकलने वाला जल-स्रोत 'झरना' कहलाता है। झर झर कर–(रस-रस कर)–बहने वाला प्रवाह 'झरना'। यों यह 'न' प्रत्यय कर्तृ-प्रधान हुआ। 'झरना' एक क्रिया है, जो शब्दानुकरण को ले कर बनी है। ऊपर से गिरने वाला जल-स्रोत 'झर झर' जैसा शब्द करता है और जल प्राय; कई-कई छिद्रों से निकलता है। इस लिए झर-झर शब्द कर के निकलने वाला 'झरना'। इसी सादृश्य से 'झारा' भी है, करण-प्रधान। 'झरना' स्वयं झरता है। 'कैंची' तद्धित शब्द है। 'कैंच' जिस चीज में हो, वह 'कैंची'। परन्तु 'कतरनी' कृदन्त शब्द है, करण-प्रधान। जिस से कपड़ा आदि कतरा जाए, वह 'कतरनी'। 'कढ़ना' एक क्रिया है। आग से किसी पदार्थ का (जलीय अंश जल कर) गाढ़ा होना। 'दूध कढ़ रहा है'। कढ़ना–(<क्वथनम्) औटना। लोहे के जिस खुले बर्तन में दूध आदि कढ़ता-औटता है, वह 'कढ़ाई'। 'कढ़' धातु से अधिकरण-प्रधान 'आई' कृदन्त प्रत्यय। जो खूब कढ़ कर तयार हो, वह 'कढ़ी'। यहाँ 'कढ़' धातु से कर्म प्रधान 'ई' प्रत्यय है। प्रकृति के 'अ' का लोप स्पष्ट है। हमारे कानपुर की ओर 'कढ़ाही' बोलते हैं, 'कढ़ाई' नहीं। 'कढ़ाई' भाववाचक संज्ञा दूसरी

है—'कसीदे की कढ़ाई'। यदि 'कड़ाही' शब्द रखें, तो फिर कृदन्त नहीं, तद्धित-शब्द रहे गा। इस वर्तन में दोनो ओर दो कड़े लगे होते हैं, पकड़ कर उठाने के लिए। तो, जिस बर्तन में 'कड़े' लगे हों, वह 'कड़ाही'। यां 'कड़ा' से 'कड़ाही' तद्धित-शब्द हुआ। अब आप इस पर सोचना चाहें कि इन दोनो शब्दों में सही कौन है, तो फिर इसी का रूपान्तर देखना हो गा—'कड़ाह'। बड़ी कड़ाही को 'कड़ाह' कहते हैं। कदाचित मूल शब्द 'कड़ाह' ही हो। छोटा कड़ाह 'कड़ाही'। यदि मूल शब्द 'कड़ाही' होता और 'बड़े' अर्थ में दूसरा शब्द बना होता, तो 'कड़ाहा' शब्द होता; जैसे गाड़ा, घोता, पोथा आदि। सो, मूल शब्द 'कड़ाह'। 'कड़ा' से तद्धित प्रत्यय 'ह'। छोटा कड़ाह 'कड़ाही'। अल्पार्थक स्त्री-प्रत्यय 'ई'। संस्कृत के 'कटाह' शब्द का विकास 'कड़ाह'; यह निरुक्तीय पद्धति है। संस्कृत का 'कटाह' भी कदाचित् यौगिक ही हो और 'कट' का वही अर्थ होता हो, जो हिन्दी में 'कड़ा' शब्द का है। संभव है, इस 'कट' से अल्पार्थक 'क' प्रत्यय कर के ही 'कटक' ('वलय' का पर्य्याय) बना हो। यह भी संभव है कि उसी 'कट' का विकास हिन्दी का 'कड़ा' हो! परन्तु 'कड़ा' के अर्थ में संस्कृत 'कट' का प्रयोग मुझे कहीं देखने को मिला नहीं है। यह प्रासंगिक चर्चा।

'निकम्मा' भी यौगिक शब्द है; पर 'नि' सामासिक है। 'कम्म'-काम जिसे कोई न हो, वह 'निकम्मा–ठलुआ! इस का साथी 'निखट्टू' शब्द कृदन्त है। 'खटना' क्रिया 'कमाने' के अर्थ में पंजाबी भाइयों में प्रसिद्ध है। भाववाचक संज्ञा तो 'खटना' बन जाती है; परन्तु मूल धातु पंजाबी में 'खट्ट' है। इसी 'खट्ट' में हिन्दी ने अपना 'नि' उपसर्ग और 'ऊ' कृदन्त (कर्तृ-प्रधान) प्रत्यय लगा कर 'निखट्टू' शब्द बना लिया। न कमाने वाला 'निखट्टू'। यह अचरज की बात है कि पंजाब में 'खट्ट' धातु कमाने के अर्थ में चलती है; पर 'निखट्टू' शब्द वहाँ नहीं चलता और हिन्दी-प्रदेशों में 'खट्ट' धातु प्रचलित नहीं; पर 'निखट्टू' शब्द खूब चलता है। इस से जान पड़ता है कि किसी समय एक ऐसी प्राकृत-भाषा थी, जो कि उत्तर भारत में हिमालय के साथ-साथ बहुत दूर तक प्रचलित रही हो गी। कालान्तर में उस के रूपान्तर हो गए; परन्तु 'खट्ट' तथा 'निखट्टू' जैसे शब्द अब भी उस एकरूपता की याद दिलाते हैं। पहले भी ऐसा होता रहा है। महर्षि यास्क के समय में कम्बोडिया की ओर 'शव' धातु 'जाने' के अर्थ में चलती थी। 'शवति'-'गच्छति'। परन्तु इस ओर 'शव' (उस धातु का कृदन्त रूप) मुर्दे के लिए बना लिया; तब 'शवति छात्रः' जैसे प्रयोग (अमंगल-व्यंजक समझ

कर) छोड़ दिए गए। यास्क ने 'निरुक्त' में यह सब लिखा है। यानी किसी एक ही भाषा के किसी शब्द का कोई रूप कहीं चलता है, दूसरा कहीं चलता है।

ऊपर हमने 'निकम्मा' शब्द 'सामासिक' बतलाया है। परन्तु यह कृदन्त भी हो सकता है—'निखट्टू' की ही तरह। 'कमाना' हिन्दी की क्रिया है—'अर्जन' या 'खटने' के अर्थ में। बड़ी सार्थक क्रिया है। 'काम' कर के ही कोई कुछ 'कमा' सकता है। 'अर्जन' वही उत्तम, जो परिश्रम से हो, काम कर के हो। यों 'अर्जन' तथा 'खटने' से 'कमाने' में विशेषता है। इसी 'कमा' धातु से 'निकम्मा' है, जिसकी कोई 'इन-कम' न हो! 'नि' उपसर्ग और 'आ' कृदन्त प्रत्यय लग कर-निकम्मा'। पर 'कमा' नामधातु जान पड़ती है। 'काम' नाम से 'धातु' 'नामधातु'। काम कर के ही कुछ कमाया जाता है। तब 'निकम्मा' शब्द में उभयथा एक ही चीज है।

इसी तरह यौगिक शब्दों में प्रक्रिया-विचार अपेक्षित है। कोई शब्द कृदन्त होगा, कोई तद्धितान्त और कोई 'समस्त'।

कभी कभी किसी प्रसिद्ध रूढ़ शब्द में कोई नए योगार्थ की कल्पना कर देता है। यदि इस कल्पना को लोग मान लें, तो फिर वह शब्द 'यौगिक' बन जाता है। 'आम्र' से 'आम' बना। रूढ़ शब्द है। परन्तु गरीब-अमीर सभी इस फल का आस्वाद लेते हैं। आम जनता का यह फल है, इस लिए 'आम' कहा जाए, तो यौगिक हो जाए गा। मैंने इसी तरह 'बाबू' तथा 'लाला' जैसे शब्दों की व्युत्पत्ति–कल्पना प्रकट की और उसे लोग मानने लगे हैं! 'ला, ला' जो करता रहे, वह 'लाला'। कृदन्त शब्द। 'बू'-अभिमान (फारसी में) और 'बा' का अर्थ 'सहित'; जैसे 'बा-इल्म'। जो साधारण स्थिति के आदमी कुर्सी पर बैठ कर बेजा अकड़े फिरें, वे 'बाबू'। यह व्युत्पत्ति १९४५ में प्रयाग के 'अभ्युदय' में मैं ने छपाई, तो कई लोग बिगड़ बैठे थे! कारण, उस समय हम लोग राजर्षि टंडन को भी 'बाबू जी' ही कहते थे; अब भी कहते हैं। इस से क्या! 'अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्य-त्प्रवृत्तिनिमित्तम्'—शब्दों की व्युत्पत्ति का कारण कुछ होता है और प्रवृत्ति (चलन) का कारण कुछ दूसरा ही होता है। उस व्युत्पत्ति को ध्यान में रख कर हम लोग राजर्षि को 'बाबू जी' नहीं कहते हैं। यहाँ इस प्रवृत्ति का निमित्त दूसरा है—आदर-प्रकटन। ऐसी दशा में ऐसे लोगों

के लिए प्रवृत्त 'बाबू' शब्द में वह व्युत्पत्ति गृहीत न होगी। आदरार्थक 'बाबू' शब्द यहाँ 'बापू' का भाई-बन्धु है। 'लाला लाजपत राय' से 'लाला' शब्द कौन हटा सकता है? परन्तु पंजाब-केसरी, स्व० लाला लाजपत राय ने देश को अपना सब कुछ दे दिया था। वे 'ला ला' वाले न थे, देनेवाले थे। वहाँ 'लाला' शब्द की प्रवृत्ति महान् सम्मान प्रकट करने के लिए है। वे 'लाल' थे।

हिन्दी में संस्कृत के (तद्रूप) कृदन्त शब्द बहुत बड़ी संख्या में गृहीत हैं। इन के बिना हिन्दी का साहित्यिक काम चल ही नहीं सकता। हाँ, साधारण व्यवहार के लिए हिन्दी के अपने ही कृदन्त शब्द बहुत हैं। साधारण व्यवहार में संस्कृत का 'संमार्जनी' कृदन्त शब्द नहीं चलता, जिस का अर्थ वही है, जो 'बुहारी' का। संमार्ज्यतेऽनयेति सम्मार्जनी—इस से सम्मार्जन (सफाई) करते हैं; इस लिए इसे 'सम्मार्जनी' कहते हैं। 'करणाधिकरणयोर्ल्युट्' से करण-प्रधान 'ल्युट्' प्रत्यय है, जिसे 'अन' हो जाता है। फिर स्त्री प्रत्यय हो कर 'सम्मार्जनी'। हिन्दी का एतदर्थक अपना 'बुहारी' कृदन्त है; वही करण-प्रधान। घर बुहारने के लिए 'बुहारी' और सड़क आदि झाड़ने के लिए 'झाडू'। 'सम्मार्जनी' की यहाँ जरूरत नहीं। परन्तु कहीं-कहीं 'कृदन्त' संस्कृत शब्दों के तद्भव रूप हिन्दी (की 'बोलियों') में चलते हैं। कुए से पानी निकालने की रस्सी को कानपुर के इधर-उधर 'उबहनी' कहते हैं, जो संस्कृत 'उद्वाहनी' का तद्भव रूप है—उत् ऊर्ध्वं वाह्यते (जलादिकम्) अनयेति, 'उद्वाहनी'। जल आदि ऊपर खींचने की रस्सी, 'उद्वाहनी'। व्रज में 'उबहनी' को 'लेजू' कहते हैं, जो 'रज्जू' का तद्भव रूप है। 'उबहनी' कृदन्त-तद्भव अधिक अच्छा।

परन्तु साहित्य में, या अधिक गम्भीर शिष्ट जनों की हिन्दी में संस्कृत के तद्रूप कृदन्त शब्द बहुत अधिक चलते हैं। साहित्य में तो ऐसे शब्दों के बिना हिन्दो का काम ही नहीं चलता। हाँ, कविता तथा कहानी-उपन्यास आदि में सरल हिन्दी (संस्कृत कृदन्तों के बिना भी) खूब चल सकती है; चलती रही है। इस प्रकार का साहित्य ऐसी ही भाषा में खिलता है। परन्तु व्याकरण, भाषा-विज्ञान, दर्शन-शास्त्र तथा विज्ञान की विविध शाखाओं का गम्भीर साहित्य संस्कृत के कृदन्त, तद्धितान्त तथा 'समस्त' तद्रूप शब्दों के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। मैं ने बोल-चाल की साधारण

भाषा में यह ग्रन्थ लिखा, जिसे बहुत से विद्वानों ने पसन्द नहीं किया। वे गम्भीर भाषा चाहते थे। परन्तु मेरा कहना यह कि जहाँ तक काम चल सके, साधारण भाषा रखनी चाहिए। कुछ लोग दूसरे सिरे पर हैं। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने मेरे राष्ट्रभाषा के 'प्रथम-व्याकरण' में 'पुंविभक्ति' शब्द को दुरूह बतलाया था! पर इस की जगह दूसरा कौन शब्द दिया जाता?

साधारणतः शिष्ट जन 'स्पृहणीय' आदि संस्कृत कृदन्त विशेषणों का प्रयोग करते हैं। इस की जगह कोई कोई 'सराहनीय' भी लिखते हैं। लिखें; कोई हर्ज नहीं। 'सराह' हिन्दी धातु से भी 'ईय' कृदन्त मान लिया। परन्तु 'अनुकरणीय' 'दयनीय' 'चिन्तनीय' जैसे सहस्रशः संस्कृत कृदन्तों की जगह हिन्दी के कौन से कृदन्त लें गे? 'अनुकरण करने योग्य' कौन बोले गा? विधेयता में तो चल भी जाएगा—'आप का यह काम हम सब के अनुकरण करने योग्य है'। परन्तु उद्देश्यता में क्या हो गा? 'राम की अनुकरणीय उदारता ने हम सब को प्रभावित किया'। इसे 'राम की अनुकरण करने योग्य उदारता ने' कह कर वाक्य बिगाड़ा न जाएगा। यथास्थान और यथावश्यक संस्कृत कृदन्तों का ग्रहण हिन्दी में है।

संज्ञाओं की ही तरह कृदन्त विशेषण भी हिन्दी में बनते-चलते हैं। दो-एक उदाहरण लीजिए।

'त' प्रत्यय कर्तृ-प्रधान वर्तमान काल के विशेषण बनाता है। त-प्रत्ययान्त विशेषण प्रायः द्विरुक्त हो जाते हैं; या फिर सामान्य (काल-निरपेक्ष) 'हुआ' साथ रहता है—

१—राम पुस्तक पढ़ता हुआ हम से बातें भी कर रहा है
२—सीता पुष्प चुनती-चुनती कुछ गाने लगती है
३—लड़के विद्यालय जाते-जाते थक जाते हैं
४—लड़कियाँ कुछ गाती हुई जा रही हैं
५—लड़के काम करते हुए पढ़ते हैं

'लड़कियाँ' बहुवचन का विशेषण 'गाती हुई' बहुवचन ही है। 'हुई' की 'ई' अनुनासिक इस लिए नहीं कि आगे 'हैं' सब का काम चलाने में समर्थ है। अनेक स्वर अनुनासिक कर देने से भाषा मिनमिनी न हो जाए; इस लिए यह व्यवस्था। प्रत्येक डिब्बे में इंजन लगाना बेकार है। आगे एक इंजन ('हैं') सब को खींचे लिए जा रहा है।

'परीक्षाएँ ली जा रही हैं' में 'ली' देखिए। उसी तरह निरनुनासिक है। 'लड़कियाँ गई हैं' 'लड़कियाँ गई थीं' में 'गई' निरनुनासिक है। उदाहरणों में सर्वत्र कर्तृत्व प्रधान है।

यह विशेषण भूतकाल तथा भविष्यत् काल में भी लग जाता है—

१—लड़कियाँ गाती हुई गईं थीं

२—लड़के खेलते हुए जाएँगे।

क्या कारण कि वर्तमान काल का 'त' प्रत्यय भूत और भविष्यत् में चला गया? सामञ्जस्य कैसे?

'गईं थीं' क्रिया भूतकाल की है और 'जाएँ गे' भविष्यत् काल की। लड़कियाँ जो गईं, गा रही थीं, जाते समय। लड़के जो जाएँ गे, खेलते रहें गे, जाते-जाते भी। यानी भूतकाल की क्रिया 'गईं थीं' के साथ गाना-क्रिया वर्तमान। जब लड़कियाँ गईं, तो उन का गाना जारी था। यों भूतकाल की क्रिया के साथ गाने की वर्तमानता बताने के लिए 'गाती हुई' ठीक है। इसी तरह जब लड़कों का जाना हो गा, तब खेलना जारी रहे गा, वर्तमान रहे गा। यही बतलाने के लिए वर्तमानकाल के 'त' प्रत्यय का विशेषण है। 'त' में पुंविभक्ति लग कर 'ता'। स्त्रीलिङ्ग में 'ती' हो ही जाता है। परन्तु असल बात तो यह है कि यह 'त' प्रत्यय काल-निरपेक्ष है। सर्वत्र अन्वित हो जाता है, वैसा ही बन जाता है।

भावप्रधान 'त' प्रत्यय

'त' प्रत्यय (काल-निरपेक्ष) भावप्रधान भी होता है; यानी सदा पुल्लिङ्ग एकवचन रहता है—

१—लड़कियाँ पुस्तकें पढ़ते-पढ़ते हैरान हो गईं

२—चलते-चलते मैं थक गया

३—काम करते-करते बुढ़िया थक गई

'त' में पुंविभक्ति लगी है और वह 'आ' 'ए' हो गया है—'मरते मरते बुढ़िया मर गई; पर पैसा खर्च न किया!' चाहें, तो कर्तृ-प्रधान 'मरती-मरती' भी कर सकते हैं—'मरती-मरती भी एक काम कर ही गई।'

'य' प्रत्यय भूतकाल का कर्तृ-प्रधान, कर्म-प्रधान और कभी-कभी भाव प्रधान भी होता है—

१—काशी गए हुए लड़कों ने अपना काम कर लिया

२—विद्यालय गयी हुई लड़कियाँ भोजन बना रही हैं

'य' में पुंविभक्ति लगी है—'गया हुआ'। 'गई हुई' भूतकाल और 'बना रही हैं' वर्तमान काल। लड़कियो की 'जाना' क्रिया भूतकाल की है; पर 'बनाना' वर्तमान की। जो विद्यालय गई थीं, वे भोजन बना रही हैं।

राजस्थानी में 'ड़' तद्धित प्रत्यय कृदन्त विशेषणों में लग जाता है और तब 'हुआ'-'हुई' की जरूरत नहीं रहती—'काशी गयोड़ो छोरो' 'काशी गयोड़ी बहू' और 'काशी गयोड़ी छोरियाँ'। 'काशी गयोड़ा छोरा' बहुवचन है—'काशी गए हुए लड़के।' राष्ट्रभाषा में 'काशी गए हुए लड़के' बहुवचन है और 'राजस्थानी' में 'काशी गयोड़ा लड़का' बहुवचन है। परिशिष्ट में इस पर विवेचन हो गा।

कर्म-प्रधान 'य' के उदाहरण—

१—यह काम सुभद्रा का किया हुआ है

२—ये चित्र शकुन्तला के बनाए हुए हैं

३—यह क्रिया हमारी की हुई है।

'बनाए' में 'य्' का वैकल्पिक लोप है—'बनाये हुए'। 'की' स्त्रीलिङ्ग रूप है—'किया' का। 'या' का नित्य लोप और स्त्री-प्रत्यय 'ई' से सवर्ण-दीर्घ सन्धि। 'हुआ' में भी 'या' का नित्य लोप होता है; यद्यपि पंजाबी में 'होया' ही चलता है। हिन्दी में 'ओ' को 'उ' हो जाता है, और तब उसके आगे 'या' ठीक नहीं रहता—'हुया' बोलने-सुनने में अटपटा लगता है; इसी लिए लोप-'हुआ'। स्त्रीलिङ्ग में-'हुई'।

जिन धातुओं में अनेक स्वर होते हैं, उन सबके आगे से (हिन्दी में) 'य' उड़ जाता है—पढ़ी हुई, देखी हुई, पढ़ा हुआ, देखा हुआ। 'पढ़' और 'देख' आदि अनेकस्वर-धातुओं के कृदन्त विशेषण कुरुजांगल तथा पंजाब में (आज भी) य-सहित बोले जाते हैं—'पढ्या' 'देख्या' 'सुण्या' (सुना) आदि। परन्तु बहुवचन में तथा स्त्रीलिङ्ग में वहाँ भी 'य' का लोप

हो जाता है—'या किताब तौ मेरी पढी सै'। यही 'सै' कुरुजनपद में 'है' है और उधर लगे हुए राजस्थान में 'छै' है। राजस्थान में कर्म-प्रधान 'य'-कारान्त विशेषणों में भी 'ड़' प्रत्यय लग जाता है। 'ड़' में पुंविभक्ति 'ओ' और स्त्रीलिङ्ग में 'ई'। पुल्लिङ्ग बहुवचन में 'आ' होता ही है—

१—पुस्तक राम की पढ्योड़ी छे
२—ग्रन्थ सीता को पढ्योड़ो छे
३—सब काम म्हारा कर्योड़ा छे
४—सब आम म्हारा खायोड़ा छे

'ओ' आगे होने पर 'य' का लोप नहीं होता। ब्रजभाषा में भी—'देख्यो-सुन्यो सब मेरो पर्यो है'। परन्तु बहुवचन में 'देखे-सुने' राष्ट्रभाषा के अनुसार।

इतना तो स्पष्ट है कि 'त' तथा 'य' आदि कृदन्त-प्रत्यय राष्ट्रभाषा में, ब्रजभाषा में तथा राजस्थानी में समान हैं और पूरब की अवधी आदि में भी। केवल संज्ञा-विभक्ति का अन्तर है और राजस्थानी में 'हुआ' सहायक क्रिया की जगह एक प्रत्यय ही बना लिया है—'ड़'। इस में 'ओ' विभक्ति लग कर 'ड़ो'-'ड़ा'-'ड़ी' रूप। राष्ट्रभाषा में 'आ' पुंविभक्ति है, कृदन्त प्रत्ययों में लग कर—गया—आया आदि रूप बनाती है। राजस्थानी में 'ओ' पुंप्रत्यय या पुंविभक्ति है, जो उन्हीं कृदन्तों को 'गयो'-'आयो' जैसे रूपों में कर देती है। ब्रजभाषा दोनो के बीच में है, दोनो से प्रभावित है; इस लिए एकवचन राजस्थानी के अनुसार और बहुवचन खड़ी-बोली (राष्ट्रभाषा) के अनुसार—'गयो'-'गये' (या गए)। राजस्थानी में 'गयोड़ो' विशेषण एकवचन और 'गयोड़ा' बहुवचन है—'जयपुर गयोड़ा लड़का'। ब्रज में 'जयपुर गए छोरे' होगा और राष्ट्रभाषा में भी 'जयपुर गए हुए लड़के'। केवल संज्ञा-विभक्ति में अन्तर है, 'य' सर्वत्र समान।

राजस्थानी का 'ओ' उधर गुजरात तक चला गया है। ब्रज में भी इस का पर्याप्त प्रभाव है। 'आ' पुंविभक्ति 'खड़ी बोली' की पंजाब और उस के आगे तक चली गई है। पूरब की अवधी आदि में कहीं-कहीं किसी शब्द में 'आ' के दर्शन हो जाते हैं, 'ओ' के नहीं। भूतकाल का 'आ' प्रत्यय खड़ी-बोली की ही छाया है—'आवा'-'गवा' 'गा' 'भा' आदि। स्त्रीलिङ्ग

में सर्वत्र 'ई'–'गई'-'गयोड़ी' आदि। अवधी में भी 'आवा' 'लावा' आदि के स्त्री-लिङ्ग रूप 'आई'-'लाई' होते हैं। 'व' का लोप हो जाता है। जिन कृदन्त विशेषणों या क्रियाओं में 'व' नहीं, उन के स्त्रीलिङ्ग-रूप (अवधी आदि में) 'गै' 'भै' जैसे हो जाते हैं 'गा' का स्त्रीलिङ्ग-रूप 'गै' और 'भा' का 'भै'। यहाँ भी 'इ' दिखाई देती है—गा+ई='गै' और भा+ई='भै'। परन्तु वैसे इधर के विशेषण या कृदन्त क्रियाएँ संज्ञा-विभक्ति नहीं रखतीं। खड़ी-बोली और राजस्थानी दो मुख्य धाराएँ हैं। दोनो की संज्ञा-विभक्तियों ('आ' तथा 'ओ') का दूर तक प्रभाव है। व्रजभाषा में 'खड़ी बोली', कन्नौजी तथा राजस्थानी का मिश्रण है। परिशिष्ट में अधिक कहा जाएगा; पर प्रसंग-प्राप्त यहाँ आवश्यक समझ लेना चाहिए।

राजस्थानी का 'ओ' उपलब्ध प्राकृतों में दिखाई देता है। एकवचन और बहुवचन विशेषण देखिए—

प्राकृत—	राजस्थानी
एकवचन—आगदो पुत्तो	आयोड़ो छोरो, या लड़को
बहुवचन—आगदा पुत्ता	आयोड़ा छोरा, या लड़का

एकदम मेल है। परन्तु 'खड़ी बोली' में विशेषण (कृदन्त-प्रत्ययों में) 'आ' पुंविभक्ति लग कर बनते हैं—'आया हुआ लड़का'–'आए हुए लड़के'। एकदम उलटा! प्राप्त प्राकृतों में आकारान्त विशेषण बहुवचन; पर राष्ट्रभाषा में एकवचन! राजस्थानी में प्राकृतों का पूरा अनुगमन है। ऐसा जान पड़ता है कि कोई प्राकृत ऐसी रही हो गी, जिस में विशेषण 'आ' पुंविभक्ति लग कर बनते हों गे और जब एकवचन में 'आ' हुआ, तो बहुवचन 'ए' करना पड़ा हो गा। उस सम्भावित प्राकृत में कृदन्त विशेषण यों चलते हों गे:—

एक० आगदा पुत्ता—आया लड़का
बहु० आगदे पुत्ते—आये लड़के

बहुवचन एकारान्त करना जरूरी। ईकारान्त रूप स्त्रीलिङ्ग में होते हैं—'आई' 'गई'। ऊकारान्त भी नहीं किए गए, क्योंकि 'उ' 'ऊ' पूरबी बोलियों में एकवचन है! ई और ऊ यों गए! 'ओ' राजस्थानी में एकवचन है। इन सब भ्रमों से दूर रहने के लिए पुल्लिङ्ग बहुवचन 'ए'–लड़का-लड़के।

इसी तरह 'आया लड़का' 'आए लड़के'। राजस्थानी में जो 'ड़' या 'ड़ो' दिखाई देता है कृदन्त-विशेषणों में, वह वस्तुतः 'ओ-ड़' है। 'ड़' में 'ओ' पुंविभक्ति लग कर 'गयोड़ो' रूप बनता है। बहुवचन 'गयोड़ा'। 'पुस्तक म्हारी पढ़्योड़ी छे'–पुस्तक मेरी पढ़ी हुई है। यह 'ओड़' सामने आता है, तब कृदन्त 'य' का स्वर उड़ जाता है। गयोड़+ओ='गयोड़ो'। 'हो' धातु से ही 'ओड़' चाहे निकला हो! गया हुआ–'गयोड़ो' और 'गई हुई'–'गयोड़ी'! यह, प्रासंगिक चर्चा हुई।

उद्देश्य-विशेषणों का प्रयोग

ऊपर उदाहरणों में जो विशेषण आए हैं, उन की या तो द्विरुक्ति है; या फिर 'हुआ' का योग है। परन्तु उद्देश्य-रूप से आने वाले विशेषणों में ये दोनो उपाधियाँ प्रायः नहीं रहतीं—

१—आते-जाते छात्र को दे देना
२—चलती गाड़ी को रोकना ठीक नहीं।
३—बढ़ता रोजगार कौन छोड़ता है ?

'आते-जाते' में द्विरुक्ति नहीं है। 'आना' और 'जाना' विभिन्न क्रियाएँ हैं। 'आना-जाना' और 'आता-जाता' आदि 'समस्त' पद हैं। 'आता' और 'जाता' विशेषणों का समास है। अनेक विशेषणों का भी परस्पर समास होता है। समास और पुंविभक्ति का 'अलोप'। संस्कृत में भी अनेक जगह समास होने पर विभक्ति का लोप नहीं होता। हिन्दी में केवल पुंविभक्ति की ही यह स्थिति है; अन्य (को–ने आदि) कारक विभक्तियों की नहीं।

'आते-जाते' में 'आ' को 'ए' हो गया है; इस लिए कि विशेष्य (छात्र) के आगे 'को' विभक्ति है। यदि विशेष्य के आगे ऐसी कोई विभक्ति न हो, तब (एकवचन में) 'आ' को 'ए' कभी भी न हो गा—

'आता-जाता छात्र दिखाई देता है'
'बढ़ता रोजगार कौन छोड़ता है ?'

इसी तरह भूत काल के 'य' प्रत्यय में भी—

१—आया रुपया छोड़ना न चाहिए
२—गया समय हाथ नहीं आता

३—क्रिया काम साथ देता है
४—सोये लड़के को पढ़ने के लिए जगा दो
५—आई विपत्ति धीरे-धीरे ही टलती है।

'हुआ' लगा कर भी उद्देश्य-विशेषण दिए जाते हैं—

आया हुआ रुपया, गया हुआ समय, किया हुआ काम, सोये हुए लड़के, आई हुई विपत्ति आदि। परन्तु इस के बिना भी काम जब चल जाता है, तब व्यर्थ जोड़-गाँठ किस काम की ? 'अर्थश्चेदवगतः, किं शब्देन?' यदि किसी शब्द के बिना ही काम निकल जाए, तो फिर उस का प्रयोग बेकार ! हिन्दी में तो विभक्तियाँ भी नहीं लगाई जातीं, यदि अर्थ में गड़-बड़ी न पड़े। 'मेरे हाथों यह सब काम हुआ है'। यहाँ 'हाथों से' कहें, तो व्याकरण की दृष्टि से गलत न हो गा। 'से' विभक्ति का स्थल है ही। परन्तु 'हाथों' कहने से भी काम चल जाता है। यहाँ 'में' 'ने' या 'को' विभक्ति लगने का भ्रम हो ही नहीं सकता। इसी लिए 'हाथों' चलता है। सो, 'हुआ' के बिना यदि काम चल जाता है, तो उसका प्रयोग व्यर्थ !

क्रिया और विशेषण

पीछे हमने 'त' प्रत्यय को वर्तमान-कालिक बतलाया है और 'गाती हुई लड़कियाँ गईं' आदि में एक ढँग से वर्तमान के साथ भूत का सामञ्जस्य दिखाया है। यह इस लिए कि 'आता है' 'जाता है' आदि क्रियाओं में 'त' प्रत्यय वर्तमान काल में ही प्रसिद्ध है। विशेषणों में और कृदन्त क्रियाओं में प्रत्यय वही, प्रयोग-भेद की विशेषता है। 'राम आता है' में 'आता' क्रिया और 'आते हुए राम को मैंने देखा' में 'आता' (>'आते') विशेषण। कुछ लोगों ने 'आता' 'आया' आदि क्रियाओं को भी विशेषण मान लिया है ! यही नहीं, डा० बाबूराम सक्सेना ने तो संस्कृत 'रामः सुप्तः अस्ति' 'बालिका सुप्ता अस्ति' आदि के 'सुप्त' 'सुप्ता' को भी विशेषण लिख दिया है ! यह सब चिन्त्य है। जहाँ क्रिया की प्रधानता हो, क्रिया का विधान हो, उसे 'क्रिया' कहा जाए गा और जहाँ वह गौण हो, विधान किसी अन्य का हो, वहाँ उसे 'विशेषण' कहें गे। विशेषण और क्रिया में अन्तर है—

१–रामः वनं गतः (राम वन गया)-(क्रिया)
२–वनं गतं रामं वाल्मीकिरपश्यत्
(वन गए हुए राम को वाल्मीकि ने देखा) (विशेषण)

३–सीता वनं गता–(सीता वन गई) (क्रिया)
४-वनं गतां सीतां वनवासिन्यः अपश्यन्
(वन गई हुई सीता को वनवासिनियों ने देखा) (विशेषण)

जब कोई मिठाई बनाए-बेचे, तब 'हलवाई' और जब कपड़ा खरीदे-बेचे, तब 'बजाज'। काम-भेद से नाम-भेद। यदि 'गतः' और 'गया' सर्वत्र विशेषण ही हैं, तो फिर 'रामः वनं गतः' और 'राम बन गया' आदि में क्रिया' क्या है ? हम सामान्य भूतकाल ही कह रहे हैं; इस लिए 'अस्ति' या 'है' का प्रयोग नहीं। तब क्रिया कौन–सी है ? और 'राम गया है' कहने में भी 'गया' को विशेषण कहना गलती है। केवल 'है' क्रिया नहीं है–'गया है' क्रिया है। 'गया' कृदन्त मुख्य क्रिया है और 'है' तिङन्त सहायक क्रिया है। इसी तरह 'लड़का रोता है'-'लड़की रोती है' में 'रोता'-'रोती' विशेषण नहीं, क्रिया-पद हैं। 'है' सहायक क्रिया है। 'रोता हुआ लड़का आता है' में 'रोता' विशेषण है और 'आता' कृदन्त क्रिया है। संस्कृत 'आगच्छति' की जगह हिन्दी ने कृदन्त-तिङन्त 'लड़का आता है'–'लड़की आती है' प्रयोग रखे हैं। यहाँ 'आने' का विधान है; 'होने' का नहीं। इस लिए 'राम काशी गया है' 'राम काशी जाता है' आदि में 'गया' 'जाता' विशेषण नहीं; क्रिया-पद हैं।

हम 'त' प्रत्यय पर कुछ कह रहे थे। कह रहे थे कि 'गाती हुई लड़कियाँ गईं' में 'त' प्रत्यय का वर्तमान काल में हम ने समर्थन, एक ढँग से कर दिया है; क्योंकि 'आता है' आदि में 'त' 'वर्तमान-कालिक' प्रसिद्ध है।

परन्तु सोचने पर जान पड़ता है कि यह 'त' प्रत्यय काल-निरपेक्ष है और स्थिति मात्र बतलाता है—'शेर मांस खाता है' 'जंगली लोग नर-मांस भी खाते हैं' ऐसे प्रयोग होते हैं। इन से वर्तमान काल तो नहीं समझा जाता ! यह तो मतलब नहीं कि 'शेर मांस खा रहा है' और 'जंगली लोग नर-मांस खा रहे हैं' ! ये क्रियाएँ वर्तमान काल की हैं। 'शेर मांस खाता है' में 'त' सामान्य स्थिति बतलाता है। 'लड़के चंचल होते हैं' और 'लड़के ये चंचल हैं' प्रयोगों में अन्तर है। 'त' प्रत्यय सामान्य स्थिति बतलाता है। यही कारण है कि वर्तमान काल बतलाने के लिए 'है' का प्रयोग करना पड़ता है। अन्यथा 'है' की जरूरत न रहती। काल-निरपेक्ष होने से सभी कालों में 'त' लग जाता है। मधु का अनुपान समझिए। गरम दवा में गरम और शीतल में शीतल।

शेर मांस खाता है (वर्तमान)
कभी जंगली लोग नर-मांस खाते थे (भूतकाल)
हम सब सदा ही वेद पढ़ते रहेंगे (भविष्यत्)
वह इस समय पाठ करता होगा (संभावना)

यानी 'है' 'था' 'गा' 'होगा' आदि के लगने से 'त' वर्तमान आदि प्रकट करता है, अकेला नहीं। इस लिए इसे वर्तमान काल का प्रत्यय न कह कर सामान्य-प्रत्यय कहना चाहिए—सर्वत्र निर्बाध सहयोग-सामञ्जस्य।

अर्थ-भेद से रूप-भेद

हिन्दी-शब्दों में प्रायः अर्थ-भेद से ही रूप-भेद देखा जाता है। 'उठक' 'बैठक' आदि स्त्रीलिङ्ग भाववाचक संज्ञाएँ हैं। परन्तु 'बैठका' अधिकरण-प्रधान जाति-वाचक संज्ञा है। उस समय चौधरी साहब अपने बैठके में हुक्का पी रहे थे'। 'बैठका' आस्थान, चौपाल। इसी अर्थ में 'बैठक' स्त्रीलिङ्ग भी चलता है—'अपनी बैठक में बुहारी लगवा दो'। संस्कृत में भी 'अन' आदि प्रत्यय 'भाव' में तथा करण-अधिकरण आदि में होते हैं। 'आस्थान' नपुंसक लिङ्ग कृदन्त संज्ञा भावप्रधान है—'आस्थानम्'-'उपवेशनम्'। 'आस्थान' माने बैठना। परन्तु अधिकरण प्रधान भी है—'आस्थीयते यत्र, तत् 'आस्थानम्'—जहाँ सब लोग मिल कर बैठें, वह जगह—'आस्थान'। 'आस्थानम्'-'सभा-मण्डपम्'। स्त्रीलिङ्ग मे भी इस का चलन है—'आस्थानी'। 'आस्थानी'-'आस्थान' की ही तरह हिन्दी के 'बैठक'-'बैठका' शब्द हैं—अधिकरण-प्रधान। 'बैठक' भाववाचक संज्ञा अलग है। संस्कृत में 'भर्त्सना' और 'भर्त्सनम्'। हिन्दी में 'डाँट' और 'डाँटना'।

संस्कृत कृदन्तों का प्रयोग

संस्कृत के कृदन्त शब्दों का प्रयोग हिन्दी में विविध रूप से होता है। 'व्यय' शब्द संस्कृत का भावप्रधान है—'धनस्य व्ययः'—धन का व्यय। परन्तु हिन्दी में इस का प्रयोग विधेय-विशेषण के रूप में प्रायः चलता है—'इतना धन व्यय कर के सेठ जी ने यह यश प्राप्त किया।' गहरा विचार करें, तो 'व्यय करना' एक क्रिया है, 'धन' कर्म है। इसी लिए 'धन का व्यय कर के' प्रयोग नहीं होता। परन्तु 'अपव्यय' शब्द का प्रयोग (संस्कृत की तरह) भाववाचक संज्ञा की ही तरह होता है—'धन का ऐसा अपव्यय उस ने किया

कि दरिद्र बन गया !' यहाँ 'धन ऐसा अपव्यय किया' न होगा। क्रिया 'करना' भर है। 'अपव्यय' कर्म है।

'हम ने प्रेम से कथा श्रवण की'

यह वाक्य संस्कृत में यों होगा—'मया प्रेम्णा कथा श्रुता'—मैं ने प्रेम से कथा सुनी। 'श्रुता' क्रिया की जगह हिन्दी की अपनी क्रिया 'सुनी' स्त्रीलिङ्ग है। परन्तु आदर तथा गाम्भीर्य प्रकट करने के लिए 'कथा सुनी' की जगह 'कथा श्रवण की' बोलते हैं। संस्कृत में तो 'कथा श्रवणम्' रह नहीं सकता। समास हो कर 'कथाश्रवणम्' हो जाएगा और फिर 'श्रवणम्' के अनुसार 'कृतम्' नपुंसकलिङ्ग क्रिया हो गी। हिन्दी में 'श्रवण' पुल्लिङ्ग है; परन्तु 'कथा श्रवण की' में 'की' स्त्रीलिङ्ग क्रिया 'कथा' के अनुसार है। 'कथा' के साथ 'श्रवण' का समास भी नहीं। बात अटपटी जान पड़े गी; परन्तु है बहुत सीधी। हिन्दी में 'पढ़ना-सुनना' आदि 'अपनी' क्रियाएँ हैं; परन्तु आदर-गाम्भीर्य आदि प्रकट करने के लिए संस्कृत के 'श्रवण-अध्ययन' आदि शब्दों के आगे 'कर' (अपनी) धातु का प्रयोग कर के 'श्रवण करता है' 'अध्ययन करता है' इत्यादि रूप बनते-चलते हैं। तो, यहाँ क्रिया हुई—'श्रवण करता है'। केवल 'करता है' यहाँ क्रिया नहीं है। इसी लिए 'कथा श्रवण की' आदि में 'कथा' के साथ 'श्रवण' का समास नहीं। 'कथा' कर्म है। उसी के अनुसार 'की' क्रिया स्त्रीलिङ्ग है। 'उपदेश श्रवण किया' और 'कथाएँ श्रवण कीं'। कर्म ('उपदेश' तथा 'कथाएँ') के अनुसार क्रिया के रूप। इसी तरह 'वहाँ मैं ने दुग्ध पान किया।' यहाँ 'पान करना' क्रिया है—'दुग्ध' कर्म है। परन्तु 'उस ने कुछ जलपान भी किया' इस वाक्य में केवल 'किया' क्रिया है—'पान किया' नहीं। 'जलपान' एक स्वतंत्र संज्ञा है हिन्दी में—'हलका खाना-पीना'। परन्तु 'विष पान किया शंकर ने' आदि में 'पान किया' क्रिया है—'विष' कर्म है। विधेयता पर जोर देने के लिए समास का अभाव है। संस्कृत में होता है 'मया कथा श्रुता'। परन्तु हिन्दी में संस्कृत-पद्धति पर वाक्य विन्यास न हो गा। 'मैंने कथा श्रुत की' हिन्दी में न हो गा; यद्यपि 'मुझे वह समाचार विदित है' जैसे प्रयोग होते हैं। हिन्दी में ऐसी जगह कर्ता-कारक में 'को' विभक्ति लगती है; या उस की बहन-'हि' > 'इ'। 'राम को वह समाचार विदित है'। 'राम' कर्ता, समाचार कर्म और 'विदित' विधेय-विशेषण; 'है' पूर्ण क्रिया। मैं ने 'कथा श्रवण की' की तरह 'मैं ने समाचार वेदन किया' बोलना चाहें, तो

गलत हो गा। 'मुझे इस समाचार का वेदन है' यह भी हिन्दी में गलत होगा। परन्तु 'मुझे यह समाचार ज्ञात है' और 'मुझे इस समाचार का ज्ञान है' ये दोनो प्रयोग शुद्ध हैं।

'मैं ने कथा श्रवण की' में 'कथा' के साथ 'श्रवण' का समास नहीं; क्योंकि दोनों के काम पृथक्-पृथक् हैं। परन्तु 'राम वेदों का अध्ययन करता है' और 'राम वेदाध्ययन करता है, ये दोनो ठीक हैं। 'राम वेद अध्ययन करता है' ऐसा न हो गा। यदि विधेयत्व विशेष प्रकट करना अभीष्ट है, तो समास किए बिना 'राम वेदों का अध्ययन करता है' कहना हो गा। साधारण अवस्था में समास हो जाए गा। 'अध्ययन' कर्म है; 'करता है' क्रिया है। संस्कृत-'रामः वेदाध्ययनं करोति' की तरह। वेद का अध्ययन, वेदों का अध्ययन, यों वचन-भेद बतलाने के लिए व्यवस्था है। वेद चार हैं। कोई एक ही वेद का अध्ययन करता है, उसे कम महत्त्व। परन्तु 'कथा का श्रवण किया' या 'कथा श्रवण किया' न हो गा। ये बहुत साधारण बातें हैं; जो स्वतः ज्ञात हो जाती हैं। भाषा की प्रकृति स्वतः ज्ञात हो जाती है। इस के लिए व्याकरण-प्रयत्न अनावश्यक है। इतनी चर्चा प्रसंगतः कर दी गई। सभी संस्कृत कृदन्त-शब्दों का हिन्दी में प्रयोग नहीं होता और जिन का होता है, वे भी सब एक ही पद्धति पर नहीं चलते हैं। 'सीता ने राम का अनुसरण किया' की तरह 'सीता ने राम का अनुसार किया' न हो गा। 'अनुसार' हिन्दी में अव्यय है। इसी तरह 'अनुगमन किया' होता है; 'अनुगम किया' नहीं। 'संहार किया' होता है; 'संहरण किया' नहीं। यह ऐसा भेद संस्कृत में भी है। 'प्रकार' की जगह 'प्रकरण' वहाँ भी नहीं चल सकता।

२—तद्धित प्रकरण

किसी संज्ञा से, विशेषण से, या अव्यय से शब्दान्तर बनाने की पद्धति को 'तद्धित' कहते हैं। 'तद्धित'-प्रत्यय भाषा में नए बनते रहे हैं; पुराने लुप्त होते रहे हैं और रूपान्तरित भी होते रहे हैं। यानी भाषा के अन्यान्य अवयवों की ही तरह प्रत्ययों का भी उद्भव, तिरोभाव तथा रूपान्तर होता है। एक उदाहरण लीजिए। व्रजभाषा में 'सुन्दरताई' जैसे प्रयोग बहुतायत से मिलते हैं। यहाँ 'सुन्दरता' भाववाचक संज्ञा से फिर भाववाचक (दूसरा) 'आई' या 'ई' प्रत्यय नहीं है; जैसा कि लोग समझा करते हैं। मैं स्वयं पहले समझता था कि 'सुन्दरताई' आदि प्रामादिक प्रयोग हैं—एक भाववा-

चक प्रत्यय ('ता') के आगे फिर (दूसरा) भाववाचक प्रत्यय लगाना ठीक नहीं है; गलत है और यह गलती ब्रजभाषा में तथा 'खड़ी बोली' की पुरानी कविता में मिलती है। ऐसा मेरा भी विचार था, जो कि ब्रजभाषा-व्याकरण में, सन् १९४३ में, लिख भी दिया था! इस के अनन्तर अन्य लोगों ने भी यही दुहरा दिया कि 'सुन्दरताई' आदि प्रयोग गलत हैं, क्योंकि किसी भाव-वाचक प्रत्यय के अनन्तर दूसरा भाववाचक प्रत्यय नहीं लग सकता। हेतु ठीक है— किसी भाववाचक प्रत्यय के आगे दूसरा भाववाचक प्रत्यय नहीं लग सकता; परन्तु 'सुन्दरताई' में वह बात नहीं है–दो भाववाचक प्रत्यय नहीं हैं; यह मुझे अभी कुछ दिन पहले जान पड़ा। 'सुन्दरताई' में 'सुन्दर' शब्द से 'ताई' भाववाचक प्रत्यय है। इस 'ताई' की विकास-कथा सुनिए।

किसी समय, इस देश की 'मूल-भाषा' में भाववाचक 'ताति' प्रत्यय का चलन था। कालान्तर में इस का प्रयोग कम होने लगा। वेदभाषा में 'शिव' 'अरिष्ट' आदि कुछ ही शब्दों में इस के दर्शन होते हैं। 'शिवतातिः' वैदिक पद का अर्थ है—'शिवत्व' 'शिवता'।

आगे चलते-चलते 'ताति' प्रत्यय लुप्त ही हो गया; परन्तु अपनी सन्तति 'ता' छोड़ गया। लौकिक या आधुनिक संस्कृत में 'ताति' का 'ता' मात्र अंश भाववाचक तद्धित-प्रत्यय के रूप में चलता है और यही हिन्दी में तथा अन्य भारतीय भाषाओं में गृहीत है। 'ताति' का कहीं पता नहीं! 'शिवता' 'सुन्दरता' आदि में 'ता' उसी 'ताति' का आद्य अंश है।

परन्तु 'मूल-भाषा' की उस अनवच्छिन्न और नैसर्गिक धारा में बहता लुढ़कता 'ताति' प्रत्यय बढ़ता गया। आगे बढ़ते-बढ़ते वह घिस कर कुछ ऐसा बन गया, जैसे हिमालय के बड़े पत्थर गंगा की तेज धारा में बहते-लुढ़कते छोटे-छोटे गोल-मटोल 'महादेव' बन जाते हैं। ये छोटी-छोटी बटियाँ कितनी मोहक होती हैं! इन्हें देख कर कौन सहसा कह दे गा कि बड़ी-बड़ी शिलाएँ ही ये इन रूपों में हैं! परन्तु हैं। अन्यथा कहाँ से आ गईं? सो, 'मूलभाषा' का 'ताति' (जो कि आधुनिक संस्कृत में 'ता' के रूप में है), प्राकृत-धाराओं में न जाने कहाँ कैसा बनता-बनता हिन्दी में 'ताई' रूप से आ गया। 'ताति' के 'ति' का व्यञ्जनांश उड़ गया। स्वर प्रबल होता है; सो बना रहा। ठीक उसी तरह, जैसे कि 'भवति'—'होति'—'होदि' से 'होइ' रह गया। हिन्दी की नैसर्गिक प्रवृत्ति शब्दों

को प्रायः दीर्घान्त कर देने की है। सो 'ताइ' बन गया--'ताई'। यही 'ताई' है 'सुन्दरताई' आदि में। 'कासों कहौं निज मूरखताई'।

परन्तु लोग यह भूल गए कि 'ताई' एक स्वतंत्र प्रत्यय है। सब लोग उपर्युक्त ढँग से 'सुन्दरताई' आदि को प्रामादिक प्रयोग समझने लगे! फलतः आज राष्ट्रभाषा में इस 'ताई' का चलन नहीं है। किसी अप्रचलित शब्द को व्याकरण जबर्दस्ती भाषा में चलाए; यह हो नहीं सकता। हमारा भी वैसा कोई विचार नहीं है। राष्ट्रभाषा में 'ताई' को फिर से हम चलाना नहीं चाहते। प्रत्यय-विकास का क्रम भर दिखाने के लिए यह सब लिखा गया है।

राष्ट्रभाषा में 'ताई' तो नहीं; परन्तु इस की सन्तति 'आई' आप बराबर देखते हैं—'चतुराई' 'निठुराई' आदि। यानी 'ताई' का अवशिष्ट व्यञ्जन भी घिस गया और 'आई' मात्र रह गया! आगे और भी संक्षेप हुआ। 'आई' का 'आ' भी घिस गया और 'ई' मात्र भाववाचक प्रत्यय रह गया— 'सावधानी' 'होशियारी' 'बेवकूफी' आदि। यानी 'आई' तथा 'ई' ये दोनो ही रूप हिन्दी में चल रहे हैं।

इस तरह हिन्दी में प्रचलित कौन सा शब्द या शब्दांश 'मूलभाषा' से किस तरह घिसता-मँजता किस-किस पड़ाव पर रुकता-ठहरता आया है; यह सब देखना-भालना भाषा-विज्ञान का काम है, निरुक्त का काम है और कठिन काम है। व्याकरण-शास्त्र को अपना ही बहुत काम है। यहाँ प्रसंगप्राप्त एक चर्चा कर दी गई है।

तद्धित प्रत्यय विविध अर्थों में होते हैं। शब्दों के ये रूपान्तर विविध संबन्धित अर्थ प्रकट करते हैं। यह 'संबधित' शब्द गलत है, या सही; और सही है, तो फिर कृदन्त है या तद्धितान्त; ऐसी बातें भी सामने आएँगी। 'एकत्रित' शब्द शुद्ध है, या अशुद्ध; इस पर भी विचार करना होगा।

हम पीछे अनेक बार कह आए हैं कि हिन्दी एक स्वतंत्र भाषा है; इस का क्षेत्र बहुत व्यापक है; इस के अपने नियम हैं; अपने कानून हैं। संस्कृत से इस का अविच्छेद्य संबन्ध है, जैसा कि अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं का; परन्तु इस का यह मतलब नहीं कि संस्कृत के सब विधि-निषेध यहाँ ज्यों के त्यों चलें। हम इस पर यहाँ थोड़ा-सा विचार कर के ही आगे बढ़ेंगे, तो ठीक होगा।

'संबन्धित' शब्द ही पहले लीजिए। संस्कृत में 'संबद्ध' तथा 'संबन्धित' दोनो बनते; परन्तु 'संबन्धित' में प्रक्रिया-गौरव है; इस लिए (कृदन्त) 'संबद्ध' शब्द ही चलता है। हिन्दी में 'संबन्ध' शब्द इतना प्रसिद्ध है कि कुली-मजदूर भी सरलता से समझ लेते हैं। इस 'सम्बन्ध' से तद्धित सुप्रसिद्ध 'इत' प्रत्यय कर के 'संबन्धित' बना—समझ लेना अति सरल है। यहाँ 'सम्' उपसर्ग और 'बन्ध' धातु तथा 'त' प्रत्यय और फिर इस 'त' को 'ध' होना; धातु के 'ध्' को 'द्' बनना और फिर 'न्' का लोप होना; यह सब 'केवल' हिन्दी जानने वालों के लिए ऐसा सिरदर्द है, जिससे कोई लाभ नहीं। 'संबन्ध' से तद्धित प्रत्यय 'इत' किया और 'संबन्धित' तयार। संस्कृत शब्द 'संबद्ध' का तद्रूप प्रयोग जो लोग करें, करते रहें। इसे गलत कौन कहेगा ? सब लोग समझ भी लेंगे। परन्तु 'संबन्धित' को कोई गलत नहीं कह सकता। संस्कृत में शब्द-संबन्धी विस्तार के लिए 'विस्तर' आता है—'विस्तरेण मया प्रोक्तम्'। यहाँ 'विस्तरेण' की जगह 'विस्तारेण' न हो सके गा; गलत हो जाए गा। परन्तु हिन्दी में 'विस्तर' गलत हो गा; 'विस्तार' चलता है। 'विस्तरेण मया प्रोक्तम्' का हिन्दी-अनुवाद हो गा—'विस्तार से मैं ने कहा है'। 'विस्तर से मैं ने कहा है' ऐसा हिन्दी में न चले गा—कोई भी नहीं चला सकता। यह मार्ग-भेद है। हिन्दी ने संस्कृत से यह मार्ग-भेद क्यों किया; यह सब 'पूर्वपीठिका' में विस्तार से बतलाया गया है।

इसी तरह तद्धित 'ईय' प्रत्यय हिन्दी में संस्कृत का है। प्रान्तीय, केन्द्रीय, राजकीय आदि तद्धितान्त संस्कृत शब्द ज्यों के त्यों (तद्रूप) चलते हैं। संस्कृत में 'विस्तर' तथा 'विस्तार' कृदन्तों की तरह 'राष्ट्रिय' तथा 'राष्ट्रीय' ये द्विरूप शब्द विषय-भेद से चलते हैं। हिन्दी ने जैसे 'विस्तर' की जगह भी 'विस्तार' ही रखा, उसी तरह 'राष्ट्रिय' का सर्वथा परित्याग कर सर्वत्र 'राष्ट्रीय' रखा है—'राष्ट्रीय ऋण'। संस्कृत में 'राजा के साले' को किसी समय 'राष्ट्रिय' कहते थे—'राजश्यालस्तु राष्ट्रियः'। सम्भव है, पहले संबन्ध-सामान्य प्रकट करने के लिए भी कभी 'राष्ट्रिय' का चलन रहा हो। परन्तु जब राजा के साले को 'राष्ट्रिय' कहने लगे, तब अन्यत्र 'राष्ट्रीय' का चलना ही ठीक समझा गया। हो सकता है कि 'राष्ट्रीय' के अर्थ में भी (संस्कृत) 'राष्ट्रिय' ही को ग्रहण कर ले। परन्तु हिन्दी ने 'राष्ट्रीय' ही ग्रहण किया, एक सीधा रास्ता पसन्द कर के।

यह 'ईय' प्रत्यय संस्कृत शब्दों में ही लगता है। अन्यत्र 'ई' लगता है शहरी, देहाती, बराती आदि। यह 'ई' उसी 'ईय' का घिसा हुआ रूप

है। 'केन्द्रीय' तद्धित 'ईय' से है और 'प्रशंसनीय' में 'ईय' (अनीय) कृदन्त प्रत्यय है। 'केन्द्र' एक संज्ञा है और 'प्रशंस्' क्रिया (धातु)। 'प्रशंसा' से कोई प्रत्यय होता, तब अवश्य उसे 'तद्धित' कहते; जैसे कि 'संबन्धित'। यह कृदन्त 'ईय' (अनीय) भी संस्कृत ('धातु') शब्दों से ही होता है–पठनीय, विवेचनीय आदि। 'सराहनीय' जैसा एकाध अपवाद कहीं मिल सकता है। परन्तु 'सराहनीय' की नकल पर 'पढ़नीय' 'खेलनीय' आदि नहीं गढ़े जा सकते; यह सब कृदन्त प्रकरण में आए गा। यहाँ इतना समझ लीजिए कि 'ईय' प्रत्यय तद्धित में है और कृदन्त में उस का आभास है। दोनो के रूप एक हैं; पर चीजें दोनो भिन्न हैं। तद्धित का 'ईय' संबन्ध बतलाता है और कृदन्त का 'ईय' विधि आदि। विधि क्रियाओं में ही होती है; संज्ञा-विशेषणों में नहीं। सो, दोनो 'ईय' दो भिन्न चीजें हैं। हिन्दी में 'वाला' भी ऐसा ही है। टाँगेवाला, में 'वाला' तद्धित प्रत्यय है; पर 'गाड़ी छूटने वाली है' 'राम कलकत्ते जाने ही वाला था कि तार आ गया' इत्यादि में 'वाला' कृदन्त है। 'छूटना' 'जाना' आदि क्रियाओं का काल बतलाता है। पर 'पढ़ने वाले लड़के खेलते कम हैं।' यहाँ 'वाला' तद्धित है।

ऊपर कहा गया है कि संस्कृत शब्दों से 'ईय' प्रत्यय होता है; अन्यत्र 'ई'—'केन्द्रीय' और 'कन्नौजी'। 'केन्द्रीय सभा' और 'कन्नौजी बोली'। 'कन्नौजीय' न हो गा। परन्तु संस्कृत शब्दों से हिन्दी का अपना 'ई' प्रत्यय होता है—'ज्वालापुरी खरबूजे' और 'नागपुरी सन्तरे'। यहाँ 'ज्वालापुरीय' तथा 'नागपुरीय' न हो गा। परन्तु 'पर्वत' से 'पर्वतीय' हो गा; 'पर्वती' नहीं। 'पहाड़' से अवश्य 'पहाड़ी' हो गा। मतलब यह निकला कि व्यक्ति-वाचक 'ज्वालापुर' 'नागपुर' आदि (नगर-विशेषों) से ही 'ई' प्रत्यय होता है। परन्तु 'काशीनरेश ने रामनगरीय जनता का विशेष ध्यान रखा है, यहाँ 'ज्वालापुरी जनता' की तरह 'रामनगरी जनता' न हो गा।

भाववाचक हिन्दी-तद्धित 'ई' प्रत्यय संस्कृत 'सावधान' आदि शब्दों से भी होता है—'सावधानी'। परन्तु 'चतुर' आदि से 'आई' हो गा–'चतुराई'। यहाँ 'ई' न हो गा—'चतुरी' न चले गा। 'चातुरी' 'माधुरी' आदि में यह हिन्दी का 'ई' नहीं है। ये संस्कृत भाववाचक संज्ञाएँ (संस्कृत-प्रत्ययों से निष्पन्न) हिन्दी में तद्रूप प्रयुक्त होती हैं।

'सावधान' से 'ई' और 'चतुर' से 'आई' यह बखेड़ा-सा लगे गा। परन्तु शब्द-प्रवृत्ति को कोई क्या करे? 'चतुराई' की तरह 'सावधानाई' कोई चला नहीं सकता और न 'सावधानी' की तरह 'चतुरी' ही। श्रवण-सुखदता का ध्यान समझिए। 'सावधान' स्वतः इतना लम्बा शब्द है! 'आई' से और भी बढ़ कर उद्वेजक हो जाता। 'चतुर'-'चतुराई' में वैसी बात नहीं है। यह चीज संस्कृत-प्रत्ययों में भी है। 'चतुर' से 'चतुरता' बन कर चलता है—'चातुर्य्य' भी। परन्तु 'पण्डित' से 'पण्डितता' नहीं बनता-चलता। 'पाण्डित्य' चलता है। हिन्दी में ('पौरोहित्य' जैसे अर्थ में) 'पंडिताई' चलता है। 'विद्वत्ता' के लिए हिन्दी में भी 'पाण्डित्य' चलता है। तो, 'पण्डित' से 'ता' और 'त्व' हो कर 'पण्डितता' तथा 'पण्डितत्व' क्यों नहीं चलते? इस लिए कि कानों को भले नहीं लगते। 'त' के अनन्तर तुरन्त दूसरा 'त' बुरा लगता है। 'पण्डितता' तथा 'पण्डितत्व' अच्छे नहीं लगते। परन्तु 'विद्वत्ता' का खूब चलन है; यद्यपि 'विद्वत्त्व' का कतई नहीं! 'द्वत्त्व' बोलने में अच्छा नहीं लगता। 'पाण्डित्य' हिन्दी में चलता है; परन्तु 'वैदुष्य' नहीं। संस्कृत में 'वैदुष्य' चलता है; पर 'विद्वत्त्व' 'पण्डितता' या 'पण्डितत्व' वहाँ भी नहीं। व्याकरण से बन सब सकते हैं; पर चलन हो, तब तो! जिस सिक्के का चलन न हो, उसे टकसाल में क्यों ढाला जाए? ढल सकता है; यह दूसरी बात है। पर ढालना मूर्खता ही तो होगी!

हिन्दी की यौगिक प्रक्रियाओं में—(तद्धित, समास, प्रेरणा आदि में)—देखा जाता है कि मूल का दीर्घ (प्रथम) स्वर प्रायः ह्रस्व हो जाता है—ढीठ-डिठाई, दुधारा, पिलाना आदि। 'लावण्य' के अर्थ में 'लुनाई' कविता में चलता है—'लोन' से 'लुनाई'। परन्तु 'चौड़ा' से 'चौड़ाई' बनता है। यहाँ ह्रस्व (औ, को 'उ') नहीं होता। 'ऐ' 'औ' प्रायः ज्यों के त्यों रहते हैं! पूरे 'गुरु' हैं।

'आई' प्रत्यय भाववाचक है। परन्तु 'दाल में खटाई डाल दो' 'एक सेर मिठाई ले आओ' आदि में ('खटाई'-'मिठाई') में वह (भाववाचक 'आई') नहीं है। यहाँ 'खटाई' अमचूर या इमली आदि के लिए है। जहाँ खटास हो, वह 'खटाई'। 'खट्टा' विशेषण से यहाँ 'आई' प्रत्यय 'तद्वान्' अर्थ में है। जहाँ खटास हो, वह 'खटाई'। 'खटाई' जाति-वाचक संज्ञा हुई। इसी तरह 'मिठाई' जहाँ (खाने की बढ़िया चीजों में) मिठास हो, वह 'मिठाई'—

पेड़ा, बर्फी, गुलाबजामुन आदि। यहाँ 'मीठा' विशेषण से 'आई' प्रत्यय है। मीठी चीज–'मिठाई'। भाववाचक प्रत्यय ऐसे शब्दों से 'आस' होता है—खटास, मिठास। परन्तु 'कड़वा से 'आस' नहीं, 'आहट' प्रत्यय होता है—'कड़वाहट'। इसी तरह 'चिरपिराहट'। 'खट्टा'-'मीठा' एक साथ, 'कड़वा'-'चिरपिरा' एक साथ।

संस्कृत के 'त्व' 'ता' आदि तद्धित प्रत्यय संस्कृत शब्दों में ही लगते हैं, संस्कृत-व्याकरण के ही अनुसार। यों भी कह सकते हैं कि जातीयता, नेतृत्व पाण्डित्य आदि भाववाचक संज्ञाएँ बनी-बनाई हिन्दी ले लेती है और तद्रूप प्रयोग करती है। किसी भी दूसरी भाषा के शब्दों से ये संस्कृत तद्धित-प्रत्यय नहीं होते। परन्तु हिन्दी में प्रचलित एक 'महानता' शब्द विचारणीय है। यह अपवाद सही; जैसे कि कृदन्त 'सराहनीय'। 'यह उन की महानता ही है' की जगह 'यह उन की महत्ता है' कुछ ठीक जमता भी नहीं है। 'महत्ता' 'महत्त्व' और 'महानता' में बुद्धिगम्य अन्तर है। यदि किसी को कुछ भी अन्तर न जान पड़े तो वह यथेच्छ प्रयोग कर सकता है! शब्दों के प्रयोग में ऐसे अन्तर विचारणीय हैं। पहले लोग पत्तों पर ही रख कर खाते-पीते थे! वृक्ष-पत्रों में सींकें लगा कर लोग 'पात्र' (पत्तल-दोने) बना लेते थे। पत्रों से बने 'पात्र'। आगे ताँबे-पीतल तथा सोने-चाँदी के बर्तन बनने लगे; पर नाम 'पात्र' ही रहा! हिन्दी ने उस पुराने अर्थ के लिए 'पत्ता' से तद्धित 'पत्तल' बना लिया। 'पात्र' तथा 'पत्तल' में कितना अन्तर है!

यह विचारणीय है कि 'महानता' हिन्दी में शुद्ध समझा जाए, या अशुद्ध! संस्कृत में 'महत्' 'प्रातिपदिक' (मूल शब्द) है और उस में 'ता' प्रत्यय लग कर 'महत्ता' बनता है। हिन्दी में संस्कृत के ऐसे शब्द प्रथमा विभक्ति के एकवचन में निष्पन्न 'मूल शब्द' के रूप में गृहीत हैं। यानी हिन्दी में महान्, पिता, राजा आदि 'मूल शब्द' ('प्रातिपदिक') के रूप में हैं; महत्, पितृ तथा राजन् नहीं। 'मेरे पितृ का घर राजन् के अधिकारी ने ले लिया' गलत प्रयोग हो गा। तो, जब कि 'महान्' शब्द हिन्दी में गृहीत है, तो उस से 'ता' प्रत्यय हो गया। 'न' को सस्वर भी कर लिया गया। यों 'महानता' का समर्थन अपवाद-रूप से किया जा सकता है। अन्यत्र 'बुद्धिमत्ता' जैसे रूप ही चलें गे; 'बुद्धिमान्' से 'ता' प्रत्यय न हो गा। 'बुद्धिमत्ता' से 'बुद्धिमत्' निकाल कर हिन्दी में न चलाया जा सके गा—'बुद्धिमान्' ही चले गा। 'गोरक्षा' आदि में 'गो' देख

कर लोग लिख देते हैं—'गो हमारी माता है'। यह गलत है। 'गौ हमारी माता है' शुद्ध है। हाँ, 'गौसेवा' हिन्दी का अपना शब्द कहा जा सकता है। हिन्दी-गृहीत 'गौ' शब्द से 'सेवा' का समास 'गौसेवा'। 'गोरक्षा' संस्कृत और 'गौसेवा' 'गौरक्षा' हिन्दी।

संस्कृत के तद्धित-प्रत्ययों को (कुछ रूपान्तरित कर के) तद्भव रूप में हिन्दी 'अपने' या संस्कृतेतर शब्दों में लगाती है। ऐसे ('तद्भव') प्रत्यय संस्कृत शब्दों में नहीं लगते। 'दयालु' 'कृपालु' आदि शब्दों में दृष्ट 'आलु' प्रत्यय को हिन्दी ने अपनी प्रकृति-प्रवृत्ति के अनुसार दीर्घान्त कर लिया और 'अपने' शब्दों में इस का प्रयोग करती है—'झगड़ालू'। 'धनवान्' आदि में दृष्ट 'वान्' प्रत्यय को हिन्दी ने अपनी प्रकृति के अनुसार स्वरान्त 'वान' कर लिया, जिस का प्रयोग 'अपने' शब्दों में किया जाता है। 'गाड़ीवान' 'पीलवान' आदि शब्दों में यही है। मतलब यह निकला कि संस्कृत से आए हुए (तद्रूप) शब्दों को छोड़, शेष सभी हिन्दी-गृहीत शब्दों से 'वान' प्रत्यय होता है। सीधा मार्ग है; जैसे 'मेहरवान' उसी तरह 'गाड़ीवान'। संस्कृत प्रत्यय में भेद है—धनवान्, ज्ञानवान् और बुद्धिमान्, चक्षुष्मान्। 'वान' सर्वत्र एकरस रहता-चलता है।

इसी 'वान' के 'न' को विकल्प से 'ल' भी हो जाता है। संस्कृत में भी 'न' का 'ल' होना प्रसिद्ध है। अन्तर यह कि वहाँ अनुनासिक 'लँ' होता है; हिन्दी में निरनुनासिक 'ल' भी। इस 'ल' में फिर हिन्दी की पुंविभक्ति लग जाती है—'गाड़ीवाला'। स्त्रीलिङ्ग में 'आ' को 'ई' 'गाड़ीवाली'। 'वान' स्त्रीलिङ्ग में ईकारान्त न हो गा। 'वान' प्रत्यय हिन्दी के आकारान्त पु० शब्दों से प्रायः नहीं होता। यहाँ 'वाला' चलता है। जब यह प्रत्यय लगता है, तो प्रकृति के 'आ' को 'ए' हो जाता है—टाँगेवाला, इक्केवाला। बहुवचन में कहीं 'ओं' विकरण भी आ जाता है—'हाथियों वाला जंगल' 'मंत्रियों वाला बँगला' इत्यादि। परन्तु अन्यत्र प्रायः यह विकरण ('ओं') लुप्त हो जाता है। जिस के बहुत से टाँगे हों, वह भी 'टाँगेवाला'। 'टाँगों-वाला' न हो गा। 'सब पुस्तकों वाले बेचते हैं' गलत प्रयोग है 'पुस्तकें बेचने वाले' ठीक है। 'पुस्तक वाले' भी ठीक है। कोई एक ही पुस्तक बेचने नहीं बैठता है।

'वाला' में एक और भी खास बात है। इस का प्रयोग विश्लिष्ट भी होता है। 'गाड़ीवान' आदि को कभी भी 'गाड़ी वान' नहीं लिख सकते;

परन्तु 'यह कौन है किवाड़ खटखटाने वाला ?' यों 'वाला' के विश्लिष्ट प्रयोग भी होते हैं। 'बेचनेवाला' और 'बेचने वाला' यों द्विविध प्रयोग होते हैं। 'ओं' विकरण आने पर तो प्रायः विश्लिष्ट ही प्रयोग होता है—'हाथियों वाला जंगल'। केवल इस 'वाला' प्रत्यय में ही यह बात है; अन्य किसी भी प्रत्यय में नहीं। इस तरह का अपवाद समास-प्रकरण में भी एकाध जगह मिले गा। 'पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी कृत 'शिक्षा' ग्रन्थ मैं ने अब तक नहीं देखा।' यहाँ 'कृत' का विश्लिष्ट प्रयोग है। 'द्विवेदीकृत' कर दें, तो 'महावीर' तथा 'प्रसाद' पृथक् पड़ जाएँ गे। ये सब बातें समास-प्रकरण में आएँ गी। यहाँ इतना समझिए कि कहीं किसी प्रत्यय का, या (समास में) 'शब्द' का विश्लिष्ट प्रयोग भी हिन्दी में होता है।

एकरूप दिखाई देनेवाले विविध प्रत्यय हिन्दी में हैं। 'ई' की ही तरह 'आ' प्रत्यय भी अनेक हैं। कोई 'आ' स्वार्थ में आता है, जैसे 'बोझ'-'बोझा'। कोई 'आ' तद्वत्ता प्रकट करता है—भाववाचक संज्ञाओं को विशेषण बनाता है—प्यास जिसे लगी हो, वह 'प्यासा'। भूख से 'भूखा'। जिस में 'मैल' हो, वह 'मैला'। जो प्यार का पात्र हो, वह 'प्यारा'। और—बजाज लोगों का बाजार—'बजाजा'। तथा सराफ जनों का बाजार 'सराफा'।

यों कई 'आ' प्रत्यय हैं। एक ही 'आ' प्रत्यय विभिन्न अर्थ प्रकट करता है; ऐसा न लिखना चाहिए। 'अर्थभेदात् शब्दभेदः'—जितने अर्थ, उतने शब्द; जितने अर्थ, उतने प्रत्यय। रंग-रूप एक होने से क्या ? असली चीज 'अर्थ' है। सेंधा नमक को यह न कह देंगे कि 'यह मिसरी नमकीन है !' 'मिसरी' या 'फिटकरी' को सेंधा नमक न कहा जाए गा।

'शाह' से 'शाही' भाववाचक संज्ञा है। 'शाही' विशेषण भी है—'शाही खर्च'। परन्तु भाववाचक संज्ञा 'शाही' का प्रयोग कुछ इस रूप में चला कि हिन्दी-उर्दू में 'शाही' एक प्रकार का तद्धित प्रत्यय समझा जाने लगा—लोकशाही, नादिरशाही, डायरशाही आदि। यह 'शाही' कभी-कभी संस्कृत शब्दों में भी लगता है; यह बात 'लोकशाही' से स्पष्ट है। 'लोकशाही'—लोकतंत्र और 'नौकरशाही'—'ब्यूरोकेशी'। 'नादिरशाही' के वजन पर 'नेताशाहीं' आदि शब्दों का प्रयोग स्वेच्छाचारिता प्रकट करने के लिए किया जाता है। यहाँ 'नेता' शब्द से 'शाही' है; 'नेतृ' शब्द से नहीं। यदि 'शाही' के साथ 'नेता' का समास मानें, तो भी स्थिति वही है। इसी लिए प्राचीन हिन्दी-साहित्य

में 'पितावचन' जैसे सामासिक पद मिलते हैं—'पितृवचन' आज कल अधिक चलता है।

तद्धित-प्रत्ययों पर विचार करते समय भाषा-विज्ञान के क्षेत्र का भी ध्यान रखना चाहिए। 'बिक्री' में तद्धित 'ई' प्रत्यय नहीं है; प्रत्युत 'विक्रय' का यह विकास है 'बिक्री'। हिन्दी में कोई 'बिक्र' शब्द नहीं है, जिस से 'ई' प्रत्यय माना जा सके। संस्कृत 'व' हिन्दी में 'ब' हो ही जाता है और 'य' को 'इ'-'ई' भी होना प्रसिद्ध है। 'य्' को 'इ' होने को संस्कृत में 'सम्प्रसारण' कहते हैं—'यज्'-'इष्टि'। सो, 'विक्रय' के 'य' को 'ई' हो गया और फिर मध्य स्वर का लोप हो कर 'बिक्री'। यह भाषा-विज्ञान का विषय है। स्वरूप परिवर्तन के साथ-साथ अर्थ-परिवर्तन भी कभी देखा जाता है। 'कुछ पता नहीं लगा कि असल मामला क्या है'! यह 'पता' क्या चीज है? इस का मूल है 'पत्ता'। पत्ते देख कर वृक्ष जाना जाता है कि आम है, या जामुन आदि। यदि किसी पेड़ पर पत्ते न हों, तो पहचानना कठिन है! जिस में एक भी पत्ता हा, उस का पता लग जाए गा। एकदम ठूँठ दिखा कर पूछो कि काहे का पेड़ है? कौन सही उत्तर दे! पत्ता तो है नहीं! जवाब में कहा गया, 'पत्ता नहीं; तब क्या बताऊँ!' यही 'पत्ता' 'पता' के रूप में आकर हिन्दी में चल रहा है-'पता साफ साफ लिखो; जिससे कि पत्र ठौर-ठिकाने पहुँच जाए!'

सो, तद्धित-प्रत्ययों से शब्दों का रूपान्तरित होना और उन से अर्थान्तर का निकलना एक बात है; किन्तु शब्द-विकास दूसरी चीज है। कभी-कभी शब्द-विकास की ही कोई चीज व्याकरण में प्रकृति-प्रत्यय रूप से विभाजित की जाती है; परन्तु 'बिक्री' या 'पता' जैसे शब्दों में वह बात नहीं।

कभी-कभी किसी शब्द में यह झमेला पड़ जाता है कि यह तद्धित-शब्द है, या 'समस्त' है! हिन्दी का 'इकट्ठा' विशेषण ले लीजिए। इस का अर्थ है—एक स्थान पर समवेत या 'जमा'। इस में 'इक' तो स्पष्ट ही 'एक' का वृत्ति-प्राप्त रूप है। 'वृत्ति' (कृदन्त, तद्धित तथा समास आदि) में 'एक' को 'इक' हो जाता है। परन्तु आगे का 'ट्ठा' क्या है? यदि यह स्वतन्त्र कोई सार्थक शब्द नहीं; तो प्रत्यय है; तद्धित-प्रत्यय। 'ट्ठ' प्रत्यय और उस में पुंविभक्ति लग कर 'इकट्ठा'। बहुवचन में 'इकट्ठे' और स्त्रीलिङ्ग में 'इकट्ठी'। यों 'इकट्ठा' तद्धितान्त शब्द। परन्तु 'ठा' को 'ठावँ' का घिसा हुआ रूप समझा जाए, तो फिर 'इकट्ठा' 'समस्त' पद हो गा। विग्रह-एक ठावँ (स्थान

पर) समवेत–'इकट्ठा-इकट्ठे'। 'ठावँ' के 'वँ' का लोप और पूर्व में 'ट्' का आगम। पुंविभक्ति का योग या छाया। यों 'इकट्ठा' समस्त पद हुआ।

परन्तु 'इकलौता' तो स्पष्ट ही तद्धित-शब्द समझिए; क्योंकि 'लौता' न कोई सार्थक शब्द ऐसा हिन्दी में है कि जो यहाँ समझा जाए; न किसी वैसे शब्द का संस्कार ही यहाँ जान पड़ता है। फलतः 'मात्र' के अर्थ में 'लौत' तद्धित प्रत्यय 'एक' शब्द से और पुंविभक्ति का योग। 'एक' को 'इक' हो गया–'इकलौता'। एक मात्र पुत्र 'इकलौता' और पुत्री 'इकलौती'। किसी-किसी ने 'इकला+ऊत' विग्रह कर के 'ऊत' को 'पूत' का रूप माना-लिखा है। इस तरह यह 'समस्त' पद ठहरता है। परन्तु (हिन्दी में) भाषा-विज्ञान से या व्याकरण के नियमों से 'पूत' का 'ऊत' होना कहीं देखा-सुना नहीं और ब्रज में तथा मेरठ आदि में जो 'ऊत' शब्द चलता है, उस का अर्थ 'पूत' के कतई समीप नहीं। 'ऊत' शब्द धूर्त या उपद्रवी के अर्थों में चलता है। पुत्र के अर्थ में 'ऊत' कभी-कहीं देखा-सुना नहीं। हाँ, कभी कभी कोई ऊत 'बेवकूफ' के अर्थ में या वंचित-बेगारी के अर्थ में भी 'ऊत' का प्रयोग कर देता है। 'मनोहर जंगली' का एक दोहा है–'धी जमाई ले गए, बहुएँ ले गईं पूत। कहै 'मनोहर जंगली' तू रहा ऊत का ऊत !' इस लिए 'इकलौता' निश्चय ही तद्धित शब्द है। 'प्रत्यय' भी सार्थक शब्दों के ही घिसे-घिसाए रूप हैं, यह कह सकते हैं और हम मानते भी हैं। परन्तु व्याकरण में तद्धित तथा सामासिक पदों का श्रेणी-विभाजन यों है—जहाँ उत्तरांश किसी प्रचलित या ज्ञात सार्थक शब्द का अवशेष जान पड़े, वहाँ 'समास' और जहाँ वह बात न हो— उत्तरांश स्वतः एकदम निरर्थक जान पड़े, वह तद्धित-शब्द। कोई आधार चाहिए।

इस व्याख्या से 'ऐसा' 'जैसा' आदि शब्द तद्धितान्त नहीं, 'समस्त' ठहरते हैं। हिन्दी-व्याकरणों में 'सा' को तद्धित प्रत्यय मान कर 'ऐसा' आदि को तद्धितान्त शब्द लोगों ने बताया है; जो गलत है। कारण, यहाँ उभय अंश सार्थक दिखाई देते हैं। 'ऐसा' में 'यह' और 'सा' साफ दिखाई देते हैं। वृत्ति में 'यह' और 'वह' को 'इ'-'उ' होते प्रायः देखा जाता है—इस ओर 'इधर' और उस ओर 'उधर'। यहाँ 'यह'-'वह' से 'धर' प्रत्यय है दिशा-अर्थ में। 'धर' प्रत्यय होने पर 'यह' को 'इ' और 'वह' को 'उ' हो गया है। एक कोशकार ने 'उधर' को 'उत्तर' का विकास माना-लिखा है !

पूछो, 'उत्तर' और 'उधर' का क्या सामञ्जस्य ? और, यदि मान भी लें, तो फिर 'इधर' तथा 'किधर' को किन शब्दों का विकास माना जाए गा ?

खैर, हम कह रहे थे कि वृत्ति में 'यह' 'वह' 'कौन' को 'इ', 'उ', तथा 'कि' प्रायः हो जाता है। परन्तु 'सा' के साथ समास करने पर इन्हें ऐ, वै, कै हो जाता है। 'सा' शब्द संस्कृत के 'सम' का घिसा हुआ रूप है। 'म' का लोप और 'स' में पुंविभक्ति—'राम-सा पुत्र' 'सीता-सी पतोहू'। इसी 'सा' का 'यह-वह' आदि से समास हो कर 'ऐसा' 'वैसा' 'कैसा'। राम का-सा रूप—'राम-सा रूप'। 'राम-सा' भी सामासिक है। इस का सा रूप-'ऐसा रूप'। 'ऐसा' सामासिक पद है।

यह हो सकता है कि 'ईदृशः' 'कीदृशः' आदि के विकास 'ऐसा' 'कैसा' आदि शब्द हों। परन्तु हिन्दी के व्याकरण में इन्हें पूर्वोक्त पद्धति पर 'सामासिक' पद बतलाना अधिक अच्छा; क्योंकि 'यह' और 'सा' आदि रूप पृथक्-पृथक् हिन्दी में चल रहे हैं। हिन्दी वाले झट समझ लेंगे। 'ईदृशः' सभी हिन्दी वाले जानते-समझते हों; सो तो है ही नहीं।

सारांश यह कि 'ऐसा' आदि शब्दों में कोई तद्धित प्रत्यय नहीं है;क्योंकि 'सा' शब्द स्वतन्त्र रूप से (उसी अर्थ में) हिन्दी में चल रहा है।

हाँ, इधर, उधर, किधर शब्दों को यह, वह, और कौन से 'धर' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न माना जाए गा; क्योंकि 'धर' शब्द दिशा के अर्थ में (हिन्दी में) प्रचलित नहीं—कहीं देखा-सुना नहीं !

इसी तरह यहाँ, वहाँ, जहाँ, कहाँ शब्द तद्धितान्त हैं और 'इधर' 'उधर' आदि की तरह ये भी अव्यय हैं। हिन्दी के व्याकरणों में 'यहाँ' आदि में 'आँ' प्रत्यय लोगों ने माना-लिखा है, जो ठीक नहीं। 'आँ' प्रत्यय होने पर 'कौन' से 'कहाँ' कैसे बने गा ? वस्तुतः यहाँ 'अहाँ' प्रत्यय है। नियम यह बने गा कि 'यह-वह' आदि सर्वनामों से अधिकरण-प्रधान 'अहाँ' प्रत्यय होता है और प्रत्यय परे होने पर उन सर्वनामों के आद्य व्यंजन मात्र शेष रहते हैं; और आगे का सब अंश लुप्त हो जाता है। फिर वह 'शेष व्यंजन' प्रत्यय के 'अ' में मिल कर 'यहाँ'-'जहाँ-'कहाँ' रूप बन जाते हैं। 'तौन' से 'तहाँ' भी बनता है—'जहाँ-तहाँ कुश-काश पड़े थे।' यहाँ 'जहाँ-वहाँ' न हो गा। अन्यत्र 'वहाँ' चले गा—चलता है। 'वहाँ मैं गया' की जगह 'तहाँ

मैं गया' न बोला जाए गा। परन्तु कानपुर आदि की जन-बोली में 'तहाँ उइ का करत हैं' बोला जाता है। यहीं 'तहाँ' की जगह 'हुअन' भी बोलते हैं, जो वर्ण-व्यत्यय और 'उ' को 'व' तथा 'न' को अनुनासिक कर देने पर 'वहाँ' हो जाता है। ब्रजभाषा में 'जहँ-तहँ' भी हो जाते हैं। 'कहाँ' को 'कहँ' भी हो जाता है; परन्तु 'यहाँ' को 'यहँ' नहीं होता! शब्द-प्रवृत्ति ही तो ठहरी! 'योगी' का 'जोगी' बन जाता है; पर 'वियोगी' का 'विजोगी' कभी भी नहीं हो सकता।

कभी-कभी किसी शब्द के वजन पर भी दूसरे शब्द गढ़े गए हैं और तब प्रत्यय-भेद करना हो गा। 'यह' सर्वनाम से 'प्रकार' या 'तरह' के अर्थ मे 'ओं' प्रत्यय हुआ और आद्य वर्ण शेष रह कर बाकी सब प्रकृत्यंश उड़ गया—यह+ओं='यों'। 'यों—इस तरह। जब 'यों' बन गया, तब 'जो' आदि से भी उसी तरह के रूप बने। परन्तु 'ओं' प्रत्यय करने पर 'जों' 'कों' आदि रूप बनते—'यों' का मेल बिगड़ जाता! इस लिए शेष सर्वनामों से 'यों' प्रत्यय हुआ—ज्यों, क्यों। 'तौन' से 'त्यों' भी; परन्तु 'ज्यों' का साथ देने के लिए ही—'ज्यों-त्यों कर के परीक्षा तो पास कर लीं; परन्तु अब क्या करें!' पृथक् 'त्यों' का प्रयोग न हो गा। हाँ, 'वह' से 'यो' प्रत्यय होता नहीं! होता, तो 'व्यों', रूप बनता, जिस का उच्चारण हिन्दी-प्रकृति के अनुकूल नहीं। इस लिए, 'वह' से यह प्रत्यय नहीं होता। 'उस तरह' 'उस प्रकार' आदि बोला जाता है। 'वैसे' भी बोलते हैं—'वैसे ही कर लो न!' 'वैसे'–उसी तरह।

भाषा-विज्ञान तथा व्याकरण का विषय-विभाजन करना कुछ बहुत कठिन काम नहीं है। 'द्वीज-द्वैज' तथा 'दूज'-'तीज' शब्दों को ले लीजिए। 'द्वितीया'-'तृतीया' तिथियों का तद्रूप प्रयोग भी हिन्दी में होता है; परन्तु जनभाषा में तथा कविता में 'द्वितीया' को 'द्वीज' 'द्वैज' तथा 'दूज' भी बोलते हैं। इन में से 'द्वीज'–'द्वैज' को सीधे ही 'द्वितीया' के विकसित रूप कह सकते हैं। यहाँ प्रकृति-प्रत्यय के विभाजन की जरूरत नहीं। यानी यह व्याकरण का नहीं, भाषा-विज्ञान का क्षेत्र है। 'द्वितीया' के मध्य अंश का लोप, 'इ' को दीर्घता ('ई' अथवा 'ऐ') और 'या' को 'जा'। संस्कृत आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के तद्भव रूप अकारान्त हो ही जाते हैं—'द्वीज', 'द्वैज'। पुंविभक्ति लग ही नहीं सकती; क्योंकि मूल शब्द (द्वितीया) स्त्रीलिङ्ग है। सो, 'द्वीज-द्वैज' में प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना नहीं। परन्तु 'दूज'-तीज' में प्रकृति-प्रत्यय

का विभाजन हो गा। कारण, यहाँ हिन्दी के अपने 'दू' तथा 'ती' शब्दांश स्पष्ट हैं। 'दो' को 'दु' या 'दू' वृत्ति में हो जाता है और 'तीन' को 'ती'–'दूसरा'–'तीसरा'। परन्तु 'द्वी' अथवा 'द्वै' रूप 'दो' से नहीं बन सकते। इस लिए 'द्वीज' या 'द्वैज' की निष्पत्ति 'दो' से नहीं। फलतः प्रत्यय-कल्पना भी नहीं। परन्तु 'दूज'-'तीज' में 'ज' तद्धित प्रत्यय है—तिथि के अर्थ में। यह 'ज' प्रत्यय 'द्वैज' से ही लिया है, इस में सन्देह नहीं। 'चौथ' में भी 'चार' से 'थ' प्रत्यय है, तिथि-अर्थ में। यह प्रत्यय संस्कृत से लिया है। 'चार' को वृत्ति में 'चौ' हो ही जाता है—चौराहा, चौमुही आदि। पुल्लिङ्ग 'चौथा' विशेषण, और स्त्रीलिङ्ग 'चौथ' संज्ञा।

'पाँचैं'—पञ्चमी। इसी तरह 'सातैं' 'आठैं।' 'पाँच' आदि से 'ऐं' प्रत्यय तिथि–अर्थ में। और 'छह' से 'ठि' प्रत्यय तथा 'ह' का लोप 'छठि'। वृत्ति में 'छह' को 'छ' हो जाता है—'छमाही'। यही (वृत्ति-गृहीत) 'छ' लोग भूल से पृथक् भी लिखने लगे—'छ आदमी आए थे।' खैर हुई कि 'तिमाही' के 'ति' को देख कर 'ति आदमी आए' नहीं चला !

ग्यारस, बारस, तेरस, आदि इग्यारह, बारह, तेरह आदि से हैं। 'दस' के 'स' को ('ग्यारह' आदि में) 'ह' हो गया था, जो यहाँ फिर अपने उसी रूप में शब्द-विकास है। ग्यारह, बारह, तेरह आदि की प्रतिपत्ति यहाँ है ही; पर आगे 'स' दिखाई देता है; स्त्रीलिङ्ग भी है। 'ग्यारह' और 'ग्यारस' में बड़ा अन्तर है। यह अन्तर 'ह'—'स' से और स्त्रीपुं–भेद से है। यह 'स' हिन्दी में पृथक् कोई शब्द नहीं। इस लिए 'ग्यारह' आदि संख्या-वाचक शब्दों से तिथि-अर्थ में 'स' प्रत्यय और प्रकृति के 'ह' का लोप। 'स' को स्त्रीलिङ्गता। यों 'ग्यारस' आदि तद्धित-शब्द।

'ग्यारह' आदि के 'ह' को ही तिथि-अर्थ में 'स' कहें और स्त्रीत्व भी मानें, तब 'तद्धित' न कहा जाए गा। इसे 'निपातन' कहते हैं।

जहाँ तिथि-अर्थ न हो, वहाँ 'सर' तद्धित प्रत्यय होता है। द्वितीया तिथि—'दूज' और द्वितीय कन्या 'दूसरी'। 'सर' में पुंविभक्ति है; इस लिए बहुवचन में 'दूसरे' और एकवचन 'दूसरा'। यों 'सर' प्रत्यय से विशेषण बनते हैं।

इसी तरह 'हर' प्रत्यय है—दुहरा, तिहरा। 'द्विगुण' संस्कृत समस्त पद है; जिस के 'गुण' को 'गुन' बना कर हिन्दी ने एक प्रत्यय बना लिया—दुगुना, तिगुना, चौगुना। बहुवचन 'दुगुने' और स्त्रीलिङ्ग 'दुगुनी'। गुण का 'गुन' होते ही पुंविभक्ति। 'दुगुना' को लोग 'दुगना' भी लिखते-बोलते हैं। पास-पास दो उकार अच्छे न लगे होंगे। परन्तु 'तिगुना' 'चौगुना' को 'तिगना' 'चौगना' लिखना एकदम गलत है। इसी तरह 'चौगुणा' गलत है। 'चतुर्गुण' या फिर 'चौगुना'। संस्कृत का 'चतुर्गुण' समस्त पद है—'चतुर्' तथा 'गुण' का समास। परन्तु 'चौगुना' तद्धितान्त हिन्दी-पद है; क्योंकि 'गुना' का हिन्दी में कोई पृथक् अर्थ नहीं। संस्कृत का 'गुण' गुणन-अर्थ में चलता है। 'गुन' शब्द का हिन्दी में वैसा अर्थ नहीं; इस लिए प्रत्यय।

हिन्दी में कई विदेशी भाषाओं के भी प्रत्यय ले लिए गए हैं; परन्तु दूर का और पड़ोस का ध्यान रखा गया है। एशिया (ईरान आदि) की भाषाओं से हिन्दी ने विशेषण तथा कई 'प्रत्यय'—'अव्यय' लिए हैं; परन्तु किसी योरपीय भाषा से नहीं। योरपीय भाषाओं से विविध संज्ञा—शब्द अवश्य लिए गए हैं। भाषा-विज्ञान से स्पष्ट है कि ईरानी (फारसी) का प्राचीन संस्कृत से कितना निकट का सम्बन्ध है। 'दार' आदि तद्धित प्रत्यय हिंन्दी में खूब प्रचलित हैं। आकारान्त पु० संज्ञाओं के 'आ' को 'ए' हो जाता है—'दार' परे होने पर—थानेदार, नातेदार। हिन्दी की पुंविभक्ति से प्रभावित विदेशी (आकारान्त पुल्लिङ्ग) शब्द भी एकारान्त हो जाते हैं—'दावेदार'। दकारान्त शब्द के (अन्त्य) 'द' का लोप हो जाता है, 'दार' परे होने पर—खरीद+दार = 'खरीदार'। इसी तरह 'बाज' है—'नशेबाज।' 'बाज' प्रत्यय बुरी आदत बतलाने के लिए ही प्रायः काम में आता है, कहीं आदत मात्र के लिए भी—पतंगबाज, शतरंजबाज।

संस्कृत तद्धित–प्रत्यय संस्कृत शब्दों में ही लगते हैं और ऐसे शब्द हिन्दी में खूब चलते हैं—भारतीय, ऐतिहासिक, नैतिक, औपचारिक आदि।

कभी-कभी हिन्दी ने संस्कृत से भेद भी प्रकट किया है। संस्कृत में एक 'इत' तद्धित प्रत्यय है, जो हिन्दी में घुल-मिल गया है। पुष्पों से युक्त-'पुष्पित'। इसी तरह 'पल्लवित' 'प्रतिबिम्बित' आदि। एक कृदन्त प्रत्यय भी संस्कृत में 'इत' है—हर्षित, वर्जित, अर्जित आदि। हर्ष, वर्जन, तथा अर्जन

क्रियाएँ हैं। 'हर्षित' आदि धातुज (कृदन्त) शब्द हैं। परन्तु ये 'हर्षित' जैसे शब्द हिन्दी में तद्धित भी समझे जा सकते हैं। 'हर्ष' प्रसिद्ध शब्द है। उस से 'इत' तद्धित प्रत्यय। संस्कृत में 'हृष्' धातु प्रसिद्ध है, जिस से (इ-) 'त' कृदन्त प्रत्यय—'हर्षित'। परन्तु हिन्दी वाले तो 'हृष्' जानते नहीं। 'हर्ष' से परिचित हैं। इस लिए 'हर्षित' तद्धित शब्द कह सकते हैं। संस्कृत में भी 'हर्षित' तद्धित कहा जा सकता है; परन्तु प्रक्रिया-गौरव है। घुमा कर नाक पकड़ना ठीक नहीं। दूसरी बात यह कि संस्कृत-व्याकरण में 'तारक' आदि कुछ शब्द गिनती के ही हैं, जिन से 'इत' (इतच्) प्रत्यय होता है। हिन्दी में ऐसा कोई बन्धन नहीं। इसी लिए 'एकत्रित' विशेषण भी यहाँ बनता-चलता है। 'हृष्' से पहले 'हर्ष' कृदन्त और फिर उस से 'इत' तद्धित! दुहरा काम! 'अर्जित' 'वर्जित' आदि शब्द हिन्दी में तद्धितान्त न समझे जाएँ गे। 'हर्ष' की तरह 'अर्ज'-'वर्ज' कोई प्रसिद्ध चलते शब्द यहाँ हैं नहीं कि इन से तद्धित 'इत' मान लिया जाए। सो, ये संस्कृत कृदन्त–शब्द ही कहे जाएँ गे। बने-बनाए काम में ले लिए जाते हैं। 'अर्जन' 'वर्जन' हिन्दी में है—'अर्ज-'वर्ज' नहीं। 'संबन्ध' से 'संबन्धित' ठीक। संस्कृत में 'संबन्धित' न चले गा, 'संबद्ध' चलता है। हिन्दी में 'संबद्ध' और 'संबन्धित' दोनो। एक संस्कृत कृदन्त, दूसरा हिन्दी तद्धितान्त।

हिन्दी में संस्कृत का यह 'इत' तद्धित प्रत्यय संस्कृत के अव्यय में भी एक जगह लगता-चलता देखा जाता है—'एकत्रित'। 'एकत्र' संस्कृत अव्यय है—'एक जगह' के अर्थ में। इस से 'इत' प्रत्यय कर के हिन्दी में 'एकत्रित' रूप चलता है—'इतनी भीड़ एकत्रित हो गई कि प्रबन्ध करना कठिन हो गया'। 'एकत्रित' हो गई—'इकट्ठी' हो गई। यानी 'एकत्र' अव्यय से 'एकत्रित' विशेषण बना लिया गया। 'भीड़ एकत्र हो गई' से वह मतलब नहीं निकल सकता। 'एकत्र हो गई'—एक जगह हो गई। 'एकत्रित हो गई'—इकट्ठी हो गई।

संस्कृत-व्याकरण से 'एकत्रित' नहीं बनता। जो लोग संस्कृत-व्याकरण का ही राज हिन्दी पर चाहते हैं, वे 'एकत्रित' न लिख कर 'इकट्ठा, इकट्ठे, इकट्ठी' लिखें। 'राष्ट्रिय' तद्धित तथा 'विस्तर' कृदन्त भी वे चलाते–चाहते हैं; इस लिए 'भीड़ एकत्र हो गई' भी लिख सकते हैं। परन्तु इस रूप में तो 'एकत्र' संस्कृत में भी गलत ही है—'तत्र समवेताश्छात्राः समारब्धवन्तो भृशमुपद्रवम्'—वहाँ इकट्ठे हुए छात्रों ने बड़ा उपद्रव शुरू किया। यहाँ 'समवेताः'

की जगह 'एकत्र' नहीं दे सकते। 'एकत्र छात्राः' का अर्थ हो गा—'एक जगह छात्र'। हिन्दी में भी 'एकत्र' का अर्थ 'एक जगह' ही है। "कैसी स्थिति है! एकत्र गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, अपरत्र बच्चों को सिर छिपाने के लिए भी छाया नहीं।" 'एकत्र'—एक जगह। 'अपरत्र'—दूसरी जगह। सो, 'इकट्ठा-इकट्ठी' के अर्थ में 'एकत्र' एकदम गलत है। न संस्कृत में 'एकत्र' विशेषण, न हिन्दी में ही। व्रजभाषा में 'एकत' भी विशेषण नहीं है।

परन्तु देखना तो यह है कि हिन्दी में प्रचलित 'एकत्रित' गलत है क्या? क्यों गलत है? संस्कृत में 'तत्र' आदि अव्ययों से तद्धित प्रत्यय कर के 'तत्रत्य' आदि विशेषण बनते हैं—'तत्रत्याः पुरुषाः' 'तत्रत्यं फलम्'। 'तत्र' अव्यय से 'तत्रत्य' विशेषण। 'अत्र' से 'अत्रत्य' और 'कुतः' से 'कुतैस्त्य'। परन्तु 'एकत्र' से 'त्य' प्रत्यय नहीं होता। 'एकत्रत्य' बोलने में अटपटा सा लगता है। इसी लिए न चला हो गा।

हिन्दी 'अपने' अव्ययों से—('कब' 'कहाँ' आदि से) कोई तद्धित प्रत्यय कर के विशेषण नहीं बनाती। संस्कृत के भी 'अत्र' 'सर्वत्र' आदि से कोई विशेषण नहीं बनाती। परन्तु एक 'एकत्र' से ही 'इत' प्रत्यय कर के 'एकत्रित' बनाती है। संस्कृत का अव्यय और संस्कृत का ही 'इत' तद्धित-प्रत्यय। दोनों को मिला कर 'एकत्रित' 'अपना' शब्द। किसान के यहाँ से दूध लिया, वहीं से शक्कर ली और हलवाई ने बढ़िया कलाकन्द तयार कर दिया। किसान के यहाँ कलाकन्द नहीं बनता, तो न बने! इस से हलवाई कलाकन्द बनाना बन्द न कर दे गा।

हिन्दी की यह पद्धति अन्यत्र भी देख सकते हैं। संस्कृत में 'आ' स्त्री-प्रत्यय है। 'दार' शब्द 'भार्या' के अर्थ में वहाँ पुल्लिङ्ग है। हिन्दी ने वहाँ का 'दार' लिया और वहीं का 'आ' स्त्री-प्रत्यय ले कर उस ('दार') में लगा दिया और 'दारा' अपना स्त्रीलिङ्ग शब्द बना लिया। 'अप्सरा' भी ऐसा ही है।

मतलब यह कि 'एकत्र' संस्कृत अव्यय से भी 'इत' प्रत्यय हिन्दी में होता है। आप कहें गे कि तो फिर 'सर्वत्र' से 'सर्वत्रित' क्यों नहीं होता? उत्तर है कि नहीं होता है; बस! संस्कृत में ही 'तत्र' से 'तत्रत्य' होता है; पर 'सर्वत्र' से 'सर्वत्रत्य' क्यों नहीं होता? 'शब्द-स्वभाव एषः'! भाषा की प्रकृति! किसी का जोर नहीं!

हिन्दी शब्द-भ्रम को पसन्द नहीं करती। संस्कृत में तिथि द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी और बालिका आदि के लिए विशेषण भी द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी। परन्तु हिन्दी में तिथि दूज, तीज, चौथ आदि और अन्यत्र विशेषण (स्त्री) दूसरी, तीसरी, चौथी। तिथि 'पाँचैं' और बालिका 'पाँचवीं'। तिथि 'छठि' या 'छठ' और बालिका 'छठी'। 'सातैं' और 'सातवीं'। 'पाँच' आदि से अवच्छेदक तद्धित-प्रत्यय 'वँ' और उस में पुंविभक्ति लगा कर 'पाँचवाँ' 'सातवाँ' 'आठवाँ'। स्पष्ट ही यह 'वँ' प्रत्यय संस्कृत 'म' का विकास है ! 'न' को प्रायः 'ल' निरनुनासिक' और 'म' को 'वँ' 'अनुनासिक' होता है। संस्कृत 'ठ' को हिन्दी ने 'ठा' कर लिया है—षष्ठः—छठा। 'सौ' से 'सौवाँ' बने गा; परन्तु इससे आगे अंकों का व्यवहार। अङ्कों के आगे 'वाँ' 'वीं' लगते हैं—'१०५ वाँ छात्र'। 'एक सौ पाँचवाँ' नहीं। इसका मतलब यह निकला कि प्रत्यय भाषा को देखता है, लिपि को नहीं। '१०५ वाँ' पढ़ा जाए गा—'एक सौ पाँचवाँ'। परन्तु यह उच्चारण अक्षरों में न लिख कर प्रायः अंकों में ही लिखा जाता है। '१५२७६ वाँ सिपाही' अक्षरों में लिखने से बहुत लम्बी लाइन बन जाए गी—'पन्द्रह हजार दो सौ उनासीवाँ सिपाही'। और फिर भी 'वाँ' प्रत्यय केवल 'उनासी' से संयुक्त हुआ, पूरी संख्या से नहीं। अङ्कों का प्रयोग करने में यह सब गड़बड़ नहीं। संस्कृत में भी '१९७२ तमे वैक्रमाब्दे' जैसा लिखते हैं। सम्भव है, यह हिन्दी का प्रभाव हो। पुरानी संस्कृत में ऐसे अङ्कात्मक प्रयोग प्रायः नहीं मिलते।

हिन्दी का 'पहला' शब्द संस्कृत 'प्रथमः' का रूपान्तर (विकास) है। हिन्दी में कोई 'पह' या 'प्रथ' शब्द नहीं कि उससे तद्धित 'ल' प्रत्यय की कल्पना की जाए। 'प्रथमः' के आद्य वर्ण से 'र्' का लोप, द्वितीय वर्ण से 'त्' अंश का लोप, अन्त्य 'म' को 'ल' और विसर्गों की जगह 'आ' पुंविभक्ति—'पहला'। परन्तु यह 'प्रथमः' कैसे ? संस्कृत में 'एक' शब्द से वैसा कोई प्रत्यय चाहिए था। 'द्वितीय' आदि में प्रकृति ('द्वि' आदि) की स्पष्ट प्रतिपत्ति है; परन्तु 'प्रथम' में 'एक' का कुछ भी आभास नहीं ! अंग्रेजी के 'फर्स्ट' में भी 'वन' का आभास कहीं नहीं और आगे 'सेकंड' में 'टू' का भी आभास नहीं। इस के आगे 'थर्ड' आदि में 'थ्री' आदि की झलक साफ है। 'प्रथमः' शब्द मूलतः कृदन्त जान पड़ता है। 'प्रथ' धातु फैलने के अर्थ में है। 'एक' संख्या का मूल है। आगे सब इसी का विस्तार-फैलाव है-'प्रथते इति प्रथमः'—'अङ्कः' प्रथमा संख्या। जो आगे फैले, वह 'प्रथम'। 'एकः प्रथमः अङ्कः'। 'एक' प्रथम अङ्क है।

'प्रथम' एक ही है। उस के आगे सब उसी का विस्तार। हिन्दी में भी 'पहला' एक और उस के आगे 'दूसरा' आदि। इन सब में प्रकृति ('दो' आदि) की झलक स्पष्ट है।

'प्रथमः' कृदन्त-शब्द से 'म' निकाल कर (संस्कृत में) एक 'तद्धित'—प्रत्यय मान लिया गया, जो कि 'पञ्चमः' आदि में सामने है।

भेदक और विशेषण

पीछे हिन्दी का सम्बन्ध-बोधक 'ई' तद्धित-प्रत्यय बताया गया, जो एकवचन-बहुवचन तथा पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग में एक रूप रहता है, बदलता नहीं है। परन्तु 'क' 'र' 'न' सम्बन्ध-प्रत्यय भेद्य के अनुसार रूप बदलते हैं; क्योंकि इन में हिन्दी की पुंविभक्ति 'आ' (ा) लग कर इनके रूप 'का' 'रा' 'ना' हो जाते हैं—'रामका' 'तेरा' 'अपना'। बहुवचन में 'लड़के' के अनुसार 'राम के' 'तेरे' 'अपने' रूप और स्त्रीलिङ्ग में 'लड़की' के अनुसार 'राम की' 'तेरी' और 'अपनी'। 'शहरी लड़की' और 'शहर की लड़की' एक ही चीज है। परन्तु 'ई' प्रत्यय प्रायः विशेषता ही प्रकट करता है, जब कि 'क' 'र' 'न' प्रायः संबन्ध मात्र प्रकट करते हैं। यानी 'क' 'र' 'न' प्रत्यय प्रायः 'भेदक' बनाते हैं और 'ई' प्रत्यय प्रायः 'विशेषण' बनाता है। परन्तु 'र' तथा 'न' प्रत्यय 'भेदक' ही बनाते देखे जाते हैं—'तेरा घोड़ा अच्छा है' 'अपना घर अच्छा है'। 'तू' और 'घोड़ा' तथा 'आप' और 'घर' विशेषण-विशेष्य रूप से नहीं हैं, भेदक-भेद्य रूप से हैं। 'नागपुरी सन्तरा' में 'नागपुरी' विशेषता प्रकट करता है। 'नागपुर के संतरे' कहें, तो यहाँ भी यह 'क'—प्रत्ययान्त विशेषण ही है—'नागपुर के'। परन्तु 'राम का लड़का' आदि में 'क' भेदक मात्र है। 'लखनवी तहजीब' में 'लखनवी' विशेषण है। यहाँ वही 'ई' प्रत्यय है, जो सदा एक-रूप रहता है। लखनऊ' के 'ऊ' को 'व्' हो गया है और वह ('व्') फिर प्रत्यय ('ई') में मिल गया है—'लखनवी मुल्ला'—'लखनवी इत्र' आदि। 'लखनवी खरबूजे' नहीं चलता, 'लखनऊ के खरबूजे' बोलते हैं। यहाँ 'लखनऊ के' विशेषण है। 'लखनउआ' विशेषण भी पूरबी बोल-चाल में आता है, जो सदा एक-रूप रहता है—'लखनउआ खरबूजा धरो है' 'लखनउआ खरबूजा धरे हैं' 'लखनउआ रेउड़ी नामी होति हैं'। 'होती हैं' की

जगह पूरब में 'होति हैं'। यह 'लखनउआ' सन्धि-रूप से 'लखनौआ' भी लिखा जाता है। 'न' के 'अ' में और 'उ' में 'औ' सन्धि। उच्चारण वही 'लखनउआ' होता है, सन्धि 'औ' हो जाने पर भी। यह 'लखनउआ' भी 'लखनऊका' का ही रूपान्तर है। 'ऊ' ह्रस्व और 'का' से 'क्' का लोप। 'लखनउआ' के रूप बदलते नहीं है; क्योंकि पूरब में रूप बदलने की (आकारान्त पुल्लिङ्ग संज्ञा की भी) चाल नहीं है—'खरबूजा धरो है'—'खरबूजा धरे हैं'। 'खरबूजे धरे हैं' नहीं। स्त्रीलिङ्ग में परिवर्तन संज्ञा का होता है; पर ऐसे आकारान्त शब्द पुल्लिङ्ग बहुवचन में नहीं बदलते। 'एकु लरिका है' और 'चारि लरिका हैं'। 'लरिके' नहीं।

ये प्रादेशिक भेद हैं। आप राष्ट्रभाषा का रूप देखें। कहा जा रहा था कि 'क' 'र' 'न' संबन्ध-प्रत्यय ऐसे हैं, जो प्रायः भेदक बनाते हैं। इन के 'का' 'के' 'की' जैसे रूपों को लोग विभक्ति समझते थे और विभक्ति 'के' 'रे' 'ने' कोई जानता ही न था! पहले यह सब बतलाया जा चुका है।

कभी-कभी 'क' प्रत्यय अर्थ-विशेष में भी होता है—माई का घर—'मायका'। 'माईक' में पुंविभक्ति और 'ई' को 'य'। 'पीहर' सामासिक शब्द है—पिता का घर - 'पीहर'। 'पिता' के 'ता' का लोप और 'पि' को 'पी'। 'नैहर' भी सामासिक है। 'ज्ञाति' कहते हैं बन्धु-बान्धवों को—'ज्ञातयो बन्धवः'। 'जाति' पृथक् शब्द है। 'ज्ञातिगृह'>'नैहर'। ज्ञाति>नाइ> 'नै'। 'घर>'हर'। मायका, पीहर, नैहर शब्द समानार्थक हैं; पर 'मायका' तद्धित, शेष दोनो सामासिक।

संबन्ध-विभक्ति और संबन्ध-प्रत्यय की उत्पत्ति

अब यह भी देख लेना चाहिए कि वे संबन्ध-प्रत्यय और संबन्ध-विभक्ति कैसे बने। संस्कृत के—

१—राजनीतिकः पन्थाः २—राजनीतिकी वार्ता

हिन्दी में हो गए—

१—राजनीति का पन्थ २—राजनीति की बात

'पन्थ' के अनुसार 'का' और 'राजनीति' के अनुसार 'की'। विसर्गों का (पुल्लिङ्ग अकारान्त के प्रथमा—एकवचन का) विकास हिन्दी की पुंविभक्ति

है ही—बन ही गई है। सो, यहीं ('राजनीतिकः पन्थाः') से हिन्दी ने 'क' को अलग कर के अपना संबन्ध-प्रत्यय बना लिया और फिर 'राजाका घर' 'महात्मा का घर' आदि सर्वत्र इस का प्रयोग 'भेदक' (कहीं-कहीं विशेषण भी) बनाने में। इसी 'क' प्रत्यय को 'के' विभक्ति के रूप में भी हिन्दी ने कर लिया है, जो सदा एकरूप रहती है—"सीता के चार गौएँ हैं।"

'क' तद्धित-प्रत्यय से 'के' विभक्ति कैसे बनी, सो भी सुनिए।

संस्कृत के—

हरेर्गृहम्, कवेर्वाता

आदि में जो 'एर्' हिन्दी ने देखा, तो काम की चीज समझ कर निकाल लिया और वर्ण-व्यत्यय से 'एर्' को 'रे' कर लिया; जैसे कि 'बालकेन' से 'इन' अलग कर के और वर्ण-व्यत्यय तथा सन्धि कर के 'ने' कर्ताकारक की विभक्ति बनाई। 'से' 'में' की लाइन पर 'ने' कर्ता कारक की विभक्ति और 'रे' संबन्ध-विभक्ति—'तेरे एक पुत्र हुआ' 'मेरे चार पुत्र हुए' 'तेरे चार लड़कियाँ हुईं'। संस्कृत 'तव' की ही तरह हिन्दी 'तेरे' एकरूप रहे गा। परन्तु 'भेद्य' के संबन्ध में कोई विशेष बात कहने के लिए 'रामके लड़के पढ़ते हैं' 'रामकी लड़की पढ़ती है' ये संबन्ध-प्रत्यय देख कर 'रे' विभक्ति ने 'र' संबन्ध-प्रत्यय भी दे दिया, जो भेद्य के अनुसार रूप बदलता है—तेरा, तेरे, तेरी। 'मा' यानी विभक्ति 'रे' रूप नहीं बदलती; पर उस का अपत्य (प्रत्यय) 'र' पुंविभक्ति 'आ' के साथ लग कर रूप बदलता है—तेरा, तेरे, तेरी। माताएँ रूप नहीं बदलतीं। भारत की किसी स्त्री ने हैट नहीं लगाया; साड़ी छोड़ी नहीं। परन्तु इसके पुत्र तो रंग बदलते ही हैं! यही स्थिति 'रे' विभक्ति और उस से बने 'र' प्रत्यय की है। बंगाल में 'प्रत्यय' नहीं, विभक्ति ही चलती है और वहाँ वर्ण-व्यत्यय भी नहीं हुआ—'एर' विभक्ति—'रामेर गाथा' (राम की गाथा) और 'रामेर नित्यकर्म' (राम का नित्यकर्म)। सर्वत्र 'रामेर'। कहीं 'र' ही रह गया; पर उस का प्रयोग भी विभक्ति-रूप से—'सीतार गाथा' (सीता की गाथा) और 'सीतार वनवास' (सीता का वनवास)। यानी 'एर' तथा 'र' बंगाल में एक-रस। वहाँ 'रा' 'रे' 'री' नहीं। इस का कारण है। पूरबी हिन्दी-बोलियों में संज्ञा-विभक्ति 'आ' नहीं है—'रामक आयसु' 'रामक प्रान भरत-लछिमन'। स्त्रीलिङ्ग में अवश्य 'इ' या 'ई' होती जाती है—'तुम्हारि बात'। परन्तु 'तुम्हार सब

लरिका' में 'र' संज्ञा-विभक्ति से रहित है और 'लरिका' भी तदवस्थ है। यानी 'लड़का' से 'लरिका' में अन्तर है। यह पुंप्रत्यय ('आ') का विरह आगे चलते-चलते बंगाल में एकदम गायब! इसी लिए 'र' संबन्ध-प्रत्यय का हिन्दी की बोलियों में जो स्त्रीलिङ्ग रूप 'रि' या 'री' होता है, वह भी बंगाल में नहीं—'सीतार कथा'। यानी हिंदी ने 'रे' विभक्ति से 'र' तद्धित प्रत्यय बनाया था; बँगला ने उस 'र' प्रत्यय को फिर विभक्ति बना बना लिया! प्रत्यय रूप बदलता है, विभक्ति सदा एक-रस रहती है।

'क' प्रत्यय से 'के' विभक्ति

जब हिन्दी ने अपनी 'रे' विभक्ति से 'र' तद्धित-प्रत्यय पृथक् बना लिया, तो 'क' संबन्ध-प्रत्यय को भी 'के' करके संबन्ध-विभक्ति बना लिया। 'रे' विभक्ति से 'र' संबन्ध-प्रत्यय और तब 'क' संबन्ध-प्रत्यय को एकारान्त कर के 'के' संबन्ध-विभक्ति। 'के-रे' ये संबन्ध-विभक्तियाँ बन गईं।

'न' से 'ने' विभक्ति

'आत्मनः' के रूप प्राकृतों में 'अप्पणो' 'अप्पण' आदि हो जाते हैं। यहाँ से 'ण' को अलग कर के और मधुर 'न' के रूप में परिवर्तित कर के हिन्दी ने 'न' संबन्ध-प्रत्यय बना लिया और पुंविभक्ति से 'ना' रूप—अपना, अपने, अपनी—लड़का, लड़के, लड़की। 'क' की ही तरह 'न' संबन्ध-प्रत्यय है। इसी 'न' को 'रे' की तरह 'ने' विभक्ति बना लिया गया, जैसे कि 'क' का 'के' विभक्ति-रूप। 'रे' विभक्ति का 'र' तद्धित-प्रत्यय बना, तो 'क' 'न' संबन्ध-प्रत्यय 'के' 'ने' संबन्ध-विभक्ति बने।

कर्ता-कारक की 'ने' विभक्ति का पृथक् विकास है ही।

निरुक्तीय बहुविधता

कभी-कभी यह ठीक-ठीक समझ में नहीं आता कि अमुक यौगिक शब्द कृदन्त है, 'समस्त' है, या तद्धित है! न कमाए, वह 'निकम्मा' कृदन्त है; या, जो काम न करे, वह 'निकम्मा' यों 'समस्त' पद है ('निकम्मा')! इसी तरह कड़े जिसमें लगे हों, वह 'कड़ाही'। तद्धित प्रत्यय मानकर 'कड़ाही' शब्द है, या कि कृदन्त 'कढ़ाई' का ही यह रूपान्तर है? 'ढ़ा' से निकल

कर 'ह्' आगे 'ई' के साथ आ बैठा हो, तो फिर 'कड़ाही' भी कृदन्त ! और 'कड़ाही' से 'कढाई' मान लें, तो फिर यह ('कढ़ाई') भी तद्धित; जिसमें 'कड़े' हों। 'कड़ाही' के 'ही' का 'ह्' उठ कर 'ड़ा' में आ मिला, तो 'ढ़ा' हो गया। 'ह्' के ऐसे अनन्त खेल भाषा-विकास में हैं। नमूने के लिए 'हिन्दी-निरुक्त' देख सकते हैं। तो, 'कड़ाही' तथा 'कढ़ाई' इन दो शब्दों में किसे मूल और किसे रूपान्तर मानें ? तब इनके कृदन्त या तद्धित होने में निश्चायक हेतु क्या है ? ऐसे शब्दों की अनेकधा निरुक्ति कर दी जाती है। दोनों का निर्माण पृथक्-पृथक् मानें, तब 'कढ़ाई' कृदन्त और 'कड़ाही' तद्धित। एक दूसरे का विकास ही मानना हो, तो 'कड़ाही' से 'कढ़ाई' मानना होगा। कारण 'कड़ाह' शब्द सामने है। उसी का स्त्रीलिङ्ग रूप 'कड़ाही' है। दूसरे, 'कढ़ाई' कृदन्त शब्द 'काढ़ने' के अर्थ में जब है, तब दूसरा 'कढ़ाई' ('कढ़ने' से) कम जँचता है।

संक्षेप यह कि शब्दों की बनावट देखकर उन का मूल ढूँढ़ने में दिक्कतें सामने आती हैं। इसी लिए अनेकधा निर्वचन की यास्कीय पद्धति है।

३—समास-प्रकरण

अनेक शब्द मिल कर एक पद जब बन जाते हैं, तो वह 'समास' कहलाता है। समास संज्ञा का संज्ञा के साथ, संज्ञा का विशेषण के साथ, विशेषण का विशेषण के साथ, क्रिया का क्रिया के साथ, धातु का धातु के साथ और संज्ञा का धातु के साथ; इस प्रकार विविध रूप से होता है। अव्यय का समास संज्ञा के साथ और अव्यय का अव्यय के भी साथ होता है।

समझने-समझाने के लिए समास को चार श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है—१-अव्ययीभाव २-तत्पुरुष ३-बहुव्रीहि और ४-द्वन्द्व। 'कर्मधारय' समास 'तत्पुरुष' का ही एक प्रकार-भेद है और 'कर्मधारय' का भेद 'द्विगु' है। परन्तु समास का विषय इतना व्यापक है कि इन व्यापक भेदों से बाहर कुछ और समास रह ही जाते हैं और स्वयं पाणिनि ने 'सह सुपा' सूत्र से ऐसे समासों का विधान किया है, जो कि पूर्वोक्त श्रेणियों में नहीं आते। इसी लिए संस्कृत के वैय्याकरणों ने कहा है—'समासश्चतुर्विध इति तु प्रायोवादः'—'समास चार प्रकार के होते हैं' यह 'प्रायोवाद' है। प्रायः—

बहुतायत से—जो समास होते हैं, वे चार श्रेणियों में आ गए हैं। यह मतलब नहीं कि जो समास इन श्रेणियों में न आएँ, वे समास ही नहीं।

इसी तरह पूर्वोत्तर पदों की प्रधानता-अप्रधानता का जो निर्देश किया गया है, वह भी 'प्रायोवाद' ही है। अव्ययीभाव समास में पूर्वपद प्रधान होता है; ऐसा कहा गया है। होता भी पूर्व पद ही प्रधान है। परन्तु संस्कृत के ही 'उन्मत्तगङ्गं देशः' आदि में 'उन्मत्तगङ्गम्' अव्ययीभाव समास है और अन्य पद प्रधान है। साधारणतः बहुव्रीहि—समास में अन्य पद प्रधान होता है; पर 'उन्मत्तगङ्गम्' में अव्ययीभाव है और अन्य पद प्रधान है। तत्पुरुष में उत्तर पद प्रधान होता है; परन्तु 'अतिमालः पुरुषः' में 'अतिमालः' तत्पुरुष है और 'अन्य' पद प्रधान है। बहुव्रीहि में अन्य पद प्रधान होता है; परन्तु 'द्वित्राः पुरुषाः' 'पञ्चषाणि फलानि' आदि में 'द्वित्राः' तथा 'पञ्चषाणि' आदि (बहुव्रीहि समास होने पर भी) अन्य पद प्रधान नहीं; प्रत्युत समास में आए हुए ही दोनों पद प्रधान हैं। 'द्वन्द्व' 'समास' में दोनो पद प्रधान होते हैं; परन्तु 'दन्तोष्ठम्' समाहार-द्वन्द्व में 'समाहार' ही प्रधान है, न कि उभय पद। हिन्दी का 'चौराहा' देखिए। चार राहों का समाहार—'चौराहा'। 'चार' का 'चौ' हो गया है। द्वन्द्व-समाहार में संस्कृत 'दन्तोष्ठम्' नपुंसक है और हिन्दी में यह द्विगु समाहार 'चौराहा' पुल्लिङ्ग। 'चौराह' बन जाने पर पुंविभक्ति। वैसे 'राह' शब्द हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग है। 'राह' स्त्री-लिङ्ग है; पर 'चौराहा' पुल्लिङ्ग है। यह बहुव्रीहि नहीं है। 'तिमंजिला मकान' में 'तिमंजिला' बहुव्रीहि है। अन्य पद प्रधान हैं। 'मकान' प्रधान है। उसी के अनुसार 'तिमंजिला' पुल्लिङ्ग है। वैसे 'मंजिल' स्त्रीलिङ्ग है।

हिन्दी में विदेशी शब्दों का समास जब किसी विशेष संज्ञा (नगर आदि) के लिए होता है, तब सन्धि प्रायः हो जाती है—मुराद + आबाद = मुरादाबाद और अल्लाह + आबाद = अलाहाबाद। 'अ' को 'इ' भी—'इलाहाबाद'। व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में पृथक्-लेखन की भी चाल है—'पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी'। यहाँ 'महावीर' का 'प्रसाद' से समास है और दोनो 'एकपद' हैं, परन्तु लिखने में दोनो अलग-अलग रहते हैं। इसी तरह 'डा० श्यामसुन्दर दास' आदि समझिए। मतलब यह निकला कि 'कर्मधारय' के खण्ड तो मिला कर लिखे जाते हैं—'महावीर' 'श्यामसुन्दर' आदि; परन्तु शेष (तत्पुरुष के) शब्द पृथक् लिखे जाते हैं। पृथक् लिखने पर भी हैं ये समस्त ही पद।

संस्कृत में, समास होने पर भी, कभी-कहीं बीच की विभक्तियों का लोप नहीं होता। विभक्ति बनी रहने पर भी समास; एकपद, एकस्वर। हिन्दी में (समास होने पर भी) शिरोरेखा कहीं विश्लिष्ट रहती है; बस !

'सिंचाई और सूचना-मंत्री पं० कमलापति त्रिपाठी' आदि प्रयोगों पर सोचने की जरूरत है। 'सूचनामंत्री' तत्पुरुष समास है; ठीक ! परन्तु 'सिंचाई' को क्या करे गे ? 'मत्री' का समास जब 'सूचना' के साथ हो गया, तो वह 'सिंचाई' की ओर देखे गा नहीं ! 'सूचना' के साथ 'मंत्री' बँध गया। अब इस ('मंत्री') का अन्वय-मेल 'सिंचाई' के साथ वैध नहीं रहा ! समझ में किसी तरह अन्वय आ जाता है; परन्तु वह 'नियमानुकूल' नहीं ! 'सिचाई-सूचना-मंत्री' लिखना भी ठीक न हो गा। और 'सिंचाई-आबकारी-सूचना-मंत्री' तो और भी बेढँगा हो जाए गा ! एक 'मंत्री' के पीछे—एक के पीछे एक—'सूचना-आबकारी-सिंचाई' की लम्बी लाइन भद्दी लगती है ! कोई पसन्द न करे गा ! तब क्या किया जाए ?

मेरा मत है, यहाँ 'मंत्री' को किसी एक पद ('सूचना' आदि) से बाँधा न जाए—समास न समझा जाए। 'सिंचाई और सूचना मंत्री' लिखा जाए। बीच में संबन्ध-प्रत्यय न होने पर भी ये 'असमस्त' पद हैं। विभक्ति रहने पर भी संस्कृत में कहीं समस्त पद देखे जाते हैं; हिन्दी में इस के विपरीत, प्रत्यय-विभक्ति न रहने पर भी असमस्त !

हिन्दी की प्रवृत्ति है कि कहीं विभक्ति का लोप समास के अभाव में भी होता है। 'राम घर मिले गा' में 'पर' या 'में' का लोप है और 'आप के हाथों उद्घाटन होना चाहिए' में 'से' का लोप है। समास की ही तरह अन्यत्र भी कभी 'मध्यम पद' का लोप होता है। 'सूचना मंत्री' में 'विभाग' मध्यम पद का लोप है। हिन्दी में—'सिंचाई और सूचना मंत्री' प्रयोग करने पर 'मध्यम पद' तथा संबन्ध-प्रत्यय का लोप समझ में आता है। 'सिंचाई और सूचना (विभागों) के मंत्री' यह मतलब। 'मंत्री' को खुलकर चरने-बिचरने दीजिए। समास-बन्धन में जकड़ना ठीक नहीं। निर्बाध समाज-सम्पर्क समास होने पर न रहे गा। यहाँ यह कोई नई बात नहीं लिखी जा रही है। 'मंत्री, सूचना और सिचाई विभाग' में भी यही चीज है। यहाँ भी संबन्ध-प्रत्यय का लोप समासाभाव में है। 'मंत्री' का संबन्ध उभयत्र समान

रूप से है। 'मंत्री' को उधर उठा ले जाइए—'सिंचाई और सूचना मंत्री' हो गया।

यदि ऐसा न मानें और 'सूचना' के साथ 'मंत्री' का समास कर के 'सूचना-मंत्री' ही करना चाहें, तब 'सिंचाई' आदि से उस का अन्वय न हो गा—प्रयोग गलत हो गा ! हाँ, 'सिंचाई' आदि के अभाव में 'सूचना-मंत्री' 'विदेश-मंत्री' आदि में समास ठीक ही है। परन्तु 'प्रधान मंत्री' या 'मुख्य मंत्री' आदि में कोई समास नहीं। यहाँ 'कर्मधारय' कर के 'प्रधान-मंत्री' या 'मुख्यमंत्री' लिखना हिन्दी-प्रकृति के अनुकूल नहीं है। इसी तरह नगर-वाचक 'राम पुर' तथा 'राम नगर' लिखने की चाल है; परन्तु है यहाँ तत्पुरुष समास। 'राम' से 'नगर' तथा 'पुर' पृथक् पद नहीं हैं। कोई-कोई मिला कर भी लिखते हैं—'रामपुर' 'रामनगर'। वैकल्पिक लेखन-भेद है। ('गुरु' जी ने अपने हिन्दी-व्याकरण में 'रामनगर' 'रामपुर' आदि के 'नगर' तथा 'पुर' आदि उत्तर पदों को तद्धित-प्रत्यय बतलाया है !)

हिन्दी में (संस्कृत 'राजभवन' आदि की पद्धति पर) 'राज-महल' आदि चलते हैं; परन्तु साथ ही 'राजा मंडी' जैसे प्रयोग भी सामने हैं। 'राज-महल' तथा 'राजा-मंडी' में तत्पुरुष समास है। पहला शब्द यौगिक और दूसरा रूढ़ है। आगरे के एक बाजार का नाम 'राजा-मंडी' है। यदि किसी 'राजा' ने यह बाजार बनाया-बसाया हो, तो योगरूढ। कोई अपने घर का नाम 'राज-महल' रख ले, तो फिर यह 'रूढ़' शब्द इस के क्षेत्र में हो जाए गा। परन्तु विचार तो यह है कि 'राजा मंडी' तथा 'राज गढ़' दोनो शुद्ध हैं क्या ? हाँ, दोनो शुद्ध हैं। 'राज गढ़' 'राज महल' संस्कृत-पद्धति पर हैं। वहाँ 'राजन्' प्रातिपदिक के 'न्' का लोप हो जाता है। हिन्दी में 'राजन्' शब्द नहीं, 'राजा' गृहीत है। इस लिए, इसी ('राजा') से 'मंडी' का समास है—'राजा-मंडी'। यह एक सैद्धान्तिक चर्चा है, जिस का कुछ विस्तार से विवेचन होना चाहिए।

हिन्दी में कई पद्धतियों पर शब्द गढ़े गए हैं। कुछ शब्द संस्कृत शब्दों के प्रतिरूप गढ़ लिए गए हैं; जैसे 'राजभवन' के प्रतिरूप 'राज महल' 'राज गढ़' आदि। कुछ शब्द ऐसे हैं, जिन में संस्कृत की निर्माण-पद्धति से काम लिया गया है और उपादान-सामग्री 'अपनी' स्वतंत्र है; जैसे 'उजड़ना'। संस्कृत के 'उन्मूलन' शब्द का चलन हिन्दी में भी है। उसी के वजन पर 'उजड़ना'

है। 'उत्' उपसर्ग की जगह अपना 'उ' उपसर्ग और संस्कृत 'मूल' की जगह अपना 'जड़'। मूलतः उत्पाटन-'उन्मूलन' और जड़ से उखड़ना-'उजड़ना'। इसी के परिवार में 'ऊजड़' 'उजाड़' आदि हैं। यों अपने शब्दों का प्रयोग संस्कृत के अनुकरण पर है।

'राज गढ़' तथा 'राज महल' भी संस्कृत-पद्धति पर हैं; पूर्व पद संस्कृत के और उत्तर पद दूसरे। 'राजा मंडी' में निर्माण-पद्धति अपनी है। 'राजा की मंडी'—'राजा-मंडी'। हिन्दी में 'राजा' शब्द चलता है। उसी से 'मंडी' का समास। 'पितावचन' आदि तुलसी-प्रयोग भी इसी तरह के हैं। 'पितृ-वचन' संस्कृत तद्रूप भी हिन्दी में चलता है; परन्तु 'पिता-वचन' या 'पिता वचन' को अशुद्ध नहीं कहा जा सकता; प्रत्युत 'पिता-वचन' ही हिन्दी का 'अपना' शब्द है। 'पितृवचन' संस्कृत का तद्रूप प्रयोग है। 'सूरज' तथा 'सूर्य' की तरह ही 'पितावचन' और 'पितृवचन' समझिए। समास तो अशिक्षित जन भी अपनी भाषा में करते रहते हैं। जिन लोगों ने यह नहीं पढ़ा कि 'पिता' शब्द का मूल रूप संस्कृत में 'पितृ' है, वे 'पितृ-वचन' क्या बोलें-समझें गे? परन्तु 'पिता' तथा 'वचन' सब समझते हैं और 'पितावचन' बोल-समझ लेते हैं। इसी तरह 'नेतागीरी' तद्धित है। 'नेता' से 'गीरी' प्रत्यय है। 'नेतृगण' लोग न समझ पाएँ गे, 'नेता-गण' झट समझ लेंगे। हम 'नेतृगण' को हटा नहीं रहे हैं; कोई हटा नहीं सकता। हमारा तो इतना भर कहना है कि 'नेता-गण' हिन्दी में शुद्ध प्रयोग है। हिन्दी में 'नेता' शब्द गृहीत है, 'नेतृ' नहीं। 'नेतृवृन्द' भी समझ लेते हैं, जो कि कुछ संस्कृत से परिचित हैं। हिन्दी का प्रसिद्ध शब्द 'मातेश्वरी' भी (हिन्दी की) प्रकृति स्पष्ट करता है। 'मातेश्वरी, भागीरथी'। यहाँ 'माता' के साथ 'ईश्वरी' का समास है। शब्द संस्कृत के, सन्धि संस्कृत की, प्रकृति अपनी। 'मातेश्वरी' सम्बोधन संस्कृत में न हो गा।

इसी तरह 'विद्यार्थि-परिषद्' संस्कृत और विद्यार्थी-परिषद्' हिन्दी का समस्त पद है। हिन्दी में 'विद्यार्थी' शब्द है—'विद्यार्थिन्' नहीं। इसी लिए हिन्दी में 'छन्दार्णव' चलता है, संस्कृत में 'छन्दोऽर्णव'। 'नेतृ-प्रेरित जनता' की जगह 'नेता-प्रेरित' अच्छा।

हिन्दी में 'संसद्-सदस्य' लिखना अधिक अच्छा; 'संसत्सदस्य' वैसा नहीं। कारण, 'संसद्' शब्द के 'द्' को 'त्' विशेष स्थिति में हो जाना

संस्कृत की बात है। हिन्दी में इस सन्धि की स्थिति नहीं है। 'संसत्सदस्य' हिन्दी में संस्कृत (तद्रूप) शब्द कोई लिखे, तो यह अलग बात है। संस्कृत से भिन्न हिन्दी की अपनी भी सन्धियाँ हैं। संस्कृत की अत्यन्त सरल प्रायः सभी सन्धियाँ हिन्दी में गृहीत हैं, जिन का व्यवहार प्रायः संस्कृत शब्दों में ही होता है। इस का यह अर्थ हुआ कि वैसी सन्धियों से युक्त पद हिन्दी में संस्कृत के हैं, जो 'तद्रूप' चलते हैं। कई संस्कृत शब्दों में समास कर के हिन्दी ने सन्धि-नियम अपने उन पर लगाए हैं। यह बात 'दीनानाथ' 'मूसलाधार' तथा 'सत्यानाश' आदि शब्दों से स्पष्ट है। सो, 'संसद्-सदस्य' 'संसद्-चर्चा' 'संसद्-हर्ष' आदि प्रयोग ही हिन्दी में ठीक हैं—'संसत्सदस्य' 'संसच्चर्चा' 'संसद्धर्ष' नहीं।

'योगाश्रम' आदि ज्यों के त्यों चलते हैं; परन्तु 'कांग्रेसाध्यक्ष' ठीक नहीं। समास कर के सन्धि के बिना 'कांग्रेस-अध्यक्ष' लिखना-बोलना हिन्दी प्रकृति के अनुकूल है। इसी तरह 'सरस्वती-उपासना' 'प्रभु-आदेश' जैसे सन्धि-रहित समस्त पद हिन्दी-प्रकृति के अनुकूल हैं—'सरस्वत्याश्रम' तथा 'प्रभ्वादेश' जैसे नहीं। 'स्वास्थ्याधिकारी' की अपेक्षा 'स्वास्थ्य-अधिकारी' अच्छा।

संस्कृत में नियम है कि समास होने पर सन्धि अवश्य होती है; परन्तु हिन्दी में ऐसी कोई विधि नहीं है। हाँ, यदि कोई अपने निवास-स्थान का नाम ही 'सरस्वत्याश्रम' रख ले, तो फिर उसे उसी तरह लिखना-बोलना होगा। 'पितृ' 'मातृ' की तरह 'नेतृ' से सब परिचित नहीं; इस लिए हिन्दी 'नेता-निर्वाचन' अच्छा, संस्कृत 'नेतृ-निर्वाचन' की अपेक्षा।

समास का उपयोग

समास का उपयोग-प्रयोग हिन्दी में आवश्यकतानुसार ही होता है। अधिक प्रयोग तत्पुरुष समास का होता है, कम बहुव्रीहि का और 'द्वंद्व' का बहुत कम। 'कर्मधारय' भी हिन्दी में बहुत कम चलता है।

तत्पुरुष में 'षष्ठी-तत्पुष' या 'सम्बन्ध-तत्पुरुष' का ही चलन अधिक है। विद्यालय, पुस्तकालय, छात्रावास आदि योग-रूढ शब्दों को तो अलग कर ही नहीं सकते; परन्तु साधारण प्रयोग भी समास के बिना नहीं जमते। 'कांग्रेस-अध्यक्ष का आदेश है'; इसे 'कांग्रेस के अध्यक्ष का आदेश है'

लिखें-बोले, तो सम्बन्ध-प्रत्यय का दो बार प्रयोग वैसा अच्छा नहीं लगता। 'कांग्रेस के अध्यक्ष' की जगह यहाँ 'कांग्रेस-अध्यक्ष' ठीक रहे गा। परन्तु 'कांग्रेस का अध्यक्ष जब कहता है, तब तो बात माननी ही पड़ती है' यहाँ समास के बिना ही अच्छा। समास कर देने से विधेयता कमजोर पड़ जाए गी, 'कांग्रेस' का जोर कम पड़ जाए गा।

द्वन्द्व-समास हिन्दी में बहुत कम चलता है। कविता में कहीं-कहीं प्रयोग होते हैं। गद्य में भी ('तत्पुरुष' की उपस्थिति में)—'युधिष्ठिरार्जुन-संवाद' से कई बातों पर प्रकाश पड़ता है'। 'भाई-बहन' 'माता-पिता' आदि तो चलते ही हैं। संस्कृत में द्वन्द्व-समास का बहुत अधिक चलन है—'रामः कृष्णः गोविन्दः मुरारिश्च' कहने की अपेक्षा—'रामकृष्णगोविन्दमुरारयः' कहने में सुभीता है। चार बार विसर्गों का प्रयोग न करना पड़ा। परन्तु हिन्दी में ऐसी कोई बात ही नहीं—विसर्ग आदि हैं ही नहीं—'राम, कृष्ण, गोविन्द और मुरारी आ गए'। 'रामकृष्ण-गोविन्द-मुरारी आ गए' न हो गा। संस्कृत 'मुरारिः' में सम्बन्ध-तत्पुरुष है। हिन्दी में 'मुरारी' होता है; यानी 'अरि' की 'इ' दीर्घ हो जाती है—'मुरारी लाल'। 'मुरारि लाल' नहीं चलता।

कर्मधारय का भी प्रयोग हिन्दी में प्रायः नहीं के बराबर है; क्योंकि विभक्तियों की बचत का सवाल ही नहीं। 'नीलम् कमलम् पश्यामि' को 'नीलकमलं पश्यामि' कर दें, तो 'नील' की विभक्ति का उच्चारण नहीं करना पड़ता। परन्तु हिन्दी में विभक्ति-बचत की बात ही नहीं। इसी लिए 'नील कमल मैं देख रहा हूँ' चलता है—'नीलकमल' नहीं। 'मधुर दुग्ध पी कर कुछ खेलो' चलता है, 'मधुरदुग्ध' नहीं। 'समास' का अर्थ है संक्षेप। जब संक्षेप पहले ही है, तो समास क्या ?

तत्पुरुष और अव्ययीभाव

तत्पुरुष-समास में अन्तिम पद प्रधान होता है और अव्ययीभाव में पूर्व पद। तत्पुरुष समास में पर पद के अनुसार सब काम होता है। उसी की प्रधानता होती है—'पुष्पलता मैं ने देखी' और 'लतापुष्प मैं ने देखे'। दोनो जगह अन्तिम पदों के अनुसार क्रिया-रूप हैं। 'आप की पुष्पलता' और 'आप के लतापुष्प'। 'लतापुष्प आए'। 'पुष्प' आए हैं, 'लता' नहीं।

अव्ययी-भाव समास में पूर्व पद प्रधान होता है। 'यथा—शक्ति सर्वं करिष्यामि'—शक्ति के अनुसार सब करूँ गा। यहाँ 'शक्ति' पर नहीं, 'यथा' पर विधेयता है। हिन्दी में 'अनुसार' अव्यय है और इस का पर-प्रयोग होता है—आज्ञानुसार, बुद्धि-अनुसार, आदि। यानी यह तत्पुरुष समास नहीं है। इसी लिए—'आप की आज्ञानुसार' जैसे प्रयोग होते हैं। 'अपनी इच्छानुसार'। 'अनुसार' हिन्दी में अव्यय है—न पुल्लिङ्ग, न स्त्री-लिङ्ग! 'आप की' और 'अपनी' संबन्ध-प्रत्यय भेदक 'आज्ञा' तथा 'इच्छा' (भेद्यों) के अनुसार हैं। लोग इसे भूल से तत्पुरुष-समास समझ कर—'आप के आज्ञानुसार' गलत प्रयोग कर देते हैं। 'अनुसार' हिन्दी में कोई संज्ञा नहीं है कि पुल्लिङ्ग हो और तत्पुरुष-समास में आए। 'अनुसरण' अवश्य भाव-वाचक संज्ञा है—'उसे भी मेरा अनुसरण करना पड़ा'। 'अनुसार करना पड़ा' न हो गा। 'आप के आदेशानुसार' में 'आप के' पुंनिर्देश 'सामान्य' प्रयोग नहीं है। पुंविवक्षा के अभाव में भी पुल्लिङ्ग हिन्दी में चलता है; "कौन कहता है कि हम कमजोर हैं?" यहाँ 'कहता है' सामान्य प्रयोग है। 'पुरुष'-'स्त्री' सब गृहीत हैं। पर 'अनुसार' तो अव्यय है और उस के योग में 'के' 'रे' 'ने' विभक्तियाँ लगें गी; संबन्ध प्रत्यय नहीं। 'गाँव के भीतर' और 'वनस्थली के 'बाहर'। 'भीतर'-'बाहर' अव्यय हैं; न पुल्लिङ्ग, न स्त्रीलिङ्ग। परन्तु यहाँ सामान्य निर्देश में 'का' का 'के' रूप न समझ लेना। यहाँ 'के' विभक्ति है। अव्यय के योग में 'गाँव के भीतर, बाहर, ऊपर, नीचे, इधर, उधर। सर्वत्र 'के' विभक्ति है।

समास में शब्दों का रूपान्तर

समास में शब्दों का रूपान्तर जो देखने में आता है, उस में स्वाभाविक कारण शब्द-विकास की प्रवृत्ति है। कभी आद्य अंश में कुछ परिवर्तन होता है, कभी मध्य में और कभी अन्त में। 'दुमुहीं' में आदि-अन्त उभयत्र परिवर्तन है—'दो' को 'दु' और 'मुहँ' को 'मुहीं'। 'पीहर' में मध्य-परिवर्तन भी है। 'पितृगृह' संस्कृत में 'यमलोक' को कहते हैं। 'शकुन्तला पितृगृह गई' कहने से अमङ्गल की (अनिष्ट) व्यञ्जना हो सकती है। जो संस्कृत से परिचित हैं, उन्हीं के मन में अमङ्गल-व्यञ्जना हो सकती है, दूसरों को नहीं। परन्तु संस्कृतज्ञों के मन में भी क्यों हो? हिन्दी ने 'पीहर' समस्त पद बना लिया। पिता का घर—'पीहर'। 'ता' का लोप, इकार को दीर्घता और 'घ' से 'ग्' अंश का लोप—'पीहर'।

'इकबारगी' में 'एक' को 'इक' है और 'गी' समासान्त प्रत्यय। एक बार में ही—'इकबारगी'। 'दुबारा' में उभयत्र परिवर्तन है। दूसरी बार—'दुबारा'। 'दो' को 'दु' और 'बार' के आगे पुंविभक्ति। 'दुमुहीं' में 'ई' स्त्री प्रत्यय है। 'दुपहर' में 'ई' विकल्प से—'दुपहर'–दुपहरी'। 'दोपहर' या 'दोपहरी' लिखना-बोलना गलत है; जैसे कि 'चौराहा' को 'चारराहा' कहना। 'इकतारा'—एक तार हो जिस (बाजे में), वह 'इकतारा'। 'एक' को 'इक' और 'तार' के आगे पुंविभक्ति। 'एकतारा' लिखना-बोलना गलत है। 'सतनजा' को 'सातनजा' नहीं कर सकते। परन्तु 'सतसूत्री' न हो गा—'सप्तसूत्री' संस्कृत शब्द से काम चले गा। इसी तरह 'द्विसूत्री' या 'त्रिसूत्री' कार्यक्रम। 'दो-सूत्री' 'तीन-सूत्री' गलत हैं। 'दुसूती' अन्य चीज है—दो सूतों में बट दे कर बनाया हुआ वस्त्र—'दुसूती'। 'दुहरी' को 'दोहरी' कर देने से भ्रम भी संभव है—'दोहरी चादरें हमारे यहाँ हैं' कहने से 'दो हरी चादरें' भी कोई समझ सकता है। 'जुगाली' में 'दो' को 'दु' और फिर इसे 'जु' हो गया है। निगले हुए भोजन को दुबारा गालों में ला कर चबाने की क्रिया—'जुगाली'।

समास में पूर्वोत्तर पद

समासों में पदों के पूर्वोत्तर स्थापन की सुनिश्चित विधि है। तत्पुरुष में प्रधान या मुख्य पद अन्त में रहता है—'मंत्री-पद का महत्त्व सब समझते हैं'। यहाँ 'पद' पर जोर है। उसी के संबन्ध में कुछ कहना है। वही मुख्य या प्रधान है। परन्तु 'वाणिज्य-मंत्री बहुत योग्य हैं' में 'मंत्री' प्रधान या मुख्य पद है। 'राजपुरुष आता है' में 'पुरुष' की प्रधानता है; परन्तु 'वन-राज' में 'राजा' प्रधान है। 'रणजित' का अर्थ है—'रण में जित (पराजित) हारा हुआ' और 'जितरण' का अर्थ है—रणविजयी, जिस ने रण जीत लिया हो। पूर्वापर प्रयोग से कितना अन्तर अर्थ में पड़ गया ! 'रणजित' संस्कृत है। हिन्दी का 'रणजीत' इस का रूपान्तर नहीं है। 'रण' संस्कृत में 'जीत' अपनी धातु है—'रण को जीतने वाला' 'रणजीत'। 'देशान्तर' का अर्थ है स्वदेश से भिन्न देश; परन्तु 'अन्तरदेश' का अर्थ है—'अपना देश और उस के साथ ही अन्य देश भी'। इसी तरह 'अन्तरविश्वविद्यालय' 'अन्तर-राष्ट्रीय' आदि। 'अन्तरदेशीय' से भिन्न 'अन्तर्देशीय' है। 'अन्तर्देशीय पत्र'—देश के भीतर चलने वाला पत्र, जो देशान्तर के लिए नहीं।

भूल से, एक बड़ी मुद्दत तक 'अन्तर' के अर्थ में 'अन्तर्' का प्रयोग लोग करते रहे और 'राष्ट्रिय' भी ला कर संस्कृत की अटपटी सन्धि से 'अन्ताराष्ट्रिय' चलाते रहे ! आब भी कुछ लोग (अपनी नासमझी से अब नहीं) जिद से 'अन्ताराष्ट्रिय' नहीं छोड़ रहे हैं ! ऐसी प्रवृत्ति से हिन्दी की सरल-सुन्दर पद्धति दूषित हो रही है ! अर्थ भी नहीं निकलता ! 'अन्तर्' में वह अर्थ कहाँ है ? 'आन्तर-राष्ट्रीय' भी गलत है।

इस तरह समास के बारे में आवश्यक-आवश्यक बातें संक्षेप से लिखी गईं। यह पुस्तक वास्तव में हिन्दी-व्याकरण की मोटी रूप-रेखा ही प्रस्तुत करने के लिए है। व्याकरण के मूल सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं। जब हिन्दी-व्याकरण के 'पाठ्य-ग्रन्थ' बनेंगे, तब ब्यौरे से कृदन्त, तद्धित, तथा समास आदि का अपने-अपने स्वतंत्र प्रकरणों में विस्तार हो गा।

समास और द्विरुक्ति

कभी-कभी शब्दों की द्विरुक्ति होती है, जोर देने के लिए, या आधिक्य-सातत्य आदि प्रकट करने के लिए। 'वह आँखें लाल-पीली करने लगा' में 'लाल' और 'पीला' का समास है। 'लालपीली' स्त्रीलिङ्ग 'आँख' का विशेषण। परन्तु 'आँखें उस की पीली-पीली हो गई थीं' यहाँ 'पीली-पीली' में एक ही शब्द की द्विरुक्ति है। इसे 'समास' न कहें गे। यदि अधिक जोर देना हो, तो शब्द की नहीं, अर्थ की द्विरुक्ति होती है; यानी उसी अर्थ का शब्दान्तर प्रयुक्त करना होता है—'उस की आँखें लाल-सुर्ख हो गईं'। 'लाल' और 'सुर्ख' एकार्थक शब्द हैं। यह पर्य्याय-द्विरुक्ति है। पर्य्याय से उसी अर्थ को सम्पुष्ट किया गया है। इसी तरह 'पीला-जर्द उस का मुँह पड़ गया था'। अत्यधिक पीलापन प्रकट होता है। 'काला-स्याह साँप पड़ा था'। 'काला' और 'स्याह' एक ही रंग के वाचक हैं। दोनो के एक साथ आने से रंग का गहरापन प्रकट होता है। 'पढ़-पढ़ कर क्या करे गा' ? में 'पढ़' क्रिया की ही द्विरुक्ति है; क्योंकि क्रिया किसी अन्य भाषा की ग्राह्य नहीं और अपने यहाँ एक अर्थ में अनेक शब्द शक्तिगृहीत नहीं। 'पढ़-पढ़ कर'—अधिक पढ़ कर। इसी तरह 'लिख-लिख कर उस ने मनों कागज खराब कर दिए' में 'लिख' की द्विरुक्ति है। परन्तु 'पढ़-लिख कर' में दो धातुओं का समास है।

समास में आकारान्त पुल्लिङ्ग संज्ञाएँ बहुवचन में एकारान्त हो जाती हैं—

'बड़े-बूढ़े कहा करते हैं

'बड़ा' और 'बूढ़ा' शब्दों का समास है। अनेक विशेषणों में भी—एक को विशेषण मान कर—समास हो जाता है। 'आ' उभयत्र 'ए' है—'बड़े-बूढ़े'। एकवचन में भी, जब 'को' आदि कोई विभक्ति परे हो—

'तू किसी बड़े-बूढ़े को भी नहीं मानता !'

'ओं' विकरण आने पर अगले शब्द का अन्त्य स्वर उड़ जाता है—

'अपने बड़े-बूढ़ों से मैंने सुना था'

इसी तरह स्त्रीलिङ्ग में भी अगले शब्द पर असर पड़ता है—

'लता-बल्लियों की शोभा निराली थी'।

'बल्ली'-वल्लरी। जैसे 'बाग-बगीचे' उन के बहुत हैं। पर्य्याय-पुनरुक्ति है। समास की ही तरह पुनरुक्ति में भी अगले शब्द पर असर पड़ता है, ओं' विकरण का।

परन्तु—

'बड़ों-बड़ों के उस ने दाँत खट्टे किए हैं'

यहाँ 'बड़ों-बड़ों' है। वहाँ 'बड़े-बूढ़ों से' था। 'बड़े-बूढ़ों की बात' होता है; परन्तु यहाँ 'बड़ों-बड़ों की बात' है। 'बड़े-बड़ों की बात' क्यों नहीं ? सोचने की बात है।

'बड़ों बड़ों के दाँत उसने खट्टे किए' आदि प्रयोगों में समास नहीं है, शब्द की खुली द्विरुक्ति है। संबन्ध-प्रत्यय तथा विभक्ति 'को' 'ने' 'से' आदि प्रत्येक शब्द में न लग कर अगले शब्द के सामने हैं, जो उभयत्र अन्वित हो जाती हैं। 'राम, गोविन्द और माधव ने मिल कर वह काम किया है' यहाँ 'ने' विभक्ति 'राम' तथा 'गोविन्द' से भी अन्वित है। 'राम ने, गोविन्द ने और माधव ने' अच्छा नहीं लगता। इसी लिए विभक्ति हिन्दी में प्रकृति से सटा कर नहीं लिखी जाती। संस्कृत में 'मधुरेण फलेन तृप्तिः' होता

है; विशेषण में भी विभक्ति लगती है। यदि ऐसा न हो, तो विशेषण से विभक्ति का अन्वय ही न हो ! वहाँ प्रत्येक पद सविभक्तिक रहे गा, जब तक समास न हो। समास होने पर 'मधुरफलेन तृप्तिः' एक विभक्ति से काम चल जाए गा। 'मधुर' 'फल' के साथ बँध गया न ! परन्तु हिन्दी में ऐसी बात नहीं है। 'मधुर फल से तृप्ति' का चलन है। 'मधुर' तो 'फल' का विशेषण है ही, चाहे शब्द मिला कर लिखो, चाहे अलग लिखो। तब पृथक् विभक्ति की जरूरत ही नहीं। इसी को स्पष्ट करने के लिए 'क' आदि सम्बन्ध प्रत्यय तथा 'को' आदि विभक्तियों का विभक्त प्रयोग होता है। यही स्थिति शब्द की द्विरुक्ति में भी है—'बड़ों बड़ों से उसने लोहा लिया' 'छोटों छोटों को आगे बैठा दो' 'लड़कों लड़कों को अलग कर दो' आदि। 'बड़ों-बड़ों को' भी लिख दें' तो समास न समझा जाए गा। जहाँ (—) ऐसा चिह्न हो, वहाँ सर्वत्र समास ही न समझ लिया जाए गा। द्विरुक्त शब्दों के बीच में भी यह चिह्न आ जाता है, लगाया जाता है। '!' यह चिह्न कभी हर्ष प्रकट करता है, कभी विषाद और कभी आश्चर्य आदि। सो, (—) यह चिह्न सर्वत्र समास-सूचक नहीं है। 'बड़े-बूढ़ों से' में विकरण (ओं) एक जगह है, अगले शब्द में; क्योंकि दोनो का समास है। एक ही विकरण दोनो के लिए है। परन्तु 'बड़ों बड़ों से' आदि में 'ओं' विकरण उभयत्र है; क्योंकि यहाँ समास नहीं है। 'क' आदि प्रत्यय तथा विभक्तियाँ एक ही जगह रहें गी; पर अन्वय उभयत्र हो गा।

•

सामासिक प्रत्यय—'आ'-'ई'

'आ' हिन्दी का पुंप्रत्यय तथा 'ई' स्त्री-प्रत्यय समास में यथास्थान काम आते हैं। बहुव्रीहि समास में—

तिमंजिला मकान, तिमंजिले कोठे, तिमंजिली इमारत

यहाँ 'आ' तथा 'ई' प्रत्यय साफ हैं। 'मंजिल' शब्द स्त्रीलिङ्ग है। बहुव्रीहि में 'अन्य' (विशेष्य) की प्रधानता होती है। उसी के अनुसार लिङ्ग-वचन होते हैं। 'मंजिल' स्त्रीलिङ्ग है; पर बहुव्रीहि समास होते ही उस में हिन्दी का पुंप्रत्यय 'आ' आ लगता है और 'मंजिल' को 'मंजिला' कर देता है, यदि विशेष्य पुल्लिङ्ग हुआ, तो। तीन मंजिलें जिस में हों, वह मकान 'तिमंजिला'। तीन मंजिलें जिस में हों, वे कोठे 'तिमंजिले'। तीन मंजिलें जिस में हों, वह इमारत तिमंजिली। इसी तरह हिन्दी का 'तल' भी—

दुतल्ला मकान, दुतल्ले कोठे, दुतल्ली इमारत ।

'तल' के 'ल' को द्वित्व हो गया है। बहुव्रीहि समास है और विशेष्य के अनुसार 'आ' तथा 'ई' प्रत्यय हैं।

द्वन्द्व में भी 'आ' तथा 'ई' का प्रयोग होता है; जब कि 'समाहार' हो। 'राह' स्त्रीलिङ्ग शब्द है; पर समाहार-द्वन्द्व में 'दुराहा' 'तिराहा' 'चौराहा'। दो राहो का समाहार (जमघट)— दुराहा'। चार राहों का मिलन— 'चौराहा'। 'राह' में पुंप्रत्यय 'आ' स्पष्ट है। दो सेरों का समाहार-'दुसेरी'। पाँच सेरों का समाहार—'पंसेरी'। दो आनो का समाहार—'दुअन्नी'। चार आनों का समाहार—'चवन्नी' आदि। यहाँ 'दुराहा' 'चौराहा' 'सतनजा' 'पंसेरी' 'अठन्नी' आदि एकवचन हैं। अब ये एक संज्ञाएँ ही बन गईं। अब इन के बहुवचन तथा पुंस्त्री-भेद भी हों गे, यदि वैसे प्रयोग हों। 'आठ आने' में 'आने' पुल्लिङ्ग-बहुवचन है; पर समाहार-द्वन्द्व समास कर देने पर 'अठन्नी' स्त्रीलिङ्ग-एकवचन। 'चार राहे' में 'राहे' स्त्री-लिङ्ग बहुवचन है; पर समाहार-द्वन्द्व समास में 'चौराहा' पुल्लिङ्ग-एकवचन। संस्कृत में नपुंसक लिङ्ग एकवचन, या स्त्रीलिङ्ग-एकवचन होता है—'पञ्चपात्रम्'-'पञ्चवटी'। हिन्दी ने नपुंसक लिङ्ग हटा दिया; इस लिए पुल्लिङ्ग-एकवचन। अब इन की संख्या यदि विवक्षित हो, तो—

दोनो चौराहे, दोनो अठन्नियाँ

यों वचन-विन्यास हो गा। प्रयोग में बहुत सरलता है, समझने में चाहे देर लगे। भाषा अपने प्रवाह में चलती है। अनायास नाव उसी ओर स्वतः जाए गी; यदि जान-बूझ कर इधर-उधर कोई न करे।

यह 'समासेन' समास—प्रकरण हुआ।

षष्ठ अध्याय

क्रिया-विशेषण

क्रिया की प्रधानता भाषा या वाक्य में होती है। उसी के पीछे शेष सम्पूर्ण शब्द-जगत् है—सब उसी के अङ्ग हैं। क्रिया-पद (आख्यात) विशेष्य है, शेष सब विशेषण। 'खाता है' 'पढ़ता है' 'गया' 'आए गा' 'जाए' आदि 'पदों' से क्रिया का रूप प्रकट होता है। 'खाता है' क्रिया-पद प्रधान तो है; क्योंकि वही विवक्षित है; परन्तु पूरा मतलब न निकले गा, जब तक 'कर्ता' आदि का प्रयोग या अध्याहार न हो। 'राम खाता है' कहने से कर्तृत्व-विशिष्ट क्रिया का बोध हुआ। 'खाता है' सामान्य पद है—निर्विशेष। 'राम खाता है' कहने से मतलब निकला कि 'खाने' का कर्ता 'राम' है। यह 'कर्ता' एक तरह का क्रिया का विशेषण ही हुआ। इसी तरह 'राम फल खाता है' कहने से 'फल' भी एक तरह का विशेषण ही हुआ—फलों का खाना—'फल भोजन'। इसी तरह करण, अपादान, सम्प्रदान तथा अधिकरण भी क्रिया के अङ्ग या विशेषण ही हैं। 'जहाँ-यहाँ' आदि अधिकरण प्रधान तथा 'जब-तब' आदि कालप्रधान (सार्वनामिक) अव्ययों से भी (इस तरह की) क्रिया की विशेषता ही प्रकट होती है। यों सभी शब्द एक तरह से क्रिया-विशेषण ही हैं। परन्तु ये सब स्वरूप-निष्पादक मात्र हैं। इन के नाम भी इसी लिए 'कर्ता' 'कर्म' आदि ऐसे हैं, जिन से 'कर्तृत्व' आदि ही प्रकट होता है। परन्तु सर्वथा निराकाङ्क्ष या स्वरूप-प्राप्त वाक्य 'राम अपने घर में फल खा रहा है' आदि में जब किसी शब्द से क्रिया की निष्पत्ति विशेष ढँग से बताना हो, तो उस के लिए भिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता है। 'खा रहा है' के पहले 'जल्दी-जल्दी' 'धीरे-धीरे' आदि शब्द दे दें, तो क्रिया की निष्पत्ति एक विशेष ढँग से प्रतीत हो गी। 'राम फल खाता है' में 'खाता है' साधारण क्रिया है। कैसे खाता है, सो कुछ पता नहीं। परन्तु 'राम जल्दी-जल्दी खाता है' या 'धीरे-धीरे खाता है' कहने से क्रिया में एक विशेषता जान पड़ती है। ऐसे ही शब्द या शब्द-प्रयोग 'क्रिया-विशेषण' कहलाते हैं। 'शीघ्र चलो' में 'शीघ्र' क्रिया-विशेषण है।

गुणवाचक 'मधुर' आदि विशेषण जब संज्ञा के साथ आते हैं, तो (संस्कृत में) अपने विशेष्य के अनुसार रूप ग्रहण करते हैं। परन्तु 'क्रिया' में तो 'अपना' कोई लिङ्ग-वचन-पुरुष आदि है ही नहीं! तब क्रिया-विशेषण 'मधुर' आदि शब्दों का प्रयोग कैसे हो ? किसी न किसी रूप में ही तो शब्द का प्रयोग हो गा ! तो, क्रिया का विशेषण सदा नपुंसक-लिङ्ग एकवचन रहे, यह संस्कृत में व्यवस्था है—'सीता मधुरं गायति' 'रामः मधुरं गायति' 'बालकाः मधुरं गायन्ति'। हिन्दी में नपुंसक लिङ्ग है ही नहीं; इस लिए 'सीता मधुर गाती है' 'राम मधुर गाता है' 'बालक मधुर गाते हैं' यों 'मधुर' क्रिया-विशेषण का निर्विभक्तिक प्रयोग हो गा। तो भी, 'मधुर' शब्द को यहाँ 'प्रथमा का एकवचन' ही कहा जाए गा। पुल्लिङ्ग एकवचन समझिए। संस्कृत में नपुंसक-लिङ्ग एकवचन सामान्य-प्रयोग में आता है, हिन्दी में पुल्लिङ्ग एकवचन। इसी लिए आकारान्त पुल्लिङ्ग विशेषण सदा स्व-रूप से स्थित रहते हैं—

१—लड़का अच्छा गाता है
२—लड़की अच्छा गाती है
३—बालिकाएँ अच्छा गाती हैं
४—हम अच्छा गाते हैं
५—तुम अच्छा गाते हो

संस्कृत में नपुंसक लिङ्ग एकवचन रहे गा। 'मधुर' आदि संस्कृत शब्द (हिन्दी में) ज्यो के त्यों प्रयुक्त होते हैं; नपुंसक-चिह्न 'म्' हटा कर। और, मीठा' जैसे तद्भव शब्द अपनी पद्धति पर—सदा पुल्लिङ्ग एक वचन—

१—लड़की मीठा बोलती है
२—लड़के मीठा गाते हैं
३—तुम तबला बहुत मीठा बजाते हो

'तबला' (कर्म) एकवचन है। 'मीठा' क्रिया-विशेषण है। यदि कर्म बहुवचन 'बाजे' आदि हो, तो फिर (आकारान्त) क्रिया-विशेषण के प्रयोग में कुछ भेद पड़ जाए गा। 'बाजे वे अच्छे बजाते हैं' में 'अच्छे' विधेय विशेषण हैं, विधेयता क्रिया की ही है—अतः उसी की विशेषता प्रकट है; पर 'कर्म' के द्वारा। इसी लिए कर्म के अनुसार 'अच्छे' हैं। परन्तु वस्तुतः ('अच्छे') 'बाजे' का विशेषण नहीं है। 'राम अच्छे बाजे ही बजाता है' यहाँ संज्ञा विशेषण जरूर है।

सकर्मक क्रियाओं के प्रयोग कभी कर्म के साथ होते हैं, कभी कर्म को साथ लिए बिना भी। 'लड़की अच्छा पढ़ती है' 'लड़के अच्छा गाते हैं' आदि में सकर्मक क्रियाओं के अकर्मक प्रयोग हैं। परन्तु, यदि कर्म सामने उपस्थित हो, तो (आकारान्त) क्रिया-विशेषण कुछ दूसरे ढंग से आए गा। 'लड़के पुस्तकें अच्छा पढ़ते हैं' या 'लड़की पुस्तकें अच्छा पढ़ती हैं' बोलने में अच्छा नहीं लगता। 'पुस्तकें' स्त्रीलिङ्ग—बहुवचन के तुरन्त बाद 'अच्छा' पुल्लिङ्ग-एकवचन प्रयोग अटपटा लगता है। इस लिए यहाँ प्रयोग-विधि दूसरी है।

यदि क्रिया का फल—'विशिष्ट' क्रिया का फल—कर्म पर पड़ता हो, तो क्रिया-विशेषण कर्म के अनुसार ही रूप ग्रहण करे गा—लिङ्ग-वचन आदि कर्म के ही अनुसार चलें गे। 'राम टेढ़ा खम्भा गाड़ता है' में 'टेढ़ा' विशेषण कर्म (खम्भे) का है। खम्भा वह टेढ़ा है, जिसे राम गाड़ रहा है। परन्तु यदि खम्भा सीधा हो और उसे इधर-उधर झुका कर टेढ़ा-मेढ़ा राम गाड़ रहा हो, तो फिर यह ('टेढ़ा') क्रिया-विशेषण हो गा—'राम खम्भा टेढ़ा गाड़ रहा है'। खम्भे कई हों, यानी कर्म बहुवचन हो, तब क्या हो गा ? तब क्रिया-विशेषण कर्म के अनुसार अपने लिङ्ग-वचन रखे गा—

'राम खम्भे टेढ़े गाड़ रहा है'

टेढ़े 'गाड़ने' का रूप खम्भों पर स्पष्ट है। यानी खम्भे हैं तो सीधे; पर गाड़े गए हैं टेढ़े। 'टेढ़े गाड़े गए हैं' में भी क्रिया-विशेषण कर्म के अनुसार ही है—जब कि कर्म 'कर्ता' की तरह दिखाई दे रहा है। 'राम टेढ़े खम्भे गाड़ रहा है' में 'टेढ़ा' कर्म का विशेषण है और 'राम खम्भे टेढ़े गाड़ रहा है' में 'टेढ़ा' (कर्म के द्वारा) क्रिया की विशेषता प्रकट कर रहा है। सीधे खम्भे हैं; पर गाड़े जा रहे हैं टेढ़े।

इसी तरह—

'धोबी कपड़े अच्छे धोता है'

यहाँ 'अच्छे' क्रिया-विशेषण है। 'अच्छे कपड़े मैं स्वयं धोता हूँ' और 'रद्दी बुरे कपड़े मैं धोबी से धुलाता हूँ' में 'अच्छे' और रद्दी-'बुरे' कर्म (कपड़े) के विशेषण हैं। कपड़े स्वरूपतः 'अच्छे' और 'बुरे' हैं। परन्तु 'धोबी कपड़े

अच्छे धोता है' यों 'अच्छे' का पर-प्रयोग यदि (क्रिया के समीप) कर दें, तो फिर यह क्रिया-विशेषण बन जाता है।

विशेषण-प्रकरण में हम ने 'उद्देश्य' तथा 'विधेय' भेद से दो श्रेणियाँ विशेषणों की बताई थीं और कहा था कि उद्देश्य-विशेषण का पूर्व प्रयोग होता है, विधेय-विशेषण का पर-प्रयोग। यहाँ सकर्मक क्रियाओं का—कर्म की उपस्थिति में—जब कोई विशेषण आता है, तो इस (क्रिया-विशेषण) का भी पर-प्रयोग होता है; परन्तु दोनो में बड़ा अन्तर है।

राम अच्छे कपड़े पहनता है

यहाँ 'अच्छापन' कपड़ों में है; पर विधान पहनने का है।

राम के पहनने के कपड़े अच्छे हैं

यहाँ भी अच्छापन कपड़ो में ही है—'अच्छे' कपड़े ही हैं—परन्तु विधेयता के साथ। कपड़ों के अच्छेपन का विधान है। इस लिए यह संज्ञा का विधेय-विशेषण। इसी तरह 'अच्छे कपड़े धोबी धोता है' में 'अच्छे' है; 'कपड़े' का उद्देश्यात्मक विशेषण। परन्तु—

धोबी कपड़े अच्छे धोता है

कहें, तो 'अच्छे' क्रिया-विशेषण हैं—'कपड़े' का विधेय-विशेषण नहीं। कपड़ों के अच्छेपन का विधान यहाँ नहीं है; वरन उन के धोने की विशेषता है अच्छापन। वे धुलते अच्छे हैं। 'कपड़े अच्छे धुले हैं' या 'धुलते हैं' में भी 'अच्छे' क्रिया-विशेषण ही है। अकर्तृक-प्रयोग है, कर्म का कर्ता की तरह प्रयोग। क्रिया-विशेषण इसी के अनुसार रहे गा—'दरी अच्छी धुली है'। 'अच्छी' यहाँ 'दरी' का विधेय–विशेषण नहीं है। 'दरी अच्छी है' में ही 'अच्छी' दरी का विधेय–विशेषण है। इस विधेय–विशेषण को ही पहले लोग 'पूर्ति' या 'पूरक' कहा करते थे।

सीधे या टेढ़े गाड़ने का फल खम्भों पर स्पष्ट है—वे वैसे दिखाई देते हैं और अच्छी या बुरी धुलाई का फल कपड़ों पर देखा जाता है। इस लिए क्रिया-विशेषण कर्म के अनुसार रूप बना लेते हैं। परन्तु जहाँ ऐसी बात नहीं, क्रिया का फल कर्म पर नहीं दिखाई देता, वहाँ क्रिया-विशेषण कर्म के अनुसार न चले गा। यदि उस ढँग की सकर्मक क्रियाएँ कर्मकर्तृक रूप में

आ जाएँ तो भी क्रिया-विशेषण इसी तरह रहेंगे—'खम्भे टेढ़े गड़े हैं' 'कपड़े अच्छे धुले हैं' इत्यादि ।

'पढ़ना' सकर्मक क्रिया है । अकर्मक प्रयोग में 'सीता अच्छा पढ़ती है' जैसे क्रिया-विशेषण रहें गे । परन्तु कर्म की उपस्थिति में क्या हो गा ? पढ़ने का फल कर्म पर तो दिखाई नहीं देता ! 'सीता पुस्तक अच्छा पढ़ती है' बोलने में अच्छा नहीं लगता । 'पुस्तक' स्त्रीलिङ्ग के तुरन्त बाद 'अच्छा' सुनने में भला नहीं लगता । वैसा सुनने का अभ्यास नहीं । और 'अच्छा पढ़ने' का कोई फल 'पुस्तक' पर दिखाई नहीं देता । इस लिए क्रिया-विशेषण उस का पल्ला व्यर्थ क्यों पकड़े ? तब क्या हो ?

ऐसी स्थिति में 'तरह' 'प्रकार' आदि का सहारा लिया जाता है— 'सीता पुस्तक अच्छी तरह पढ़ती है' । अब सर्वत्र 'अच्छी तरह' रहेगा—

सीता पुस्तक अच्छी तरह पढ़ती है
लड़का वेद अच्छी तरह पढ़ता है
मैं भोजन अच्छी तरह करता हूँ

यह प्रयोग-भेद केवल आकारान्त (अच्छा-बुरा आदि) विशेषणों के प्रयोग में ही है । जो स्वभावतः अव्यय हैं; वे सदा एकरस रहते ही हैं—

राम खूब सोता है, खूब हँसता है
मैं अच्छे फल खूब खाता हूँ, खूब खिलाता हूँ
रमा पुस्तकें खूब पढ़ती है, खूब सोचती है

इसी तरह 'धीरे-धीरे' आदि अव्यय समझिए । संस्कृत (तत्सम) विशेषण भी तदवस्थ ही रहते हैं ।

क्रियाएँ भी परस्पर एक दूसरे की विशेषता निष्पन्न करती हैं, तब उन्हें भी 'क्रिया-विशेषण' ही कहा जाए गा—

'सीता ने रोते-रोते कहा...'

यहाँ 'रोते-रोते' क्रिया—विशेषण है 'कहने' क्रिया का । 'सीता चलते-चलते थक गई' में 'चलते-चलते' (थकने) क्रिया का विशेषण नहीं,

'हेतु' है। बहुत चलने से थकान। परन्तु 'रोते-रोते कहा' में ऐसी बात नहीं है। वहाँ क्रिया-विशेषण है 'रोते-रोते'। रोने का फल कर्ता (सीता) में स्पष्ट दिखाई देता है; इस लिए 'रोती-रोती बोली' भी हो सकता है। परन्तु इस रूप में सीधे 'बोलने' में विशेषता नहीं जान पड़ती; इस लिए कर्ता का विशेषण कहते हैं। यह दूसरी बात है। कर्ता में हो कर भी चीज अन्ततः क्रिया पर ही जा कर टिके गी, क्योंकि यही तो सब का विधेय या विशेष्य है। सीधे तौर पर जो क्रिया की विशेषता प्रकट करे, वह क्रिया-विशेषण स्पष्ट। 'सीता ने रोते-रोते कहा' आदि में 'रोते-रोते' बहुवचन नहीं है। भाववाच्य एकारान्त रूप है। सदा इसी तरह रहता है। न एकवचन, न बहुवचन और अन्वय सर्वत्र।

कभी-कभी क्रिया से बहुत दूर भी उस का विशेषण रहने पर अन्वय में कठिनाई नहीं होती—

'मैं चुपचाप पढ़ने चला जाता हूँ'

यहाँ 'चुपचाप' क्रियार्थक क्रिया 'पढ़ने' के पूर्व है; परन्तु अन्वय 'चला जाता हूँ' क्रिया के साथ है। चुपचाप 'पढ़ता' नहीं है; 'जाता है' चुपचाप।

'चुपचाप पढ़ना चाहिए',

यहाँ 'पढ़ना चाहिए' का विशेषण 'चुपचाप' है ही; और :—

'चुपचाप पढ़ना अच्छा होता है'

यहाँ भी 'चुपचाप' क्रिया-विशेषण ही है। 'पढ़ना' 'न'-प्रत्ययान्त भाववाचक संज्ञा है, जो वस्तुतः क्रिया का ही सामान्य रूप है। पूर्वकालिक क्रिया में—'सीता चुपचाप पुस्तक पढ़ कर चली गई'। 'चुपचाप' यहाँ पूर्वकालिक क्रिया का विशेषण है, (आख्यात 'चली गई') का नहीं। 'सीता पुस्तक पढ़ कर चुपचाप चली गई' यहाँ अवश्य 'चुपचाप' आख्यात ('चली गई') का विशेषण है।

१—मुझे चुपचाप बैठे एक घंटा हो गया।

२—बालकों को चुपचाप खेलते बहुत देर हो गई।

३—हमें चुपचाप काम करते एक युग बीत गया!

इन उदाहरणों में 'बैठे' 'खेलते' तथा 'करते' भाववाच्य क्रिया-प्रयोग हैं और सर्वत्र 'चुपचाप' क्रियाविशेषण है। 'घंटा' 'देर' तथा 'युग' कर्ता-कारक हैं—'हो गया' 'हो गई' तथा 'बीत गया' क्रियाओं के। इन से उस क्रियाविशेषण का कोई संबन्ध नहीं। वह तो बैठने की, खेलने की तथा (काम) करने की विशेषता बतलाता है। इन क्रियाओं के कर्ता हैं—'मैं' 'बालक' तथा 'हम'। समय उतना निकल गया, इस पर जोर देने के लिए वैसे प्रयोग हैं—'बैठने' आदि के 'भावे' प्रयोग उस रूप में। यदि समय पर वैसा जोर न देना हो, तो फिर—

'एक घंटे तक मैं चुपचाप बैठा रहा'

जैसे प्रयोग हों गे। क्रिया-विशेषण ज्यों का त्यों है। प्रेरणा तथा नामधातु आदि के भी सब रूपों में क्रिया-विशेषण लगता है। क्रियार्थक क्रिया में विशेषता प्रकट करने के लिए (क्रिया के साथ) प्रायः 'लिए' अव्यय लगाते हैं—

'मैं सुख से पढ़ने के लिए कलकत्ते जा रहा हूँ' यहाँ 'सुख से' विशेषण क्रियार्थक क्रिया ('पढ़ने') के साथ अन्वित है। 'मैं पढ़ने के लिए कलकत्ते बड़े सुख से पहुँचा' यहाँ 'सुख से' का अन्वय 'पहुँचा' क्रिया (आख्यात) से है। 'से' विभक्ति लगने पर भी क्रिया-विशेषण होने में कोई बाधा नहीं है। संस्कृत में नपुंसकलिङ्ग एकवचन 'सुखम्' से काम चल जाता है—'रामः पाठशालां सुखं गच्छति'—राम पाठशाला सुख से जाता है। 'सुखेन' भी चलता है। हिन्दी में पु० एकवचन 'अच्छा' आदि उसी तरह रहते हैं। 'राम अच्छा पढ़ता है' में 'अच्छा' के आगे 'से' आदि की जरूरत नहीं। परन्तु 'सुख' आदि का निर्विभक्तिक प्रयोग न हो गा।

सारांश यह कि जिस शब्द से क्रियागत कोई विशेषता प्रकट हो, वह क्रिया-विशेषण। क्रिया की गिनती नहीं हो सकती; इस लिए इस के संख्या-वाचक विशेषण नहीं होते।

जो विशेषता न प्रकट करे, वह क्यों विशेषण ?

हिन्दी के 'व्याकरणों' में अब-तब, जहाँ-वहाँ, इधर-उधर आदि सभी अव्ययों को 'क्रिया-विशेषण' मान कर बड़े ही विस्तार से उदाहरणों का गोरखधन्धा फैलाया गया है! 'जब मैं भोजन करता हूँ, तब वह पढ़ने जाता

है'। 'जब' से भोजन करने में और 'तब' से 'जाने' में क्या विशेषता आ गई? 'जब'—जिस समय और 'तब'—उस समय। यों ये कालवाचक अव्यय हैं। इसी तरह 'जहाँ-कहाँ' आदि स्थान-वाचक और 'इधर-उधर' आदि दिशा-वाचक अव्यय हैं। इन से क्रिया में कोई विशेषता नहीं जान पड़ती। वैसे तो कर्ता-कर्म आदि सभी कारक और 'संबन्ध' तथा सभी अव्यय क्रिया के ही अङ्ग हैं—सभी उस के विशेषण ही हैं; परन्तु इन सब की विशेषता ऐसी है कि उधर सब का ध्यान नहीं जाता। वह विशेषता कोई नहीं, जो जान ही न पड़े! फिर, उन के नाम भी अलग-अलग 'कर्ता' आदि रख दिए गए हैं; क्योंकि कर्तृत्व आदि की ही वहाँ प्रधानता है। विशेषणत्व दब गया है। 'विशेषवाचकपदसन्निधाने सामान्यवाचकपदानां तदन्यपरत्वम्'—जब विशेषवाचक शब्द विद्यमान हो, तो सामान्यवाचक पद उसे स्पर्श नहीं करता। 'क्रिया-विशेषण' यों सामान्य पद है, कर्ता, कर्म अधिकरण आदि 'विशेष' पद। क्रिया की बिशेषता ये 'कर्ता' आदि के रूप में प्रकट करते हैं। परन्तु कुछ शब्द-प्रयोग ऐसे हैं, जिन्हें 'क्रिया-विशेषण' ही कहते हैं। ये केवल क्रिया की विशेषता ही प्रकट करते हैं, और कुछ नहीं—'मैं चुपचाप पढ़ता हूँ'। 'चुपचाप' क्रिया (पढ़ने) की विशेषता प्रकट करता है। इसी तरह 'धीरे धीरे' आदि अव्यय हैं। परन्तु 'अब-जब' आदि आदि अव्ययों से क्रिया की कोई वैसी विशेषता प्रकट नहीं होती। इस का तथा अन्य (कारक, वाच्य, वाच्य-परिवर्तन, प्रेरणा आदि से संबन्ध रखने वाली) शतशः गलत धारणाओं का विस्तार से निराकरण अपने ब्रजभाषाव्याकरण के भूमिका-भाग में मैं ने किया है। जिन की इच्छा हो, वहीं देख सकते हैं।

हाँ, 'ज्यों-त्यों' आदि प्रकारवाचक सार्वनामिक अव्यय अवश्य क्रिया-विशेषण के रूप में आते हैं—"ज्यों-त्यों कर के मैं पहाड़ पर चढ़ तो गया।"

यहाँ 'ज्यों त्यों कर के' क्रिया-विशेषण है—चढ़ने की कठिनाई प्रकट करता है। सूर का ब्रजभाषा-पद्यांश—

'त्यों-त्यों नाचैं मोहन ज्यों-ज्यों रई घमरको होय री'

में 'ज्यों-ज्यों' और 'त्यों-त्यों' से क्रियागत उत्तरोत्तर विकास सूचित होता है। परन्तु 'क्यों' केवल प्रश्न में आता है—क्रिया-विशेषण के रूप में नहीं। हाँ, इसी प्रकृति का 'कैसा' सार्वनामिक विशेषण अवश्य क्रिया की विशेषता

प्रकट करने के काम में लगाया जाता है। वैसी स्थिति में इन आकारान्त विशेषणों को एकारान्त रूप मिल जाता है—एकवचन में भी एकारान्त! क्रिया-विशेषण एकवचन रहता ही है, यदि क्रिया से सीधा सम्बन्ध हो—

१—तू कैसे इतना लिख लेता है?

२—जैसे तुम उतना पीस लेती हो

दोनो उदाहरणों में 'कैसे-जैसे' तथा 'इतना-उतना' क्रिया-विशेषण हैं। एक से प्रकार और दूसरे से परिमाण सूचित होता है। 'यह पानी कैसा है' में 'कैसा' 'पानी' का प्रकार पूछने में संज्ञा-विशेषण है और 'तू कैसे इतना लिख लेता है' में 'कैसा' क्रिया के करने का प्रकार पूछता है। ये सदा पुल्लिङ्ग एकवचन (एकारान्त) रहें गे—

१—तुम जैसे बने, चले जाओ

२—ऐसे तुम कैसे चली जाओ गी?

३—आप इतना क्यों सोच रही हैं?

४—लड़की कितना परेशान हुई!

'कितना' क्रिया-विशेषण है। 'परेशान होना' क्रिया है। 'लड़की कितनी परेशान थी' में 'कितनी' विशेषण है 'परेशान' का, जो कि स्वयं 'लड़की' का विशेषण है। यानी 'कितनी' शब्द यहाँ 'प्रविशेषण' है। यदि प्राशस्त्य-अर्थ में 'ऐसा' आदि का प्रयोग हो, तो 'आ' को 'ए' नहीं होता—'शंभू महाराज कत्थक-नृत्य ऐसा नाचते हैं कि क्या कहा जाए!'

१—राम आजकल बहुत पढ़ता है

२—आज राम के यहाँ बहुत लोग आए हैं

पहले उदाहरण में 'बहुत' क्रिया-विशेषण है और दूसरे में 'लोग' का संख्यावाचक विशेषण। क्रिया का परिमाण क्रिया-विशेषण बतला रहा है! संख्या तत्त्वतः यहाँ (क्रिया में) होती ही नहीं।

एक प्रासंगिक बात। दोनो 'बहुत' शब्द यहाँ भिन्न-प्रकृतिक जान पड़ते हैं। संस्कृत में 'प्रभूत' शब्द परिमाण बताने के लिए है और 'बहु' संख्या वाचक है—यद्यपि कहीं इसका भी परिमाणवाचक (क्रियाविशेषण के भी)

रूप में प्रयोग होता है—'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते !' हिन्दी में दोनो शब्द विकसित हो कर आए हैं। 'प्रभूत' के 'प्र' को अलग कर के मारवाड़ आदि में 'भोत' रूप चलता है-'भोत खा गयो'-बहुत खा गया ! वहाँ 'बहुत' का भी 'भोत' होता है—'भोत आदमी'-बहुत आदमी। हिन्दी (राष्ट्रभाषा) में 'प्रभूत' का 'बहुत' हुआ ('प्र' का लोप; 'ऊ' को 'उ' और 'भ' से 'ब्' को अलग कर के अकारान्त-'बहुत'। 'बहुत पढ़ा'—'प्रभूतं पठितम्' । संख्या-वाचक 'बहु' शब्द के अन्त में 'त' का आगम कर के 'बहुत'। 'बहुत आदमी आए।' यो शब्द-भेद है ।

परन्तु इस प्रासंगिक चर्चा का यह मतलब नहीं कि सदा संज्ञा-विशेषणों में और क्रिया-विशेषणों में शब्द-भेद होता ही है ! ऐसी बात नहीं है। वही शब्द प्रयोग-भेद से कहीं संज्ञा-विशेषण, कहीं क्रिया-विशेषण और कहीं 'प्रविशेषण'।

१—मीठे फल हमें दो

('मीठे' फलों का साधारण (उद्देश्यात्मक विशेषण)।)

२—फल मीठे हैं

(यहाँ 'मीठे' फलों का विधेयात्मक विशेषण है।)

३—लड़की मीठा गाती है

('मीठा' क्रिया-विशेषण।)

इसी तरह 'अच्छा' आदि समझिए। 'लड़की अच्छा मीठा गाती है' में 'अच्छा' प्रविशेषण। 'मीठा' विशेषण है, उस का विशेषण 'अच्छा'। या फिर 'अच्छा' भी स्वतन्त्र क्रिया-विशेषण-'लड़की अच्छा गाती है, मीठा गाती है'। 'अच्छा' का अर्थ संगीतशास्त्र का अनुसरण आदि। 'मीठा' अलग चीज है। 'लड़की ने अच्छा गाना गाया' में 'अच्छा' शब्द 'गाना' (गीत) का विशेषण है। ऐसा गीत गाया, जिस का भाव बहुत अच्छा था—कोई किसी तरह की अश्लीलता जैसी दुर्गन्ध उस में न थी। परन्तु 'लड़की ने गाना अच्छा गाया' में 'अच्छा' क्रिया-विशेषण है—गाने (क्रिया) की विशेषता बतलाता है। 'अच्छा लड़का गा रहा है' में 'अच्छा' 'लड़के' का विशेषण है। क्रिया-विशेषण का प्रयोग हो गा—'लड़का अच्छा गा रहा है।'

'बड़ा आम मीठा है'। 'बड़ा' उद्देश्य-विशेषण,' मीठा' विधेय-विशेषण। 'आम बड़ा मीठा है' में 'मीठा' विधेय-विशेषण और 'बड़ा' उस का 'प्रविशेषण'। 'आम बड़ा और मीठा है' में 'बड़ा' भी स्वतन्त्र विशेषण।

सो, कार्य-भेद से नाम-भेद। एक ही शब्द कभी संज्ञा विशेषण, कभी क्रिया-विशेषण। एक ही व्यक्ति जब कपड़ा बेचता है, तब 'बजाज' और मिठाई बेचने लगता है, तब 'हलवाई'। यही स्थिति भाषा में शब्दों की है। हाँ, 'चुपचाप' या 'धीरे-धीरे' आदि अव्यय सदा ही क्रिया-विशेषण रहते हैं, यह अलग बात है। कोई व्यक्ति सदा एक ही काम करता रहे, तो करता रहे। परन्तु वह व्यक्ति जिस बिरादरी का है, उस के सभी व्यक्तियों के सिर वह काम नहीं थोपा जा सकता! और वह काम न करने पर उन को उस विशिष्ट नाम से नहीं पुकारा जा सकता। जो वैश्य कपड़े बेचे गा, उसे ही 'बजाज' कहेंगे, सब को नहीं। इसी तरह जो अव्यय क्रिया की विशेषता बतलाए गा, उसे ही क्रिया-विशेषण कहा जाए गा। वैश्य के अतिरिक्त, खत्री आदि भी कपड़े बेच सकते हैं और तब वे भी 'बजाज' कहलाएँ गे। यह नहीं कि वैश्य ही बजाज हों। काम देख कर ही नाम दिया जाए गा।

———

सप्तम अध्याय

वाक्य का गठन

हिन्दी में वाक्य का गठन अत्यन्त सीधा-सादा और मोहक है। पीछे वाक्य की विभिन्न इकाइयो का—विभिन्न श्रेणी के पदों का—जो परिचय दिया गया है, उसी से वाक्य का गठन स्पष्ट हो जाता है; परन्तु इस के बारे में कुछ विशेष बातें कहनी हैं। इसी लिए इस स्वतंत्र अध्याय का आरम्भ है।

अंग्रेजी आदि की तरह हिन्दी और संस्कृत में पदों का विन्यास-क्रम नियमो की बेड़ियों से ऐसा जकड़ा हुआ नहीं है कि हिल-डुल न सके! यहाँ तो भाषा का स्वरूप ही ऐसा है कि पद-प्रयोग में अक्रम होने पर भी साधारणतः अर्थ-बोध में कोई गड़बड़ी नहीं पड़ती। जहाँ पद-क्रम की अनिवार्य व्यवस्था है, वहीं विशेष ध्यान देना पड़ता है। ऐसे स्थलों का निर्देश आगे किया जाए गा। परन्तु साधारणतः वाक्य का गठन वैसा जटिल नहीं है कि अर्थ-बोध में दिक्कत आए।

हमारे कहने का मतलब यह नहीं है कि हिन्दी में पदों का प्रयोग अव्यवस्थित है। व्यवस्था तो बड़ी सुन्दर है; परन्तु जटिल नहीं है। पदों का जो साधारण क्रम रहता है, कविता आदि में वह इधर-उधर हो जाए, तो भी अन्वय-बोध में कठिनाई नहीं होती; इतना मतलब! हाँ, यदि कोई बिलकुल ही अंटसंट लिखे, तब तो बात ही दूसरी है! तब भाषा का नहीं, प्रयोक्ता का दोष समझिए।

साधारणतः वाक्य में पहले कर्ता रहता है, फिर क्रिया। क्रिया मुख्य या विधेय होती है; इस लिए उस का पर-प्रयोग। ज्ञात से अज्ञात की ओर जाना स्वाभाविक है। 'राम' को हम और आप जानते हैं कि कौन है, किस का लड़का है; इत्यादि। परन्तु उसकी विविध क्रियाएँ हमें अज्ञात हैं। जो उस की जिस क्रिया से परिचित हो गया, वह दूसरों को बतलाता है—'राम सो रहा है' 'राम बैठा है' 'राम लजाता है' इत्यादि। ये विभिन्न क्रियाएँ उस की सब को ज्ञात नहीं, जैसा कि वह स्वयं ज्ञात है। पता सब को नहीं कि वह क्या कर रहा है, क्या उस ने किया है और क्या करने वाला है।

ऐसी क्रियाएँ बताने के लिए धातुओं के रूप काम में लाए जाते हैं—सोता है-जागता है; आदि। यानी बोलने वाला केवल यह बताना चाहता है कि इस समय राम क्या कर रहा है, या किस स्थिति में है। इसी लिए कर्ता 'राम' आदि पहले बोल कर, तब 'सोता है' 'सो रहा है' इत्यादि क्रिया-पदों का प्रयोग होता है। जब क्रिया की अपेक्षा कर्ता पर ही अधिक जोर देना हो, तब यह क्रम बदल जाता है—कर्ता का ही पर-प्रयोग होता है—"सोता तो है राम! सन्ध्या के छह बजे से सबेरे आठ बजे तक एक करवट!" यहाँ 'राम' (कर्ता) का पर-प्रयोग है, जोर देने के लिए। विधेय तो क्रिया ही है, वही मुख्य है; परन्तु कर्ता की विशेषता प्रकट करने के लिए पर-प्रयोग।

कर्म का प्रयोग साधारणतः कर्ता के अनन्तर और क्रिया के पूर्व होता है—'राम पुस्तक पढ़ता है'। परन्तु कर्म पर अधिक जोर देना हो, तो इस का पर-प्रयोग होता है—

'राम पढ़े गा वेद, औरों की हम जानते नहीं'

यहाँ 'वेद' पर जोर है। मतलब यह है कि राम साधारण चीजों से आगे बढ़ कर गहन वेदों का अध्ययन करे गा। अन्य पठनीय चीजों के लिए दूसरे लोग हैं। और 'कालू पढ़े गा गन्दे उपन्यास! इसे अपने पाठ्य ग्रन्थों से क्या मतलब!' यहाँ 'गन्दे उपन्यास' (कर्म) का पर-प्रयोग है। वहीं जोर है।

यदि करण का प्रयोग करना हो, तो कर्ता के अनन्तर ही साधारणतः इस का स्थान है—

शिवा जी ने अपनी तलवार से विजय प्राप्त की'

यदि करण पर अधिक जोर देना हो, तो इस का भी पर-प्रयोग हो जाए गा—

'शिवा जी ने विजय प्राप्त की थी अपनी तलवार से'

इस का अर्थ यह निकले गा कि उन के पास अन्य (सम्पत्ति या पैतृक राज्य-सैन्य आदि) साधन न थे, जैसे कि औरंगजेब आदि को प्राप्त थे। केवल तलवार के बल पर ही उन्हों ने शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी।

प्रथम (साधारण) प्रयोग में यह बात नहीं। वहाँ करण पर उतना जोर नहीं मालूम देता।

सम्प्रदान का प्रयोग भी साधारणतः कर्ता के अनन्तर ही होता है—

'मोहन ने गरीब को पैसा दिया'

परन्तु सम्प्रदान पर अधिक बल देने के लिए पर-प्रयोग किया जाता है—

'मोहन ने पैसा दिया गरीब को और धक्का दिया उस दुष्ट को।'

अपादान का प्रयोग कर्ता से भी पहले प्रायः होता है—

'फूलों से सुगन्ध आ रही है'

अपादान पर अधिक बल देना हो, तो पर-प्रयोग—

'सुगन्ध तो भाई आए गी फूलों से ही!'

अधिकरण का प्रयोग साधारण स्थिति में कर्ता के अनन्तर होता है—

'मोहन घर में रोटी खा रहा है'

अधिकरण पर बल देने के लिए पर-प्रयोग—

'मैं तो भोजन करूँगा अपने घर में ही'

यदि अधिकरण पर नहीं, कर्म पर जोर देना हो, तो फिर इस (कर्म) का ही पर-प्रयोग हो गा।

'मै अपने घर में तो करूँ गा भोजन और काम करूँ गा सेवाश्रम में' यानी 'सेवाश्रम में भोजन न करूँ गा'। वह काम करने की जगह है।

क्रिया-विशेषण प्रायः क्रिया के साथ ही आता है; परन्तु कभी-कभी पृथक् (दूर) भी रहता है, फिर भी अन्वय में कोई बाधा नहीं पड़ती; यह सब अभी पिछले ही अध्याय में देखा जा चुका है। सो, वाक्य-गठन के संबन्ध में साधारणतः कोई जटिल व्यवस्था नहीं है। यही तो सब से बड़ा कारण है कि हिन्दी बहुत जल्दी आ जाती है और इसी लिए देश भर में स्वतः यह ऐसी फैली कि राष्ट्रभाषा और राजभाषा का पद इसे प्राप्त हो गया।

उद्देश्य और विधेय

वाक्य में उद्देश्य और विधेय, ये दो ही मुख्य तत्त्व हैं। किसी के बारे में हम कुछ कहते हैं। जिस के बारे में कुछ कहते हैं, वह ज्ञात रहता है—'उद्देश्य' है। उस के बारे में जो कुछ कहा जाता है—बताया जाता है—वह हमें पहले से अज्ञात रहता है; इसी लिए वह 'विधेय' या प्रतिपाद्य है। उद्देश्य और विधेय को ही संस्कृत में 'अनुवाद्य' और 'विधेय' कहते हैं। पहले उद्देश्य बोला जाता है, तब 'विधेय' आता है। यह स्वाभाविक स्थिति है—'राम सोता है' या 'राम चोर है'। 'सोना' विधेय है और 'राम का' 'चोर होना' विधेय है। 'चोर' विधेय-विशेषण है; इसी लिए पर-प्रयोग है। इसे उलट कर 'चोर राम है' साधारण स्थिति में नहीं कर सकते। उद्देश्य पर अधिक जोर देना हो, तो हो भी जाए गा—'चोर तो है मोहन और दण्ड मिल रहा है सोहन को!' परन्तु यदि ऐसी स्थिति न हो, तो उद्देश्य का पूर्व-प्रयोग ही हो गा, विधेय का पर-प्रयोग। कहा है—

'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्'

उद्देश्य का उच्चारण किए बिना, पहले ही, विधेय का उच्चारण न कर देना चाहिए। यह सामान्य विधि है। 'अनुवाद्य' इस लिए 'उद्देश्य' को कहते हैं क्यों कि वह ज्ञात है

'भूमि सयन, बलकल बसन, असन कन्द फल मूल'

'सयन' (शयन) यहाँ भाववाचक संज्ञा नहीं, अधिकरण-प्रधान शब्द है—'शय्या' का पर्य्याय। इसी तरह 'असन' (अशन) भी 'कर्मणि' प्रत्यय से है—राजजनोचित भोज्य सामग्री का अभिधायक है। बन में भूमि ही शय्या हो गी, वल्कल ही परिधान हों गे और कन्द-मूल ही वहाँ भोजन हो गा। पहले उद्देश्य, तब विधेय। यदि उपमान-उपमेय भाव हो, रूपक हो, तो फिर क्रम बदल जाए गा। विरह में कहा जा सकता है—'शय्या काँटों से भरी भूमि है अब, भोजन विष है और भवन बन है।' यहाँ शय्या-आदि में कंटकाकीर्ण-भूमि आदि का आरोप है; ठीक है। यहाँ इस क्रम को उलट नहीं सकते। 'मीरा ने कहा–'लाओ अमृत है विष'। यह प्रयोग गलत है। विष प्रकृत है, जो कि मीरा के सामने लाया गया है। उसे वे अमृत के समान समझ कर ग्रहण कर रही हैं—

विष में अमृत का आरोप है। इस लिए पहले 'विष' का प्रयोग होना चाहिए, उस के बाद 'अमृत' का। 'लाओ, विष अमृत है' ठीक हो गा। वामन भगवान् के लिए—

'जिस की गृहिणी लक्ष्मी, वह भी कहीं कुछ माँगने के लिए लघुता प्राप्त करे; यह विडम्बना!' यहाँ 'लक्ष्मी जिस की गृहिणी' यों पद-प्रयोग चाहिए। परन्तु—

'उस की स्त्री लक्ष्मी है। घर सँभाल लिया।' यहाँ 'लक्ष्मी' का पर-प्रयोग उचित है। किसी पितृभक्त के वाक्य में—'नारायण हैं मेरे पिता' ठीक नहीं। वह अपने पिता को ही नारायण समझ रहा है; इस लिए—'पिता मेरे नारायण हैं' प्रयोग होना चाहिए। हाँ, कोई भगवान् का अनन्य भक्त कह सकता है—'नारायण हैं मेरे पिता'। यहाँ 'नारायण' में 'पिता' का आरोप है।

गुरुता आदि से पदों का क्रम-भेद

पदों की अपनी बनावट से भी पूर्वापर प्रयोग भाषा ग्रहण करती है। 'स्त्री' में एक ही स्वर है, 'पुरुष' में तीन हैं। 'लघु' का पूर्व प्रयोग होता है, 'गुरु' का उस के अनन्तर। वाक्य में या द्वन्द्व आदि समासों में 'स्त्री' का पूर्व प्रयोग हो गा—'क्या स्त्री, क्या पुरुष, सभी भीड़ में पड़ कर बेहाल हो गए।' यहाँ 'क्या पुरुष, क्या स्त्री' ठीक न रहे गा। अन्वय-बोध में कोई बाधा पड़ती हो, या अर्थ-भ्रम होता हो; सो बात नहीं है। केवल बोलने में अच्छा नहीं लगता। लघुता से गुरुता की ओर जाए, तो अच्छा लगता है; पर गुरुता से लघुता की ओर जाना भला नहीं! 'नर' तथा 'नारी' में ('स्त्री-पुरुष' का) व्यतिक्रम है। 'नर' में दो ही मात्राएँ हैं; 'नारी' में चार। इस लिए पहले 'नर' का प्रयोग हो गा, फिर 'नारी' का। 'स्त्री-पुरुष' की तरह 'नारी-नर' न हो गा। 'अमीर' और 'गरीब' में समान स्वर हैं, वजन भी बराबर है। परन्तु 'गरीब' के 'ग' में एक व्यंजन है, एक स्वर है; जब कि 'अमीर' का आद्य अक्षर 'अ' केवल स्वर है। इसी लिए 'अमीर-गरीब' हो गा, 'गरीब-अमीर' नहीं। 'अमीर' के पूर्व प्रयोग में और कारण यहाँ (श्रेष्ठता आदि) भी हो सकता है। 'विषमप्यमृतं भवेत् क्वचित् अमृतं वा विषमीश्वरेच्छया'-विधि की विडम्बना! कहीं विष भी अमृत बन जाता है और अमृत भी विष

बन जाता है। यहाँ कविकुलगुरु कालिदास ने 'विष' का पूर्व-प्रयोग किया है, 'अमृत' का उस के अनन्तर। कारण, 'विष' में दो ही स्वर हैं, 'अमृत' में तीन हैं। 'अमृतं वा विषम्' में 'विष' विधेय होने से परतः प्रयुक्त है। 'अमृत-गरल एक-सम जिन के' में 'अमृत' का पूर्व प्रयोग ठीक है। 'आम-इमली' होगा, 'इमली-आम' नहीं। 'आम' में तीन मात्राएँ हैं, 'इमली' में चार।

'जहाँ सुक काग समान, तहाँ—
रहिए नहिं एक निसा कबहूँ'

यहाँ 'सुक' (शुक) का पूर्व-प्रयोग है। 'काग' में तीन मात्राएँ हैं— 'सुक' में दो ही ! यहाँ वक्ता के मन में शुक के प्रति अधिक झुकाव भी है। वह शुक के रूप में अपने जैसे विद्वानों को उपस्थित कर रहा है। इसी लिए 'सुक' का पूर्व प्रयोग है। वैसे भी 'शुक' अभ्यर्हित है। 'पिक-काक' की जगह 'काकपिक' न हो गा; पर 'बक-हंस' चलता है। 'हंस' में तीन मात्राएँ हैं, 'बक' में दो ही। अभ्यर्हित होने से 'हंस-बक' भी कहेंगे।

स्वरों का आपस में भी ध्यान रखा जाता है। 'अठे-उठे' (राजस्थानी) को 'उठे-अठे' न हो गा। पहले कंठ (अ), तब ओष्ठ (उ) का नंबर है। 'इधर-उधर' में भी वही बात है। पहले 'इ', फिर 'उ'। य, र, ल, व, यों वर्ण-माला है। इस लिए 'यहाँ-वहाँ' होता है; उलटे 'वहाँ-यहाँ' नहीं। 'जहाँ-तहाँ' में 'ज' के बाद 'त' का क्रम है। 'देख-भाल' में 'भा' की स्थिति बाद में है; पर 'लड़ना-झगड़ना' में 'ल' का पूर्व-प्रयोग होता है, इस लिए कि 'झगड़ना' में वजन बहुत ज्यादा है। 'पिता' और 'माता' में 'माता' का दर्जा ऊँचा है; इस लिए 'माता-पिता' 'जननी-जनक' प्रयोग होते हैं। 'युधिष्ठिर' में अधिक स्वर हैं, 'अर्जुन' में कम; परन्तु 'युधिष्ठिर' का प्रयोग पहले हो गा—'युधिष्ठिर और अर्जुन वहाँ से चले गए।' 'अर्जुन और युधिष्ठिर' न हो गा; क्योंकि 'युधिष्ठिर' बड़े हैं, अभ्यर्हित हैं। द्वन्द्व-समास में भी इसी क्रम-व्यवस्था का ध्यान रखना होता है।

पदों का पूर्वापर-प्रयोग करने में अर्थ पर भी ध्यान रखना होता है। 'सोना-चाँदी' में 'सोना' अभ्यर्हित होने के कारण पूर्व प्रयुक्त है। 'ताँबा' तथा 'पीतल' समगुरु शब्द हैं; परन्तु वर्णव्यवस्था के अनुसार 'त' पहले और 'प' बाद में आए गा—'ताँबा-पीतल'।

'रघु ने अपने रत्न तथा सोना-चाँदी आदि सब कुछ दान कर दिया' यहाँ 'रत्न' का पूर्व प्रयोग 'अर्थ' की दृष्टि से ठीक नहीं है। 'सोना-चाँदी' से 'रत्न' ज्यादा कीमती चीज है। इस लिए उस का प्रयोग सब के अन्त में होना चाहिए—'सोना-चाँदी और रत्न-राशि'। सोना-चाँदी ही नहीं, रत्न तक दे डाले।

'तुम्हारा हृदय वज्र है, पत्थर है' यहाँ 'वज्र' का पूर्व नहीं, पर-प्रयोग चाहिए—'पत्थर है, वज्र है'। नीचे से ऊपर बढ़ना चाहिए। 'वज्र' कह दिया, तब 'पत्थर' कहाँ रहा! क्रम-विकास से—'पत्थर है, वज्र है' कहना ठीक। इसी तरह 'तुम्हारी बातें सुधा और द्राक्षा से भी अधिक मीठी हैं' यहाँ 'द्राक्षा और सुधा' चाहिए। 'सुधा' कह कर 'द्राक्षा' कहना ठीक नहीं। अर्थ बड़ी चीज है। यहाँ शब्द-संबन्धी वह 'गुरु-लघु' वाली व्यवस्था भी दब जाती है। 'तुम्हारा हृदय पत्थर है, वज्र है' में 'पत्थर' अधिक वजन रखता है; फिर भी इस का पूर्व-प्रयोग हो गा। 'यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ आने-जाने में उसे दो घंटे लग गए'। शब्द की दृष्टि से 'आने-जाने' ठीक; परन्तु शब्द और अर्थ में अर्थ बलवत्तर होता है, इस लिए 'जाने-आने' में चाहिए—'यहाँ से वहाँ (जाने में), वहाँ से यहाँ (आने में')। इन सब बातों का व्याकरण से वैसा संबन्ध नहीं है। प्रसंगप्राप्त चर्चा है।

व्याकरण की दृष्टि से 'वचन' आदि का भी ध्यान पदों के पूर्वापर-प्रयोग में नियामक होता है—

"वहाँ आज हत्याओं तथा नजरबन्दी का जोर है"

बहुवचन को प्रयोग अन्त में होना चाहिए—'नजरबन्दी तथा हत्याओं का'। वैसे भी—अर्थ की दृष्टि से—'हत्या' का पर-प्रयोग ठीक है। नजर-बन्दी तो मामूली चीज है, हत्या को देखते। नजरबन्दी ही नहीं, हत्याओं का भी जोर है। हत्या से ज्यादा भयानक नजरबन्दी नहीं है।

आवश्यक पदों का प्रयोग

वाक्य में जितने पद आवश्यक हों, उन से न एक कम, न एक अधिक होना चाहिए। आदमी के एक ही हाथ हो, तो काम ठीक न चले गा और तीन हों, तो भद्दे लगें गे! जिस पद की उपस्थिति स्वतः किसी कारण से हो जाए, उस का प्रयोग भी 'अधिक' ही समझा जाए गा। कर्ता, कर्म

आदि—तथा 'संबन्ध' के संबन्ध में भी यही बात है। क्रिया के रूप से ही जहाँ कर्ता की निश्चित और असन्दिग्ध उपस्थिति स्वतः हो जाए, वहाँ शब्दशः उस का प्रयोग एक फालतू ही चीज हो गी—

१—जाओ और तुरन्त उसे साथ ले आओ

२—जा, दूध पी आ

३—कलकत्ते जाना, तो 'महाजातिसदन' अवश्य देखना

इन प्रयोगों में क्रिया के रूप से ही कर्ता ('तुम' 'तू' और 'तुम') स्वतः सामने आ जाते हैं ; इस लिए 'तुम जाओ' 'तू जा' 'तुम जाना' इस तरह पृथक् कर्ता-निर्देश अनावश्यक है। इसी तरह—

'जाऊँ गा, तो आप से पहले मिल लूँ गा'

यहाँ 'मैं' कर्ता स्वयं उपस्थित हो जाता है। 'जाऊँ गा' आदि का कर्ता 'मैं' के अतिरिक्त और कोई हो ही नहीं सकता। जहाँ ऐसी बात न हो, वहाँ स्पष्टतः कर्ता का निर्देश करना ही होता है। 'जाता है' 'जाते हैं' आदि क्रियाओं के कर्ता स्वतः उपस्थित नहीं होते; क्योंकि इन के अनन्त कर्ता हो सकते हैं। 'जाऊँ गा' की तरह (इसी 'पुरुष' का बहुवचन रूप) 'जाएँ गे' कर दें, तो 'हम' की उपस्थिति न हो गी; क्योंकि अन्य पुरुष के भी बहुवचन में यही रूप क्रिया का होता है।

हाँ, यदि कर्ता या कर्म पर कुछ जोर देना हो, तो अवश्य—

'मैं कहता हूँ कि तू चुप हो जा'

यहाँ 'मैं' से कर्ता का बल ध्वनित होता है और मध्यम पुरुष ('तू') कमजोर जान पड़ता है। कम से कम वक्ता का तात्पर्य यही है। 'मैं' और 'तू' हटा लें, तो यह विशेषता उड़ जाए गी।

'कहानी कहता हूँ, चुप हो जा'

एक साधारण प्रयोग है।

इसी तरह 'कर्म' कारक—

'जब राम बोलता है, फूल से झड़ते हैं'

यहाँ 'बोलना' क्रिया (सकर्मक होने पर भी) अकर्मक रूप से प्रयुक्त है—कर्म ('शब्द' आदि) का प्रयोग नहीं किया गया है; क्योंकि उस की उपस्थिति स्वयं ही सामर्थ्य से हो जाती है। शब्द ही बोला जाता है। जो बोला जाए, शब्द ही है। इस लिए 'जब राम शब्द बोलता है' ऐसा प्रयोग भद्दा लगे गा। हाँ, 'जब राम बातें करता है' में 'बातें' ठीक है। 'करने' के न जाने कितने कर्म हो सकते हैं। 'बातें करता है'—बोलता है।

कोई विशेषण देना हो, तब अवश्य—

'मीठे वचन बोल कर सब को, बिना मोल तू मोल ले रे'

यहाँ 'वचन' कर्म कारक का प्रयोग हो गा ही, 'मीठे' विशेषण देने के लिए। 'मोल ले'—खरीद ले। यदि क्रिया-विशेषण के रूप में मीठापन आ जाए, तब फिर जरूरत नहीं—

'मीठा बोल, पूरा तोल'

'मीठा' यहाँ क्रिया-विशेषण है।

'मेघ बरसता है, तब अन्न होता है' यहाँ कर्म (पानी) का प्रयोग अनावश्यक है। 'जब मेघ पानी बरसता है' कहें, तो भद्दा लगे गा; क्योंकि मेघ पानी ही तो बरसता है।

करण—'मा बच्चे को भोजन कराती है'। यहाँ करण ('हाथ') स्वतः आ जाता है। इस लिए 'मा बच्चे को हाथ से' (या 'अपने हाथ से') कहना अच्छा नहीं लगता। परन्तु विशेष स्थल में—

"घर में शतशः सेवक-सेविकाओं के होते हुए भी वह अपने बच्चों को अपने हाथों खिलाती-पिलाती है"

यहाँ 'अपने हाथों' करण कारक का उचित प्रयोग है। 'हाथों' के आगे 'से' विभक्ति नहीं; क्योंकि उस की उपस्थिति स्वतः हो जाए गी। 'हाथों' के आगे यहाँ ('खिलाती-पिलाती है' क्रिया की उपस्थिति में) 'से' विभक्ति ही लग सकती है, अन्य कोई ('में' 'को' आदि) नहीं।

अधिकरण 'मेघ बरसता है, तो हरियाली ही हरियाली चारो ओर दिखाई देती है।' अधिकरण 'पृथ्वी' आदि शब्दों की जरूरत नहीं; क्योंकि

पृथ्वी पर ही मेघ बरसता है। 'जब मेघ पृथ्वी पर बरसता है' ठीक न रहे गा। परन्तु सविशेषण—

"जब मेघ सूखी धूसर पृथ्वी पर जल-राशि उड़ेलता है, तो वह हरी-भरी हो जाती है।" यहाँ 'पृथ्वी' अधिकरण का देना ठीक, 'सूखी-धूसर' विशेषणों के लिए।

'भैंसे को कमल के सौरभ-सौन्दर्य से क्या! वह तो तटवर्ती कीचड़ में लोट कर ही आनन्द लेता है!' यहाँ 'भेदक' ('तालाब' आदि) का प्रयोग आवश्यक नहीं है। 'कमल' और 'कीचड़' वहीं की चीजें हैं।

इसी तरह सर्वत्र समझिए। 'शकुन्तला जल से पौधों को सींच रही थी' यहाँ 'जल से' अनावश्यक है। 'उस झरने के जल से' यहाँ 'जल से' ठीक है। किसी झरने का वर्णन है। उसी झरने से जल ला ला कर पौधों का सिंचन। यदि 'सींचने' का प्रयोग न हो, क्रियान्तर से वह बात कही जाए, तब 'जल' का प्रयोग हो गा ही—'शकुन्तला पौधों में जल दे रही थी'।

पदों के न्यूनाधिक का विवेचन हम आगे पर्याप्त विस्तार के साथ करेंगे।

'भेदक' का प्रयोग

वाक्य में 'भेदक' का प्रयोग भी सावधानी से करना चाहिए। 'आप के आज्ञानुसार' आदि गलत प्रयोग लोगों ने चला दिए थे, जो अब तक जहाँ-तहाँ देखे जाते हैं। यदि यह सप्रयत्न विकार न लाया जाए, तो हिन्दी का मार्ग बहुत सरल है।

पहले बताया जा चुका है कि भेद्य के अनुसार भेदक और विशेष्य के अनुसार विशेषण रहता है। यह भी बताया जा चुका है कि 'भेदक' तथा 'विशेषण' में भेद क्या है। यदि 'भेदक' से भी कोई विशेषता प्रकट होती है, तो उसे भी 'विशेषण' कहें गे। ऐसा नहीं, तो 'भेदक' मात्र। 'राम का घर' 'राम की धोती' 'राम के जूते' जैसे प्रयोगों में 'राम का' 'राम की' 'राम के' पद 'भेदक' हैं। घर, धोती, जूते 'भेद्य' हैं। इन भेद्यों के ही अनुसार भेदक के पु०—स्त्री० तथा एकवचन-बहुवचन रूप हैं। इसी तरह 'तेरा लड़का' 'तेरे लड़के' 'तेरी लड़की' आदि में 'तेरा'—'तेरे'—'तेरी' भेदक

पद हैं। विशेषण की ही तरह ये भेदक भी व्यवच्छेदक होते हैं; पर किसी विशेषता के कारण नहीं, संबन्ध-विशेष के कारण। यदि संबन्ध के साथ-साथ विशेषता भी विवक्षित हो, तो फिर उस 'भेदक' को 'विशेषण' भी कह सकें गे; यह सब पहले कहा जा चुका है।

यहाँ तो 'आप की आज्ञानुसार' और 'आप के आज्ञानुसार' की चर्चा थी। 'आप की आज्ञानुसार' शुद्ध प्रयोग है; परन्तु लोगों ने इसे गलत समझ कर 'आपके आज्ञानुसार' लिखना शुरू कर दिया था! यह मति-भ्रम इस तरह हुआ कि 'अनुसार' को लोगों ने पुल्लिङ्ग संज्ञा-शब्द समझ लिया और 'आज्ञा' के साथ उस का समास (तत्पुरुष) होने पर भेद्य ('अनुसार') के अनुसार 'आप के' पुल्लिङ्ग करने लगे! जैसे 'आप के लतापुष्प' उसी तरह 'आप के आज्ञानुसार' और 'अपने इच्छानुसार' लोग समझ बैठे! 'आप का पदानुसरण' 'आप का विवेचना-प्रकार' आदि में 'का' ही रहे गा; क्योंकि भाववाचक संज्ञाएँ 'अनुसरण' तथा 'प्रकार' समासगत भेद्य हैं। भाववाचक संज्ञा में नैसर्गिक एक-वचन होता है।

'आप की आज्ञानुसार' और 'अपनी इच्छानुसार' शुद्ध प्रयोग हैं; क्योंकि 'आज्ञा' यहाँ सामने है। 'अनुसार' अव्यय है; संज्ञा नहीं है। 'अनुसरण' अवश्य संज्ञा है। 'आप का अनुसरण मैं करूँ गा' की जगह 'आप का अनुसार में करूँ गा' प्रयोग नहीं होता। सो, 'आज्ञानुसार' 'इच्छानुसार' आदि में हिन्दी का 'अव्ययीभाव समास' है और इस अव्ययीभाव में पूर्व पद के अनुसार भेदक रहे गा। यानी यहाँ 'आज्ञा' भेद्य है। इसी के अनुसार भेदक रहे गा—'आप की आज्ञानुसार' 'तुम्हारी इच्छानुसार'। यदि 'अनुसार' का समास किसी पुल्लिङ्ग शब्द से कर दें, तो भेदक उसी के अनुसार पुल्लिङ्ग हो जाए गा—

आप के वचनानुसार-आप के वचन के अनुसार

तेरे कथनानुसार-तेरे कथन के अनुसार

आप की आज्ञानुसार-आप की आज्ञा के अनुसार

अपनी इच्छानुसार-अपनी इच्छा के अनुसार

आप के वचनानुसार-आप के वचन के अनुसार

तेरे कथनानुसार-तेरे कथन के अनुसार

यानी भेद्य के अनुसार भेदक 'आप की' 'आप के' आदि हैं। भेद्य समासगत 'आज्ञा' तथा 'वचन' आदि हैं। 'आप के वचनानुसार' में 'के' बहुवचन नहीं; भेद्य ('वचन') के अनुसार एकवचन ही है; परन्तु 'वचन के अनुसार'-'वचनानुसार' है। विभक्ति समास में भी दिखाई दे रही है; इस लिए एकवचन में भी 'आ' को 'ए' हो गया है-'आप के वचनानुसार।' 'लड़के के बाप से पूछो' में जैसे एकवचन 'का' को 'के' हो गया है, उसी तरह—'आप के वचनानुसार' है। 'क'-'र' आदि तद्धित-सम्बन्ध प्रत्यय हैं; इसी लिए भेद्य के अनुसार बदलते हैं। परन्तु 'अनुसार' संज्ञा नहीं, अव्यय है; इसी लिए इस के योग में सदा 'के' 'रे' 'ने' विभक्तियाँ आएँ गी; क, र, न सम्बन्ध प्रत्यय नहीं—

आप की आज्ञा के अनुसार काम हो गा
आप की आज्ञाओं के अनुसार सब काम हों गे
मैं अपनी इच्छा के अनुसार लता लगाऊँ गा
मैं अपनी इच्छाओं के अनुसार सब करूँ गा

'अनुसार' न एकवचन है, न बहुवचन; अव्यय है। आगे कोई विभक्ति भी वैसी नहीं; फिर भी सर्वत्र 'के' है। यदि संज्ञा होती, तो 'क' प्रत्यय आता—

'आप के वचन का अनुसरण'

अव्यय के योग में सम्बन्ध-प्रत्यय नहीं, सम्बन्ध-विभक्तियों का प्रयोग होता है।

मा के अनुसार लड़का है।
मा के इधर-उधर बच्चा घूम रहा है
मा के आगे बच्चा है।
मा के नीचे आसन है
मा के बगल में छोटी लड़की है
तेरे सामने ही सब कुछ है
हमारे पीछे क्या होगा, नहीं कहा जा सकता।
मेरे पीछे और तेरे पीछे भी संसार रहे गा।

सर्वत्र 'के' 'रे' विभक्तियाँ हैं—एक-रस। इसी तरह 'ने' भी—'अपने ऊपर'—'अपने इधर-उधर' आदि।

सारांश यह कि 'अनुसार' अव्यय को संज्ञा समझने का परिणाम कि 'आप की आज्ञानुसार' आदि को गलत समझ लिया गया और 'आज्ञानुसार' आदि में 'तत्पुरुष' समास समझ कर ('अनुसार' को पुल्लिङ्ग 'भेद्य' मान कर) 'आप के आज्ञानुसार' जैसे गलत प्रयोग लोग करने लगे थे—हिन्दी के बड़े-बड़े विचारक इस भ्रम में पड़ गए थे !

'अर्थ' शब्द भी अव्यय के रूप में आता है—'आप के अर्थ मेरी सब सम्पत्ति है'। इस लिए 'आप की सहायतार्थ' ठीक है – 'आप के सहायतार्थ' नहीं। यदि 'अर्थ' संज्ञा हो, तब 'तत्पुरुष' अवश्य हो गा—'आप के शब्दार्थ ने झमेला पैदा कर दिया' 'आप का फलितार्थ ठीक है'।

प्रयोग के पूर्वापर का विचार

प्रयोग में पूर्वापर-प्रयोग का विचार रखना जरूरी होता है। भेदक और भेद्य का सह-प्रयोग चाहिए। एक 'पत्र' का शीर्षक देखा–'भारत और कोरिया की सन्धि वार्ता'। जान पड़ता है, भारत और कोरिया में झगड़ा था ! कितना भ्रम सम्भव है ! भेद्य-भेदक वाला अंश सदा पहले चाहिए—

'कोरिया की सन्धिवार्ता और भारत'

अब कोई भ्रम नहीं। इसी तरह—

'राम और श्याम के लड़के में झगड़ा हो गया'

यदि 'राम' से झगड़ा हुआ हो, तब तो ठीक, परन्तु 'राम के लड़के' से झगड़ा हुआ हो, तो फिर उपर्युक्त प्रयोग गलत कहा जाए गा। वैसी स्थिति में 'राम' के आगे पृथक् स्वतंत्र 'के' रखना हो गा—'राम के और श्याम के लड़कों में'। या 'लड़के' में। 'राम के लड़के में और श्याम के लड़के में' मतलब निकल जाए गा। 'लड़के' दोनो भेदकों में लग जाए गा।

'क' का प्रयोग अन्यत्र भी भ्रामक कर दिया जाता है। पाकिस्तान और अफगानिस्तान में राजपताका के अपमान को ले कर एक हंगामा खड़ा

हो गया था। इस पर दिल्ली के एक समाचार-पत्र ने मोटा शीर्षक दे कर टिप्पणी दी थी। शीर्षक था—

'दो इस्लामी देशों की टक्कर'

ऐसा आभास कि दो इस्लामी देश मिल कर किसी को टक्कर दे रहे हों! चाहिए था—'दो इस्लामी देशों में टक्कर'।

सो, भेद्य-भेदक का प्रयोग सावधानी से करना चाहिए; यद्यपि इस में कोई उलझन या दिक्कत की बात नहीं है।

अशक्त शब्द

जिस शब्द में अभीष्ट अर्थ देने की शक्ति हो, उसी का प्रयोग करना चाहिए। अशक्त पदों के प्रयोग से भाषा बिगड़ती है। यों तो छोटे बच्चों के टूटे-फूटे अटपटे शब्दो से भी मतलब निकाल ही लिया जाता है और काम चल ही जाता है; परन्तु शिष्ट भाषा में पदों का गुम्फन विशेष प्रकार का होता है। कोई पद ऐसा न होना चाहिए, जो अभीष्ट अर्थ देने में अशक्त हो। उदाहरणार्थ 'कितने ही प्रान्तों की हिन्दी साहित्यिक भाषा है' इस के लिए 'हिन्दी अन्तःप्रान्तीय साहित्यिक भाषा है' लिखना गलत हो गा। 'अन्तः-प्रान्तीय' शब्द उस अर्थ के देने में असमर्थ है। 'अन्तर-प्रान्तीय' चाहिए। "प्रान्त के भीतर का यह प्रश्न है" इस के लिए—'यह तो अन्तःप्रान्तीय प्रश्न है' कह सकते हैं। 'इंटर यूनिवर्सिटी' के अर्थ में 'अन्तर्विश्वविद्यालय' गलत है; 'अन्तर-विश्वविद्यालय' चाहिए।

"बलिया में पचास आदमी भूखों मरे" शीर्षक दे कर एक अख-बार ने विवरण दिया था कि अन्नाभाव से पचास की मृत्यु हो गई। तब 'भूखों मरे' गलत प्रयोग है—'भूख से मरे' चाहिए। 'भूखों मरना' और चीज है—'भर पेट रोटी न मिलना'। 'भूखों मर गए' हो, तब भी काम चल जाए गा।

इसी तरह 'हिन्दी भारत की आन्तर-भाषा है' यहाँ 'आन्तर' शब्द अभीष्ट अर्थ देने में असमर्थ है। 'राष्ट्रभाषा' की जगह अहमदाबादी 'नव जीवन' तथा कई अन्य पत्र 'आन्तर-भाषा' का प्रयोग करने लगे हैं; परन्तु इस 'आन्तर' शब्द से वह अर्थ नहीं निकलता, जिस के लिए इस का प्रयोग

किया जा रहा है। 'आन्तर भाषा' का अर्थ हुआ—'अन्दर की भाषा'—'भीतर की भाषा'। क्या मतलब ? 'अन्तर-प्रान्तीय भाषा' तो हिन्दी है ही, साहित्यिक दृष्टिकोण से; परन्तु व्यवहार-दृष्टि से तथा केन्द्रीय सरकार की भाषा होने के कारण यह 'राष्ट्रभाषा' है—समूचे राष्ट्र की भाषा, जहाँ बँगला, गुजराती, मराठी आदि अपनी-अपनी साहित्यिक तथा प्रादेशिक सरकारों की व्यवहार भाषाएँ पृथक्-पृथक् हैं, वहाँ भी हिन्दी बोली-समझी जाती है; इस लिए 'राष्ट्रभाषा' है। 'बँगला' 'गुजराती' आदि प्रादेशिक भाषाएँ भी राष्ट्र की भाषाएँ हैं—राष्ट्रीय भाषाएँ हैं, परन्तु प्रदेश-विशेष से ही उनके नाम हैं। 'हिन्द'-'हिन्दी' प्रादेशिक नाम नहीं हैं। उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्य भारत आदि प्रदेशों की यह साहित्यिक भाषा भी है; इस अर्थ में यह 'अन्तर-प्रान्तीय' भाषा है। परन्तु 'आन्तर भाषा' का तो कोई अर्थ ही न हुआ ! 'आन्तर' का जो अर्थ है, वह यहाँ अभिप्रेत नहीं। सो, इस तरह के पद वाक्य में न देने चाहिए। जब 'अन्तर्' का खण्डन 'अन्तर' के अर्थ में हो गया, तब यह 'आन्तर' चलाया जाने लगा।

इसी तरह भाषान्तर में (अर्थान्तर में) प्रयुज्यमान कोई शब्द अन्यत्र उसी अर्थ में आँखें बन्द कर के न प्रयुक्त कर देना चाहिए। संस्कृत में 'अभियुक्त' शब्द आदरणीय अर्थ में भी आता है—'यच्चाहुरभियुक्ताः'—जैसा कि बड़े लोगों ने कहा है। परन्तु हिन्दी में 'अभियुक्त' कहते हैं 'मुलजिम' को, जिस पर कोई अपराध-अभियोग लगाया गया हो। इस लिए हिन्दी में किसी आदरणीय के लिए 'अभियुक्त' कहना कैसा रहे गा ? पत्र-पत्रिकाओं के 'सम्पादक' को किसी-किसी प्रादेशिक भाषा में 'तंत्री' कहते हैं; परन्तु हिन्दी में यह शब्द वह अर्थ देने में अशक्त है। यहाँ 'सम्पादक' के लिए 'तंत्री' न लिखा जाए गा।

संस्कृत में 'सम्भावित' का प्रयोग 'प्रतिष्ठित' के अर्थ में होता है—'सम्भावितस्य चाकीर्तिः।' परन्तु हिन्दी में यह शब्द इस अर्थ में न चले गा।

अप्रसिद्धार्थ शब्दों का भी प्रयोग ठीक नहीं रहता। 'आकाश को छूते हैं जहाँ ताड़ के पेड़' को 'विष्णुपद छूते हैं जहाँ ताड़ के पेड़' न कहा जाए गा। हिन्दी-कविता में 'विष्णुपद' आकाश के लिए प्रयुक्त अवश्य हुआ है; परन्तु प्रसिद्ध नहीं है। 'विष्णुपद' का प्रसिद्ध अर्थ 'विष्णु भगवान् के चरण' ही सब समझें गे।

'राजदूत' के लिए कुछ पत्र-सम्पादक 'निःसृष्टार्थ' शब्द लिखने लगे हैं, जो कि हिन्दी में अप्रसिद्ध है। सीधा 'राजदूत' चाहिए; कम शक्ति रखने वाला 'उप राजदूत'। सब राजदूतों के ऊपर कोई पद बनाया जाए, तो 'महा-राजदूत'। 'निःसृष्टार्थ' हिन्दी में ठीक नहीं। इसी तरह, इसी तरह के पत्र (दिल्ली के 'हिन्दुस्तान' आदि) 'राजनैतिक' के अर्थ में 'राजनयिक' कुछ दिन से लिखने लगे हैं। 'नीति' तथा 'राजनीति' हिन्दी के सुगृहीत शब्द हैं। इन की जगह 'नय' तथा 'राजनय' चलाना (और सो भी समाचार-पत्रों में) क्या अर्थ रखता है ? पाठक झमेले में पड़ते हैं। हिन्दी जैसी सरल भाषा को ऐसे शब्दों से लोग अटपटी बना रहे हैं।

इसी तरह 'आधारित' के अर्थ में 'आधृत' अप्रसिद्ध है। हिन्दी में ('सुविचारित तथ्य' की तरह) 'हमारा संगठन महात्मा जी के सिद्धान्तों पर आधारित है' सब समझते हैं।

काशी का एक पत्र आज कल 'आधृत' चला रहा है–'यह तो घटनाओं पर आधृत है !' इस हिन्दी को कोई तभी समझ सकता है, जब बारह वर्ष तक काशी में संस्कृत पढ़े ! साधारण जन 'आधारित' मजे से समझ लेते हैं। हाँ, 'उपकृत' 'विकृत' आदि शब्द अवश्य हिन्दी में गृहीत हैं। भाषा की आवश्यकता, प्रकृति, प्रवाह और जनता या पाठकों का ध्यान रख कर ही शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। गोस्वामी तुलसीदास ने उचित शब्दों का प्रयोग किया है; इसी लिए उन का 'रामचरित–मानस' वैसा महत्त्व रखता है।

ग्राम्यता और अश्लीलता

शब्दों का प्रयोग करते समय ग्राम्यता और अश्लीलता जैसे दोषों से भी बचना चाहिए। कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिन्हें साहित्य में स्थान मिल जाता है और कुछ इस से भिन्न–जनता के साधारण व्यवहार में ही आते हैं। साहित्य सार्वदेशिक होता है; अतएव वहाँ ऐसे शब्दों का ही प्रयोग होना चाहिए, जो शिष्ट–गृहीत हों, साहित्य में समादृत हों। यह दूसरी बात है कि आवश्यक शब्द हम जन–बोलियों से लें। यदि किसी अर्थ के लिए कोई शब्द जरूरी है, तो कहीं से ले सकते हैं; लिया ही जाता है। जैसे–जैसे किसी भाषा का तथा उस के साहित्य का क्षेत्र बढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे उस के लिए पद–प्रयोग में संकुचित क्षेत्र से आगे बढ़ना पड़ता है। हिन्दी (जो अब राष्ट्रभाषा है) किसी समय (मेरठ के इधर–उधर) दो–तीन जिलों की ही भाषा थी। उस

समय उसी छोटे से भूभाग के जन-प्रचलित शब्द इस की पूँजी थे। आगे इसे पूरे महान् प्रदेश ने साहित्यिक भाषा के रूप में ग्रहण कर लिया। उत्तर प्रदेश से फिर उसके चारो ओर बिहार, राजस्थान, विन्ध्य प्रदेश, मध्य प्रदेश हिमाञ्चल आदि ने भी इसे अपनी साहित्यिक भाषा बना कर राष्ट्रभाषा होने का रास्ता साफ कर दिया। आज तो यह आसेतु-हिमाचल—सम्पूर्ण राष्ट्रकी-साधारण भाषा है और केन्द्रीय सरकार की व्यवहार-भाषा भी है। ऐसी स्थिति में केवल उत्तर प्रदेश या बिहार आदि की जन-बोलियों में ही प्रचलित शब्दों की भरमार यदि हिन्दी में की जाए, तो दूसरे प्रदेश के लोगों के लिए दुर्बोध हो जाए गी। हाँ, अपने ही प्रदेश के लिए, या प्रदेश के किसी अवान्तर भाग के लिए कोई कुछ लिखे, तो उस में स्थानीय बोलियों के शब्द मजे से दे सकता है—विशेषतः कविता-कहानी आदि में। परन्तु सार्वदेशिक चीज में तो सार्वदेशिक ही शब्द देने ठीक होंगे। हम इन प्रादेशिक या स्थानीय बोलियों के शब्दों को ही 'ग्राम्य' शब्द से यहाँ ग्रहण कर रहे हैं। जहाँ का जो शब्द प्रथमतः हिन्दी में गृहीत है, वह 'ग्राम्य' नहीं रहा, उसे सम्पूर्ण राष्ट्र की 'नागरिकता' मिल गई।

यही स्थिति पहले भी रही है। 'शिर' का तद्भव रूप 'सिर' हिन्दी-साहित्य ने ग्रहण किया; परन्तु अपना—प्राकृत-अपभ्रंश की परम्परा से प्राप्त—'मूड़' शब्द नहीं लिया। यह इसी लिए कि संस्कृत 'शिर' का तद्भव होने के कारण 'सिर' सर्वत्र लोग आसानी से समझने लगे और प्रदेश-विशेष में व्यवहृत 'मूड़' शब्द अन्यत्र दुर्बोध जान पड़ा। परन्तु गँवारूपन प्रकट करने के लिए—कविता आदि में—'मूड़' शब्द लाया गया—'मूड़ मुड़ाय भए संन्यासी'! निन्दात्मक रुख है; इस लिए ग्राम्य शब्द फबता है। इस की जगह 'सिर मुड़वाय' न ठीक रहे गा। परन्तु अन्यत्र 'सिर' ही चले गा। ब्रजभाषा तथा अवधी आदि के साहित्य में 'सीस'—'सीस मुकट, कटि काछनी'।

'मूड़ मुकट' न हो गा; यद्यपि इस में अनुप्रास भी बन जाता है। कविवर विहारी लाल के जनपद (बुंदेल खण्ड-विन्ध्य प्रदेश) में यद्यपि 'मूड़' शब्द ही प्रचलित है; तो भी साहित्य में उन्हों ने उसे नहीं दिया। ब्रज में 'सवेरे' को 'धौताएँ' कहते हैं; परन्तु ब्रजभाषा-साहित्य में यह शब्द गृहीत नहीं, सर्वत्र 'प्रात' तथा 'सबेरे' आदि दिए गए हैं। ब्रज में 'बगदना' क्रिया प्रसिद्ध है, 'वापस लौटने' के अर्थ में। परन्तु साहित्य में इसे भी नहीं लिया गया।

इसी तरह शतशः ब्रज-प्रसिद्ध शब्द ब्रजभाषा-साहित्य से दूर रखे गए हैं और उन की जगह अपेक्षाकृत व्यापक शब्द दिए गए हैं। ब्रज में 'मलूक' विशेषण चलता है; पर ब्रजभाषा-साहित्य में यह नहीं लिया गया, 'सुन्दर' आदि ही चलते हैं। मेरठ के इधर-उधर 'झट' के अर्थ में 'सड़देसी' अव्यय प्रसिद्ध है; परन्तु हिन्दी ने 'झट' रखा, छोटा-सा शब्द, जो संस्कृत 'झटिति' का तद्भव होने के कारण सर्वत्र सरलता से समझा जा सकता है। सो, साहित्य में अनावश्यक ग्राम्य शब्दों से बचना चाहिए। संस्कृत के भी अनावश्यक क्लिष्ट शब्द न देने चाहिए। 'इन्द्र' के लिए 'शुनासीर' या 'विडौजा' जैसे शब्द किस काम के ? आकाश के लिए कविता आदि में 'अम्बर' आ जाता है; परन्तु अधिक प्रसिद्धि 'वस्त्र' के ही अर्थ में है। तो भी श्लेष में—'जाड़ा ऐसा है कि सूरज भी आठ बजे तक अम्बर में ही मुँह छिपाए रहता है'—यो 'आकाश' के लिए 'अम्बर' दिया जाता है। कपड़े के भीतर लोग मुँह छिपाए पड़े रहते हैं न ! परन्तु साधारण अवस्था में 'आकाश' ही आए गा, न 'वियत' न 'विष्णुपद' और न 'अम्बर'। यही स्थिति अन्य शब्दों की है।

अश्लीलता का आभास देने वाले शब्दों से भी बचना चाहिए। परन्तु वैसी कविता आदि में ऐसे शब्द भी लोग देते हैं—'इक्यावन तो ले चुका, शंकर का हथियार' और '···तियों की कमी नहीं गालिब, एक ढूँढ़ो, हजार मिलते हैं।' परन्तु साधारणतः ऐसे शब्दों से बचना चाहिए। 'चूने' की जगह 'झिरना' या 'रिसना' क्रिया चले, तो अच्छा—'बालटी कहीं फूट गई है—पानी झिरता है' (या 'रिसता है')। अधिकरणकर्तृक—'बालटी झिरती है, या 'रिसती है'। परन्तु यह सब अन्य विषय है। वाक्य-गठन का प्रकरण है; इस लिए इतना निवेदन किया गया। संस्कृत से या किसी दूसरी भाषा से जब हिन्दी कोई शब्द ग्रहण करती है, तो लिङ्ग-वचन आदि की व्यवस्था अपनी रखती है। संस्कृत में 'दम्पति' का द्विवचन प्रयोग 'दम्पती' होता है; पर हिन्दी में 'दम्पति' मूल शब्द चलता है—संस्कृत की विभक्ति अलग कर के। 'चार फुट लंबा' बोला जाता है, 'चार फीट' नहीं।

विशेषणों का प्रयोग

जैसा कि पहले कहा गया है, उद्देश्यात्मक विशेषण पहले आता है, और विधेयात्मक बाद में। कभी-कभी विभिन्न विशेषण भी आपस में विशेष्य-

विशेषण भाव ग्रहण कर लेते हैं और तब उन का 'कर्मधारय' समास भी हो जाता है। वाक्य में भी—'यह मूर्ख चोर है'। 'मूर्ख' विशेषण है; परन्तु यहाँ विशेष्य के रूप में है। ऐसे ही स्थल में, ऐसे ही विशेषणों को लोग 'जाति-वाचक संज्ञा' कह देते हैं। वस्तुतः 'मूर्ख' विशेषण है; परन्तु 'मनुष्य' या 'आदमी' आदि विशेष्य अनावश्यक समझ कर प्रायः नहीं लगाया जाता। अनावश्यक इस लिए कि यह विशेषण पशु-पक्षियों में लग ही नहीं सकता—'सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्'। यानी जब कोई चीज कहीं सम्भव हो, कभी अलग हो (कभी हो, कभी न हो) तभी विशेषण दिया जाता है। 'गरम आग' कहना व्यर्थ; क्योंकि आग सदा ही गरम होती है। 'जलाने वाली आग' कौन बोलता है ? क्या कोई आग नहीं भी जलाती है ? हाँ, बच्चों को ज्ञान कराने के लिए विधेयात्मक रूप से कहा जा सकता है—'आग जला देती है'। साधारणतः आग में ऐसे विशेषण न लगें गे; क्योंकि गरमाहट या जलाने की क्रिया उस से व्यभिचरित नहीं – अलग होने वाली चीज नहीं है। जो सम्भव न हो, वह भी क्या विशेषता ? 'गरम जल' तो कह सकते हैं; पर 'गरम बरफ' नहीं। बरफ कभी गरम न हो गी; सम्भव नहीं। जल बन कर ही गरम हो गी। पशु-पक्षियों में 'मूर्खता' नित्य-प्रसिद्ध है; यद्यपि मनुष्य इन से भी ज्यादा मूर्ख होता है। परन्तु प्रसिद्धि ही तो है। इसी लिए, अव्यभिचरित होने के कारण, पशु-पक्षियों की मूर्खता शब्द का विषय—विशेषण रूप से—नहीं बनती। फलतः 'मूर्ख' विशेषण मनुष्य के लिए ही आता है—'लड़का मूर्ख है'। 'बैल मूर्ख है' नहीं कहा जाता। 'यह मूर्ख चोर है' यहाँ 'मूर्ख' विशेष्य रूप से है और उस का 'विधेय-' विशेषण 'चोर' है। 'चोर' भी विशेष्य बन सकता है—'यह चोर मूर्ख है'। इस उद्देश्य-विधेय भाव को अच्छी तरह समझ कर ही विशेषणों का पूर्वापर प्रयोग करना चाहिए; अन्यथा अर्थ झमेले में पड़ जाए गा—अनर्थ भी हो सकता है।

'समस्त' विशेषण देने में सन्धि सोच-समझ कर करनी चाहिए। 'रामेश्वर' 'कृष्णाश्रम' आदि में जो सन्धियाँ हैं, हिन्दी की प्रकृति को ग्राह्य हैं—सब लोग समझ लेते हैं। परन्तु 'श्रीमच्छंकराचार्य' या 'अन्तारमण' जैसी सन्धियाँ हिन्दी की प्रकृति ग्रहण नहीं करती—'श्रीमान् शंकराचार्य' यों असमस्त पद हिन्दी के अधिक अनुकूल हैं। 'अन्तर्रमण' बुरा लगता है, तो 'अन्तः-रमण' लिख सकते हैं; पर 'अन्तारमण' यहाँ ठीक नहीं।

हम विशेषण की चर्चा कर रहे हैं। 'संसत्सदस्य पं० बालकृष्ण शर्मा' में सन्धियुक्त 'संसत्सदस्य' विशेषण ठीक नहीं। समास तो ठीक; पर सन्धि नहीं ठीक। संस्कृत का नियम है कि 'समस्त' पदों में सन्धि जरूर होनी चाहिए; पर हिन्दी में वैसा नियम नहीं। 'कांग्रेस-अध्यक्ष राजर्षि टंडन'। 'कांग्रेस' तथा 'अध्यक्ष' में समास होने पर भी सन्धि नहीं। 'कांग्रेसाध्यक्ष' बुरा लगता है, जैसे 'वकीलादेश'। 'वकील-आदेश' तो ठीक; पर 'वकीलादेश'? मतलब यह कि समास में हिन्दी सन्धि की अनिवार्यता स्वीकार नहीं करती। 'संसद्' सब समझते हैं; 'संसत्' में गड़बड़ है। इस लिए सन्धि किए बिना 'संसद्-सदस्य' चाहिए। 'संसद-चर्चा' तो स्पष्ट है; ठीक। 'संसच्चर्चा' नहीं ठीक। इसी तरह अन्य शब्दों में स्पष्टता अपेक्षित है। 'विद्या-वागीश' आदि में प्रसिद्ध शब्द 'वागीश' आदि तो यथास्थित चलें गे ही—'विद्या-वाक्-ईश' जैसे प्रयोग नहीं हो सकते।

'समस्त' विशेषणों में विधेयता का भी ध्यान रखना चाहिए। समास या तद्धित आदि में विधेयता दब जाती है। 'रावण, मेरा परिचय यही कि मैं बालि का पुत्र हूँ'। यहाँ 'बालि' पर जोर है। जिस की काँख में तू दबा रहा, उस बालि का मैं पुत्र हूँ। परन्तु समास में—'मैं बालिपुत्र हूँ' वह बात नहीं रही! जोर दब गया। इस लिए, ऐसे स्थल में 'विधेय-'विशेषण के भेदक को समास में दबाना न चाहिए। खुले वाक्य में—'मैं बालि का पुत्र हूँ' ठीक रहे गा। उद्देश्यात्मक विशेषण में भी यही बात है—'रावण, बालि का पुत्र अंगद पाँव जमाए है। कौन आकर उठाए गा?' यहाँ 'बालि का यह पुत्र'अंगद का विशेषण बहुत अच्छा। समास में वह बात न रहे गी—'बालि-पुत्र अंगद' में जोर नहीं।

'सुग्रीव, दशरथ का पुत्र राम कभी असत्य न बोले गा' यहाँ उद्देश्यात्मक विशेषण 'दशरथ का पुत्र' बड़ा महत्त्व रखता है; इस में जोर है। समास कर देने पर—'दशरथ-पुत्र राम' में वह चमत्कार नहीं! 'दशरथ' बँध गया! जोर जाता रहा! इसी तरह संस्कृत तद्धित-विशेषण—'दाशरथि राम असत्य न बोले गा'—यहाँ भी 'दशरथ' बदल गया। 'दशरथ का पुत्र' और चीज है—'दाशरथि' और। यद्यपि अर्थ दोनो का एक ही है; पर कितना अर्थ-भेद! 'राम दशरथ का पुत्र है; मेल करने में कोई धोखा नहीं'-यहाँ 'दशरथ का पुत्र' विधेय रूप से है, जोरदार है। परन्तु यही विधेय

पद–'राम दशरथ–पुत्र है' यों समास में या 'राम दाशरथि है' यों तद्धित से कमजोर पड़ जाता है। 'क' भी मूलतः तद्धित-प्रत्यय ही है; पर विशिष्ट प्रयोग है। भेदक बनाता है। बहुत साफ यह कि यदि भेदक तथा विशेषण पर जोर देना हो, तो समास न करना चाहिए; क्योंकि समास में इनका जोर घट जाता है।

यदि कोई विशेष बात न हो, तब समस्त या तद्धितान्त विशेषण चलते ही हैं–'लताकुसुम'-'वैद्य उपाय' आदि। 'यह मिर्जापुर की लाठी है' और 'यह मिर्जापुरी लाठी है' में जो अन्तर है, समझने की चीज है। 'क' और 'ई' दोनो ही हिन्दी- तद्धित हैं। विशेषता बतलाने के लिए 'ई' अच्छा रहेगा।

विशेषण देने में जातीयता का भी ध्यान रखना चाहिए। शब्दों की भी जाति होती है। एक प्रकृति के शब्दों की एक जाति, दूसरी प्रकृति रखने वालों की दूसरी जाति। किसी जाति का नाम 'हिन्दी', किसी का 'फारसी' और किसी का 'अंग्रेजी'। एक जाति के शब्द दूसरी जाति में भी घुल-मिल जाते हैं। हिन्दी ने अपनी पड़ोसिन (फारसी आदि) जातियों से कुछ 'विशेषण' वर्ग के भी शब्द लिए हैं; परन्तु किसी दूरस्थ (योरपीय आदि) जाति के ऐसे शब्द (विशेषण) नहीं लिए हैं। संज्ञाएँ अवश्य ली हैं; पर विशेषता (विशेषण) या रँग-ढँग निजी। क्रियाएँ तो सर्वथा अपनी हैं ही। परन्तु फारसी आदि से आए विशेषणों का भी प्रयोग एक व्यवस्था से है। उर्दू-शैली से हिन्दी में 'खूबसूरत लड़का' 'खूबसूरत बगीचा' चलता है; परन्तु 'खूबसूरत शिशु' या 'खूबसूरत उद्यान' नहीं चलता। यहाँ 'सुन्दर' विशेषण ही सुन्दर रहे गा। हाँ, 'सुन्दर बागीचा' 'सुन्दर महल' ऐतराज की चीज नहीं।

पदों की पुनरुक्ति

पीछे कहा जा चुका है कि जिस पद की उपस्थिति स्वतः (सामर्थ्य से) हो जाए, उस का प्रयोग एक तरह का पिष्ट-पेषण ही है। कारक आदि के संबन्ध में कही गई यह बात सर्वत्र समान रूप से लागू है। 'जितनी उन्नति हिन्दी ने उस समय की, उतनी उन्नति उस के बाद अब तक नहीं की।' यहाँ दूसरा 'उन्नति' पद ('पुनरुक्त') दोष है ! 'उतनी उस समय के बाद' काफी है। दूसरी 'की' की जगह 'कर सकी' जैसा पद ठीक रहे गा।

'जितने गुण महाराज रघु में थे, उतने गुण अन्य किसी में नहीं देखे-सुने।' यहाँ दूसरी बार 'गुण' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं। 'उतने' के साथ 'गुण' स्वतः आ लगे गा। सीधी बात है।

यह भी ध्यान रखने की चीज है कि दिए गए विशेषण का ठीक अन्वय बैठता है कि नहीं!

"स्वर्गीय भूला भाई देसाई ने 'आजाद हिन्द फौज' के मुकदमे में बचाव-पक्ष की पैरवी बहुत जोरदार की थी।"

यहाँ 'स्वर्गीय' विशेषण का 'पैरवी करने' से संबन्ध नहीं बैठता! कोई स्वर्गवासी यहाँ किसी अदालत में किसी की पैरवी करने नहीं आया करता है! इस लिए 'श्री भूला भाई देसाई' का 'स्वर्गीय' विशेषण गलत है। जब वे पैरवी कर रहे थे, तब 'स्वर्गीय' नहीं थे और 'स्वर्गीय' होने पर कभी किसी अदालत में पैरवी करने नहीं आए।

इसी तरह 'स्वर्गीय वैद्य श्री रामचन्द्र द्वारा स्थापित' आदि में 'स्वर्गीय' गलत प्रयोग है। स्थापित करते समय वे 'स्वर्गीय' न थे। 'वैद्य श्री रामचन्द्र द्वारा स्थापित' लिखना चाहिए। वे अब वर्तमान हैं, या स्वर्गीय हो गए, यह जिज्ञासा पृथक् है।

हाँ, यहाँ 'स्वर्गीय' विशेषण ठीक कहा जा सकता है—"उस समय स्वर्गीय भूला भाई देसाई भी हम लोगों के बीच वर्तमान थे"—यानी जो अब स्वर्गीय हैं, 'उस समय' हमारे बीच वर्तमान थे। इसी तरह 'स्वर्गीय श्री गणेश शंकर विद्यार्थी उस समय कानपुर की सभी हलचलों में आगे रहते थे।' यहाँ भी 'उस समय' से मतलब निकल जाए गा। यदि यह शब्द हटा दें, तो—'स्वर्गीय विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' को जन्म दिया' गलत प्रयोग हो गा। 'विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' को जन्म दिया था, जो अब हमारे बीच नहीं हैं।' ऐसा कुछ कहना चाहिए। विवाह के निमंत्रण-पत्रों में कभी-कभी यह 'स्वर्गीय' शब्द सब से पहले आ कर बहुत खटकता है—"स्वर्गीय लाला······के पुत्र श्री······का विवाह···"! यहाँ 'स्वर्गीय' विशेषण बहुत बुरा। 'लाला ···के पुत्र·····' यों प्रयोग चाहिए।

इसी तरह की बातें वाक्य-योजना में विचारणीय होती हैं। यहाँ विस्तार से कहने को स्थान नहीं है।

विशेषण और भाववाचक संज्ञा

विशेषण तथा उस से बनी भाववाचक संज्ञा कभी-कभी समान अर्थ में आते हैं—'मोहन बड़ा पण्डित है' और 'मोहन में बड़ा पाण्डित्य है'। दोनों का मतलब एक ही है; फिर भी भाववाचक संज्ञा में अधिक बल है। कभी-कभी तो विशेषण का प्रयोग बड़ा अनर्थ कर देता है—'दस बरस में इस देश में कोई निरक्षर न रहेगा'! निरक्षर कहाँ चले जाएँ गे? कहना चाहिए—'निरक्षरता कतई न रहे गी।'

कभी-कभी विशेषण तथा भाववाचक संज्ञा में अर्थ भेद भी बहुत ज्यादा हो जाता है—'मोहन में लियाकत नहीं है'—यानी योग्यता नहीं है और 'मोहन नालायक है' में कितना अन्तर है? 'नालायक' की भाववाचक संज्ञा 'नालायकी' बने गी—'नालियाकत' नहीं। 'लायक' से 'लियाकत' और 'नालायक' से 'नालायकी'। शब्द-भेद की जड़ का हमें पता नहीं; फल सामने है। नञ्-समास से अर्थ में अन्तर आ जाता है—'मोहन योग्य नहीं है' और 'मोहन अयोग्य है' में अन्तर है। 'अयोग्य' में अधिक जोर है।

कृदन्त शब्दों की स्थिति भिन्न है। 'मोहन विज्ञान का अध्यापक है' की जगह भाववाचक संज्ञा से—'मोहन विज्ञान का अध्यापन करता है' कम जँचता है। और 'मोहन वेदों का अध्ययन कर रहा है' को 'मोहन वेदों का अध्येता है' कहने में चीज बिगड़ जाए गी। 'अध्ययन करता है' में क्रिया की प्रधानता है और 'अध्येता है' में क्रिया गौण, कर्तृत्व प्रधान है।

शब्दों के गलत रूप

शुद्ध शब्दों के गलत अर्थों में प्रयोग जैसे अनिष्ट हैं, उसी तरह (सही अर्थों में प्रयुक्त होने पर भी) शब्दों के गलत रूप ग्लानि पैदा करते हैं। इस का मतलब यही है कि शब्द स्वरूपतः शुद्ध होने चाहिए और प्रकृति-प्रत्यय आदि का भी शुद्ध रूप रखना चाहिए। यदि शब्द स्वरूपतः अशुद्ध हुए, तो शुद्ध अर्थ देना भी उन का मूल्य कम कर दे गा। अशुद्ध—गन्दी, मैली कुचैली—थाली में कोई बढ़िया खीर आप को परोस कर दे, तो कैसा लगें गा?

शब्द स्वरूपतः अशुद्ध हो जाते हैं भ्रम के कारण। लोग 'सुश्रूषा' लिख देते हैं—'शुश्रूषा' को। संस्कृत का 'सु' उपसर्ग बहुत प्रसिद्ध है। वही ध्यान

में चढ़ जाता है। सन्देह हो, तो दूसरा पद 'सेवा' दे दो ! इसी तरह हिन्दी के एक बहुत बड़े कवि 'अभिज्ञ' को 'भिज्ञ' लिखते हैं ! यहाँ 'नञ्-समास' का 'अ' उन्हें भ्रम में डाल देता है। वे समझते हैं कि 'अभिज्ञ' तो 'अज्ञ' हो गया ! इसी तरह 'ज्योत्स्ना' के वजन पर लोग 'भर्त्सना' को 'भर्त्स्ना' लिख देते हैं ! नहीं मालूम, तो 'चाँदनी' लिखो। ऐसे शब्दों की सूची देना ठीक नहीं।

प्रकृति-प्रत्यय आदि की जानकारी न होने से भी गलत शब्द चल पड़ते हैं और इस तरह की गलतियाँ सामान्यतः सब से हो रही हैं। परन्तु अब हिन्दी की स्थिति दूसरी है। अब इसे खूब सँभल कर चलना है, जिस से एक भी पद गलत न पड़े। नीचे कुछ शब्द दिए जा रहे हैं; यद्यपि पीछे पूरे ग्रन्थ में इन पर विस्तार से विचार हो चुका है

शुद्ध रूप—लताएँ, विद्याएँ, आज्ञाएँ, विधवाएँ
अशुद्ध रूप—लतायें, विद्यायें, आज्ञायें, विधवायें

+ + +

शुद्ध रूप—आएँ, जाएँ, पढ़ाएँ-लिखाएँ, सोएँ, धोएँ
अशुद्ध रूप—आयें, जायें (जायँ), पढ़ायें-लिखायें, सोयें, धोयें

+ + +

शुद्ध रूप—आए गा, जाए गा, पढ़ाए गा, सोएगा
अशुद्ध रूप—आये गा, जाये गा (जायगा), पढ़ाये गा, सोये गा

+ + +

शुद्ध रूप—राम को पुस्तकें पढ़नीं चाहिए
अशुद्ध रूप—राम को पुस्तकें पढ़नी चाहिएँ

+ + +

शुद्ध रूप—राम को वेद पढ़ना चाहिए
अशुद्ध रूप—राम को वेद पढ़ना चाहिये

इसी तरह—कीजिए, दीजिए, लीजिए आदि शुद्ध और कीजिये, दीजिये, लीजिये आदि गलत हैं। अवधी आदि में 'य' प्रायः होता है; कभी 'इ' भी—'जाय-जाइ'। 'चाहिए' आदि का 'ए' वहाँ 'य' है—'चाहिय' 'कीजिय' आदि। व्रजभाषा में 'चाहिए' जैसे रूप होते हैं। जब 'ए' को 'य' हो जाए गा, तब वहाँ (व्रजभाषा में) भी 'कीजिये' गलत हो गा। या तो 'कीजिए' रहे गा, या फिर 'कीजिय'। यह नहीं हो सकता कि 'ए' को 'य' भी हो जाए और वह स्वयं ज्यों का त्यों बना भी रहे। इस तरह के प्रयोगों की विशेष उपपत्ति 'हिन्दी शब्द-मीमांसा' हम ने विस्तार से दी है।

'लड़का से' गलत है, 'लड़के से' शुद्ध। परन्तु समास में—'डंडा-बेड़ी' शुद्ध है। डंडेदार बेड़ी—'डंडा-बेड़ी'। इसी तरह 'गुंडा-हथकंडे' 'मठा-मिठास' आदि में 'आ' को 'ए' न हो गा। प्रत्यय परे हो, तो—

शुद्ध—ठेकेदारी, दावेदार, डंडेवाला, आगरे से।
अशुद्ध—ठेकादारी, डंडावाला, आगरा से।

\+ + +

शुद्ध—'एक बौद्ध भिक्षु ने उसे उपदेश दिया !'
अशुद्ध—'एक बौद्ध भिक्षुक ने उसे उपदेश दिया !'

'भिक्षु' से कुत्सित अर्थ में 'क' प्रत्यय हो कर 'भिक्षुक' बना है। 'भिक्षु' शब्द विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है। 'भिक्षु'-संन्यासी। बौद्ध साधुओं को प्रायः 'भिक्षु' ही कहा जाता है। 'भिक्षुक' दूसरी चीज है—साधारण भिखारी ! 'भिक्षु' भी भिक्षा माँगता है; परन्तु साधारण रोटी-दाल। वह उस के बदले हमें बहुत कुछ (ज्ञान-उपदेश) देता है। परन्तु 'भिक्षुक' में यह बात नहीं। साधारण भिक्षुक को 'भिक्षु' कहना भी ठीक नहीं—अर्थ-भ्रम को जगह मिलती है। हिन्दी में अर्थ-भ्रम बचाने के लिए साधारण प्रयोग-नियमों में भी हेर-फेर कर दिया गया है। पु० आकारान्त शब्दों के आगे 'ओं' विकरण लगता है, तो (प्रकृति का) अन्त्य 'आ' लुप्त हो जाता है—'पंडों का समूह' 'लड़कों ने कहा' आदि। परन्तु 'भारत की पूरबी सीमा पर नागाओं ने ऊधम मचा रखा है' यहाँ 'नागाओं' ही चलता है। 'नागों ने ऊधम मचा रखा है' कुछ भ्रमात्मक हो जाए गा। 'नाग' का भी रूप 'नागों का' होता है। 'पहाड़ी नागाओं ने बड़ा जहर फैला दिया है' के

'नागाओं' को यदि 'नागों' कर दिया जाए, तो आपाततः भ्रम हो सकता है। वह न हो, इस लिए 'नागाओं' प्रयोग। यह विशेष व्यवस्था भ्रम दूर रखने के ही लिए है। 'भिक्षु' तथा 'भिक्षुक' शब्दों में जैसे अर्थ-भेद है, उसी तरह हिन्दी ने शब्द-विकास में भी 'नंगा' तथा 'नागा' आदि में परिवर्तन कर दिया है। 'नंगों को लाज कहाँ ?' यहाँ 'नंगा' साधारण शब्द है। 'नग्न' से ही 'नंगा' है और इसी से 'नागा' भी है। वे पहाड़ी जातियाँ पहले एकदम वन्य स्थिति में थीं—प्रायः नग्न-अवस्था में रहती थीं। कालान्तर में सभ्यता आई और तब उन्हें 'नंगा' न कह कर 'नागा' कहा जाने लगा। वे लोग स्वयं भी अपने आप को 'नागा' कहते हैं। साधु-संन्यासियों में एक फिरका ऐसा है, जो कुम्भ मेले पर एकदम नंगे हो कर स्नान करता है; परन्तु सदा वस्त्र पहनता है। इस विशेष प्रकार की नग्नता के कारण इन्हें भी साधारण शब्द 'नंगा' से नहीं, 'नागा' इस विशेष शब्द से लोग जानते-पहचानते हैं। ये लोग भी अपने आप को 'नागा' कहते हैं। प्रसिद्ध 'नाग'-वंश के 'नाग' से या सर्प-वाचक 'नाग' से 'नागा' नहीं है।

संस्कृत आकारान्त शब्दों के अन्त्य 'आ' का लोप नहीं होता। आचार्य द्विवेदी के अनन्तर 'सरस्वती' जिन के हाथ में आई, उन्हों ने 'राजों का ऐश्वर्य' इस तरह के प्रयोग चलाने शुरू कर दिए थे; परन्तु 'लेखन-कला' में ऐसे प्रयोगों का खण्डन किया गया, तब 'राजाओं के' फिर चलने लगा। यदि वह उद्योग न होता, तो फिर 'पितों का और मातों का' जैसे रूप भी सामने आते और हिन्दी की सुव्यवस्था नष्ट हो जाती! कई और गलतियाँ—

शुद्ध रूप—राष्ट्रीय जन वहाँ एकत्रित हुए
अशुद्ध रूप—राष्ट्रिय जन वहाँ एकत्र हुए

हिन्दी का सरल और असन्दिग्ध मार्ग प्रसिद्ध है। 'भारतीय' आदि की तरह 'राष्ट्रीय' ही रहे गा। संस्कृत व्याकरण से 'राष्ट्रीय' भी बनता है। पर, न भी बनता होता, तो भी यहाँ यही ('राष्ट्रीय') रहता--चलता। संस्कृत में 'राष्ट्रिय' कहते हैं—'राजा के साले को'।

इसी तरह विशेषण के रूप में 'एकत्र' गलत है—'एकत्रित' चाहिए। 'एकत्र' तो अधिकरण--प्रधान (स्थान -वाचक) अव्यय है; न कि विशेषण। 'एकत्र हुए' में 'एकत्र' विधेय विशेषण की तरह प्रयुक्त है, जो गलत है। कैसी विचित्रता है! 'एकत्र नाच--गान हो रहा है; अपरत्र करुण क्रन्दन

है'। यहाँ 'एकत्र' ठीक। परन्तु 'एकत्रित' की तरह 'अपरत्रित' आदि न होंगे। संस्कृत में 'तत्र-अत्र' से 'तत्रत्य'—'अत्रत्य' विशेषण बनते हैं; पर 'एकत्र' से 'एकत्रत्य' नहीं। हिन्दी 'एकत्र' से 'एकत्रित' बना लेती है। संस्कृत का 'एकत्र' और वहीं का 'इत' प्रत्यय; दोनों को मिला कर चीज अपनी 'एकत्रित'।

विशेष काम है; इस लिए पुनरुक्ति हो रही है। ये सब बातें पीछे आ चुकी हैं, परन्तु हिन्दी में आजकल जो अराजकता फैली हुई है, उसे देखते बार-बार कोई बात दुहरानी पड़ती है। इस प्रकार, विशेष उद्देश्य से, कोई बात बार-बार कहने को संस्कृत में 'अभ्यास' कहते हैं। प्रौढ दार्शनिक ग्रन्थों में 'अभ्यास' शब्द--प्रयोग आप देख सकते हैं।

'दुहराना' ही ले लीजिए। इसे लोग 'दोहराना' लिखने लगे हैं! 'दोहरे कपड़े मिले' लिखते हैं! 'दो हरे कपड़े' भी पढ़े-समझे जा सकते हैं, यदि पाई जरा विच्छिन्न हो जाए! परन्तु बोलने में तो सदा ही भ्रम सम्भावित है। हाँ, अवधी आदि में 'ए'-'ओ' ह्रस्व भी होते हैं और वहाँ 'दोहरी' (दोहरी) चलता है। 'इकतारा' को 'एकतारा' बना रहे हैं! परन्तु 'इकन्नी' 'दुअन्नी' 'अठन्नी' को 'एकानी' 'दो आनी' 'आठानी' अभी तक नहीं बनाया गया है; यह हिन्दी का सौभाग्य! पूर्वी अञ्चल में अवश्य 'इक्का' को 'एक्का' बोलते हैं; 'ए' को कुछ हलका कर के; परन्तु राष्ट्रभाषा का टकसाली रूप 'इक्का' है। 'एका' अलग चीज है।

शुद्ध रूप हैं—दुपहरी, दुगुना, तिगुना, दुहरी
अशुद्ध रूप--दोपहरी, दोगुना, तीनगुना, दोहरी

ठेठ हिन्दी के, विदेशी या तद्भव शब्दों में 'पर-सवर्ण' कर के 'गुण्डा' 'डण्डा' 'जञ्जीर' आदि लिखना गलत है—गुंडा, डंडा, जंजीर आदि चाहिए।

यदि समास न हो, तो वाक्य में 'तुम से हम ने तीन गुना ज्यादा काम किया है' यों 'तीन' रहे गा; 'ति' न हो गा। यहाँ 'गुना' प्रत्यय नहीं है। 'छह' के 'ह' का लोप हो जाता है—'छमाही'। वृत्ति में 'मास' को 'माह' हो जाता है; इस लिए 'तिमाही'—'छमाही' को 'तिमासी'-'छमासी' नहीं बोला जाता। इसी 'मास' को 'ईन' तद्धित प्रत्यय (स्वार्थे) आने पर भी 'माह' हो जाता है। वृत्ति में प्रथम दीर्घ स्वर

ह्रस्व हो ही जाता है। अन्त्य 'अ' का लोप—अन्त में पुंविभक्ति ('आ')—'महीना'। 'महीना' हिन्दी का तद्भव शब्द है। कभी 'स' ज्यों का त्यों रहता है—'यह बारहमासी नौकर है'। इसे 'बारहमाही' न हो गा। 'दुसूती' एक मोटा कपड़ा होता है-दुहरे सूत से बुना हुआ। इसे 'दोसूती' लिखना-बोलना गलत हो गा। समास में उत्तर पद संस्कृत (तद्रूप) शब्द हो, तो फिर पूर्वपद (संख्यावाचक) भी वैसा ही रहे गा—'सप्तर्षि-मण्डल' या 'सप्त-ऋषि—मण्डल'। 'सत-ऋषि' न होगा। बिना समास के भी ऐसे बँधे हुए शब्द तदवस्थ रहें गे—'सप्त शील' 'सप्त शिला'। 'सात शिला'—सिद्धान्त न कहा जाए गा। इसी तरह 'द्विसूत्री योजना' 'चतुःसूत्री योजना' 'सप्तसूत्री कार्यक्रम' प्रयोग हों गे – न कि 'दोसूत्री' 'चारसूत्री' आदि ! 'दो' से 'सूत्र' का नहीं, 'सूत' का समास हो गा और तब 'दुसूती' शब्द बने गा--उस कपड़े का वाचक। 'द्विसूत्री' पृथक् चीज है, विशेषण है।

इसी तरह 'त्रिमूर्ति' 'पञ्चानन' आदि समझिए। हिन्दी-शब्दों से 'तिराहा' 'पँचमेल' 'सतनजा' आदि समास पृथक् पद्धति पर हैं।

'हिन्दूसभायी' 'विधानसभायी' जैसे प्रयोग गलत हैं। तद्धित प्रत्यय 'ई' है, 'यी' नहीं-'शहरी' 'देहाती'। आकारान्त शब्दों में-एशियाई, हिन्दूसभाई। कहीं 'आ' का लोप भी—अफरीकी, अमरीकी। कहीं ह्रस्व-'गुंडई' 'पंडई'।

लिङ्ग—वचन आदि से भी गलत प्रयोग न होने चाहिए। 'भिखारिन' को लोग 'भिखारिणी' लिख देते हैं, जो गलत है। 'कार्यकारिणी' का ध्यान आ जाता हो गा ! 'गरीबनी' या 'गरीबिनी' अवश्य चलता है—'गरीबन' नहीं। विशेषण के रूप में तो 'गरीब' ही रहे गा—'गरीब औरत'। परन्तु स्वतन्त्र (जातिवाचक संज्ञा-जैसा) प्रयोग करना हो, तो स्त्री-लिङ्ग में, 'गरीबनी' रहे गा—कभी-कभी 'गरीब' भी—'क्या गरीबनी बेचारी मर जाए !' 'चली गई गरीबिनी'। ब्रजभाषा में—'गारी मति दीजो, मो गरीबिनी को जायो है !' कभी 'गरीब' भी रहता है—'मर जाए गी गरीब'। परन्तु 'भिखारिणी' या 'भिखारिनी' नहीं होता।

इसी तरह 'वचन' के भी गलत प्रयोग हो जाते हैं—'प्रत्येक पंसारी बेचते हैं' ! 'बेचता है' चाहिए। 'प्रत्येक' तथा 'हर एक' सदा एकवचन में चलते हैं। 'गरीब से गरीब भी आम खा लेते हैं' गलत है। 'खा लेता है' चाहिए।

अनेक-कर्तृक या अनेक-कर्मक क्रियाएँ

वाक्य में जब कोई क्रिया ऐसी आ जाती है, जिस का अन्वय भिन्नलिङ्ग और भिन्नवचन अनेक कर्ता-कारकों से या वैसे कर्म-कारकों से हो, तब सोचना होता है कि क्रिया का लिङ्ग-वचन आदि किस के अनुसार हो ! 'पुरुष'-भेद में भी यही स्थिति सामने आती है। पहले 'पुरुष' ही लीजिए—

'राम, तू और मैं'

ये तीन कर्ता-कारक हम रखते हैं, 'चलना' क्रिया के। वर्तमान काल रख लीजिए, चाहे भविष्यत्। 'राम, तू और मैं चलूँ गा' ठीक नहीं। सब के लिए बहुवचन 'चलेंगे' ठीक; परन्तु 'मैं' के अनन्तर ही 'चलेंगे' अच्छा नहीं लगता। ऐसी जगह (सामान्ये) अन्यपुरुष का प्रयोग होता है। मध्यम पुरुष तथा उत्तमपुरुष का क्षेत्र बहुत संकुचित है—अन्यपुरुष का क्षेत्र अनन्त है। इसी लिए सामान्य-प्रयोग अन्यपुरुष में होता है। बहुवचन में 'सब' तो सामने ही है। दोनो, तीनो, चारो आदि समष्टिवाचक संख्याएँ भी सामने आ सकती हैं। 'राम, तू और मैं'—(तीनो) चलें गे। 'सब' या दोनो-तीनो आदि का प्रयोग चीज साफ कर देता है। अन्यपुरुष कर्ता यदि अन्त में—क्रिया के पास—रखा जाए, तो अधिक अच्छा रहे गा—

'मैं, तू और राम चलें गे'

यदि कोई अन्यपुरुष कर्ता न हो, तो फिर 'दोनो' जैसा सामान्य शब्द लाना अच्छा हो गा—

मैं और तू, दोनो बाजार चलें गे
तू और मैं, दोनो बाजार चलें गे

या फिर समुच्चय से—

मैं बाजार जाता हूँ और तू भी
तू भी बाजार जाता है और मैं भी

पहले वाक्य की 'जाता हूँ' क्रिया 'तू' के साथ 'है'—रूप से आ मिलती है और दूसरे वाक्य की 'है' क्रिया 'मैं' के साथ 'हूँ' के रूप में आ मिलती है।

बहुवचन में—

'हम तुम दोनो चलें गे,

यदि 'दोनो' शब्द न दें, तो फिर उत्तमपुरुष का प्रयोग अन्त में (क्रिया के समीप) करना हो गा; क्योंकि सामान्य-प्रयोग अन्यपुरुष होता है और अन्यपुरुष के बहुवचन में जो रूप क्रिया का होता है, वहीं (वर्तमान में) उत्तमपुरुष का भी—'लड़के जाएँ गे' 'हम जाएँ गे'। सो, सामान्य--प्रयोग में उत्तमपुरुष (बहुवचन) कर्ता को अन्त में रखना अच्छा-

तुम और हम मथुरा चलेंगे

एकवचन दो कर्ता हों, तो क्रिया बहुवचन हो ही जाए गी; परन्तु लिङ्ग भिन्नता विचारणीय है। समष्टि में सामान्य प्रयोग पुल्लिङ्ग होता है और 'एकशेष' भी—

'मेले में लाखों आदमी और औरतें आई थीं' ऐसा प्रयोग अच्छा नहीं।

'लाखों स्त्री-पुरुष आए थे'

ठीक। औरतें आदमियों के साथ ही तो हैं—इसी लिए 'एकशेष' ('स्त्री' का प्रयोग न कर के)—

'मेले में लाखों आदमी आए थे'

'आदमी' से औरतों का और बच्चों का भी बोध हो जाता है।

परन्तु जहाँ स्त्रीत्व की भी विवक्षा हो, वहाँ 'एकशेष' को अवकाश नहीं। साधारणतः 'मोह न नारि नारि के रूपा' स्थिति है—स्त्री का सुन्दर रूप देख कर कोई स्त्री मोहित नहीं होती। परन्तु सीता जी का रूप ऐसा था कि उस से स्त्रियाँ भी मोह गईं—

'देखि रूप मोहे नर-नारी'

'नर-नारी मोहे'—नरनारी मोहित हो गए! सामान्य पु०-प्रयोग है। सीता जी का वर्णन है; इस लिए अकलुष मोहकता तुलसी को विवक्षित है, जो कि 'नारी' शब्द की आकांक्षा रखती है। 'नरनारी' में द्वन्द्व-समास है और अन्तिम पद के अनुसार क्रिया-शब्द की कल्पना की जा सकती है; परन्तु हिन्दी में ऐसी जगह सामान्य-प्रयोग होता है—पु० अन्यपुरुष। नर और नारी, सब मोहित हो गए। 'नरनारी मोहीं' नहीं, 'मोहे'।

केवल समास में ही नहीं, वाक्य में भी सामान्य-प्रयोग होता है, यदि विवक्षावश (पु० के साथ) स्त्रीलिङ्ग कर्ता भी सामने हो—

'कश्यप और अदिति प्रणाम करते हैं'

अन्त में 'अदिति' का प्रयोग है; पर क्रिया सामान्य पुल्लिङ्ग 'करते हैं' है। यहाँ 'अदिति' का प्रयोग जरूरी है। 'कश्यप प्रणाम करते हैं' कहने से यह अर्थ नहीं निकल सकता कि अदिति भी प्रणाम कर रही हैं। 'एकशेष' जातिवाचक संज्ञाओं में ही होता है—'घोड़े और घोड़ियाँ'—'घोड़े'। 'घोड़े बाजार में बिकते हैं' का मतलब यह कि 'घोड़ियाँ और घोड़े बिकते हैं'। 'भैंसें और भैंसे'—'भैंसे'—स्त्रीलिङ्ग। पुल्लिङ्ग का लोप। 'भैंसें चर रही हैं' कहने से 'भैंसे' भी गृहीत हो जाते हैं। इसी तरह 'आदमी और औरतें'—'आदमी'। 'मेले में लाखों आदमी थे।' 'आदमी' शब्द से 'औरतें' भी समझी जाती हैं। परन्तु 'स्त्री-पुरुष मिल कर गृहस्थी चलाते हैं' यहाँ 'स्त्री' विशेष रूप से विवक्षित है; इस लिए लोप न हो गा। इसी तरह 'स्त्री-पुरुष दोनो आ रहे हैं' में भी 'एकशेष' न हो गा।

यदि सभी कर्ता-कारक स्त्रीलिङ्ग ही हों, तब कोई झगड़ा ही नहीं; स्त्रीलिङ्ग-बहुवचन क्रिया हो जाए गी—

'गौएँ और बकरियाँ यहाँ बैठती हैं'

एक और एक मिल कर 'अनेक' हो जाते हैं और इस लिए दोनो को ध्यान में रख कर क्रिया बहुवचन हो जाती है—'कश्यप और अदिति प्रणाम करते हैं।' परन्तु यदि कर्ता-कारकों का क्रिया के प्रति पृथक् पृथक् अन्वय अभिप्रेत हो, तो क्रिया में एकवचन ही रखते हैं—

'राजधानी में राजा और उस का मंत्री रहता है'

राजा रहता है और उस का मंत्री रहता है। दोनो की अपनी-अपनी पृथक् स्थिति-सत्ता है। इसी तरह 'उसी समय मोहन और उस का नौकर आ पहुँचा' और 'तब एक बुढ़िया और उस की लड़की आई' आदि में समझिए। ऐसी (पृथक् विवक्षा) की स्थिति में 'एकशेष' भी नहीं करते—

'वहाँ सैकड़ों गौएँ और बैल जमा थे'

कर्म-कारक में भी—

"वहाँ मैं ने सैकड़ों गौएँ और बैल देखे"

"बकरियाँ और बकरे कसाई ने लिए"

ऐसी स्थिति में सामान्य-प्रयोग पुल्लिङ्ग (क्रिया का) होता है; इस लिए पुल्लिङ्ग ही कर्ता या कर्म अन्त में (क्रिया के पास) रखना चाहिए।

'बहुत-सी बकरियाँ और बकरे देखे'

'बकरियाँ' के साथ क्रिया 'देखीं' के रूप में आ कर अन्वित हो गी और 'बहुत-सी' विशेषण 'बहुत-से' बन कर 'बकरे' के पहले लग जाए गा। 'बहुत-सी बकरियाँ और बहुत-से बकरे' कहने से शब्द की पुनरुक्ति बुरी लगती है। इसी तरह 'देखीं' 'देखे' एक ही वाक्य में अच्छे नहीं लगते। सामर्थ्य से ही रूप-भेद हो कर अन्वय हो जाता है। समास में—'बहुत-से स्त्री-पुरुष देखे'। बहुत-सी स्त्रियाँ और बहुत-से पुरुष।

यदि एकवचन तथा बहुवचन कर्ता या कर्म साथ-साथ आएँ, तो पहले एकवचन रखना चाहिए—

'वह बुढ़िया और उस की लड़कियाँ आ गईं'

एकवचन अन्त में करने से ठीक न रहे गा—

'वे लड़कियाँ और उन की मा आ गई'

'मा आ गई' सुनने में अच्छा नहीं लगता।

पृथक्-विवक्षा में अन्तिम कर्ता या कर्म के अनुसार क्रिया का रूप होता है—

'गरमी और हवा के झकोरे क्लेश देते थे'

ऐसी जगह पुल्लिङ्ग शब्द ही अन्त में रखना चाहिए; क्योंकि सामान्य-प्रयोग क्रिया का पुल्लिङ्ग में होता है, जो कि स्त्रीलिङ्ग के साथ भला न लगे गा।

कभी-कभी—

'धन-सम्पत्ति, राज-अधिकार; सब कुछ चला गया'

ऐसे प्रयोग भी होते हैं। धन-सम्पत्ति आदि सभी चीजों को 'सब कुछ' में समाविष्ट कर के क्रिया में एकवचन 'चला गया'। कर्म में भी—

'तुम्हें धन-सम्पत्ति, राज-अधिकार, सब कुछ मिले गा'

उद्देश्य और विधेय की भिन्न-लिङ्गता

जैसे अनेक 'कर्ता' या 'कर्म' कारक, भिन्नलिङ्ग होने पर, विचारणीय होते हैं, उसी तरह उद्देश्य और विधेय की भी लिङ्ग-भिन्नता समझिए। रूप्य रूपक सम्बन्ध भी—

'बेटी किसी दिन पराए घर का धन होती है'

यहाँ 'बेटी' उद्देश्य है और 'धन' विधेय है। क्रिया 'होती है' (स्त्री लिङ्ग) 'बेटी' के अनुसार है। विधेय 'धन' पुल्लिङ्ग है। विवक्षा की दृष्टि से विधेय प्रधान होता है; परन्तु अन्वय की दृष्टि से उद्देश्य पर प्रायः प्रधानता रहती है। 'बेटी' कर्ता है, 'होती है' क्रिया है। 'बेटी होती है'। क्या होती है ?—'पराये घर का धन होती है'। विधेय रूप से 'धन' का प्रयोग होने पर भी क्रिया का अन्वय 'बेटी' (कर्ता) से है। इसी तरह—

'सम्पत्ति ही झगड़े का कारण बनी'
'उन की सहानुभूति ही मेरा सहारा थी'

परन्तु इस के विपरीत प्रयोग भी देखे जाते हैं—

'झूठ बोलना उस की आदत थी'
'नेताओं को रिहा करना मूर्खता होगी'
'अध्ययन-अध्यापन ही उन की सम्पत्ति थी

इन्हें यों नहीं कर सकते—

'झूठ बोलना आदत था,
'रिहा करना मूर्खता हो गा,
'अध्ययन-अध्यापन सम्पत्ति था'

भद्दे रूप हैं ! क्या कारण ? 'बोलना' 'करना' 'अध्ययन-अध्यापन' कृदन्त भाववाचक संज्ञाएँ हैं। तो, विशेष नियम बनाया जा सकता है कि

कृदन्त भाववाचक संज्ञाएँ जब उद्देश्य-रूप से हों, तो क्रिया विधेय के अनुसार रहती है। अपवाद तो सभी नियमों के हो सकते हैं। भाषा के अनन्त पारावार का कोई ठिकाना है! इसी लिए 'सर्वे विषयः सापवादाः' कहा गया है—सभी विधियों के (नियमों के) अपवाद संभावित हैं।

परन्तु यह विधि भी तो अपवाद ही है! उत्सर्ग (मुख्य और व्यापक नियम) तो यह है कि उद्देश्य के अनुसार क्रिया के लिङ्ग--वचन आदि होते हैं। इस नियम का यह अपवाद कि कृदन्त भाववाचक संज्ञाएँ, यानी सामान्य क्रिया के वाचक शब्द यदि उद्देश्य रूप से प्रयुक्त हों, तो क्रिया विधेय के अनुसार अपने लिङ्गवचन आदि रखे गी। अब इस पर यह जरूर सोचा जा सकता है कि आखर यह अपवाद सामने आया क्यों?

बात यह है कि क्रिया के 'अपने' लिङ्ग--वचन या 'पुरुष' के भेद होते नहीं। क्रिया में लिङ्ग—वचन आदि संभव नहीं। 'द्रव्य'-शब्दों के अनुसार वह अपने लिङ्ग--वचन आदि प्रदर्शित भर करती है। लड़का, लड़की, घोड़ा, हाथी, पहाड़ जंगल आदि 'द्रव्य--' शब्द हैं, जो गिने जा सकते हैं और 'जिन में पुंस्त्री--भेद भी है। ये द्रव्य-शब्द कभी कर्ता और कभी कर्म के रूप में आ कर क्रिया को अपने पीछे चलाते हैं। कभी-कभी क्रिया किसी भी 'द्रव्य' शब्द के पीछे न चल कर अपना अलग मार्ग ग्रहण करती है, तब उसे 'भाववाच्य' कहते हैं। भाववाच्य क्रिया में भी कोई लिङ्ग--वचन स्वभावतः नहीं है; परन्तु शब्द का व्यवहार तो किसी न किसी रूप में ही हो गा न! हिन्दी में पुल्लिङ्ग सामान्य-प्रयोग में आता है। जिस की गिनती होती ही नहीं, उस का एकवचन ही सामान्य-प्रयोग हो गा। सो, भाववाचक संज्ञाएँ पुल्लिङ्ग-एकवचन रहती हैं; यद्यपि उन में वस्तुतः न पुंस्त्व है, न एकत्व-बहुत्व जैसी संख्या ही है।

'पढ़ना' 'उठना' और 'अध्ययन'--'उत्थान' आदि हिन्दी-संस्कृत के भाववाचक कृदन्त शब्द हैं। 'पढ़ना' आदि में स्पष्टतः हिन्दी की पुंविभक्ति लगी है और 'अध्ययन' आदि का भी यहाँ पुल्लिङ्ग में ही प्रयोग होता है। ये सब सामान्य क्रिया--वाचक शब्द हैं। 'आख्यात' से काल--वचन आदि की विशेषता मालूम देती है——करता है, करे गा, किया, कर, किया करता हूँ, करते हैं, करती है, करती हैं, आदि। परन्तु 'करना' से क्रिया के सामान्य रूप का ही ज्ञान होता है; किसी काल-वचन या पुरुष आदि का नहीं।

तो, जब कि 'करना' आदि में 'अपना' कोई लिङ्ग--वचन है ही नहीं—जो दिखाई देता है, वह वास्तविक नहीं, तब कोई 'क्रिया' इस का क्या अनुसरण करे? क्रिया का अनुसरण क्रिया क्या करे? 'करना' आदि का व्यवहार 'द्रव्य' ('संज्ञा') की तरह होता है, जरूर; परन्तु हैं ये वस्तुतः क्रिया-शब्द ही। 'कृदभिहितभावो द्रव्यवद् भवति'--कृदन्त क्रियाएँ 'द्रव्य' ('संज्ञा') की तरह चलती हैं—यानी पुंस्त्व आदि तथा 'एकवचन' आदि का आरोप होता है और 'को' 'से' आदि विभक्तियाँ भी लगती हैं। परन्तु इन का यह 'द्रव्यवत्' प्रयोग इन्हें 'द्रव्य' न बना दे गा! जब 'द्रव्य' नहीं, तो फिर 'क्रिया' इस के अनुसार क्या चले? इसी लिए, ऐसे स्थल में क्रिया 'विधेय' का पल्ला पकड़ती है—'झूठ बोलना उस की आदत थी'—'इस समय नेताओं को रिहा करना मूर्खता हो गी।'

अच्छा यह चीज तो यों समझ में आई; परन्तु कुछ और प्रयोग भी हैं—

१—'हिज्जे और रूपान्तर का प्रमाण हिन्दी हो सकती है'
२—'इस घोर युद्ध का कारण प्रजा की सम्पत्ति थी'
३—'उन की आशा तुम्हीं हो'

प्रथम दो उदाहरणों में क्रिया स्त्रीलिङ्ग है, विधेय के अनुसार और तीसरे में 'मध्यम पुरुष' है 'तुम्हीं' (विधेय) के अनुसार। यहाँ तो 'भाववाचक' कृदन्त संज्ञाएँ उद्देश्य रूप से नहीं हैं न! तब फिर विधेय का अनुगमन क्यों? 'प्रमाण' और 'कारण' कृदन्त हैं; पर 'भाववाचक' नहीं हैं।

प्रश्न ठीक जान पड़ता है—ठीक है। परन्तु यहाँ क्रियाएँ वस्तुतः उद्देश्य के ही अनुसार हैं। पूर्वापर प्रयोग में व्यतिक्रम हो जाने से उद्देश्य में विधेय का भ्रम होता है। इस तरह प्रयोग कीजिए—

१—हिन्दी हिज्जे तथा रूपान्तर का प्रमाण हो सकती है
२—प्रजा की सम्पत्ति ही इस घोर युद्ध का कारण थी
३—तुम्हीं उन की आशा हो

प्रयोग में पूर्वापर का क्रम बदल जाने से न उद्देश्य विधेय बन जाता है और न विधेय ही उद्देश्य हो जाता है। सो, उन उदाहरणों में क्रियाएँ उद्देश्य के ही अनुसार हैं। और—

'राज्य एक थाती थी'

यहाँ क्या बात है ? 'सम्पत्ति कारण थी' जैसी बात यहाँ नहीं है। कोई कारण-कार्य भाव नहीं है। और, 'वह स्त्री एक रत्न थी' की तरह आरोप का विषय भी नहीं है। 'स्त्री' से 'रत्न' (हीरा आदि) अपनी पृथक् सत्ता रखते हैं। 'स्त्री' में (दुर्लभता आदि सामान्य धर्मों के कारण) 'रत्न' का आरोप है। सादृश्य में तात्पर्य है। परन्तु 'राज्य' और 'थाती' में वह भेद नहीं है। 'राज्य' से 'थाती' और 'थाती' से 'राज्य' पृथक् नहीं। दोनों की एकरूपता है इस लिए—

१—राज्य उन के पास थाती थी

और

२—थाती उन के पास राज्य था

यों द्विधा प्रयोग इस के हो सकते हैं। 'थाती के रूप में उन के पास राज्य था' यह मतलब। संस्कृत में भी ऐसे स्थलों में 'कामचारः' की व्यवस्था है—जैसा जी चाहे, प्रयोग कर लो।

कहीं-कहीं—

'कोयला जल कर राख हो गई'

ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं—'कोयला जल कर राख हो गई' ऐसे प्रयोग उस साधारण नियम के विरुद्ध हैं। 'कोयला जल कर राख हो गया' यों उद्देश्य के अनुसार क्रिया चाहिए। तब 'जल कर' यह पूर्वकालिक क्रिया भी संगत हो गी। 'समानकर्तृत्व' चाहिए, पूर्वोत्तर-कालिक क्रियाओं में। जला कोयला और 'हुई राख' यह क्या हुआ ? कोयला जला और राख बन गया; ठीक। 'सब चिन्ताएँ दूर हो कर मन निर्मल हो गया' में 'होकर' पूर्वकालिक क्रिया नहीं है। 'कर' यहाँ 'हेतु' प्रकट करता है। हिन्दी का यह 'कर' प्रत्यय क्रिया की पूर्वकालिकता तो प्रकट करता ही है; इस के अतिरिक्त अन्य काम भी करता है। परन्तु 'कोयला जल कर' में तो 'कर' जलने की पूर्वकालिकता ही प्रकट करता है; हेतु आदि नहीं। 'कोयला जलने से राख हो गई' का कोई मतलब नहीं।

उद्देश्य-विधेय भाव कभी-कभी विवक्षाधीन होता है। 'वैद्य हमारे नारायण हैं' यहाँ 'वैद्य' उद्देश्य है। और, 'नारायण हमारे वैद्य हैं' यहाँ 'नारायण' उद्देश्य और 'वैद्य' विधेय है। 'अशोक की राजधानी पटना थी' में 'राजधानी' उद्देश्य है—उसी पर जोर है, उसी के संबन्ध में कुछ कहना है। परन्तु 'पटना बड़ा पुराना नगर है। यह बड़े-बड़े राजाओं की राजधानी रह चुका है।' यहाँ पटना शहर का वर्णन है; वही 'उद्देश्य' है। 'राजधानी' विधेय है। 'यह' से पटना का परामर्श है—'यह राजधानी रह चुका है'।

सादृश्य-मूलक उद्देश्य-विधेय भाव में जब उद्देश्य (उपमेय) दब जाता है, तब विधेय (उपमान) के अनुसार ही क्रिया रहती है -'लोकमान्य तिलक के साथ श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और लाला लाजपत राय बड़े जोरों का काम कर रहे थे। ये दो उन की प्रबल भुजाएँ थीं।' यहाँ 'ये' से उन दोनो नेताओं का परामर्श नहीं है। 'ये' विशेषण है भुजाओं का। 'ये भुजाएँ थीं।' इस तरह उद्देश्य (उपमेय) के दब जाने को संस्कृत में 'निगीर्ण' होना कहते हैं। 'दो' की जगह 'दोनो' कर दें, तब रूपक हो गा—उद्देश्य सामने रहे गा—'ये दोनो उन की दो भुजाएँ थे'। 'ये दोनो'—श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी और लाला लाजपत राय। अब 'ये' से दोनो नेताओं का परामर्श है।

सर्वनामों के प्रयोग

वाक्य में सर्वनामों के प्रयोग बड़ी सरलता से स्वतः ठीक होते जाते हैं; परन्तु अपनी अधिक बुद्धिमानी खर्च कर के लोग उन्हें बिगाड़ देते हैं। उत्तर प्रदेश की 'माध्यमिक शिक्षा-परिषद्' का प्रमाण-पत्र देखिए—''प्रमाणित किया जाता है कि कुमारी विजयश्री वाजपेयी १९५३ की हाई स्कूल परीक्षा में उत्तीर्ण हुई। उन्हों ने हिन्दी में विशेष योग्यता प्राप्त की। इन की जन्म तिथि ८ जून १९४० है।''

क्या मतलब? 'उन्हों ने योग्यता प्राप्त की' और 'इन की जन्मतिथि जून १९४० है।' योग्यता किसी ने प्राप्त की और जन्मतिथि किसी की बताई जा रही है! यह अधिक बुद्धिमानी प्रकट करने का फल है! सोचा हो गा, जहाँ प्रमाणपत्र लिखा जा रहा है, वहाँ 'विजयश्री' उपस्थित नहीं है, बहुत दूर बैठी है! इस लिए 'वह' का प्रयोग—'उन्हों ने'। परन्तु आगे फिर सर्वनाम अपनी गति पर—'इन की'। ध्यान रखना चाहिए कि दूरी और समीपता मानसिक भी होती है। 'विजयश्री' का प्रमाणपत्र लिखा जा रहा है,

तब वह सामने ही है; इस लिए लिखना चाहिए—'उत्तीर्ण हुई और इन्हों ने हिन्दी में विशेष योग्यता प्राप्त की। इन की जन्म तिथि जून १६४० है।"

किसी पुस्तक या पत्रिका पर सम्मति देते हुए लोग लिख देते हैं—'देखी। वह बहुत उपयोगी चीज है। उस का प्रचार होना चाहिए।' ये गलत प्रयोग हैं। 'यह बड़ी उपयोगी चीज है। इस का प्रचार होना चाहिए' यों प्रयोग चाहिए।

"सन्त ने भक्त से कहा—"क्या तू नहीं जानता कि में कौन हूँ ?"

यहाँ दूसरे वाक्य में 'मै' शब्द भ्रम में डालता है। 'सन्त' का परामर्श 'मै' से किया जाए, या 'भक्त' का ? यदि 'सन्त' ने अपने लिए 'मैं' का प्रयोग किया है, तो वाक्य यो चाहिए—'क्या तू मुझे नहीं जानता ?' यदि 'भक्त' के लिए 'मै' है, तो, चाहिए—'क्या तू अपने आप को नहीं जानता ?'

इसी तरह—

"बाबू साहब ने मुझ से आप से यह लिखने को कहा था कि हम (बाबू साहब) उन के (आप के) पत्र का उत्तर कुछ विलम्ब से देंगे।"

यह बड़ा अटपटा वाक्य है। 'मुझ से आप से' तो साफ गलत है। 'आप को' चाहिए। परन्तु फिर भी कितना लचर वाक्य है ! कितनी जगह कोष्ठक में शब्दों का खुलासा करना पड़ा ! वाक्य साफ़ चाहिए—

"बाबू साहब आप के पत्र का उत्तर कुछ विलम्ब से दें गे। यह सूचना देने का काम उन्हो ने मुझे सौंपा था।" और भी बीसों तरह से यही बात साफ लिखी जा सकती है।

'क्या तुम समझते हो कि मैं मूर्ख हूँ ?'

'क्या तुम समझते हो कि मैं विद्वान् हूँ ?'

इन वाक्यों में सन्दिग्धता है। 'समझते हो' के पहले, कोष्ठक में (मेरे विषय में) तथा (अपने विषय में) जैसे शब्द दिए बिना काम न चले गा ! क्या लाभ ? सीधे कहना चाहिए—

'क्या तुम मुझे मूर्ख समझते हो ?'

'क्या तुम अपने आप को विद्वान् समझते हो ?'

अंग्रेजी के तद्रूप शब्द

हिन्दी में अंग्रेजी के कुछ शब्द (अस्पताल, लालटेन आदि) तद्भव रूप में चलते हैं और कुछ ('स्टेशन' आदि) तद्रूप चलते हैं। इन के रूप निश्चित हैं। परन्तु कुछ शब्द ऐसे भी हैं, जो द्विरूप चलते हैं—चल रहे हैं; जैसे 'मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी' के 'सोसाइटी' को 'सोसायटी' भी लिख देते हैं। 'साइकिल'-'सायकिल' आदि अन्य बीसों शब्द इसी श्रेणी के हैं। इन में से कौन-सा रूप सही है, कहना कठिन है। दूसरी भाषा का शब्द है और अनेक जगह अनेक रूपों में उच्चरित होता है। जैसा उच्चारण जिसे ठीक जँचा, लिख दिया। संस्कृत से आनेवाले तद्रूप शब्दों में यह बात नहीं है। 'सरस्वती' जैसे का तैसा सर्वत्र लिखा जाए गा; क्योंकि संस्कृत और हिन्दी का संबन्ध ही ऐसा है—लिपि की भी एकता है। अंग्रेजी आदि भाषाओं की लिपि-भिन्नता हिन्दी में 'सोसाइटी' तथा 'सोसायटी' आदि शब्दों में एकरूपता नहीं आने देती। इसी लिए द्विविध प्रयोग यहाँ चलते हैं। इन में से किसी एक को शुद्ध और दूसरे को अशुद्ध कहने के लिए हमारे पास मजबूत तर्क नहीं है। 'सम्मेलन' और 'सभा' जैसी संस्थाएँ मिल कर कोई निर्णय दें, तो उसे हम सब लोग खुशी से मान लें गे। ऐसी स्थिति में 'बहुमत' ही काम दे सकता है। वैसे हिन्दी की प्रकृति शब्दों की एकरूपता पसन्द करती है; यह बहुत बार कहा जा चुका है। 'कोकिल' के मध्य 'क्' का लोप हो कर प्राकृत-परम्परा में 'कोइल' बना, जिस का 'कोइलिया' रूप अब भी पूरबी बोलियों में प्रसिद्ध है—'कोइलिया कूकै अँबवा की डार'। परन्तु इस के 'इ' को 'य' कर के राष्ट्रभाषा ने 'कोयल' रूप अपनाया। यहाँ 'कोइल' चल नहीं सकता—चला ही नहीं।

संस्कृत में 'कोकिल' पुल्लिङ्ग है। हिन्दी इस के तद्भव रूप 'कोयल' में अपना पुंप्रत्यय लगा कर (शुक > सुअ + आ = 'सुआ' की तरह) 'कोकिल > कोयल + आ = 'कोयला' बना सकती थी। परन्तु 'कोयला' पुल्लिङ्ग शब्द हिन्दी में एक दूसरा है। इस से इसे अलग रखने के लिए 'आ' का प्रयोग नहीं और मधुर रूप देने के लिए स्त्रीलिङ्ग—'कोयल कूकती है'।

संस्कृत शब्दों के ग्रहण में विवेक

संस्कृत के जो तद्रूप शब्द हिन्दी में चलते हैं, उन के प्रयोग की व्यवस्था यहाँ अपने ढँग से होती है, संस्कृत-व्याकरण के अनुसार नहीं। इस सिद्धान्त को न जान कर लोग कभी-कभी सुनिश्चित-रूप शब्दों को भी झमेले में डाल

देते हैं, जिस का एक उदाहरण 'दम्पति' शब्द है। भाषा-शुद्धता का अधिक ध्यान रखने वाले कुछ लोग संस्कृत-व्याकरण के अनुसार इसे 'दम्पती' के रूप में लिखते हैं! बहुत बड़ी गलती है!

'दम्पति'—स्त्री-पुरुष का जोड़ा। 'जाया' और 'पति' मिल कर 'दम्पति'। 'जाया' को 'दम्' हो जाता है। संस्कृत में द्विवचन भी होता है और इसी लिए 'दम्पति' का द्विवचन प्रयोग 'दम्पती' वहाँ होता है। हिन्दी में द्विवचन होता ही नहीं—एकवचन और बहुवचन। इस लिए द्विवचन 'दम्पती' यहाँ गलत है। यदि यहाँ द्विवचन होता भी, तो अपने व्याकरण के अनुसार होता, संस्कृत व्याकरण के अनुसार नहीं। 'पुष्पलताः हैं' हिन्दी में न हो गा—'पुष्पलताएँ हैं' होता है। इसी तरह 'मातरः आ रही हैं' नहीं, 'माताएँ आ रही हैं' शुद्ध हिन्दी है। सभी भाषाओं में यही पद्धति है। हिन्दी का 'धोती' शब्द अंग्रेजी में जा कर वहीं के नियमों से चलता है। हिन्दी-व्याकरण के अनुसार अंग्रेजी में 'धोती' का बहुवचन 'धोतियाँ' न हो गा, 'धोतीज़' हो गा—'ब्रिंग माई धोतीज़'। 'ब्रिंग माई धोतियाँ' गलत अंग्रेजी हो गी। इसी तरह हिन्दी में 'दम्पति' का द्विवचन प्रयोग गलत है।

'अप्सरसः' तथा 'दाराः' शब्द संस्कृत में बहुवचन चलते हैं; पर हिन्दी में इनके एकवचन भी 'अप्सरा' तथा 'दारा' रूप चलते हैं। 'दार' शब्द भार्या--वाचक है और (संस्कृत में) पुल्लिङ्ग है। परन्तु हिन्दी में 'दारा' बना कर स्त्रीलिङ्ग है। 'कलत्र' शब्द संस्कृत में नपुंसक लिङ्ग है; पर हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग है; यद्यपि अन्य प्रायः सब नपुंसक–लिङ्ग शब्द पुल्लिङ्ग में यहाँ चलते हैं। सो, 'दम्पती' आदि हिन्दी में गलत प्रयोग हैं।

(यह भी देखा जाता है कि कभी-कभी हिन्दी का अनुसरण संस्कृत में होने लगता है। 'अप्सरस्' के 'स्' को नियमानुसार हटा कर और इस स्त्रीलिङ्ग शब्द में संस्कृत का ही स्त्री-प्रत्यय लगा कर 'अप्सरा' शब्द हिन्दी ने 'अपना' बना लिया। बाद में यह ('अपसरा') शब्द संस्कृत में भी ले लिया गया। 'शब्दार्णव' में 'एकत्वे' 'अप्सरा' स्वीकार किया गया है। परन्तु 'अप्सरा' संस्कृत में चला नहीं।)

तद्भव शब्दों की अपनी सुनिश्चित पद्धति है। ऐसे शब्दों में कुछ ऐसे भी हैं, जो ठेठ 'मूलभाषा' या 'वेदभाषा' से आए हैं—'तृतीय संस्कृत' से

नहीं। तृतीय--संस्कृत में 'स्तम्भ' शब्द है, जिस का तद्भव रूप 'थंभ' पुरानी अवधी-ब्रजभाषा की कविता में मिलता है; क्योंकि 'खंभा' वहाँ चलता नहीं। 'खंभ फोरि' आदि में 'खंभ' जरूर है। परन्तु यह 'खंभा' या 'खंभ' संस्कृत 'स्तम्भ' से नहीं हैं, वेदभाषा के 'स्कम्भ' शब्द से हैं। ऋग्वेद में 'स्कम्भ' शब्द आया है। आगे चल कर यही 'स्कम्भ' संस्कृत के परवर्ती रूप में 'स्तम्भ' हो गया हो गा। जनभाषा मे 'स्कम्भ' चलता रहा और बदलते-बदलते 'खंभ'-'खंभा' हो गया। 'स्' 'ह्' बन गया और 'क्' के साथ बैठ कर 'ख' रूप। 'स्कम्भः' का 'खंभा' हो गया; परन्तु 'कोकिलः' का 'कोइया' या 'कोयला' नहीं हुआ। निर्विसर्ग 'कोकिल' का 'कोकिला' जरूर हिन्दी ने कर लिया, स्त्रीलिङ्ग। जैसे 'दार' का 'दारा'। भ्रम-सन्देह को गुंजाइश नहीं।

'पूर्वज-प्रयोग'

संस्कृत-साहित्य में 'आर्षः प्रयोगः' (शब्द-प्रयोगों पर विचार करते-करते) सामने आता है। महान् पूर्वज लोगों का कोई शब्द-प्रयोग पाणिनि आदि के व्याकरणों से विपरीत दिखाई देता है, तो उसे 'गलत' कहने की अशिष्टता नहीं की जाती। 'आर्ष प्रयोग है' कह कर उसे दर-गुजर कर दिया जाता है। परन्तु उस प्रयोग को हम आदर्श नहीं मानते; वैसा प्रयोग अपनी भाषा में नहीं करते। लताएँ-लतायें, चाहिए-चाहिये, आए गा-आये गा; आदि द्विरूप शब्दों पर विचार पहले हुआ ही न था; इस लिए आचार्य द्विवेदी तथा आचार्य शुक्ल आदि की भाषा में यदि 'शिक्षायें' 'चाहिये' 'जाये गा' जैसे प्रयोग मिलें, तो हम 'पूर्वज-प्रयोग' कहें गे; 'गलत' नहीं। गलत तो तब कहा जाता, यदि उस समय या उस से पहले तर्क-युक्त कोई निर्णय हो गया होता। परन्तु वैसे पूर्वज-प्रयोगों का अनुकरण हम न करें गे; जैसे कि संस्कृत में 'आर्ष प्रयोगों' का नहीं किया जाता।

कविता की भाषा

'कविता की भाषा को कुछ स्वतन्त्रता है—व्याकरण का अंकुश वहाँ नहीं है' यह भ्रमात्मक धारणा है। भाषा एक है, चाहे उस का गद्य में प्रयोग हो, पद्य में हो, काव्यात्मक गद्य-पद्य में हो, या दर्शन-विज्ञान में हो। व्याकरण का नियंत्रण सर्वत्र समान है और व्याकरण है भाषा की स्वाभाविक गति का प्रतिपादन। भाषा अपनी गति-प्रकृति से चले, इस का ध्यान तो

कवि को सब से ज्यादा होना चाहिए। वही तो भाषा का 'सम्यक् ज्ञाता' और 'सुप्रयोक्ता' है।

परन्तु हिन्दी की पुरानी कविताएँ उद्धृत कर-कर के हम उन्हें गलत बताएँ (कि 'यह प्रयोग व्याकरण-विरुद्ध है' 'यह शब्द गलत है' इत्यादि कहें), तो यह शालीनता न हो गी। ऐसे 'पूर्वज-प्रयोग' हम प्रत्युदाहरणों में भी न लाएँ गे। उस समय प्रवाह ही दूसरा था। भारतेन्दु-युग में हिन्दी का स्वरूप गद्य में तो थोड़ा-बहुत साफ हो भी गया था; पर पद्यों की या कविता की भाषा बड़ी विचित्र थी! द्विवेदी-युग के पूर्वार्द्ध तक वही स्थिति रहीं। स्वयं द्विवदी जी की कविताएँ सामने रख कर उसी समय की (द्विवेदा जी की ही) गद्य-भाषा से उस का मिलान कीजिए—आकाश-पाताल का अन्तर जान पड़े गा। इस का कारण है। तब तक 'कविता की भाषा को स्वतंत्रता है' यह प्रवाद प्रचलित था। सन् १६१० से आचार्य द्विवेदी ने इस बात पर अधिक जोर दिया कि गद्य और पद्य की भाषा में कोई अन्तर न होना चाहिए और व्याकरण का पूर्ण नियंत्रण होना चाहिए। (उन के प्रमुख शिष्य) श्री मैथिली शरण गुप्त आदि ने यह नियंत्रित मार्ग पकड़ा और कविता में परिमार्जित हिन्दी का प्रयोग किया, जहाँ व्याकरण पर प्रति-पद ध्यान है। गुप्त जी की कविता का संशोधन स्वयं द्विवेदी जी करते थे। इसी समय अन्यान्य हिन्दी-कवियों ने भी व्यकरण-सम्मत परिष्कृत हिन्दी का प्रयोग अपनी-अपनी कविता में किया और यह मार्ग चल निकला। आज कोई भी कवि अपनी भाषा को 'स्वतंत्र' नहीं समझता; कहीं कोई अन-वधानता से गलत प्रयोग हो जाए; यह दूसरी बात है। ऐसी गलतियाँ तो सब से होती हैं—पाणिनि से भी हुई हैं; हम लोग तो किसी गिनती में ही नहीं। परन्तु इन गलतियों का समर्थन न किया जाए गा। गलती को 'गलती' कहने से ही काम चले गा। 'पूर्वज-प्रयोग' छोड़ कर, शेष सभी लोगों के गलत प्रयोग हम प्रत्युदाहरण में रख सकते हैं। आचार्य द्विवेदी की कविताएँ भी पं० कामता प्रसाद 'गुरु' अपने 'हिन्दी-व्याकरण' में विचारार्थ ले सकते थे; यदि काव्यभाषा का नियंत्रण व्याकरण बनाते समय (१६१७-१६) से पूर्व हुआ होता। जब तक 'गद्य-पद्य की एक भाषा' का सवाल ही नहीं उठा था, उस समय की कविता-भाषा हम 'पूर्वज-प्रयोग' के रूप में ही लें गे। 'गुरु' जी को भी यही मानना चाहिए था। बहुत दिन बाद, आचार्य द्विवेदी का स्वर्गवास हो जाने पर, 'हिन्दी-व्याकरण' के द्वितीय

संस्करण में (सन् १९५२ में) आचार्य द्विवेदी की कविताएँ यदि 'चिन्त्य'-प्रयोगों में रखी जाएँ, तो इसे अच्छा न कहा जाए गा ! यहाँ यह भी ध्यान रखने की बात है कि 'सभा' ने 'गुरु' जी के व्याकरण की जो परीक्षण-समिति बनाई थी, उस के प्रधान आचार्य द्विवेदी ही थे और द्विवेदी जी के ही आग्रह से 'सभा' ने यह व्याकरण बनवाया था। द्विवेदी जी की सिफारिश से ही 'गुरु' जी को व्याकरण लिखने का काम सौंपा गया था। 'गुरु' जी की कविता की भाषा भी वैसी ही है !

संक्षेप यह कि कानून बन जाने पर ही कोई अपराधी होता है; यदि उस का उल्लंघन करे ! उस से पहले यदि किसी ने वैसा काम किया हो, तो उसे अपराधी न कहें गे; विशेषतः जब कि उस के वर्ग को वैसे काम करने की छूट समाज ने दे रखी हो। सो, भाषा-संबन्धी नियम (व्याकरण) बन जाने पर ही उन का पालन होता है, और जो निरङ्कुशता प्रकट करते हैं उन की भर्त्सना होती है। पहले के प्रयोग 'गलत' न कहलाएँ गे । पूर्वजों के ग्रन्थों की भाषा ज्यों की त्यों रहनी चाहिए। उस से तो भाषा-परिष्कार की गति सामने आए गी। उस का 'संशोधन' कर के अपना उपहास न कराना चाहिए। संशोधन तो गलती का होता है। उस भाषा को हम गलत कह कैसे सकते हैं, जब कि वह अपने समय की गति के अनुसार है। हाँ, प्रयोग-परम्परा समझाने के लिए उसे हम अवश्य ले सकते हैं।

अननुनासिक—अनुनासिक स्वर

वाक्य-गठन में पदों के अनुनासिक—अननुनासिक स्वरों का झमेला आ खड़ा होता है। 'गँठ-बन्धन' को लोग 'गठ-बन्धन' लिख देते हैं ! परन्तु पूर्व पद में 'गाँठ' शब्द है, 'गाठ' नहीं। 'गाँठ' में अनुनासिकता 'ग्रन्थि' के 'न्' का परिणाम है। सो, 'गँठ-बन्धन' लिखना चाहिए। पूर्व पद का आद्य स्वर ह्रस्व भर हो जाता है। उस की अनुनासिकता कहीं नहीं चली जाती है। कोई बड़ा आदमी छोटा हो जाए, तो उस की प्रकृति न बदल जाए गी। इसी लिए 'पँचमेल मिठाई' होता है, 'पचमेल' नहीं। परन्तु 'सात' का 'सँत' कभी भी न हो गा—'सतनजा' रहे गा।

कोई-कोई भर्त्सनार्थक 'डाँट' शब्द को 'डाट' लिख देते हैं—'डाट-फटकार'। यह गलत है। 'डाँट' शब्द है। 'डाट' तो (शीशी का मुहँ बन्द

करने के लिए) पृथक् चीज है। 'डाँट' से भी बोलती बन्द हो जाती है—मुहँ बन्द हो जाता है। सम्भव है, उस 'डाट' से ही इस ('डाँट') का संबन्ध हो। परन्तु अर्थ-भेद से शब्दों का रूप-भेद स्वाभाविक है। सो, 'द्रव्य'-वाचक 'डाट' शब्द है और क्रिया-वाचक 'डाँट'। 'पाख' और 'पाँख' में अन्तर है। 'डाट' वैसे 'डट' धातु से जान पड़ती है। डटना-अड़ना।

कोई-कोई संबोधन में—'बचों, ध्यान से सुनो' यों 'ओ' को अनुनासिक कर देते हैं और लिख भी देते हैं। यह गलती है। संबोधन के बहुवचन में 'ओ' विभक्ति लगती है; 'ओं' नहीं। इसी लिए—'बाबुओ !' 'धोबियो !' आदि निरनुनासिक प्रयोग होते हैं। 'बहनों' में भी 'ओ' की अनुनासिकता गलत है। 'न्' तो अनुनासिक है ही। सम्भव है, इसी ('न्') की आवाज को लोग 'ओ' की आवाज समझ कर उसे ('ओ' को) अनुनासिक कर देते हों। यह 'ओ' विभक्ति उस बहुत्व-बोधक 'ओं' से भिन्न चीज है। संबोधन के लिए प्रसिद्ध 'ओ' अव्यय ही हिन्दी में (संबोधन के बहुवचन में) विभक्ति रूप से गृहीत हो गया है।

पञ्चाल (कन्नौज-कानपुर आदि) में 'बेच' धातु को 'बेंच' बोलते हैं। परन्तु इधर मेरठ की ओर निरनुनासिक 'बेच' ही चलता है। राष्ट्रभाषा ने निरनुनासिक रूप ही ग्रहण किया है—'बैल बेच दो'। 'बेंच दो' लिखना गलत है। इसी तरह उधर 'नोंक, रोंक, टोंक' शब्द अनुनासिक रूप में बोले जाते हैं; पर राष्ट्रभाषा में नोक, रोक, टोक' चलते हैं। हाँ, 'झोंक' अवश्य अनुनासिक है। इसी के साहचर्य से 'नोक' को भी लोगों ने अनुनासिक समझ लिया और 'नोंक-झोंक' लिखने लगे ! 'नोक' कदाचित् 'नाक' से हो ! नाक का अगला भाग कुछ इस तरह आगे पतला होता हुआ एक आकृति बनाता है, जो अन्य किसी भी अंग में देखी नहीं जाती। नाक की इस आकृति को 'नोक' कह सकते हैं—'नुकीली नाक, चमकदार आखें'। 'नुकीली नाक'—जैसे 'गुलाबी रंग का गुलाब'। 'नाक' है 'नासिका' का रूप। वंश भर में कहीं स्वर अनुनासिक नहीं है। चाहे जिस वंश का 'नोक' शब्द हो, इस का कोई स्वर अनुनासिक नहीं है; इतने से मतलब !

विभक्तियों का प्रयोग

विभक्तियों का तथा संबन्ध-प्रत्ययों का प्रयोग भी सावधानी से करना चाहिए। कारकों का तथा विविध संबन्धों का बोध इन्हीं के ऊपर है।

कारक-प्रकरण विस्तार से नहीं दिया; क्योंकि ग्रन्थ का विस्तार अपेक्षित नहीं है। पुराने सभी हिन्दी-व्याकरणों में 'ने' 'को' आदि विभक्तियों को ही कारक समझने-समझाने की गलती की गई है और कारक भी आठ समझ लिए गए हैं ! विभक्तियाँ कारक नहीं है, कारकों की अभिव्यंजना करती हैं—कारक बतलाती हैं। 'गणवेश' ही सेना नहीं है, सेना का गणवेश होता है।

यहाँ केवल इतना कहना है कि कारक तथा विविध संबन्ध प्रकट करने के लिए विभक्तियों का तथा संबन्ध--प्रत्ययों का प्रयोग ठीक न करने से भाषा गलत हो जाती है।

राम के लड़का हुआ (संस्कृत—रामस्य पुत्रः अभवत् ।)

राम के लड़की हुई (संस्कृत—रामस्य पुत्री अभवत्)

यहाँ हिन्दी में (संस्कृत की तरह ही) संबन्ध-विभक्ति लगती है, जिस में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। इस की जगह कुछ लोग 'को' विभक्ति लिख देते हैं—लिख गए हैं ! काशी की ओर के कई साहित्यिक जन लिखते हैं—

'राम को लड़का हुआ'

'उन्हें दो लड़कियाँ हुईं' आदि।

ऐसे प्रयोग गलत हैं। 'सुमित्रा को कै हुई, टट्टी हुई' जैसे प्रयोग तो ठीक; पर 'सुमित्रा को लड़की हुई' गलत प्रयोग हैं। 'लड़की' कोई टट्टी-पेशाब नहीं कि उस के योग में 'को' विभक्ति दी जाए ! काशी की जनपदीय भाषा (बोली) में ऐसी जगह 'को' जरूर बोलते हैं; पर राष्ट्रभाषा में नहीं। काशी में तो 'है' को 'ह'-'हौ' भी बोलते हैं; पर काशी के साहित्यिक हिन्दी में 'है' को 'ह' 'या' 'हौ' थोड़े ही कर देंगे ! सर्वत्र 'दशरथ के चार पुत्र हुए' चलता है, 'दशरथ को' नहीं। व्रजभाषा में भी—'नन्द के सुत-रूप प्रगटे'—'नन्द को' नहीं। अवधी में भी—'भइ गलानि मोरे सुत नाहीं' चलता है—'मोहिं' या 'मो कहँ' नहीं। राजस्थानी में भी यही बात है।

यानी पुत्र आदि की उत्पत्ति में संबन्ध-विभक्ति 'के' का प्रयोग होता है; 'को' देना गलती है। टट्टी-पेशाब, या क्रोध-आदि नैसर्गिक उद्रेक के स्थल में 'को' का प्रयोग होता है—'राम को खाँसी आ गई'—'सीता को क्रोध आ गया' आदि। यहाँ 'को' एक विशिष्ट 'कर्म' में ही है। जो 'खाँसी' या

'क्रोध' का अधिकरण या आश्रय है, वही 'कर्म' रूप से अभिप्रेत है। 'खाँसी' 'क्रोध' या टट्टी-पेशाब आदि 'आने' में 'स्वतंत्र' हैं; इस लिए 'कर्ता'। उन्हीं के अनुसार कर्तृ-वाच्य क्रिया है—'टट्टी आई' 'क्रोध आया'। किसे क्रोध आया ? 'सीता को'। 'सीता' कर्म कारक है। क्रोध, टट्टी-पेशाब आदि में पुत्र-पुत्री की तरह ममता की भावना नहीं है कि संबन्ध-विभक्ति से उस का प्रकटन हो ! इस लिए—'सीता को क्रोध आया' और 'सीता के पुत्र हुआ'। हाँ, 'राम को पुत्र-प्राप्ति हुई' जैसे प्रयोग ठीक। यह अलग बात है।

हम ने कहा कि 'राम को ज्वर आ गया' आदि में 'ज्वर' आदि कर्ता-कारक और 'राम' आदि कर्म-कारक हैं। परन्तु—

'राम को तेज ज्वर है'—'उसे बुखार हो गया' आदि में 'रामको' आदि किस कारक में हैं; प्रश्न हो सकता है; क्योंकि 'है' क्रिया अकर्मक है। सकर्मक तो अकर्मक हो सकती है; यदि कर्म की विवक्षा न हो—'राम पढ़ रहा है'। 'क्या' पढ़ रहा है, नहीं कहा। परन्तु अकर्मक 'है' सकर्मक कैसे ? तब 'राम को ज्वर है' में 'राम को' कर्म-कारक कैसे ? कर्म नहीं, तो फिर कौन सा कारक है ? 'ज्वर' तो कर्ता-कारक है न !

प्रश्न ठीक है। 'है' स्वभावतः अकर्मक क्रिया है; परन्तु यहाँ सकर्मक प्रयोग है। अकर्मक क्रिया का भी कभी सकर्मक प्रयोग हो जाता है। 'नम्' धातु संस्कृत में अकर्मक है—

'नमन्ति फलिनो वृक्षाः—'नमन्ति गुणिनो जनाः'

फलदार वृक्ष झुकते हैं—गुणी जन नम्र होते हैं

परन्तु—

'रामः पितरं नमति'—राम पिता को नमन करता है।
यहाँ 'नम्' धातु का सकर्मक प्रयोग है।

हिन्दी की 'हो' धातु अकर्मक है—'वर्षा होती है, तब अन्न होता है'। परन्तु इसी 'हो' का कहीं सकर्मक प्रयोग भी देखा जाता है—

राम से वह काम न हो गा

मुझ से उन की खुशामद न हो सके गी !

यहाँ 'राम से' तथा 'मुझ से' कर्ता-कारक हैं और 'काम' तथा 'खुशामद' कर्म-कारक हैं। 'काम' तथा 'खुशामद' स्वतः होने में समर्थ नहीं कि इन्हें कर्ता-कारक मान लें। 'राम से' तथा 'मुझ से' 'कर्ता' के अतिरिक्त अन्य कोई कारक नहीं। 'करण' तो स्वतः दूसरे के हाथ का होता है—'राम चाकू से कलम बनाता है'। यदि ऐसा न हो, स्वतः प्रवृत्त हो, तो 'करण' नहीं, 'हेतु' होता है—

वर्षा से अन्न होता है
क्रोध से हानि होती है
सन्तोष से सुख होता है

यहाँ सर्वत्र 'हेतु' में 'से' विभक्ति लगी है। अन्न कैसे होता है? हानि कैसे होती है? सुख कब होता है? कैसे होता है? ये प्रश्न हैं। 'करण' की जिज्ञासा में 'किस से' या 'किस चीज से' प्रश्न होते हैं—'साग किस से बनाया जाए?'—'चाकू से'। 'राम को ज्वर है' में 'राम को' कर्म-कारक है। 'है' का यहाँ सकर्मक प्रयोग है। 'राम से यह काम न हो गा' में क्रिया कर्म-वाच्य है, शक्ति-निषेध करना है; इस लिए 'कर्ता' कारक 'से' विभक्ति से युक्त है। 'राम' न 'करण' है, न 'हेतु' है—काम का करनेवाला है—'कर्ता' है। उस की शक्ति का निषेध है। ये इस तरह की बातें आगे उत्तरार्द्ध में और अधिक स्पष्ट हो जाएँ गी।

संक्षेप यह कि विभक्तियों का प्रयोग ठीक करना चाहिए; अन्यथा वाक्य लँगड़ा हो जाए गा। जब 'पद' ही ठीक न हों गे, तो वाक्य चले गा कैसे?

'सीता के लड़की हुई'
'सुमित्रा के लड़का हुआ'

यहाँ संबन्ध में 'के' विभक्ति है—प्रत्यय न लगे गा। 'तेरे कन्या हुई' की जगह 'तेरी कन्या हुई' संबन्ध-प्रत्यय न लगे गा। संस्कृत में भी 'तव कन्या अभवत्' की जगह 'त्वदीया कन्या अभवत्' न हो गा। कारण यह कि पैदा होने पर ही तो पितृ-संबन्ध या मातृ-संबन्ध हो गा न? 'राम के लड़का हुआ'—यानी जो लड़का हुआ है, पैदा हुआ है, उस का राम से 'पितृ-पुत्र' संबन्ध है। पैदा हो जाने के बाद प्रत्यय लगे गा—'राम का लड़का रोता है' 'सुमित्रा की लड़की खेलती है' इत्यादि। 'पैदा होने' में संबन्ध-प्रत्यय न

लगे गा; क्योंकि उत्पत्ति के अनन्तर ही वैसा संबन्ध होता है। 'उस का गर्भ गिर गया हो गा' यहाँ प्रत्यय है। 'राम का लड़का अगले जन्म में एक ऋषि के पैदा हुआ' यहाँ 'राम का लड़का' है और वह 'ऋषि के' या 'ऋष के यहाँ' या 'ऋषि के घर' पैदा हुआ है। 'राम का लड़का' जो था, वह वहाँ पैदा हुआ है। यों संबन्ध–विभक्ति का, संबन्ध-प्रत्यय का तथा 'को' आदि सभी विभक्तियों का प्रयोग-भेद व्यवस्थित है।

विराम-चिह्न

आज–कल विराम-चिह्नों का भी व्याकरण-ग्रन्थों में निर्देश रहता है। छोटे छात्रों की पुस्तकों में इस विषय का संक्षेप से रहना ठीक भी है। इस पुस्तक के पाठकों के लिए विराम-चिह्नों का ज्ञान कराना मजाक की बात हो गी। परन्तु दो-चार विशेष बातें कह देना आवश्यक है।

निर्देशक या उद्धरण-सूचक चिह्न विन्दुद्वय–पूर्वक एक आड़ी रेखा के रूप में रहता है (:—)। संस्कृत भाषा में विन्दुओं का प्रयोग भ्रम पैदा कर सकता है; इस लिए (वहाँ) रेखा–मात्र का चलन ठीक; परन्तु हिन्दी में वैसे भ्रम की कोई बात नहीं है। हाँ, संस्कृत वाक्यों का उद्धरण हो, तब (हिन्दी में भी उस जगह) विन्दु-रहित रेखा ही दी जाए गी। विन्दु–रहित भी यह चिह्न चलता ही है।

'कि' के प्रयोग के साथ अल्प-विराम का चिह्न देना ठीक नहीं। 'कि' का भी वही काम है। "जाओ गे कि, नहीं" ठीक नहीं। 'जाओ गे कि नहीं' चाहिए। निर्देशक के साथ भी 'कि' का प्रयोग ठीक नहीं। राम ने कहा था कि—"यदि काम हो जाए गा, तो चला आऊँ गा"। यहाँ 'कि' अनावश्यक है। यहाँ 'कि' ठीक है—राम ने कहा था कि काम हो जाए गा, तो चला आऊँ गा। यानी किसी के वाक्य को ज्यों का त्यों उद्धृत करने में केवल 'निर्देशक' चाहिए; पर उस के मतलब से ही मतलब हो, तो फिर 'कि' का प्रयोग काम चला दे गा।

समाससूचक चिह्न का प्रयोग भी कभी-कभी भ्रम या सन्देह पैदा कर देता है, यदि सावधानी न बरती जाए। एक ग्रन्थ का नाम 'कवि–राज–मार्ग' है। 'कवि-राज-मार्ग' से दो मतलब निकल सकते हैं। कविराजों का मार्ग—यानी सिद्ध कवियों की सरणि। दूसरा अर्थ—'कवियों का राज-

मार्ग'—यानी कवि जनों के चलने का बढ़िया रास्ता, जहाँ कोई झंझट न हो। कविता बनाने के लिए अनेक पद्धतियाँ लोगों ने बताई हैं; जिन में से कोई सरल और सुन्दर हो सकती है। 'कवि-राजमार्ग' में कदाचित् इसी पद्धति का निरूपण हो, जिस पर चल कर कवि बन सकते हैं। इन दो अर्थों में से कौन सा 'कवि-राज-मार्ग' को अभिप्रेत है, पता नहीं लग सकता। यदि पहला अर्थ अभिप्रेत है, तो 'कविराज-मार्ग' शब्द चाहिए और दूसरा अर्थ है, तो 'कवि-राजमार्ग' चाहिए। यानी समाससूचक चिह्न का एक ही बार प्रयोग इस शब्द में चाहिए। कभी-कभी न समास-सूचक चिह्न ही दिया जाता है, न शिरोरेखा ही अविच्छिन्न रहती है—'हिन्दी शब्द-निर्णय'।

विराम-चिह्नों का उचित प्रयोग वाक्य के अर्थ को चमका देता है; परन्तु अविचारित प्रयोग सब कुछ बिगाड़ देता है। बहुत अधिक विराम-चिह्न यदि दे दिए जाएँ, तो उस से भी वाक्य भद्दा लगता है; जैसे चेचक के दाग भरे हों! सभी चीजें यथास्थान आवश्यक मात्रा में ही अच्छी लगती हैं।

वाक्य के प्रकार

यहाँ तक वाक्य की विभिन्न इकाइयों के स्वरूप तथा उन के प्रयोग पर संक्षेप में विचार किया गया! अब, अध्याय समाप्त करने से पहले 'वाक्य-प्रकार' पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

'मैं जाऊँ गा' 'राम ने भोजन नहीं किया'

ये साधारण वाक्य हैं। जब ऐसे कई वाक्य मिल कर 'एकवाक्य' के रूप में आते हैं, तो उस (मिले हुए) वाक्य को 'संयुक्त वाक्य' कहते हैं।

'मैं गया और तू सोया'

यहाँ 'और' ने दो वाक्यों को जोड़ रखा है; इस लिए यह संयुक्त वाक्य है। मेरा जाना और तेरा सोना एक साथ; यह बतलाना प्रयोजन है। कहीं सहयोग या काम का बँटवारा—

'मैं रोटी बना लूँ गा और तुम बर्तन धो लेना'

कभी वैषम्य प्रकट होता है—

'राम कमा-कमा कर लाता है और उस का बेटा सब उड़ा देता है।'

कभी-कभी 'और' न दे कर 'कामा' आदि से काम लेते हैं—

"बैल जुतते-मरते हैं, गधे मौज करते हैं!"

परन्तु ऐसी स्थिति में जोर नहीं रहता। 'और' बीच में आ जाए, तो बात बढ़िया बन जाती है। हाँ, कहावतों में तो **यथास्थित** प्रयोग हो गा ही—

'बहि-बहि मरैं बैलवा, बाँधे खायँ तुरंग'!

पाञ्चाली (कन्नौजी-कानपुरी) बोली की यह कहावत है—बैल जुत-जुत कर मरते हैं और तुरंग मजे से माल उड़ाते हैं! विधि का विधान! ऐसी कहावतों में 'और' आदि का प्रयोग न हो गा।

यदि कोई विशेष बात न हो, तब 'और' का प्रयोग न कर के वाक्य अलग-अलग हों गे—

'मैं कलकत्ते गया। वहाँ मुझे मोहन मिला।'

इसे 'मैं कलकत्ते गया और वहाँ मुझे मोहन मिला' यों संयुक्त वाक्य के रूप में कहना अनावश्यक है। अनावश्यक शब्द-प्रयोग गलती है। "मैं उन के घर गया और वे उस समय घर में नहीं थे"। यहाँ दो वाक्य अलग-अलग हों, तो क्या हर्ज ? हाँ, यहाँ अवश्य संयुक्त वाक्य अच्छा रहे गा—

'मैं उन के घर मिलने गया और वे इधर मेरे घर पहुँचे!'

संयोग की बात! संयुक्त वाक्य में कोई अंश प्रधान या अप्रधान नहीं होता। दोनो बराबर होते हैं। 'मैं ने कहा कि तुम चले जाओ' ऐसे वाक्यों को लोग 'मिश्रवाक्य' कहते हैं और यहाँ प्रधान-अप्रधान भाव बतलाते हैं। वस्तुतः ये सब 'संयुक्त वाक्य' हैं और इन में प्रधानता-अप्रधानता जैसी कोई चीज नहीं होती। दोनो अंश (दोनो वाक्य) प्रधान होते हैं। वाक्य में क्रिया प्रधान होती है—विधेयता मुख्य होती है। दोनो वाक्यों में क्रियाएँ (आख्यात) विद्यमान हैं; इस लिए दोनो अपनी-अपनी जगह प्रधान हैं। एक को प्रधान और दूसरे को अप्रधान कहने में कोई कारण नहीं है। दूसरा वाक्य 'कर्म'-रूप से है; इस लिए अप्रधान; ऐसा कहना भी तर्क-संगत नहीं है। कर्म को अप्रधान क्यों माना जाए ? और प्रथम वाक्य 'कर्ता' तो नहीं है न! यदि ऐसा होता, तो भी कुछ कहने की बात होती। 'कहा' क्रिया का कर्म उत्तर वाक्य है—'वाक्य का कर्म' नहीं। सो, अनेक वाक्य चाहे जिस रूप में

और चाहे जिस शब्द के द्वारा संयुक्त हो कर आएँ—'संयुक्त वाक्य' कह-लाएँ गे और उन की प्रधानता-अप्रधानता का विवेचन व्यर्थ का गोरखधन्धा है। हाँ, कर्म-भाव, हेतु-भाव आदि उन्हें अवश्य प्राप्त होता है। यही देखने की चीज है।

ऊपर कहा जा चुका है कि किसी विशेष प्रयोजन से ही संयुक्त वाक्य की सृष्टि होती है। समास, तद्धित तथा कृदन्त आदि वृत्तियों में अर्थ कभी-कभी दब-सा जाता है; इस लिए खुले शब्दों का प्रयोग, जोर देने के लिए, किया जाता है और ऐसी स्थिति में वाक्य विस्तृत हो जाता है—फैल कर अनेक वाक्यों में आ जाता है। यही स्थिति है, जिसे 'संयुक्त वाक्य' कहते हैं। 'साहित्यिक को दैन्यपूर्वक दूसरे के सामने हाथ फैलाना योग्य नहीं है।' यह एक वाक्य है। हाथ फैलाना बुरा, यह कहा गया है। परन्तु 'फैलाना' कृदन्त को यदि आख्यात-रूप से कहा जाए, तो जोर अधिक आ जाए गा—

'साहित्यिक को यह योग्य नहीं कि वह दूसरों के सामने दैन्यपूर्वक हाथ फैलाता फिरे।'

अब संयुक्त-वाक्य में अधिक जोर आ गया है। यदि ऐसी कोई बात न हो, तो एक वाक्य रहे गा—

'सूर्य में ताप और प्रकाश नैसर्गिक है'

इसे—

"यह एक नैसर्गिक बात है कि सूर्य में ताप और प्रकाश है"

यों संयुक्त-वाक्य के रूप में देना भद्दा लगे गा।

इसी तरह—'स्वराज्य का उद्देश्य देश में सुख-समृद्धि की वृद्धि है' यह साधारण वाक्य है। जोर देने के लिए कहा जाए गा—

'स्वराज्य का उद्देश्य यही है कि देश में सुख और समृद्धि की वृद्धि हो'
परन्तु 'गरमी में दिन बड़े होते हैं' इसे यों फैलाना बहुत भद्दा—

"जब गरमी के दिन होते हैं, तब दिन बड़े होते हैं!"

और—

'जब सबेरा होता है, तब हम घूमने जाते हैं'

यह संयुक्त वाक्य ठीक नहीं—'सबेरे हम घूमने जाते हैं' ठीक। यदि मतलब यह हो कि अँधेरे में घूमने नहीं जाते, तो दूसरी बात है। तब ठीक। यहाँ भी संयुक्त वाक्य अच्छा—

'रास्ते में लुटेरों ने उत्पात मचा रखा था; इस लिए, जब सबेरा हो गया, तब हम लोग आगे बढ़े'।

सबेरा होने पर जोर है; इस लिए उसे पृथक् आख्यात से कहा गया है।

कभी-कभी वाक्य विशेषण के रूप में भी आते हैं—"डा० अमरनाथ झा की बड़ी इच्छा थी कि हिन्दी का एक अच्छा व्याकरण बन जाए।" पूर्ववाक्य में आए हुए 'इच्छा' शब्द का विधेय-विशेषण मात्र उत्तर वाक्य है। इसी लिए—"हिन्दी का एक अच्छा व्याकरण बन जाए; यह इच्छा डा० अमरनाथ झा की थी" यों क्रम कर देने से 'यह' शब्द पूरे पूर्व वाक्य का परामर्श करता है और तब 'इच्छा' के साथ अन्वित होता है।

"तुम ने ऐसे काम किए, जिस से जाति का अपमान हुआ है"

'जिस से' 'काम' के लिए नहीं आया है। ऐसा होता, तो 'जिन से' होता। 'जिस से' शब्द से 'काम करने' का परामर्श है—'उस तरह के काम करने से'। ऐसी जगह क्रिया का परामर्श सदा पुल्लिङ्ग-एकवचन सर्वनाम से हो गा; भले ही परामृश्य आख्यात में बहुवचन हो, चाहे स्त्रीलिङ्ग हो। "वह ऐसे काम करती है कि लोग चिढ़ जाते हैं।" यहाँ 'कि' से हेतुता स्पष्ट है।

"मैं तो इस लिए बाग गया था कि कुछ फल ले आऊँ'

यहाँ उत्तर वाक्य 'प्रयोजन' है।

"इन नदियों का पानी इतना ऊँचा पहुँच जाता है कि बड़े-बड़े पूर आ जाते हैं"

पूर्व वाक्य 'हेतु' है। पानी का उतने ऊँचे उठना पूर आ जाने का हेतु है—कारण है।

"तुम्हें कोई ऐसा काम न करना चाहिए, जिस से मित्रों के दिल दुखें।"

पूर्व वाक्य 'हेतु' है, उत्तर वाक्य के 'दिल दुखने' का।

"तुम ने जो कुछ कहा, उस से लोगों ने तुम्हें बड़ा लोभी समझा।"

वैसा कहना 'ज्ञापक हेतु' है। उस से लोभी होने का ज्ञान हुआ।

"जो कुछ तुम ने किया, संसार में बहुत ही बुरा समझा जाए गा।"

पूर्व वाक्य 'उद्देश्य' है, उत्तर वाक्य 'विधेय' है। 'तुम्हारा वह सब करना बुरा समझा जाए गा' यह मतलब। 'वह सब करना' उद्देश्य और उस का 'बुरा समझा जाना' विधेय है। इसी तरह सब समझिए; कोई गूढ़ तत्त्व नहीं है। छात्रों को अनावश्यक 'जटिल' वाक्य दे कर उन का व्यर्थ विश्लेषण कराना एक खिलवाड़ भर है। इस से दिमागी परेशानी बढ़ती है और भाषा-संबन्धी कोई विशेष ज्ञान मिलता नहीं है।

उत्तरार्द्ध

क्रिया-प्रकरण

उत्तरार्द्ध

प्रथम अध्याय

क्रिया-प्रकरण

पूर्वार्द्ध में उद्देश्यात्मक शब्दों पर विचार किया गया। अब यहाँ—उत्तरार्द्ध में—वाक्य के विधेय अंश पर विचार किया जाए गा—'क्रिया' तथा 'क्रिया-विशेषण' आदि देखे जाएँ गे।

'राम सो रहा है' इस वाक्य में 'राम' उद्देश्य है 'सो रहा है' विधेय है। उद्देश्य ज्ञात रहता है, 'सिद्ध'-अवस्था में होता है और विधेय (पूर्व) अज्ञात रहता है, 'साध्य' होता है। 'राम' को आप जानते हैं—कौन है, किस का लड़का है; परन्तु उस की विविध क्रियाओं से आप अपरिचित हैं। उस की ये क्रियाएँ जिन शब्दों के द्वारा बताई जाती हैं, उन्हें 'विधेय' कहते हैं। साधारणतः उद्देश्य का प्रयोग पहले होता है, विधेय का तदनन्तर—'राम पढ़ता है, खेलता भी है'। इसी लिए उद्देश्य का निरूपण पहले किया गया और उस के परिकर का भी परिचय दिया गया। अब विधेय का निरूपण हो गा। इस पूर्वापर-प्रयोग को प्रायिक समझिए, अनिवार्य नहीं। 'राम पुस्तक पढ़ता है' जैसे साधारण प्रयोग हैं। इसे उलट कर 'पढ़ता है राम पुस्तक' जैसा कर दें, तो अटपटा लगे गा। मतलब तो समझ में आ जाए गा; परन्तु शब्द-क्रम अव्यवस्थित होने से वाक्य बेढँगा जान पड़े गा। कहा गया है:—

'यच्छब्दयोगः प्राथम्यं सिद्धत्वं चाऽनूद्यता।'

'अनुवाद्य' यानी 'उद्देश्य' का प्रयोग प्रायः 'यत्' ('जो') शब्द के साथ होता है।

'जो काम करे गा, वह सुख पाए गा'

इस में प्रथम वाक्य उद्देश्यात्मक है। 'जो' शब्द से उद्देश्य का निर्देश है।

'प्राथम्य' या पूर्व-प्रयोग भी उद्देश्य का स्पष्ट ही है। इसे उलट कर यों साधारणतः न किया जाए गा—

'वह सुख पाए गा, जो काम करे गा'

उद्देश्य और विधेय का क्रम न रखने से कभी-कभी अर्थ-भ्रम भी हो जाता है। किसी ने कहा—

'औषधं जाह्नवीतोयम्'

—'औषध गंगाजल है'। और—

'वैद्यो नारायणो हरिः'

—वैद्य हमारे भगवान् हैं।

निश्चय ही एक वीतराग सन्त की यह उक्ति है। अब दवा-औषध की या वैद्य-डाक्टर की जरूरत नहीं। गंगाजल ही दवा है और नारायण ही हमारे वैद्य हैं। यह भाव है। परन्तु उद्देश्य-विधेय का पूर्वापर क्रम बदल देने से मतलब उलटा भी प्रतीत होता है! जान पड़ता है कि कोई संसार-कीट कह रहा है कि 'दवा मेरे लिए गंगाजल है'। चाहे जो मिला दो; कोई विचार नहीं। और 'वैद्य ही मेरा नारायण है'। वह जो कुछ भी कहे गा, मेरे लिए शिरोधार्य है। दोनो तरह के व्यक्ति संसार में हैं; इस लिए सन्देह को अवसर है कि वाक्य का असली मतलब क्या है! इस तरह के सन्देह को अवसर न मिले; इस लिए उद्देश्य-विधेय का पूर्वापर क्रम निश्चित है। विधेय के लिए कहा गया है—

'तच्छब्दयोग औत्तर्य्यं साध्यत्वं चेति विधेयता'

—विधेय का निर्देश 'तत्' ('वह' या 'सो') शब्द से होता है, पर-प्रयोग होता है और वह 'साध्य' होता है—'वह सुख पाए गा'। कभी कभी इस क्रम में परिवर्तन भी होता है। यदि विशेष जोर देना हो, तो—

'सुख वह पाए गा, जो काम करे गा।'

यों विधेय अंश का पूर्व प्रयोग होता है। परन्तु सब से आगे 'सुख' है। 'वह सुख पाए गा' न हो गा। परन्तु 'वह दुख पाए गा, जो गुरुजनों की

अवज्ञा करे गा' ऐसी जगह 'दुख' कर्म का पर-प्रयोग ठीक है। ये सब बातें अन्यत्र विस्तार से समझाई जाएँ गी।

'प्राथम्य' या पूर्व-प्रयोग का मतलब प्रधानता नहीं है। वाक्य में प्रधान तो क्रिया ही होती है—विधेय अंश पर प्रधानता रहती है; भले ही वह कहीं हो। किसी के बारे में आप जो कुछ कहना चाहते हैं, श्रोता के लिए वही मुख्य चीज है। उसी को वह जानना चाहता है। उद्देश्य तो उसे ज्ञात ही है। वक्ता के लिए भी विधेय ही प्रधान है। किसी के बारे में वह जो कुछ कहना चाहता है, वही तो मुख्य है। क्रिया--पद अंश विधेय होता है और उस का परिकर भी।

क्रिया-पद

होना, बढ़ना, घटना, नष्ट होना, पढ़ना, खाना, पीना आदि क्रियाएँ हैं। किसी की कोई स्थिति क्रिया-पद बतलाते हैं। अन्य शब्द उद्देश्य रूप से आते हैं। 'राम विद्वान् है' वाक्य में 'है' क्रिया है, जिस का संबन्ध 'विद्वान्' से है। 'राम' में विद्वत्ता है; यह कहना है। इस लिए 'विद्वान्' 'राम' (या 'उद्देश्य') का विधेय-विशेषण है। राम की एक विशेषता बतलाई गई है। 'राम विद्वान्' कहने से कोई मतलब न निकले गा। यदि कहीं 'है' क्रिया की प्रतीति स्वतः हो, तब प्रत्यक्ष प्रयोग के बिना भी वाक्य बन जाए गा— 'अच्छा भाई, राम मूर्ख और गोविन्द विद्वान्!' यहाँ 'है' का प्रयोग करने की जरूरत नहीं। 'है' का प्रयोग इस लिए नहीं कि वस्तुतः मूर्खता और विद्वत्ता का 'अस्तित्व' स्वीकार नहीं है।

क्रियाएँ कहीं 'सिद्ध'-रूप होती हैं, कहीं 'साध्य'रूप। 'सिद्ध' ज्ञात होता और 'साध्य' अज्ञात। 'सिद्ध' को उद्देश्य बना सकते हैं। क्रिया का विधेय अंश 'साध्य' कहलाता है। 'राम पढ़ता है'। विधेय में 'पढ़ता है' 'साध्य' है। 'पढ़ने' का विधान है। 'राम निबन्ध लिखता है' में लिखने का विधान है, जिस का संबन्ध (कर्म रूप से) 'निबन्ध' से है। फलतः 'राम' उद्देश्य; और 'विधेय' अंश है 'निबन्ध लिखना'। 'राम' को आप जानते हैं; पर यह नहीं जानते कि वह क्या करता है! इस अज्ञात को बतलानेवाला अंश 'विधेय' या 'साध्य' है। परन्तु—

'निबन्ध-लेखक भी आजकल पथभ्रष्ट हो गए हैं'

यहाँ 'लिखना' या 'निबन्ध लिखना' विधेय नहीं, उद्देश्य है। जो लोग निबन्ध लिखते हैं, ज्ञात हैं। उन के बारे में कुछ कहा गया है, जो विधेय है। उन का भ्रष्ट होना विधेय है—प्रतिपाद्य है। 'निबन्ध-लेखक' शब्द में 'लिखना' (लेखन)—क्रिया विद्यमान है; परन्तु वह 'साध्य' नहीं है, प्रतिपाद्य नहीं है। इसी लिए वह 'विधेय' नहीं है। 'पथभ्रष्ट होना' विधेय है। 'है' क्रिया है और 'पथ-भ्रष्ट' उद्देश्य ('निबन्ध-लेखक') का 'विधेय-विशेषण' है। 'लड़के गए' में 'गए' क्रिया विधेय है; परन्तु 'गए की चिन्ता नहीं' में 'गए' उद्देश्य है, सिद्ध है।

क्रियाओं के मूल रूप—'धातु'

लोटा, गिलास, थाली, कटोरा आदि विविध बर्तन देख कर आप ने उन सब में एक ही उपादान पाया और तब कहा कि 'सब बर्तन पीतल के हैं।' तो, इन बर्तनों की 'धातु' पीतल हुई, जिस ने इन सब (बर्तनों) को धारण कर रखा है, जो इन के रूप में परिणत हो रही है। इसी तरह लोहा, सोना, चाँदी आदि समझिए। इन धातुओं से न जाने कितनी चीजें बनती हैं। इसी तरह 'पढ़ता है' 'पढ़ेगा' 'पढ़ता था' 'पढ़िहै' 'पढ़सां' 'पढ़े गो' पढ़ब' आदि विविध क्रिया-पदों में जो चीज व्यापक दिखाई देती है, जो उपादान-रूप से सर्वत्र विद्यमान है, वह 'धातु' कही जाए गी। उपर्युक्त सभी पदों में 'पढ़' आप देख रहे हैं—कहीं स्पष्ट, कहीं कुछ दूसरे रूप में। पढ़े गा' में भी आप 'पढ़' देख रहे हैं। जल में कोई रंग या चीनी घोल देने पर भी आप को यह सन्देह नहीं होता कि यह जल है कि नहीं! सो, विविध क्रिया-पदों के मूल रूप को 'धातु' कहते हैं।

हिन्दी में 'सभी 'धातु' स्वरान्त हैं, एक भी व्यञ्जनान्त नहीं। संस्कृत 'पठ्' आदि व्यञ्जनान्त धातुओं में वर्ण-विकार कर के स्वरान्त कर लिया गया है—'पढ़'। हिन्दी के गठन में ऋवर्ण को कोई स्थान नहीं; इस लिए यहाँ ऋकारान्त कोई धातु नहीं। संस्कृत की 'कृ' धातु यहाँ 'कर' है और 'मृ' है 'मर' के रूप में। 'ऋ' को 'अर्' हो जाना संस्कृत में भी प्रसिद्ध है। 'कृ' के 'ऋ' को 'अर्' कर लिया गया—क्+अर् = 'कर्'। हिन्दी को व्यञ्जनान्त धातु ग्राह्य नहीं; इस लिए 'अ' अन्त में ला कर 'कर' धातु। यही 'कर' हिन्दी से संबद्ध अवधी, व्रजभाषा आदि बोलियों में तथा पंजाबी, गुजराती,

मराठी, बँगला, उड़िया आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं में गृहीत है। प्रत्यय मात्र का भेद सर्वत्र है।

उठना, बैठना, सोना, जागना आदि कृदन्त 'भाववाचक' संज्ञाएँ हैं। यहाँ 'भाव' का अर्थ है 'शुद्ध धात्वर्थ'। 'शुद्ध' का अर्थ यह कि धात्वर्थ के साथ कोई कारक, काल, या 'पुरुष' आदि की प्रतीति नहीं। क्रिया का स्वरूप मात्र प्रकट है। क्रिया-सामान्य के वाचक इन ('उठना' आदि) शब्दों से यदि प्रत्यय ('ना') हटा लें, तो अवशिष्ट अंश 'धातु' भर रह जाता है। परन्तु 'धातु' का यह लक्षण नहीं, एक मोटी पहचान है। कारण, हिन्दी में—काल-विशेष प्रकट करने के लिए और किञ्चित् अर्थ-भेद ले कर—'ह' तथा 'ग' धातुएँ ऐसी चलती हैं, जिन से भाववाचक संज्ञाएँ या क्रिया के सामान्य रूप नहीं बनते। 'है' में 'ह' धातु है, जिस में 'इ' प्रत्यय लग कर और वृद्धि-सन्धि हो कर 'है' रूप बनता है। इसी 'ह' से भूतकाल में 'त' प्रत्यय हो कर (पुंविभक्ति के योग से) 'हता' रूप बनता--चलता है, व्रजभाषा में 'हतो'। 'हता' को उलट-पुलट कर 'था' बना है। यों 'ह' की स्थिति है। इसी तरह 'ग' की भूतकाल में। 'ग' से 'य' प्रत्यय कर के 'गया' रूप बनता है। वर्तमान काल में इन के प्रयोग नहीं होते; जैसे कि संस्कृत में 'अस्' के भूतकाल आदि में नहीं होते। वहाँ भूतकाल में 'अस्' की जगह 'भू' के रूप चलते हैं—भाषा की ऐसी प्रवृत्ति है। हिन्दी में 'हो' तथा 'ह' दोनो ही आवश्यक हैं। एक के भी बिना काम नहीं चल सकता। इसी तरह 'जा' के स्थान पर, भूतकाल में 'ग' की जरूरत है। 'गया है' को 'जाया है' नहीं कर सकते और न 'जाता है' की जगह 'गता है' कर सकते हैं। वर्तमान काल में धातु की गुरुता प्रचलित है। एक ही (ह्रस्व) वर्ण की धातु का वर्तमान काल में प्रयोग नहीं होता। संस्कृत 'या' में दीर्घ स्वर है, गुरुता है। उसी के 'य्' को 'ज्' कर के वर्तमान में 'जाता है' रूप गृहीत है। यही 'जा' भविष्यत् तथा विधि आदि में भी है। भूतकाल में 'ग' से गया है। संस्कृत में भी वर्तमान काल की क्रियाओं में गुरुत्व देखा जाता है, भूतकाल भले ही 'लघु' रूप से हो। गत्यर्थक 'इ' धातु से संस्कृत में वर्तमान काल की क्रिया 'एति' बनती है। यानी ह्रस्व या लघु 'इ' को गुरु (द्विमात्रिक) 'ए' कर दिया गया। परन्तु भूतकाल(कृदन्त) में 'इतः' रूप होता है—'इतः'-'गतः'। 'गतः' भूतकाल में 'ग' मात्र है; परन्तु वर्तमान में 'गच्छति'। 'गच्छ' गुरु है। हिन्दी भी वर्तमान में धातुगत

गुरुत्व पसन्द करती है। इसी लिए 'हो' तथा 'जा' धातुओं के 'होता'–'जाता' जैसे रूप चलते हैं। भविष्यत् में 'हो गा' की जगह 'हगा' करने से तो एक मजाक ही बन जाता ! 'हग' हिन्दी की 'बोलियों' में एक पृथक् धातु है। संस्कृत 'हद्' (पुरीषोत्सर्ग) के 'द्' को 'ग' कर के यह है। बच्चों के पुरीषोत्सर्ग के लिए इस का प्रयोग जन-बोलियों में होता है। यदि 'ह्' सत्तार्थक धातु का भविष्यत् में 'हगा' रूप बनता, तो कितना भद्दा लगता !

इन दोनो—'ह्' तथा 'ग'—धातुओं से कृदन्त भाववाचक संज्ञाएँ नहीं बनतीं ! न तो 'ह्' से 'हना' बनता है, न 'ग' से 'गना'। संस्कृत 'हन्' धातु को सस्वर कर के और भूतकालिक 'य' प्रत्यय कर के ब्रजभाषा में 'हन्यो' और अवधी में 'हना' भिन्न प्रयोग हैं। 'हना' या 'हन्यो'-'मारा'। यों यह 'हना' 'ह्' की भाववाचक संज्ञा नहीं; 'हन' सकर्मक की भूतकालिक क्रिया है—'हना खर बाना' और 'हन्यो कंस मथुरा पहुँचि'। राष्ट्रभाषा में 'हन्' की जगह 'मार' धातु, या 'उपधातु' है—'मर' का प्रेरणात्मक रूप। जब 'मरता है' आदि के लिए 'मर' धातु है ही, तब उसी की प्रेरणा से 'मार' ठीक। पृथक् 'हन' धातु क्यों ली जाए ! 'हना' की तरह 'गना' और 'हन्यो' की तरह 'गन्यो' आदि अन्यत्र भिन्न सकर्मक क्रियाएँ हैं। राष्ट्रभाषा में 'गिना' होता है—'हमें कुछ गिना ही नहीं।' 'उन्हें भी गिना ?'।

हिन्दी में 'ह्' तथा 'ग' से भाववाचक संज्ञाएँ नहीं बनतीं, इतना भर कहना है। 'होना'—'जाना' 'हो' तथा 'जा' धातुओं से हैं। संस्कृत में भी 'अस्' से भाववाचक संज्ञाएँ नहीं बनतीं ! 'भू' तथा 'अस्' के अर्थों में कुछ अन्तर है। 'भवनम्' से काम चल नहीं सकता; इस लिए 'अस्तित्व' या 'सत्ता' आदि शब्द बनते-चलते हैं।

जैसा कि पीछे आभास मिला है, हिन्दी-धातुओं का विकास, या रूप-ग्रहण कई पद्धतियों पर हुआ है। 'अखरना' 'बिदकना' आदि क्रियाओं के धातु प्राचीनतम मूल भाषा से, विविध लुप्त-प्रकट प्राकृतों में होते हुए, हिन्दी में आए हैं। कुछ धातुओं का आभास प्रत्यक्षतः संस्कृत धातुओं में मिलता है—पठ्, या, गम्, कृ (कर्)-(पढ़, जा, ग, कर) आदि। कुछ धातुओं में इतना अन्तर आ गया है कि साधारणतः चीज समझ में ही नहीं आती ! 'पठ' से 'पढ़' और 'या' से 'जा' की व्युत्पत्ति है– यानी धातु से धातु। परन्तु 'बैठ' धातु में इतना परिवर्तन है कि व्युत्पत्ति-विकास समझने में

देर लगती है। संस्कृत 'विश्' धातु में 'उप' उपसर्ग लगाने से 'बैठना' अर्थ निकलता है—'उपविशति'-बैठता है। परन्तु इस 'उपविश्' से 'बैठ' का निकास-विकास नहीं है। हिन्दी ने 'उपविष्ट' कृदन्त से 'विष्ट' अलग कर लिया। 'व' को 'ब्' और 'इ' को 'ऐ' कर के 'बै' बन गया। 'ष्ट' को वर्ण-व्यत्यय से 'ट् ष् अ'। हिन्दी में मूर्द्धन्य 'ष' को 'स' हो जाता है और 'स' बन जाता है 'ह'। 'ट्' और 'ह्' मिल कर 'ठ्'। 'ठ्' मिला आगे के 'अ' में और 'बै' के साथ 'ठ' रख कर 'बैठ' धातु।

इसी तरह 'पैठ' भी है। 'राम कुए में पैठता है'—प्रवेश करता है। हिन्दी ने 'प्रविश' की जगह 'प्रविष्ट' कृदन्त की ओर देखा। 'प् र् अ व् इ ष् ट' यह 'प्रविष्ट' का अक्षर-विन्यास है। यहाँ से 'र् अ व्' ये तीन अक्षर उड़ गए। 'इ' को 'ऐ' हो गया और 'ष् ट' को 'ठ'। उसी तरह 'पैठ' धातु निष्पन्न। निरुपसर्ग 'खाद्' आदि का आधा अंश ले लिया। पानार्थक 'पा' धातु ज्यों की त्यों न ली गई; क्योंकि 'प्राप्त करना' अर्थ में हिन्दी की 'पा' धातु है—'प्राप्त' का 'पा' मात्र ले कर। तब संस्कृत पानार्थक 'पा' धातु की क्रिया 'पिबति' से 'पि' लिया गया और स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार दीर्घ होकर के 'पी' धातु बनी। संस्कृत 'उत्थान' के 'था' को अलग कर के 'ठा' बना लिया और ह्रस्व कर लिया। आगे अपना उपसर्ग 'उ' लगा कर 'उठ' धातु बना ली गई। यह उपसर्ग धातु के गठन में है; इस लिए अब इसे उपसर्ग न कहें गे। 'ठ' मात्र धातु नहीं है! 'न' संस्कृत का तद्रूप शब्द यहाँ चलता है, यह अलग बात है। 'अपना' या तद्भव शब्द प्रायः गुरु ही होता है। एक 'कि' अव्यय अवश्य लघु है, जो कि बहुत अर्वाचीन चीज है। अवधी आदि में गुरु-लघु—'की तनु प्रान कि केवल प्राना' जैसे उभयविध प्रयोग देखे जाते हैं। परन्तु राष्ट्रभाषा में 'आम लो गे कि जामुन ?' यों विकल्प में भी 'कि' का ही प्रयोग होता है। बस, इस के अतिरिक्त अन्य सब अव्यय 'गुरु' मिलें गे। संस्कृत का 'अपि' प्राकृतों में 'वि' हो गया। पंजाबी में दीर्घ 'वी' चलता है। परन्तु हिन्दी ने 'व्' को 'ब्' कर के फिर 'भ्' कर लिया—'भी'। इसी तरह 'तु' को 'तो' कर लिया। 'नु' आदि लिए ही नहीं। सर्वनामों में भी गुरु-प्रवृत्ति ही है। 'यः' का 'ज' बनता; क्योंकि हिन्दी के गठन में विसर्गों का कोई स्थान नहीं। अपनी 'आ' विभक्ति लगा देने से 'जा' बन जाता; परन्तु हिन्दी की एक धातु 'जा' है। सो, प्राकृत के 'यो' को 'जो' बना कर काम लिया गया। 'ओ' विभक्ति व्रजभाषा में है, जिसे हिन्दी ने भी 'जो' में

ग्रहण कर लिया। यही 'बो' अवधी आदि में भी है। कहावत आदि में 'सो' भी चलता है; परन्तु अन्यत्र 'वह' हिन्दी ने रखा है, जो कि 'सो' का ही परिणाम है। वर्ण-व्यत्यय से 'ओस्'। स्वरान्तता और 'स' का 'ह्'। 'ओहिका' आदि रूप पूर्वी अंचलों में चलते हैं। 'ओह' के 'ओ' को 'व' कर के 'वह' राष्ट्रभाषा का रूप।

इसी 'वह' के वजन पर 'यह' शब्द गढ़ा गया। प्रासंगिक चर्चा बहुत लम्बी हुई जाती है। कहना केवल यह कि हिन्दी के स्वरूप-गठन में संक्षेपप्रियता तो है; परन्तु पदगौरव पर भी ध्यान है। संख्यावाचक संस्कृत 'षष्' का विकास हिन्दी में 'छह' है; मराठी में 'सहा' है। 'छह' को गलती से 'छ' लिखने की अन्धाधुन्धी चल रही है। छह—छहो; जैसे 'चार—चारो' आदि। 'छमाही' में 'ह' का लोप, जैसे 'तिमाही' में 'न' का। वृत्ति में हिन्दी-शब्दों का प्रथम दीर्घ स्वर प्रायः ह्रस्व हो ही जाता है। घृणाव्यंजक अव्यय 'छी' है—'छी छी!' इसे भी लोग गलती से 'छि' लिखने लगे; परन्तु हिन्दी के पदों में तो गौरव अपेक्षित है। प्रवृत्ति ही ऐसी है। इस प्रवृत्ति ने 'छि' को 'छिः' करा दिया और 'छ' को भी 'छः'! परन्तु ठेठ हिन्दी शब्दों में विसर्ग नाम की कोई चीज है ही नहीं; इस लिए 'छ' तथा 'छि' के आगे विसर्ग लगा कर 'छः'—'छिः' बनाना गलती पर गलती! लोकभाषा में विसर्गों की उपेक्षा प्राकृत काल से ही देखने को मिलती है, जहाँ अकारान्त संज्ञा आदि के रूप सदा ओकारान्त (प्रथमा के एकवचन में) मिलते हैं; यानी विसर्गों को 'ओ' रूप प्राप्त है। खड़ीबोली की धारा में विसर्ग 'आ' के रूप में स्पष्ट ही हैं। संस्कृत विभक्तियों की छाया ही तब प्राकृतों में चल रही थी; पर (उन छायाविभक्तियों में भी) विसर्गों के दर्शन नहीं होते। हाँ, संस्कृत के तद्रूप 'प्रायः' तथा 'दुःख' आदि शब्दों से विसर्गों को हिन्दी ने नहीं हटाया।

सो, 'छ' आदि गलत हैं। संस्कृत का तद्रूप शब्द 'न' अवश्य लघु चलता है; यद्यपि जन-बोलियों में इस का दीर्घ रूप 'ना' प्रचलित है—'ना मोरे सासु, ननद ना मोरे' और 'नाहीं नाहीं करत हौ तुम काहे को कन्त!' आदि। परन्तु साहित्यिक हिन्दी में—राष्ट्रभाषा में—'न' तद्रूप चलता है। अवश्य ही 'कि' (अव्यय) जैसा कोई अन्य लघु शब्द मिल सकता है, जो अलग बात है। प्रवृत्ति गुरुताप्रिय है।

यही गुरुता-प्रवृत्ति धातुओं में भी है। इसी को हिन्दी की दीर्घाभिमुखी प्रवृत्ति कहते हैं; पर 'गौरव-प्रकृति' या 'गुरुताप्रवृत्ति' कहना अधिक अच्छा; क्योंकि 'उठ' आदि धातुओं में, 'छह' आदि संख्यावाचक शब्दों में, 'झट' आदि अव्ययों में और 'लट' आदि संज्ञाओं में स्वर-दीर्घता नहीं है; परन्तु गुरुता है। दो ह्रस्व (छोटे) मिल कर 'गुरु' या 'बड़े' रूप में आ जाते हैं—गौरव प्राप्त कर लेते हैं—अपना वजन बढ़ा लेते हैं।

संक्षेप यह कि हिन्दी के धातु स्वरूपतः संक्षिप्त, परन्तु 'गुरु' हैं। सत्तार्थक 'ह' तथा गत्यर्थक 'ग' धातु इस प्रवृत्ति में अपवाद-स्वरूप हैं; जैसे 'कि'—जैसा एकाध अन्य शब्द। परन्तु 'ह' से बना पद 'है' गुरु हो जाता है। इसी तरह 'जा' धातु की जगह भूतकाल में 'आई हुई' 'ग' धातु समझिए। इस से भी बना पद 'गया' गुरु हो जाता है। परन्तु इन से भाववाचक संज्ञा (सामान्य-क्रियावाचक) शब्द हिन्दी नहीं बनाती। 'हो' से 'होना' बनता है; पर 'ह' से 'हना' नहीं। इसी तरह 'जा' से 'जाना' बनता है; पर 'ग' से 'गना' नहीं। इस तरह काल-विशेष में क्वचित् प्राप्त 'ह'-'ग' को हिन्दी ने अलग ही एक श्रेणी में रखा है। दो शब्दों की श्रेणी भी क्या! काम के लिए ले लिए गए हैं। 'हो' धातु संस्कृत 'भवति' का विकास है—भवति-भोदि, होइ। 'होइ' से 'हो' अलग कर के धातु-रूप से ग्रहण। 'ह' धातु संस्कृत 'अस्ति' से है। 'त्' का लोप, 'स्' को 'ह्' और स्वर-दीर्घता। कहीं 'आहि' और कहीं 'अहै'। कहीं 'आहि' के 'ह्' का लोप और 'इ' को 'य'—'जाने को आय!'—न जाने कौन है! 'है' से 'इ' को पृथक् प्रत्यय-रूपता और 'ह' धातु। इसी 'ह' से भूतकाल का 'त'-प्रत्यय और पुंविभक्ति—हता-हतो, हते, हती। वर्ण-व्यत्यय और वर्ण-विकार से 'हता' हो गया 'था'। होता है, होता था, आदि संयुक्त रूप 'हो'-'ह' से। 'आहि' तथा 'अहै' ब्रजभाषा-साहित्य में प्रसिद्ध क्रियाएँ हैं। इन दोनो रूपों के साथ साथ तीसरा रूप 'है' भी ब्रजभाषा में चलता है। खड़ी बोली में 'है' मात्र का चलन है; अन्य ('आहि'—'अहै') का नहीं। 'अहै' का 'अ' घिस गया और 'है' बन गया।

यों यह 'है' का विकास 'अस्ति' से है और तिङन्त ('ति' प्रत्यय के अवशेष) 'इ' की सत्ता होने से उसी पद्धति पर चलन है। •

इस 'है' की धातु-कल्पना की जाए, तो कैसे? इस के भाववाच्य कृदन्त रूप हिन्दी में हैं ही नहीं; जैसे संस्कृत में 'अस्ति' के नहीं हैं। 'अध्ययनम्'

आदि की तरह 'असनम्' नहीं कर सकते। 'अस्तित्व' आदि से काम चलता है। 'भवति' का 'भवनम्' अवश्य बनता है; परन्तु 'अस्तित्व' के अर्थ में चलता नही देखा जाता। हिन्दी में 'भू' के 'हो' से 'होना' कृदन्त रूप होता है।

तब फिर 'है' क्रिया की धातु क्या मानी जाए? है–हूँ आदि रूपों में 'ह' की स्पष्टता है। 'ह' सर्वत्र दिखाई देता है। इ, उ, ऊँ, प्रत्यय माने जा सकते हैं, जिन का आभास करे, करो, करूँ आदि में भी मिलता है। अन्तर यह कि 'ह' में लगने पर वर्तमान काल और अन्य धातुओं में विधि आदि की प्रतीति कराते हैं। 'अर्थभेदात् शब्द-भेदः' के अनुसार प्रत्यय-भेद भी समझिए। एक-रूप के अनेक प्रत्यय।

सो, 'ह' धातु सत्तार्थक मान कर इस में 'इ' आदि प्रत्यय लगा कर 'है' आदि क्रिया-शब्द। 'करहि सदा विप्रन पर दाया'—ब्राह्मणों पर सदा दया करता है। ऐसे प्रयोग अवधी तथा व्रजभाषा आदि में होते हैं—'करता है' के अर्थ में 'करहि' का प्रयोग होता है। यह 'करहि' भी तिङन्त है—'जनक करहि पालन सन्तति कौ' और 'जननि करहि पालन निज सुत कौ'। उभयत्र 'करहि'। यह 'हि' प्रत्यय 'है' का ही घिसा हुआ रूप जान पड़ता है। 'कर' धातु के आगे 'हि'—'करहि'। राष्ट्रभाषा में 'त' कृदन्त प्रत्यय से 'करता' 'करती' 'करते' रूप और आगे 'है' तिङन्त क्रिया—'करता है' आदि।

'करहि' की विभक्ति का 'ह्' लुप्त भी हो जाता है—'करइ' 'जरइ' 'परइ' आदि। विकल्प से 'वृद्धि'-सन्धि भी हो जाती है—करै, जरै आदि। 'करै' में 'है' विद्यमान है; परन्तु 'खड़ी बोली' के क्षेत्र में (मेरठ के इधर-उधर) 'करै है' या 'करे है' जैसा भी बोलते हैं। 'करता है' की जगह 'करै है' तथा 'करे है' भी प्रयोग जन-बोली में होते हैं। यह पृथक् 'है' की सत्ता का प्रभाव समझिए। 'करता है' में 'है' देख कर 'करै है'। 'करै है' को 'करे है' भी बोलते हैं। इधर (मेरठ की ओर) स्वरों की लघुता भाषा-विकास में अधिक देखी जाती है। 'भगिनी' का 'बहिनी' रूप कानपुर के इधर-उधर प्रसिद्ध है। राष्ट्रभाषा में 'बहन'। विधि-रूप अन्यत्र 'करै' 'पढ़ै' आदि चलते हैं; परन्तु राष्ट्रभाषा में 'करे, पढ़े' आदि। 'वृद्धि' की अपेक्षा 'गुण' अधिक पसन्द है राष्ट्रभाषा को।

परन्तु वर्तमान के 'करै' में और विधि आदि के 'करै' आदि में भेद है। एकत्र 'इ' की 'हि' प्रत्यय से निष्पत्ति है और अन्यत्र (विधि में) 'पठेत्' आदि की छाया है। अन्त्य वर्ण (त्) का लोप और 'ठ' को 'ढ'। कुरु-जनपद में अभी तक 'पढे' जैसा ही बोलते हैं, राष्ट्रभाषा में—'पढ़े'। वर्तमान के रूपों की तरह ये विधि आदि के रूप भी तिङन्त ही हैं। इन में भी लिङ्ग-भेद से रूप-भेद नहीं होता। परन्तु यहाँ 'है' की सन्तति 'हि' या 'इ' नहीं है। विधि में स्वतंत्र 'इ' प्रत्यय है, जिस की गुण-सन्धि धातु के अन्त्य 'अ' से हो जाती है—पढ़े, करे, टले आदि।

सो, 'है' आदि रूपों में 'ह' धातु समझ सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदास के जगत्-प्रसिद्ध अवधी-महाकाव्य 'रामचरित-मानस' में 'है' के लिए 'हहि' का प्रयोग भी हुआ है। 'हसि' भी आया है; मध्यमपुरुष, एकवचन में। इस से भी स्पष्ट है कि सत्तार्थक 'ह' धातु है। 'हहि' में 'हि' वही है, जो 'करहि' आदि वर्तमानकालिक क्रियाओं में। प्रत्यय के 'ह्' का लोप और 'वृद्धि'-सन्धि हो कर ('करै' आदि की तरह) 'है' भी बन गया है—'हहि-हइ-है'। इस प्रक्रिया से केवल यही 'है' (तिङन्त) राष्ट्रभाषा में गृहीत है, वे (कच्चे) रूप 'हहि' आदि नहीं। इस सत्तार्थक 'ह' धातु के अतिरिक्त अन्य कहीं इस वर्तमानकालिक 'हि' अथवा 'इ' प्रत्यय का प्रयोग राष्ट्रभाषा में नहीं होता। सभी धातुओं के 'करत' 'मरत' आदि रूप बना कर अपनी पुंविभक्ति से 'करता'-'मरता' और आगे 'है' का योग--'करता है' 'मरता है' आदि। सो, वर्तमान काल का 'इ' प्रत्यय इसी (एकमात्र) 'ह' धातु से होता है और इस की सहायता से अन्य सभी धातुओं की वर्तमानकालिक क्रियाएँ बनती हैं। यहाँ तक कि 'भू'-परिवार की 'हो' धातु में भी पृथक् 'इ' प्रत्यय नहीं लगता। कृदन्त 'होता' के आगे 'है' जोड़ कर 'होता है' रूप होता है। आगे कृदन्त प्रकरण पृथक् लिखा जाए गा। हिन्दी की 'ह' तथा 'हो' धातुओं का विषय-विभाजन संस्कृत की 'अस्' तथा 'भू' का जैसा ही है। कहीं अन्तर भी है। 'अस्' और 'भू' दोनों के प्रयोग वर्तमान काल में 'तिङ्' प्रत्यय से होते हैं, जब कि हिन्दी में 'हो' से 'त' कृदन्त और 'ह' से तिङन्त 'इ' प्रत्यय हो कर 'होता है' रूप बनता है। 'अस्' के भूत और भविष्यत् में प्रयोग नहीं होते, 'भू' के ही रूप चलते हैं। हिन्दी में भी 'हो' से सामान्य भूतकालिक 'य' प्रत्यय होता है; पर लुप्त हो जाता है। पंजाबी में 'सोया है' 'रोया है' की तरह 'होया है' भी चलता है। परन्तु हिन्दी में 'य्' का लोप हो जाता है और 'ओ' को 'उ' हो जाता है—'हुआ है'। साधारण

(या वर्तमान काल का) 'त' प्रत्यय भी 'हो' से ही होता है; 'ह' से नहीं— 'होता है'। परन्तु पूर्ण भूतकाल द्योतन करने के लिए 'ह' से ही 'त' प्रत्यय होता है और पुंविभक्ति से युक्त हो कर जनपदीय बोलियों में—'एक राजा हता। उस के एक रानी हती, दो लड़के हते' यों प्रयोग अब भी होते—चलते हैं। ब्रजभाषा-साहित्य में भी—'एक राजा हतो' जैसे प्रयोग मिलते हैं। राष्ट्रभाषा को 'हता' 'हतो' 'हती' आदि प्रयोग शायद ठीक नहीं जँचे; क्योंकि संस्कृत के हिंसार्थक 'हत' का आभास हो जाता है—अमङ्गल-सा लगता है। फलतः यहाँ वर्ण—व्यत्यय हो कर 'हता' से 'था' हो गया। 'ह् अ त् आ' को 'त् ह् अ आ' हो गया। 'त्' और 'ह्' मिल कर 'थ्'। दो अकारों में 'सवर्णदीर्घ एकदेश'। नियम-परिपालनार्थ पुंविभक्ति भी—'था'। बहुवचन में 'थे' और स्त्रीलिङ्ग में 'थी'। सामान्य भूतकाल का 'य' 'हो' से ही(यद्यपि लुप्त) 'हुआ था'।

भविष्यत् काल का प्रत्यय भी 'हो' से ही, 'ह' से नहीं—'होगा, होंगे, होगी'। इस तरह 'हो' तथा 'ह' के प्रयोग विषय-भेद से चलते हैं।

कुरु-जनपद (मेरठीय परिसर) में तथा पाञ्चाल में 'है' का चलन है; परन्तु पड़ोस के 'कुरु-जाङ्गल, (रोहतक-करनाल आदि के जिलों) में 'है' की जगह 'सै' चलता है—'तू के करै सै'—(तू क्या करता है)। यह 'सै' उधर (राजस्थान में) 'छै' हो जाता है और इधर (कुरु-जनपद में) 'है'। परन्तु आगे (पर्वतीय प्रदेश में) फिर 'छै'!

ये सब बातें भाषा-विज्ञान से संबन्ध रखती हैं। प्रसंगतः यहाँ कुछ उल्लेख किया गया। मतलब केवल इतने से कि संस्कृत 'अस्' से हिन्दी 'ह'-'है' और 'भू' से 'हो' धातु का ताल—मेल जमता है। 'भवति' से ही 'होता है' यह खण्डद्वयात्मक क्रिया नहीं है। 'भवति' तिङन्त क्रिया है—'बालकः भवति' 'बालिका भवति'। हिन्दी की 'होता है' क्रिया में पूर्व अंश कृदंत है और पर अंश तिङन्त। एकत्र लिङ्ग-भेद होता है, अपरत्र नहीं—"अन्न होता है, जब वर्षा होती है"। 'हो' का रूप बदला है; 'है' का तदवस्थ है। 'राम था' में 'था' कृदन्त क्रिया है और 'राम है' में 'है' तिङन्त। 'अन्न होता है' में 'होता है' कृदन्त-तिङन्त संयुक्त क्रिया। दो धातुओं से दो विभिन्न (कृदन्त-तिङन्त पद्धतियाँ)। फिर दोनों अंशों की समष्टि से संस्कृत 'भवति' का अर्थ—'होता है'।

'है' का 'ह्' ब्रज की बोली में लुप्त हो जाता है 'हैं' को 'ऐं' बोलते हैं। परन्तु साहित्यिक ब्रजभाषा में सदा 'है'—'हैं' प्रयोग होते हैं। पंजाबी में 'ह्' का लोप तो होता ही है, स्वर भी 'ऐ' से 'ए' हो जाता है—'लावँदाए'—लाता है।

जैसा कि पीछे कहा गया है, हिन्दी की धातुएँ तरह-तरह से बनी हैं-किसी ने इन्हें बनाया नहीं है, अपने आप बनी हैं। किसी व्याकरण ने 'अस्ति' से 'है' या 'अस्' से 'ह' नहीं बनाया है। व्याकरण तो अन्वाख्यान भर करता है। पीतल-ताँबा आदि धातुओं को किसी वैज्ञानिक ने नहीं बनाया है; वह इन सब का विश्लेषण भर करता है। गिरना, बिदकना, चिपटना आदि की धातुएँ मूल-भाषा से विविध प्राकृतों में होती हुई आई हैं। कुछ धातुएँ ऐसी हैं, जिन का आभास संस्कृत में मिलता है। खादति, गायति, पिबति आदि के आद्य अंशों में हिन्दी की 'खा' 'गा' 'पी' धातुएँ दिखाई देती हैं—खाता है, गाता है, पीता है आदि। 'है' के योग से क्रियाएँ। कुछ धातु संस्कृत शब्दों के योग से बनी हैं; जैसे 'स्वीकार करना'। 'करना' में 'कर' धातु है, परन्तु 'मैं ने उनकी बात स्वीकार की तब काम बना' में 'स्वीकार की' इतना क्रिया-पद है, केवल 'की' नहीं। इसी तरह 'आज्ञा भंग की, तो दण्ड मिले गा' में 'भंग की' क्रिया है। फलतः 'भंग करना' क्रिया है; केवल 'करना' नहीं। यदि वैसा होता, तो 'आज्ञा भंग किया' प्रयोग होता। 'सूर्योदय होता है' में केवल 'होता है' क्रिया है; परन्तु 'उदय' को पृथक् कर के 'सूर्य उदय होता है' ऐसा प्रयोग भी होता है। ('सूर्य उदित होता है' संस्कृतज्ञ ही लिखते-बोलते हैं!) तब 'उदय होना' पूरी क्रिया है। संस्कृत में भी 'कृ' 'भू' तथा 'अस्' के योग से कुछ धातुओं के क्रियापद बनते हैं। तत्सम (तद्रूप) संस्कृत (कृदन्त) शब्दों के आगे यों अपनी धातु लगा कर 'संयुक्त-धातु' हिन्दी में बनती हैं। परन्तु 'आप को आदेश दिया जाता है' या 'आज्ञा दी जाती है' में केवल 'देना' क्रिया है। संस्कृत शब्दों में हिन्दी अपनी क्रिया-विभक्तियाँ 'त' आदि लगा कर 'स्वीकारता है' 'उदयता है' जैसे रूप नहीं बनाती। हाँ, ठेठ अपने (संज्ञा आदि) शब्दों से या संस्कृत के तद्भव शब्दों से 'हथियाता है' 'सकारता है' जैसे क्रियापद बनते हैं। इन क्रियाओं के मूल अंश 'नाम धातु' कहलाते हैं। कई धातुओं को मिला कर भी क्रिया-पद बनाते हैं। ऐसी धातुओं के प्रकरण आगे आएँ गे।

हम ने ऊपर 'उठ' धातु की व्युत्पत्ति व्याकरण की दृष्टि से दी है और

'गया' की 'ग' धातु की भी। यहाँ प्रकृति-प्रत्यय के विभाजन से ही सब समझाया जाता है। वैसे 'उत्थान' से 'उठना' और 'गतः' से 'गया' का विकास है।

धातुओं की उत्पत्ति और उन के प्रयोग

भाषा में 'धातु' का बड़ा महत्त्व है। भाषा का उद्भव ही धातुओं से हुआ है। प्रयोग में भी क्रिया की ही प्रधानता रहती है—विधेयता उसी पर रहती है। इसी लिए वाक्य या भाषा को 'क्रियाप्रधान' कहते हैं।

भाषा मनुष्य की बनाई चीज है; परन्तु इस का विकास नैसर्गिक रूप में हुआ है—धीरे-धीरे। इस विकास में युग के युग बीत गए हैं। जैसे-जैसे मनुष्य का विकास होता गया, उस की भाषा विकसित होती गई और जैसे-जैसे भाषा का विकास होता गया, मानव का विकास होता गया। यदि भाषा न बनती, तो मानुष्य कभी भी 'मनुष्य' न बन पाता। मनुष्य ने भाषा का निर्माण किया और भाषा ने मनुष्य का निर्माण किया। परन्तु भाषा का प्रारम्भ कैसे हुआ? इस की कल्पना है।

मनुष्य भी तब बनों में, पर्वतों पर, घूमता-रहता था। ऊपर से सूखे पत्ते गिरते हुए 'पत् पत्' जैसी ध्वनि करते हैं। बार-बार यह ध्वनि सुन कर और ऊपर से नीचे गिरने की क्रिया देख कर उस अर्थ में 'पत्' का संकेत कर लिया। ऊपर से नीचे गिरने को 'पत्' शब्द से वह क्रिया लोग कहने-समझने लगे। कोई कहीं नदी में गिर गया, तो 'पत्' कह कर और साथ ही कुछ इशारा कर के दूसरे को समझा दिया। आगे चल कर काल भी सूचित होने लगा—'पतति'–गिरता है और 'अपतत्'–'गिरा'। विधि तथा आज्ञा आदि के भी रूप बने—'पतेत्'–'पततु'। और आगे चल कर 'पुरुष'-भेद से भी क्रिया-पद भिन्न होने लगे। 'पतति' या 'अपतत्' से पूरा मतलब समझ में न आता था। तब कर्ता जोड़ने लगे—'वृक्षः पतति' 'बालकः पतति'। फिर 'त्वम्' 'अहम्' के लिए पृथक् प्रत्यय लगा कर 'पतसि' और पतामि (तू गिरता है, गिरता हूँ) आदि का उद्भव हुआ। बहुत आगे चल कर जब भाषा का व्याकरण बना, तब मूल शब्द (पत्) को 'धातु' संज्ञा मिली और उस के आगे लगे उन शब्दांशों को 'प्रत्यय' कहा गया; क्योंकि उन के ही द्वारा विविध काल आदिकों की प्रतीति होती है। ऊपर से वृक्षों से—उस तरह गिरनेवाली चीज को 'पत्र' कहा गया—'पत्' 'पत्' कर के पत्र गिरते हैं। व्याकरण में उन (पतति आदि) क्रियाशब्दों को

'आख्यात' कहा गया और 'पत्र' आदि शब्दों की 'नाम' संज्ञा हुई। आगे 'नाम' को 'संज्ञा' कहने लगे। एक ही धातु 'पत्' का द्विधा प्रयोग। पत्थरों का ही चूना बना लिया और पत्थरों को ही दीवार की चिनाई में रखा। मकान बन गया। फिर अव्यय तथा उपसर्ग बने—मकान के दूसरे उपकरण।

व्याकरण में 'पतति' आदि आख्यातों को धातुओं से बने 'तिङन्त' शब्द कहने लगे और 'पत्र' आदि 'कृदन्त' कहलाए। इन संज्ञाओं के कारण व्याकरण के प्रत्यय हैं, जिन्हें 'तिङ्' और 'कृत्' नाम दिया गया। 'तिङ्' प्रत्यय जिन के अन्त में हो, वे (पतति आदि) 'तिङन्त' और 'कृत्' जिन के अन्त में हो, वे ('पत्र' आदि) 'कृदन्त' शब्द। तिङन्तों से क्रिया का आख्यान होता रहा, कृदन्तों से 'सिद्ध' जीवों या वस्तुओं का बोध।

बहुत आगे चल कर कृदन्त शब्दों से भी क्रियाओं का आख्यान होने लगा। तब 'क्रिया-शब्दों' के 'तिङन्त' और 'कृदन्त' ये दो भेद किए गए। 'पत्रम्' कृदन्त है। इस के अनुसार 'पत्रम् पतितम् (पत्ता गिरा) कहा गया, तो 'पतितम्' कृदन्त क्रिया। जैसा 'पत्रम्' 'वैसा ही 'पतितम्'। एक कृदन्त संज्ञा, दूसरा कृदन्त 'आख्यात' या 'क्रिया'।

परन्तु 'गिरा पत्ता मैंने देखा'—'पतितं पत्रं मया दृष्टम्' यहाँ 'गिरा' और 'पतितम्' आख्यात नहीं, विशेषण हैं। इन विशेषणों में भी क्रियांश विद्यमान है; परन्तु उस की प्रधानता नहीं है। विशेषणों से क्रिया का आख्यान नहीं होता। वे तो अपने विशेष्य के साथ नत्थी रहते हैं—घुले मिले रहते हैं। वैसी (अप्रधान) अवस्था में उन्हें 'आख्यात' कैसे कहेंगे? जब आख्यान ही नहीं करते, तब 'आख्यात' कैसे? आख्यात में प्रधानता रहती है—

राम गया—रमा गई

'गया' और 'गई' आख्यात हैं, क्रिया—पद हैं। परन्तु 'गया समय हाथ आता नहीं' और 'गई सम्पत्ति लौटती नहीं' में 'गया'—'गई' विशेषण हैं; यद्यपि क्रियांश उन में विद्यमान है। कृदन्त क्रिया या आख्यात का एक अच्छा लक्षण संस्कृत वैय्याकरणों ने यह दिया है—

'क्रियान्तराकाङ्क्षानुपस्थापकत्वमाख्यातत्वम्'

किसी दूसरे क्रिया-पद की आकांक्षा जहाँ न रहे, वह 'आख्यात'। 'राम गया' में 'गया' पद किसी दूसरे क्रिया-पद की आकांक्षा नहीं रखता। परन्तु 'गया समय हाथ आता नहीं' में यह बात नहीं। 'आता' के बिना काम न चले गा। हाँ, 'समय गया' मात्र कहें, समय का चला जाना मात्र विधेय हो, तब अवश्य 'गया' आख्यात कहा जाए गा।

'कर्मणि' या 'भावे' जो कृदन्त प्रत्यय होते हैं, हिन्दी उन्हें अपनी विभक्तियों के द्वारा भी आख्यात तथा विशेषण आदि के रूपों में 'विभक्त' करती है। कर्मवाच्य 'य' प्रत्ययान्त आख्यात भूतकाल में 'ने' विभक्ति से युक्त कर्ता के साथ रहता है—

राम ने पुस्तक देखी—लड़की ने पुष्प देखा

परन्तु यही 'य' प्रत्यय जब आख्यात से भिन्न स्थिति में रहता है, तब कर्तृत्व 'का' संबन्ध-प्रत्यय से प्रकट होता है—

१—राम की देखी यह पुस्तक है

२—लड़की का देखा-भाला यह पुष्प है

यहाँ 'देखने' पर प्रधानता नहीं है; पुस्तक तथा पुष्प का 'होना' विधेय है। इस लिए 'देखा'—'देखी' आख्यात नहीं; और इसी लिए इन के कर्ता कारक ('राम' और 'लड़की') 'ने' विभक्ति के साथ नहीं हैं। 'का' से ही कर्तृत्व-निर्देश है—'कर्तरि षष्ठी'। संस्कृत में विभक्तियों का यों विषय-विभाजन नहीं है। वहाँ—

१—रामेण इदं पुष्पम् दृष्टम्

(राम ने यह पुष्प देखा)

और—

२—रामेण दृष्टं पुष्पमिदं मया नीतम्

(राम का देखा हुआ यह पुष्प मैं ने लिया)

यों सर्वत्र तृतीया विभक्ति चलती है। प्रथम वाक्य में 'दृष्टम्' आख्यात है; दूसरे में विशेषण।

भाववाच्य 'न' प्रत्यय लीजिए —

१—राम को जागना है, लड़कों को जागना है

२—स्त्रियों को गाना बजाना है—मुन्नी को सोना है

सर्वत्र 'को' विभक्ति कर्ता कारक में है। 'जागना था' 'जागना हो गा' आदि भी इसी तरह रहें गे। परन्तु 'न' प्रत्यय यही जब आख्यान में नहीं, विशेषण-रूप में रहता है, तब कर्तृ-निर्देश उसी 'का' से होता है—

१—राम का जागना बीमारी पैदा करेगा

२—स्त्रियों का गाना-बजाना हमें न सोने देगा

'पैदा करना' तथा 'सोने न देना' आख्यात हैं। 'जागना' और 'गाना-बजाना' कृदन्त भाववाचक संज्ञाएँ हैं, जिन पर उन आख्यातों का कर्तृत्व है। और इन (जागने तथा गाने-बजाने) के कर्ता-कारकों में 'का' प्रत्यय लगा है। इस तरह विभक्ति-भेद से आख्यात स्पष्ट रखे गये हैं। बहुत स्पष्टता है। वैसे वाक्य की बनावट से ही सब मालूम हो जाता है।

कृदन्त क्रियाओं में प्रयोग-सौकर्य है; इस लिए इन का चलन बढ़ता गया और तिङन्तों का कम होता गया।

हिन्दी का विकास भारतीय 'मूलभाषा' से है; इस लिए इस में दोनो पद्धतियाँ क्रिया-शब्दों में स्पष्ट हैं। यहाँ 'तिङ्' प्रत्यय या 'कृत्' प्रत्यय संस्कृत के (तद्रूप) नहीं हैं; परन्तु संस्कार स्पष्टतः वे ही हैं। गन्ने के रस में और चीनी के रूप में कितना अन्तर है ? स्वाद-विश्लेषण से सब स्पष्ट हो जाता है।

संस्कृत में (और प्राकृतों में भी) जो क्रियाओं के वे दो भेद किए गए हैं, उन में मुख्य अन्तर यह है कि कृदन्त क्रियाएँ तो संज्ञाओं की तरह चलती हैं और तिङन्तों की अपनी अलग पद्धति है। हिन्दी में स्पष्टता के लिए यही एक पहचान है। 'पत्ता गिरा' और 'लड़की गिरी' यहाँ 'गिरा' तथा 'गिरी' शब्द स्पष्टतः कृदन्त हैं। परन्तु 'लड़का यहाँ है' 'लड़की यहाँ है' में 'है' क्रिया तिङन्त है। 'लड़का पढ़े' 'लड़की पढ़े' में 'पढ़े' क्रिया तिङन्त'। 'कृदन्त' तथा 'तिङन्त' शब्द यहाँ रूढ़ हैं।

हिन्दी की क्रियाएँ कृदन्त अधिक हैं, तिङन्त बहुत कम। दोनों पद्धतियों के सम्मिलित प्रयोग भी बहुत हैं। संस्कृत में भी 'सुप्तः अस्ति' (सोया है) आदि 'कृदन्त-तिङन्त' प्रयोग होते हैं। हिन्दी में वर्तमान काल की सब क्रियाएँ 'कृदन्त-तिङन्त' हैं—न केवल कृदन्त, न केवल तिङन्त। इसी लिए दो खण्ड स्पष्ट दिखाई देते हैं—'पढ़ता है' 'खाता है'। प्रथम खण्ड कृदन्त, दूसरा तिङन्त। केवल 'है' तिङन्त है, जो अन्य सभी कृदन्त शब्दों का साथ देती है। इस के बिना काम चल नहीं सकता। 'राम पढ़ता' 'लड़की पढ़ती' कहने से काम चल नहीं सकता; क्योंकि ये शब्द साकाङ्क्ष हैं। 'राम पढ़ता, यदि सहयोग मिलता' और 'लड़की पढ़ती, तो परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाती' यों वर्तमान काल से भिन्न स्थलों में केवल 'पढ़ता'-'पढ़ती' चलते हैं। 'पढ़ता'-'पढ़ती' के आगे 'है' के अतिरिक्त कृदन्त 'था' भी (भूतकाल में) लगता है। 'राम पढ़ता था' 'सुशीला पढ़ती थी' इत्यादि। इसी लिए, वर्तमान काल की क्रियाओं में 'है' का लगना अनिवार्य है। यों 'पढ़ता है' 'पढ़ती है' क्रियाएँ 'कृदन्त-तिङन्त' हैं। 'पढ़ा'-'पढ़ी' कृदन्त क्रियाएँ और 'पढ़े' 'पढ़ो' आदि तिङन्त हैं। एकत्र संज्ञा की तरह चाल, अन्यत्र अपनी स्वतंत्र पद्धति। संज्ञाओं की तरह 'लड़का पढ़ता' 'लड़की पढ़ती' 'लड़के पढ़ते' रूप और उन के आगे 'है'। बहुवचन में 'हैं'। 'लड़के पढ़ते हैं' 'लड़कियाँ पढ़ती हैं'। सीधा मार्ग।

'पुरुष' और 'वचन'

'पुरुष'-प्रतीति केवल तिङन्त क्रियाओं से होती है। वचन-भेद कृदन्त क्रियाओं में भी (संज्ञा की तरह) होता है। 'संसार-सागरे पतितः' कहने से पता न चले गा कि कौन 'पतितः' है। आगे 'अस्मि' या 'असि' लगा कर ही मध्यम या उत्तम 'पुरुष' बताया जा सके गा। 'अन्यपुरुष' की विवक्षा हो, तो भी स्पष्टता के लिए कर्ता का निर्देश करना हो गा। केवल 'अस्ति' से काम न चले गा। इसी तरह हिन्दी में भी तिङन्त क्रियाओं से 'पुरुष'-प्रतीति होती है, कृदन्तों से नहीं। 'पढ़ता हूँ' कहने से 'उत्तमपुरुष' स्पष्ट हो जाता है। 'मैं' कहने की जरूरत नहीं; क्योंकि 'हूँ' उत्तमपुरुष—एकवचन की क्रिया है। परन्तु अन्यत्र कर्ता का निर्देश करना पड़े गा; क्योंकि अन्यपुरुष तथा मध्यमपुरुष के एकवचन में समान रूप से 'है' रहता है। 'तू पढ़ता है' 'लड़की पढ़ती है'। 'है' एकरस। हाँ, मध्यमपुरुष के बहुवचन में 'हो' रूप होता है। वहाँ कर्ता का निर्देश अनावश्यक है। 'पुस्तक पढ़ते हो, तो

पढ़ो'। 'तुम' कर्ता 'हो' तथा 'पढ़ो' से स्पष्ट है। 'पढ़ती हो' कहने से स्त्रीत्व भी स्पष्ट है। कृदन्त से ही शब्दों की 'जाति' या 'व्यक्ति' की प्रतीति होती है, तिङन्त से नहीं। 'हो' तो एकरस रहता है। यानी शब्दों की जाति कृदन्त-अंश से और 'पुरुष' तिङन्त-अंश से ज्ञात होता है। 'पतथ कथं गर्ते' कहने से यह न जान पड़े गा कि गिरनेवाले कौन हैं? पुरुष हैं, या स्त्रियाँ! बहुवचन जरूर स्पष्ट है। 'परन्तु गड्ढे में क्यों गिरते हो?' कहने से पुल्लिङ्ग स्पष्ट है। 'क्यों गिरती हो?' कहें, तो स्त्रीलिङ्ग स्पष्ट है। सम्भव है, इस तरह की स्पष्टता के लिए भी कृदन्त और तिङन्त का सम्मिलित प्रयोग हिन्दी ने पसन्द किया हो।

दो चीजें तो अलग-अलग हैं। 'पुरुष'-प्रतीति तिङन्त से और लिङ्ग-प्रतीति कृदन्त से। परन्तु 'वचन'-भेद दोनो अंशों में समान रहता है। 'लड़का पढ़ता है' और 'लड़के पढ़ते हैं'। एकत्र दोनो अंशों में एकवचन, अन्यत्र बहुवचन।

'सिद्ध' और 'साध्य' क्रियाएँ

संस्कृत-व्याकरण में धातुओं के तिङन्त-रूपों को 'साध्य' कहा है और कृदन्तों को 'सिद्ध'। 'पतितं फलं पश्यति'—'गिरे हुए फल को देख रहा है' में 'पतितं' तथा 'गिरा हुआ' शब्दों में जो धात्वंश है, वह विधेयात्मक नहीं है। विधान तो 'देखने' का है। फिर भी उन उद्देश्यात्मक शब्दों में क्रियांश तो है ही, भले ही वह दबा हुआ हो। उस के उस अंश को हाँ 'सिद्ध' भाव कहते हैं। सिद्ध है, स्पष्ट है कि पत्ता गिरा हुआ है। उस 'गिरे हुए पत्ते' के बारे में कुछ कहा जा रहा है। तो, जो कुछ कहा जा रहा है, वह 'विधेय' है, 'साध्य' है। 'देखता हूँ' साध्य क्रिया है। संस्कृत में पहले तिङन्त क्रियाएँ ही 'साध्य' या 'विधेय' रूप से चलती थीं, विशेषण आदि ('सिद्ध') रूप से कृदन्त। इसी लिए वैसा कहा गया है। आगे चल कर (संस्कृत में) कृदन्त क्रियाएँ भी विधेयात्मक चलने लगीं—'रामः काशीं गतः—राम काशी गया। 'गतः' विधेयात्मक होने पर भी 'सिद्ध' है और हिन्दी की अपनी व्याख्या से 'आख्यात' है।

'सिद्ध'—निश्चित और 'साध्य'—अनिश्चित

हिन्दी ने 'सिद्ध' और 'साध्य' शब्दों को एक विशेष अर्थ दिया है। यह तो माना कि कृदन्त क्रिया 'सिद्ध' होती है और तिङन्त 'साध्य'। परन्तु एक

स्पष्ट पद्धति भी हिन्दी ने सामने रखी। जब क्रिया की निष्पत्ति निश्चित या असन्दिग्ध होती है, तो हिन्दी में 'सिद्ध' क्रिया–'कृदन्त क्रिया'। 'राम जाता है' 'गोविन्द पढ़ता है' आदि में क्रिया निश्चित है। क्रिया के होने में कोई सन्देह नहीं; इस लिए 'सिद्ध' रूप, कृदन्त-रूप—'जाता'–'जाती'–'पढ़ता' 'पढ़ती' आदि। 'है' तिङन्त तो काल-सूचनार्थ भर सहायक है और इस से क्रिया की निश्चिति और भी स्पष्ट हो जाती है। सो, वर्तमान काल में, या स्थिति के सामान्य निरूपण में क्रिया का 'सिद्ध' रूप ही हिन्दी ने रखा है—'कृदन्त'।

भूत काल की क्रिया भी 'सिद्ध' होती है, निश्चित होती है। 'राम काशी गया' में 'गया' क्रिया का 'सिद्ध' रूप है। राम का काशी चला जाना पक्की बात है। वह चला गया है, यह सिद्ध है; स्पष्ट है। इसी लिए क्रिया के 'सिद्ध' यानी 'कृदन्त' रूप का प्रयोग है—राम गया, लड़के गए, लड़की गई।

यानी भूतकाल की तथा वर्तमान की क्रिया 'सिद्ध'। उस का हिन्दी में प्रयोग 'कृदन्त'। परन्तु जो क्रिया 'साध्य' हो, जिस की निष्पत्ति निश्चित न हो, उस का 'सिद्ध'—रूप में प्रयोग न होगा। उसका कृदन्त-प्रयोग हिन्दी नहीं करती! 'साध्य' तो सदा अनिश्चित होता ही है।

'तू पुस्तक पढ़' यहाँ 'पढ़' आज्ञा है। आज्ञा में क्रिया की कोई निश्चिति नहीं है। पता नहीं, वह पह पढ़े गा कि नहीं, जिसे आज्ञा दी गई है! 'पढ़ना' यहाँ 'सिद्ध' नहीं है, निश्चित नहीं है। इसी लिए हिन्दी ने यहाँ 'सिद्ध' (कृदन्त) प्रयोग पसन्द नहीं किया। आज्ञा की क्रिया 'साध्य', यानी तिङन्त रूप से रहती है—'राम, पुस्तक पढ़'—'शकुन्तला, पुस्तक पढ़' उभयत्र समान 'पढ़'। संस्कृत 'पठ' की तरह। बहुवचन में भी—'लड़को, पुस्तक पढ़ो'—'लड़कियो, पुस्तक पढ़ो' साध्य (तिङन्त) क्रिया है। कर्ता के अनुसार लिङ्ग-व्यवस्था नहीं है। वह सब 'सिद्ध' क्रिया में होता है।

'मनुष्य कभी भी पर-वंचना न करे'
'लड़की कभी भी गन्दे उपन्यास न पढ़े'

ये विधि के क्रिया-पद भी 'साध्य' हैं, तिङन्त हैं। पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग में समान-रूप रखते हैं। यहाँ भी क्रिया 'सिद्ध' नहीं है, निश्चित नहीं है! पता नहीं, जिसके लिए विधि की गई है, वह उसे माने गा कि नहीं! क्रिया साध्या-

वस्था में है, अनिश्चित स्थिति में हैं। इसी लिए 'सिद्ध' (कृदन्त) प्रयोग हिन्दी 'विधि' में नहीं करती; 'साध्य' (तिङन्त) प्रयोग करती है—'राम वेद पढ़े' 'सीता वेद पढ़े'। उभयत्र 'पढ़े'।

'राम आए, तो काम बने'

सम्भावना है। सम्भावना तो सदा ही अनिश्चयात्मक होती है! इसी लिए हिन्दी में 'साध्य' (तिङन्त) प्रयोग—'राम आए, या सीता आए; कोई आए।' 'सिद्ध' (कृदन्त) प्रयोग नहीं।

'भगवान तुम्हें यशस्वी करें'

आशीर्वाद है। यशस्वी करना, न करना, भगवान् के हाथ में है। आशीर्वाद है; पर पता नहीं, वैसा हो गा कि नहीं! इसी लिए हिन्दी में क्रिया के 'साध्य' (तिङन्त) रूप का प्रयोग है—"भगवान् करें, भगवती करें···।"

'अध्यापक सब मेरे यहाँ कल पधारें'

'अध्यापिकाएँ सब मेरे यहाँ कल पधारें'

प्रार्थना या निमंत्रण भी 'साध्य' हैं। प्रार्थना है, निमंत्रण है। पधारेंगे वे लोग, या नहीं, कोई नहीं जानता। पक्की बात नहीं। इसी लिए क्रिया का 'साध्य' (तिङन्त) रूप चलता है। निमंत्रण-प्रार्थना में कृदन्त ('सिद्ध') रूप नहीं।

भविष्यत् तो सदा ही अनिश्चित है! और, आज्ञा, विधि, आशीर्वाद, निमंत्रण आदि की क्रियाएँ भी भविष्यत् की ही हैं; इस लिए 'साध्य' यानी 'तिङन्त' रूप चलते हैं।

साधारणतः निश्चय हो कि 'राम' जरूर क्रिया करे गा; और फिर भी सम्भव है कि वह न करे! मैं अपने ही लिए निश्चय किए बैठा हूँ कि कलकत्ते जाना पक्का है; पर भविष्यत् की कौन जाने, क्या उलझेड़ा लग जाए और यात्रा रुक जाए! तो, भविष्यत् अनिश्चित है, 'सिद्ध' नहीं है; इस लिए क्रिया का रूप 'साध्य' रहे गा; परन्तु चूँकि बात करते समय मन में वैसा निश्चय है; इस लिए 'सिद्ध'-अवस्था की झलक—

राम कलकत्ते जाए गा

सीता कलकत्ते जाए गी

सीता, तू कल से स्कूल जाए गी

राम, तू कल से स्कूल जाए गा

'जाए' रूप 'साध्य' (तिङन्त) है; क्योंकि भविष्यत् का कोई भरोसा नहीं। परन्तु वैसे मन में निश्चय है; इस लिए 'गा'-'गी' सिद्धता की झलक। 'गा' 'गे' 'गी' इन 'सिद्ध' शब्दों से क्रिया का निश्चय प्रकट होता है; पर फिर भी भविष्यत् है! इसी लिए मुख्य क्रिया 'साध्य' (तिङन्त) रूप से है—'जाए'-(गा, गी)।

बड़ी ही कलात्मक तथा वैज्ञानिक व्यवस्था है। विधि, आज्ञा, प्रार्थना आदि भी भविष्यत् की ही चीजें हैं; पर वहाँ उतना निश्चय नहीं। इसी लिए 'सिद्ध'-अवस्था का कोई चिह्न नहीं लगता। 'पढ़े गा'-'पढ़े गी' आदि में बात दूसरी है। 'पढ़े'-'करे' आदि विधि-आशीर्वाद आदि के ही रूपों में 'गा' का प्रयोग कर देने से क्रिया की निष्पत्ति में निश्चय प्रकट होने लगता है और तब ये 'भविष्यत् काल' की क्रियाएँ कहलाने लगती हैं। हैं विधि आदि की भी क्रियाएँ भविष्यत् की-'राम जाए'। राम न गया है, न जा रहा है; जाने की विधि या आज्ञा है—वह आगे जाए गा! यों आज्ञा, विधि, प्रार्थना, निमंत्रण आदि की क्रियाएँ भी भविष्यत् की ही हैं। भविष्यत् सन्दिग्ध है। इसी लिए यहाँ 'सिद्ध'-प्रयोग हिन्दी ने नहीं रखे।

जब निश्चयात्मक 'राम कलकत्ते जाए गा' आदि की 'जाए गा' जैसी क्रियाएँ 'भविष्यत् काल' की कहलाने लगीं, तो 'विधि' 'आज्ञा' आदि की क्रियाएँ अन्यथा समझी जाने लगीं। भविष्यत्-रूप न देख कर केवल 'विधि' या 'आज्ञा' आदि की क्रियाएँ वे कहलाने लगीं। भविष्यत् के ही 'विधि' आदि विशेष भेद समझिए। विधि या आज्ञा आदि की प्रधानता होने से ये नाम। विशेषपदसन्निधाने सामान्यवाचकपदानां तदन्यपरत्वम्'—विशेष-वाचक ('विधि' आदि) पदों की उपस्थिति में सामान्य-वाचक (भवि-ष्यत् काल') का प्रयोग उन (विधि, आज्ञा आदि भविष्यत्-विशेष स्थलों) से अतिरिक्त स्थल में होता है—'राम जाए गा' आदि निश्चयात्मक स्थिति में। 'काल' प्रकरण में सब स्पष्ट हो गा।

इस तरह संस्कृत के 'सिद्ध' तथा 'साध्य' क्रिया-पदों की यहाँ एक सुव्यवस्थित विधि है। क्रिया की निश्चयात्मक स्थिति में 'सिद्ध' (कृदन्त) प्रयोग—'राम जाता है'—'पढ़ता है'—'राम गया था—पढ़ता था' आदि। और क्रिया की साध्यावस्था में तिङन्त-प्रयोग-'राम काम करे—सीता काम करे' आदि। कैसी वैज्ञानिक और कलात्मक भाषा है!

हिन्दी धातुओं के प्रत्यय

पूर्व विवेचन से स्पष्ट हुआ कि हिन्दी धातुओं में प्रत्यय-कल्पना का आधार क्या है। यहाँ स्पष्टतः क्रियाओं के दो वर्ग हैं। एक में लिङ्ग-भेद से रूप-भेद होता है, दूसरे में नहीं। एक को 'कृदन्त' कहेंगे, दूसरे को 'तिङन्त'। कृदन्त क्रियाओं का बाहुल्य है। इस का कारण सरलता भी है। तिङन्त क्रियाओं के रूप बहुत जटिल हैं।

रामः कार्यम् अकरोत्-राम ने काम किया
अहम् कार्यम् अकरवम्-मैंने काम किया
त्वम् कार्यम् अकरोः—तू ने काम किया
वयम् कार्यम् अकुर्म—हम ने काम किया
यूयम् कार्यम् अकुरुत-तुम ने काम किया।

'सब ने काम किया'। हिन्दी का सरल मार्ग है। परन्तु संस्कृत की तिङन्त क्रियाओं में कितनी भिन्नता है? हिन्दी की कृदन्त-क्रियाओं में सब जगह 'किया' और वहाँ—अकरोत्, अकरवम्, अकरोः, अकुर्म, अकुरुत आदि भेद! संस्कृत में कृदन्त क्रियाएँ भी हैं, और बहुत सरल हैं—

रामेण कार्यम् कृतम्—राम ने काम किया
मया कार्यम् कृतम्—मैं ने काम किया
त्वया कार्यम् कृतम्-तू ने काम किया
अस्माभिः कार्यम् कृतम्—हम ने काम किया
युष्माभिः कार्यम् कृतम्—तुम ने काम किया।

सर्वत्र 'कृतम्' और 'किया'। इसी सरलता के कारण हिन्दी ने कृदन्त-पद्धति स्वीकार की; परन्तु एक विशेषता के साथ। संस्कृत में

कर्ता-कारक के कितने भेद हैं ! हिन्दी में सर्वत्र 'ने' लगा देने से बेड़ा पार—राम ने, तू ने, हम ने, सब ने । यह 'ने' विभक्ति 'बालकेन' से 'इन' अलग कर के बना ली ! वर्ण-व्यत्यय और गुण-सन्धि ।

संस्कृत 'कृतम्' कृदन्त क्रिया में 'त' प्रत्यय है, हिन्दी 'किया' में 'य' प्रत्यय है। यह 'य' प्रत्यय संस्कृत के 'त' का ही रूपान्तर है। रूपान्तर इस लिए कि 'करता है' आदि वर्तमान में 'त' प्रत्यय विद्यमान है। अर्थ की (काल की) स्पष्टता अपेक्षित है। 'सोया है' और 'सोता है' में अन्तर है। इस अन्तर के ही लिए भूतकालिक 'त' को 'य' रूप मिला। 'कृत' को 'किय' हो गया और पुंविभक्ति—'किया'। फिर इसी 'य' को स्वतंत्र प्रत्यय मान कर 'गया' 'सोया' आदि भी। वर्तमान काल में 'जाता है' और भूतकाल में 'गया है'। यानी 'जा' धातु की जगह भूतकाल में (गम् का) 'ग' चलता है। गतः से 'गया' समझिए। 'जा' संस्कृत की 'या' धातु का रूपान्तर है। वर्तमान काल में 'जा' और भूतकाल में 'ग'। 'ग' का प्रयोग वर्तमान काल में इस लिए नहीं होता कि 'गा' एक अन्य धातु है—'राम गाता है'। यह 'गा' संस्कृत 'गायति' का पूर्वांश है। गत्यर्थक 'ग' का प्रयोग वर्तमान काल में 'गाता है' ही हो सकता था, 'गता' है' नहीं; क्योंकि हिन्दी में वर्तमान काल की कोई भी क्रिया 'लघु' नहीं है। 'ग' को दीर्घ कर देने पर अन्य धातु का भ्रम हो सकता था। इस लिए वर्तमान में 'जा' और भूतकाल में 'ग' की व्यवस्था है। संस्कृत में भी देखा जाता है—'अस्' को भूतकाल में 'भू' का 'आदेश'। यानी भूतकाल में 'अस्' की जगह 'भू' चलती है। अन्य कई धातुओं में भी यही व्यवस्था है। व्रजभाषा तथा अवधी आदि में 'हो' धातु को भूतकाल में 'भ' आदेश हो जाता है। 'भोर भयो' 'भा भिनसारा'।

यों अनेक तरह से धातु-प्रत्यय की व्यवस्था हुई है। आगे के प्रकरणों में खुलासा हो जाए गा।

'वाच्य'-विवेचन

क्रिया 'भाव' रूप होती है। उस में अपना न कोई लिङ्ग है, न 'पुरुष' है और न 'वचन' है ! 'पढ़ना' एक क्रिया है। उस क्रिया का वाचक यह शब्द है। यहाँ आप 'पढ़ना' शब्द पुल्लिङ्ग देख रहे हैं, जो औत्सर्गिक है। शब्द जब बोला जाए गा, तो कोई न कोई उस का रूप हो गा ही। संस्कृत में नपुंसक लिङ्ग औत्सर्गिक है। जब लिङ्ग-विवक्षा न हो; तो (सामान्यतः)

नपुंसक लिङ्ग प्रयोग किया जाता है—'पठनम्' । हिन्दी में पुल्लिङ्ग 'पढ़ना' । 'पाठः' पुल्लिङ्ग में और 'धारणा' स्त्रीलिङ्ग में भी लिङ्ग-विवक्षा नहीं है । 'पाठः' का रूप 'रामः' की तरह है; इस लिए पुल्लिङ्ग और 'धारणा' है 'सुशीला' की तरह; इस लिए स्त्रीलिङ्ग । वस्तुतः 'पाठ' तथा 'धारणा' क्रियाएँ हैं । उन में कोई स्त्रीत्व-पुंस्त्व का भेद नहीं । जैसा पुरुष का पढ़ना, वैसा ही स्त्री का; वैसा ही पुरुषों का, वैसा ही स्त्रियों का । 'पढ़ना' क्रिया की गिनती भी नहीं हो सकती । उस में 'पुरुष'-भेद भी नहीं । परन्तु जब किसी क्रिया का वाचक कोई शब्द बोला जाए गा, तो अवश्य ही उस का कुछ रूप हो गा । उस के इसी रूप को 'वाच्य' कहते हैं ।

क्रिया के निकटतम दो ही कारक हैं—कर्ता और कर्म । क्रिया इन्हीं पर होती है । क्रिया का प्रभाव या फल इन्हीं पर पड़ता है । 'राम पुस्तक पढ़ता है' में क्रिया का फल कर्तृगामी है । 'राम' को पुस्तकीय ज्ञान होता है । 'राम चावल पकाता है' यहाँ क्रिया का फल चावलों पर है । चावल हीं दूसरी स्थिति में आ रहे हैं । 'गोविन्द काशी गया' । यहाँ 'गोविन्द' पर क्रिया का फल है । वही स्थानान्तरित हुआ है । 'काशी' ज्यों की त्यों है । कभी क्रिया का फल दोनो पर पड़ता है । सो, ये ही दो कारक क्रिया के अतिशय निकट हैं । फलतः वह इन्हीं के अनुसार रूप ग्रहण करती है । अन्य कारकों से कोई मतलब नहीं, रूप-ग्रहण करने में । जब कर्ता के अनुसार क्रिया रूप ग्रहण करती है, तो 'कर्तृवाच्य' कहलाती है और जब 'कर्म' का अनुगमन करती है, तो 'कर्मवाच्य' । 'कर्तृवाच्य' को ही 'कर्तरि प्रयोग' कहते हैं और 'कर्मवाच्य' को 'कर्मणि प्रयोग' ।

कभी-कभी क्रिया न कर्ता के अनुसार चलती है और न कर्म के ! वह स्वतंत्र पद्धति ग्रहण करती है । तब उसे 'भाववाच्य' कहते हैं—'भावे प्रयोग' ।

१—कर्तृवाच्य

कृदन्त और तिङन्त क्रियाओं के 'वाच्य'-रूप भिन्न-भिन्न होते हैं । उदाहरण के लिए वर्तमान काल की ही क्रियाएँ ले लीजिए, जो कि 'कर्तृवाच्य' होती हैं । 'राम चतुर है' 'लड़की सुशील है' और 'लड़के चतुर हैं' 'लड़कियाँ सुशील हैं' । इन उदाहरणों में 'हैं' तिङन्त क्रिया कर्तृवाच्य है । कर्ता के अनुसार उस के 'पुरुष'-वचन' हैं । 'मैं अनभिज्ञ हूँ' और 'तुम चतुर हो'

उदाहरणों में क्रिया के उत्तमपुरुष 'हूँ' और मध्यमपुरुष 'हो'। 'वचन' भी कर्ता के अनुसार (एकवचन और बहुवचन) हैं। सकर्मक क्रिया में भी—

लड़का पुस्तक पढ़ता है
लड़की वेद पढ़ती है
लड़के पुस्तक पढ़ते हैं

'लड़का पढ़ता है'। 'पढ़ता' कृदन्त है, कर्तृवाच्य। 'लड़की' के अनुसार 'पढ़ती' कृदन्त, कर्तृवाच्य। 'है' तिङन्त क्रिया है, कर्तृवाच्य ही। कर्ता ('लड़का') के अनुसार प्रथमपुरुष, एकवचन। यही बात दूसरे उदाहरण में है। तीसरे उदाहरण में कर्ता बहुवचन है—'लड़के'। पुंस्त्व और बहुवचन क्रिया में भी है—'पढ़ते'। तिङन्त क्रिया में कर्ता के अनुसार अन्य पुरुष, बहुवचन 'हैं'। यों, वर्तमान काल में क्रिया के दोनो अंश कर्तृवाच्य हैं। 'लड़का पुस्तक पढ़ता है' में कर्म (पुस्तक) स्त्रीलिङ्ग है, जिस से क्रिया को कोई मतलब नहीं। 'लड़की वेद पढ़ती है' में 'वेद' कर्म पुल्लिङ्ग है; पर क्रिया स्त्रीलिङ्ग है—'लड़की' के अनुसार 'पढ़ती'। और—

लड़का पढ़ता है—लड़के पढ़ते हैं
मैं पढ़ता हूँ—हम पढ़ते हैं
तू पढ़ती है तुम पढ़ती हो

इन उदाहरणों में 'वचन' कर्ता के अनुसार हैं—कृदन्त-तिङन्त दोनो खण्डों में। कृदन्त-अंशों में पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग भी कर्ता के अनुसार हैं। 'अहं पठामि' सुन कर आप यह नहीं कह सकते कि कर्ता पुल्लिङ्ग है, या स्त्री लिङ्ग! 'त्वं पठसि' में भी यही बात है। परन्तु 'मैं पढ़ता हूँ' और 'तुम पढ़ती हो' में क्रिया-रूप से कर्ता का पुंस्त्व और स्त्रीत्व साफ है। 'पढ़ती हूँ' कहने से 'पुरुष' भी स्पष्ट है—उत्तमपुरुष, एकवचन।

संस्कृत में वर्तमान काल की क्रिया वाच्य-भेद भी रखती है। अकर्मक क्रियाएँ भाववाच्य भी हो सकती हैं और सकर्मक कर्मवाच्य भी—

बालकाः तिष्ठन्ति—बालकैः स्थीयते
बालकाः ग्रन्थं पठन्ति—बालकैः ग्रन्थः पठ्यते

उभयविध प्रयोग होते-चलते हैं। अंग्रेजी आदि भाषाओं में भी यही स्थिति है—कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य प्रयोग वर्तमान काल में होते हैं। परन्तु

हिन्दी में ऐसा नहीं है। यहाँ वर्तमान काल की क्रियाएँ सदा 'कर्तृवाच्य' रहती हैं। 'मैं उठता हूँ' को बदल कर 'मुझ से उठा जाता है' ऐसा भाववाच्य रूप नहीं दे सकते। भाषा को यह ग्राह्य नहीं है। इसी तरह 'लड़के वेद पढ़ते हैं' को 'लड़कों से वेद पढ़ा जाता है' यों 'कर्मवाच्य' नहीं कर सकते।

परन्तु शक्ति-निषेध में भाववाच्य तथा कर्मवाच्य प्रयोग होते हैं—

मुझ से उठा नहीं जाता

लड़कों से उठा नहीं जाता

लड़कियों से उठा नहीं जाता

कर्ता में चाहे जो परिवर्तन कर दो, क्रिया सदा पुल्लिङ्ग—एकवचन रहे गी। हिन्दी में भाववाच्य क्रियाएँ सदा पुल्लिङ्ग-एकवचन रहती हैं। तिङन्त भाववाच्य सदा अन्यपुरुष—एकवचन। 'उठा जाता' कृदन्त क्रिया है। इसी तरह सकर्मक—

राम से रोटी नहीं खाई जाती

लड़की से चने नहीं चबाए जाते

कर्ता 'राम' पुल्लिङ्ग है; पर क्रिया 'खाई जाती' कर्म ('रोटी') के अनुसार स्त्रीलिङ्ग। दूसरे उदाहरण में कर्ता (लड़की) स्त्रीलिङ्ग-एकवचन है; परन्तु क्रिया 'चने' (कर्म) के अनुसार पुल्लिङ्ग-बहुवचन—'चबाए जाते'। यों लिङ्ग, वचन तथा 'पुरुष' कर्म के अनुसार क्रिया में रहते हैं, जब शक्ति-निषेध करना हो। कर्ता की अशक्तता ही ध्वनित करने के लिए 'कर्मणि प्रयोग' समझिए। जिसमें शक्ति ही नहीं, उस का अनुगमन कोई क्यों करे? इस तरह की क्रियाओं को कर्तृवाच्य में नहीं बदल सकते। मन-चाहे प्रयोग करने की छूट नहीं है। अर्थ के अनुसार शब्द की गति हिन्दी में बदलती है। शक्ति-विधान में भी कर्म-वाच्य प्रयोग होते हैं—'यह काम तुम से ही संभव है'। 'ऐसे काम आप से ही हो सकते हैं' आदि अकार्य-कर्तृत्व में भी। 'हो' का यहाँ सकर्मक-प्रयोग है।

भविष्यत् काल की भी क्रियाएँ सदा कर्तृवाच्य रहती हैं—

लड़का सोए गा—लड़के सोएँ गे

लड़की सोए गी—लड़कियाँ सोएँ गी

इन्हें भी शक्ति-निषेध में भाववाच्यता मिल जाए गी—

लड़के से सोया नहीं जाए गा
लड़कों से सोया नहीं जाए गा
लड़की से सोया नहीं जाए गा
लड़कियों से सोया नहीं जाए गा

दर्द आदि के कारण 'सोया नहीं जाए गा'। इसी तरह 'रोया नहीं जाए गा' 'उठा नहीं जाए गा' आदि प्रयोग समझिए। शक्ति-विधान में भी-'यह काम सुशीला से ही हो गा'। 'काम' कर्म है यहाँ; 'सुशीला से' कर्ता-कारक।

हम आगे 'तिङन्त' तथा 'कृदन्त' शीर्षकों में जो कुछ लिखेंगे, उस से 'वाच्य' और भी स्पष्ट हो जाएँ गे।

हिन्दी की तिङन्त क्रियाएँ

जैसा कि पहले कई जगह निर्देश किया गया है, हिन्दी-क्रियाओं की गति त्रिधा है। इस 'त्रिपथगा' की एक धारा तिङन्त है, दूसरी कृदन्त और तीसरी संयुक्त—'तिङन्त-कृदन्त' या 'कृदन्त-तिङन्त'। विधि, आदेश, प्रार्थना, प्रश्न आदि की व्यंजना हिन्दी में तिङन्त क्रियाओं से होती है—राम वेद पढ़े, आप ऐसा न करें, मैं जाऊँ ? आदि। इन क्रियाओं पर कर्ता या कर्म के लिङ्ग-भेद का कोई असर नहीं पड़ता—राम वेद पढ़े, सीता वेद पढ़े।

सत्तार्थक 'ह' धातु से वर्तमानकालिक 'इ' प्रत्यय होता है। सम्भावना शुभाशंसा आदि की व्यंजना 'हो' से होती है; 'ह' से नहीं। वर्तमान कालिक यह 'इ' प्रत्यय केवल 'ह' से होता है। अन्य सब धातुओं का काम भी इसी से चलता है—'करता है' 'पढ़ता है'।

मध्यमपुरुष के बहुवचन में 'इ' को 'उ' हो जाता है और गुण-सन्धि हो कर 'हो'—'तुम बड़े चतुर हो'। यहाँ 'हो' 'ह' का रूप है; 'हो' धातु का नहीं। यह 'इ' वर्तमान का प्रत्यय अन्य किसी भी धातु से होता ही नहीं है। उत्तमपुरुष के एकवचन में 'इ' को 'ऊँ' हो जाता है और धातु के 'अ' का लोप हो जाता है—'हूँ'। 'मैं यहाँ हूँ, तुम वहाँ हो'। 'होऊँ' में 'हो' धातु से सम्भावनार्थक पृथक् 'ऊँ' प्रत्यय है। वर्तमान 'ऊँ' से

यह एकदम अलग चीज है। 'पढ़ता हूँ' वर्तमानकालिक 'ह्' का रूपान्तर है।

राम है, तू है, लड़की है, लड़का है

बहुवचन बनाने के लिए 'ऐ' को अनुनासिक कर देते हैं—लड़के हैं, लड़कियाँ हैं, हम हैं। संस्कृत में 'न्' से बहुवचन बनता है; हिन्दी में स्वर को ही अनुनासिक कर देते हैं। 'पठति'—पढ़ता है और 'पठन्ति'—पढ़ते हैं। क्रिया का पूर्वांश कृदन्त है; इस लिए 'वचन' संज्ञा की तरह—'पढ़ता' एकवचन और 'पढ़ते' बहुवचन। यों बहुत सीधा मार्ग है—

१—वह है, तू है, राम है, लड़की है
२—वे हैं, सब हैं, लड़के हैं, लड़कियाँ हैं
३—तुम हो और मैं हूँ

कुरुजनपद में कृदन्त क्रियाओं का इतना जोर है कि 'है' के आगे भी कृदन्त-प्रत्यय 'ग' जोड़ कर—

लड़का चतुर है गा
लड़की चतुर है गी
लड़के चतुर हैं गे

यों बोलते हैं। कुरुजनपद के पूर्व में मुरादाबाद की ओर भी 'है गा' 'है गी' आप सुन सकते हैं। परन्तु राष्ट्रभाषा ने यह 'है गा'—'है गी' पसन्द नहीं किया! 'हगा-हगी' का सा आभास मिलता है! हाँ, भविष्यत् काल में 'हो' धातु से अवश्य 'ग' हो गा—लड़का हो गा, लड़की हो गी, लड़के हों गे। काल-भेद के लिए प्रत्यय-भेद चाहिए ही। भविष्यत् का 'ग' वर्तमान में लगा देना कुछ भला नहीं। भविष्यत् में क्रिया की निश्चिति प्रकट करने के लिए 'ग' का प्रयोग होता है। वर्तमान तो स्वतः निश्चित है।

परन्तु जनपदीय बोलियों में साहित्यिक 'मीन-मेख' नहीं चलता! वहाँ तो सरल से सरलतर मार्ग चलता है। 'लड़का है' की अपेक्षा 'लड़का है गा' जम गया, चल पड़ा। 'लड़की पढ़ती होगी' की ही तरह 'लड़की पढ़ती है गी' भी वहाँ गति पर है। परन्तु राष्ट्र-भाषा में 'ग' भविष्यत्—सम्भावना आदि की चीज है। 'पढ़े, तब है' में 'पढ़े' से क्रिया की निश्चिति नहीं। पता नहीं, पढ़े गा कि नहीं! इस 'पढ़े' के आगे 'ग' लगा दें, तो—'राम पढ़े गा और

सुशीला लिखे गी' में 'पढ़ने-लिखने' का निश्चय है। बोलने वाला अपने मन में निश्चय किए है कि राम पढ़े गा और सुशीला लिखे गी। 'राम सोता हो, तब ?' 'सोता हो' संभावना है। निश्चय नहीं कि राम सोता ही हो गा ! परन्तु 'ग' लगा देने से क्रिया की निश्चिति प्रकट हो गी— 'राम सोता हो गा'। है तो संभावना ही; पर 'ग' के प्रयोग से निश्चय की ओर झुकाव है। भविष्यत् सन्दिग्ध होता है और संभावना में तो सन्देह है ही; इस लिए निश्चयार्थ 'ग' का प्रयोग। वर्तमान में क्या सन्देह ?

विधि आदि का 'इ' प्रत्यय

'ह'-भिन्न धातुओं से विधि, आज्ञा, शुभाशंसा, अशुभ कामना (शाप) सम्भावना आदि प्रकट करने के लिए एक पृथक् 'इ' प्रत्यय होता है—

राम वेद पढ़े, सुशीला भी वेद पढ़े

'पढ़े' में लिङ्ग-भेद से कोई रूप-भेद नहीं है।

बहुवचन में 'ए' को अनुनासिक कर देते हैं—

लड़के खेलें और लड़कियाँ भी खेलें

उभयत्र 'खेलें'। यह भी 'इ' मध्यम पुरुष के बहुवचन में 'उ' हो जाती है और गुण-सन्धि भी—

तुम पढ़ो, खेलो और काम करो

पढ़, खेल तथा कर धातुओं के अन्त्य 'अ' के साथ प्रत्यय के 'उ' की गुण-सन्धि।

उत्तमपुरुष के एकवचन में 'इ' को 'ऊँ' हो जाता है—

मैं पढ़ूँ या कोई और काम करूँ

धातु के अन्त्य 'अ' का लोप। मध्यमपुरुष के एकवचन में 'इ' का लोप हो जाता है—

तू पढ़ भी, दूसरा काम भी कर

यह 'पढ़' स्पष्टतः 'पठ' का प्रतिरूप है।

इसी लाइन पर फिर सभी कर, उठ, सह आदि।

और—

तू कपड़े धो, सो मत, उसे मत छू आदि भी। 'इ' का लोप पुरानी परम्परा की याद। 'पठति'—पढ़ता है और 'पठ'—पढ़।

लड़का पढ़े	लड़के पढ़ें
तू पढ़	तुम पढ़ो

'मैं पढ़ूँ' और 'हम पढ़ें'

यानी अन्यपुरुष का बहुवचन और उत्तमपुरुष का बहुवचन रूप एक-सा 'पढ़ें' होता है। पुरुष-भिन्नता प्रतीत नहीं होती। इसी लिए कर्तृनिर्देश जरूरी होता है। केवल 'पढ़ें' कहने से मतलब साफ न हो गा। परन्तु 'क्या पढ़ूँ?' कहने से 'मैं' कहने की आवश्यकता नहीं। 'तुरन्त जा और उन से सब कह दे' यहाँ 'तू' की स्पष्टतः स्थापना जरूरी नहीं है। 'जाओ और काम करो' कहने से ही 'तुम' कर्ता मालूम हो जाता है। 'पढ़े' अन्यपुरुष एक वचन में तो कर्ता का निर्देश करना ही हो गा; जैसे 'पठेत्' में। अन्यथा यह कैसे ज्ञात हो गा कि विधि या आज्ञा किसके लिए है? ('अस्'>अह>) 'ह' धातु से यह 'इ' प्रत्यय नहीं होता, अस्तित्व निश्चित होता है। हाँ, 'हो' धातु से अवश्य यह प्रत्यय होता है।

इस 'इ' प्रत्यय से कोई काल-विशेष प्रतीत नहीं होता। 'सत्यं वदेत्'—सत्य बोलना चाहिए। यहाँ यह सार्वकालिक विधि है; फिर भी विधि होती भविष्यत् के ही लिए है; इस लिए 'साध्य' प्रयोग। 'सच बोलना चाहिए' भी विधि है; परन्तु क्रिया का यह पृथक् रूप है। प्रकृत 'इ' प्रत्यय का प्रयोग 'चाहिए' में नहीं है। इस का खुलासा आगे हो गा। 'सत्यं वदेत्' तथा 'सत्य बोलना चाहिए' में कर्ता का निर्देश नहीं है। तब पूरा मतलब कैसे निकले? मतलब तो निकल आता है—'मनुष्य को सत्य बोलना चाहिए'; परन्तु यह कैसे निकला? अन्यपुरुष की क्रिया में कर्ता का निर्णय कैसे हो गया? यह एक प्रश्न हो सकता है।

उत्तर स्पष्ट है। 'अर्थश्चेदवगतः किं शब्देन?' मतलब निकल गया, तो फिर उसके लिए शब्द का प्रयोग व्यर्थ! 'सत्य बोलना चाहिए' यह विधि मनुष्य के ही लिए हो सकती है—पशु-पक्षियों के लिए नहीं। मनुष्य-मात्र के लिए विधि है; इसी लिए सामान्य निर्देश; इसी लिए स्पष्ट प्रतिपत्ति और

इसी लिए पृथक् कर्ता का निर्देश नहीं। 'राम ने पुष्पों की वर्षा की' से कर्म (पुष्प) हटा लें, तो अर्थ स्पष्ट न हो गा। रुपयों की वर्षा की, या और किसी चीज की; कुछ न मालूम हो गा। इसी लिए कर्म का निर्देश आवश्यक है। परन्तु 'मेघ बरसता है' में 'पानी' (कर्म) बतलाना निरर्थक है। मेघ पानी ही बरसता है, और कुछ नहीं। इसी तरह 'सत्यं वदेत्' 'सच बोलना चाहिए' आदि में कर्ता का निर्देश आवश्यक नहीं। परन्तु 'देखे' या 'देखना चाहिए' कहने से कुछ न मालूम हो गा कि कौन देखे, किसे देखे! यहाँ कर्ता और कर्म अवश्य स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट होने चाहिए।

ऊपर अकारान्त 'पढ़' आदि धातुओं के 'इ'—प्रत्ययान्त रूपों की चर्चा हुई है। आकारान्त, ईकारान्त, ऊकारान्त, ओकारान्त आदि धातुओं के रूपों में नाममात्र को भिन्नता है। अकारान्त धातुओं का अन्त्य 'अ' प्रत्यय 'इ' से मिल कर (प्रथमपुरुष—एकवचन) में 'पढ़े' 'करे' 'उड़े' जैसे रूप ग्रहण करता है। परन्तु अन्य धातुओं से परे यह 'इ' अकेले ही 'ए' बन जाती है और धातु (के स्वर) से सट कर—

लड़का जाए—लड़के जाएँ, लड़की जाए—लड़कियाँ जाएँ
लड़का छुए—लड़के छुएँ, लड़की छुए—लड़कियाँ छुएँ
लड़का सोए—लड़के सोएँ, लड़की सोए—लड़कियाँ सोएँ

यों रूप होते हैं। 'छू' धातु का स्वर ह्रस्व हो जाता है। ईकारान्त धातुओं के रूप देखने से पता चलता है कि 'इय्' भी यहाँ विकल्प से होता है—

'राम पिये, पिए, पीए'

यों त्रिधा प्रयोग देखे जाते हैं। इसी तरह—

सिये, सिए, सीए
जिये, जिए, जीए

त्रिविध प्रयोग हैं। यहाँ स्पष्टतः धातु के 'ई' को 'इय्' हो गया है और फिर ('ए' परे होने के कारण) 'य्' का वैकल्पिक लोप—जिए-जिये। 'इय्' न होने पर जीए; पीए, सीए आदि साफ ही हैं।

यहाँ एक बात साफ दिखाई देती है। 'गये-गए' आदि की तरह, जिये-जिए' आदि में य् का वैकल्पिक लोप है; परन्तु 'किरायेदार' आदि को

'फिराएदार' जैसा नहीं होता। 'फिराया' से 'दार' प्रत्यय होने पर (प्रकृति के) अन्त्य 'आ' को 'ए' हो जाता है—'फिरायेदार'। यहाँ भी 'य्' की स्पष्ट श्रुति नहीं है, वैकल्पिक लोप को अवकाश है; परन्तु होता नहीं है। हाँ 'पायेदार' और 'पाएदार' ये दोनो प्रयोग होते हैं। क्या कारण ?

ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी की स्पष्ट प्रतिपत्ति देने की प्रवृत्ति ही यहाँ भी कारण है। सोचने से जान पड़ेगा कि प्रत्यय के ही 'य्' का उस तरह वैकल्पिक लोप होता है; या फिर 'आदेश' या 'वर्णविकार' के 'य्' का। 'गई' 'गए' आदि में प्रत्यय के 'य्' का लोप है। प्रत्यय का क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। इस लिए, अति प्रसिद्धि से, सब समझ में आ जाता है। 'लड़के गए' 'सीता गईं' कहने से साफ पता लग जाता है कि ये 'गया' के रूप हैं। यहाँ तक कि लोप के अनन्तर 'सवर्ण-दीर्घ एकादेश' हो कर जब रूप एकदम बदल जाता है, तब भी समझने में कोई दिक्कत नहीं होती—'लड़के ने दवा नहीं पी है और पुस्तक ले ली है' यहाँ 'पिया' का 'पी' और 'लिया' का 'ली' रूप सब समझ लेते हैं।

यहाँ लोप और सन्धि 'नित्य' हैं—अनिवार्य हैं; वैकल्पिक नहीं हैं। कारण, प्रत्यय प्रसिद्ध है; इस लिए सब साफ समझ लेते हैं।

'पाएदार' में 'पाया' का 'य्' 'आदेश' या वर्णविकार है। 'पाद' के 'द' को 'य' हो कर पुंविभक्ति है। पशुओं के चार 'पावँ' होते हैं। यहाँ 'द' को अनुनासिक 'वँ'। 'एक सेर के चतुर्थांश को 'पाव' कहते हैं।' यहाँ (तौल-विशेष के लिए) निरनुनासिक 'व'। 'पैसा' भी 'पाय-सा' दिखाई देता है। पाय > पाइ > 'पै'। एक आने के चार पाद। चौथा पाद—'पैसा'। 'पाद' > 'पाय' से भी छोटा हिस्सा—'पाई'। पैसे का तीसरा हिस्सा। अल्पार्थक 'ई' और 'य' का लोप। खाट के चार 'पाये' या 'पावे' होते हैं। यहाँ विकल्प से 'व' और 'य'। जिस चीज का आधार मजबूत होता है, वह टिकाऊ होती है—'पाएदार' या 'पायेदार'। यहाँ 'य्' का वैकल्पिक लोप; क्योंकि 'द' को 'आदेश' या 'वर्ण-विकार' से हुआ यह 'य' है। 'पावेदार' नहीं होता, टिकाऊपन के अर्थ में। साधारण प्रयोग में 'पावेदार पीढे बनवाने चाहिए, जिस से कि बैठने में सुभीता हो।'

नये-'नए' तथा नयी-'नई' में भी 'य्' का वैकल्पिक लोप है; क्योंकि 'नव' के व् को यह य् वर्ण-विकार से है।

सो, 'जिये-जिए' में 'इय्' तथा 'य्' का वैकल्पिक लोप; क्योंकि धातु के 'ई' को 'इय्' आदेश हुआ है और उसी का अंश यह 'य्' है।

'छुए' में भी 'छू' के 'ऊ' को 'उव्' है और 'व्' का नित्य लोप; क्योंकि 'उ' के अनन्तर 'व्' का उच्चारण ('छुवे') वैरस्य पैदा करता है।

मध्यमपुरुष के बहुवचन में 'इ' को 'उ' और फिर उस ('उ') को 'ओ' हो जाता है—

'तुम कपड़े धोओ और तब सोओ'

उत्तमपुरुष के एकवचन में वही 'ऊँ'—

मैं सोऊँ, या कपड़े धोऊँ ?

विधि आदि के द्योतन में जिस 'इ' प्रत्यय का उल्लेख ऊपर हुआ है, वह 'पठेत्' आदि के 'इय्' का ही रूपान्तर है, य् का लोप कर के। जैसे 'पर्वतीय' आदि से 'ईय' ले कर और 'य' का लोप कर के 'ई' तद्धित प्रत्यय हिन्दी ने अपना बना लिया और अपने 'पहाड़' आदि शब्दों में लगा कर 'पहाड़ी' जैसे शब्द बनाती है, उसी तरह 'इय्' के 'इ' से 'पढ़े' आदि क्रिया-पद। परन्तु बन्धुवर डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मुझे सलाह दी कि विधि में 'इ' प्रत्यय न रख कर सीधा 'ए' रखा जाए, तो अधिक अच्छा रहे गा; क्योंकि 'सोए' 'बजाए' 'पढ़ाए' आदि में 'ए' स्वतः स्पष्ट है। 'इ' को 'ए' करने की झंझट बच जाए गी और 'पढ़' आदि अकारान्त धातुओं में 'गुण' की जगह अन्त्य-लोप से काम चल जाए गा।

द्विवेदी जी ने जो सलाह दी, ठीक है। मेरे मन में भी पहले ('सोए आदि देख कर) 'ए' प्रत्यय की ही कल्पना हुई थी। साफ चीज है। परन्तु 'इय्' का ध्यान कर के और हिन्दी की कई बोलियों में 'करै' 'करइ' विधि के रूप देख कर 'इ' प्रत्यय ही रखा। इन बोलियों में म० पु० के बहुपचन में 'करहु—करउ—करौ' तथा उ० पु० एकवचन में 'करहुँ—करउँ—करौं' रूप होते हैं। 'ह्'—लोप से हिन्दी में 'करो—करूँ'। इन बोलियों में वर्तमान काल के भी 'करहि—करइ—करै' रूप होते हैं। यहाँ 'हि' प्रत्यय 'है' का घिसा हुआ रूप है। 'पठति'

के 'त्' को उड़ा कर भी 'इ' की कल्पना की जा सकती है—'पढ़इ'–'पढ़े'। 'ह्' के आगम से 'पढ़हि' भी। चाहे जैसे समझिए, वर्तमान काल के 'पढ़हि, पढ़इ, पढ़े' से विधि के 'पढ़इ' पढ़हि' 'पढ़ै' रूप अलग हैं। 'पढ़ै' (विधि) का ही कोमल रूप 'पढ़े' है। यहाँ 'इ' 'ए' इन दो प्रत्ययों में से कौन रखा जाए; विचारणीय है। प्रकृति-प्रत्यय का भेद व्याकरण में काल्पनिक होता है; समझाने के लिए। 'पढ़िहै' आदि में 'इहै' का आद्य वर्ण 'इ' है। पूरब में 'राम न पढ़ी' के भविष्यत् 'पढ़ी' में भी 'ई' है। यों व्याकरण का ख्याल कर के—'पढ़े'–'करे' आदि में 'इ' प्रत्यय ही ठीक समझा। 'ए' करने से 'पढ़' आदि के अन्त्य 'अ' का लोप करना पड़ता; 'इ' से गुण-सन्धि। सो, 'ए' में प्रक्रिया-लाघव भी नहीं है।

'इए' प्रत्यय भी तिङन्त-विधि में है—'ऐसा काम न करिए कि पछताना पड़े'। 'करिए'—करना चाहिए। प्रार्थना में 'कीजिए' होता है—'ऐसा काम न कीजिए'। 'भविष्यत्-प्रार्थना' में—'न कीजिए गा'। यह 'इए' भावप्रधान प्रत्यय है। कर्ता 'आप' होने पर भी 'कीजिएँ' नहीं होता। 'ऐसे काम आप न कीजिए' में 'काम' के अनुसार भी बहुवचन नहीं। 'चाहिए' में भी यही बात है। जब बहुत्व कर्म में सूचित करना होता है, तो 'चारो वेद पढ़ने चाहिए' 'सब विद्याएँ पढ़नीं चाहिए' प्रयोग होते हैं। 'करिए'—'कीजिए' का 'ए' जनपदीय बोलियों में 'य' के रूप में रहता है—'करिय न सोच विचारु' 'कीजिय नेकु नेह की कोर'। परन्तु 'कीजिये' 'लीजिये' आदि लिखना गलत है। 'य्' के साथ 'ए' प्रमाणप्राप्त नहीं है। 'हमें कुछ अध्यापक चाहिइ' में 'चाह' इच्छार्थक का रूप है—हम कुछ अध्यापक चाहते हैं—उन की जरूरत है। जरूरत की चीज ही इच्छा का विषय होती है। 'आप को न चाहे, ताके बाप को न चाहिए' में 'चाहिए' प्रेमार्थक 'चाह' है। 'आप को ऐसा न करना चाहिए' में 'चाहिए' औचित्यार्थक क्रिया है। 'युज्यते' के अर्थ में यह हिन्दी की 'चाह' धातु सामने है—'चाहिय जहाँ रिसिन कर बासा'।

'इयो' प्रत्यय एक भिन्न है, जिस में 'भविष्यत्-प्रार्थना' प्रेम से भरी रहती है। 'सँदेसो देवकी सों कहियो'। यह प्रत्यय ब्रजभाषा आदि में खूब चलता है। 'कीजियो' 'चलियो' आदि में 'य' देख कर लोग 'कीजिए' तथा 'चलिए' आदि के सिर भी ('य्') थोप देते हैं !—'चलिये'–'कीजिये' जैसे रूप लिखते हैं ! यह गलती है। 'गये'–'गए' और 'गयी'–'गई' वैकल्पिक रूप ठीक कहे

जा सकते हैं; क्योंकि 'य्' परम्परा-प्राप्त है और श्रुत न होने से लोप भी ठीक है। परन्तु 'कीजिये' में 'य्' कैसे आ कूदा ? इस की श्रुति भी तो नहीं ! 'कीजियो' मे 'य्' श्रुत है—सदा रहे गा। कोई-कोई कहते हैं कि 'कीजिये' न रहे गा, तो फिर 'नदियाँ' भी न रहे गा—'नदिआँ' हो जाए गा; इस लिए 'कीजिये' ठीक है। समझ अपनी ! 'नदियाँ' में 'इय्' विकरण का 'य्' स्पष्ट श्रुत है; तब लोप क्यो हो गा ?

कृदन्त क्रियाएँ

हिन्दी में कृदन्त क्रियाएँ ही अधिक हैं। वर्तमान काल की सब की सब क्रियाएँ कृदन्त हैं; सहायक क्रिया केवल 'है' ही तिङन्त है—'लड़का पढ़ता है 'लड़की पढ़ती है'। भूत काल की भी सब क्रियाएँ कृदन्त हैं—'लड़का गया' और 'लड़की गई'। 'कृतम्' के 'कृत' को 'किय' रूप मिल जाता है। इसी 'य' को हिन्दा ने भूतकाल का प्रत्यय मान लिया—पुंविभक्ति लगा कर किया, आया, गया, सोया, सुलाया, पढ़ाया आदि। स्त्रीलिङ्ग मे—की, ली, आई–आयी, गई–गयी, सोयी–सोई, सुलायी–सुलाई, पढ़ायी–पढ़ाई आदि। यहाँ 'सभी चीजो की पढ़ाई होती है' 'क्या लिखाई हो रही है' 'तू तो दिखाई भी नही देता' इत्यादि प्रयोगों में 'आई' कृदन्त भाववाचक प्रत्यय पृथक् चीज है। यहाँ 'पढ़ायी'–'लिखायी' कर देना गलती है।

पढ़ा, लिखा, उठा, बैठा आदि में भी 'य' प्रत्यय है; लुप्त दशा में है। 'कुरुजनपद' से मिले हुए 'कुरुजाङ्गल' (करनाल- रोहतक आदि) मे आज भी 'पढ्या' जैसे प्रयोग होते हैं। यानी धातु के 'अ' का लोप कर के प्रत्यय का संयोग। परन्तु 'पढ्या' 'बैठ्या' आदि कर्णकर्कश शब्द हैं। उच्चारण में भी सुखकर नहीं हैं। इस लिए अनेक स्वरवाली अकारान्त (उठ, बैठ, पढ़, कर, मर आदि) धातुओं से परे 'य' का लोप हो जाता है। 'उठ य' में पुंविभक्ति—'उठ या'। 'य्' का लोप—उठ+आ='उठा'। प्रत्यय का लोप होने पर भी पुंविभक्ति तो रहे गी ही। स्त्रीलिङ्ग में—'उठी'।

आकारान्त धातुओं में 'य' रहता ही है—

आया, लाया, पाया, खाया आदि।

ईकारान्त धातु का अन्त्य स्वर ह्रस्व हो जाता है—

पानी पिया, कपड़ा सिया, बहुत दिन जिया

एकारान्त धातुओं के अन्त्य 'ए' को भी ह्रस्व 'इ' हो जाता है—लेता है—लिया है। राम ने आम 'लिया'।

पढ़, उठ, बैठ आदि धातुओं के रूप प्रेरणा में पढ़ा, उठा, बैठा जैसे आकारान्त हो जाते हैं और तब इन के आगे से 'य' प्रत्यय लुप्त नहीं होता—

पढ़ाया, उठाया, बैठाया आदि।

'मर' धातु से भूतकाल का रूप 'मरा' बनता है। इस हिसाब से 'कर' का भी 'करा' होना चाहिए; जैसा कि किसी-किसी जनपद में बोला भी जाता है—'काम करा' 'भलाई करी'। ठीक बात है; परन्तु इस सिद्धान्त के बनने से पहले ही 'किया' रूप बन चुका था। हिन्दी ने सब से पहले 'कृत' के 'किय' में ही अपनी पुंविभक्ति लगा कर 'किया' रूप भूतकाल का बनाया-चलाया। फिर इसी के 'य' को प्रत्यय मान कर सभी धातुओं के 'आया' 'सोया' आदि रूप बने। 'मर' का 'मर्‍या' बोलने में अटपटा लगा, तब 'मरा' हो गया। परन्तु 'कर' से 'करा' नहीं बना; क्योंकि 'किया' तो पहले ही बन चुका था। व्रजभाषा में 'उठ्यो' 'लिख्यो' आदि रूप चलते हैं; 'मर्‍यो' 'पर्‍यो' आदि भी; परन्तु वहाँ भी 'कर्‍यो' नहीं—'कियो' ही चलता है। इस से भी पुष्टि होती है कि कृत > किय > 'किया-कियो' से ही यह प्रत्यय लिया गया है।

इस 'य' प्रत्यय की प्रयोग-पद्धति प्रायः संस्कृत की-सी ही है। हिन्दी की 'ने' विभक्ति संस्कृत के 'बालकेन' के 'इन' से बनी है; यह बतलाया जा चुका है। संस्कृत में अकर्मक धातुओं से प्रकृत 'त' प्रत्यय 'कर्तरि' होता है। अर्थात् अकर्मक क्रियाओं के भूतकालिक त-प्रत्ययान्त रूप कर्तृवाच्य होते हैं—कर्ता के लिङ्ग-वचन का अनुसरण करते हैं। ठीक यही स्थिति हिन्दी में है—

बालकः सुप्तः, बालिका सुप्ता, बालकाः सुप्ताः
लड़का सोया, लड़की सोयी, लड़के सोये।

सकर्मक क्रियाओं के प्रयोग संस्कृत में कर्मवाच्य होते हैं—कर्म के अनुसार क्रिया के लिङ्ग-वचन रहते हैं—

सीतया ग्रन्थः पठितः, रामेण संहिता पठिता

हिन्दी में—

सीता ने ग्रन्थ पढ़ा, राम ने संहिता पढ़ी

पूर्णतः संस्कृत का अनुकरण है। अन्तर केवल यह है कि संस्कृत में तृतीया विभक्ति के योग से विभिन्न शब्दों के बने रूप-भेदों में जो जटिलता है, वह हिन्दी में नहीं है। अकारान्त पुल्लिङ्ग 'बालक' का तृतीया के एकवचन में जो रूप बनता है, उस से आवश्यक अंश ले कर अपनी 'ने' विभक्ति हिन्दी ने बना ली; और फिर सभी शब्दों में उसी का प्रयोग—सभी लिङ्ग-वचनों में निर्विशेष—

सीतया ग्रन्थः पठितः—सीता ने ग्रन्थ पढ़ा
रामेण ग्रन्थः पठितः—राम ने ग्रन्थ पढ़ा
अस्माभिः ग्रन्थः पठितः—हम ने ग्रन्थ पढ़ा
युष्माभिः ग्रन्थः पठितः—तुम ने ग्रन्थ पढ़ा

कर्म बहुवचन कर दें, तो क्रिया भी बहुवचन—

बालकेन बालकाः दृष्टाः—लड़के ने लड़के देखे
बालिकया बालकाः दृष्टाः—लड़की ने ने लड़के देखे
त्वया बालकाः दृष्टाः—तू ने लड़के देखे

कर्म स्त्रीलिङ्ग कर दें, तो क्रिया भी स्त्रीलिङ्ग—

बालकेन बालिका दृष्टा—लड़के ने लड़की देखी
बालिकया बालिका दृष्टा—लड़की ने लड़की देखी
बालिकाभिः बालिका दृष्टा—लड़कियों ने लड़की देखी

कितनी सरलता है? सर्वत्र 'ने' कर्ता में।

इस तरह सकर्मक धातुओं से भूतकालिक 'त' प्रत्यय (संस्कृत में) 'कर्मणि' होता है, उस के कर्मवाच्य प्रयोग होते हैं। हिन्दी के 'य' का प्रयोग भी ऐसा ही है। गत्यर्थक सकर्मक धातुओं से 'त' प्रत्यय संस्कृत में 'कर्तरि' होता है; अर्थात् गत्यर्थक धातुओं के 'त'-प्रत्ययान्त रूप (कर्मवाच्य न होकर) कर्तृवाच्य होते हैं। यही स्थिति हिन्दी में है। 'जाना'-'आना'

अर्थवाली धातुओं से 'त' प्रत्यय 'कर्तरि' होता है; यद्यपि वे सकर्मक हैं। हिन्दी में भी ऐसी धातुओं से 'य' प्रत्यय की यही स्थिति है—

१—रामः काशीं गतः—राम काशी गया

२—बालिका वृन्दावनं गता—लड़की वृन्दावन गई

३—यूयम् गृहमागताः—तुम घर आए

४—वयमप्यागताः गृहम्—हम भी घर आ गए

प्रथम उदाहरण में कर्म (काशी) स्त्रीलिङ्ग है; परन्तु क्रिया कर्ता 'रामः' (राम) के अनुसार पुल्लिङ्ग है—'गतः'—'गया'।

दूसरे उदाहरण में कर्ता 'बालिका' स्त्रीलिङ्ग है और इसी लिए क्रिया ('गता'—'गई') स्त्रीलिङ्ग है। न संस्कृत में 'वृन्दवनम्' के अनुसार नपुंसक लिङ्ग, न हिन्दी में 'वृन्दावन' के अनुसार पुल्लिङ्ग।

संस्कृत में अकर्मक धातुओं से कभी 'भावे' भी 'त' प्रत्यय होता है—भाववाच्य प्रयोग होते हैं। कृदन्त भाववाच्य क्रिया सदा नपुंसक लिङ्ग एकवचन संस्कृत में रहती है, हिन्दी में सदा पुल्लिङ्ग—एकवचन। 'स्नान' से 'नहाना' है—

रामेण स्नातम्—राम ने नहाया

बालिकाभिः स्नातम्—लड़कियों ने नहाया

अस्माभिः स्नातम्—हम ने नहाया

युष्माभिः स्नातम्—तुम ने नहाया

भाववाच्य क्रिया का कर्ता संस्कृत में तृतीया-विभक्ति से आता है, हिन्दी में 'ने' के साथ। 'कर्तरि' प्रयोग भी इस के होते हैं—

बालिकाः स्नाताः—लड़कियाँ नहाईं

रामः स्नातः—राम नहाया

वयं स्नाताः—हम नहाए

यूयम् स्नाताः—तुम नहाये

परन्तु 'तुम ने उठा' या 'हम ने सोया' जैसे रूप हिन्दी में नहीं होते। कर्तृवाच्य 'तुम सोये' 'हम उठे' प्रयोग होते हैं। संस्कृत में अवश्य 'युष्माभिः सुप्तम्' 'अस्माभिः उत्थितम्' जैसे प्रयोग (भाववाच्य) होते हैं। हिन्दी में अकर्मक धातुओं से 'य' प्रत्यय प्रायः 'कर्तरि' ही होता है; कहीं 'नहाना' आदि का भाववाच्य रूप भी।

कभी-कभी सकर्मक क्रियाओं के भी 'कर्तरि' प्रयोग होते हैं; यदि कर्म (अविवक्षित होने के कारण) प्रत्यक्ष न हों—'कुछ तू समझा, कुछ मैं समझा'। यहाँ 'कुछ' कर्म नहीं, 'क्रिया-विशेषण' है। कर्म होता, तो कर्ता में 'ने' विभक्ति लगती। 'तू ने कुछ समझा' कर्मवाच्य है। 'कुछ' कर्म है।

संस्कृत से एक मौलिक भेद

संस्कृत से हिन्दी में यहाँ एक और मौलिक प्रयोग-भेद है। संस्कृत में सकर्मक क्रियाओ के—कर्म की उपस्थिति में—भाववाच्य प्रयोग नहीं होते हैं। वहाँ कृदन्त सकर्मक क्रियाएँ (भूतकाल की) कभी भी भाववाच्य न हों गी। उपस्थित कर्म के अनुसार ही उन के लिङ्ग-वचन हों गे। परन्तु हिन्दी में स्थिति भिन्न है। 'राम ने पुस्तक देखी' कर्मवाच्य प्रयोग है। 'राम ने पुस्तक को देखा' ऐसा भाववाच्य प्रयोग नहीं होता। परन्तु 'हमने लड़की देखी' और 'हमने लड़की को देखा' यों उसी क्रिया के कर्मवाच्य और भाववाच्य दोनो तरह के प्रयोग होते हैं। और 'हम ने तुमको देखा' या 'तुम ने हम को देखा' केवल भाववाच्य। 'तुम' और 'हम'—कर्ता और कर्म दोनो ही—बहुवचन हैं; परन्तु क्रिया एकवचन है—'देखा'। यह भाववाच्य क्रिया कभी भी कर्मवाच्य नहीं बनाई जा सकती। 'हम ने तुम देखे' या 'तुम ने हम देखे' हिन्दी में गलत प्रयोग हों गे। 'मालिकों ने नौकरों को मारा है' प्रयोग होता है और 'मालिकों ने नौकर मारे हैं' ऐसा कर्मवाच्य भी। प्रथम (भाववाच्य) का मतलब यह है कि मालिकों ने नौकरों के कुछ थप्पड़-घूँसे लगाए हैं और दूसरे (कर्मवाच्य) प्रयोग से यह मतलब निकलता है कि मालिकों ने नौकरों को जान से मार दिया है! संस्कृत में सकर्मक क्रिया सदा कर्मवाच्य रहती हैं, यदि कर्म उपस्थित हो।

'य' प्रत्यय भाववाच्य

'आया करता है' 'किया करता है' आदि संयुक्त क्रियाओं के पूर्वांश में 'य' प्रत्यय भिन्न चीज है। 'य' भूतकालिक प्रत्यय 'कर्तरि', कर्मणि' तथा

'भावे' त्रिधा चलता है; परन्तु 'आया करता है' आदि में दृष्ट 'य' प्रत्यय कालनिरपेक्ष है और सदा भाववाच्य रहता है—पुल्लिङ्ग—एकवचन। 'राम आया करता है' 'लड़के आया करते हैं' 'लड़की आया करती है' सर्वत्र 'आया' रहे गा। सकर्मक क्रियाओं में भी—

१—लड़के दवा पिया करते हैं

२—लड़कियाँ दवाएँ पिया करती हैं

३—हम लोग शर्बत पिया करते हैं

४—तुम चाय पिया करते हो

कर्ता के अनुसार 'करते हैं' 'करती हैं' 'करते हो' आदि में परिवर्तन है; परन्तु 'पिया' सदा एकरस। सभी कालों में भी—

१—लड़के दूध पिया करते थे

२—लड़कियाँ दूध पिया करें गी

३—तुम दूध पिया करो गे

और 'विधि' आदि में भी—

१—लड़के चाय न पिया करें

२—तुम दूध पिया करो

३—हम भी दूध पिया करें

यह 'य' प्रत्यय क्रिया का सातत्य प्रकट करता है। यों, यह 'य' भिन्न प्रत्यय है; इसी लिए 'लड़का जाया करता है' होता है। भूतकाल में 'जाया' नहीं, 'गया' होता है।

सो, यह भाववाच्य 'य' पृथक् चीज है। हाँ, यहाँ अवश्य भूतकालिक 'य' है—

१—राम तुम्हें घर आया मिले गा

२—मा को सुशीला घर आयी मिलती है

परन्तु यह 'आया' 'आयी' क्रिया-पद (आख्यात) नहीं, विशेषण हैं। 'रामः गृहम् आगतः' (राम घर आया) में 'आगतः' (आया) क्रिया है; परन्तु 'गृहम् आगतं रामं पाठयामिभि'—(घर आये राम को पढ़ाता हूँ) में 'आगतं'

विशेषण है। 'आया' या 'आगत' में भूतकालिक प्रत्यय अवश्य हैं। 'आना' पहले हो चुका है। 'घर आए मित्रो ने कहा' में 'आए' आख्यात क्यों नही ? 'मित्र घर आए' में 'आए' आख्यात क्यो ? वैय्याकरणो ने स्पष्ट किया है—'क्रियान्तराकाङ्क्षानुपस्थापकत्वमाख्यातत्वम्'-जिस (कृदन्त) में किसी दूसरी क्रिया की आकाक्षा न हो, वह 'आख्यात'। आकांक्षा हो, तो विशेषण आदि। 'मित्र आए' निराकाक्ष है।

'आया करता है' आदि के 'आया' आदि पदो को लोग 'भूतकालिक' गलती से समझ लेते हैं; यद्यपि हिन्दी ने भ्रम को दूर रखने की पूरी चेष्टा की है। 'जा' धातु से भूतकाल का 'य' प्रत्यय शायद इसी लिए नहीं हुआ है—'ग' धातु से विहित है—'राम गया'। 'राम जाया' नहीं होता; यद्यपि 'राम आया' होता है। ('राम गया' के हिसाब से 'राम आगया' होना चाहिए था। 'रामः गतः'–राम गया। 'आगतः' को 'आगया' ही हो सकता था। परन्तु 'आ गया' में अर्थ-विशेष है। 'आया' और 'आ गया' में अन्तर है। इस 'आ गया' संयुक्त क्रिया का ध्यान रख कर ही 'आगतः' के 'आ' मात्र अंश को ले कर हिन्दी ने उसे 'धातु' रूप दिया।) सो, भूतकाल में 'जाया' होता ही नहीं है। फिर भी कोई 'राम जाया करता है' में 'जाया' को भूतकालिक बतलाए, तो क्या किया जाए !

इसी तरह ('राम आए गा' के गलत रूप) 'राम आयेगा' के 'आये' को भूतकालिक बतलाया करते हैं ! पूछो, भूतकाल का भविष्यत् काल से क्या मेल-सामञ्जस्य ! वस्तुतः 'आये गा' 'जाय गा' 'खाये गा' आदि गलत प्रयोग हैं; यह अभी आगे स्पष्ट हो गा।

यह 'य' प्रत्यय सामान्य भूतकाल प्रकट करता है। पूर्ण भूतकाल बनाने के लिए इस के साथ 'था' लगाते हैं—'राम गये थे' 'सीता गई थीं'।

'त' पूर्णभूतकालिक

यह 'त' प्रत्यय पूर्णभूतकाल या सुदूर अतीत प्रकट करता है। जैसे वर्तमान काल का 'इ' प्रत्यय केवल 'ह' धातु से होता है, उसी तरह यह 'त' प्रत्यय भी केवल 'ह' से ही होता है। 'य' प्रत्यय तो 'हो' से होता है, जिस के रूप 'हुआ' 'हुए' 'हुई' होते हैं। 'ह' से यह 'त' प्रत्यय हो कर 'था'रूप बनता है—'अन्न हुआ था' 'वर्षा हुई थी'। यों 'हो' के साथ 'ह' धातु के प्रयोग

'ह्' धातु स 'त' प्रत्यय हुआ और पुंविभक्ति—'हता'। बहुवचन में 'हते' और स्त्रीलिङ्ग में 'हती'। ब्रजभाषा में 'ओ' विभक्ति—'एक राजा हतो'। कहीं 'त' का लोप हो कर—'एक राजा हा, एक रानी ही'। 'उनके चार पुत्र हे' (एक राजा था, एक रानी थी। उन के चार पुत्र थे')। कहीं 'ह्' का भी लोप—'एक राजा आ, एक रानी ई। चार कुँवर ए।' ऐसे प्रयोग जनपदीय बोलियों में होते हैं। परन्तु राष्ट्रभाषा में न 'हता' चलता है, न 'हा' चलता है, न 'आ'। अवश्य ही इस की उद्गम-भूमि (कुरुजनपद) में 'हा' का प्रयोग अब भी होता है-'एक राजा हा, एक रानी ही, चार कुँवर हे उनके'। कहीं 'ह्' का ही लोप हो जाता है—'एक राजा ता, एक रानी ती; चार उन के बेटे ते।' 'हा' की ही तरह 'हो' ब्रज की लटक में है। राजस्थानी में 'छै' (है) वर्तमान काल और 'छो' भूतकाल। ये सब जनपदीय प्रयोग हैं। राष्ट्रभाषा में 'हता' नहीं और न 'हा' का ही हाहाकार है! यहाँ वर्ण-व्यत्यय से 'त् अ ह् अ'। 'त्' के आगे 'अ' का लोप और 'त् ह् अ' मिल कर 'थ'। पुंविभक्ति का योग और 'सवर्णदीर्घ एकादेश'—'था'। इस 'था' का स्वतंत्र प्रयोग भी होता है और विभिन्न क्रियाओं का पूर्ण भूतकाल बनाने के लिए उनके साथ भी होता है। 'ह्' धातु से 'इ' वर्तमानकालिक प्रत्यय हो कर 'है' और पूर्णभूतकालिक 'त' हो कर 'था'। 'इ' तिङन्त प्रत्यय है; और यह 'त' कृदन्त है, इतना अन्तर। 'राम है, सीता है' परन्तु 'राम था, सीता थी'।

'ग' भविष्यत्-का निश्चयार्थक प्रत्यय

'ग' प्रत्यय भविष्यत् में निश्चय प्रकट करने के लिए होता है—'अन्न होगा' क्योंकि 'वर्षा होगी'। 'ग' में पुंविभक्ति—'गा'। बहुवचन में—'होंगे'। स्त्रीलिङ्ग में 'होगी'—'होंगी'। यानी बहुवचन में 'गा' का 'गे' हो जाने पर भी प्रकृति के 'ओ' को अनुनासिक करना पड़ता है। इस के बिना काम चल नहीं सकता। यदि 'गे' से बहुवचन की प्रतीति मान कर 'हो' को 'हों' न भी किया जाता, तो स्त्रीलिङ्ग के बहुवचन में क्या होता? वहाँ बहुवचन की प्रतीति कैसे होती? 'पढ़ती होगी' एकवचन है। इसी से बहुवचन न मालूम होता। इसी लिए अनुनासिक—'होंगी'। जैसे 'होंगी' उसी तरह 'होंगे'।

यह बहुवचन-चिह्न विधि आदि के लिए विहित रूपों से ही आया है। विधि, प्रेरणा, आज्ञा, आशीर्वाद आदि प्रकट करने में क्रिया भविष्य की ही

ओर देखती है। 'राम पुस्तक पढ़े' इस आज्ञा या विधि से स्पष्ट है कि राम पढ़ नहीं रहा है, न पढ़ ही चुका है। आगे पढ़े गा; निर्देश पा कर। यही स्थिति आशीर्वाद, शाप आदि की है। सम्भावना तो भविष्यत् की ही होती है। सो, विधि आदि के रूपों में ही 'ग' प्रत्यय लगा कर भविष्यत् काल की क्रियाएँ बनाने में एक तत्त्व है। 'अन्न हो, वर्षा हो' इस आशंसा में 'ग' प्रत्यय लगा देने से क्रिया में निश्चयात्मकता आ जाती है—'अन्न हो गा' 'वर्षा होगी'। 'सब सुखी हों' आशीर्वाद। अभी सुखी नहीं है; कामना है। 'सब सुखी होंगे' साधारण भविष्यत् काल। 'सब सुखी रहें' कहने से स्पष्ट है कि सब सुखी हैं और इसी तरह आगे भी रहें। यो, यहाँ भी भविष्यत् है। 'हूँ' वर्तमान काल की (उत्तम पुरुष, एक वचन) क्रिया है। 'हूँ गा' भविष्यत् काल में लोग गलत लिखते हैं। विधि-प्रश्न आदि में 'होऊँ' प्रयोग होता है—'सोऊँ' आदि की तरह। सो, भविष्यत् में प्रयोग हों गे—'सोऊँ गा' 'होऊँ गा'।

इसी तरह पढ़े-पढ़े गा, जाए-जाए गा, जाऊँ-जाऊँ गा, पढ़ो-पढ़ोगे आदि सब रूप निष्पन्न होते हैं। सारांश यह कि 'हो' को छोड़ शेष सभी धातुओं में 'इ' की उपस्थिति है। 'हो' के आगे से 'इ' लुप्त हो जाती है; अन्यत्र 'ए' हो जाती है—'सोए-सोए गा'। अकारान्त धातुओं से 'गुण'-सन्धि-पढ़+इ = पढ़े। पढ़े-पढ़ेगा। धोए-धोए गा। यानी यह 'इ' प्रत्यय विधि आदि में अकेले रहता है, भविष्यत् में 'ग' के साथ।

'त' तथा 'य' आदि प्रत्यय प्रकृति से सटा कर लिखे जाते हैं—'आता है'-'आया' आदि। परन्तु 'ग' प्रत्यय हटा कर भी लिखते हैं। हटा कर लिखने की चाल शायद 'था' को देख कर पड़ी हो। जैसे—था, थे, थी; उसी तरह 'गा, गे, गी'। 'था' की नकल समझिए। 'प्राण छटपटाएँगे' में क्रिया की लम्बाई देखिए! इसी लिए 'प्राण छटपटाएँ गे' लोग लिखने लगे। बोलने में कोई अन्तर है ही नहीं। कोई-कोई प्रत्यय प्रकृति से हटा कर हिन्दी में लिखा भी जाता है। इसी तरह 'ग' पृथक् लिखा जाने लगा। इस पृथक् प्रयोग से ही यह कल्पना की जा सकती है कि 'ग' भी 'थ' की ही तरह कोई स्वतंत्र क्रिया कभी हो गी, जो कि आज भविष्यत् में निश्चय प्रकट करने के लिए अन्य क्रियाओं का साथ देती है। परन्तु 'था' की तरह 'गा' का स्वतंत्र प्रयोग तो होता नहीं! तब कल्पना की गई कि स्वतंत्र प्रयोग नष्ट हो गया हो गा! क्या सम्भव है कि कभी 'अन्न हो गा' के लिए 'अन्न गा' का चलन रहा हो? कोई प्रयोग

मिलता नहीं है। प्रत्युत अवधी आदि में 'गा' भूतकाल की क्रिया है—'गया' के 'य्' का लोप कर के—'सत जोजन गा लंका-पारा'। भूत ही भविष्यत् कैसे बन जाए गा?

सो, आज यह 'ग' एक कृदन्त प्रत्यय ही है—भविष्यत् प्रकट करने के लिए; वस्तुतः भविष्यत्-क्रिया की निष्पत्ति में निश्चिति प्रकट करने के लिए। 'गा' में गाने की-सी ध्वनि है। भविष्यत् के ही गीत लोग गाते हैं—बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध कर! 'यह हो गा, वह हो गा, मौज हो गी!' भूत तो निकल गया और वर्तमान से कोई सन्तुष्ट नहीं होता। भविष्य की कल्पना में सब आनन्द लेते हैं।

एक मनोरञ्जक संस्मरण है। सुन लीजिए। द्वितीय विश्वयुद्ध चल ही रहा था, जब कि मैं जेल से छूटने पर प्रयाग (हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की अतिथिशाला) में ठहर कर अपना 'व्रजभाषा का व्याकरण' लिख-छपा रहा था। वहीं उस समय पं० काशीदत्त पाण्डे एम० ए० रहते थे। हिन्दी-विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार थे। पाण्डे जी मेरे दूर के रिश्तेदार भी निकल आए। वैसे 'चाय-चक्रम्' के कारण घनिष्ठता हो ही चुकी थी। एक दिन चाय पीते-पीते मैं ने पूछा—'युद्ध में विजय किस की हो गी? सब अपनी-अपनी ही हाँक रहे हैं।' पाण्डे जी ने हँस कर कहा—"वाजपेयी जी, जब मैं अमरावती में प्रिंसिपल था, तो एम० ए० के छात्रों को पढ़ाते समय कभी-कभी मनोरंजन की बातें भी करता था। एक दिन मैं ने कहा—"भाई अंग्रेजी के 'टैंस' 'पी' (p) अक्षर से 'प्रेजेंट' भी है और 'पास्ट' भी। फिर यह 'फ्यूचर' कैसे बेमेल आ कूदा! यह भी 'पी' से होता, तो कितना अच्छा रहता।" मेरी इस बात पर लड़के हँस कर पूछते—'तो फिर क्या नाम अच्छा रहता 'फ्यूचर' का?" उन की इस जिज्ञासा का उत्तर मैं यों देता था—देखो, इस आने-वाले काल का नाम 'फ्यूचर' न कर के 'प्लेजर' किया जाता, तो बहुत अच्छा रहता। 'प्लेजर'—खुश रखनेवाला। और कोई दूसरा काल ऐसा खुश करनेवाला है ही नहीं!"

पाण्डेय जी ने 'प्लेजर' शब्द ही बोला था, जहाँ तक मुझे याद पड़ता है। सम्भव है, इस से मिलता-जुलता कोई दूसरा शब्द हो! हिन्दी के भी 'भविष्यत्' नाम में 'प्लेजर' जैसी चीज तो नहीं; परन्तु क्रियाओं में गाने-बजाने का भाव लिए हुए 'गा' प्रत्यय 'गा' धातु की याद दिलाता है। परन्तु

इस की उत्पत्ति न 'गा' से है और न गत्यर्थक 'ग' से ही! 'गतः' भूत काल की क्रिया से भविष्यत् के 'ग' प्रत्यय का क्या मेल?

व्रजभाषा में 'ओ' विभक्ति से 'गो' रूप होता है। 'पढ़ै गो'–'पढ़ै गी' आदि।

उत्तर-प्रदेश के पूरबी अञ्चलो में भविष्यत् के लिए 'इहै' तिङन्त प्रत्यय चलता है—'करिहै, उठिहै' आदि। धातु के अन्त्य 'अ' का लोप। 'राम सब काम करिहै' और 'देवी सब काम करिहै'। (तिङन्त प्रत्यय होने से) लिङ्ग-भेद से रूप-भेद नहीं। बहुवचन उसी तरह स्वर को अनुनासिक कर के—'राधिका जीहैं, तौ जीहैं सबै, न तौ पीहैं हलाहल नन्द के द्वारे'। 'जएँ गी' 'पीएँ गी' में और व्रजभाषा 'जीवैं गी' पीवैं गी' आदि में वह मधुरता नहीं है, जो 'जीहैं'–'पीहैं' में। वर्ण-लाघव भी है। इसी लिए साहित्यिक व्रजभाषा ने यथास्थान 'इहै' पाञ्चाली का तिङन्त-प्रत्यय अपने मधुर साहित्य में अपना लिया है। 'जीहैं' 'पीहैं' मे यहाँ विशेषता भी है। पुंस्त्री-भेद न होने से प्रतीत होता है कि सभी व्रजवासी नन्द के द्वार पर आत्महत्या कर ले गे, यदि उन्हो ने कृष्ण के साथ राधा का संबन्ध स्वीकार न किया! कारण, उस स्थिति में राधा तो रहें गी नही, तब और सब लोग जी कर क्या करे गे! 'जिएँ गी' या 'जीवैं गी' और 'पिएँ गी' या 'पीवैं गी' कर देने से यह बात न रहती। व्यापकता कम होने से जोर भी कम हो जाता। मिठास भी 'जीहैं'–'पीहैं' में है। परन्तु यह नहीं है कि व्रजभाषा ने अपने 'ग' प्रत्यय का बहिष्कार कर दिया हो! वह भी खूब चलता है—'एहो नन्दलाल, कुरबान तेरी सूरति पर, हौं तौ मुगलानी, पै हिन्दुवानी ह्वै रहौ गी मैं' जैसे प्रयोग खूब चलते हैं। यहाँ 'रहौ गी' बड़ा भला लगता है—'रहिहौ' से भी अच्छा लगता है। 'रहिहौ' में दो 'ह' (महाप्राण) व्यञ्जन इकट्ठे हो कर कुछ कर्कशता पैदा कर देते हैं! सो, यह व्रजभाषा की बात है। राजस्थानी में 'गो' ही चलता है; 'इहै' आदि नहीं।

राष्ट्रभाषा ने 'इहै' प्रत्यय स्वीकार नहीं किया है। यहाँ 'ग' का ही सर्वत्र अधिकार है। 'इहै' प्रत्यय कानपुर-कन्नौज (पाञ्चाल) में खूब चलता है। यह प्रदेश व्रज तथा अवध के बीच में है। अवधी में 'इहहि' तथा 'इहइ' चलते हैं - 'करिहहि'–'करिहइ' आदि। सन्धि कर के आगे 'इहै' चला—चलता है।

एक कलात्मक तथा वैज्ञानिक प्रवृत्ति हिन्दी ने यहाँ भी दिखाई है। हम पीछे क्रिया के 'सिद्ध' तथा 'साध्य' रूपों का विवेचन कर आए हैं। 'सिद्ध'—निश्चित और 'साध्य' अनिश्चित, भविष्यत्-क्रिया का मुख्य अंश 'साध्य' है—'जाए (गा)'—'जाए 'गी' आदि। 'ग' कृदन्त प्रत्यय है, निश्चय प्रकट करने के लिए, जो 'हो' से होता है, 'ह' से नहीं। 'ह' धातु अस्तित्व प्रकट करती है। 'अस्' को वर्णव्यत्यय से 'स' और 'स' को 'ह'। इसी में 'हि' प्रत्यय से इहि>इइ>'हैं'। 'था' भी 'ह' से ही है—'सिद्ध' क्रिया। परन्तु भविष्यत् का क्या भरोसा ? अस्तित्व अभी है ही नहीं। इसी लिए 'ग' प्रत्यय 'ह' से नहीं होता। 'हो' धातु अलग है। विधि आदि तथा साधारण भविष्यत् का अस्तित्व तो भविष्यत् की चीज है। इसी लिए संस्कृत में 'भविष्यत्' भी 'अस्' से नहीं, 'भू' से है। इसी लिए हिन्दी का यह 'ग' प्रत्यय 'ह' (<स <अस्) से नहीं; 'हो (<भू) से होता है।

यह 'ग' प्रत्यय कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य तथा भाववाच्य, तीनो तरह की क्रियाओं में तदनुरूप प्रयुक्त होता है—

राम पुस्तक पढ़े गा (कर्तरि प्रयोग)

राम को पुस्तक पढ़नी हो गी (कर्मणि प्रयोग)

बुढ़िया से अब उठा न जाए गा (भावे प्रयोग)

इसी तरह—'आज आप जाइए गा नहीं' आदि में 'गा' भाववाच्य क्रिया के साथ है। कैसा भी कर्ता हो, यहाँ सदा 'गा' रहे गा। यहाँ एक विशेषता है। 'जा' धातु से 'इए' तिङन्त और 'ग' कृदन्त प्रत्यय साथ-साथ हैं। तिङन्त भाववाच्य सदा अन्यपुरुष एकवचन रहता है और कृदन्त भाववाच्य सदा पुल्लिङ्ग-एकवचन। 'आप जाएँ' भी तिङन्त है; परन्तु कर्तृवाच्य। 'वह जाए, लड़के जाएँ, आप जाएँ'। परन्तु 'जाइए' भाववाच्य है। 'आप' (कर्ता) बहुवचन है; परन्तु क्रिया एकवचन—'जाइए'। 'इ' प्रत्यय की अपेक्षा इस 'इए' में अधिक आदर है। बड़े लोगों के लिए 'इए' का ही प्रयोग होता है—'कीजिए, लीजिए, दीजिए' आदि इसी के रूप हैं। अनुनय-विनय या प्रार्थना आदि में इस का प्रयोग होता है। अनुनय-विनय या प्रार्थना आदि में क्रिया भविष्योन्मुख है ही। 'भोजन कीजिए'। यानी भोजन अभी तक किया नहीं है, किया जा भी नहीं रहा है। करने के लिए प्रार्थना है। इसी 'इए' के साथ 'ग' प्रत्यय लगा कर भविष्यत् काल की

क्रिया बना लेते हैं—'भोजन यहीं कीजिए गा !' 'कीजिए' में और 'कीजिए गा' में अन्तर है। इसी समय भोजन करने की प्रार्थना नहीं है, कुछ देर में 'कीजिए गा'। परन्तु 'कीजिए' में तुरन्त भोजन करने के लिए प्रार्थना है। सो, 'कीजिए' प्रार्थना को 'ग' प्रत्यय भविष्य की—कुछ काल बाद के लिए—बना देता है। 'इए' तिङन्त भाववाच्य अपनी चाल पर और 'ग' कृदन्त भाववाच्य अपने रंग में। पूँजीपतियों के 'संगठन' में भी हिन्दू पूँजीपति का 'अपना' रँग-ढंग और मुसलमान का 'अपना' तरीका ! परन्तु पूँजीवाद के बारे में 'समान'। मजदूर-संगठन में यही स्थिति 'हिन्दू' और 'मुसलमान' मजदूरों की समझिए। परन्तु मजदूरों की साधारण स्थिति उभयत्र 'समान'। सो, भाववाच्य क्रिया का मुख्य लक्षण है—सदा एकरस रहना। यह चीज सब जगह मिले गी। तिङन्त भाववाच्य क्रिया सदा **अन्यपुरुष एकवचन** और कृदन्त भाववाच्य सदा **पुल्लिङ्ग एकवचन**। 'जा' धातु से 'इए' तिङन्त और 'ग' कृदन्त प्रत्यय एक साथ। 'इए' तिङन्त भाववाच्य, उस के साथ 'ग' भी कृदन्त भाववाच्य; परन्तु अपनी (कृदन्त) पद्धति पर।

सो, यह 'ग' प्रत्यय कर्तृवाच्य के साथ कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य के साथ कर्मवाच्य रहता है। भाववाच्य के साथ भाववाच्यता ग्रहण कर लेता है। वस्तुतः 'है' तथा 'था' क्रियाओं की भी यही स्थिति है। 'लड़का है'—'लड़के हैं' कर्तृवाच्य। 'पुस्तक राम ने पढ़ी है' 'पुस्तकें राम ने पढ़ी हैं' कर्मवाच्य। 'हम ने तुम को बुलाया है' भाववाच्य; सदा 'है'। इसी तरह 'लड़का था'—'लड़के थे' कर्तृवाच्य। 'राम ने पुस्तक पढ़ी थी—पुस्तकें पढ़ी थीं' में कर्मवाच्य। 'हम ने तुम को बुलाया था' में 'था' भाववाच्य।

'न' भविष्यत्—आज्ञा

'न' कृदन्त प्रत्यय भी भविष्यत् काल की आज्ञा में होता है। 'जाओ और उन्हें बुला लाओ' तिङन्त क्रिया है, आज्ञार्थक, कर्तृवाच्य। तुरन्त अमल करना है। परन्तु 'वहाँ जाना और उन्हें बुला लाना' में दूसरी बात है। अभी तुरन्त जाने और बुला लाने के लिए आदेश नहीं है। बाद के लिए आज्ञा है। दोनो आज्ञाओं में अन्तर है।

यह 'न' भाववाच्य क्रिया बनाता है। इस का कर्ता सदा 'तुम' होता है—'तुम खुद जाना और कहना'। 'तुम' बहुवचन और 'जाना' एकवचन। 'तुम जाकर उन से बातें करना' यहाँ कर्म ('बातें') बहुवचन और स्त्रीलिङ्ग;

परन्तु 'करना' पुल्लिङ्ग-एकवचन। 'इए' आदरपूर्वक प्रार्थना में आता है; 'ग' लगा देने से भविष्यत् काल आ जाता है—'जाइए गा और बातें कीजिए गा'। 'इए'-प्रत्ययान्त क्रिया का कर्ता सदा 'आप' रहता है। परन्तु इस 'न' कृदन्त प्रत्यय की क्रिया का कर्ता सदा 'तुम' रहता है। 'न' प्रत्यय में पुंविभक्ति—'ना'। 'अभी सोना नहीं, कुछ पढ़ना-लिखना'।

'सोना-जागना चलता ही रहता है' आदि में 'सोना-जागना' भाववाचक संज्ञाएँ हैं। यह भी 'न' प्रत्यय 'भावे' है; परन्तु उपर्युक्त 'न' प्रत्यय इस से भिन्न चीज है—आदेशात्मक क्रियाएँ बनाता है। क्रियान्तर की आकाङ्क्षा नहीं; आख्यात है—"वहाँ जाना और कहना –"।

'न' अवश्य-कर्तव्यता या क्रिया की अनिवार्यता

जब किसी क्रिया की अनिवार्य्यता या अवश्यकर्तव्यता प्रकट करनी हो, तो धातु से 'न' प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय या तो कर्मवाच्य होता है, या भाववाच्य। क्रिया का सम्पादन आवश्यक है, इसी लिए कर्ता के अधीन (कर्तृवाच्य) क्रिया-पद नहीं होते—

राम को वे सब काम करने हैं

मुझे अभी सन्ध्या करनी है

सुशीला को आज सितार बजाना है

सर्वत्र कर्म के अनुसार 'करने' 'करनी' तथा 'बजाना' क्रियाएँ हैं। 'है' का योग केवल कालनिर्देशार्थ। 'है' भी यहाँ कर्मवाच्य ही है—तिङन्त-कर्मवाच्य। कर्म के अनुसार पुरुष-वचन बदलें गे। मूल क्रियाएँ कृदन्त कर्मवाच्य और सहायक ('है') तिङन्त-कर्मवाच्य।

भाववाच्य—

१—सब लड़कों को सबेरे उठना है

२—लड़कियों को पूजा करने जाना है

३—हमें रात भर जागना है

सर्वत्र क्रियाएँ 'उठना' 'जाना' 'जागना' पुल्लिङ्ग-एकवचन हैं; यद्यपि कर्ता सब के भिन्न-रूप हैं। सहायक क्रिया ('है') सर्वत्र अन्यपुरुष, एक वचन। भविष्यत् काल स्पष्ट है। 'है' वर्तमान काल की क्रिया से भविष्यत् कुछ समीप प्रतीत होता है। 'होगा' भविष्यत् काल की क्रिया के साथ दूसरी बात हो जाए गी—

१—राम को पुस्तक पढ़नी हो गी

२—लड़कियों को पूजा करने जाना हो गा

३—हमें रात भर जागना हो गा

भविष्यत् काल के साथ-साथ कुछ परवशता भी प्रकट है। 'राम को पुस्तक पढ़नी हो गी'। कर्ता की परवशता है; तब क्रिया उस के अनुसार क्या रहे!

भूतकाल का 'थ' साथ रहने पर

१—राम को पुस्तक पढ़नी थी

२—हमें कानपुर पहुँचना था

३—तुम्हें वे सब काम करने थे

जान पड़ता है कि ये सब काम जरूरी थे; पर किए नहीं गए। अवश्य-कर्तव्यता का निर्वाह नहीं हुआ।

इस तरह की बहुत सी बातें 'संयुक्त क्रियाएँ' प्रकरण में आएँ गी।

न-प्रत्ययान्त कर्मवाच्य क्रिया के आगे 'चाहिए' भी लगा देते हैं, यदि विधि आदि प्रकट करना हो—

१—तुम को वेद पढ़ने चाहिए

२—हम को ब्रह्मविद्या सीखनी चाहिए

३—राम को रसोई बनानी चाहिए

भाववाच्य भीः—

१—लड़कों को सबेरे उठना चाहिए

२—उन्हें माता-पिता को प्रणाम करना चाहिए

भूतकाल प्रकट करना हो तो—

१—तुम को वेद पढ़ने चाहिए थे

२—हम को ब्रह्मविद्या सीखनी चाहिए थी

३—लड़कों को सवेरे उठना चाहिए था

४—लड़कियों को पूजा करने जाना चाहिए था।

ऊपर के दोनो उदाहरण कर्मवाच्य और नीचे के दोनो भाववाच्य हैं। भूतकाल की 'थ' क्रिया के साथ 'चाहिए' का योग प्रकट करता है कि वैसा करना उचित था; पर किया नहीं गया। साधारण स्थिति में सकर्मक के भी भाववाच्य-प्रयोग होते हैं—'दोनो के नाम-पते अलग-अलग लिखना चाहिए।' 'राम को रोटी बनाना चाहिए'। परन्तु भूतकालिक 'थ' के साथ ऐसा नहीं होता। तब 'न'—प्रत्ययान्त सकर्मक क्रियाएँ कर्मवाच्य ही रहती हैं—

१-राम को रोटी बनानी चाहिए थी

२-तुम्हें आना-कानी न करनी चाहिए थी

इस से स्पष्ट है कि स्वाभाविक प्रयोग 'न'—प्रत्ययान्त सकर्मक के कर्मवाच्य ही हैं। 'राम को रोटी बनाना चाहिए था' भी बोल देते हैं; परन्तु ठीक नहीं लगता। हाँ, 'राम को पुस्तक पढ़ना अच्छा लगता है' यह ठीक है। यहाँ 'पढ़ना' भाववाचक संज्ञा है, आख्यात नहीं। 'विद्या सीखना अच्छा है'। 'विद्या का सीखना'-विद्या सीखना। विभक्ति का लोप है। समास के बिना भी विभक्ति का लोप हिन्दी में होता है।

'त' सामान्य

'त' प्रत्यय सकर्मक-अकर्मक सभी धातुओं से होता है। 'त' में पुंविभक्ति—'ता'-होता, करता आदि। यह प्रत्यय वस्तुतः सभी कालों में चलता है। वर्तमान काल के लिए आगे 'है' का प्रयोग करना पड़ता है—

मैं इस घर में रहता हूँ

तू कहाँ रहता है ?

'थ' के साथ प्रयोग करने पर क्रिया की प्रवृत्ति भूतकाल में प्रतीत होती है—

मैं इस घर में रहता था
तू कहाँ रहता था ?

भूतकाल में क्रिया की वर्तमानता। 'तू काशी में पढ़ता था'—अर्थ यह कि जिस समय की चर्चा है, तेरा पढ़ना काशी में जारी था।

'हो गा' लगा देने से क्रिया में सन्दिग्धता प्रकट होती है—

वह इस समय सोता हो गा
सीता पौधे सींचती हो गी।

सम्भावना है। निश्चय की ओर झुकाव होने पर भी क्रिया सन्दिग्ध ही है। इसे 'सन्दिग्ध वर्तमान' कहना ठीक नहीं। 'काल' सन्दिग्ध नहीं है। क्रिया सन्दिग्ध है।

कभी-कभी 'है' के योग से भी वर्तमान काल में क्रिया की वर्तमानता न प्रकट हो कर सामान्य प्रवृत्ति मात्र प्रकट होती है; जैसे—

१—शेर मांस खाता है
२—हम लोग अन्न खाते हैं
३—तोते मनुष्य की तरह बोलते हैं।

यहाँ क्रिया का वर्तमान काल में होना प्रकट नहीं है। शेर का आहार क्या है और मनुष्य का क्या, यह बात ऊपर के दोनो वाक्यों में बताई गई है। 'शेर मांस खाता है' का मतलब यह नहीं कि शेर मांस इस समय खा ही रहा है। इसी लिए क्रिया की वर्तमाता प्रकट करने के लिए 'रहा' सहायक क्रिया के योग से प्रयोग होते हैं—

१—राम रोटी खा रहा है
२—सीता कपड़े धो रही है
३—तुम सो रहे हो

'रहा' में भूतकाल का 'य' प्रत्यय यहाँ नहीं है। उस का क्षेत्र पृथक् है—'मैं बहुत दिन काशी रहा'। यहाँ 'खा रहा है' आदि में 'रहा' भिन्न चीज है। यह वर्तमान की चीज है। भूतकाल के लिए 'य' लगाना हो गा—

१—राम रोटी खा रहा था

२—सीता कपड़े धो रही थी

३—तुम सो रहे थे

'थ' से भूतकाल प्रकट है। उस भूतकाल में खाना, धोना, तथा सोन' क्रियाएँ चल रही थीं।

'हो गा' लगाने से क्रिया में सन्दिग्धता प्रकट होगी—

१ – राम रोटी खा रहा हो गा

२—सीता कपड़े धो रही हो गी

'तुम सो रहे हो गे' वर्तमान के लिए प्रयोग न हो गा; क्योंकि जिस से बात कर रहे हैं, उस का सोना कैसा? यहाँ कोई सन्देह है ही नहीं। हाँ, भूतकाल में सन्देह प्रकट किया जा सकता है—'मैं गया, कोई मिला नहीं। तुम सो रहे होगे!'

यों, यह 'रह' धातु से 'अ' प्रत्यय क्रिया की वर्तमानता या जारी रहना प्रकट करता है। 'काल' के लिए 'है' आदि का प्रयोग होता है।

यह 'रहा' भी (अस् >) 'अह' के ही परिवार का है। निवासार्थक 'रह' का रूप नहीं। 'अहहि' अवधी में वर्तमान है और 'अहा' इस का भूतकालिक रूप ('पद्मावत' में प्रयुक्त हुआ है।) आदि में 'र्' का आगम— 'रहा'। सो, 'खा रहा है' में 'रहा' वर्तमानता प्रकट करने के लिए; क्योंकि 'शेर मांस खाता है' में 'है' सामान्य स्थिति प्रकट करने लिए है। 'रह' (<अह) धातु और कालनिरपेक्ष 'अ' प्रत्यय, पुंविभक्ति—'रहा'। 'खा रहा था'—'खा रही हो गी' आदि। क्रिया की स्थिति प्रकट होती है।

'त' हेतुमद्भूत

जब कि भूतकाल में किसी एक क्रिया के न हो ने से दूसरी क्रिया न हुई हो, तो इस 'त' प्रत्यय का प्रयोग होता है। त + आ = ता, ते, ती।

१—सावधानी से चलते, तो ठोकर न लगती

२—परिश्रम करते, तो अनुत्तीर्ण क्यों होते?

पहली क्रिया 'हेतु' है, दूसरी 'हेतुमान्'। इसी को संस्कृत-व्याकरण में 'हेतुहेतुमद्भूत' कहते हैं।

'त' भाववाच्य

'त' एक भाववाच्य प्रत्यय भी है। पुंविभक्ति से 'ता' बन जाता है और 'आ' को 'ए' हो कर--

१—सीता से चलते नहीं बनता
२—लड़कों से चलते न बना
३—लड़कियाँ चलते-चलते थक गईं
४—राम चलते-चलते थक गया
५—वह रोते-रोते बेहोश हो गई
६—उन से बातें करते-करते वह थक जाती है
७—सीता घर से निकलते ही थक गई

'लड़कियाँ चलती-चलती थक गईं' और लड़का चलता-चलता थक गया' ऐसे कर्तृवाच्य 'त' से भी प्रयोग होते हैं। 'चलती-चलती आदि विशेषण हैं, कर्ता-कारकों के।

कालसम्बन्धी कुछ बातें

काल-व्यञ्जना में संस्कृत से हिन्दी कुछ भिन्न पद्धति पर है। संस्कृत में भूतकाल और भविष्यत् काल को जैसे 'अद्यतन' और 'अनद्यतन' कालों में विभक्त किया गया है, वैसी कोई बात यहाँ नहीं है। 'अद्यतन' का मतलब है—'आज का' और इस से आगे-पीछे का भूत-भविष्यत् 'अनद्यतन'। आप को भोजन किए अभी चार घंटे बीते हैं, तो 'अद्यतन भूत' और कोई काम किए पूरा दिन या इस से अधिक समय बीत गया है, तो 'अनद्यतन भूत'। इसी तरह भविष्यत् भी। परन्तु संस्कृत में 'अद्य' ('आज') का समय कुछ और लिया गया है और हिन्दी के युग में लोग 'आज' या 'अद्य' के घेरे में कुछ हेर-फेर कर बैठे हैं। इस लिए 'अद्यतन'-'अनद्यतन' की व्यवस्था हिन्दी ने नहीं रखी। 'अद्य' या 'आज' शब्द से प्रकट होने वाले समय का निर्देश संस्कृत-व्याकरण में यों दिया गया है—'बीती हुई रात के पिछले भाग को लेकर आने वाली रात के पूर्व भाग के पूर्ण होने के समय तक का काल 'अद्यतन' कहलाता है। यानी पिछली रात के बारह बजे से, आने

वाली रात के बारह बजे तक का समय 'अद्य' या 'आज' है। इस से भिन्न 'अनद्यतन'। अंग्रेजी पद्धति जो आजकल 'आज' मानने की है, वही किसी समय हमारे यहाँ प्रचलित थी। अंग्रेजी तारीख आधी रात से बदलती है। परन्तु हम लोग कुछ इधर-उधर हो गए। भाषा का विकास साधारण जनों में होता है। लोग जब सो कर उठे, तब नया दिन ! सो, सूर्योदय से नया दिन मानने लगे। सूर्योदय से लेकर दूसरे सूर्योदय से पहले-पहले का समय 'आज'। यों, 'अद्य' या 'आज' के अर्थ में अन्तर पड़ गया। इन सब झंझटों से बचने के लिए हिन्दी ने 'अद्यतन-अनद्यतन' रूप से काल-भेद नहीं किए। परन्तु भूत और भविष्यत् की आसन्नता तथा विप्रकृष्टता (दूरी) प्रकट करने के लिए यहाँ स्वतंत्र पद्धति है। 'राम गया' सामान्य भूतकाल; 'राम गया था' विप्रकृष्ट भूतकाल, जिसे आजकल 'पूर्णभूतकाल' लोग कहते हैं। 'राम गया है' आसन्न भूतकाल। 'थ' के प्रयोग से विप्रकृष्टता और 'है' से आसन्नता प्रकट की जाती है। बहुत अधिक आसन्नता प्रकट करनी हो, तो लाक्षणिक प्रयोग किए जाते हैं। किसी ने पूछा—कब जाओ गे ? उत्तर में लोग कह देते हैं—'बस, जा रहा हूँ'। 'जा रहा हूँ' वर्तमान काल की क्रिया है। अर्थ स्पष्टतः बाधित है—जा नहीं रहा है; क्योंकि उत्तर देने वाला जाने की क्रिया नहीं कर रहा है; बैठे-बैठे कह रहा है—'बस, जा रहा हूँ'। इस तरह अर्थ की बाधा होने पर उस (भविष्यत्) से निकटतम संबन्ध रखने वाला वर्तमान काल लक्षित होता है। मतलब या 'प्रयोजन' यह कि 'तुरन्त जाने वाला हूँ—जरा भी देर नहीं।' यदि यों लाक्षणिक प्रयोग न कर के कह दिया जाता—'अभी तुरन्त जाऊँ गा' तो उतनी आसन्नता न प्रकट होती। इसी लिए वह लाक्षणिक प्रयोग। कभी कभी 'वाला' प्रत्यय से भी अतिशय आसन्नता प्रकट करते हैं—'जल्दी चढ़ो, गाड़ी जाने वाली है'। 'जाने वाली है' का मतलब, वही 'जा रही है'—यानी छूटने में देर नहीं। यह 'आसन्न भविष्यत्' प्रकट करने वाला 'वाला' प्रत्यय कृदन्त-प्रकरण का है। तद्धित 'वाला' से इसे भिन्न समझना चाहिए। 'चतुराई' में 'आई' तद्धित भाववाचक प्रत्यय है और 'लिखाई-पढ़ाई अभी चल रही है' में 'आई' कृदन्त भाव-वाचक प्रत्यय है। संज्ञापद और क्रियापद में भेद है, तो दोनों 'आई'-'आई' प्रत्ययों में भी भेद अवश्य है। यही बात 'वाला' प्रत्यय में है। संस्कृत के 'भगवान्' भगवन्तौ, भगवन्तः' में तद्धित-प्रत्ययान्त प्रकृति हैं और 'गतवान् गतवन्तौ, गतवन्तः' कृदन्त हैं। इसी तरह हिन्दी का 'वाला' है।

भविष्यत् की ही तरह भूतकाल की भी आसन्नता लाक्षणिक प्रयोगों से

प्रकट करते हैं। कोई कहीं से आकर बैठा ही है कि किसी ने आकर पूछा—‘कब आए ?’ उत्तर में कह दिया जाता है—‘चला ही आ रहा हूँ’। यानी आए देर नहीं हुई। इसी लाक्षणिक प्रयोग का निर्देश पाणिनि ने ‘वर्तमान-सामीप्ये वर्तमानवद्वा’ सूत्र से किया है। ऊपर हम ने ‘वाला’ कृदन्त प्रत्यय का जिक्र किया है। हिन्दी की यह पद्धति है कि मूल धातु की तरह उसके भाववाचक कृदन्त रूप में भी ‘सहायक’ क्रियाएँ लगती हैं—‘गिर पड़ा’ ‘जाग पड़ा’ और ‘गिरना पड़ा’ ‘जागना पड़ा’। मूल धातु से ‘पड़’ लग कर आकस्मिकता प्रकट करती है और उस के भाववाचक कृदन्त ‘गिरना’ ‘जागना’ आदि से लग कर विवशता ध्वनित करती है। यहाँ मतलब केवल इस से कि मूल धातुओं की ही तरह उस के भाववाचक कृदन्त रूप भी काम में लाए जाते हैं। कृदन्त ‘वाला’ प्रत्यय मूल धातु से नहीं, उस के भाववाचक कृदन्त रूप से होता है—‘जानेवाला है’ ‘जाने ही वाली है’ इत्यादि। ‘राम अब गानेवाला है’ में ‘वाला’ कृदन्त है और ‘राम एक गानेवाला आदमी है’ में ‘वाला’ तद्धित प्रत्यय है। कृदन्त संज्ञाओं से तद्धित प्रत्यय होते ही हैं—‘ज्ञानवान्’ ‘गतिमान्’ आदि। परन्तु कृदन्त संज्ञा से फिर कृदन्त प्रत्यय सोचने की चीज है। ‘गाड़ी जानेवाली है’ में ‘जाना’ कृदन्त संज्ञा है—‘जा’ धातु से ‘न’ भाववाचक प्रत्यय। इस कृदन्त (‘जाना’ आदि) से फिर एक कृदन्त ‘वाला’ हो सकता है क्या ? यह प्रश्न। उत्तर है कि हो सकता है, होता है। भाषा का प्रवाह सामने है। ऐसे प्रयोगों की गति क्या कोई बन्द कर सकता है ? संस्कृत में कृदन्त से फिर दूसरा कृदन्त प्रत्यय नहीं होता, न हो ! हिन्दी में तो होता है। उसी का हम अन्वाख्यान कर रहे हैं। संस्कृत में तद्धितान्त से तो दूसरा तद्धित प्रत्यय (भिन्नार्थ) होता है न ? ‘समर्थ’ से ‘सामर्थ्य’ तद्धित और फिर इस से (मतुप्) ‘वान्’—‘सामर्थ्यवान्’। वहाँ तद्धितान्त से तद्धित, यहाँ कृदन्त से कृदन्त। अपना-अपना मार्ग। संस्कृत में तद्धित ‘धनवान्’ हिन्दी में इसी ‘वान’ को सस्वर कर ‘गाड़ीवान’ और रूपान्तर ‘गाड़ीवाला’। ‘धनवान्’ के ही ‘वान्’ की तरह संस्कृत में भूतकालिक ‘कृदन्त ‘गतवान्’ ‘गतवती’। इस ‘वान्’ को ‘वाला’ बना कर (भूत की जगह) भविष्यत्—अतिनिकट भविष्यत्—‘जाने वाला है’ ‘जाने वाली है’ इत्यादि।

द्विकर्मक क्रियाएँ

भाषा में कोई-कोई क्रियाएँ ‘द्विकर्मक’ भी कहलाती हैं। अकर्मक और सकर्मक, ये दो भेद धातुओं के; और फिर सकर्मकों में कुछ ‘द्विकर्मक’ भी।

'राम गोविन्द से कुछ कह रहा है' वाक्य में 'राम' कर्ता है। 'कुछ' कर्म है और 'गोविन्द' भी एक तरह का कर्म ही है—'गौण कर्म।' 'राम गोविन्द से रास्ता पूछता है'। यहाँ 'पूछना' क्रिया भी द्विकर्मक है। 'रास्ता' मुख्य कर्म है, 'गोविन्द' गौण कर्म। कर्मवाच्य क्रिया की स्थिति मुख्य कर्म के अनुसार हो गी—

१—राम ने गोविन्द से कोई बात पूछी

२—सुशीला ने गोविन्द से रास्ता पूछा

हिन्दी में 'से' विभक्ति करण, अपादान, कर्ता तथा कर्म जैसे कई कारकों में लगती है। संस्कृत में 'रामः गोविन्दम् मार्गम् पृच्छति' यों मुख्य कर्म (मार्गम्) की तरह 'गोविन्दम्' को देख कर; समानरूपता के कारण, 'गौण कर्म' कह दिया गया। उसी की याद हिन्दी में है। संस्कृत में 'दुह्' धातु भी द्विकर्मक है—'गां पयः दोग्धि'। 'पयः' मुख्य कर्म है, 'गाम्' गौण कर्म। हिन्दी में 'गौ से दूध दुहता है' ऐसे द्विकर्मक प्रयोग होते ही नहीं हैं; और यदि होते, तो 'गौ' को अपादान कहा जाता। गौ से दूध का बिलगाव होता है। 'राम गौ दुहता है' या 'राम दूध दुहता है' इस तरह एक ही 'कर्म' का प्रयोग होता है। 'राम गौ दुहता है' कहने पर 'गौ' को 'गौण कर्म' ही कहा जाए गा। 'दूध' कहने की जरूरत नहीं; क्योंकि गौ से दूध ही दुहा जाता है, कोई और चीज नहीं। 'गौ से' की जगह 'गो से' लिखना-बोलना गलती है। गोरक्षा-आन्दोलन के उठने पर पिछले दिनों जगह-जगह दीवारों पर लिखा गया था—'गो हमारी माता है' 'गो ही राष्ट्र की सम्पत्ति है' आदि। इस तरह वाक्य में 'गो' शब्द का प्रयोग गलत है, जो 'गोरक्षा' जैसे समस्त पदों को देख कर किया गया जान पड़ता है। हिन्दी ने संस्कृत के प्रथमा—एकवचनान्त ('तत्सम') शब्द 'प्रातिपदिक' रूप से अपनाए हैं—विसर्ग आदि पृथक् कर के। 'गो' शब्द का प्रथमा के एकवचन में 'गौः' रूप होता है। विसर्ग हटा कर 'गौ' हिन्दी ने लिया। इस लिए 'गौ हमारी माता है' चाहिए; 'गो' नहीं। 'राजा की बात है' होता है; 'राजन् की बात है' नहीं। जिस शब्द का एकवचन संस्कृत में नहीं बनता, उसे मूल रूप में ही ले लिया गया है—'दाराः' का 'दार'। पुष्पवाचक 'सुमनस्' का 'स्' अलग कर के 'सुमन' और 'अप्सरस्' का 'स्' छाँट कर संस्कृत का ही 'आ' स्त्री-प्रत्यय लगा कर—'अप्सरा'। यह प्रासंगिक चर्चा, 'गौ' शब्द सामने आ जाने से।

सभी सकर्मक धातुएँ 'प्रेरणा' में द्विकर्मक हो जाती हैं; यह अभी आगे स्पष्ट हो गा।

शब्दों के विविध प्रयोग होते हैं। अकर्मक धातुएँ भी कभी-कभी सकर्मक कर ली जाती हैं—'उस ने एक अच्छी लड़ाई लड़ी' 'राम ने वह खेल अच्छा खेला'। 'लड़ाई' तथा 'खेल' यहाँ कर्म ही कहे जाएँ गे; यद्यपि 'लड़ना' और 'खेलना' अकर्मक क्रियाएँ हैं। 'लड़ाई लड़ी' और 'खेल खेला'। अपने ही एक रूप को कर्म बना लिया गया है। कोई ब्राह्मण अपने ही घर के चार व्यक्तियों को बैठा कर विधिवत् भोजन करा दे और कहे कि 'आज मेरे यहाँ चार ब्राह्मणों को भोजन कराया गया है' तो क्या झूठ हो गा उस का कहना? यही बात समझिए।

सकर्मक धातुओं के भी अकर्मक प्रयोग होते हैं, यदि कर्म की विवक्षा न हो—'गोविन्द काशी में पढ़ रहा है'। 'क्या' पढ़ रहा है, कहना जरूरी नहीं समझा। इस लिए 'पढ़' का अकर्मक प्रयोग। अति प्रसिद्ध या अव्यभिचरित कर्म का उपादान लोग प्रायः नहीं करते और यों सकर्मक धातुओं का अकर्मक प्रयोग करते हैं।

ये इस तरह की बातें बहुत साधारण हैं; इस लिए अधिक विस्तार अनावश्यक है। कोई अकर्मक भी कभी सकर्मक हो जाती है। 'है' अकर्मक है; पर 'राम को ज्वर है' में सकर्मक है।

पूर्वकालिक क्रियाएँ

'राम पहले रोटी खाए गा, तब पढ़ने जाए गा' इस वाक्य का संक्षेप है—'राम रोटी खा कर पढ़ने जाए गा'। दोनों तरह के प्रयोग होते हैं। यदि इस बात पर अधिक बल देना है कि 'रोटी खाए बिना पढ़ने न जाए गा', तो कहा जाए गा—'राम रोटी खाए गा, तब पढ़ने जाए गा'। यदि ऐसी कोई बात नहीं, क्रियाओं का पूर्वापर क्रम मात्र बतलाना है, तो फिर 'राम रोटी खा कर पढ़ने जाए गा' हो गा। कभी-कभी अगली क्रिया पर जोर देने के लिए भी ऐसे प्रयोग होते हैं। कभी पूर्वक्रिया पर ही जोर होता है। बोलने के ढँग से यह सब स्पष्ट होता है। सकर्मक अकर्मक सभी धातुओं से, सभी कालों में, विधि आदि सभी अर्थों में, सभी पुरुषों में और सभी वचनों में 'कर' लगता है, क्रिया की पूर्वकालिकता प्रकट करने के लिए—

१—सुशीला पढ़ कर फल खाए गी
२—राम फल खाकर पढ़े गा

एक जगह पहले 'पढ़ना', फिर 'खाना' है और दूसरी जगह पहले 'खाना' और तब 'पढ़ना' है।

केवल 'कर' धातु के आगे 'के' लगता है:—

मैं यह काम कर के भोजन करूँ गा
तुम ऐसा कर के कौन सा फल चाहते हो ?

यह 'के' व्रजभाषा तथा अवधी आदि के 'कै' प्रत्यय का कोमल और मधुर रूप है। वहाँ 'मोहन आय कै बेनु बजावै' जैसे प्रयोग होते हैं। 'आय कै'— आ कर। 'आइ कै' भी चलता है। 'इ' को ही विकल्प से 'य' हो जाता है। 'जाइ कै' को 'जाय कै' कम देखा जाता है। 'जाइ' से ही काम चल जाता है—'जाइ कहौ मनमोहन सों'। 'जाइ'—जा कर। यह 'इ' प्रत्यय 'पढ़ि कान्ह कहाँ ते हौ आए इतो' आदि में भी स्पष्ट है। इस 'इ' के आगे 'कै' भी जोड़ देते हैं—'पढ़ि कै'। उपसर्गों से परे संस्कृत 'त्वा' को 'ईय' होता देखा जाता है—'नीत्वा' 'अपनीय'। इसी 'ईय' का पूर्वांश ह्रस्व कर के व्रजभाषा आदि में 'इ' पूर्वकालिक प्रत्यय है; 'य' को हटाकर।

सो, हिन्दी की 'कर' धातु के आगे 'के' रहता है। 'राम काम कर कर भोजन करे गा' अच्छा नहीं लगता, इसी लिए 'के' का प्रयोग। हाँ, क्रिया के 'समभिहार' में—क्रिया का अत्यधिक होना बतलाने के लिए—धातु की द्विरुक्ति जब होती है, तब 'कर कर' अवश्य होता है। 'तू काम कर कर मर जाए गा; पर कोई पूछे गा नहीं।' यहाँ 'कर-कर' धातु की द्विरुक्ति है। ऐसे स्थलों में संस्कृत भी धातुओं की द्विरुक्ति करती है। परन्तु वहाँ शब्द में अत्यधिक रूपान्तर हो जाता है—'पापठ्यते'। हिन्दी में 'पढ़ता ही रहता है' जैसे प्रयोग वही अर्थ प्रकट करते हैं। कहीं 'पढ़-पढ़ कर' 'खा-खा कर' 'ले ले कर' जैसे प्रयोग धातुओं की द्विरुक्ति से होते हैं—सब अलग-अलग और स्पष्ट।

यहाँ इस प्रकरण में एक ही प्रयोग ऐसा है, जिस का उल्लेख करना जरूरी है। 'राम रोटी ले कर आया'-'राम रोटी ले आया' इन दो प्रयोगों में अन्तर है। 'ले कर आया' में 'लेना' क्रिया पर भी जोर है; परन्तु 'ले

आया' में 'लेने' पर नहीं, 'लाने' पर विधेयता है। प्रयोग होते-होते 'ले आया' में और 'लाया' में भी अन्तर आ गया है। 'लाना' क्रिया में दो धातुओं का समास है और सन्धि है। ले + आ = 'ला'। 'ले' के 'ए' का लोप हो गया है। इसी लिए 'राम ने पुस्तक ली' की तरह 'ला' धातु के कर्मणि प्रयोग न हो कर अन्तिम 'आ' धातु के अनुसार 'कर्तरि' होते हैं—

१—लड़के पुस्तक लाये—ले आए
२—लड़कियाँ कपड़े लाईं—ले आईं
और कोई विशेष बात कहने को नहीं है।

क्रियार्थक क्रियाएँ

पूर्वकालिक क्रिया के विपरीत, इसे 'उत्तरकालिक क्रिया' कह सकते हैं; परन्तु प्रयोग इस का पूर्व होता है; इस लिए, भ्रम को बचाने के लिए 'क्रियार्थक क्रिया' कहते हैं! संस्कृत में क्रियार्थक क्रिया 'तुम्' प्रत्यय से प्रकट होती है—पठितुम्, शयितुम् आदि। हिन्दी में भाववाच्य 'न'प्रत्यय इस के लिए आता है। पुंविभक्ति लग कर 'ना' और 'आ' को 'ए'—पढ़ने, गाने, बजाने आदि। सभी प्रकार की धातुओं से, सभी कालों, पुरुषों और वचनों में 'ने' प्रत्यय लगता है। पुल्लिङ्ग में और स्त्रीलिङ्ग में भी कोई अन्तर नहीं। जैसे पूर्वकालिक क्रिया में 'कर' सर्वत्र, उसी तरह यहाँ 'ने' समझिए। 'कर' का प्रयोग धातु से प्रायः हटा कर किया जाता है; परन्तु 'ने' को सदा सटा कर लिखते हैं। 'कर' तो धातु-प्रतिरूप प्रत्यय है; पर यह 'ना' (>ने) स्पष्ट प्रत्यय है—

१—राम पढ़ने काशी जाए गा
२—सुशीला पढ़ने काशी गई थी
३—तू आगे पढ़ने कहाँ जाए गा ?
४—मैं व्याकरण पढ़ने कहीं नहीं गया
'पढ़ने'-पढ़ने के लिए।

'वचन'—विवेचन

यहाँ तक जो कुछ कहा गया है, उस से 'वचन' बिलकुल स्पष्ट हो गए इस लिए 'वचन' का पृथक् क्या विवेचन किया जाए ? हिन्दी में 'वचन'

का कोई झमेला भी नहीं है। कृदन्त क्रियाओं के 'वचन' कर्ता या कर्म के अनुसार—

लड़का गया—लड़के गये
लड़की गयी – लड़कियाँ गईं

'लड़के गये थे' में 'थे' भी बहुवचन और 'गये' भी उसी रूप में है। 'लड़के गये हैं' में भी वही बात है। परन्तु स्त्रीलिङ्ग में कुछ अन्तर है। यहाँ बहुवचन का द्योतन अन्तिम क्रिया-रूप से ही होता है—

१ – लड़कियाँ गयी थीं
२—लड़कियाँ गयी हैं

यहाँ 'गयी' को 'गयीं' न किया जाए गा—'थीं' और 'हैं' से ही काम निकल जाता है। 'गयीं थीं' और 'गयीं हैं' बोलने में बहुत भद्दे और अटपटे लगते हैं—मिनमिनाहट कर्णकटु भी बहुत है। इसी लिए एक ही स्वर अनुनासिक होता है। जैसे 'सुन्दर लड़कों से' कहने में विशेष्य के वचन-कारक आदि विशेषण में भी समवेत हैं; उसी तरह 'गयी थीं' आदि में 'वचन' की व्यवस्था है।

परन्तु कहीं अन्तिम क्रिया से नहीं, मुख्य (पूर्व) क्रिया से ही बहुत्व सूचित होता है। उदाहरण लीजिए—

'पुस्तकें पढ़नी चाहिए' ठीक है; 'चाहिएँ' नहीं। 'चाह धातु से 'इए' भाववाच्य प्रत्यय है, सदा एकरस रहता है—'चाहिए'। जैसे 'पढ़िए' 'कीजिए' आदि, उसी तरह 'चाहिए'। 'चाहिय ऐसे बसन मुनिन्हँ कहँ' अवधी। 'राष्ट्रभाषा में 'य' की जगह 'ए'—'चाहिए। 'ऐसे कपड़े मुनि जनों को चाहिए'—'चाहिएँ' नहीं। 'आप कपड़े दीजिए' में 'आप' 'बहुवचन' और 'कपड़े' भी बहुवचन; पर क्रिया भाववाच्य है—'दीजिए'। 'हमें कपड़े सीना चाहिए' कर्ता-कर्म बहुवचन और 'सीना' कृदन्त भाववाच्य पुल्लिङ्ग-एकवचन; तिङन्त भाववाच्य 'चाहिए' अन्यपुरुष एकवचन। 'हमें कपड़े सीने चाहिए' में 'सीने' मुख्य क्रिया कर्म-वाच्य और 'चाहिए' भाववाच्य। 'आप अच्छी पुस्तकें पढ़िए, मन शुद्ध हो गा' में 'आप' बहुवचन और कर्म ('पुस्तकें') बहुवचन; पर 'पढ़िए' अन्यपुरुष एकवचन। 'इए' भाववाच्य तिङन्त-पद्धति का प्रत्यय है न! इसी तरह 'चाहिए' है। 'कपड़े सीने चाहिए' में 'सीने'

से ही क्रिया कर्म-वाच्य स्पष्ट है। स्त्रीलिङ्ग में भी मुख्य क्रिया से ही बहुत्व सूचित होता है—

राम को अच्छी पुस्तकें पढ़नीं चाहिए

कर्म-कर्तृक प्रयोग में—

अच्छी पुस्तकें घर में रहनीं चाहिए

जैसे 'अच्छे ग्रन्थ रहने चाहिए'; उसी तरह 'पुस्तकें रहनीं चाहिए'। 'ग्रन्थ पढ़ने चाहिए'—पुस्तकें पढ़नीं चाहिए।

'इए' प्रत्यय भाववाच्य तिङन्त-पद्धति का है; इसी लिए स्त्री-लिङ्ग-पुल्लिङ्ग में समान रहता है—'हमें सुधा चाहिए, पर [illegible] 'चहिय सुधा'—'चहिय अमी' अवधी में। यहाँ 'चाहि' [illegible] 'चाहत है' के अर्थ में प्रयोग अवधी में है और 'चाहिय जहाँ रिसिन्ह कर वासा' में औचित्य-अर्थ में; पर 'इय' उभयत्र भाववाच्य है। यहीं 'इय' राष्ट्रभाषा में 'इए' है।

'आँप को न चाहै, ताके बाप को न चाहिए'

यहाँ 'चाह' स्नेहार्थक है; पर 'चाहिए' में 'इए' वही है।

बहुत दिन पहले की बात है, 'चाहिए' को एकरस रहता देख कर मैं ने इसे 'क्रियाप्रतिरूपक अव्यय' बतलाया था। अव्यय के रूप नहीं बदलते और क्रियाप्रतिरूपक अव्यय संस्कृत में तथा हिन्दी में हैं भी। परन्तु भाववाच्य क्रिया का रूप भी कभी नहीं बदलता। जब आगे चल कर प्रत्ययों का वर्गीकरण किया और 'बैठिए'—'पढ़िए' आदि अकर्मक-सकर्मक सभी क्रियाओं में इसे देखा, तो 'चाह' धातु से भी यही ठीक समझा। यानी 'चाहिए' को क्रियाप्रतिरूपक अव्यय मानने की जरूरत नहीं, जब कि सभी धातुओं से 'इए' भाववाच्य प्रत्यय होता है। इस 'चाह' धातु से अन्यत्र 'इयत' जैसे भाववाच्य तिङन्त प्रत्यय भी होते हैं—

'रहिमन करुए मुखनि कौं,
चहियत इहै सजाय'

'सजाय' (सजा) स्त्रीलिङ्ग है। पुल्लिङ्ग और बहुवचन में भी 'चहिअत' ही रहे गा—'चहियत जाहि सबै सुख'—जिसे सभी सुख चाहिए। पर

यह 'इयत' व्रजभाषा की चीज है। प्रसंग से बात आ गई। राष्ट्रभाषा में 'इए' प्रत्यय 'चाह' से होता है—'चाह' से भी होता है' कहना चाहिए। यह कभी भी 'चाहिएँ' नहीं होता। 'चाहिएँ' लिखना गलती है।

एकवचन-बहुवचन के भ्रम क्रियाओं की ही तरह संज्ञाओं में भी होते हैं और इसी लिए लोग 'दम्पति' को 'दम्पती' कर देते हैं! विशेषणों में भी भ्रम हो जाता है, 'वचन'-संबन्धी! उदाहरणार्थ—

'अनेक' और 'अनेकों' हैं

अनेकों ने 'अनेकों' को गलत बतलाया है! वे 'अनेक ने' शुद्ध बतलाते हैं! कहते हैं, 'अनेक' शब्द तो स्वतः बहुत्व में है, तब बहुत्व-सूचनार्थ 'ओं' लगाने की क्या जरूरत? परन्तु 'सैकड़ों' 'सहस्रों' 'लाखों' आदि में भी 'ओं' है।

'सैकड़ों जगह लोग इकट्ठे थे' की तरह 'अनेकों जगह लोग मस्त दिखाई दिए' भी ठीक है। 'सैकड़ो ने तो पानी भी नहीं पिया' की ही तरह 'अनेकों को तो मैं ने पानी पिलाया' भी ठीक है।

'सैकड़ा' और 'सैकड़ों' में अन्तर है; वही अन्तर 'अनेक' और 'अनेकों' में है।

बहुत्व-बोधन के लिए यही 'ओं' 'लड़कों ने' आदि में 'विकरण' बनता है। संख्या का आधिक्य बोध कराना इस का काम है। परन्तु 'अनेक' जब अनिश्चित बहुत्व का बोधक है, तब 'ओं' किस लिए? 'बीस' 'पचास' आदि तो निश्चित संख्याओं के वाचक हैं; इस लिए (उस निश्चित संख्या से) अधिक का बोध कराने के लिए 'ओं' ठीक; परन्तु 'अनेक' शब्द तो वैसा है ही नहीं! तब 'अनेकों मठ-मन्दिर मैं ने देखे' आदि में 'अनेकों' क्या गलत है? नहीं, 'अनेकों' बिलकुल सही प्रयोग हैं। 'अनेक' शब्द मूलतः निश्चित संख्या 'दो' का बोधक है। एक से अधिक अनेक—यानी 'दो'।

'दो' के दुर्ग से टकरा कर आगे 'अनेक' की स्वाभाविक शक्ति न जाए गी। धनञ्जय के 'दश-रूपक' में ('विष्कम्भक' के भेद-निरूपण में) एक कारिका की पंक्ति है—

'एकानेककृतः शुद्धः'

यहाँ 'अनेक' शब्द का अर्थ 'दो' ही लिया गया है। व्याख्याकार धनिक ने लिखा है:—

'एकेन द्वाभ्यां वा मध्यमपात्राभ्यां शुद्धः'

यदि आप को कहीं कोई लिख दे कि 'मैं आप को अनेक अपने मकान देने का वायदा करता हूँ' तो कोई भी अदालत दो से अधिक नहीं दिला सकती। यही स्थिति संस्कृत के 'बालकाः' आदि बहुवचन की है। यदि कोई निश्चित संख्या न दी गई हो, तो बहुवचन से 'तीन' की ही संख्या ली जाए गी। 'पूर्वमीमांसा' के 'कपिञ्जलाधिकरण' में यही सिद्धान्त स्थिर किया गया है। 'कपिञ्जलानालभेत'—तीतरों का आलम्भन करना चाहिए—इस वाक्य में कोई निश्चित संख्या नहीं दी गई है। तब 'कपिञ्जलान्' इस बहुवचन से कितने तीतर (कपिञ्जल) समझे जाएँ; यह समस्या। विचार कर के निर्णय दिया गया—'केवल तीन'। यदि अधिक संख्या अभिप्रेत हो, तो स्पष्ट उस का उल्लेख हो गा।

सो, 'अनेक' शब्द निश्चित रूप से 'दो' का वाचक है। उस से अधिक की संख्या बोध कराने के लिए 'ओं' तद्धित प्रत्यय है—'अनेकों'—चार-छह, या इस से कुछ अधिक। परन्तु लोग 'अनेकों' के स्थल में भी 'अनेक' का प्रयोग कर देते हैं—'दो' से अधिक के अर्थ में भी और उन का मतलब हम समझ भी लेते हैं। परन्तु फिर भी 'अनेक' शब्द कुछ ही आगे बढ़ सकता है—दो नहीं, दो-चार सही! 'चार-पाँच' या इस से अधिक का बोध 'अनेकों' से ही हो गा।

ऐसी प्रयोग-संबन्धी सैकड़ों बातें हैं, जिन पर विचार करने का यह स्थल नहीं। औषधनिर्माणशाला में औषधों के निर्माण पर ही ध्यान दिया जाता है; उन के प्रयोग पर नहीं। औषध ठीक बनी कि नहीं; इतना भर निर्माण शाला में देखा जाए गा। कौन औषध कहाँ, किस रोग में दी जाए; यह प्रयोगमीमांसा चिकित्सा--क्षेत्र का विषय है। साधारण औषध में और उस के स्वर्णघटित रूप में क्या अन्तर है; कहाँ किस का प्रयोग करना चाहिए; यह सब चिकित्सा–विज्ञान है। इसी तरह शब्द–शास्त्र के व्याकरण, भाषा–विज्ञान तथा प्रयोग–मीमांसा आदि भेद हैं। यह व्याकरण–ग्रन्थ है; परन्तु ऐसा कि जिस में यत्र-तत्र भाषा–विज्ञान तथा प्रयोग–मीमांसा के भी कण हैं। किसी भी शास्त्र की प्रारम्भिक अवस्था में ऐसा होता ही है। आगे चल कर जब विकास होता है, तब विषय–भेद से पृथक्–पृथक् शास्त्र बनते हैं। हिन्दी में अभी व्याकरण, निरुक्त (भाषाविज्ञान) तथा प्रयोग–मीमांसा आदि प्रारम्भिक अवस्था में ही हैं। यह पुस्तक भी प्रारम्भिक स्थिति की ही है। इस में

व्याकरण की सामान्य चर्चा के साथ-साथ, कहीं कुछ भाषाविज्ञान तथा प्रयोग–मीमांसा आदि इसी स्थिति के द्योतक हैं।

हाँ, व्याकरण का यह प्रौढ़ ग्रन्थ अवश्य है। व्याकरण की प्रारम्भिक स्थिति 'गुरु' जी के व्याकरण तक ही थी। इस ग्रन्थ के सिद्धान्त विज्ञान–भित्ति पर हैं, जो कभी भो बदलें गे नहीं।

भाषा–विज्ञान हिन्दी में अभी प्रारम्भिक स्थिति में है और प्रयोग–मीमांसा का भी अभी बाल्य–काल ही है।

हिन्दी धातुओं का विकास-क्रम

हिन्दी की जिन धातुओं की प्रत्यक्षता संस्कृत धातुओं में है, उन के बारे में कोई चर्चा करना आवश्यक नहीं। जिन का आभास संस्कृत में नहीं मिलता, उन के संबन्ध में कई कल्पनाएँ हो सकती हैं। वैसी धातुओं की बहुत बड़ी संख्या प्राकृत–साहित्य में मिल जाए गी। वहाँ भी जिस की उपलब्धि न हो, उस के संबन्ध में यही कहा जाए गा कि 'मूलभाषा' से निकली उस धातु का प्रयोग संस्कृत तथा प्राकृत साहित्य में किसी कारण नहीं हुआ; किन्तु जन–भाषा के प्रवाह में बहते–लुढ़कते वह (धातु) हिन्दी में आज इस रूप में उपलब्ध है। 'मूलभाषा' की कई विशेषताएँ हिन्दी में उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ 'समास'–प्रियता का अभाव। 'मूलभाषा' में 'समास' जैसी चीज़ का प्रायः अभाव था। जब साहित्य बनने लगा, तो इस ओर प्रवृत्ति बढ़ी। परन्तु तो भी, वैदिक–साहित्य में 'समास' नहीं के बराबर हैं! यही चीज हिन्दी के गठन में है। संस्कृत–साहित्य में 'समास' की ओर अत्यधिक प्रवृत्ति बढ़ी; हद कर दी गई! परन्तु हिन्दी का स्वरूप–गठन उस प्रवृत्ति से प्रायः दूर ही है। आवश्यक स्थल पर उस की उपेक्षा भी नहीं। इस तरह की बहुत सी बातें हैं, जिन से स्पष्ट है कि संस्कृत की अपेक्षा हिन्दी उस 'मूलभाषा' के अधिक निकट है। हिन्दी में बहुत सी ऐसी क्रियाएँ हैं, जो किसी न किसी रूप में उस 'मूलभाषा' में गृहीत थीं; परन्तु संस्कृत में जिनके दर्शन नहीं होते। ऐसी क्रियाओं या धातुओं पर हम कुछ न कहेंगे। परन्तु हिन्दी के जो धातु 'परोक्षवृत्ति' से संस्कृत में प्राप्य हैं, उन की विकास-पद्धति नमूने के लिए दे देना अप्रासंगिक न हो गा।

जैसा कि 'बैठ' तथा 'पैठ' का जिक्र करते हुए कहा गया है, 'विष्ट'-'प्रविष्ट' जैसे कृदन्तों से हिन्दी के बहुत से धातु मेल खाते हैं। यह तो तर्कसम्मत बात नहीं कि 'उपविष्ट' तथा 'प्रविष्ट' जैसे संस्कृत कृदन्त शब्द जनभाषा में आए हों और उन से फिर 'बैठ' 'पैठ' आदि धातु बन गए हों। जनता की धारा स्वतंत्र चलती है। संस्कृत शब्द एक धारा के हैं, हिन्दी शब्द दूसरी के। मूल स्रोत दोनो का एक ही है। उस मूल स्रोत से निकली हुई चीज दो भिन्न धाराओं में बहती-चलती कुछ का कुछ रूप ले सकती है। मूलभाषा में जो शब्द चलते थे, उन के कितने समीप 'पैठ' है और कितने 'प्रविष्ट'; नहीं कहा जा सकता। सम्भव है, 'प्रविष्ट' के लिए जो शब्द 'मूल–भाषा' में रहा हो, उसी से हिन्दी का 'पैठ' बन गया हो! परन्तु उस 'मूलभाषा' के अतिशय समीप जो भाषा हम जानते हैं—'ऋग्वेद' की भाषा है। ऋग्वेद में (और इतर वेदों में भी तथा प्राकृत-साहित्य में भी) हिन्दी धातुओं के भाई-बन्धु मिल सकते हैं। परन्तु प्रचलित संस्कृत-साहित्य से जहाँ तक संबन्ध है, कुछ दिग्दर्शन मनोरञ्जक रहे गा।

१—'पहन' हिन्दी की प्रमुख प्रचलित धातु है—'राम धोती पहनता है'। जैसे 'प्रविष्ट' से 'पैठ' है, उसी तरह संस्कृत (भाववाचक संज्ञा) 'परिधान' से 'पहन' का संबन्ध है—'प् अ र् इ ध् आ न् अ' यों आठ मूल अक्षर 'परिधान' में हैं। इन में से 'र्' ('ध्' से) 'द्' 'आ' ये तीन अक्षर उड़ गए; रह गए—'प् अ इ ह् न् अ'। स्वर 'इ' आगे बढ़ कर 'ह्' के साथ लग गया और हिन्दी की धातु 'पहिन' तयार। 'पहिन' का 'पहन'; जैसे 'बहिन' का 'बहन'।

२—'पहचान'—'मैं तुम को पहचानता हूँ'। 'प्रत्यभिज्ञान' से 'पहचान' का संबन्ध है। ऐसा जान पड़ता है कि पूर्व-'प्रत्यय' हिन्दी ने मिटाया नहीं है। 'प्रविष्ट' का 'ट' हिन्दी 'पैठ' में उपलब्ध है और 'पहिन' 'पहचान' में भाववाचक 'न' आप साफ देख रहे हैं। 'प् र् अ त् य् अ भ् इ ज् ञ् आ न् अ' ये चौदह अक्षर 'प्रत्यभिज्ञान' में हैं। इन में से 'र्' 'त्' 'य्' 'अ' और ('भ्' से) 'ब्' इतने अक्षर लुप्त हो गए। 'ञ्' भी उड़ गया। इस की तो हिन्दी में कोई स्थिति ही नहीं है। तभी तो 'ज्ञान' से 'जान' धातु—'मैं जानता हूँ'। 'प्रत्यभिज्ञान' के 'ज्ञ' के अवशिष्ट अंश 'ज्' को 'च्' हो गया और आगे के 'आ' से मेल—'पहिचान'। 'मैं जानता हूँ, पहिचानता हूँ।' यह 'पहिचान' फिर मेरठ की ओर 'पहचान'; 'जान' के मेल से। 'जान-

पहचान'। पूरबमें 'पहिचान' का चलन है, जैसे 'भगिनी' का 'बहिनी'। मेरठ की ओर 'बहन' राष्ट्रभाषा में भी 'बहन'।

३— 'ओढ़'—'मैं रजाई ओढ़ता हूँ'। संस्कृत 'वह्' से 'ऊढ' कृदन्त है—'मया स ऊढः कार्य-भारः'—मैं ने वह कार्य-भार अपने ऊपर ले लिया है। वहन करना, ढोना। जिम्मेदारी लेने को लक्षणा से 'वहन करना' या 'ऊपर लेना' कह देते हैं। हिन्दी में यह लाक्षणिक अर्थ हटा कर वाच्य अर्थ में ही 'ऊढ' से 'ओढ़' धातु बना ली। किसी कपड़े को अपने ऊपर लेना—'ओढ़ना'। 'बहू चादर ओढ़ती है'। धोती पहनती है, ऊपर से चादर ओढ़ती है। 'मैं रजाई ओढ़ता हूँ' 'तू कम्बल ओढ़ता है'। 'ऊढ' का वर्ण-विपर्य्यय और सन्धि कर के ढ+ऊ='ढो' धातु पृथक्। 'ढोना'—वहन करना।

इसी तरह 'प्रौढ' से पाञ्चालीय 'पोढ़ा' धातु है। 'ख्यातन मा चना तौ अब पोढ़ाय गे हैं, कुछु पोढ़ात जात हैं'—खेतों में चने प्रौढ़ हो गए हैं—गदरा गए हैं और कुछ गदराते जा रहे हैं।

तो, जान, पहचान, बैठ, पैठ, ओढ़, ढो आदि हिन्दी के धातु माने जाएँ, या 'नाम धातु'? यह प्रश्न उठ सकता है। उत्तर है, 'धातु'। 'जान-पहचान' या 'उठ-बैठ' आदि हिन्दी के मूल धातु हैं। इन का विकास प्रत्यक्षतः धातुज शब्दों से है। जहाँ ऐसी बात नहीं, वहीं 'नामधातु' का मानना उचित है; जैसे 'अलसाना'। यह 'अलसा' धातु है 'आलस' (भाववाचक (तद्धित) संज्ञा से। 'जब राम अलसाता है, तुरन्त काम छोड़ देता है।' संस्कृत (तद्रूप) शब्द 'अलस' विशेषण से यह 'अलसाता' क्रिया नहीं है—'आलस' तद्भव शब्द से है। तद्रूप संस्कृत शब्द से तो हिन्दी धातु या नामधातु प्रायः बनते ही नहीं हैं। 'जन्मता-मरता है' गलत, 'जनमता-मरता है' शुद्ध है। सो, संस्कृत 'अलस' विशेषण से भाववाचक संज्ञा 'आलस्य'। 'आलस्य' से हिन्दी 'आलस' (भाववाचक संज्ञा)। इस 'आलस' से फिर तद्धित—'आलसी'। 'तू बहुत आलसी है'। 'तू बहुत अलस है' हिन्दी में गलत हो गा।

सो, 'आलस' से 'अलसाना'—नामधातु। आलस करता है—अलसाता है। या आलस में आता है, आलस में भरता है—'अलसाता है'।

धातु तथा नामधातु का विषय-विभाजन

'थूकना' जैसी क्रियाओं का विकास विचारणीय है कि संस्कृत 'ष्ठीवति' का विकास होने के कारण यह 'धातु' है, या कि 'थू' अनुकरणात्मक शब्द से 'नामधातु' है ! भाषा में मूलतः धातु-उत्पत्ति अनुकरणात्मक 'पत् पत्' जैसे शब्दों से ही है; परन्तु आगे भाषा-विकास होने पर व्याकरण में जो शब्दों का विषय-विभाजन हुआ है, उसी के अनुसार हमें विचार करना है। यों 'ष्ठीव्' से 'थूक' का विकास माना जाए, तो यह 'धातु' है ही और 'थू' अनुकरणात्मक शब्द से संबन्ध हो, तो हिन्दी की स्वतंत्र 'धातु है'। 'थू' शब्द होता है, जब हम थूकते हैं। केवल 'थू' से 'थूता' आदि अच्छा न लगता, इस लिए 'क' का आगम—'थूक'। 'थू' करने की क्रिया 'थूकना'। इसी तरह 'फू फू' करने की क्रिया 'फूकना'। मुहँ से हवा निकाल कर आग को तेज करना, या दीवे को बुझा देना आदि मुहँ से 'फूँक' मार कर सम्पन्न होता है। भाववाचक संज्ञा अनुनासिक 'फूँक' बनती है। 'फूकना' लाक्षणिक प्रयोग 'जलाने' के अर्थ में 'झोपड़ी फूक दी।' इस की भी लक्षणा—'सब सम्पत्ति फूक दी।' 'भों भों' शब्द करना—'भोंकना'। 'कुत्ते भोंकते हैं'। 'ओं' को ह्रस्व कर के और स्वर निरनुनासिक कर के 'भूकना' भी चलता है। यों ये सब क्रियाएँ 'नामधातु' से नहीं, धातु से मानी जाएँ गी। आगे 'नामधातु' प्रकरण आए गा। हिन्दी में ही नहीं, संस्कृत में भी अनुकरणात्मक शब्द-रचना बहुत है। 'काकः कस्मात्?—शब्दानुकरणात्'—'काक' कैसे बना ? उत्तर—शब्दानुकरण से। कौआ 'का का' करता है। 'क' से 'क' प्रत्यय 'काक'। हिन्दी का 'भेड़' शब्द भी ऐसा ही है। 'भें में' करती है; इस लिए 'भेड़'। स्वर निरनुनासिक हो गया। 'भे भे' करती है, यों निरनुनासिक भी अनुकरण-शब्द चलता है। संस्कृत में 'ष्ठीवति' क्रिया होने पर भी 'थू' से 'थूत्करोति' का प्रचार है। 'पत्' के ही ढँग पर हिन्दी में 'पड़' है—'गिरता-पड़ता रहता है'। गिरने का 'पट' शब्द होता है। 'पट' का ही विकास 'पड़' है। संस्कृत में अनुकरणात्मक शब्द 'पत् पत्' से पतनार्थक 'पत्' धातु और हिन्दी में 'पट' अनुकरण शब्द से 'पड़' धातु। 'पतन' का विकास भी 'पड़ना' सम्भव है। सब तरह से 'पड़' धातु है, नाम-धातु नहीं।

४—'पका' 'पच्' से है। 'च्' को 'क्' और अन्त में 'आ'। 'रामः तण्डुलान् पचति'—राम चावल पकाता है। 'पचता है' अलग चीज है—'भोजन पेट में पचता है'। 'पचना' भी 'पकाना' की तरह एक स्वतंत्र क्रिया

है। एक अकर्मक, दूसरी सकर्मक। पेट में भोजन स्वतः 'पचता है'। परन्तु 'गरमी में चावल हमारे यहाँ भी पकते हैं' यहाँ 'पकना' मूल क्रिया नहीं, 'पकाना' का कर्मकर्तृक प्रयोग है। चावल रसोई में अपने आप नहीं पक जाते, कोई पकाने वाला चाहिए। कर्ता की अविवक्षा में 'चावल पकते हैं' कर्मकर्तृक प्रयोग। 'कर्म-कर्तृक' प्रक्रिया आगे आए गी।

यों, एक 'पच्' धातु का अनेकधा विकास। संस्कृत में यों विषय-भेद से शब्द-भेद नहीं हैं। 'उदरे भोजनं जीर्यति' के अर्थ में भी 'पच्यते' चलता है और 'यवागू पच्यते' में भी 'पच्यते'। हिन्दी में-भोजन पेट में 'पचता' है और रसोई में 'पकता' है। 'पच' मूल क्रिया और 'पक' कर्म-कर्तृक प्रयोग; 'पका' मूल धातु का। संस्कृत 'पच्' को स्वरान्त कर के हिन्दी ने अर्थान्तर में उस का प्रयोग किया है। यह भी संभव है कि 'पच्' से मूल धातु 'पक' बनी हो, 'फल पकते हैं' सूरज की गरमी से। यह 'पक' कर्मकर्तृक नहीं है। फल सचमुच स्वयं पकते हैं। 'गरमी' हेतु है, कारण है, 'करण' या 'कर्ता' नहीं है। ऐसी स्थिति में 'पकाना' को प्रेरणा-रूप मानें गे।

इस दिग्दर्शन से स्पष्ट है कि हिन्दी के धातुओं का विकास विविध प्रकार से हुआ है। यह विकास-विवेचन भाषा-विज्ञान की बड़ी मनोरञ्जक चीज है। साधारण जनों को इस झमेले से कोई मतलब नहीं कि पीतल कैसे बनी और सोना कैसे बनता है! उपयोग करने से मतलब।

यहाँ प्रसंग-प्राप्त एक बात और कह दूँ। राष्ट्रभाषा के धातुओं में और अवधी तथा व्रजभाषा आदि के धातुओं में कहीं कुछ अन्तर भी है। राष्ट्रभाषा में 'जलना' क्रिया है; पर व्रजभाषा में 'जर' और 'पजर' ये दोनो हैं— 'जरत'-'जरे' और 'पजरत'-'पजरे' यों दोनो के प्रयोग होते हैं। वस्तुतः यों दो धातु मानने की अपेक्षा एक ही के अनुपसर्ग तथा सोपसर्ग रूप मानने में अधिक बल है। 'प' को व्रजभाषा का उपसर्ग मानना चाहिए—संस्कृत 'प्र' का संक्षिप्त रूप। 'जरत' में 'प' उपसर्ग लगाकर 'पजरत'। जैसे 'ज्वलति' से 'प्रज्वलति'। 'प्रज्वल' कोई भिन्न धातु नहीं है। परन्तु 'उठना' आदि में 'उ' आदि को पृथक् उपसर्ग मानना ठीक नहीं; क्यों कि 'ठ' कोई धातु नहीं है।

इसी तरह 'डासना' तथा 'सिराना' आदि क्रियाएँ प्रसिद्ध हैं। तुलसी के व्रजभाषा-साहित्य में—'डासत ही सब निसा सिरानी, कबहुँ न नींद भरि

सोयो।'—बिछाते ही बिछाते सब रात बीत गई—कभी भी नींद भर सो न पाया।

'डासना'-बिछाना। 'डास-'कुश। इस की नोक डंक-सा मारती है। डास का ही आसन—'डासन' कभी चलता था। 'कुशासन' तो अब भी देखने को मिलता है। सन्त लोग मोटा गद्दा-सा कुशों का बना कर भूमि पर या तख्त पर बिछा लेते हैं—भूमि या तख्त को डास लेते हैं। आगे चल कर 'डास' ('कुश') बिलकुल छूट गया और 'बिछाना' मात्र अर्थ रह गया। कोमल मुदगुदे रेशमी गद्दे से भी अवध आदि में पलँग डासने लगे। इसी का व्रजभाषा के रूप में प्रयोग है।

'सिरानी'—बीत गई। 'सब निसा सिरानी'—सब रात बीत गई! यह 'सिराना' क्रिया 'सिरा' संज्ञा से बनी है। 'सिरा' किसी चीज का अन्तिम अंश—'छोर'। 'भारत के पश्चिमोत्तर सिरे पर पहले पेशावर था।' 'आज कल इस देश का पश्चिमोत्तर सिरा अमृतसर है।' यह 'सिरा' बना है 'सिर' से। शरीर में सिर ऊपर का सब से अन्तिम भाग है। किसी का इधर या उधर का अन्तिम भाग 'सिरा'। सिरा आ गया—अन्त आ गया। 'रात सिरानी'—रात बीत गई!

एक दूसरी 'सिराना' क्रिया व्रजभाषा आदि में 'शीतल' विशेषण से बनी है—'बड़ी बेर भई, दूध सिरानो'—बहुत देर हुई, दूध ठंढा हो गया। अवधी में 'सियरान'—ठंढा हो गया। 'सियरे वचन सूखि गए कैसे'—शीतल वचनों से किस तरह सूख गए। व्रजभाषा में 'सीरो दूध' ठंढा दूध। इसी 'सीरो' से नामधातु 'सिरा'—'दूध सिरानो'। 'सिरानो' की मूल धातु 'सिरा' और उस का कृदन्त विशेषण 'सीरो दूध' नहीं कह सकते; क्यों कि 'शीतल' का विकास 'सीरो' है और उस से 'सिरानो' क्रिया। 'शीतल' का 'त' लुप्त और 'ल' को 'र'। 'श' तो 'स' हो ही जाता है।

परन्तु राष्ट्रभाषा में इन नामधातुओं का प्रयोग नहीं होता। 'यहाँ रात बीत गई' कहा जाए गा—'सिरा गई' नहीं। 'बीत'—'वीत' से है—वि+इत='बीत'। 'बीत जाना' संयुक्त क्रिया। 'खाट डास दी' नहीं, 'खाट बिछा दी' कहा जाए गा। 'दूध सिरा गया' की जगह 'दूध ठंढा हो गया' बोला जाता है।

धातु और नामधातु का भेद

धातुओं से नाम (संज्ञा) तथा नाम से धातु भाषा में बनते ही रहते हैं। कभी-कभी लोग चक्कर में पड़ जाते हैं और धातु को नामधातु समझ बैठते हैं। हिन्दी की एक क्रिया है 'पिनकना'। अफीम के नशे में हालत अस्त-व्यस्त हो जाना—'पिनकना'। 'और वह फिर पिनकने लगा'। इस 'पिनक' को लोगों ने 'पीनक' संज्ञा से व्युत्पन्न माना है, यानी नामधातु ! यह गलत बात है। 'पिनक' मूल धातु है और उस की कृदन्त संज्ञा 'पीनक' है; जैसे 'खिझ' की 'खीझ' और 'भिड़' से 'भीड़'। यदि नामधातु होती, तो आकारान्त होती; क्योंकि नामधातु बनाने के लिए हिन्दी 'आ' प्रत्यय लगाती है—'फड़फड़' करना—'फड़फड़ाना' और 'भड़ भड़' करना—'भड़भड़ाना'। 'हथियाना'—'मटियाना' आदि में भी 'आ' है। 'सरकना' की 'सरक' मूल धातु है। संस्कृत 'सरति' का 'सर' ले कर आगे 'क' लगा लिया—'सरक'। इसी का प्रेरणारूप है—'सरकाना'। 'सर' के आगे 'क' इस लिए लगाया कि वायु-विशेष (अपान-वायु) की प्रवृत्ति बताने के लिए 'सर' धातु हिन्दी में है—'वायु नहीं सरती है'। 'सरकती है' अन्यत्र। संस्कृत की 'पत्' धातु को 'पतन' संज्ञा से नामधातु बताना जैसा, वैसा ही हिन्दी 'पीनक' से 'पिनक' को नामधातु कहना समझिए।

'फटकता है नाज'। यहाँ 'फटक' मूल धातु है। सूप की 'फट फट' ध्वनि' होती है, पछोरने में। इसी अनुकरणात्मक शब्द 'फट' में 'क' लगा कर 'फटक' सकर्मक धातु। 'कभी-कभी आने' के अर्थ में अकर्मक 'फटक' पृथक् है। 'फट' धातु अकर्मक अलग है—'धूप से लकड़ी 'फटती है', फूट पकने पर 'फटती है'। 'फटकती है नाज' और यहाँ वह 'फटकती ही नहीं' अलग-अलग हैं। यानी जहाँ क्रियांश स्पष्ट दिखाई दे, वह मूलधातु और जहाँ ऐसी बात न हो, वहाँ 'नामधातु'। 'हथियाना' का 'हाथ' और 'मटियाना' का 'माटी' अंश संज्ञाएँ हैं, क्रियांश नहीं है। इसी लिए 'हथियाना' मटियाना' नामधातु हैं।

———

द्वितीय अध्याय

उपधातुओं के दो भेद और उनके प्रयोग

मूल धातुओ से कुछ उपधातुएँ बन जाती हैं और फिर इन (उपधातुओं) के प्रयोग उसी तरह होते हैं, जैसे कि मूल धातुओं के। उसी तरह सब काल और उसी तरह कृदन्त-तिङन्त तथा उभयात्मक पद्धतियाँ। जो कुछ उन धातुओ से बनता-चलता है, वही सब इन उपधातुओ से। परन्तु स्वरूप-भेद तो है ही। इस भेद के ही कारण तो 'उपधातु' इन्हें हम कहते हैं।

इन उपधातुओं की दो श्रेणियाँ हैं। एक श्रेणी को तो हम मूल धातुओं का विकसित रूप कह सकते हैं और दूसरी को संकुचित रूप। विकसित-रूप 'उपधातु' से बनी क्रियाएँ 'प्रेरणा'-प्रक्रिया में आती हैं और संकुचित-रूप 'उपधातु' से बनी क्रियाएँ 'कर्मकर्तृक क्रियाएँ' कहलाती हैं। प्रेरणा-क्रियाओं को हम 'द्विकर्तृक क्रियाएँ' भी कह सकते हैं और 'कर्म-कर्तृक क्रियाएँ 'कर्मा-दिकर्तृक' क्रियाएँ भी कही जा सकती हैं और 'अकर्मक क्रियाएँ' भी। आगे इनदोनो भेदों का दिग्दर्शन लीजिए।

'प्रेरणा' या 'द्विकर्तृक' क्रियाएँ

पीछे कहा गया है कि कभी-कभी ऐसे क्रिया-पद सामने आते हैं, जिन्हें व्याकरण में 'द्विकर्मक' कहते हैं। कर्म तो वस्तुतः एक ही होता है; परन्तु किसी दूसरे कारक का प्रयोग इस तरह किया जाता है कि वह भी कर्म-सा ही लगता है। इसे 'गौण कर्म' कहते हैं। 'गौण कर्म' का मतलब यह कि 'गौणी' (लक्षणा) वृत्ति से इसे 'कर्म' कहते हैं। सादृश्य-संबन्ध से लक्षणा। 'मा बच्चे को दूध पिलाती है' यहाँ 'पिलाना' क्रिया सकर्मक है। 'दूध' कर्म है—पी जानेवाली या पिलाई जानेवाली चीज। मा 'बच्चे को' दूध पिलाती है। यहाँ 'बच्चे को'—ऐसा प्रयोग है कि कर्म-सा जान पड़ता है। जैसे 'मा बच्चे को देखती है' में 'बच्चे को' कर्म है, वैसा ही 'मा बच्चे को दूध पिलाती है' में भी 'बच्चे को'। बनावट कर्म-कारक जैसी है; परन्तु वस्तुतः यह कर्म है नहीं। कर्म तो 'दूध' है। बच्चा तो दूध पीने वाला है—'कर्ता'

है। परन्तु उस ('कर्ता') का प्रयोग कर्म-जैसा है। इसी लिए यह 'गौण कर्म'। फलतः क्रिया द्विकर्मक हुई। एक (असली) कर्म ('दूध') और दूसरा (गौण) कर्म 'बच्चा'।

'मा बच्चे को दूध पिलाती है' में क्रिया जैसे द्विकर्मक है; उसी तरह 'द्विकर्तृक' भी है। असली कर्ता तो 'बच्चा' है, जो दूध पीने वाला है; परन्तु जिस का प्रयोग कर्म की तरह हुआ है। 'मा' का संबन्ध 'पीना' क्रिया से कर्तृ-रूप में नहीं है—मा दूध पीती नहीं है, बच्चे को पिलाती है। 'बच्चा मा का दूध पीता है' यहाँ 'बच्चा' स्पष्ट कर्ता है। 'मा' में विशेषता प्रकट करने के लिए संबन्ध-विभक्ति हटा कर 'कर्ता' की तरह बोलें-'मा बच्चे को दूध पिलाती है' तो 'मा' कर्ता जान पड़ती है। इसे ही 'गौण कर्ता' हम कहेंगे। वस्तुतः मा का संबन्ध 'दूध' (कर्म) से है; धात्वर्थ 'पीने' से उस का कोई अन्वय नहीं है। शब्द-प्रयोग ऐसा है कि उसमें कर्तृत्व-सा जान पड़ता है।

तो, उपर्युक्त प्रयोग में जैसे दो कर्म हैं—मुख्य और गौण—उसी तरह दो कर्ता भी हैं—मुख्य और गौण। मुख्य कर्ता गौण कर्म के रूप में है और मुख्य कर्म (दूध) का भेदक ('मा') कर्ता के रूप में। 'बच्चा' मुख्य कर्ता या 'गौण कर्म' है। 'मा' गौण कर्ता है। इसी 'गौण' कर्ता को लोग 'प्रयोजक' कर्ता कहते हैं और असली कर्ता को 'प्रयोज्य' कर्ता। 'प्र' हटा कर 'योजक'—'योज्य' कहें, तो अधिक स्पष्टता आ जाए गी। मा बच्चे को दूध पीने में लगाती है—'योजक' है और बच्चा उस (मा) का 'योज्य' है। 'योज्य' ही असली कर्ता है। 'राम नौकर से लकड़ी फड़वाता है'। 'राम' योजक है और 'नौकर' है 'योज्य'। 'योज्य' (नौकर) ही तो लकड़ी पर कुल्हाड़ा मारता है न ? वही 'कर्ता' है। उस (कर्ता) का संबन्ध 'राम' से है। राम उस का मालिक है। उस (संबन्धी या 'भेदक') का प्रयोग कर्ता की तरह किया गया; क्योंकि उस क्रिया के करने में उस ('नौकर') को इसने लगाया है—नौकर से वह काम वह ('राम') करा रहा है। सो, काम करने वाला असली 'कर्ता' और प्रेरक या योजक 'गौण कर्ता'।

इस तरह की क्रिया को 'प्रेरणा' कहते हैं। 'राम वेद पढ़ता है'। 'पढ़' मूल धातु है, जिस के वर्तमान-कालिक साधारण प्रयोग में 'राम' कर्ता है। इस की प्रेरणा का द्विकर्तृक रूप—'पढ़ाना' है। 'गुरु राम को वेद पढ़ाता है'। इस प्रेरणा-रूप में मूल क्रिया का कर्ता—असली कर्ता—'राम' इस तरह 'को' विभक्ति के साथ है कि 'कर्म'-सा लगता है। राम को वेद पढ़ने में

मदद देने वाला 'गुरु' है। यह 'प्रयोजक', 'योजक' या 'गौण' कर्ता है। कर्म असली है 'वेद', जो पढ़ा जा रहा है। परन्तु कर्ता ('राम') का प्रयोग कर्म की तरह है। इस लिए यह 'गौण कर्म'। तात्त्विक कर्ता या 'प्रयोज्य' गौण कर्म के रूप में आता है, जब कि किसी क्रिया का प्रेरणा-प्रयोग होता है।

ऊपर जो प्रेरणात्मक क्रिया के उदाहरण दिए हैं, द्विकर्तृक और द्विकर्मक हैं। परन्तु सभी प्रेरणा-क्रियाएँ द्विकर्मक नहीं होतीं; यद्यपि द्विकर्तृक सब होती हैं। एक कर्ता असली और दूसरा 'गौण' या 'प्रयोजक'। साधारण अवस्था की सकर्मक क्रियाएँ प्रेरणा में द्विकर्मक हो जाती हैं और अकर्मक बन जाती हैं सकर्मक। द्विकर्मक के उदाहरण ऊपर आ चुके हैं; 'एककर्मक' देखिए—

१—मा बच्चे को बैठाती है

२—मालिक नौकर को जगाता है

३—धाय बच्चे को सुलाती है

४—नेवले ने साँप मारा

बच्चा बैठता है, नौकर जागता है, बच्चा सोता है और साँप मरता है। बैठने, जागने, सोने और मरने के कर्ता क्रमशः बच्चा, नौकर, बच्चा और साँप हैं। ये सब क्रियाएँ अकर्मक हैं। परन्तु प्रेरणा में इन के रूप बैठाना, जगाना, सुलाना और मारना सकर्मक हो गए हैं। 'कर्ता' का प्रयोग कर्म की तरह है; इस लिए 'गौण कर्म'। क्रिया सकर्मक हो गई है। अपना तात्त्विक पुत्र न होने पर 'गोद लिए' बच्चे से भी कोई स्त्री 'पुत्रवती' ही कहलाती है। इसी तरह इस 'गौण कर्म' से क्रिया 'सकर्मक'। मतलब यह निकला कि प्रेरणा में सभी क्रियाएँ सकर्मक होती हैं; 'अकर्मक' कोई रहती ही नहीं। 'मालिक नौकर से काम कराता है' यहाँ 'नौकर' भी कर्म ही है; यह प्रचलित बात है। आगे हम इस पर कुछ पृथक् विचार करें गे।

'मरता है' की प्रेरणा 'मारता है' नहीं; 'मार देता है' 'मार डालता है' जैसे रूपों में होती है। 'मार' एक पृथक् (मूल) धातु है—'ताड़ना' करने के अर्थ में। मारना-पीटना मात्र विवक्षित हो, तो कहा जाए गा—'मालिक

लोग पहले नौकरों को मारते भी थे'। यहाँ 'मार' मूल धातु है। 'मर' का प्रेरणा-रूप बनाना हो, तो 'दे' या 'डाल' जैसी कोई धातु सहायक रूप से आती है। 'मा बच्चे को कभी मारती भी है' और 'नागिन अपने बच्चों को भी मार डालती है' में बहुत अन्तर है। परन्तु भूतकाल में 'नेवले ने साँप को मारा' आदि में 'मार डालना' ही अर्थ होता है। साँप और नेवले का संबन्ध ही ऐसा है। उठ, बैठ, जाग आदि मूल धातुओं के प्रेरणा-रूप उठा, बैठा, जगा जैसे दीर्घान्त हो जाते हैं, उसी तरह 'मर' का भी दीर्घान्त रूप चाहिए था; पर नहीं है—'नेवले ने साँप को मारा, मार डालता है' यों 'मार' रहता है। अन्य धातुओं का अन्त्य स्वर दीर्घ हो जाता है—उठता है-उठाता है, सोता है-सुलाता है। परन्तु 'मरता है साँप' और मारता है नेवला'। यानी अन्त्य के बदले प्रथम स्वर दीर्घ हो गया है, जब कि अन्य धातुओं का दीर्घ प्रथम स्वर ह्रस्व हो जाता है—पीता है-पिलाता है। यह 'मर' का प्रेरणा-रूप 'मार' इस लिए कि उर्दू में एक अन्यार्थक सकर्मक 'मरा' धातु है, जो अश्लील प्रयोगों में प्रायः अशिष्ट और शोहदे लोग हिन्दी-क्षेत्रों में भी बोलते हैं। उसी 'मरा' के कारण 'मार' प्रेरणा-रूप 'मर' का। भूतकालिक रूप 'मारा' है—'नेवले ने साँप मारा'।

प्रेरणा के रूपों में हिन्दी-व्याकरणकार बहुत गड़बड़ी में पड़ गए हैं। उदाहरणार्थ, उन्हों ने लिखा है—'सिलना' 'बँधना' आदि मूल धातु हैं और 'सिलाना' 'बाँधना' आदि इन के प्रेरणा-रूप ! यह गलत है। 'सीना' (सी) तथा 'बाँधना' ('बाँध') आदि मूल धातु हैं—'सिल'-'बँध' नहीं। 'कपड़े सिलते हैं' 'गट्ठर बँधते हैं' आदि में 'कपड़े' और 'गट्ठर' वास्तविक 'कर्ता' नहीं हैं कि 'सिलने-'बँधने' को मूल क्रिया माना जा सके। मूल क्रिया का कर्ता अपने व्यापार में स्वतंत्र होता है—'स्वतंत्रः कर्ता'। परन्तु कपड़े स्वयं सिल नहीं सकते और गट्ठर अपने आप बँध नहीं सकते। कोई सीने वाला और बाँधने वाला चाहिए। वही कर्ता कहलाए गा। कपड़े तो सिलने की चीज हैं और 'गट्ठर' बँधने की चीज। दोनो 'कर्म' हैं। सीनेवाला और बाँधनेवाला कौन है; इस की उपेक्षा कर के—कर्ता की अविवक्षा में—कह दिया जाता है—'कपड़े सिल रहे हैं' 'गट्ठर बँध रहे हैं'। यानी तात्त्विक 'कर्म' का 'कर्ता' की तरह प्रयोग हुआ है। इसे 'गौण कर्ता' समझिए। यह अलग प्रक्रिया है—'कर्मकर्तृक', जहाँ कर्म का प्रयोग कर्ता की तरह होता है। जब 'कर्ता' उपेक्षित है, तो 'कर्म' का ही उस की तरह प्रयोग

होता है—'कपड़े सिल रहे हैं'—'गट्ठर बँध रहा है'—'पोटली बँध रही है' इत्यादि। सो, 'सी' तथा 'बाँध' मूल धातुओं के प्रेरणा-रूप हैं—'सिला' (सिलाना) और 'बँधा' (बँधाना) आदि। उन्हीं मूल धातुओं के 'कर्म-कर्तृक' प्रयोग में रूप हैं—'सिल' (सिलना) 'बँध' (बँधना) आदि। 'कर्मकर्तृक' प्रकरण हम आगे लिखें गे। यहाँ तो प्रासंगिक निवेदन है। 'बाँधना' मूल, 'बँधना' कर्मकर्तृक, 'बधाना' प्रेरणा और 'बँधवाना' प्रेरणा की प्रेरणा।

कभी-कभी 'प्रेरणा' तथा 'कर्मकर्तृक' के रूप एक ही तरह के हो जाते हैं और तब भ्रम से लोग 'कर्मकर्तृक' को 'प्रेरणा' समझ बैठते हैं! 'राम ने वही बात श्याम से कहला दी' प्रेरणा-रूप है। 'कहने' का 'तात्त्विक कर्ता 'श्याम' है और प्रेरक कर्ता 'राम'। परन्तु 'ऐसे ही सज्जन ग्रन्थकार कहलाते हैं' 'कर्मकर्तृक' प्रयोग है। साधारण वाक्य है—'लोग ऐसे ही सज्जनों को ग्रन्थ-कार कहते हैं'। यही बात कर्ता की उपेक्षा कर के यों कह देते हैं—'ऐसे ही सज्जन ग्रन्थकार कहलाते हैं'। कर्ता की अविवक्षा में कर्म का ही कर्ता की तरह प्रयोग है। 'ऐसे ही सज्जन' कर्म है, जिस का प्रयोग कर्ता की तरह है। तब क्रिया अकर्मक-सी जान पड़ती है। कर्म जब कर्ता-सा जान पड़ता है, तो क्रिया अपने आप अकर्मक जान पड़े गी! इसी 'कर्मकर्तृक' प्रयोग को 'हिन्दी व्याकरण' में प्रेरणा का रूप समझ कर लिखा गया है—'कहना' के प्रेरणा-र्थक रूप अपूर्ण अकर्मक भी होते हैं; जैसे—'ऐसे ही सज्जन ग्रन्थकार कहलाते हैं।' यह भ्रम है। ये प्रयोग प्रेरणात्मक नहीं, कर्मकर्तृक हैं। दोनो में आकाश-पाताल का अन्तर है। प्रेरणा में भी 'कहना' का रूप 'कहलाना' या 'कहाना' होता है; किन्तु प्रायः 'देना' सहायक क्रिया साथ आती है—

१—मा बच्चे से सब कहला देती है

२—बहू ने अपनी सास से सब कहला दिया।

कितनी ही ऐसी क्रियाएँ हैं, जिन के प्रेरणा तथा कर्मकर्तृक रूप बनाने में कोई सहायक क्रिया लगानी ही पड़ती है।

'सुलाना' 'खिलाना' आदि रूप देख कर लोग 'फुसलाना' जैसी क्रियाओं को भी प्रेरणा समझने की गलती कर देते हैं! 'हिन्दी-व्याकरण' में 'फुस-लाना' प्रेरणात्मक क्रिया बताई गई है! वस्तुतः यह मूल क्रिया है—'मा बच्चे को फुसलाती है'। बच्चा स्वयं नहीं 'फुसलता' है कि 'फुसलाना' को प्रेरणा कहा जाए!

'कटवाना' जैसे प्रेरणा-रूप देख कर 'गवाँना' को भी 'हिन्दी व्याकरण' में प्रेरणा समझ लिया गया है ! 'जो बड़ों की बात नहीं मानते, वे अपना सर्वस्व गवाँते हैं' यों 'गवाँना' साधारण सकर्मक क्रिया है। 'गवँ' कोई धातु नहीं है, जिस की प्रेरणा 'गवाँ' धातु हो !

इस तरह की भ्रमात्मक बातें यहाँ अधिक लिखना ठीक नहीं। अपनी बात ही कहेंगे। यही ठीक है।

'को' तथा 'से' विभक्तियों का प्रयोग

प्रेरणा में 'को' या 'से' विभक्ति 'गौण कर्म' में लगती है। यानी असली कर्ता इन विभक्तियों के साथ आता है:—

१—मा बच्चे को मक्खन खिलाती है
२—मालिक नौकर से कपड़े धुलाता है, (या धुलवाता है)

भूत काल में—

१—मा ने बच्चे को मक्खन खिलाया
२—मालिक ने नौकर से कपड़े धुलाए (धुलवाए)

अर्थात् 'को' या 'से' विभक्ति गौण कर्म में लगती है और क्रिया की गति मुख्य कर्म के अनुसार—'मक्खन खिलाया' और 'रोटी खिलाई'। इसी तरह 'कपड़े' के अनुसार पुल्लिङ्ग बहुवचन 'धुंलाए'। और 'धोती धुलाई' (या 'धुलवाई)' स्त्रीलिङ्ग क्रिया, 'धोती' के अनुसार। 'नौकर ने धोती धोयी' और 'मालिक ने नौकर से धोती धुलवाई'। 'गौण कर्म' में विभक्ति और 'मुख्य कर्म' के अनुसार क्रिया का 'वाच्य'।

'गौण कर्म' (यानी असली कर्ता) में जो विभक्तियाँ लगती हैं और उन में जो भेद है; कुछ आधार रखता है। कहीं 'को' और कहीं 'से' यह विभक्ति-भेद अनावश्यक नहीं है। यदि कोई कारण न होता, तो सर्वत्र एक ही विभक्ति रहती। तो, क्या कारण है इस विभक्ति-भेद का ? विभक्ति का प्रयोग ही गौण कर्म में क्यों हुआ ?

सोचने से जान पड़ता है कि जिन क्रियाओं की प्रवृत्ति असली कर्ता के लिए है, उन के वे असली कर्ता ('गौण कर्म' के रूप) 'को' विभक्ति के साथ आते हैं—

१—मा बच्चे को मक्खन खिलाती है

२—मालिक नौकर को मिठाई खिलाता है

३—अध्यापक छात्रों को विद्या पढ़ाते हैं

बच्चे को, नौकर को, छात्रों को; तीनो जगह 'को' विभक्ति 'गौण कर्म' में लगी है। मा, मालिक और अध्यापक 'प्रयोजक कर्ता' हैं। बच्चा मक्खन खाता है, 'मा' का खाने से कोई मतलब नहीं। मक्खन बच्चे के पेट में जाता है। बच्चा ही असली कर्ता है, जो कि कर्म का जामा पहने है। क्रिया की प्रवृत्ति इसी (असली कर्ता) के हित में है। इस लिए इस में 'को' विभक्ति का प्रयोग, जो कि सम्प्रदान कारक में भी लगती है। मा का उद्योग बच्चे के लिए है। इसी तरह दूसरे तथा तीसरे उदाहरणों में भी समझिए। यों 'को' विभक्ति ने क्रिया की प्रवृत्ति असली कर्ता के हित में सूचित की।

परन्तु 'से' विभक्ति का काम इस से हट कर है। जब क्रिया की प्रवृत्ति प्रयोजक कर्ता के हित में होती है; असली कर्ता को जब एक साधन मात्र बनना पड़ता है और क्रिया का फल दूसरा भोगता है, तब (असली कर्ता में) 'से' विभक्ति लगती है—

१—आप ने बिस्तर कुली से उठवाया

२—मैं ने लड़के से कापी मँगवाई

३—मा लड़की से रोटी बनवाती है

मा लड़की से रोटी बनवाती है, तो शिक्षण लाभ लड़की को जरूर मिलता है; परन्तु यहाँ इस बारीकी में जाने की जरूरत नहीं है। मोटे तौर पर तो लड़की को क्रिया का वैसा प्रत्यक्ष फल प्राप्त नहीं। 'मा लड़की को दवा पिलाती है' कहें, तो दवा का पीना लड़की के प्रत्यक्ष हित में जरूर है।

ऊपर 'को' तथा 'से' विभक्तियों का प्रयोग-भेद जो हम ने बताया, उस की स्थिति व्यापक है। वैसे अपवाद तो सभी नियमों के होते हैं।

'से' विभक्ति साधारण (मूल) द्विकर्मक क्रियाओं के भी गौण कर्म में लगती है। 'लड़के ने मा से सब बातें पूछीं'। यहाँ 'बातें' मुख्य कर्म है और 'मा' गौण कर्म; 'से' विभक्ति के साथ। 'मा से' में 'से' देख कर कारकान्तर न समझ लेना चाहिए। यह विभक्ति कर्ता, कर्म, करण, अपादान आदि कई कारकों में लगती है। यही स्थिति 'को' की है।

यदि सोच कर देखें, तो 'मा बच्चे को दूध पिलाती है' में 'बच्चे' को 'गौण सम्प्रदान' तथा 'मा नौकर से साग मँगाती है' में नौकर 'गौण करण' अधिक अच्छे नाम जान पड़ेंगे। परन्तु संस्कृत व्याकरण की परम्परा में उन्हें 'गौण कर्म' ही नाम प्राप्त है। अन्य भारतीय भाषाओं की तरह हिन्दी भी संज्ञा-परिभाषा आदि संस्कृत से ही लेती है। नाम चाहे जो हों, वस्तु समझ लेनी चाहिए।

मूलतः अकर्मक धातु प्रेरणा में सकर्मक हो जाती है—सकर्मकता उसी 'गौण कर्म' के कारण। मूल कर्ता 'कर्म' के रूप में प्रयुक्त होता है—

१—मा बच्चे को जगाती है—बच्चा जागता है

२—बच्चा मा को उठाता है—मा उठती है

३—मा बच्चे को बैठाती है—बच्चा बैठता है

यों असली कर्ता 'गौण कर्म' के रूप में सर्वत्र है।

प्रेरणा की बनावट

मूल धातु प्रेरणात्मक उपधातु के रूप में आती है, तब उस में थोड़ा रूप भेद हो जाता है। संस्कृत में 'पठति'-'पतति' जैसी मूल क्रियाओं के प्रेरणा-रूप—'पाठयति'-'पातयति' जैसे हो जाते हैं; यानी धातु का प्रथम ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है। परन्तु हिन्दी में इस के विपरीत, मूल धातु का प्रथम स्वर यदि दीर्घ हो, तो ह्रस्व हो जाता है—

१—बच्चा जागता है—बाप बच्चे को जगाता है

२—अन्न सूखता है—गृहिणी अन्न सुखाती है

३—छात्र कुछ सीखता है—अध्यापक छात्र को सिखाता है

दूसरे उदाहरण में कर्म ('अन्न') निर्विभक्तिक है; क्योंकि विभक्ति की जरूरत ही नहीं। पहले कह आए हैं कि यदि विभक्ति-प्रयोग के बिना ही कारक-बोध हो जाए, तो फिर हिन्दी में विभक्ति का व्यर्थ प्रयोग नहीं होता। वही बात प्रेरणा में भी है और आगे 'नामधातु' में भी। 'सूखता है' में 'सूख' मूल धातु है। संस्कृत 'शुष्' का विकास-'सूख'। इसे 'सूखा' से समझना गलती है। यानी 'नामधातु' नहीं है। नामधातु में 'आ' प्रत्यय

लगता है। पूरब में 'धोती सुखाति है' बोलते हैं। यहाँ 'सूख' से 'सुखा' नामधातु है। इसी तरह 'झुराति है' आदि। परन्तु वहीं 'धोती सूखति है' में 'सूख' धातु है।

'ओ' तथा 'ए' के ह्रस्व रूप 'उ' और 'इ' होते हैं। यही पद्धति संस्कृत में भी है—

१—बच्चा सोता है—मा बच्चे को सुलाती है

२—बच्चा फूल देखता है—मा बच्चे को फूल दिखाती है

'सुलाती है' में 'ल' का आगम भी है। प्रेरणा में प्रायः य, ल, व अन्तःस्थित हो जाते हैं। 'अन्तःस्थ' (यानी 'अन्तस्थ') हैं ही। संस्कृत में 'पठति' का 'पाठयति' रूप देखिए; 'य' बीच में आ गया। हिन्दी में 'व' या 'ल' बीच में आ जाता है—'सुलाता है'। मालिक नौकर से पेड़ 'कटवाता है'। 'बिस्तर बँधवा दिया न'! कभी-कभी 'ल' और 'व' दोनो का साथ-साथ आगमन ('आगम') हो जाता है—'मैं कपड़े धोबी से नहीं धुलवाता, स्वयं धोता हूँ'।

परन्तु प्रेरणा का मूल प्रत्यय है—'आ'। 'पढ़' मूल धातु से प्रेरणार्थक 'आ' प्रत्यय और सवर्ण-दीर्घ 'पढ़ा' उपधातु। पढ़+आ='पढ़ा'। 'गुरु छात्र को पढ़ाता है'—'गुरुः छात्रं पाठयति'। संस्कृत में प्रथम ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है—'पठति'—का 'पाठयति' और हिन्दी में अन्त्य स्वर दीर्घ होता है—'पढ़ता है' से 'पढ़ाता है'।

'उठता है' मूल क्रिया—'राम बिस्तर से उठता है'। 'उठाना' प्रेरणा—'नौकर बिस्तर उठाता है'। इस प्रेरणा की भी प्रेरणा—'मालिक नौकर से बिस्तर उठवाता है'। मूल क्रिया अकर्मक, प्रेरणा सकर्मक और द्वितीय प्रेरणा द्विकर्मक। 'उठवाता है' में 'व' है। 'राम उठता है' में 'उठ' मूल धातु है; पर 'तुम्हारा बिस्तर दुपहर को उठता है' में 'उठा' (उठाना) प्रेरणा का कर्मकर्तृक रूप 'उठ' है। बिस्तर स्वयं नहीं उठ सकता। 'सुलाना' में 'ल्' का आगम।

मूल धातु का प्रथम स्वर ह्रस्व और धातु तथा प्रेरणा-प्रत्यय ('आ') के बीच 'ल्' का आगम 'सु ल् आ'—'सुला'। 'सो' मूल धातु की 'सुला' उपधातु। इसी तरह 'बाँध' मूल धातु की 'बँधवा' उपधातु। प्रथम स्वर ह्रस्व

और 'व्' का आगम—'सुलाना-बँधवाना'। 'देता है' से 'दिलाता है'। 'बाँधता है–बँधवाता है'। एक स्वर वाली धातुओं में प्रायः 'ल्' का आगम हो जाता है—

१—पीता है—पिलाता है। २—सोता है—सुलाता है

३—देता है—दिलाता है। ४—सीता है—सिलाता है

५—जीता है—जिलाता है; मर 'लेता है' का 'लिवाता है' रूप होता है; 'दिलाता है' की तरह 'लिलाता है' नहीं। 'लिलाता' तो तुतलाहट सी जान पड़ती!

हिन्दी की कई 'बोलियों' में 'ल्' की जगह 'व्' होता है—'हमैं पानी का पियावत हौ'—हमें पानी क्या पिलाते हो! 'भगवान् सब का जिग्रावत हैं'—भगवान् सब को जिलाते हैं। 'कपड़ा सियाय देव'—कपड़ा सिला दो। 'जियत है' 'पियत है' 'सियत है' इन की मूल क्रियाएँ हैं।

'ल्' का आगम जहाँ होता है, प्रथम स्वर 'इ' या 'उ' होता है। 'छू' के रूप प्रेरणा में 'छुलाना' 'छुआना' ये दो देखे जाते हैं। यानी 'ल्' का आगम वैकल्पिक। 'खाना' का 'खिलाना' रूप होता है; यानी 'आ' को ('अ' की जगह) 'इ' ह्रस्व। परन्तु 'आता है' 'जाता है' आदि के रूप प्रेरणा में बनते ही नहीं हैं। इस का कारण है।

'भेजना' एक मूल क्रिया है; इस लिए 'जाना' का प्रेरणा रूप नहीं बनता। नौकर जाता है—मालिक उसे भेजता है। इसी तरह 'बुलाना' हिन्दी की मूल क्रिया है; इस लिए 'आता है' का प्रेरणा-रूप नहीं बनता। लड़का आता है—मा लड़के को बुलाती है। यह 'बुलाना' क्रिया 'बोलना' का प्रेरणा-रूप नहीं है। 'बोलना' और 'बुलाना' में कोई अर्थ-सामञ्जस्य नहीं। 'बोलना' का कभी-कभी 'बुलवाना' प्रेरणा-रूप अवश्य देखा जाता है—'बस, चुप हो जाओ, मुझे ज्यादा न बुलवाओ। सिर दुख रहा है।' 'बुलाना' मूल क्रिया का प्रेरणा-रूप 'बुलवाना' अलग चीज है—'जरा माधव को तो बुलवाओ। 'बोलना' का प्रेरणा-रूप प्रायः अकर्मक रहता है—'क्यों हमें अधिक बुलवाते हो!' 'अधिक' क्रिया-विशेषण है। परन्तु 'बुलाना' सकर्मक क्रिया का प्रेरणा-रूप द्विकर्मक होता है—'नौकर से तुम माधव को बुलवा लो'। 'नौकर' गौण कर्म, 'माधव' मुख्य कर्म।

सो, यदि कोई मूल धातु वैसा अर्थ देने वाली है, तो फिर प्रेरणा-रूप किसी धातु के क्यों बनें-चलें ?

सत्तार्थक 'होना' के या 'है' के भी प्रेरणा-रूप नहीं होते। सत्ता की प्रेरणा क्या ? जो है, सो है; जो नहीं है, उस का होना सम्भव नहीं ! 'नाऽसतो विद्यते भावः'—जो नहीं है, उस का होना सम्भव नहीं। प्रयोग जरूरी हो, तो 'बनाना' आदि मूल धातुओं से काम चल जाता है। संस्कृत में भी 'अस्' की प्रेरणा नहीं होती।

'तू धन खोता है, गँवाता है'। इस तरह की 'खो' जैसी धातुओं के भी प्रेरणा-रूप नहीं होते; क्योंकि किसी चीज का खोना उस की मानसिक स्थिति से संबन्ध रखता है। कोई चीज आप ने खो दी और सदा खो देते हैं। परन्तु मैं आप से 'खोवा' या 'खुआ' कैसे कह सकता हूँ ? किसी दूसरे से उस की चीज 'खोवाना' या 'खुआना' या 'खुलाना' सम्भव नहीं। तब ऐसे शब्द प्रयोग कैसे हो ?

इसी तरह 'पा' धातु की भी प्रेरणा नहीं होती; क्योंकि कोई कुछ पाता है—दूसरा उसे देता है। आप उसे कुछ दिला सकते हैं। परन्तु जब वह चीज पा रहा है, तो आप का 'पवाना' कैसा ? व्यर्थ की चीज ! इसी लिए 'पा' जैसी धातुओं के प्रेरणा-रूप नहीं होते !

'सकना' धातु की भी प्रेरणा नहीं होती। जो जिस काम को कर सकता है, कर ही सकता है। किसी में 'सकना' आप पैदा नहीं कर सकते। जो व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता, उस से आप कुछ कैसे करा सकें गे ? संस्कृत में भी 'शक्नोति' (शक्) की प्रेरणा नहीं होती। यदि शक्तता प्रेरक कर्ता में है, तो ऐसे प्रयोग हों गे—'अहमेतत् कारयितुं शक्नोमि'—मैं यह करा सकता हूँ'। यों 'कर' ('कृ') की प्रेरणा हुई, 'सक' (या 'शक्') की नहीं। मुझ में शक्ति है कि उस से यह काम करा लूँ। वह कर सकता है, मेरी प्रेरणा पर।

इसी तरह 'रुचना' आदि की प्रेरणा नहीं होती। जो चीज आप को अच्छी नहीं लगती, उसे कोई कैसे अच्छी लगा दे गा ? किसी के दबाव से आप कह भले ही दें कि 'हाँ अच्छी लग रही है तुम्हारी बनाई दाल !' परन्तु वस्तुतः वह अच्छी लगने लगी क्या ? कोई चीज स्वयं रुचती है; 'रुचाई' नहीं जा सकती।

ऊपर कहा गया है कि 'जाना'-'आना' जैसी क्रियाओं के प्रेरणा-रूप नहीं होते; क्यों कि भाषा में 'भेजना'-'बुलाना' जैसी क्रियाएँ विद्यमान हैं। परन्तु 'चलना' और 'पहुँचना' क्रियाएँ एक विशेष प्रकार की हैं और कभी-कभी इन के प्रेरणा-रूप भी सामने आते हैं। इस का कुछ विवेचन जरूरी है।

'चल' हिन्दी में अपने ढँग की एक ही धातु है। संस्कृत में भी 'चल्' है और वह भी गत्यर्थक है—'चलन्ति सर्वे' 'चलन्ति गिरयः'—सब चलते हैं। पहाड़ भी चलायमान हैं। 'गच्छति' का अर्थ है—'जाता है'। 'चल्' कुछ विशेष प्रकार की गति बतलाती है। कभी-कभी 'गच्छति' के अर्थ में भी 'चलति' का प्रयोग होता है। परन्तु हिन्दी की 'चल' में एक और ही विशेषता है। संस्कृत की 'चल्' यहाँ 'चल' (अकारान्त) हो गई है—शब्द-विकास इतना भर है। परन्तु अर्थ-विकास बहुत ज्यादा हुआ है। 'गच्छामः'-जाते हैं और 'चलामः' भी 'जाते हैं'। परन्तु हिन्दी में 'हम चलते हैं' कहने से मतलब यह कि 'तुम (भी) पीछे आ जाना'। 'हम जाते हैं' कहने से वह बात नहीं निकल सकती। 'कल चलें गे' और 'कल जाएँ गे' में बहुत अन्तर है। दूसरी क्रिया का कर्ता उत्तम पुरुष मात्र ('हम') है; जब कि पहली का कर्ता उत्तम पुरुष के साथ, अप्रत्यक्ष रूप में, मध्यम पुरुष भी है। 'कल चलें गे' कहने का मतलब यह कि 'हम तुम दोनो चलें गे'। 'हम जाएँ गे' में वह बात नहीं है। इसी लिए 'जाना' से 'चलना' किंचित् भिन्नार्थक है और इसी लिए इस की प्रेरणा होती है—'आज तो तुम ने हमें इतना चलाया कि नस-नस ढीली हो गई।' 'चलाया'—जबर्दस्ती चलाया! चलने को विवश कर दिया। मैं स्वतः चला; पर तुम्हारे कारण। 'तुम ने चलाया'। 'मा बच्चे को पैदल भी चलाती है'। यानी मा भी साथ चल रही है। चलने में मा साथ न हो, तो भी कभी-कभी—'तू ने आज मुझे बहुत पैदल चलाया' जैसे प्रयोग हो जाते हैं।

इसी तरह 'पहुँचना' क्रिया है। 'कमला घर गई' और 'कमला घर आई'। आप काशी में बैठे कोई निबन्ध लिख रहे हैं, तो लिख सकते हैं—'जब औरंगजेब काशी आया और विश्वनाथ का मन्दिर तुड़वाया, तो समस्त देश में क्षोभ व्याप्त हो गया।' परंन्तु काशी से बाहर दूर कहीं बैठ कर लिख रहे हैं, तो 'काशी आया' की जगह 'काशी पहुँचा' लिखना हो गा। यदि काशी से आप की कोई आत्मीयता नहीं है, तो 'काशी गया' भी लिख सकते

हैं। काशी में बैठ कर भी आप लिख सकते हैं—'जब औरंगजेब यहाँ पहुँचा' या 'आ पहुँचा'। 'गाड़ी पटना किस समय पहुँचाती है?' कहीं भी पूछ सकते हैं। पटना वाले कहें गे—'वह गाड़ी यहाँ किस समय आती है?' 'पहुँचती है' भी कह सकते हैं। परन्तु पटना से कहीं बाहर बैठे हुए आप 'पटना गाड़ी किस समय जाती है' नहीं बोलते; न 'आती है' यही कह सकते हैं। इसी लिए 'समय-सारणी' में 'पहुँच' और 'छूट' शब्द लिखे जाते हैं। सो, 'पहुँच' गत्यर्थक होने पर भी एक विशेषता रखती है और प्रेरणा में भी इस के प्रयोग होते हैं—'गाड़ी कल सबेरे कलकत्ते पहुँचाए गी; पहुँचा दे गी।'

'रहना' और 'रखना' पृथक्-पृथक् क्रियाएँ हैं। 'रखना' क्रिया के कारण ही 'रहना' के प्रेरणा-रूप नहीं होते। 'रख' और 'रह' में कुछ विकास-संबन्ध भी कदाचित् हो!

'खिलाना' रूप प्रेरणा में 'खेलना' ('खेल') का भी होता है और सकर्मक (खा) का भी और अकर्मक 'खिल' का भी। परन्तु प्रयोग से स्पष्टता आ जाती है; कहीं भ्रम नहीं होता। ऐसे बहुत कम शब्द-प्रयोग हिन्दी में हैं। 'दाई बच्चे को फल खिलाती है, खेल खिलाती है'। 'सूरज कमल खिलाता है' कम चलता है। 'विकसित करता है' चलता है। स्पष्टता के लिए कभी-कभी 'खेल' के 'ए' को पूर्ण ह्रस्व ('इ') न कर के अर्द्ध ह्रस्व कर के बोलते हैं—'बच्चों को खेला लाओ'। यानी 'ए' का ऐसा उच्चारण जैसा कि 'खेतिहर' या 'चेहरा' के 'ए' का है।

त्रिकर्मक क्रियाएँ

अभी तक कई जगह यही लिखा गया है कि प्रेरणा में कोई क्रिया अकर्मक नहीं रहती। मूल धातु की अकर्मक क्रिया यहाँ सकर्मक हो जाती है और सकर्मक बन जाती है द्विकर्मक। परन्तु प्रेरणा में 'त्रिकर्मक' क्रिया भी होती है। असली कर्म तो एक ही रहता है; द्विकर्मक में भी और त्रिकर्मक में भी। अधिक संख्या नकली या गौण कर्मों की।

बच्चा दूध पीता है

साधारण प्रयोग है—'पीना' सकर्मक क्रिया है। 'दूध' कर्म है।

मा बच्चे को दूध पिलाती है

प्रेरणा में असली कर्ता—जो दूध पी रहा है ('बच्चा')—कर्म कारक की तरह प्रयुक्त हुआ है; इस लिए द्विकर्मकता।

मा नौकर से बच्चे को दूध पिलवाती है

प्रेरणा की प्रेरणा—दो प्रेरणाएँ। बच्चा (असली कर्ता) तो गौण कर्म है ही; 'नौकर' भी एक गौण कर्म है। बच्चा दूध पीता है—नौकर बच्चे को दूध पिलाता है—मा नौकर से बच्चे को दूध पिलवाती है। 'मा' कर्ता (प्रेरक कर्ता) और इतर दोनो गौण कर्म। 'दूध' मुख्य कर्म है ही। इस तरह 'त्रिकर्मक' क्रिया हुई। यहाँ जिस 'प्रेरणा' का जिक्र है, वह साधारण क्रिया की विधि-आज्ञा आदि की प्रेरणा से भिन्न है। 'राम, पुस्तक पढ़ो' यह मूल क्रिया है। आज्ञा-रूप प्रेरणा है। 'राम, गोविन्द को पढ़ाओ' यहाँ प्रेरणात्मक 'पढ़ा' धातु की आज्ञा-रूप प्रेरणा है। इसी लिए इस 'प्रेरणा' का नाम 'अनेककर्तृक' अच्छा। अकर्तृक 'कपड़े सिल रहे हैं' और 'अनेककर्तृक'—'राम गोविन्द से कपड़े सिलवा रहा है।'

अकर्तृक क्रियाएँ

पीछे बताया गया कि क्रिया के असली कर्ता के अतिरिक्त कभी कोई 'प्रयोजक' भी आ कर कर्ता बन जाता है! जबर्दस्त का ठेंगा सिर पर! यह बाहरी तत्त्व तो आ कर कर्ता बन जाता है—कर्ता की ही तरह सब काम करता है और असली कर्ता 'कर्म' की तरह रहने लगता है! मकान का असली मालिक किरायेदार की तरह रहने लगता है—ठेके पर मकान उठा कर। दूसरे किरायेदार ठेकेदार से मालिक जैसा बर्ताव करते हैं—उसे ही मालिक समझने लगते हैं। मालिक यद्यपि 'मालिक' ही है; परन्तु उस का वैसा रूप नहीं रहता! यही स्थिति प्रेरणा में असली कर्ता की होती है। इसी लिए उन क्रियाओं को हम ने 'द्विकर्तृक' नाम दिया है। द्विकर्तृक क्रियाओं में जहाँ एक नया कर्ता बढ़ा, वहाँ रूप में भी विकास-विस्तार हुआ—'पढ़' से 'पढ़ा' धातु (या 'उपधातु') बन गई। यह प्रकरण उस से एक-दम विपरीत है। यहाँ असली कर्ता भी दिखाई नहीं देता! कोई भी क्रिया कर्ता के बिना सम्भव नहीं। कर्ता तो किसी क्रिया का होता ही है। मुतलब केवल प्रयोग-अप्रयोग से है। जब कर्ता का प्रयोग वाक्य में नहीं होता, तो 'अकर्तृक क्रिया' का क्षेत्र समझा जाता है। परन्तु क्रिया-पद की गति कैसे हो? इस के लिए क्रिया तब कर्म, करण, अपादान तथा अधिकरण आदि

कारकों की ओर देखती है। इन्हीं में से किसी के पीछे हो लेती है। सकर्मक क्रियाओं के जब अकर्तृक प्रयोग होते हैं, तब कर्म का प्रयोग कर्ता की तरह होता है; तो भी वह है तो 'कर्म' ही! इसी लिए हम इसे 'अकर्तृक प्रयोग' कहते हैं। प्रेरणा में असली कर्ता कर्म के रूप में आ जाता है, तो भी वह है कर्ता ही। इसी लिए वैसी क्रियाओं को हम ने 'द्विकर्तृक' कहा है। यहाँ 'कर्म' का प्रयोग कर्ता की तरह होने पर भी वह (कर्म) वास्तविक कर्ता नहीं बन जाता। कर्म ही है। इसी लिए इन क्रियाओं को हम 'अकर्तृक' कहते हैं। ऐसी क्रियाओं को 'कर्मकर्तृक' भी कहते हैं, क्योंकि 'कर्म' ही कर्ता के रूप में आ जाता है। परन्तु कर्म ही नहीं, करण आदि अन्य कारकों का भी कर्ता की तरह प्रयोग होता है; इस लिए 'कर्मकर्तृक' का मतलब 'कर्मादि-कर्तृक' समझना चाहिए। किसी ने कहा—

'आज तो खूब कपड़े सिल रहे हैं'

तो, कर्ता का प्रयोग नहीं हुआ। कपड़े कौन सी रहा है—सीने वाला ('कर्ता') कौन है; नहीं बतलाया गया। कर्ता की विवक्षा नहीं। ऐसे प्रयोग भाषा में होते हैं। परन्तु सीने का काम अपने आप तो हो नहीं सकता! 'स्वतंत्रः कर्ता'। क्या कपड़े स्वयं सिल सकते हैं? असम्भव है। कोई सीनेवाला चाहिए। वही कर्ता। कपड़े तो कर्म हैं— सिए जाते हैं। सो, 'कपड़े सिल रहे हैं' अकर्तृक प्रयोग; या 'कर्म-कर्तृक' प्रयोग। 'कर्म' कर्ता की तरह दिखाई देता है—कपड़ा सिल रहा है, टोपी सिल रही है और कपड़े सिल रहे हैं। नकली कर्ता के अनुसार क्रिया के लिङ्ग-वचन आदि हैं। 'कर्मवाच्य' क्रिया में भी क्रिया के लिङ्ग-वचन आदि कर्म के अनुसार होते हैं-'सीता ने ग्रन्थ पढ़ा' और राम ने विद्या पढ़ी'। परन्तु 'कपड़े सिल रहे हैं' कर्मवाच्य नहीं, 'कर्मकर्तृक' प्रयोग है। कर्म का कर्ता की तरह प्रयोग है— असली कर्ता दिखाई ही नहीं देता। 'कर्मवाच्य' क्रिया में कर्ता विद्यमान रहता है; परन्तु क्रिया की गति कर्म के अनुसार होती है। 'करणवाच्य' कोई क्रिया नहीं हो सकती; परन्तु अकर्तृक क्रियाएँ 'करणकर्तृक' होती हैं। कर्ता की अविवक्षा में—'करण' की विशेषता प्रकट करने के लिए—('करण' का) कर्ता की तरह प्रयोग होता है—

१—तलवार शत्रुओं के सिर काट रही है
२—बाण ने रावण को छेद दिया
३—मेरी कलम ने बहुत काम किया है

यहाँ तलवार, बाण तथा कलम कर्ता की तरह आए हैं; परन्तु हैं फिर भी ये करण ही। तलवार अपने आप (स्वतंत्र रूप से) किसी का सिर नहीं काट सकती; बाण स्वयं किसी को छेद नहीं सकता और कलम खुद कुछ भी कर नहीं सकती; जब तक इन से काम लेने वाला कोई न हो। परन्तु इन साधनों में विशेषता बतलाने के लिए, या अन्य कारणों से, जब कर्ता का प्रत्यक्ष उपादान वाक्य में नहीं होता, तो इन साधनों को (करण कारकों को) कर्ता की तरह प्रयुक्त करते हैं। ये ही क्रियाएँ 'करण-कर्तृक' हैं। यदि वाक्य में कर्ता उपात्त हो, तब कभी भी क्रिया करण कारक का अनुगमन न करे गी। 'राम ने राक्षस मारा' 'देवी ने राक्षस मारा'। क्रिया (कर्ता की उपस्थिति में भी) कर्म के अनुसार है—कर्मवाच्य क्रिया है। परन्तु 'देवी ने तलवार से राक्षस मारा' को कभी भी 'तलवार' के अनुसार 'मारी' नहीं कर सकते; पर कर्म के अनुसार—'शिकारी ने बाण से चिड़िया मारी' हो गा। सो, क्रियाओं का यह 'अकर्तृक' प्रयोग 'कर्मवाच्य' तथा 'भाववाच्य' से भिन्न विषय है।

'करण' तो वस्तुतः हाथ-पावँ आदि हैं। 'तलवार' आदि 'उपकरण' हैं। पर इन उपकरणों को भी 'करण' नाम मिल गया है। उपकरण का प्रयोग होने पर असली करण (हाथ-पावँ आदि) का प्रयोग नहीं होता, अनावश्यक समझ कर। 'हेतु' का कर्ता की तरह प्रयोग नहीं होता। 'वर्षा से अन्न होता है' 'गरमी से फल पकते हैं' आदि में 'वर्षा' 'गरमी' हेतु हैं। प्रेरणा-प्रयोग हो सकता है—'गरमी फलों को पकाती है।'

अकर्तृक प्रयोग में भी 'उपधातु' लगती है; अर्थात् मूल धातु में कुछ विशेषता पैदा हो जाती है। धातु के आद्य अंश में प्रायः वही कुछ परिवर्तन होता है, जो कि 'द्विकर्तृक' क्रिया ('प्रेरणा') में। परन्तु अन्त्य अंश में भिन्नता रहती है। प्रेरणा में अन्त्य स्वर दीर्घ हो जाता है, यानी अन्त में 'आ' लग जाता है; जब कि अकर्तृक क्रिया का अन्त्य तदवस्थ रहता है—स्वर-दीर्घता यानी 'आ' प्रत्यय का अभाव रहता है। इसी लिए हम इसे मूल 'धातु' का संकुचित रूप कहते हैं। दूसरी तरह से भी उभयत्र विकास-संकोच है। 'प्रेरणा' में एक की जगह दो या तीन कर्ता हो जाते हैं—एक असली और अन्य प्रेरक या 'प्रयोजक'। परन्तु यहाँ असली कर्ता भी दिखाई नहीं देता !

नीचे कुछ सकर्मक क्रियाओं के त्रिधा रूप देखिए—

१—यहाँ धोबी कपड़े धोता है—साधारण या मूल क्रिया

२—यहाँ मैं धोबी से कपड़े धुलवाता हूँ (प्रेरणा)

३—यहाँ कपड़े धुलते हैं—(अकर्तृक यानी 'कर्मकर्तृक')

एक तालिका लीजिए अकर्तृक क्रियाओं की—

मूल क्रिया	अकर्तृक प्रयोग	प्रेरणा-प्रयोग
काटना	कटना	कटाना—कटवाना
दाबना	दबना	दबाना—दबवाना
बाँधना	बँधना	बँधाना—बँधवाना
देखना	दिखना	दिखाना–दिखलाना
छेदना	छिदना	छिदाना–छिदवाना

'पेड़ दिख रहा है' को 'पेड़ दीख रहा है' भी लिखते-बोलते हैं; परन्तु 'दिखता' रूप ही व्याकरण-सम्मत है। 'ए' को सदा 'इ' ह्रस्व होता है—खिलना, छिदना आदि। 'दिखाई दे रहा है' को कोई भी 'दीखाई' दे रहा है' नहीं बोलता-लिखता। दोनो जगह नियम एक ही है।

'कटना' 'बँधना' अकर्तृक प्रयोग हैं। करनेवाला तथा बाँधनेवाला लुप्त है। परन्तु—

निकलना, सँभलना, बिगड़ना

जैसी क्रियाएँ अकर्तृक नहीं हैं। ये मूल क्रियाएँ हैं—

१—मैं घर से निकलता हूँ

२—वह अवसर पर खूब सँभलता है

३—मालिक नौकर पर बिगड़ता है

यहाँ 'मैं' 'वह' तथा 'मालिक' कर्ता हैं निकलने के, सँभलने के और बिगड़ने के। ये मूलतः अकर्मक क्रियाएँ हैं। इन की प्रेरणा में निकालना-सँभालना रूप हों गे। आप किसी को निकाल सकते हैं, किसी को सँभाल सकते हैं। परन्तु किसी को किसी पर 'बिगड़वा नहीं सकते! जब तक अपना

क्रोध न भड़के, कोई बिगड़े गा नहीं। हाँ, उस का क्रोध आप भड़का सकते हैं। सो, बिगड़ने की प्रेरणा न हो गी। 'बिगाड़ना' पृथक् क्रिया है—विरूपता लाना। 'इस ने चित्र बिगाड़ दिया'। 'इस ने राम से बिगाड़ लिया' या 'बिगाढ़ कर लिया'—अर्थात् राम से खटपट कर ली। 'बिगड़' तथा 'बिगाड़' एक ही मूल की 'विकास'-रूप दो शाखाएँ हैं। 'फोड़ा दब गया' में 'दबना' अकर्मक कर्तृवाच्य है। 'दवा से फोड़ा दब गया' में 'दवा' हेतु है। 'मैं फोड़े को दबाता हूँ' में 'दब' का प्रेरणा-रूप है। 'मैं राम से दबता हूँ' में 'दबने' का लाक्षणिक प्रयोग है, कर्मवाच्य। 'राम मुझे दबाता है' में उसी 'दब' का प्रेरणा-रूप है और कर्तृवाच्य है। यानी 'दबाना' प्रेरणा का 'दबना' (लाक्षणिक) कर्मवाच्य प्रयोग। 'उठना' साधारण क्रिया है—'राम उठता है'। 'आँखों का उठना' लाक्षणिक प्रयोग। 'राम बच्चे को गोद उठाता है' में 'उठाता' प्रेरणा-रूप है। 'माल उठ गया' में 'उठ' कर्म-कर्तृक रूप है, 'उठाने' का। कोई उठाने वाला चाहिए, माल स्वयं नहीं उठ सकता। यानी मूल धातु 'उठ'; उस की प्रेरणा 'उठा'—'राम माल उठाता है'। इस प्रेरणा का कर्मकर्तृक रूप—'माल उठता है'। 'राम सबेरे उठता है' में 'उठता' मूल धातु 'उठ' का रूप है और 'माल उठता है' में 'उठ' कर्मकर्तृक रूप है—'उठाने' का। यानी 'उठाना' प्रेरणा का कर्म-कर्तृक रूप 'उठना' है, जब कि 'माल उठता है'। निष्कर्ष यह निकला कि मूल धातु का प्रेरणा-रूप दीर्घान्त हो जाता है—बच्चा उठता है—मा बच्चे को गोद उठाती है। इस प्रेरणा का कर्मकर्तृक प्रयोग करें गे, तो अन्त्य 'आ' ह्रस्व हो जाए गा—'माल उठता है'। यानी मूल धातु 'उठ' और उस की प्रेरणा-धातु 'उठा' सकर्मक। 'राम बच्चे को उठाता है गोद में'। 'बच्चा उठता है' मूल रूप। परन्तु 'माल उठता है' कर्मकर्तृक प्रयोग है—'उठाने' का।

ये इस तरह की बातें ध्यान देने से आ जाती हैं; पर साधारणतः इधर ध्यान जाता नहीं है। भाषा-प्रयोग के लिए ऐसी जानकारी जरूरी भी नहीं है; पर विशेष जानकारी अलग चीज है। 'दबना' की प्रेरणा 'दबाना' है; पर 'दाबना' एक सकर्मक धातु पृथक् भी है। अकर्मक 'दब' तथा सकर्मक 'दाब' ये दो पृथक् धातु मानने में कोई हर्ज नहीं।

संयुक्त क्रिया के भी कर्मकर्तृक प्रयोग होते हैं—

चिट्ठी भेजी गई

लड़का बुलाया जाए गा

नौकर वहाँ भेजा जाए गा

मुलजिम अदालत में पेश किया जाए गा

ये सब कर्मकर्तृक क्रियाएँ हैं। कई कर्मकर्तृक क्रियाओं के भाववाच्य भी प्रयोग होते हैं—

नौकरों को पहले भेजा जाए गा

मुलजिमों को पहले पेश किया जाए गा

कर्मकर्तृक ('कर्तृवाच्य') यों:—

नौकर पहले भेज दिए जाएँ गे।

मुलजिम पहले पेश किए जाएँ गे।

• 'भेज दिए जाएँ गे' में ध्वनि है कि कोई भेजने वाला है। इसी तरह 'पेश करनेवाला' भी कोई है। पर, इस से क्या? वह (कर्ता—'भेजनेवाला'—'पेश करनेवाला') शब्दशः उपात्त तो नहीं है न!

मैं ने नौकर पहले भेज दिए

उन्हों ने चिट्ठी पहले भेज दी

ये साधारण क्रिया के 'कर्मवाच्य' प्रयोग हैं। कर्ता विद्यमान हैं; पर क्रियाएँ कर्म के अनुसार हैं। अकर्तृक क्रियाओं के (यानी 'कर्मकर्तृक' रूपों के) साथ कर्ता होता ही नहीं। इसी लिए 'अकर्तृक'। कर्म के अनुसार क्रिया के रूप 'कर्मवाच्य' में भी होते हैं; परन्तु 'कर्म' कर्ता के रूप में प्रयुक्त नहीं होता। कर्ता की उपस्थिति में कर्म को कौन कर्ता का खिताब दे दे गा! 'राम ने रोटी खाई' 'भाई से रोटी नहीं खाई जाती' में कर्मवाच्य क्रियाएँ हैं; पर कर्ता हैं 'राम' तथा 'भाई'।

'कर्म-कर्तृक' की तरह 'करणकर्तृक' क्रियाएँ भी होती हैं—जब कि कर्ता अनुपस्थित हो। करण में विशेषता प्रकट करने के लिए ऐसे गौण प्रयोग होते हैं—

१—कलम ने कमाल कर दिखाया

२—शिवा जी की तलवार ने शत्रुओं के सिर उड़ा दिए

'कलम' जड़ पदार्थ है। 'तलवार' भी ऐसी ही चीज है। कर्ता है कोई लेखक तथा 'शिवा जी'। वाक्य में 'शिवा जी' की उपस्थिति 'कर्ता'–रूप से नहीं है—संबन्ध मात्र प्रकट करने के लिए है। कर्ता का स्थान 'करण' ने ले लिया है, तब कर्म 'कमाल' और 'सिर' अपनी जगह अपने ('कर्म' के) ही रूप में हैं। इसी लिए इस प्रकरण का नाम 'कर्मकर्तृक' न रख कर 'अकर्तृक' या 'कर्मादिकर्तृक' हम ने रखा है।

करण की ही तरह कारण तथा हेतु (ज्ञापक कारण) आदि का भी कर्ता की तरह प्रयोग होता है—

१—इस घटना ने एक नया प्रश्न पैदा कर दिया है

२—धुआँ आग बतला रहा है

घटना के कारण प्रश्न पैदा हो गया है; परन्तु इस 'कारण' का कर्ता की तरह प्रयोग है। धुएँ से आग मालूम देती है। धुआँ ज्ञापक कारण है। परन्तु उस का प्रयोग कर्ता की तरह है। 'बतलाना' क्रिया का कर्ता कोई जड़ पदार्थ नहीं हो सकता। गौण प्रयोग है।

कभी-कभी प्रेरणा का भी अकर्तृक प्रयोग होता है। 'शिवा जी तलवार चलाते थे, तो हाहाकार मच जाता था'। साधारण प्रेरणा–प्रयोग है। इस का अकर्तृक रूप—

'शिवा जी की तलवार चलती थी, तो हाहाकार मच जाता था'

कर्म (तलवार) का कर्ता की तरह प्रयोग है। तलवार अपने आप नहीं चल सकती। 'लड़का चलता है' ठीक। 'पावों से' करण। 'हवा चलता है' ठीक। सूर्य–चन्द्र भी चलते हैं। परन्तु तलवार स्वतः नहीं चलती है। 'तेरा मुहँ चलता है, तो बन्द नहीं होता' अकर्तृक प्रयोग है। मुहँ चलाने से चलता है और बन्द करने से बन्द होता है। परन्तु कर्ता का निर्देश (कर्ता के रूप में) नहीं है—संबन्ध–मात्र में है—'तेरा'। इस लिए कर्म–कर्तृक प्रयोग। अपादान का भी प्रयोग कर्ता की तरह होता है—

१—उस का फोड़ा बह रहा है

२—आज कल कुआ चल रहा है

फोड़े से मवाद बहता है, जो शब्दशः उपात्त नहीं है—लुप्त है। उस की जगह अपादान 'फोड़ा' ही 'बहने' का कर्ता बना दिया गया है। ऐसा बोलने की रूढ़ि है। इसी तरह कुए से पानी चल–निकल रहा है। परन्तु उस की अनुपस्थिति में अपादान 'कुआ' ही कर्ता की तरह प्रयुक्त–'कुआ चल रहा है।' 'नई दिल्ली ने युद्ध की विभीषिका टाल दी।'। मतलब है नई दिल्ली (राजधानी) के नेताओं से। यहाँ सकर्मक क्रिया अधिकरणकर्तृक है। अधिकरणकर्तृक अन्य क्रियाएँ भी इसी तरह होती हैं—

रास्ता चल रहा है—बटलोही सेर भर पकाती है।

रास्ते में लोग चल रहे हैं। परन्तु अधिकरण को ही कर्ता की तरह बोल देते हैं—'रास्ता चल रहा है'। इस बटलोही में सेर भर पकाया जा सकता है। 'बटलोही पकाती है' अधिकरण–कर्तृक प्रयोग।

ये सब विभिन्न कारकों के लाक्षणिक प्रयोग हैं। दिग्दर्शन के लिए इतना पर्याप्त है।

क्रियाओं के अर्थ भी लाक्षणिक—(लक्षणा-प्राप्त) होते हैं। अर्थात् मुख्य अर्थ छोड़ कर किसी लक्ष्य अर्थ में क्रियाओं के प्रयोग होते हैं। उड्डयन–'उड़ना'—पंखों के सहारे ऊपर चलना। 'तोते पेड़ से उड़ गए'। परन्तु 'उड़ने' का यह अर्थ उड़ा कर कहीं कोई दूसरा ही अर्थ लक्षित होता है—

१—चोर माल ले कर उड़ गया

२—तुम ने तो ऐसा मजमून उड़ाया कि क्या कहा जाए!

३—दोस्त, हम से भी उड़ते हो!

४—यह सुन उस के होश उड़ गए!

ऐसे प्रयोगों की व्याख्या करना और समझाना व्याकरण का विषय नहीं है। यह सब साहित्यशास्त्र में समझाया जाता है कि लक्षणा क्या है, कब होती है, क्यों होती है; इत्यादि। जहाँ तक कारकों के लाक्षणिक प्रयोग की बात है, व्याकरण का विषय कहा जा सकता है। अकर्तृक प्रयोग सब लाक्षणिक ही समझिए।

———

तृतीय अध्याय

संयुक्त क्रियाएँ

संयुक्त क्रियाएँ प्रायः सभी भाषाओं में होती हैं; परन्तु हिन्दी में इन की संख्या बहुत अधिक है। सम्पूर्ण भाषा संयुक्त क्रियाओं से परिपूर्ण है। साधारण 'जाता है' 'गया है' 'गया था' आदि क्रियाएँ तो साधारणतः संयुक्त हैं ही; विशेष अर्थ प्रकट करने के लिए भी क्रियाएँ अन्य क्रियाओं का सहयोग बहुत अधिक लेती हैं। ऐसा सहयोग लेना अनिवार्य है! इस अध्याय में ऐसी ही विशिष्ट संयुक्त-क्रियाओं का उल्लेख हो गा।

संयुक्त क्रियाएँ दो रूपों में देखी जाती हैं—'संश्लिष्ट' और 'विश्लिष्ट'। हिन्दी में विश्लिष्ट ही प्रायः सब क्रियाएँ हैं; एकाध संश्लिष्ट। संस्कृत में 'गन्तुम् इच्छति'—जाना चाहता है; यों विश्लिष्ट संयुक्त-क्रियाएँ खूब चलती हैं और 'जिगमिषति' जैसी संश्लिष्ट भी कम नहीं हैं। 'गम्' क्रिया 'इष्' सहायक क्रिया से एकदम सट गई है और फिर अपने रूप में कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन भी कर लिया है। 'जिगमिषति' आदि में 'इष्' 'धातु' स्पष्टतः दिखाई देती है, जिसे आगे चल कर प्रत्यय मान लिया गया। हिन्दी में 'करना चाहता है' 'जाना चाहता है' जैसे विश्लिष्ट ही प्रयोग होते हैं। केवल 'लेना' ('ले') तथा 'आना' ('आ') क्रियाएँ संश्लिष्ट हो कर 'लाना' रूप में प्रकट हो गई हैं और ऐसी संश्लिष्ट हुई कि सन् १९४४ तक किसी को कुछ पता ही न चला कि यह संयुक्त-क्रिया है! सन् १९४३ में 'ब्रजभाषा का व्याकरण' प्रकाशित हुआ। उस में प्रथम बार हिन्दी के 'वाच्य' स्पष्ट हुए। वहाँ नियम बना कर लिखा गया कि (गत्यर्थक धातुओं को छोड़, शेष सभी) सकर्मक धातुओं के साधारण प्रयोग भूतकाल में कर्मवाच्य या भाववाच्य होते हैं। परन्तु 'लाना' क्रिया अपवाद में आई। यह भूत काल में भी कर्तृवाच्य रहती है—'राम खीर लाया' 'लड़की फल लाई'। वाच्य तो बहुत स्पष्ट हो गए; पर मन में एक उलझन बनी रही! यह 'लाना' क्रिया उस व्यापक नियम के अपवाद में कैसे आई! हिन्दी जैसी वैज्ञानिक भाषा में अकारण कोई चीज हो

नहीं सकती। कई वर्ष उलझन में बीते और फिर 'राम खीर ले आया' 'सीता दूध ले आई' जैसे संयुक्त-क्रिया के रूपों पर ध्यान गया। संयुक्त क्रिया में अन्तिम क्रिया के अनुसार 'वाच्य' होते हैं। 'आना' गत्यर्थक क्रिया है। सो,—'राम रोटी ले आया' ठीक। साधारणतः 'राम ने रोटी ली'। 'लाना' क्रिया का कर्ता भूतकाल में 'ने' विभक्ति के बिना ही आता है—'राम रोटी लाया'। इन सब लक्षणों से स्पष्ट हो गया कि 'लाना' हिन्दी की संयुक्त-क्रिया है। यह बात समझ में आते ही ऐसी प्रसन्नता हुई, जैसी न्यूटन को पृथ्वी में आकर्षण शक्ति जान कर हुई हो गी। अब तो यह साधारण चीज है। बच्चे भी जानते हैं।

सो, 'लाना' क्रिया संश्लिष्ट है। सम्भव है, एकाध और भी हो; ध्यान जाने की बात है। परन्तु विश्लिष्ट क्रियाएँ ही अधिक हैं और उन्हीं का उल्लेख यहाँ किया जाए गा। 'किया जाए गा' में 'जाना' सहायक क्रिया है। 'करना' मुख्य क्रिया है। सहायक क्रिया ने यहाँ अपना 'अर्थ' एकदम छोड़ दिया है। 'ले आए गा' में 'आना' क्रिया ने स्वार्थ नहीं छोड़ा है; फिर भी सन्धि हो कर वह एकात्मकता! 'किया जाए गा' में 'जाए गा' ने स्वार्थ छोड़ दिया है; फिर भी सन्धि–संश्लेष नहीं! 'ले आए गा' का 'लाए गा' रूप हो गया; पर 'कर आए गा' या 'देख आए गा' आदि में सन्धि-संश्लेष नहीं। एक जगह रूस और चीन जैसा सहयोग है—स्वार्थ छोड़े बिना एकात्मकता और दूसरी जगह ऐसा साहचर्य है, जैसा पिछले डेढ़ सौ वर्षों तक अंग्रेज का हिन्दुस्तानी से रहा। हिन्दुस्तानी ने असली स्वार्थ छोड़ दिया था—स्वार्थ भूल ही गया था! और एकनिष्ठ हो कर अंग्रेज के साथ रहा! परन्तु फिर भी दोनो पृथक् रहे! वैसा सन्धि-संश्लेष नहीं! दिखावे में अंग्रेज ने हिन्दुस्तानी को जरूर आगे किया; जैसे कि 'किया जाए गा' 'किए जाएँ गे' आदि में वाच्य-प्रदर्शन सहायक 'जा' क्रिया में होता है। मतलब यह कि संयुक्त क्रियाओं में सहायक क्रिया कभी स्वार्थ एकदम छोड़ देती है और कभी बनाए भी रखती है। नीचे कुछ उदाहरणों में सब स्पष्ट हो जाए गा।

'जा' सहायक क्रिया

'जा' धातु प्रायः सभी धातुओं में सहायक रूप से लगती है और काल-प्रत्यय तथा वाच्य आदि इसी के द्वारा व्यक्त होते हैं; परन्तु मुख्य क्रिया में भी वह सब प्रायः उसी तरह होता है:—

१—मैं साथ-साथ उदाहरण भी देता जाता हूँ

२—सीता जी मार्ग में राम से कुछ पूछती जाती थीं

३—हम साथ-साथ वेद भी पढ़ते जाते हैं

'चलना' भी इसी तरह—

१—मैं साथ-साथ उदाहरण भी देता चलता हूँ

२—हम साथ-साथ वेद भी पढ़ते चलते हैं

'सीता पूछती चलती थीं' न हो गा। यदि लक्ष्मण के मुहँ से यह बात कहलाई जाए, संस्मरण-कथा के रूप में, तो जरूर ठीक हो गा—'सीता मार्ग में राम से कुछ पूछती चलती थीं'। 'चलना' क्रिया में लक्ष्मण भी साथ हैं। भूत काल में—

१—मैं साथ साथ उदाहरण भी देता गया हूँ

२—हम साथ-साथ वेद भी पढ़ते गए थे

'जाना' क्रिया गत्यर्थक है; इस लिए भूतकाल में (सकर्मक होने पर भी) कर्तृवाच्य प्रयोग—'मैं देता गया हूँ' और 'हम पढ़ते गए थे'। यदि 'जाना' क्रिया अलग कर लें, तो फिर ये सकर्मक क्रियाएँ (भूतकाल में) कर्मवाच्य हो जाएँ गी—

१—मैं ने साथ-साथ उदाहरण भी दिए हैं

२—राम ने साथ-साथ वेद भी पढ़े हैं

दोनो तरह के प्रयोगों में अर्थ-भेद तो है ही।

यदि क्रिया में कर्ता की स्वाभाविक प्रवृत्ति, रुचि या आदत प्रकट करनी हो, तो फिर—

'कर' सहायक क्रिया

काम में लाई जाती है। मुख्य धातु का रूप ऐसी स्थिति में भावात्मक रहता है। 'य'-प्रत्यय भाववाच्य मुख्य धातु में लगता है। अन्य सब कुछ सहायक क्रिया 'कर' से प्रकट होता है। 'य' प्रत्यय भाववाच्य होने के कारण सभी तरह के (कर्ता-कर्म) कारकों में और सभी कालों में समान रूप से अन्वित हो जाता है—

१– रामकृष्ण पाठशाला जाया करता है
२—उषारानी ,, जाया करती है
३—लड़के वे ,, जाया करते हैं
४—मैं भी तो ,, जाया करता हूँ

सर्वत्र 'वाच्य' तथा 'वचन'—'पुरुष' सहायक क्रिया ('कर') के द्वारा प्रकट हैं। 'पूर्ण भूत काल' प्रकट करने के लिए केवल 'थ' का प्रयोग होता है। 'मैंने काम किया था' में 'कर' का 'किया' है और आगे 'थ'। परन्तु सहायक अवस्था में साधारण 'त' प्रत्यय का प्रयोग होता है—क्रिया का जारी रहना जिस से प्रतीत हो—

१—उषा पाठशाला जाया करती थी
२—हम कार्यालय जाया करते थे

'जाया की थी' या 'जाया किए थे' प्रयोग न हों गे। 'कर' अपने रूप के साथ भी सहायक बन कर आती है और तब अवश्यः—

१—सावित्री काम किया करती थी
२—हम तब पाठ किया करते थे

यों 'किया' रूप मुख्य अंश में होता है। परन्तु यहाँ यह 'किया' भूतकालिक 'य' प्रत्यय से नहीं है, वही भाववाच्य 'य' प्रत्यय है, जो सदा एकरस रहता है और इसी लिए वह वर्तमान, भूत, भविष्यत् तथा विधि आदि के रूपों में अबाध अन्वित हो जाता है—

१—हम सदा पाठ किया करते हैं
२—तुम तब काम किया करते थे
३—वह भी काम किया करे गा
४—सीता भी कुछ किया करे गी

सर्वत्र 'किया' एकरस है। 'किया' में 'य' भूतकालिक प्रत्यय नहीं है; इसी लिए 'जाया करता है' रूप होता है। यदि भूतकालिक प्रत्यय होता, तो 'गया करता है' रूप होता। परन्तु उस भूत का वर्तमान से अन्वय कैसे होता? इस बात को न समझ कर ही व्याकरणकारों ने 'किया करता था' आदि के 'किया' को भूतकालिक प्रयोग समझ कर वैसा ही लिख भी दिया है! 'करता था' को 'किया था' इस लिए नहीं होता कि सहायक-अवस्था में यहाँ

'कर' से 'त' प्रत्यय 'कर्तृवाच्य' है; कभी भी कर्मवाच्य या भाववाच्य न हो गा। भूतकाल का 'य' कर धातु से कर्मणि या भावे होता है।

संस्कृत में 'य' (यङ्)प्रत्यय से जो बात प्रकट की जाती है, वही हिन्दी अपने इस भाववाच्य 'य' प्रत्यय को मुख्य क्रिया में लगा कर प्रकट करती है—क्रिया का सातत्य या आधिक्य। सातत्य ही अधिक प्रकट होता है—क्रिया का जारी रहना। आधिक्य प्रकट करने के लिए तो बीच में 'ही' अव्यय लाना पड़े गा—

१—सीता आजकल पाठ ही किया करती है
२—तुम दिन भर बातें ही किया करते हो

यानी कर्म के पहले 'ही' लगने से मतलब निकल जाता है। अन्य काम करने का व्यवच्छेद। परन्तु अकर्मक क्रियाओं में—

१—तुम तो सोया ही करते हो
२—हम आया ही जाया करते हैं

'आना'–'जाना' गत्यर्थक सकर्मक क्रियाएँ हैं; परन्तु यहाँ अकर्मक प्रयोग है। 'ही' बीच में आ गया है। 'हम आया–जाया ही करते हैं' ऐसा भी बोलते हैं। सकर्मक 'पढ़' का अकर्मक प्रयोग 'तुम पढ़ते ही रहते हो!'

यदि क्रिया में अनेक स्वर हों और वह ह्रस्व अकारान्त हो, तो भाववाच्य 'य' प्रत्यय का लोप हो जाता है और अवशिष्ट क्रिया–रूप भाववाच्य ही रहता है—

१—उषा वेद पढ़ा करती है
२—मैं लेख लिखा करता हूँ
३—वे कहानी कहा करते थे
४—तुम कपड़े बुना करो
५—लड़के खेल खेला करें गे।

यदि क्रिया आकारान्त हो, तो 'य' सामने रहता है, लुप्त नहीं होता—

१—उषा वेद पढ़ाया करती है
२—मैं लड़के से लेख लिखाया करता हूँ

३—तुम बुनकरों से कपड़े बुनाया करो

कभी-कभी दो या तीन सहायक क्रियाएँ भी आ जाती हैं और तब मुख्य क्रिया प्रकृत ('धातु') रूप में रहती है। बीच की (सहायक क्रिया) में सातत्यबोधक 'य' प्रत्यय लगता है—

१—उषा वेद भी पढ़ लिया करती है
२—मैं कभी-कभी फल भी खा लिया करता हूँ
३—तुम भी कभी कभी फल खा लिया करो

प्रेरणा के रूपों में उपधातु भी उसी तरह—

१—तुम राम से चिट्ठी लिखा लिया करो
(लिखवा लिया करो)
२—हमें भी कुछ पढ़ा दिया करो

यों 'लेना-देना' सहायक क्रियाएँ स्वार्थ छोड़ कर आती हैं और क्रिया के सातत्य को उड़ा देती हैं। 'लिया करता है' और 'ले लिया करता है' में बहुत अन्तर है। 'लिया करता है' में सातत्य है और 'ले लिया करता है' का मतलब यह कि कभी-कभी ले लेता है!

'लेना'-'देना' सहायक क्रियाएँ

साधारणतः अपने लिए क्रिया हो, तो 'लेना' और दूसरे के लिए हो, तो 'देना' सहायक क्रिया के रूप में आती है—'मैं ने चिट्ठी लिख ली'। मतलब यह कि अपनी चिट्ठी। और 'मैं ने चिट्ठी लिख दी' यानी दूसरे की। इसी तरह—

काम कर लिया—काम कर दिया
गौ दूह ली—गौ दुह दी
तुम ने रोटी बना ली—तुम ने रोटी बना दी

परन्तु 'तुम ने रोटी खा दी' कभी भी न हो गा। 'तुम ने साग ले लिया' और 'तुम ने साग ले दिया'। 'ले लिया' अपने लिए और 'ले दिया' दूसरे के लिए। 'स्वार्थ'-विघात में भी 'देना' का प्रयोग होता है—'मैं ने वह घोड़ा बेच दिया'। घोड़े में कुछ कसर थी, या फिर बिका वह यों ही! पूर्ण स्वार्थसिद्धि में—'एक हजार की तो उस ने कपास बेच ली और इतने ही की ज्वार भी बेच ली थी।'

जब काल-निरपेक्ष कर्तृवाच्य 'त' प्रत्यय 'ले'-'दे' धातुओं से होता है, तो सदा अपने ही रूप में रहता है। वचन-भेद या पुंस्त्री-भेद तो 'कर' सहायक क्रिया की तरह होता ही है। इन धातुओं से यह 'त' प्रत्यय कर्ता की उपेक्षा-वृत्ति, बेबसी, या बेगार की सी बात सूचित करता है—

१—वेद भी कभी पढ़ लेता हूँ

२—जिद करने पर कुछ दे भी देता हूँ

३—कभी-कभी उस की चिट्ठी पढ़ देता हूँ

४—काशी में कभी सन्ध्या भी कर लेता था

५—कभी गरीबों को भी कुछ दे देता था

'लेता था' और 'देता था' को 'लिया था'-'दिया था' न हो गा; क्योंकि 'त' प्रत्यय काल-निरपेक्ष है। 'थ' से भूतकाल प्रकट है। 'पढ़ लेता था'—कभी-कभी। पढ़ने का जारी रहना प्रकट है। 'वेद पढ़ लिया था' यानी पढ़ना हो चुका था।

परन्तु जब 'कर' सहायक क्रिया के साथ 'ले'-'दे' क्रियाएँ भी सहायक रूप में हों, तो इन से 'य' प्रत्यय 'भावे' होता है और 'कर' में वही कर्तृवाच्य (कालनिरपेक्ष) 'त' प्रत्यय—

१—मैं चारो वेद पढ़ लिया करता हूँ

२—सीता भी चिट्ठीं पढ़ लिया करती है

३—तुम अपने पत्र पढ़ लिया करते हो

४—मोहन उस की चिट्ठी पढ़ दिया करता है

५—लड़कियाँ बुढ़िया की रोटी बना दिया करती हैं

मुख्य क्रिया अपने मूल ('धातु') रूप में सदा रहे गी। भूतकाल में भी—

१—हम चिट्ठी पढ़ लिया करते थे

२—सीता रोटी बना लिया करती थी

रोटी सीता भी खाती थी, इस लिए 'बना लिया करती थी।' स्वयं न खाती, तो 'बना दिया करती थी' होता। स्वयं न खाने पर भी, आत्मीयता प्रकट करने के लिए—'मैं अभी रोटी बनाए लेती हूँ' हो गा; 'बनाए देती हूँ' में वह बात न रहे गी। बेगार-सी हो गी!

'चिट्ठी पढ़ देता था' कहने से क्रिया का उस समय जारी रहना प्रकट होता है। यदि ऐसा न हो, भूतकाल में कोई चिट्ठी पढ़ दी हो, तो कहा जाए या—

१—हम ने वह चिट्ठी पढ़ दी थी
२—तुमने रोटी खा ली थी

'पढ़ दी थी' और 'पढ़ी थी' में भी अन्तर है। 'पढ़ दी थी' 'ले ली थी' आदि में 'दे'-'ले' धातुओं से भूतकालिक 'य' प्रत्यय 'कर्मणि' स्पष्ट है। अकर्मक से भावे, 'हम ने तो पढ़ लिया'। सकर्मक का अकर्मक प्रयोग है। मुख्य क्रिया कूटस्थ है ही।

'चुकना' सहायक क्रिया

यदि किसी क्रिया की पूर्ण अभिनिवृत्ति सूचित करनी हो, तो 'चुकना' सहायक क्रिया के रूप में लगती है। इस क्रिया का 'सक' की तरह ही राष्ट्रभाषा में स्वतंत्र प्रयोग नहीं होता; सर्वत्र सहायक रूप में ही काम करती है। सम्भव है, कभी स्वतंत्र प्रयोग होता हो; या अब भी कहीं हो रहा हो! 'सक' का स्वतंत्र प्रयोग हिन्दी-साहित्य में, या हिन्दी-प्रदेशों में नहीं होता; जैसे संस्कृत में 'शक्' (शक्नोति'-'शक्यते') का। परन्तु कलकत्ते के मारवाड़ी व्यापारियों को बोलते आप चाहे जब सुन सकते हैं—'सकते हो, तो बेच दो'। यानी 'बेच सकते हो, तो बेच दो।' सम्भव है, द्विरुक्ति हटाने के लिए ही वहाँ 'सकते हो' बोलने लगे हों। संस्कृत में भी कृदन्त रूप से 'शक्' का स्वतंत्र प्रयोग देखा जाता है—'शक्यं चेत्, सम्पादनीयम्'। कलकतिया हिन्दी में संस्कृत का अनुवाद हो गा—'सकते हो, तो कर लो'। अन्तर यह कि 'शक्यम्' कृदन्त भाववाच्य है और 'सकते हो' कृदन्त-तिङन्त कर्तृवाच्य।

'चुकना' मुख्य क्रिया के रूप में ('जा' सहायक क्रिया के साथ) कानपुर आदि में प्रचलित है—'चबैना चुकि गा'—चबेना समाप्त हो गया।

यहाँ केवल इतना समझिए कि 'चुकना' का स्वतंत्र प्रयोग राष्ट्रभाषा में नहीं होता। सहायक क्रिया के रूप में इस का कर्तृवाच्य प्रयोग होता है, तो मुख्य क्रिया कूटस्थ रहती है—

१—जब मैं रोटी खा चुकता हूँ, तब तू आता है
२—जब सीता रोटी खा चुकती है, तब तू साग लाता है
३—जब लड़के रोटी खा चुके, तब हम आए

वैसे 'खा' धातु सकर्मक है और भूत काल में 'कर्मणि' 'य'-प्रत्यय आता है—'राम ने रोटी खाई'—'लड़कों ने रोटी खाई'। परन्तु संयुक्त क्रिया में तो 'चुक'-अकर्मक का इंजन लगा है। इसी लिए भूतकाल में 'लड़का उठा' 'लड़की उठी' की तरह 'लड़का रोटी खा चुका' और 'लड़की फल खा चुकी' प्रयोग होते हैं। सहायक क्रिया को जब आगे किया, तो उसी के अधीन 'वाच्य'।

यदि एक बार की ही बात हो, तो 'मैं रोटी खा चुका था, तब मोहन आया' और सदा की वह बात हो, तो 'मैं रोटी खा चुकता था, तब मोहन आता था'। 'खा चुका' में 'चुक' का भूतकालिक 'य'-प्रत्यय से प्रयोग है। 'य' का लोप हो गया है—'उठा' 'बैठा' आदि की तरह। परन्तु क्रिया का सातत्य प्रकट करने के लिए जब सहायक में 'त' प्रत्यय लगे गा, तब उस ('त') का लोप न हो गा। 'मैं रोटी खा चुकती थी'। अकर्मकता और कर्तृवाच्यता सहायक क्रिया में सदा रहे गी ही। पूरी क्रिया 'खा चुकी' या 'खा चुकती है' सकर्मक है ही। 'रोटी' कर्म है।

'अकर्तृक' प्रयोग में 'जा' सहायक क्रिया बीच में आ जाती है—

१—रोटी खाई जा चुकी, तब तू आया

२—रोटी खाई जा चुके गी, तब तू आए गा !

वर्तमान काल में 'त'-प्रत्ययान्त 'जा' के साथ 'ले'-'दे' की सहायता ली जाती है—

१—जब रोटी खा ली जाती है, तब तू आता है

२—जब प्रसाद बाँट दिया जाता है, तब मोहन आता है

३—जब काम कर लिए जाते हैं, तब तुम मुँह दिखाते हो !

स्पष्ट ही यहाँ 'ले'-'दे' भूतकाल में 'कर्मकर्तृक' हैं—'ग्रन्थ पढ़ लिया जाता है'—'संहिता पढ़ ली जाती है'। 'य' भूतकालिक प्रत्यय है। कर्मकर्तृक प्रयोग है।

अन्य जगह भी अकर्तृक (कर्मकर्तृक) प्रयोगों में 'जा' और 'ले'-'दे' की उपस्थिति रहती है—

१—रोटी खाई जाती है, आम चूसा जाता है

२—ग्रन्थ पढ़े जाते हैं, अखबार देखा जाता है

३—एक अखबार लिया जाता है
४—यहाँ जल पिलाया जाता है

मुख्य क्रिया में कर्मणि 'य' है और सहायक में 'त'। 'य' प्रत्यय यह भूतकाल का नहीं, काल-निरपेक्ष है। इसी लिए सब कालों में अन्वय हो जाता है। ऐसी अकर्तृक (कर्मकर्तृक) क्रियाओं में कर्ता जोड़ कर लोगों ने व्याकरण में समझाया है कि ये 'कर्मवाच्य प्रयोग हैं'—

राम से रोटी खाई जाती है
सीता से फल खाया जाता है

सो, यह भ्रम है। हिन्दी में ऐसे (कर्ता की उपस्थिति में) कर्मवाच्य प्रयोग होते ही नहीं हैं। 'मैं रोटी खाता हूँ' की जगह कोई नहीं कहता कि 'मुझ से रोटी खाई जाती है'। हाँ, शक्ति-निषेध में जरूर बोला जाता है (दाढ़ में इतना दर्द है कि) 'मुझ से रोटी नहीं खायी जाती।' परन्तु साधारण प्रयोग वैसे नहीं होते। शक्ति का विधान अपेक्षित हो, तब 'राम से वह काम हो जाए गा' कहा जाए गा और यह कर्म-वाच्य है।

किसी भी धातु के सभी कालों में रूप चलते हैं, जब 'जा' सहायक रूप में आती है। 'जा' धातु को भूतकाल में 'ग' आदेश हो जाता है—'गया रूप बनता है। 'आज वह उठ गया!' कहने से मृत्यु का बोध होता है। अन्य कालों में भी—

जब 'यह उठ जाए गा, तब गुण याद आएँ गे'; परन्तु सर्वत्र ऐसा अर्थ नहीं निकलता—

राम सबेरे ही उठ जाता है

प्रति दिन राम सबेरे स्वयं उठता है, यह मतलब। कहने वाले की प्रसन्नता की भी अभिव्यक्ति होती है। क्या कारण कि यहाँ मृत्यु की प्रतीति नहीं होती? 'उठ जाता है' या 'उठ जाया करता है' कहने से क्रिया का बार-बार होना स्पष्ट है। राम नित्य उठता है। नित्य उठने से ही उस (मृत्यु) अर्थ का निरसन। मर जाने पर फिर कोई उठे गा कैसे? हाँ, 'वह आज उठ गया' में भूतकाल का 'य' और 'आज' शब्द वह अर्थ देते हैं। यदि प्रकारान्तर से भूतकाल में भी नित्य उठना कहा जाए, तो भी वह (अनभीष्ट) अर्थ न निकले गा—

राम तब सबेरे उठता था
राम सबेरे उठ जाया करता था
राम तब सबेरे उठ जाता था

यहाँ 'था' से भूतकाल स्पष्ट है; परन्तु 'त' प्रत्यय से क्रिया (उठने) का बार-बार होना प्रकट है। इस लिए, ऐसी जगह, मृत्यु की प्रतीति नहीं होती।

'राम आ गया !'
हर्ष की ध्वनि है।
'आज गावँ में डाका पड़ गया !'
शोक तथा आश्चर्य की ध्वनि है।
'वह धोखा खा गया !'
आश्चर्य तथा आकस्मिकता प्रकट है।
'कुत्ता रोटी खा गया !'
दुःख की व्यञ्जना है।

इसी तरह अनन्त भाव सहायक क्रियाओं से ध्वनित होते हैं।

'पड़ना' सहायक क्रिया

'पड़ना' ('पड़') का स्वतंत्र प्रयोग भी होता है—'इस का उस पर अवश्य प्रभाव पड़े गा' और 'मैं जब पड़ूँ गा, तो उठूँ गा नहीं' इत्यादि।

सहायक क्रिया के रूप में 'पड़' का प्रयोग होने पर आकस्मिकता तथा विषाद आदि की प्रतीति होती है—

१—लड़का कोठे से गिर पड़ा !
२—जब कोई गिर पड़ता है, तो लोग हँसने लगते हैं !
३—झाँक मत, गिर पड़े गा ४—तैर मत, बह जाए गा !

'गिरना' और 'पड़ना' प्रायः समानार्थक हैं; परन्तु संयुक्त रूप से विविध भाव भी ध्वनित होते हैं। कोई फल ऊपर (वृक्ष) से कब टपक पड़े गा, कोई नहीं जानता। इसी लिए 'यार, तुम कहाँ से आ टपके !' कहने से आने की आकस्मिकता प्रकट होती है।

'लगना' सहायक क्रिया

इस का भी स्वतंत्र प्रयोग होता है—'जुट जाना' अर्थ में। 'मैं जब किसी काम में लगता हूँ, तो पूरा किए बिना छोड़ता नहीं।' सहायक क्रिया के

रूप में आकर यह 'प्रारम्भ' आदि प्रकट करती है। मूल क्रिया भाववाच्य कृदन्त 'न' प्रत्यय से रहती है। पुंविभक्ति ('आ') को 'ए' हो जाता है—

१—लड़का सोने लगता है, तब हम शोर नहीं करते
२—लड़की सोने लगती है, तब तू भोजन के लिए जगाती है!
३—हम सोने लगते हैं, तब तुम शोर क्यों करते हो?

इसी तरह सकर्मक क्रियाओं के साथ भी—

१—मैं पुस्तकें रखने लगता हूँ, तब तुम माँगते हो!
२—तुम पुस्तकें रखने लगते हो, तब मैं चल देता हूँ
३—छात्राएँ पुस्तकें माँगने लगती हैं, तब रुकतीं नहीं।

सर्वत्र 'ने' मुख्य क्रिया में रहे गा। 'लगना' क्रिया अकर्मक है; इस लिए भूतकाल में भी इस से 'कर्तरि' प्रत्यय होता है; 'कर्मणि' या 'भावे' नहीं; अर्थात् कर्ता में 'ने' विभक्ति न लगेगी—

१—लड़का पुस्तकें माँगने लगा
२—लड़की पुस्तकें माँगने लगी
३—हम पुस्तकें माँगने लगे

यदि सकर्मक क्रिया सहायक हो, तो फिर अकर्मक क्रिया से भी भूतकाल में 'भावे' प्रत्यय होता है, कर्तरि नहीं—

१—हम ने बहुत सो लिया
२—तब लड़की ने रो दिया

अकर्मक में कर्मवाच्यता का कोई सवाल ही नहीं! कर्तरि प्रयोग करने हों, तो 'चुकना' लगाएँ गे—

१—हम सो चुके
२—लड़का सो चुका
३—लड़की सो चुकी

'चुकना' अकर्मक है; इस लिए सकर्मक क्रिया के भी कर्तृवाच्य ही प्रयोग हों गे, कर्मवाच्य या भाववाच्य नहीं—

१—लड़के पुस्तकें पढ़ चुके
२—लड़कियाँ ग्रन्थ पढ़ चुकीं
३—लड़का संहिता पढ़ चुका

न कर्ता में 'ने' है; न कोई अन्य चीज कर्मवाच्यता की ! प्रेरणा में भी यही बात—

१—अध्यापक लड़कों को पुस्तकें पढ़ा चुके
२—हम लोग लड़कियों को वेद पढ़ा चुके
३—मा बेटी को वेद पढ़ा चुकी
४—माताएँ पुत्रियों को वेद पढ़ा चुकीं

सर्वत्र कर्ता के अनुसार क्रिया है। अकर्तृक (कर्मकर्तृक) प्रयोग में—

१—पुस्तक पढ़ी जा चुकी
२—पुस्तकें पढ़ी जा चुकीं
३—ग्रन्थ पढ़ा जा चुका
४—सब ग्रन्थ पढ़े जा चुके

और प्रेरणा में अकर्तृक—

१—पुस्तक पढ़ाई जा चुकी
२—पुस्तकें पढ़ाई जा चुकीं
३—ग्रन्थ पढ़ाया जा चुका
४—सब ग्रन्थ पढ़ाए जा चुके

यही बात अन्य संयुक्त क्रियाओं में भी है।

'बैठना' सहायक क्रिया

'बैठ' भी अकर्मक है और सहायक क्रिया के रूप में आ कर साहसिकता, अविचार्यकारिता, जल्दबाजी आदि की ध्वनि देती है। सदा कर्तृवाच्य रहे गी; भूतकाल में भी—

१—मैं ऐसा काम कर बैठा !
२—तब तक तुम चोरी कर बैठे !
३—तुम पूड़ियाँ बना बैठीं !

'वह उठ बैठा' में 'उठना'–'बैठना' एक क्रम है। वहाँ साहसिकता या जल्द-बाजी जैसी कोई बात नहीं भी हो सकती। 'बैठ' का वैसे अर्थ में सहायक रूप से प्रयोग प्रायः सकर्मक क्रियाओं में ही होता है। 'उठना' तो अकर्मक क्रिया है। 'रोना' जैसी अकर्मक क्रियाओं से 'उठ' का मेल अवश्य बैठ जाता है—

१—तब तक मुन्ना रो उठा !

२—और वह मुर्दा जी उठा !

दूसरे प्रयोग में जीने का और उठने का क्रम भी है; यानी 'उठ' धातु ने अपना अर्थ छोड़ा नहीं है।

'कर' के साथ 'गुजरना' का भी प्रयोग उर्दू-शैली में होता है—

'अब तो वह **कर गुजरा,** जो करना था !

'मरना'

अनभीष्टता या उपेक्षा आदि के साथ-साथ आश्चर्य-आकस्मिकता आदि प्रकट करने में 'मर' अकर्मक क्रिया सहायक रूप से आती है--

१—इस झमेले में वह भी हजार-दो हजार **ले मरा !**

२—ऐसे समय न जाने कहाँ से वह **आ मरा !**

'लेना' क्रिया सकर्मक है; पर भूतकाल में अकर्मक जैसा (कर्तृवाच्य) प्रयोग है। 'मरना' सहायक अकर्मक है न !

विशेष बात

पीछे 'पूर्वकालिक' तथा 'क्रियार्थक' क्रियाएँ दिखाई गई हैं। उन्हें 'संयुक्त क्रिया' प्रकरण में नहीं रखा गया। कारण, वे 'संयुक्त' होती ही नहीं हैं! अपना-अपना 'अर्थ' सामने अलग-अलग रखती हैं। 'पढ़ कर जाए गा'—यानी पहले पढ़े गा, तब जाए गा। इस तरह क्रियाओं के काल में पौर्वापर्य्य भर विवक्षित है। वैसे दोनो क्रियाएँ पृथक्-पृथक् हैं। इसी तरह 'राम पढ़ने जाए गा' में 'जाना' क्रिया पूर्वकालिक है; परन्तु 'पढ़ने' का पूर्व प्रयोग है; स्पष्टता और सुबोधता के लिए। 'पढ़ना है, इस लिए जाए गा'। यों क्रियार्थक क्रियाएँ भी 'संयुक्त' नहीं हैं। इस प्रकरण में क्रिया के जिस रूप का दिग्दर्शन हुआ है, उसे ही 'संयुक्त' कह सकते हैं। एक क्रिया दूसरी के अर्थ से अपना अर्थ मिला देती है; या 'अपना' अर्थ बिलकुल छोड़ देती है और तब कोई विशेष अर्थ प्रकट करती है। 'लड़का यहाँ एक बार हो गया है' में 'हो' के आगे 'कर' न लगने पर भी पूर्वकालिकता प्रकट है। एक बार यहाँ हो कर वापस चला गया है। यों इसे इस प्रकरण की 'संयुक्त क्रिया' न कहें गे; परन्तु 'आज तो अनर्थ हो गया' में 'गया' सहायक क्रिया है। 'हो गया' संयुक्त क्रिया है। 'अनर्थ हुआ' में वह मनोभाव नहीं, जो 'अनर्थ हो गया' में है।

'पाना' सहायक क्रिया

'पाना' जब सहायक क्रिया के रूप में आती है, तब क्रिया में परतः बाधा प्रतीत होती है—'मैं यहाँ पढ़ नहीं पाता' 'तू यहाँ काम नहीं कर पाती' 'राम सो नहीं पाता'। 'पढ़ने नहीं पाता' 'सोने नहीं पाए गा' आदि भी प्रयोग होते हैं। 'पा' सकर्मक धातु है और भूतकाल में 'मैं ने एक धोती पाई' जैसे कर्मवाच्य प्रयोग होते हैं। परन्तु सहायक अवस्था में सदा कर्तृवाच्य—'सीता काम नहीं कर पाई' 'राम पुस्तक नहीं पढ़ पाया'।

यह क्या बात ? जब कि सकर्मक क्रिया सहायक-रूप में हो, तो भूतकाल में कर्मवाच्य प्रयोग होता है; कर्म की अनुपस्थिति में भाववाच्य। तब यह 'पा' अपवाद में कैसे ? भाषा के अनन्त प्रवाह में अपवाद कहीं कोई होता ही है ! परन्तु यह अपवाद हुआ क्यों ? ऐसा जान पड़ता है कि 'लाया' की छाया 'पाया' पर पड़ गई है। पहले कहा जा चुका है कि 'आना' 'जाना' जैसी (गत्यर्थक) सकर्मक धातुओं के भी भूतकाल में 'कर्तरि' प्रयोग होते हैं; संस्कृत-व्याकरण की पद्धति पर—'रामः काशीं गतः'—'राम काशी गया' और 'बालिका गृहम् आगता'—'लड़की घर आ गई'। 'लेना' सकर्मक है; इस लिए—'राम ने पुस्तक ली'। 'ले' के साथ 'आ' लग कर एकाकार 'ला' हो गई है और इसी लिए भूतकाल में 'राम पुस्तक लाया' होता है; जब कि 'पा' का 'राम ने पुस्तक पाई' कर्मणि प्रयोग। परन्तु यही 'पा' सहायक रूप में आ कर जब कमजोर हो गई, तो 'ला' की चाल चलने लगी—

> राम पुस्तकें उठा लाया
> राम पुस्तकें न पढ़ पाया

असमर्थता, या परतः बाधा 'पा'—सहायक क्रिया से ध्वनित होती है। सो, उस मुख्य नियम का यह अपवाद है। और भी कहीं कोई प्रयोग ऐसा मिल सकता है। परन्तु नियम वही है। संस्कृत पर ध्यान रखने से हिन्दी में 'पा' के ऐसे प्रयोग जान पड़ते हैं। वहाँ 'प्राप्' के (पहुँचने के अर्थ में) अन्य गत्यर्थक धातुओं की तरह कृदन्त भूतकाल में कर्तृवाच्य—'रामः काशीं प्राप्तः' जैसे प्रयोग होते हैं और 'लाभ'—अर्थ में कर्मवाच्य—'रामेण संहिता प्राप्ता'। हिन्दी में भी 'राम ने संहिता पाई' कर्मवाच्य; परन्तु सहायक-अवस्था में 'रामः काशीं प्राप्तः' की तरह कर्तृवाच्य—'राम पुस्तक न पढ़ पाया'। 'पा'

जब निषेधात्मक न रह कर विध्यात्मक रहती है, तब भूतकाल में कर्मणि भी प्रयोग होता है।

राम ने पुस्तक पढ़ पाई, तो बड़ा काम हो जाए गा (कर्मणि)

राम पुस्तक पढ़ पाया, तो सम्मति अवश्य भेजे गा। (कर्तरि)

पीछे संयुक्त क्रियाओं के उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि मुख्य क्रिया कहीं तो अपने मूल ('धातु') रूप से है और कहीं भाववाचक कृदन्त रूप से। भाववाचक कृदन्त भी केवल धात्वर्थ ही है, और कुछ नहीं। 'पढ़ पाऊँ गा' में 'पढ़' धातु-रूप है और 'पढ़ने पाऊँ गा' में 'पढ़ने' ('पढ़ना') भाववाचक कृदन्त। परे 'पा' होने से 'आ' को 'ए' हो गया है, जो बदलता नहीं है।

हिन्दी में संस्कृत क्रियाओं को ले कर भी साधारण 'संयुक्त क्रियाएँ' बनती-चलती हैं और आधुनिक साहित्य में तो ऐसी क्रियाओं का ही बाहुल्य है। 'स्वीकार' भाववाचक संज्ञा या 'क्रिया का सामान्य रूप' संस्कृत में है। इसे मुख्य क्रिया मान कर आगे 'कर' सहायक क्रिया लगती है—'मैं स्वीकार करता हूँ'। यहाँ केवल 'करता हूँ' क्रिया हो और 'स्वीकार' कर्म हो, ऐसी बात नहीं है। यदि ऐसा होता, तो 'मैंने आप की बात स्वीकार की' न होकर 'आप की बात स्वीकार किया' रूप होता; या फिर 'आप की बात का स्वीकार किया' प्रयोग होता। कर्मवाच्य में कर्म के अनुसार ही क्रिया होती है। परन्तु यहाँ प्रयोग सदा 'आप की बात स्वीकार की' होता है। इस लिए 'स्वीकार करना' क्रिया है। 'मैं ने आप की बात को स्वीकार किया' में भी 'स्वीकार' कर्म नहीं है। यह भाववाच्य प्रयोग है।

यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि 'स्वीकार करता हूँ' की जगह 'स्वीकरण करता हूँ' नहीं हो सकता; यद्यपि 'स्वीकरण' भी भाववाचक है। कर्मवाच्यता में 'स्वीकृत' जरूर चलता है। 'अनुसरण करता है' को 'अनुसार करता है' न होगा।

कहीं कर्म में सम्बन्ध-विवक्षा होने पर 'राम वेदों का अध्ययन करता है' जैसे प्रयोग होते हैं। वेदकर्मक अध्ययन राम का होता है। उर्दू-शैली से किसी विदेशी शब्द से भी संयुक्त क्रिया बन जाती है—'मैं आप की अर्जी मंजूर करता हूँ'। 'मंजूर करना' क्रिया है; केवल 'करना' नहीं। इसी तरह 'मना करना' आदि समझिए। परन्तु 'मैं ने उसे आज्ञा दी है' आदि में केवल 'देना' क्रिया है—'आज्ञा देना' नहीं। 'आज्ञा' कर्म है।

यहाँ एक बात सर्वत्र स्पष्ट है कि किसी अन्य भाषा का शब्द ले कर भी जब हिन्दी संयुक्त-क्रिया बनाती है, तो अपनी मुहर लगा देती है। 'करता है' 'है' 'होता है' आदि अपनी क्रियाओं को आगे रख देती है। जब कई विभिन्न रेलवे-विभाग मिल कर, संयुक्त-रूप से, बहुत लम्बी यात्रा के लिए, कोई गाड़ी चलाते हैं, तो इंजन आगे उसी रेलवे का रहता है, जिस के क्षेत्र में वह गाड़ी उस समय चल रही हो। शेष सब ज्यों का त्यों रहता है। डिब्बे दूसरी रेलवे के पीछे लगे रहते हैं। प्रबन्ध भी सब उसी रेलवे का होता है; जिस के क्षेत्र में वह उस समय जा रही हो। वह वहाँ उसी रेलवे की गाड़ी कहलाता भी है—है भी। इसी तरह 'स्वीकार करता हूँ' 'मंजूर करता हूँ' आदि क्रियाओं में 'करता हूँ' हिन्दी का इंजन लगा है। इस लिए ये क्रियाएँ हिन्दी की 'अपनी' क्रियाएँ हैं। कभी-कभी 'अपना' प्रत्यय ही लगाना पर्य्याप्त—'वक्त गुजरता है'। 'गुजर' में 'त' अपना प्रत्यय और 'है' तो है ही।

जैसा कि स्पष्ट है—'आया' 'आ गया' 'आ पहुँचा' 'आ धमका' 'आ मरा' आदि में बहुत अन्तर है। सहायक क्रियाओं ने अर्थ में विशेषता पैदा कर दी है। यह विशेषता हिन्दी की 'अपनी' विशेष चीज है। दूसरी भाषाओं में यह चीज नहीं मिलती। इसी लिए, हिन्दी की किसी एक संयुक्त क्रिया का अनुवाद अंग्रेजी आदि में करने के लिए कठिनाई उपस्थित होती है, यदि एक 'पद' का अनुवाद एक ही 'पद' में करना हो। कठिनाई की बात क्या, हो ही नहीं सकता। एक क्रिया-पद का अनुवाद करने के लिए अनेक पद देने पड़ें गे और कहीं-कहीं तो पदों का अनुवाद वाक्यों में करना पड़े गा; तब मतलब निकले गा। इस लिए संयुक्त क्रियाओं का विस्तृत और स्वतंत्र वर्णन-विवेचन अपेक्षित है—अन्य भाषाभाषियों के लिए। परन्तु समझने में यह विषय इतना सरल है कि थोड़ी भी हिन्दी जाननेवाला सब कुछ झट समझ जाता है। विवेचन-विश्लेषण दूसरी बात है। सूरज से प्रकाश और गरमी लेने के लिए उस के वैज्ञानिक अध्ययन की जरूरत नहीं; पर वैसा अध्ययन है बहुत बड़ी चीज। यही बात भाषा के व्यवहार तथा उस के स्वरूप-विवेचन के संबन्ध में है।

इस प्रकरण को समाप्त करने से पहले दो-एक और आवश्यक बातें कहने को हैं। 'वह जल कर भस्म हो गया' 'उसे भस्म कर दूँ गा' आदि में कुछ लोग 'भस्म होना' तथा 'भस्म करना' संयुक्त क्रिया समझ बैठते हैं! ऐसी

जगह केवल 'होना' 'करना' क्रियाएँ हैं; जैसे 'वह पढ़ कर विद्वान् हो गया' 'उसे तुम ने पागल कर दिया' आदि में 'विद्वान्' तथा 'पागल' विधेय विशेषण हैं और क्रियाएँ केवल 'होना' 'करना' हैं; उसी तरह उन वाक्यों में 'भस्म' है। हाँ, 'हो गया' तथा 'कर दूँ गा' में 'जाना'-'देना' सहायक क्रियाएँ अवश्य हैं और यों ये 'संयुक्त-क्रियाएँ' हैं।

'मैं ने एक बकरी मोल ली है' में 'मोल लेना' अवश्य क्रिया है; परन्तु इसे संयुक्त क्रिया न कहें गे। हिन्दी में 'मोल' कोई क्रिया नहीं है। मूल्य दे कर लेना—'मोल लेना'-खरीदना। यों 'मोल लेना' जैसी क्रियाएँ एक पृथक् श्रेणी में आएँ गी। 'नामधातु'-प्रकरण में जिन क्रियाओं का निर्देश हो गा, वे ऐसी नहीं हैं। पाञ्चाली में 'आम बिकन जात हैं; मोलाओ तौ हम हूँ लै लेनु'—आम बिकने जा रहे हैं; मोल-भाव करो, तो हम भी ले लें। यहाँ जनबोली में 'मोलाओ' नामधातु की चीज है। परन्तु 'मोल' के आगे 'लेना' क्रिया लगा कर 'मोल लेना' अलग चीज है। 'मोल दे कर ली है'—'मोल ली है'; यो पूर्वकालिक क्रिया का लोप मान लें, तब तो कोई झंझट ही नहीं। इसी तरह—

'हम यह पुस्तक उठा ले जा सकते हैं'

यहाँ पाँच क्रियाओं का जमघट है। क्या यह संयुक्त क्रिया है? देखिए। 'हैं' तो सहायक क्रिया है ही और 'जा सकते हैं' संयुक्त क्रिया है। 'जाना' यहाँ अपने मुख्य अर्थ में है। 'पुस्तक उठा कर ले जा सकते हैं'। 'कर' का लोप। पुस्तक ले कर जा सकते हैं—'ले जा सकते हैं'। यहाँ भी 'कर' का लोप। यों यहाँ केवल 'जा सकते हैं' संयुक्त क्रिया है; शेष दोनो पूर्वकालिक क्रियाएँ।

'सभा-विसर्जन हो चुका, तब सब घर गए' लिखते-बोलते हैं। पृथक् भी 'सभा विसर्जन हो चुका' लिख देते हैं। 'का' की उपस्थिति स्वतः हो जाती है। परन्तु 'सभा विसर्जन हुई' लिखना-बोलना ठीक नहीं। 'सभा विसर्जित हुई' चाहिए। 'कमरा आलोक हो उठा' नहीं, 'कमरा आलोकित हो उठा'।

हाँ 'पुस्तक उसे ले जाने दिया करो' में 'जाना' 'देना' तथा 'करना' ये तीनो अवश्य सहायक हैं। मुख्य क्रिया है 'लेना'। यों यह संयुक्त क्रिया हुई।

परन्तु 'कथा का आरम्भ हुआ और उसे नींद आई' और 'कथा आरम्भ हुई कि उसे नींद आई' ये दोनो प्रयोग होते हैं। 'कथा का आरम्भ हुआ' में 'आरम्भ' कर्ता है और 'कथा आरम्भ हुई' में 'कथा' कर्ता है—'आरम्भ हुई' संयुक्त-क्रिया है—'कथायाः आरम्भः अभवत्' और 'कथा आरब्धा अभवत्'। संस्कृत में 'कथा आरब्धा' से ही काम चल जाता है, 'अभवत्' की जरूरत नहीं। परन्तु हिन्दी में तो 'आरम्भ होना' संयुक्त क्रिया है। 'आरम्भ' कोई 'विधेय-विशेषण' नहीं। इस लिए 'कथा आरम्भ हुई' बोला जाए गा। 'कथा विसर्जित हुई' के ढँग पर 'कथा आरब्ध हुई' हिन्दी में न बोला जाए गा। यह है भाषा की प्रकृति। क्यों ऐसी प्रकृति बनी, पूछा जा सकता है; परन्तु उत्तर भाषा-विज्ञान दे गा। 'सभा भंग हो गई' में 'भंग होना' मुख्य क्रिया है और 'गई' सहायक क्रिया। 'सभा भंग हो गया' न हो गा। 'भंग' कर्म नहीं, क्रियांश है।

'कथा आरम्भ हुई' तथा 'कथा विसर्जित हुई' क्रियाएँ 'कर्मकर्तृक' हैं। 'सभा भंग हो गई' भी कर्मकर्तृक प्रयोग है। 'सभा भंग करता हूँ' कर्तृवाच्य है।

यों संक्षेप में यह विशेष प्रकार की संयुक्त क्रियाओं का प्रकरण नमूने के लिए दिया गया।

चतुर्थ अध्याय

नामधातु

सुवर्ण-पीतल आदि धातुओं से विविध आभूषण तथा पात्र आदि बनते हैं और वे सब फिर धातु-रूप में आ जाते हैं। इसी तरह भाषा में धातुओं से विविध आख्यात तथा (कृदन्त) संज्ञा-विशेषण आदि बनते हैं। कालान्तर में इतना रूप-परिवर्तन् हो जाता है कि लोगों के ध्यान में ही नहीं आता कि यह शब्द किस धातु का है ! परन्तु ऐसे शब्दों से फिर आख्यात बन जाते हैं—संज्ञा से क्रिया ! क्रिया से संज्ञा और विशेषण आदि तथा संज्ञा और विशेषण आदि से क्रिया-पद—'नामधातु'।

कभी-कभी यह भी पता नहीं चलता कि यह धातु है या नामधातु। 'सूखना' क्रिया है—किसी चीज को शुष्क करना। 'सूखता है' मूल क्रिया और 'सुखाता है' उस की प्रेरणा।

परन्तु हिन्दी की पूरबी बोलियों में 'धोती सुखाति है' बोलते हैं, जिस की प्रेरणा 'धोती सुखावति है' बोला जाता है। राष्ट्रभाषा में 'धोती सूखती है'। यानी एक जगह 'सूख' धातु और अन्यत्र 'सुखा' नामधातु है। क्या बात ? बात यह है कि 'सूख' मूलतः हिन्दी की धातु है, जिस का विकास सं० 'शुष्' से सीधा है। 'सुखाति है' में 'सुखा' नामधातु है। 'सूखा पड़ गया' आदि में 'सूखा' भाववाचक संज्ञा है और 'सूखा ईंधन' आदि में 'सूखा' विशेषण है। 'सूखापन का आ जाना' जन-भाषा में 'सुखान' है। यानी 'धोती सुखाति है' में 'सूख' विशेषण से नामधातु है 'सुखा'। नामधातु बनाने में 'आ' प्रत्यय लगता है और 'नाम' या विशेषण का प्रथम स्वर ह्रस्व हो जाता है— 'हाथ'—'हथियाना'। मूल धातु 'सूख'। उस से भाववाचक संज्ञा 'सूखा' और विशेषण भी 'सूखा'। इसी 'सूखा' से 'सुखा' नामधातु—'धोति सुखाति है'। वहीं मूल धातु के भी प्रयोग होते हैं—'धोती सूखति है'। यह राष्ट्रभाषा के 'सूखती है' का रूपान्तर 'सूखति है'।

इसी तरह 'जम कर लड़ा' 'वीर युद्ध में जमता है, कायर उखड़ता है' यह 'जमना' मूल क्रिया है, या नामधातु ? इसी से 'जाम' संज्ञा है। और

विशेषण है 'जाम'। 'जाम हो जाना'—जम कर चिपट जाना। क्या 'जाम' से 'जमना' नामधातु है ? या 'जमना' से 'जाम' संज्ञा है ? ऐसी उलझनें सामने आती हैं। इस के लिए ऊहापोह भाषा-विज्ञान का विषय है; व्याकरण का वैसा नहीं। परन्तु दिग्दर्शन जरूरी है।

'जमना'—'राम अब यहाँ जम गया' मूल क्रिया जान पड़ती है। यहाँ 'जमने' का लाक्षणिक प्रयोग है। मूलतः 'जमना' अन्यार्थक है—'सब जगह आम नहीं जमते'। 'नहीं उगते' अर्थ में है 'नहीं जमते'। जौ उपजते हैं, और आम का पौधा जमता है। जड़ें पकड़ जाना—'जमना'। जम गया, तो उखड़ना कठिन। इसी सादृश्य से 'राम जम गया' आदि प्रयोग। 'अङ्गद का पावँ जम गया, कौन इधर-उधर करे!'

परन्तु यह पेड़ों का 'जमना' भी मूलधातु से है, या 'नामधातु' से ? साधारणतः मूल धातु ही सब इसे समझते हैं। 'जनमना' नामधातु का यह रूपान्तर है। 'अन्न उपजता है' और 'मानव जनमते हैं'। 'जन्मते हैं' गलत प्रयोग है। हिन्दी संस्कृत (तत्सम) शब्दों से 'अपने' नामधातु नहीं बनाती। 'ते जनमे कलिकाल कराला' 'जनमत-मरत रहत सब जग में'। 'जन्मत' नहीं।

इसी 'जनम' के मध्य-लोप से 'जम' धातु निष्पन्न है। जंगम प्राणियों के लिए 'जनम' धातु और स्थावर या उद्भिज्जों के लिए 'जम'। सो, 'जमना' है 'जनमने' का विकास। अब इस (जम) को मूल धातु मानें गे, या 'नामधातु' ?

खूब सोचने पर ऐसा लगता है कि संस्कृत 'जन्' धातु को ही सस्वर कर के और आगे 'म' का आगम कर के हिन्दी ने 'जनम' धातु बना ली है और 'न' का लोप कर के 'जम'। यानी 'जन्म' संज्ञा से यह 'जनम' नामधातु नहीं जान पड़ती; आगे 'आ' प्रत्यय नामधातु का निष्पादक नहीं है! यों विचार करने पर, 'पीनक' संज्ञा से 'पिनक' (पिनकना) नामधातु जो लोगों ने मानी है, गलत जान पड़ता है। 'आ' प्रत्यय कहाँ है 'पिनकता है' आदि में ? सो, 'पिनक' मूल धातु और उस से 'पीनक' संज्ञा। 'समझता है' क्रिया; धातु है 'समझ' और इसी धातु से स्त्रीलिङ्ग संज्ञा 'समझ'। 'समझाता है'—प्रेरणा-रूप है। यानी जहाँ मूलतः क्रियांश नजर आए और आगे 'आ'

प्रत्यय न हो, वह 'मूल धातु'। 'पीनक' से 'पिनकना' नामधातु बताना ऐसा ही है, जैसे कि 'पतन' संज्ञा से 'पतति' आदि के 'पत्' को नामधातु बताना! हाँ, नामधातु का प्रत्यय 'आ' यदि सामने दिखाई दे, तो कुछ कहने की बात जरूर हो गी। 'सुखावत हैं महुआ' आदि में 'सुखा' जरूर नामधातु, कह सकते हैं। 'सरकना' की 'सरक' मूल धातु है और 'सरसराता है' की धातु 'सरसरा' नामधातु है। 'सर सर' करना—'सरसराना'।

नामधातु का 'आ' प्रत्यय

हिन्दी की नामधातुओं में 'आ' प्रत्यय लगता है। 'मण्डल' एक संज्ञा है—गोल परिधि। जब ऊपर चील मण्डल सा बना कर घूमती है—वहीं चक्कर काटती है, तो कहते हैं—'चील मँडराती है, चील मँडरा रही है।' यह 'मँडराना' क्रिया 'मँडरा' नामधातु से बनी और 'मँडरा' नामधातु बनी 'मण्डल' से। 'मण्डल' से 'आ' प्रत्यय 'ल' को 'र' और प्रथम स्वर ह्रस्व 'मँडरा'। अब इस 'मँडरा' अकर्मक नामधातु से सभी कालों में और सभी अर्थों में तिङन्त-कृदन्त प्रत्यय हो कर आख्यात के वे सभी रूप वनें गे।

यह 'आ' प्रत्यय नामधातु के लिए हिन्दी ने संस्कृत-नामधातुओं से ही लिया है, जो कि—

'चन्द्रायते शुक्लरुचाऽपि हंसः, हंसायते चारुगतेन कान्ता' जैसी जगह दिखाई देता है। 'चन्द्र' संज्ञा से 'चन्द्रायते' क्रिया और 'हंस' से 'हंसायते'। इन क्रियाओं की नामधातुएँ सादृश्य-विधान में हैं। विविध अर्थों में नाम-धातुओं की निष्पत्ति होती है। सो, 'चन्द्रायते' 'हंसायते' आदि से हिन्दी ने 'आ' प्रत्यय निकाल कर सर्वत्र अपना काम चलाया है। संस्कृत में 'वारि' से 'वारीयते' की तरह 'वारायते' नहीं। परन्तु हिन्दी में यह बात नहीं, सर्वत्र 'आ' प्रत्यय मिले गा—'सिसियाते रहे सब ठंढ के मारे'। 'सिसियाते रहे'—'सी सी' करते रहे! 'सी सी' करना – 'सिसियाना'। ऐसे अनुकरणा-त्मक शब्दो की द्विरुक्ति नामधातु बनाने में होती है और यह प्रवृत्ति भी संस्कृत से ही आई है। 'वृत्ति' (कृदन्त, तद्धित, समास, नामधातु आदि) में शब्द का आद्य स्वर प्रायः ह्रस्व होता (हिन्दी में) देखा जाता है। 'सी सी' + आ = 'सिसि आ'। अन्त्य 'इ' को 'इय्'—'सिसिया' नामधातु। जनबोलियों में भी प्रक्रिया यही है। 'मे मे' करना—'मिमियाना'। 'बोक-रिया आजु बहुत मिमियाति है'—बकरी आज 'मे मे' बहुत कर रही है।

'ए' को 'इ' ह्रस्व, 'आ' प्रत्यय और अन्त्य 'इ' को 'इय्' स्पष्ट है। आगे आख्यात-प्रत्यय अपने। 'ति' 'ती' का ही ह्रस्व रूप है। मिमियाती है— 'मिमियाति है'।

इसी तरह 'लाज' से 'लजाना' क्रिया नामधातु की। लाज करता है—लजाता है। 'लजाना' अकर्मक क्रिया। 'लज्जा' का 'लाज' तद्भव स्त्रीलिङ्ग और उस से 'आ' प्रत्यय। आद्य स्वर ह्रस्व हो गया। 'लजा' नामधातु से आगे सब रूप। इसी तरह 'शर्म' का 'शरम' कर के 'शरमाना' आदि। 'सन सन' करना—'सनसनाना' 'गोली सनसनाती चली गई'।

कोई कह सकता है कि 'लजाना' क्रिया की धातु 'लजा' को असली धातु क्यों न मान लें? उस से फिर 'लाज' संज्ञा क्यों न बने?

इस पर विचार करना है। हिन्दी में 'पढ़' 'कर' 'चल' आदि धातुएँ अकारान्त हैं। कुछ (जा, खा, गा, ला आदि) आकारान्त भी हैं। अन्य स्वर भी धातुओं के अन्त में हैं; परन्तु यहाँ हमें 'अ'—वर्ण से ही मतलब है। अकारान्त तथा आकारान्त धातुओं का श्रेणी-भेद मनमाना नहीं है। 'अ' को छोड़, दीर्घ 'आ' कहीं यों ही मनमाना नहीं लगा दिया गया है। जहाँ वैसा है, वहीं है। संस्कृत 'या' का हिन्दी में 'जा' होना ही था। 'खाद्' का 'खा' आकारान्त है ही। 'गायति' से 'गा' लिया गया है। 'आयाति' का आद्य अंश 'आ' है और 'ला' में भी 'आ' है। इस तरह आकारान्त धातुओं की स्थिति है। पढ़, कर, चढ़ आदि में वैसी कोई बात नहीं। इसी लिए ये सब अकारान्त हैं।

यदि 'लजाना' हिन्दी की मूल धातु होती, तो दीर्घान्त न होती—'लज' के रूप में होती और 'लजता है' जैसे रूप होते। 'लज्' संस्कृत से 'लज' ही हिन्दी-रूप मेल खाता है। दीर्घान्त होने का कोई कारण नहीं। नामधातु में तो 'आ' प्रत्यय लगता ही है। इसी लिए 'सूखना' क्रिया की मूल धातु 'सूख' है; 'सूखा' संज्ञा से बनी नामधातु नहीं। नामधातु होती, तो 'धूप पड़ती है, तब घास सूखती है' की जगह 'सुखाती है' होता। 'गृहिणी धूप में चावल सुखाती है' में 'सुखाती है' प्रेरणा-रूप है, सूखने का। प्रेरणा में भी 'आ' प्रत्यय होता है, जो अलग चीज है। यहाँ यह भी कह सकते हैं कि 'सूखता है' को मूल क्रिया न मान कर सुखाने का अकर्तृक (कर्मकर्तृक) रूप क्यों न मानें? उत्तर है कि 'घास सूखती है' में 'घास' कर्ता है, असली

कर्ता। घास स्वयं सूख जाती है। धूप आदि 'हेतु' हैं; 'कर्ता' नहीं हैं। हाँ, करण-हेतु आदि का कर्ता के रूप में गौण प्रयोग कर सकते हैं—'धूप घास को सुखाती है'। जब कारकान्तर का प्रयोग कर्ता की तरह हुआ, तो असली कर्ता ('घास') कर्म के रूप में आ गया। यों 'सूखना' की यह प्रेरणा बन गई' 'सुखाना'। मूल धातु सूखना ('सूख') ही है। पूरब की बोलियों में अवश्य 'सूखने' से नामधातु 'सुखा' चलती है—'ख्यात सुखाए जात हैं'। 'खेत सूखे जा रहे हैं' राष्ट्रभाषा में।

खैर; यह तै रहा कि 'सूखना' आदि क्रियाएँ 'सूख' आदि मूल धातुओं से हैं और 'लजाना' आदि नामधातुओं की सृष्टि है।

'चमकना' मूल धातु से है—'सूरज चमकता है, तारे चमकते हैं'। बर्तन भी चमकते हैं, यदि कोई माँज कर चमका दे। 'लड़की बर्तन चमका देती है' या कोई कुछ 'चमकाता है' में 'चमकाना' प्रेरणा-रूप है। मूल रूप है—'चमकना'। सूरज स्वयं चमकता है। पर बर्तन चमकाया जाता है। 'बरतन चमकते हैं' यदि नए हों। पुराने हो कर मैले हो गए हों और उन्हें खूब माँज कर किसी ने चमकाया हो, तब इस प्रेरणा का कर्मकर्तृक रूप 'बर्तन चमक उठे।' सो, 'चमका' नामधातु नहीं है। हाँ, 'चमचमाना' अवश्य नामधातु है। 'बर्तन चमचमाते हैं' जब साफ होते हैं। 'चमचम'—चाकचिक्य। 'चम चम' करना, चाकचिक्य पैदा करना। बर्तन चम-चम करते हैं—'बर्तन चमचमाते हैं'। 'चमचम' से 'आ' प्रत्यय, सवर्ण दीर्घ—'चमचमा' नामधातु।

चीज स्वभावतः कड़वी हो, तो और बात है; है ही। परन्तु कोई चीज स्वभावतः कड़वी न हो, किन्तु विकार-वश कड़वापन उस में आ गया हो, तो नामधातु से—'कड़वाता है—कड़वाती है'। कड़वा लगता है—'कड़वाता है' और कड़वी लगती है—'कड़वाती है'।

'कटुक' से 'कटुअ' और 'ट' को 'ड' (ड़) तथा पुंविभक्ति—'कड़ुआ'। पूरब में यह पुंविभक्ति नहीं लगती; यहाँ ('ड' को 'र' कर के और अपनी 'उ' विभक्ति लगा कर) 'करू'—'खीरा करू है'। 'मिठाई करुआन लागि। सब कुछु करुआति है, बिउ न नीक होय, तौ।' यानी 'करू' से 'आ' प्रत्यय। 'ऊ' को 'उव्' और 'व्' का लोप

खड़ी बोली के 'कड़ुआ' को फिर (उर्दूवालों ने) 'कड़वा' बना लिया—'उ' को 'व्' और 'ड़्' में 'अ' का आगम। इसी 'कड़वा' से नाम-धातु का 'आ' प्रत्यय, सवर्णदीर्घ—'कड़वाना'। 'मिष्ट' से 'मीठ' तद्भव। कोई चीज मीठी लगती है—'मिठाती है'। आँवले खा कर पानी पियो, तो मिठाता है। 'मीठ' से 'आ' प्रत्यय और प्रथम स्वर ह्रस्व—'मिठाना'। खट्टी चीज पीतल के बर्तन में कसा जाती है। 'कसाना' नामधातु और 'जाना' मूल धातु। दोनों मिल कर संयुक्त-क्रिया—'कसा जाना'—कषैला हो जाना, कषाय-रस के रूप में परिवर्तन हो जाना। केवल 'कसाता है' भी चलता है—'चीनी के बर्तन में खट्टी चीज कसाती नहीं है'।

इसी तरह 'खट्टा' विशेषण से 'खटाना' नामधातु की क्रिया है। एक 'ट' हटा कर 'आ' प्रत्यय। खट्टा लगता है—'खटाता है'। करघे का बना कपड़ा बहुत 'खटाता है' में 'खटाना' भिन्न (मूल) क्रिया है। 'खटाता है'—बहुत दिन चलता है—टिकाऊ होता है। यह 'खटाना' क्रिया बंबई की ओर से हिन्दी में आई है—जहाँ-तहाँ प्रयुक्त होने लगी है। 'टिकाऊ' के अर्थ में 'खटाऊ' विशेषण भी वस्त्रों के विज्ञापनों में चलने लगा है।

कठिन बात सोचते-सोचते दिमाग 'चकराने लगता है'—चक्कर में पड़ जाता है! 'चक्कर' 'चक्र' का तद्भव रूप। चक्र गोल होता है; इसी लिए गोल 'दही बड़े' को कहीं कहीं 'चकरा' कहते हैं—बैरागी 'रामचकरा' कहते हैं। रोटी या पूड़ी जिस गोल चीज पर रख कर बेली जाती है, उसे 'चकला' कहते हैं—'र' को 'ल' कर के। 'चकरा' तो दही-बड़ा है न! जिस बाजार में लोग ('भले लोग!') चक्कर काटते रहते हैं, उसे भी 'चकला' कहते हैं। संस्कृत में इस 'चकले' को कभी किसी समय लोग 'वार' कहते थे। 'वार' में बैठने वाली स्त्री—'वारस्त्री'। 'वार' में बैठ कर मुख दिखलाने वाली—'वारमुखी'। आज कल शराब की दूकान को भी अंग्रेजी में 'वार' (या 'बार?') कहते हैं। मेल की चीज है। 'माटी'—मिट्टी—'मैया मैं नहिं खाई माटी'। 'माटी की मूरतें'। माटी लगा कर हाथ धोना—हाथ मटियाना। 'वह उस समय हाथ मटियाता था, या मटिया रहा था'—मिट्टी लगा कर हाथ धो रहा था। 'माटी' से 'आ' प्रत्यय, प्रथम स्वर ह्रस्व और अन्त्य 'ई' को इय्—'मटिया' नामधातु।

'छुछुवाना' भी नामधातु है। किसी के बेकार इधर-उधर घूमने-फिरने के प्रति घृणा प्रकट करने के लिए कहा जाता है—'जब देखो, तब सब जगह

छुछुवाती फिरती है'। 'छुछुआती' भी होता है। 'छछूँदर' गन्दगी पसन्द करती है और 'छू छू' करती हुई रात में घूमती रहती है। इस के इसी 'छू छू' शब्द से नामधातु 'छुछुवाना' या 'छुछुआना'। स्वर—ह्रस्वता और 'आ' प्रत्यय परे होने से 'उ' को 'उव्'—'छुछुवाना'। 'उ' से परे 'व्' की श्रुति में मन्दता होने के कारण वैकल्पिक लोप—'छुछुआना'। इसी तरह 'खट-खटाना' 'भटभटाना' आदि अनुकरणात्मक शब्दो से नामधातु।

हाथ में करना—हस्तगत करना—'हथियाना'। बलात् ग्रहण प्रतीत होता है, कुछ अन्याय-पूर्वक। अन्यथा 'मैं ने वह सब हस्तगत कर लिया है' हो गा। 'हथिया' नामधातु। 'हाथ' से 'आ' प्रत्यय, प्रथम स्वर ह्रस्व, अन्त्य 'अ' को 'इ' आदेश और 'इ' को फिर 'इय्'—'हथिया'। 'उस धूर्त ने बेचारी विधवा का सब धन हथिया लिया।' 'हथियाना' मुख्य क्रिया, 'लेना' सहायक क्रिया। 'हथिया लेना' संयुक्त क्रिया।

संस्कृत में जैसे 'पीड्' तथा 'रुज्' आदि मूल धातु हैं; उसी तरह हिन्दी में 'दुख' मूल धातु है—'आँखें दुखती हैं'। प्रेरणा में 'अ' प्रत्यय—'तूने मेरा फोड़ा दुखा दिया'। 'तू फोड़ा दुखाता है'। मन भी दुखता है; जब कोई दुखाता है, तब और भी अधिक।

'पीड़ा' से पूरबी बोलियों में तथा ब्रजभाषा में नामधातु बनती-चलती है—'पिरायँ मोरी अँखियाँ'—मेरी आँखें दुख रही हैं। ब्रजभाषा और गुज-राती के सम्मिश्रण में—'वैष्णव जन तो तेणे कहिए, जो पीर पराई जाणे रे' तथा 'बाँझ कि जान प्रसव की पीरा' अवधी-काव्य में 'पीड़ा' का 'पीर' रूप प्रकट है। 'पीड़ा' का तद्भव रूप 'पीर' ही है। तुलसी के प्रयोग में वजन पूरा करने के लिए 'पीरा' समझिए। परन्तु राष्ट्रभाषा ने दुखने के अर्थ में 'पिराना' रूप नहीं ग्रहण किया। इस का कारण है। 'पीर' शब्द हिन्दी ने अर्थ-विशेष में जमा दिया है। प्रसव-बेला में जो पीड़ा होती है, उसे ही 'पीर' कहते हैं—'पीर उठन लागि'—पीड़ा उद्भूत होने लगी। यानी 'पीड़ा' का 'पीर' रूप में विकास स्त्री-समाज ने किया और वह उस अर्थ में एक तरह से चिपक गया है। इसी लिए इस से राष्ट्रभाषा ने 'राम का पेट पिराता है' जैसे प्रयोग नहीं स्वीकार किए। अवधी आदि में 'पिरायँ' तिङन्त के साथ-साथ 'पिराति हैं' यों कृदन्त-तिङन्त प्रयोग भी होते हैं। इस का कारण है। राष्ट्रभाषा के व्याकरण में भी यह विवेचन उपयोगी हो सकता है; इस लिए कुछ दिग्दर्शन।

'पिरायँ मोरी अँखिया' तिङन्त प्रयोग है। पुल्लिङ्ग कर्ता में भी यही रूप रहे गा। परन्तु 'हाथ पिरात हैं' और 'नाक पिराति है' में भेद पड़ता है। राष्ट्रभाषा का 'ती' अवधी में 'ति' है। 'हाथ पिरात हैं' और 'हाग पिरायँ आजु बहुतै री' की क्रियाओं का एक ही मतलब है—'हाथ दुखते हैं'। तो, कोई अन्तर न होने पर भी शब्द-भेद क्यों? 'अर्थ-भेदात् शब्द-भेदः'। अर्थ-भेद होने पर ही शब्द-भेद होता है। अर्थ-भेद है—तिङन्त 'पिरायँ' प्रयोग वर्तमान काल में होता है—'पिरायँ मोरी अँखियाँ'—मेरी आँखें दुख रही हैं। साधारण अभिधान में यह तिङन्त प्रयोग न हो गा—'उदर-विकार ते आँखैं पिराती हैं'—पेट में गड़बड़ी हो, तो आँखें दुखने लगती हैं। यह साधारण कथन है। वर्तमान काल नहीं है। क्रिया के आरम्भ से ले कर उस के पूरे होने तक का समय 'वर्तमान' कहलाता है—जब तक क्रिया की प्रवृत्ति रहे, क्रिया जारी रहे, तब तक 'वर्तमान' काल। उदर-विकार से 'आँखें पिराती हैं' कहने से यह नहीं समझा जाता कि आँखें दुख रही हैं। सामान्य कथन है। कहीं वर्तमान का भी बोध हो जाता है—'आजु हमार हाथ पिरात हैं'—'आज हमारे हाथ दुखते हैं'। यहाँ 'पिरात हैं' कृदन्त-तिङन्त से वर्तमान काल की प्रतीति है—क्रिया वर्तमान है। यह 'आजु' शब्द के कारण। परन्तु 'पिरायँ' तिङन्त का प्रयोग सदा ही क्रिया की वर्तमानता प्रकट करे गा—वैसा साधारण अभिधान इस से न हो गा। असावधानी से कोई गलत प्रयोग करे, यह अलग बात है। संस्कृत तिङन्त क्रिया से वर्तमान के साथ साधारण प्रवृत्ति भी प्रकट होती है—'प्रमत्ताः किं न जल्पन्ति?' प्रमादी लोग सब कुछ बक सकते हैं!—बकते हैं!

राष्ट्रभाषा में 'आज मेरी आँखें दुख रही हैं' जैसी क्रियाओं से वर्तमानता प्रकट होती है। कभी-कभी 'रह' के बिना भी—'मेरी आँखें दुखती हैं आज बहुत' जैसे प्रयोग भी वर्तमानता प्रकट करते हैं। परन्तु 'रह' के बिना ऐसे प्रयोगों से साधारण अभिधान भी होता है; यह पीछे कह आए हैं—'शेर मांस खाता है, आदमी अन्न खाता है'। और—'परसों एकादशी है' जैसे प्रयोग भी सामने हैं। एकादशी की वर्तमानता नहीं है। आज पाँच वर्ष से 'युद्ध चल रहा है'। युद्ध की क्रिया प्रारम्भ हुए पाँच वर्ष हो गए और अभी तक उस की समाप्ति नहीं है—उस की वर्तमानता है। क्रिया की समाप्ति जब तक न हो, वर्तमानता रहे गी। हजारों-लाखों वर्षों तक, या प्रलय-पर्यन्त भी किसी क्रिया की वर्तमानता रह सकती है—'भगवान् की सृष्टि चल रही है'!

परन्तु 'परसों एकादशी है' में सत्ता एकादशी की इस समय नहीं है। इस समय एकादशी नहीं है—वह वर्तमान नहीं है। परसों उस की सत्ता आने-वाली है। तब वर्तमान कैसा ? भविष्यत् को अति सन्निकट प्रकट कहने के प्रयोजन से, भविष्यत् का वर्तमान काल में, लाक्षणिक प्रयोग भी यह नहीं है। वैसा भाव प्रकट करने के लिए तो भूतकाल का प्रयोग हो गा—'अरे भाई, परसों एकादशी भी आ गई'। यानी अब एकादशी के आने में देर क्या है ? सो, 'परसों एकादशी है' एक सामान्य कथन है। वर्तमान काल नहीं है। सारांश यह कि 'है' तिङन्त के सहयोग से साधारण 'त' प्रत्यय साधारण प्रवृत्ति प्रकट करता है और 'आज' 'आजकल' 'इस समय' आदि साथ हो, तो वर्तमानता भी क्रिया की प्रकट होती है। 'त' के साथ 'है' लगा देने से जैसे साधारण प्रवृत्ति प्रकट होती है और शब्दान्तर के योग से वर्त-मानता क्रिया की प्रकट होती है, उसी तरह (इसी 'त' के साथ) भूतकाल की 'था' क्रिया जोड़ देने से (क्रिया की) भूतकालिकता प्रकट होने लगती है—'राम पढ़ता था'। यदि इसी 'त' के आगे 'हो गा' जोड़ दें, तो क्रिया की (वर्तमान काल में) सन्दिग्ध प्रवृत्ति प्रकट होने लगती है—'राम पढ़ता हो गा'। यदि संयुक्त वाक्य में 'त' का प्रयोग किसी सहायक क्रिया के बिना हो, तो हेतुहेतुमद्-भूत बन जाता है—'वर्षा होती, तो नाज होता'। 'साम्प्र-दायिकता न बढ़ती, तो देश छिन्न-भिन्न न होता।'

अवधी आदि में तिङन्त से वर्तमान काल और कृदन्त से साधारण प्रवृत्ति प्रकट होती है। संस्कृत 'पीड़ा' का तद्भव 'पीर' कर के नामधातु का 'आ' प्रत्यय। प्रत्यय परे आने पर प्रकृति ('पीर') का प्रथम स्वर ह्रस्व। सवर्ण-दीर्घ—'पिरा' नामधातु। 'पावँ पिरात हैं' यों वर्तमान भी साधारणतः प्रकट हो जाता है। तिङन्त 'इ' प्रत्यय संस्कृत 'ति' का ही व्यंजन-रहित रूप है—'पिराइ'। 'इ' को वैकल्पिक 'य'—'पिराय'। बहुवचन अनुनासिक—'पिराइँ-पिरायँ'। पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग में तिङन्त क्रिया एक जैसी रहे गी।

'वि' उपसर्ग के साथ संस्कृत 'क्री' धातु ('विक्री') को 'बिक्री' के रूप में हिन्दी ने अपनी भाववाचक संज्ञा बना ली। 'विक्रय' से भी 'बिक्री' संभव है। 'य' को 'ई' कर के। साथ ही 'बिक्री' को 'बेच' कर के अपनी सकर्मक धातु भी बना ली—'राम पुस्तक बेचता है'। 'क्रीणाति' का 'क्रीण' अंश पूरब में 'किन' धातु बन गया। 'किनना'-खरीदना। परन्तु राष्ट्रभाषा में खरीदने के अर्थ में 'किन' धातु नहीं चलती। यहाँ विदेशी 'खरीद' शब्द ले कर अपने 'त'

आदि प्रत्यय लगा कर—खरीदता है, खरीदे गा, खरीदा था; आदि क्रिया-रूप बनते-चलते हैं। यानी 'खरीद' धातु बना ली। परन्तु 'फरोख्त' को दूर रखा। 'बेचता है' की जगह 'फरोखता है' नहीं होता। 'खरीद' तथा 'रसीद' आदि शब्द उच्चारण में हिन्दी-प्रकृति के अनुकूल हैं; खप गए। परन्तु 'फरोख्त' 'सख्त' 'दरख्त' आदि यहाँ नहीं खपे। प्रकृति के अनुकूल नहीं। सो, 'खरीद' हिन्दी की धातु है, नामधातु नहीं। जैसे 'बेच' उसी तरह 'खरीद'। स्त्रीलिङ्ग 'खरीद' भाववाचक संज्ञा है। 'बेच' वैसी संज्ञा नहीं, 'बिक्री' है।

'घबराता है' में 'घबरा' अकर्मक धातु है। 'घबर' कोई संज्ञा नहीं कि जिस से 'घबरा' नामधातु बनी हो! 'घबराहट' कृदन्त संज्ञा है। राष्ट्रभाषा में नामधातु स्पष्ट हैं। हाँ, अवधी तथा ब्रजभाषा आदि नामधातुओं के संबन्ध में कुछ और कहना है। जैसा कि इस प्रकरण में कई जगह बताया गया है, नामधातुओं की सृष्टि प्रायः 'अपने' या तद्भव शब्दों से ही होती है; कहीं कोई अपवाद मिल जाए, यह अलग बात है। विभिन्न जनपदीय 'बोलियों' में भी यही स्थिति है। हिन्दी में 'दर्शाता हूँ' जैसे प्रयोग अवधी आदि के 'दरसावत' की प्रतिध्वनि हैं। ब्रजभाषा में तथा अवधी-साहित्य में 'दरसत' 'दरसावत' आदि प्रयोग प्रवाह-प्राप्त हैं। परन्तु हिन्दी में 'दरसाता हूँ' न चले गा; जैसे 'उऋण' की जगह 'उरिन' न चले गा। 'स्पर्श' से 'परस' कर के एक धातु अवधी-ब्रजभाषा आदि में चलती है—'परसत' 'परसि' आदि। परन्तु राष्ट्रभाषा में 'परसता है' कोई न बोले गा, न लिखे गा। 'छू' धातु अपनी विद्यमान है। अवध तथा ब्रज की जनबोलियों में भी 'परस' धातु नहीं चलती। केवल काव्य-साहित्य में वैसे प्रयोग देखे-सुने जाते हैं। काव्य में 'सरस' तत्सम से भी 'सरसात' 'सरसावत' जैसे नामधातु-प्रयोग होते हैं। परन्तु राष्ट्रभाषा में 'सरसाता है' या 'सरसता है' न चलें गे। ब्रजभाषा में 'सरसात' 'सरसत' वैकल्पिक प्रयोग हैं—अकर्मक। 'आ' प्रत्यय का वैकल्पिक लोप। 'सरसावत' प्रेरणा-रूप है।

'मिटता है' जैसे प्रयोग सोचने पर नामधातु के ही जान पड़ते हैं। 'मिट्टी में मिल जाता है, जो दीनों को दुख देता है' को 'वह जल्दी मिट जाता है' भी कह सकते है। 'मिट्टी में मिलता है'—'मिटता है' एक ही बात है। यानी 'मिट जाने' के अर्थ में 'मिट्टी' से नामधातु 'मिट'। 'आ'

का लोप और किञ्चित् रूप-परिवर्तन। 'मिटना' की प्रेरणा 'मिटाना' बनती है; इसी लिए साधारण स्थिति में 'आ' का लोप। 'मिटवाना' प्रेरणा की प्रेरणा है। 'मिट' मूल धातु ही मानें, तो आप की मर्जी! परन्तु 'मिट्टी' और 'मिट' में साम्य कितना है! 'मिट्टी' संस्कृत 'मृत्ति' (का) से है।

पाचवाँ अध्याय

क्रिया की द्विरुक्ति

जब क्रिया का बार-बार होना, या अत्यधिक होना विवक्षित हो, तो द्विरुक्ति होती है। 'खा-खा कर मरे गा क्या !' अधिक खा कर—'खा खा कर'। संस्कृत में भी ऐसी स्थिति में क्रिया की द्विरुक्ति होती है। इस विषय को वहाँ 'यङन्त' तथा 'यङ्लुगन्त' प्रकरणों में रखा गया है। वहाँ वैसी स्थिति में पूर्व अंश में बहुत अधिक परिवर्तन हो जाता है। परन्तु हिन्दी में दोनो अंश ज्यों के त्यों रहते हैं। वहाँ 'आख्यात' प्रायः उस स्थिति में आता है। हिन्दी में क्रिया का सातत्य 'ही' जैसे अव्यय से भी प्रकट हो जाता है—'वह तो खाता ही गया, जब तक कै न होने लगी।' 'क्या पीते ही चले जाओ गे ?' आदि। 'खाते जाना' तथा 'पीते चले जाना' संयुक्त क्रियाएँ हैं। 'जाना' सहायक क्रिया भी आतिशय्य प्रकट करती है—'खाता जाता है, पीता जाता है' आदि। और भी अधिकता प्रकट करने के लिए 'चल' धातु लगा देते हैं—'खाता चला जाता है' 'पीता चला जाता है'। और भी आधिक्य तथा नैरन्तर्य्य प्रकट करने के लिए 'ही' अव्यय—'खाता ही चला जाता है'। परन्तु 'खाता-खाता है' या 'पीता पीता है' जैसे प्रयोग न हों गे।

'खा खा कर मरे गा' में पूर्वकालिक क्रिया द्विरुक्त है।

हेतु-रूप क्रिया की द्विरुक्ति

'बहुत चला, इस लिए थक गया'। इस में 'बहुत चलना' हेतु है और 'थक जाना' हेतुमान् है। बहुत चलने को द्विरुक्ति से भी प्रकट कर सकते हैं; भाववाचक कृदन्त 'त' प्रत्यय के योग से—

१—राम चलते-चलते थक गया
२—सीता चलते-चलते थक गई
३—मैं चलते-चलते थक गया
४—हम चलते-चलते थक गये।

इसी तरह 'थक जाए गा' 'थक जाए गी'
'थक जाऊँ गा' 'थक जाता है' इत्यादि ।

'सीता चलते-चलते थक गई' में द्विरुक्ति के दोनो अंश भाववाचक 'त' प्रत्यय से हैं। पुंविभक्ति के 'आ' को 'ए' हो जाता है, ऐसी स्थिति में। 'सीता चलती-चलती थक गई' में 'चलती-चलती' कर्तृवाच्य 'त' प्रत्यय है। यानी 'सीता' का विशेषण है, यह कृदन्त द्विरुक्त शब्द। 'लड़का चलता-चलता गिर पड़ा' में 'चलता-चलता' वैसा ही विशेषण है। 'लड़का चलते-चलते थक गया' में 'चलते-चलते' एकवचन ही है, बहुवचन नहीं। बहुवचन में भी 'आ' को 'ए' हो जाता है, परन्तु यहाँ तो 'लड़का' एक-वचन है। तब 'चलते-चलते' उस का विशेषण बहुवचन कैसे हो गा? 'लड़का चलता-चलता' में अवश्य 'चलता-चलता' विशेषण है। 'चलती-चलती गाड़ी रुक गई' यहाँ विशेषण का पूर्व प्रयोग है। यदि विशेषण से क्रिया पर अधिक जोर देना हो, तो उस का पर प्रयोग हो जाता है—'गाड़ी चलती-चलती रुक गई।' इसी तरह 'लड़का चलता-चलता थक गया'। परन्तु तो भी इसे 'विधेय विशेषण' न कहें गे। कारण, मुख्यतः विधेयता तो 'थक जाने' पर है। पूर्व-प्रयोग की अपेक्षा पर-प्रयोग में जोर अवश्य ज्यादा आ जाता है।

इस विश्लेषण से वह जिज्ञासा भी शान्त हो जाती है कि 'लड़का चलते-चलते थक गया' ठीक है, या 'चलता-चलता'! दोनो प्रयोग शुद्ध हैं—एक में द्विरुक्ति भाववाच्य है, दूसरे में 'कर्तृवाच्य'-विशेषण रूप में। यह अलग चीज है कि कहाँ किस का प्रयोग किया जाए। 'चलने' का अन्वय दोनो तरह से एक ही जगह होता है। चलने से ही 'लड़का' थका है। वहीं 'चलता-चलता' स्पष्टतः विशेषण रूप से अन्वित है और 'चलते-चलते' भाववाच्य द्विरुक्ति से भी। यदि हेतु (चलने) पर अधिक जोर देना हो, तो भाववाच्य प्रयोग करना हो गा—'चलते-चलते'। विशेषण के रूपमें क्रिया दब जाती है। 'चलता-चलता' में 'त' प्रत्यय 'कर्तरि' है, जो विशेषण रूप से प्रयुक्त है। विशेष्य प्रधान होता है, विशेषण उस का ही पिछलग्गू होता है, चाहे आगे ही क्यों न कर दिया जाए! 'लड़का चलता है' में 'चलता है' मुख्य क्रिया है, आख्यात है। विधेयता 'चलने' पर ही है। इस लिए इसकी अप्रधानता का कोई प्रश्न ही नहीं। परन्तु 'चलता-चलता' विशेषण है, हेतु-रूप। यहाँ क्रियांश अवश्य कुछ दब जाता है। इसी को

भावात्मक रूप से कह दें—'लड़का चलते-चलते थक गया' या 'चलते-चलते लड़का थक गया' तो क्रियांश (चलने) की प्रधानता दबती नहीं है; यद्यपि है यह भी वहीं अन्वित—उसी (कर्ता) की विशेषता यह भी प्रकट करता है। दोनो तरह से थकान 'लड़के' पर ही है। परन्तु यह 'भावात्मक' विशेषण साफ शब्दों में 'विशेषण' नहीं कहलाता है। 'श्रीगिरिजा शंकर वाजपेयी केन्द्रीय सरकार के सर्वेन्ट थे' न कहा जाए गा; 'केन्द्रीय सरकार की सर्विस में थे' कहा जाए गा। स्थिति में अन्तर से प्रयोग—भेद। यही कारण है कि 'लड़का चलता चलता थक गया' में 'चलता-चलता' 'विशेषण' है और 'चलते-चलते' (विशेषण होने पर भी) 'विशेषण' नहीं है—कभी भी विशेष्य के अनुसार [रंग-रूप यहाँ नहीं बदलता—अपनी स्थिति है। दबता नहीं है।

इस भावात्मक द्विरुक्ति को 'क्रिया-विशेषण' नहीं कह सकते; क्योंकि क्रिया (थकने) में इस से कोई विशेषता नहीं जान पड़ती; हेतु भर है। इस संबन्ध में अधिक जो कुछ कहना है, आगे 'क्रिया--विशेषण' के प्रकरण में ही कहा जाए गा। इस जगह एक प्रसंग-प्राप्त विचार उठा है, देख लीजिए। 'सीता चलते--चलते थक गई' आदि में 'एकारान्त' रूप हैं। हम ने कहा है कि 'आ' को 'ए' हो जाता है और यह अव्ययकल्प है; सदा ऐसा ही रूप रहता है। और सब तो ठीक; पर 'आ' को 'ए' होना विचारणीय है। पहले 'आ' पुंविभक्ति और फिर उसे 'ए' करना प्रक्रिया-गौरव है। दूसरे, जब संज्ञा-विभक्ति 'आ' बहुवचन और स्त्रीलिङ्ग में रूपान्तरित होती ही है, तब यहाँ उस नियम की शिथिलता क्यों ? फिर, ब्रजभाषा तथा राजस्थानी में 'ओ' पुंविभक्ति है—'ऐसो काम'। वहाँ भी 'ऐसे गोपी मनु समुझावै' 'कैसे मति मेरी समुझै' आदि रूप से क्रिया-विशेषण एकारान्त ही रहते हैं। जहाँ पुंविभक्ति न 'आ' है, न 'ओ' है, वहाँ (पाञ्चाली आदि में) भी 'ऐसे कामु न चलिहै' 'तुम कैसे इयो कामु करिहौ' आदि रूप से 'ऐसे' 'कैसे' एकारान्त प्रयोग ही क्रिया-विशेषण के रहते हैं। 'ऐसा' के क्षेत्र में 'ऐसे' क्रिया-विशेषण, 'ऐसो' के क्षेत्र में भी और 'ऐस' के भी क्षेत्र में। 'ऐस' का उच्चारण ('अइस' जैसा) पृथक् होता है। 'पैसा' को भी 'पइसा' जैसा बोलते हैं। यह उच्चारण-भेद है। 'ऐसे' सर्वत्र समान है। ऐसी स्थिति में तीन-तीन नियम बनाने पड़ें गे—'आ' को 'ए' हो जाता है, 'ओ' को 'ए' हो जाता है और ('ऐस' आदि के) 'अ' को 'ए' हो जाता है! यह सब

एकदम बेमजे का गोरखधन्धा है ! सीधी बात यह कि जहाँ 'आ' या 'ओ' पुंविभक्ति लगती है, उन शब्दों के मूल रूप 'ऐस' 'कैस' 'जैस' आदि में ही 'ए' प्रत्यय लग कर 'ऐसे' आदि रूप बनते हैं, जो सदा एकरस रहते हैं, अव्यय हैं। यही प्रत्यय 'त' आदि कृदन्त-प्रत्ययों में लगता है, तब 'चलते-चलते' आदि अव्ययात्मक रूप बनते हैं। यह 'ए' सार्वनामिक क्रिया-विशेषणों में तथा धातु-रूपों में लगता है, द्विविध है। जैसे 'ढिठाई' में 'आई' तद्धित भावप्रत्यय और 'लिखाई' में कृदन्त भाव--प्रत्यय ! जहाँ 'ऐस' का 'अस' और 'जैस' का 'जस' रूप हो जाता है, वहाँ 'ए' नहीं होता। 'मानस' (अवधी) में 'जस जस सुरसा बदन बढ़ावा'। 'जैस' का अवश्य 'जैसे' हो जाए गा।

क्रिया की निष्फलता आदि प्रकट करने के लिए पूर्वकालिक (क्रिया) की द्विरुक्ति होती है—

१—मैं पढ़-पढ़ कर मर गया; पर समझ कुछ न पाया।
२—पीस-पीस कर बुढ़िया मरे, कुत्ते खाएँ, मौजें करें !
३—दौड़ता-दौड़ता थक गया; पर तुम्हें न पकड़ पाया।

कभी क्रिया का आधिक्य भी पूर्वकालिक क्रिया की द्विरुक्ति से प्रकट होता है—'सो-सो कर तू ने दुपहर कर दी।' जहाँ क्रिया की निष्फलता आदि प्रतीत होती है, वहाँ भी क्रिया का आधिक्य तो प्रकट ही होता है; अर्थान्तर के साथ। क्रियार्थक क्रिया की द्विरुक्ति नहीं होती। परन्तु प्रेरणा आदि की बराबर होती है—

दूध पिला-पिला कर इतना बड़ा कर दिया'।
'पढ़ा-पढ़ा कर मर गया; पर इस की समझ में कुछ न आया !'

'आ' प्रत्यय क्रिया की न्यूनता में

द्विरुक्ति से क्रिया का आधिक्य प्रतीत होता है; यह ऊपर कहा गया। परन्तु इस के ठीक विरुद्ध, क्रिया की न्यूनता भी द्विरुक्ति से प्रकट होती है; जब कि पर-खण्ड में तदर्थ 'आ' प्रत्यय लग जाता है।

१—तू पढ़ता-पढ़ाता तो कुछ है नहीं !
२—यहाँ तू कुछ करता-कराता तो है ही नहीं !

दूसरे खण्डों में 'आ' प्रत्यय स्पष्ट है। प्रेरणा में पर-खण्ड के आद्य अंश में परिवर्तन हो जाता है—(वर्णलोप-वर्णविकारआदि)—

१—तू पढ़ाता-अढ़ाता तो है नहीं !

२—तू पढ़ाता-वढ़ाता तो है नहीं !

पहले उदाहरण में 'प्' का लोप और दूसरे में 'प्' को 'व्' हो गया है।

जल्दी-जल्दी में क्रिया की निष्पत्ति प्रकट करने के लिए भी द्विरुक्ति होती है और परखण्ड में 'आ' प्रत्यय लगता है—

१—आध घंटे में सब कर-करा ले

२—एक वर्ष में सब पढ़-पढ़ा ले

उपेक्षा में भी—

'अरे भाई, आगे चल कर नहा-सहा लेना' !

पर-खण्ड में 'न्' को 'स्' आदेश।

यदि दूसरी स्थिति हो, तो—'नहा-धो कर चलें गे'। मतलब, अच्छी तरह स्नान आदि कर के।

कर्ता की असमर्थता या उपेक्षा आदि प्रकट करने के लिए भी 'आ' प्रत्यय काम आता है—

१—तुम से होता-हवाता तो कुछ है नहीं !

२—तू छूता-छुवाता तो है नहीं !

पहले उदाहरण में पर-खण्ड के 'ओ' को 'अ व्' हो गया है और दूसरे में 'ऊ' को 'उव्' हुआ है। 'व्' का वैकल्पिक लोप—'छूता-छुआता'।

समानार्थक क्रिया से पुनरुक्ति

एक ही क्रिया की द्विरुक्ति ऊपर बताई गई। इसी तरह समानार्थक क्रिया से भी द्विरुक्ति होती है, जब कि क्रिया का 'सम्यक् होना' प्रकट करना अभिप्रेत हो—

१—समझ-बूझ कर आगे पग बढ़ाना

२—देख-भाल कर काम करना चाहिए

'समझ' के ही अर्थ में 'बूझ' का प्रयोग 'अवधी' आदि में होता है—'अजहुँ न बूझ अबूझ !'—नासमझ ने अब भी न समझा ! 'बुध' से 'बूझ' है। राष्ट्रभाषा में 'मैं समझता हूँ' तथा 'समझे' आदि की जगह 'बूझता

हूँ'—'बूझे' आदि प्रयोग न हों गे। परन्तु पूर्वकालिक क्रिया में 'समझ' के साथ 'बूझ' लगा देते हैं, जोर देने के लिए। हिन्दी जोर देने के लिए प्रायः भिन्न शब्द साथ लगा लेती है, जिस का अर्थ समान हो। 'एक और एक' मिल कर ग्यारह हो जाते हैं। जोर आ जाता है—लाल-सुर्ख, पीला-जर्द, काला-स्याह, आदि। 'हरा-सब्ज' नहीं बोला जाता—'हरा कचनार' अवश्य बोलते हैं। 'कचनार' एक वृक्ष का नाम है। 'लाल-लाल' या 'पीला-पीला' कह देने से रंग का आधिक्य नहीं प्रतीत होता, प्रत्युत कुछ न्यूनता ही प्रकट होती है—

'वह जो लाल-लाल इमारत नजर आ रही है' यानी लाल झाईं मार रही है। परन्तु भिन्न शब्द के साथ—'उस का चेहरा लाल-सुर्ख हो गया'—बहुत ज्यादा लाल हो गया।

यही बात क्रिया की द्विरुक्ति में है। इतनी विशेषता है कि आधिक्य प्रकट करने के लिए प्रायः द्विरुक्ति होती है और 'सम्यक्' या 'अच्छी तरह' विशेषता देने के लिए भिन्न समानार्थक क्रिया लगा कर पुनरुक्ति की जाती है। 'बूझ' शब्द अवधी का है; इस से 'समझ बूझ कर'।

'देख भाल कर' में 'भाल' संस्कृत का शब्द है—'जगत् सर्वं केन वा विनिभालितम्'—सारा संसार किस ने देख लिया है! हिन्दी में 'भाल' का प्रयोग नहीं होता—'देखता है' की जगह 'भालता है' न चले गा; परन्तु 'देखता-भालता तो तू है नहीं!' आदि में 'देख' के साथ पुनरुक्ति में आता है। पुनरुक्ति से क्रियार्थक प्रयोग भी होते हैं—'देखने-भालने कौन जाए गा?' संयुक्त क्रिया है। 'देखते-भालते रहना भाई!'

'जाँच-पड़ताल कर के पहले देख लेना'

'जाँच-पड़ताल' भाववाचक रूप है। 'पड़ताल' हिन्दी शब्द है; परन्तु इस के आख्यात-प्रगोग नहीं होते। 'जाँच' शब्द भी ऐसा ही है। भाव-वाचक रूप में दोनो एक साथ आ कर 'जाँच-पड़ताल' बन जाते हैं।

यदि क्रिया में हलकापन हो, तो 'जाँच-पड़ताल' की जगह 'पूछ-पाछ' जैसा प्रयोग हो गा। पर-खण्ड में 'ऊ' को 'आ'। 'पूछ-पाछ कर चले जायँ गे।'

समानार्थक की ही तरह मिलते-जुलते क्रिया-शब्दों की भी एकत्र स्थिति होती है; पर ऐसे शब्दों को न 'द्विरुक्ति' कहें गे, न 'पुनरुक्ति'। 'संयुक्त क्रिया'

के क्षेत्र में इन का निर्वाह है; जैसे 'पढ़ना-लिखना' 'उठना-बैठना' 'मिलना-जुलना' आदि ।

'पूछ-ताछ' आदि में 'ताछ' आदि समानार्थक शब्द ही जान पड़ते हैं—निरर्थक नहीं । परन्तु हमें पता नहीं कि 'ताछ' क्रिया का प्रयोग कहाँ होता है, या कहाँ होता था । अनेक शब्द-प्रयोग सामान्यतः लुप्त हो जाते हैं; पर विशेष-प्रयोगों में बने रहते हैं । 'आ' प्रत्यय की कल्पना जिन के ध्यान में नहीं आई, वे 'होना-हवाना' के 'हवाना' को 'होना' की पुनरुक्ति न समझ पाए और उस शब्द ('हवाना') को 'निरर्थक' कह गए ! यही नहीं, 'देख-भाल' के 'भाल' को भी 'निरर्थक' कह दिया ! और सचमुच ये शब्द उन के लिए वैसे ही हैं ! जो जिसे न जानता हो, उस के लिए वह निरर्थक तो होता ही है !

परिशिष्ट भाग

[१—हिन्दी की कुछ 'बोलियाँ' २—हिन्दी की एक शाखा 'पंजाबी' ३—व्याकरण और भाषा-विज्ञान]

परिशिष्ट भाग

परिशिष्ट—१

हिन्दी की कुछ बोलियाँ

जैसा कि 'हिन्दी' नाम से प्रकट है, समूचे हिन्द में बोली-समझी जाने वाली भाषा 'हिन्दी'। इस महादेश में यह परम्परा रही है कि विभिन्न प्रदेशों की अपनी-अपनी भाषा रहते हुए भी समूचे देश में बोली-समझी जाने वाली एक सब की सामान्य भाषा भी रहती रही है। व्यापार, शिक्षा या शासन की दृष्टि से अन्तर-प्रदेशीय आवागमन होता है। इस तरह का आवागमन वही लोग करते हैं; जो कुछ शिक्षित होते हैं। एकदम प्राकृत जनों के बस की यह बात नहीं। उन्हें जरूरत भी नहीं। हाँ, तीर्थयात्रा अवश्य सब तरह के लोग करते हैं और ऐसी स्थिति में इन्हें भी देशव्यापी सामान्य भाषा का आश्रय लेना पड़ता है।

देश भर में प्राकृत के उतने भेद हो जाने पर बहुत दिन तक देश की सामान्य व्यवहार–भाषा शायद संस्कृत ही रही। ऐसी स्थिति में संस्कृत भी द्विधा विभक्त हो गई हो गी; एक उच्च संस्कृत और दूसरी साधारण संस्कृत, जो साधारण जनों के प्रयोग से कुछ और तरह की हो गई हो गी। आज की 'साहित्यिक हिन्दी' और 'साधारण' जनता की हिन्दी समझिए, जिसे 'बाजारू हिन्दी' कहते हैं। शब्द-प्रयोग करने में साधारण जन पूरी सावधानी तो रखते नहीं हैं। परन्तु वह भाषा चलती है और वह 'बाजारू हिन्दी' भी 'हिन्दी' ही कहलाती है। शिष्ट या साहित्यिक संस्कृत ने भी प्रयोग-भेद से कदाचित् दो प्रमुख रूप ग्रहण कर लिए थे। इसी लिए पाणिनि-सूत्रों में वैसा निर्देश आता है। पाणिनि-सूत्रों में—

'विभाषा' और 'अन्यतरस्याम्'

शब्द विचारणीय हैं। इन दोनो शब्दों को 'वा' यानी विकल्प के अर्थ में ग्रहण करते हैं। परन्तु पाणिनि-व्याकरण के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं,

संस्कृत-साहित्य के किसी भी भेद-प्रभेद में, ये शब्द 'वा'–'अथवा' के अर्थ में आते नहीं हैं। 'गच्छति न वा' की जगह कभी भी 'गच्छति विभाषा' या 'गच्छति अन्यतरस्याम्' नहीं कह सकते! तो, क्या कारण है कि पाणिनि ने विकल्पार्थक 'वा' के रहते भी 'विभाषा' तथा 'अन्यतरस्याम्' जैसे दीर्घकाय शब्द कहीं-कहीं दिए? 'विभाषा' के लिए यह भी कहा गया है—'नवेति विभाषा'–'विभाषा' कहीं निषेध में है, कहीं विकल्प में। यानि 'विभाषा' कहने से 'न' किंवा 'विकल्प' समझना चाहिए! 'न' कहने की तो जरूरत ही न थी! जिस शब्द का भाषा में प्रयोग ही नहीं होता, उस पर विचार कौन करता है? 'राम ने रोटी खाई' प्रयोग होता है; इस पर विचार किया जाए गा; पर यह न कहा जाए गा कि 'राम से रोटी खाई' नहीं बोला जाता। हाँ, विकल्प बतलाया जा सकता है कि काशी की ओर साहित्यिक लोग 'राम के लड़की हुई' की जगह 'राम को लड़की हुई' भी लिख देते हैं! यह 'के' 'को' की वैकल्पिक बात है और 'लिख देते हैं' कहने से स्पष्ट है कि वैसा प्रयोग सार्वदेशिक नहीं है। परन्तु जिस का प्रयोग होता ही न हो, उस का निषेध क्या? सोचने की बात है। 'अन्यतरस्याम्' भी विचारणीय है।

ऐसा जान पड़ता है कि देश में 'पाणिनि' के समय उच्च संस्कृत के दो प्रमुख भेद थे। भाषा एक होने पर भी शब्द-प्रयोग में कहीं कुछ अन्तर था। पाणिनि जिस भाषा के थे, उसी पर उन का ध्यान था। भाषा के दूसरे रूप में जहाँ कहीं उन्हें अन्तर दिखाई दिया, उसे भी 'अन्यतरस्याम्' कह कर बतला दिया। दो में से एक भाषा-'अन्यतरा'। 'अन्यतरस्याम्' कहने से उस समय 'अन्यतरस्याम् भाषायाम्' लोग समझ लेते हों गे। 'दूसरी में ऐसा'—यानी दूसरी संस्कृत में, संस्कृत के अन्यतर रूप में। 'मराठी की भी लिपि नागरी ही है।' यहाँ 'मराठी' शब्द से 'मराठी भाषा' ही समझी जाए गी, 'मराठी' कोई दूसरी चीज नहीं। व्याकरण 'भाषा' पर विचार करता है; इस लिए 'अन्यतरस्याम्' कहने से 'भाषायाम्' ही समझा जाए गा, 'लतायाम्' आदि नहीं। पाणिनि का व्याकरण संस्कृत के दोनो रूपों ने मान लिया और आगे चल कर संस्कृत ने जब प्रादेशिक भेद-भाव छोड़ दिया, तो दोनो तरह के प्रयोग सर्वत्र चलने लगे और 'अन्यतरस्याम्' शब्द विकल्प में ले लिया गया। चाहे ऐसा प्रयोग करो, चाहे वैसा।

यह तो शिष्ट-भाषा का हाल। जो संस्कृत साधारण शिक्षित बोलते हों गे, उस में अशुद्धियाँ अधिक रहती होंगी। उसी को पाणिनि ने कदा-

चित् 'विभाषा' कहा हो ! 'विभाषा' का भी कोई शब्द साहित्यिक भाषा ले लेती हैं; और कोई नहीं लेती। सामान्य रूप दोनो का एक है ही। जहाँ जरूरत हुई, पाणिनि ने कह दिया कि यह शब्द 'विभाषा' है। 'बाजारू हिन्दी' है—'मेरे को परवाह नहीं'। 'बाजारू हिन्दी में 'मेरे को' प्रयोग होता है' की अपेक्षा 'यह बाजारू हिन्दी है' 'यह बाजारू प्रयोग है' कहने की अधिक चाल है। पाणिनि ने कदाचित् इसी लिए सर्वत्र 'विभाषा' कहा, 'विभाषा-याम्' नहीं। परन्तु साहित्यिक संस्कृत के दूसरे रूप के लिए गौरव के साथ 'अन्यतरस्याम्' सप्तम्यन्त (अधिकरण) का सर्वत्र प्रयोग है। यों पाणिनि के 'विभाषा' तथा 'अन्यरस्याम्' शब्दों पर यह मेरी परिकल्पना है। इस पर विद्वानों को विचार करना चाहिए। कदाचित् संस्कृत की इसी 'विभाषा' का नाम आगे 'पालि' पड़ गया हो ! 'पल्ली' से 'पाली'–'पालि' शब्द जान पड़ते हैं, 'पंक्ति' से नहीं। 'पंक्ति' से तो 'पन्ति' 'पाँत' या 'पत्ति' बन सकते हैं। 'पल्ली' कहते हैं, साधारण गाँव को। 'पालि' भाषा—'नागर' या 'शिक्षित' जनों की भाषा के विपरीत, अपढ़–कुपढ़ लोगों की भाषा। यों 'पालि' संस्कृत की ही 'विभाषा' और 'प्राकृत' इस से भिन्न।

साधारण प्राकृत-भाषाएँ अन्य प्रदेशों की तरह उत्तर भारत में भी पृथक् थीं, मगध में भी। परन्तु 'पालि' अपने रूप के कारण संस्कृत तथा साधारण (जन-विकसित) प्राकृतों के बीच की चीज ! भगवान् महावीर ने और भगवान् बुद्ध ने 'अपनी' प्राकृत में उपदेश दिए। जैनों ने अपने मूल ग्रन्थ प्राकृत में ही रखे और टकसाली संस्कृत में भी आगे अपना प्रौढ साहित्य दिया। इस के विपरीत, बौद्धों ने 'पालि' में अपना मुख्य साहित्य दिया; बुद्ध-वचन भी 'पालि' में कर दिए। 'पालि' इस समृद्धि से खूब बढ़ी। परन्तु जैन-साहित्य इस बीच की भाषा में नहीं; या तो प्राकृत में, या फिर उच्च संस्कृत में। प्राकृत के व्याकरण भी बने और उन व्याकरणों के अनुसार फिर प्राकृत 'बनाई जाने लगी' ! आगे चलते-चलते प्राकृत एकदम कर्णकटु और दुरुच्चार कृत्रिम भाषा बन गई ! 'पालि' में केवल बौद्ध–साहित्य था। साहित्यिक 'प्राकृत' अप्राकृत हो गई ! यानी, उस समय उच्च संस्कृत तथा 'पालि' ये दो भाषाएँ, मूलतः एक ही भाषा की दो शाखाएँ, देश भर में फैल रही थीं। तीसरी भाषा 'प्राकृत' भी चल रही थी। यानी साहित्यिक राष्ट्रभाषा के रूप में यह त्रिवेणी चल रही थी !

प्राकृतों की तीसरी अवस्था में—अपभ्रंश काल में—एक लहर फिर राष्ट्रभाषा की उठी। इस समय देश भर में एक ही प्राकृत (अपभ्रंश) में सब लोग साहित्य-रचना करते थे। बिहार के बौद्ध सिद्धों की वाणी और राजस्थान की तत्कालीन साहित्यिक भाषा को मिला कर देखिए। न कहीं बिहार का कोई मौलिक तत्त्व दिखाई दे गा, न वर्तमान राजस्थान का ही प्रस्फुटित रूप सामने दिखे गा। सब में एकरूपता है; परन्तु उस पर प्रादेशिकता की छाप जरूर है। बिहार के सिद्धों में बिहार की तत्कालीन भाषा की झलक कहीं है, तो राजस्थानी कवियों की भाषा में तत्कालीन राजस्थानी का पुट है। आज भी राष्ट्रभाषा हिन्दी पर जैसे प्रादेशिक भाषाओं की झलक कहीं आ जाए, उसी तरह समझिए। परन्तु वह देशव्यापी प्राकृत (अपभ्रंश) मूलतः किस प्रदेश की भाषा थी ? उस समय कन्नौज का राजनैतिक दृष्टि से महत्त्व था और किसी भाषा के देशव्यापी प्रसार में राजनैतिक महत्त्व भी कारण होता है। बहुत सम्भव है, उत्तरप्रदेश के इस मध्यवर्ती भाग (कन्नौज, कान्यकुब्ज, या पंचाल) की लोकभाषा ही उस समय देश भर की साहित्यिक भाषा बन गई हो, जिसे हम आज 'अपभ्रंश-साहित्य' में देखते हैं !

इस के अनन्तर 'ब्रजभाषा' देश में साहित्यिक सामान्य भाषा के रूप में फैली। बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात आदि सभी प्रदेशों के सन्तों ने व्रजभाषा में कविता की है। देश भर में अपनी बात पहुँचाने–फैलाने का वही साधन–माध्यम थी। इसी लिए मुसलमान साहित्यिकों ने उस समय व्रजभाषा को ही 'हिन्दवी, या 'हिन्दी' नाम दिया है। उस समय व्रजभाषा 'हिन्दी' थी और 'खड़ी बोली' 'अवधी' आदि उस की 'बोलियाँ' थीं।

आगे चल कर मुसलमान शासकों ने दिल्ली–मेरठ की बोली ('खड़ी बोली') को अपनाया और 'उर्दू' नाम दे कर देश भर में फैलाया। यही उर्दू विदेशीपन हटा कर आज 'हिन्दी' है—'हिन्द की भाषा' है और व्रजभाषा आदि अब इस की 'बोलियाँ' हैं। इन्हीं कुछ बोलियों का संक्षिप्त परिचय देने का यह उपक्रम है।

'बोली' और 'भाषा'

'बोली' भाषा को ही कहते हैं। साहित्यिक रूप को 'भाषा' कहते हैं और जनगृहीत रूप को 'बोली'। हिन्दी की बोलियों में कई तो उच्च साहित्य से इतनी समृद्ध हैं कि संसार की समृद्ध से समृद्ध भाषा के सामने ऊँचा सिर

उन का है। व्रजभाषा और राजस्थानी का साहित्य जगजाहिर है। मैथिली के विद्यापति आदि अपनी साहित्यिक देन के कारण ऐसे महत्त्वशाली हैं कि बंगाली लोग उन्हें अपनी ओर खींच रहे हैं, दूसरे अपनी ओर! अवधी भाषा तो तुलसी के ही कारण संसार-प्रसिद्ध है। 'रामचरित-मानस' ने अवधी को रूस, फ्रांस, इंग्लैंड आदि में भी पहुँचा दिया है! इतना महत्त्व इस देश की वर्तमान भाषाओं में शायद ही किसी दूसरी को मिला हो! जहाँ तक मैं समझता हूँ, किसी को भी नहीं।

खैर, हम यहाँ साहित्यिक चर्चा न उठा कर केवल भाषा-संबन्धी ही कुछ परिचयात्मक कहेंगे। 'खड़ी बोली' के क्षेत्र (मेरठ-दिल्ली) से लगा हुआ व्रज है और व्रजभाषा ही किसी समय 'हिन्दवी' या 'हिंन्दी' थी। सो, यहीं से हमें चलना चाहिए। परन्तु व्रजभाषा पर जिन (राजस्थानी, खड़ी बोली आदि) का प्रभाव है, उन के बारे में कुछ समझ लेना पहले जरूरी है।

एकरूपता और भिन्नरूपता

हिन्दी की सब बोलियाँ तद्धितीय संबन्ध-प्रत्यय 'क' तथा 'के' विभक्ति की एकसूत्रता लिए हुए हैं और यही ऐसा तत्त्व है, जो इन सब ('हिन्दीकी' बोलियों) को एक टोली में लाता है तथा हिन्द की दूसरी दूसरी बोलियों या भाषाओं से इन की व्यावृत्ति भी करता है। पहले यथास्थान हम कह आए हैं कि 'क' तद्धितीय संबन्ध-प्रत्यय है, जिस में 'खड़ी बोली' की खड़ी पाई (पुंविभक्ति) 'आ' लगा कर 'राम का लड़का' जैसा रूप प्रकट होता है। राजस्थान (अलवर, कोटा, जयपुर-शेखावाटी आदि) में भी 'क' का चलन है। वहाँ पुंविभक्ति 'ओ' लग जाती है-राम को, तेरो, अपनो। व्रज में भी 'ओ' पुंविभक्ति है। पूरबी अवधी, मगही भोजपुरी, मैथिली आदि बोलियों में न 'आ' विभक्ति, न 'ओ' विभक्ति—केवल 'क' 'र' 'न' चलते हैं। पंजाबी में 'क' की जगह 'द' है; यद्यपि संज्ञाविभक्ति या पुंविभक्ति 'आ' ही है—'राम दा मुंडा, राम दी कुड़ी'—राम का लड़का, राम की लड़की। सो, 'क' की जगह 'द' रखने के कारण 'हिन्द की' यह बोली, 'हिन्दी की' बोली नहीं है। गुजरात में संज्ञाविभक्ति तो राजस्थान तथा व्रज वाली ही 'ओ' है; पर 'क' तद्धितीय प्रत्यय नहीं। इस की जगह वहाँ 'न' है। महाराष्ट्र में 'च' है और बंगाल में 'र' है (विभक्ति-रूप से)—'सीतार वनवास'—सीता का बनवास। सो, क, र, न ये तीनो तद्धितीय संबन्ध-प्रत्यय जहाँ हैं,

वह 'हिन्दी की बोली'। यह हुई एकसूत्रता। और के, रे, ने संबन्ध विभक्तियाँ। पहाडी (गढ़वाली तथा कूर्माञ्चली) बोलियों में भी 'क' तथा 'के' हैं।

पुंविभक्ति में भेद है। कहीं 'आ' है, कहीं 'ओ' है और कहीं (पूरबी बोलियों में) 'उ' है। परन्तु यह 'उ' विभक्ति 'क' आदि तद्धितीय प्रत्ययो में नहीं लगती; 'कारनु' (कारण) आदि भाववाचक संज्ञाओं में प्रायः लगती है, जब कि 'खड़ी बोली' ऐसी संज्ञाओं में अपनी पुंविभक्ति नहीं लगाती—'कारण' को कभी भी 'कारणा' न हो गा। यहाँ तो 'धारण' 'धारणा' आदि संस्कृत तद्रूप भाववाचक पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग संज्ञाएँ वैसा ही रूप रखती हैं। 'उ' पुंप्रत्यय का ब्रज पर भी प्रभाव है; पर प्रयोग में अन्तर है। ब्रज की बोली में 'आवतु है' 'सोवतु है' जैसे एकवचन चलते हैं, राष्ट्रभाषा में 'आता है'—'सोता है'। अवध आदि में 'उ' का प्रयोग एकवचन क्रिया में नहीं होता। वहाँ 'आवत है' 'जात है' चलता है। साहित्यिक ब्रजभाषा ने ब्रज-जनपद के 'आवतु' 'खातु' आदि उकारान्त क्रियापद नहीं लिए, 'कन्नौजी' के 'आवत' 'खात' आदि रखे हैं। ब्रज में क्रिया के 'ह्' का प्रायः लोप हो जाता है—'है' को 'ऐ' और 'हैं' को 'एं' बोलते हैं। परन्तु साहित्यिक ब्रजभाषा ने सर्वत्र व्यापक रूप 'है'—'हैं' रखे हैं। 'ही' अव्यय के 'ह्' का लोप साहित्यिक ब्रजभाषा में अवश्य देखा जाता है—'ऐसोई कछु वाको सँदेसो'—ऐसा ही कुछ उस का सँदेसा। ब्रज के 'हू' अव्यय को राष्ट्रभाषा ने भी 'ह्' का लोप कर के कहीं ग्रहण किया है—'चारो'। ब्रजभाषा में भी 'ह्' का लोप, परन्तु सन्धि 'औ'—'चारौ'।

हिन्दी की सभी बोलियों में सोव, रोव, धोव, आव जैसे धातु-रूप हैं—'सोवत है' आदि क्रिया-पद। कहीं 'व' को 'उ' सम्प्रसारण—'सोउत है'। परन्तु राष्ट्रभाषा में धातु-रूप हैं—सो, रो, धो, आ आदि। 'सोता है' जैसे क्रिया-पद। मेरठीय जन-भाषा में ('बोली' में) 'सो' और 'सोव' दोनो रूप सुने जाते हैं—'सोवा है राम' और 'सोवै सै'—'सोवै है' भी। संभव है, 'सोव' जैसे धातुरूप पड़ोसी प्रदेश पंजाब या ब्रज से आ गए हों! परन्तु राष्ट्रभाषा ने 'सोव' आदि धातुरूप नहीं लिए; सो, रो, आदि ही यहाँ हैं। अवधी आदि बोलियों से ही नहीं, 'अपनी' (मूल) मेरठी या 'खड़ी बोली' से भी यहाँ हिन्दी (राष्ट्रभाषा) में यह स्पष्ट मौलिक अन्तर है।

परन्तु कई कृदन्त प्रयोगों में राष्ट्रभाषा पूरबी बोलियों से प्रभावित है। पूरबी बोलियों में सामासिक कृदन्त भाववाचक संज्ञाएँ—'आवाजाई' 'खावा-

पी' 'धोवाधाई' जैसी चलती हैं। यदि समानार्थक या मिलते-जुलते अर्थ की धातु नहीं दिखाई देती, तो प्रकृत धातु द्विरुक्त हो जाती है—'धोवाधाई'। सर्वत्र 'ई' भाववाचक कृदन्त प्रत्यय है। पूर्व खंड का अन्त्य स्वर दीर्घ—'सोव' का 'सोवा' 'आव' का 'आवा' और 'धोव' का 'धोवा'। 'धोवाधाई' में द्वितीय 'धोव' के 'व' का लोप और 'ओ' को 'आ' हो गया है। 'ई' परे हो, तो 'व' का लोप हो ही जाता है—'रावनु आवा' और 'सुलोचना आई'। 'आवी' नहीं। स्त्रीलिङ्ग क्रियाएँ 'आई' 'गई' आदि हिन्दी की सभी बोलियों में समान हैं—जब कि पुल्लिङ्ग में—'गया'-'गयो' 'गवा' या 'गा' आदि ! सभी जगह स्त्री-परिधान समान है, पुरुष-परिधान में अन्तर है।

खैर, हम कह यह रहे थे कि राष्ट्रभाषा में धातु-रूप 'आ' आदि हैं, अन्य सब बोलियों में 'आव' जैसे वकारान्त। परन्तु 'आवाजाई' आदि प्रयोग राष्ट्र-भाषा ने ('आव' आदि धातुओं से बने) ले लिए हैं। कभी-कभी संस्कृत का 'गमन' लगा कर 'आवागमन' भी चलता है-'आवागमन का सिद्धान्त प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने स्वीकार किया है।' यहाँ 'आवाजाई' नहीं दिया जा सकता। 'तू ने क्या बार-बार आवाजाई लगा रखी है' यहाँ 'आवागमन' ठीक न रहे गा। हाँ, 'अपनी' धातुओं से 'अपने' रूप 'आना-जाना' चलें गे ही—'क्या तू ने बार-बार आना-जाना लगा रखा है।'

परन्तु 'आवागमन' में तो 'आव' धातु ही चले गी। यहाँ राष्ट्रभाषा अपनी 'आ' धातु रख दे, तो 'आगमन' रूप हो जाए गा ! मतलब ही न निकले गा ! और 'आना-जाना' उस रूढ शब्द ('आवागमन') के लिए ठीक जमे गा ही नहीं। इस लिए, पाञ्चाली-अवधी आदि का 'आवागमन' हिन्दी ने ले लिया है। 'आवाजाई' की ही टकसाल का 'आवागमन' है। व्रज में 'आव' धातु है, पर 'आवाजाई' नहीं, 'आनो जानो' वहाँ है।

खड़ी बोली के क्षेत्र (मेरठ-दिल्ली) से सटा हुआ व्रज-क्षेत्र है और उस से सटा राजस्थान है। मथुरा-आगरा आदि व्रज में हैं। इधर दिल्ली और उधर जयपुर। पूरब में कन्नौजी बोली का क्षेत्र भी सटा हुआ है। 'कन्नौजी' को 'पाञ्चाल-भाषा' या 'पाञ्चाली' कहना अधिक अच्छा, जो कन्नौज से शुरू होकर अवध तक चली जाती है।

यानी व्रजभाषा पर 'खड़ी बोली' का, राजस्थानी का तथा पाञ्चाली का प्रभाव पड़ा है। सच पूछो, तो इन तीनो भाषाओं का 'संगम'-रूप व्रजभाषा

है—'त्रिवेणी'। तीनो के मिश्रण से एक अलग ही मिसरी जैसी मीठी भाषा बन गई है–'व्रजभाषा'।

व्रज 'गोप-ग्वालों का निवास स्थान'। 'ग्वालियर' में भी 'ग्वाल' शब्द छिपा हुआ है। किसी समय व्रजभाषा को 'ग्वालियरी' ही कहते भी थे। बाद में 'व्रजभाषा' शब्द का ही चलन हुआ। ग्वालियर से आगे फिर 'बुंदेल–खंड' आ जाता है। बुंदेलखंड की बोली या भाषा पर 'ग्वालियरी' तथा 'पाञ्चाली' का प्रभाव है। देश भर की भाषाएँ इसी तरह एक दूसरी से अनुप्राणितप्र–भावित हैं।

यहाँ व्रजभाषा के संबन्ध में कुछ कहने से पहिले यदि 'राजस्थानी' तथा 'पाञ्चाली' का स्वरूप देख लें, तो अधिक अच्छा रहे गा। तब 'व्रजभाषा' का स्वरूप पूरी तरह से सामने आ जाए गा; क्यों कि उस में इनका सम्मिश्रण है।

(क) राजस्थानी का स्वरूप

व्रज क्षेत्र (आगरा-भरतपुर) से सटा हुआ राजस्थानी का क्षेत्र है—जयपुर आदि। हमें उपलब्ध 'प्राकृत'-साहित्य में भाषा का जो रूप मिलता है, वही राजस्थानी तथा गुजराती आदि का मूल जान पड़ता है। राजस्थानी तथा गुजराती में बहुत साम्य है। मीराबाई के कितने ही भजन-गीत गुजराती-साहित्य में उद्धृत किए गए हैं और उन गीतों की भाषा को वर्तमान गुजराती का प्राचीन रूप बतलाया गया है। राजस्थानी तो मीराबाई की है ही। इस हिसाब से राजस्थानी तथा गुजराती का विकास किसी एक ही प्राकृत से समझना चाहिए। साहित्य-प्राप्त 'प्राकृत' में संस्कृत अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों में (प्रथमा) एकवचन के विसर्गों का विकास 'ओ' के रूप में पुल्लिङ्ग–एकवचन मिलता है और राजस्थानी तथा 'गुजराती' भी में ओकारान्त रूप देखा जाता है, जब कि 'खड़ी बोली' तथा पंजाबी में आकारान्त ! यानी 'खड़ीबोली' (हिन्दी–राष्ट्रभाषा) का विकास जिस प्राचीन प्राकृत से है, उस में संस्कृत के पु० (अकारान्त शब्दों के) प्रथमा–एकवचन के विसर्गों का विकास 'ओ' न होकर 'आ' हुआ हो गा। विसर्ग 'आ' के रूप में परिवर्तित देखे भी जाते हैं—'उषः'–'उषा'। मिलती-जुलती ध्वनि भी—'ज्यादह'–'ज्यादा' आदि। परन्तु उस प्राकृत में साहित्य

कदाचित् बना नहीं, या लुप्त हो गया। हम उस रूप की कल्पना हिन्दी को देखकर थोड़ा-बहुत तो कर ही सकते हैं। चीनी के स्वाद से कोई भी गन्ने के रस की कल्पना कर सकता है, जिस ने कभी गन्ना देखा भी न हो। हम यहाँ नीचे उस प्राकृत के संभावित रूप देकर राजस्थानी का स्वरूप स्पष्ट करेंगे। संस्कृत, प्राकृत तथा राजस्थानी की पद्धति देखिए और 'खड़ी बोली' के लुप्त मूल का मिलान कीजिए—

भाषाएँ	एकवचन	बहुवचन
संस्कृत—	पुत्रः गतः	पुत्राः गताः
उपलब्ध प्राकृत—	पुत्तो गदो	पुत्ता गदा
राजस्थानी—	लड़को गयो	लड़का गया

+ + + +

संभावित प्राकृत—पुत्ता गदा पुत्ते गदे
खड़ी बोली—लड़का गया लड़के गये

एकवचन में 'पुत्ता' तब बहुवचन में 'पुत्ते' करना ही था। 'ई' हो नहीं सकती थी; क्योंकि हिन्दी की सभी बोलियों में स्त्रीलिङ्ग में 'ई' रहती है। 'उ' या 'ऊ' भी नहीं कर सकते थे; क्योंकि पाञ्चाली और अवधी आदि में एकवचन पुल्लिङ्ग में ('आ'–'ओ' की जगह) 'उ'-'ऊ' रहता है। 'ऋ' हिन्दी को ग्राह्य नहीं। परिशेष रहा 'ए'! उसे ही हिन्दी ने बहुवचन में ग्रहण कर लिया। संस्कृत में 'ते' 'ये' 'के' 'सर्वे' आदि शब्द पुल्लिङ्ग–बहुवचन एकारान्त होते ही हैं। वहाँ से भी प्रेरणा मिली। सो, 'खड़ी बोली' (कौरवी), 'कुरुजाङ्गल' की बोली तथा पंजाबी एक धारा में हैं। पुल्लिङ्ग–एकवचन—'लड़का जाता है'–'मुंडा जाँदा है' आदि। बहुवचन एकारान्त। परन्तु हिन्दी ने इस संज्ञा-विभक्ति की एकता पर ध्यान न दे कर संबन्ध-प्रत्यय 'क' को देख कर संबन्ध जोड़ा। जहाँ भी 'क' है, वह हिन्दी-परिवार, संज्ञा-विभक्ति चाहे 'आ' हो, 'ओ' हो, 'उ' हो, या कुछ भी न हो!

यों 'खड़ी बोली' का उद्गम भिन्न है, राजस्थानी का भिन्न। 'खड़ी बोली' ने ('क' न होने के कारण) पंजाबी से मेल नहीं किया और राजस्थानी ने गुजराती से संबन्ध न जोड़ा; यद्यपि 'ओ' संज्ञा–विभक्ति की समानता है। गुजराती में 'क' नहीं, 'न' संबन्ध-प्रत्यय है—'राम नो'–राम का,

'गुजरात नी'—गुजरात की; आदि। वैसे राजस्थानी के साथ गुजराती की पटरी अच्छी बैठती है। गुजराती के पुराने लोकगीतों में 'क' भी मिलता है। संभव है, यह उस सामान्य 'अपभ्रंश' का प्रभाव हो, जिसे हमने तत्कालीन 'पाञ्चाली' बतलाया है—

चाँच कटाऊँ पपैया रे, ऊपर कालो लूण।
पिव मेरा, मैं पिव की रे, तू 'पिव' कहै स कूण ?

यह गुजराती लोक-गीत राजस्थानी के कितने समीप है ? एक तरह की व्रजभाषा सी जान पड़ती है, इस लोकगीत की गुजराती !' चोंच गुजराती में भी चलता है। 'कटाऊँ' 'ऊपर' 'कालो' 'पिय' 'मेरा' 'कहै' आदि समान हैं। 'कूण'—कौन। राजस्थानी में 'कुण'। इस लोकगीत की वर्तमान गुजराती यह है—'पियु तो मारा छे, अने हुँ पियू नी छुँ। तुँ 'पियु' शब्द बोलनारो कोण ?'

इसी तरह—

पपैया रे, पिव की वाणी न बोल !
सुणि पावे ली विरहिणी रे, थारी रालेली पाँख मरोड़ !

'पावेली'—'पावै गी' (व्रजभाषा—राजस्थानी)। 'न' को 'ण' राजस्थान में बोला जाता है। व्रज में 'न' चलता है। हम राजस्थानी का व्याकरण नहीं लिख रहे हैं, न उस महनीय भाषा का स्वरूप-विवेचन ही कर रहे हैं। साधारण परिचय देना है, हिन्दी की बोलियों में परस्पर एकरूपता तथा भिन्नरूपता बतलाने के लिए।

चन्दबरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' में तथा इसी तरह के अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भाषा का जो रूप है, उसे हम 'राजस्थानी' नहीं कह सकते। सम्पूर्ण देश में जिस तृतीय प्राकृत ('अपभ्रंश') को सामान्यतः साहित्यिक भाषा के रूप में ग्रहण-वरण कर लिया गया था, उसी में ये 'रासो' ग्रन्थ हैं। राजस्थानी की छाया स्वाभाविक है। नरपति नाल्ह राजस्थानी थे और इन की रचना 'बीसलदेव-रासो' में राजस्थानी की कुछ विशेष झलक मिलती है—

सूणी सहेली कहुँ एक बात !
म्हारइ फरकइ छइ दाँहिणो गात।

प्रतिलिपिकों से वर्ण-विन्यास में बहुत हेर-फेर हो जाया करता था। संभव है, 'सुण' का ही 'सूणी' कर दिया गया हो, 'सहेली' से मेल मिलाने के लिए! कारण, खड़ी-बोली तथा व्रजभाषा में ऐसी जगह जो 'सुन' है, वही राजस्थान में 'सुण' है। आज्ञा-प्रार्थना आदि की क्रियाएँ 'साध्य'—रूप से 'तिङन्त' हैं 'राम, सुन!' 'सीता, सुन!' 'सहेली, सुणी' कुछ समंजस नहीं जान पड़ता। यह भी संभव है कि जिस देशव्यापी साहित्यिक 'तृतीय प्राकृत 'का राजस्थानी से प्रभावित यह रूप है, उस में 'सुण' का 'सुणि' तथा 'सुणी' रूप समंजस हो; ठीक बैठ जाए! कारण, 'कह कवन राम देखेसि' को 'कहु कवन राम देखेसि' तो देखा ही जाता है; पर 'उ' का 'इ' में भी परिवर्तन व्यापक-रूप से है—'कहि तू कवन'—कह, तू कौन है! सो, सुन, सुण, सुणु, सुणि, 'सुणी' एक ही धारा के 'साध्य'—(तिङन्त) क्रिया,—रूप हो सकते हैं; हैं।

'कहुँ' का 'कहूँ' से कोई भेद नहीं है। 'एक बात' बहुत साफ है। पाँचाला—अवधी आदि में आकारान्त पुल्लिङ्ग एकवचन में कहीं-कहीं अन्त में 'उ' दिखाई देता है और उस 'सामान्य प्राकृत' (अपभ्रंश) में भी यह है, जिस की चर्चा ऊपर कई बार आई है। 'रासो'—ग्रन्थ भी उसी 'सामान्य भाषा' में हैं, कुछ राजस्थानी पुट के साथ। परन्तु 'एक बात' में 'एक' को कभी भी 'एकु' न हो गा; क्योंकि यह 'बात' स्त्रीलिङ्ग का विशेषण है। हाँ, 'कहुँ एकु बचनु' में 'एकु' संभव है। 'म्हारइ' में 'उ' की जगह 'इ' साहित्यिक रूप जान पड़ता है; जैसे 'कहु' का 'कहिं' आदि। प्रकृत रूप 'म्हारउ' है, जो सन्धि के द्वारा 'म्हारो' बन जाता है। जैसे 'अहै' का विश्लिष्ट रूप 'अहइ' भी अवधी—व्रजभाषा आदि के साहित्यिक रूपो में है, उसी तरह 'म्हारो' का 'म्हारउ'—'म्हारइ' समझना चाहिए। वर्ण अलग देने की प्रवृत्ति थी—'हमारा' का 'महारा' भी रूप देखा जाता है। 'फरकइ' भी 'फरकै' का रूपान्तर है। 'छइ' तो स्पष्ट ही 'छै' का रूप है; जैसे 'अहइ'—'अहै'। 'दाँहिणो गात' स्पष्ट ही आज की राजस्थानी है।

और भी—

देखि जठाणी, लागो छइ जेठ
मूखी कुंभिलाणो अति, सूकइ छइ होठ।

'देखि' वही, 'देखु' का रूप है। 'जठाणी' राजस्थान में आज भी बोला जाता है। 'छइ' साफ ही है। 'मूखी'—'मुख'। सामान्य भाषा में

'मुहुँ' चलता था, जो अब भी पाञ्चाली तथा अवधी में है। वहाँ तद्रूप संस्कृत शब्दों में भी 'भवनु' 'मन्दिरु' आदि 'उ' चलता है और इस की छाया ब्रज में भी आ पड़ी है। वही 'मुखु'—मुखि>मुखी>'मूखी' है। वैसे राजस्थानी में 'मुख' से 'ड़' स्वार्थिक प्रत्यय कर के मुखड़ो>मुहँड़ो> 'मूँड़ो' भी सुना जाता हैं। आगे के पद स्पष्ट ही हैं।

परन्तु जब तक 'गो'-'गा'-'गी' भविष्यत् काल की क्रियाओं में न मिल जाएँ, राजस्थानी का रूप नहीं माना जा सकता! भाषा में क्रिया प्रधान होती है। इसी लिए 'शौरसेन-'अपभ्रंश को जो लोग ब्रजभाषा का पुराना रूप मानते हैं; यानी जो (साहित्य-दृष्ट) 'शौरसेन-अपभ्रंश' नाम से प्रसिद्ध भाषा को वर्तमान ब्रजभाषा का मूल मानते हैं, गलती पर हैं। ब्रजभाषा में 'पढ़ै गो' 'पढ़ैं गे' 'पढ़ै गी' जैसे भविष्यत्-रूप क्रिया के होते हैं। यदि 'शौरसेन' अपभ्रंश में 'गो' 'गे' 'गी' प्रत्ययों से या प्रत्ययकल्प कृदन्तों से क्रिया के भविष्यत् रूप नहीं हैं, तो वैसा कहना गलत है। यदि ब्रजभाषा के मूल रूप (शौरसेन-अपभ्रंश) में भविष्यत् की क्रियाएँ 'पढ़ै गो' जैसे रूपों में नहीं, तो फिर ब्रजभाषा में इतनी जल्दी ये कहाँ से आ गईं? किसी राजा ने आज्ञा दे कर तुरन्त चला दीं? यही 'ग' खड़ी-बोली में (कुरुजाङ्गल में तथा पंजाब में भी) है। इस व्यापक चीज की उपेक्षा भाषा-विज्ञान में नहीं की जा सकती।

सो, 'रासो'—ग्रन्थों की भाषा राजस्थानी से प्रभावित वह विशिष्ट तृतीय प्राकृत (अपभ्रंश) है, जो देश भर में सामान्य साहित्यिक भाषा के रूप में किसी समय चलती थी। ठेठ राजस्थानी में सुन्दर कविताएँ आज बनती हैं, सुनने को मिल रही हैं। सुन कर तबियत फड़क उठती है। इस भाषा का उद्गम 'रासो'—दृष्ट भाषा से नहीं है।

(ख) ब्रजभाषा

अब हम इस स्थिति में हैं कि ब्रजभाषा पर कुछ कहें। यद्यपि 'पाञ्चाली' का भी रूप बतला कर, तब ब्रजभाषा का प्रकरण अधिक अच्छा रहता; क्यों कि उस का भी प्रभाव यहाँ (ब्रजभाषा पर) है; परन्तु हम 'ग'—प्रभावित भाषाओं को एक जगह रखना चाहते हैं! खड़ीबोली—'पढ़े गा'। राजस्थानी 'पढ़ै गो'। और ब्रजभाषा भी 'पढ़ै गो'। पंजाबी में भी—'पढ़ूगा' है; परन्तु वह 'क'-'के' से दूर है; इस लिए हिन्दी की 'बोली' नहीं है। यों, 'ग' कृदंत

के कारण इन तीनो बोलियों की एकत्र स्थिति है। पूरब की पाञ्चाली, अवधी, भोजपुरी, मगही, मैथिली आदि में यह 'ग' नहीं है। वहाँ भविष्यत् काल की क्रियाएँ प्रत्ययान्तर से बनती हैं और पूरी तरह तिङन्त हैं—'साध्य'-रूप से हैं। पाञ्चाली में ('पढ़ै गो' की जगह) 'पढ़िहै' चलता है। 'इहै' प्रत्यय पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग में एकरूप रहता है। ब्रज की जनभाषा में 'ग' कृदन्त-बहुल रूप हैं—चलै गो, चलैं गे, चलै गी। परन्तु साहित्यिक-ब्रजभाषा में पाञ्चाली का 'इहै' प्रत्यय भी ले लिया गया है। 'चलै गो' के साथ 'चलिहै' की चहल-पहल भी है।

ब्रजभाषा में भी धातु-रूप हिन्दी की अन्यान्य बोलियों के समान ही हैं—आव, सोव, रोव आदि। ब्रजभाषा-राजस्थानी आदि की पुंविभक्ति 'ओ' संकुचित हो कर पाञ्चाली में तथा अवधी आदि में 'उ' हो गई है। 'आयो' 'ऐसो' 'मीठो' आदि में तो ब्रजभाषा स्पष्ट ही राजस्थानी के साथ है—'ओ' पुंविभक्ति है। परन्तु 'एकुइ तौ डरु है' आदि में 'उ' ब्रजवासी लोग बोलते हैं। यानी ब्रज की बोली इस अंश में पाञ्चाली से प्रभावित है।

इसी तरह जातिवाचक संज्ञाओं की स्थिति ब्रजभाषा में खड़ी-बोली के अनुसार है—पपीहा, सुग्गा, छोरा, घोड़ा आदि। राजस्थानी में यहाँ 'ओ' पुंविभक्ति लगे गी—पपीहो, सुग्गो, छोरो, लड़को आदि। फलतः—

ब्रज में 'घोड़ो' बतलाना गलती है

यहाँ ब्रज पर 'मेरठी बोली' का प्रभाव है। मेरठी (खड़ी-बोली) में 'लड़का अच्छा है' और ब्रज में—'छोरा अच्छो है'। 'छोरा' खड़ी-बोली की पद्धति पर आकारान्त और 'अच्छो' विशेषण राजस्थानी के अनुसार ओकारान्त। क्रिया भी राजस्थानी के अनुसार ओकारान्त—'छोरा आयो'। राजस्थानी में संज्ञा भी ओकारान्त रहे गी—'लड़को आयो'।

ब्रजभाषा ओकारान्त पुल्लिङ्ग विशेषणों के तथा क्रिया-पदों के बहुवचन रूप भी खड़ी बोली के अनुसार एकारान्त रखती है—

	एकवचन	बहुवचन
खड़ी बोली—	लड़का आया	लड़के आये (आए)
ब्रजभाषा—	छोरा आयो	छोरे आये (आए)
राजस्थानी—	लड़को आयो	लड़का आया

यानी व्रज में पुल्लिङ्ग विशेषणों पर, क्रियाओं पर तथा 'जानो' आदि भाववाचक संज्ञाओ पर राजस्थानी की स्पष्ट छाप है; परन्तु सर्वत्र बहुवचन प्रयोगों पर खड़ी-बोली का प्रभाव है। राजस्थानी के प्रयोग साहित्य-दृष्ट द्वितीय प्राकृतों का अनुगमन करते हैं; परन्तु साहित्यिक तृतीय प्राकृत (अपभ्रंश) से कोई सामञ्जस्य नजर नहीं आता।

व्रजभाषा में अव्यय आदि अवश्य खड़ी बोली से पृथक् दिखाई देते हैं। 'क्या' के लिए व्रज में 'कहा' अव्यय है—

होय बहुत परिमान तौ, घटै मान बेतोल।
देति कहा नहिं, पै कहा, जग माटी कौ मोल!
—'तरङ्गिणी'

'ड़' व्रज में प्रायः 'र' हो जाता है; परन्तु कहीं खड़ीबोली का भी प्रभाव है—'ड़' ही रहता है—

उड़्यो फिरत बिहरत बिहग, जिन कीं पाइ सहाय।
'पर' न समझु तिन कौं अरे, कहा लगी तोहि बाय!
करु न निरादर लौंग कौ, एरे कूर कपूर!
तजि देहै जौ संग तौ, उड़ि मिलिहै कहुँ धूर!
—'तरङ्गिणी'

त-प्रत्यय-युक्त क्रिया-पदों में 'ओ' पुंविभक्ति नहीं लगती, न 'आ' ही दिखाई देती है; पाञ्चाली का 'उ' दिखाई देता है—'पढ़तु है' (पढ़ता है), 'करतु है' (करता है)। परन्तु साहित्यिक व्रजभाषा में यहाँ 'उ' प्रायः उड़ा दिया गया है। 'उड़्यो फिरत' को 'उड़्यो फिरतु' न हो गा।

बहुवचन में तो 'उ' की कोई बात ही नहीं; क्योंकि वह पुल्लिङ्ग—'एक-वचन' की चीज है। स्त्रीलिङ्ग में 'ति' हो जाता है, जब कि 'खड़ी बोली' में 'ती'। 'आती हैं' की जगह 'आवति हैं' और 'पीसती' को 'पीसति'—

पीसति गावति झूमि कछु, घरनी सुघर रसाल।
चन्दवदन अरुनित कछुक, कछु स्रम-सीकर भाल!
\+ + +
छरति छरहरी छबिभरी, धान छबीली बाम।
मनु ब्याधिन के सीस पै, देति मुसल अविराम!
—'तरङ्गिणी'

'ति' के अतिरिक्त अन्य सब ईकारान्त 'छरहरी' 'छवि-भरी' आदि।

बहुवचन 'हैं' से ही प्रकट होता है; क्योंकि 'त' प्रत्यय ज्यों का त्यों रहता है—

फाटक दिल्ली-दुर्ग के, किए धक्का दे भंग।
तिन जाटन के छिलत हैं, अब खादी सों-अंग !

'सों' को 'सौं' लिखने की गलत चाल है। इसी तरह 'राम-सो न रूप' को 'राम सौ न रूप' करना गलती है। व्रज की बोली में 'गयौ' कोई भले ही बोल दे; पर साहित्यिक व्रजभाषा में परम्पराप्राप्त मधुर 'ओ' ही गृहीत है—'आयो बसन्त'। 'आयौ बसन्त' में 'औ' तो गोले-से बरसाता है ! सूर आदि की परम्परा भी 'ओ' की ही है। हाँ, करै, पढ़ै आदि में 'ऐ' जरूर है और 'करौ'–'पढ़ौ' आदि में 'औ' भी है। परन्तु पुंविभक्ति 'ओ' ही है—'राम को रूप'। विभक्ति 'को' का 'कौं' रूप भी देखा जाता है—'तुमकौं तौ परी है परी की लला'। अनुनासिक 'कौं' में कटुता नहीं है। क्वचित् पुंविभक्ति भी 'औ' हो सकती है, यदि कटुता न आए।

'ताको कौन उपाय' में 'ओ' पुंविभक्ति है—'ताको'—उस का। कहीं 'औ' भी—

देति कहा नहिं पै कहा, जग माटी कौ मोल !

'को' तो होता ही है; कटुता न हो, तो 'औ' भी। विशेषण में 'ओ' पुंविभक्ति रहती है।

सौ-सौ जन रंजन करति, जो प्यारी सतरंज।
सोई अरी वियोग मैं, करति सौगुनो रंज !
—'तरङ्गिणी'

'सौगुनो' को 'सौगुनौ' ठीक न हो गा। 'योग' का व्रजभाषा में 'जोग' होता है; पर 'वियोग' का कभी भी 'विजोग' न हो गा; 'संयोग' अवश्य 'संजोग' बन जाता है। 'में' का 'मैं' के रूप में प्रयोग होता है।

व्रजभाषा में 'ने' विभक्ति कर्ता-कारक में प्रायः नहीं लगती। 'मैं नाहीं दधि खायो' 'दाऊ मोहिं बहुत खिझायो' आदि प्रयोग हैं। परन्तु आधुनिक व्रजभाषा में (खड़ी-बोली के प्रभाव से) 'ने' का भी प्रयोग देखा जाता है।

हलधर सँग गोपाल ने, कियो कंसमद चूर ।
मनौ कह्यो 'सासक जगत, हैं किसान मजदूर ।'

—'तरङ्गिणी'

'है' के बिना भी 'त' प्रत्यय से सामान्य निर्देश या वर्तमान काल कहा जाता है—

तरुनीरस-बंचित जु कवि, बरनत रससिंगार ।
विषयी भनत 'अनन्त'-पथ, दुऔ अनन्त गँवार !

—'तरङ्गिणी'

'दोनो' की जगह 'दुऔ'। व्रजभाषा तथा अवधी के साहित्य में 'दो' के लिए 'बिय' भी आता है। 'दूसरो' के अर्थ में 'बियो' भी देखा गया है। दोनों जगह 'बिवि' भी है—'बिवि लोचन'। ये सब 'द्वि' के 'द्' का लोप कर के और 'व' को 'ब्' कर के हैं। साहित्यिक परम्परा की चीजें हैं।

व्रजभाषा में 'ष' तथा 'श' प्रायः नहीं चलता, सर्वत्र 'स'—

सेत–स्याम रति–काम रँग, ते चख पुनि रतनार ।
चित्रित चीनी–चसक जनु, चाह–भरे गुलजार ।

—'तरंगिणी'

'पुनि' फिर, बाद में—तारुण्य आने पर। चसक—चषक।

'गुलजार' 'गुलाब' आदि शब्द व्रजभाषा में चलते हैं, पर 'चन्द्र' का रूप 'चन्द' ही चलता है, 'चाँद' नहीं—

कलावन्त पर-वस्तु लै, देत रुचिर निज रंग।
करत चाँदनी चन्द है, रवि-आतप लै अंग।

—'तरंगिणी'

'अर्थ' 'अनर्थ' जैसे रूप व्रजभाषा में नहीं चलते; 'अरथ' 'अनरथ' चलते हैं—

करत अटपटी बेतुकी, बातैं अरथ-बिहीन !
लखत अनन्त, न तन्त कछु, हालाकला-प्रबीन !

'अनन्त'—आकाश। शराबी चित पड़ा हुआ ऊपर ही देखता है !

'सुग्गा' आदि की चाल खड़ी–बोली की पद्धति पर व्रजभाषा में है, राजस्थानी की पद्धति पर 'सुग्गो' न हो गा—

सुग्गा पर-भाषा रटत, केवल चुग्गा-हेत !
ज्ञान मान बिनु मूढ़ पुनि, परि बन्धन दुखलेत !

—'तरंगिणी'

'परि'—पड़ कर। ब्रजभाषा में यों इकारान्त पूर्वकालिक क्रियाएँ होती हैं।

'कह' आदि को पाञ्चाली-पद्धति पर 'कहु' आदि हो जाता है:—

आलोचक कविता करै, तौ यह जानौ भूल।
माली मैं हैं कब लगे, कहु गुलाब के फूल?

—'तरंगिणी'

'कुछ' को 'कछु' या 'कछू' हो जाता है—

होति 'खड़ी बोली' खरी, ब्रजभाषा के जोग।
ताकौं निन्दत मन्दमति, जिन स्रौननि कछु रोग!

—'तरंगिणी'

श्रवण-रोग से माधुर्य-आस्वाद का विरह। 'कछु' को 'कछू' भी हो जाता है—'कछू न कछू है।' पाञ्चाली में 'कुछु' या 'कुछू' है।

विशेषण जो खड़ी-बोली में पुल्लिङ्ग आकारान्त हैं, ब्रज में ओकारान्त हो जाते हैं—सूखा पेड़—सूखो पेड़। परन्तु बहुवचन उभयत्र समान रहे गा, एकारान्त—

ललन-अंग सूखे सबै, कहा पियावति चाह!
सखि, सो गोरस दीजिए, वा तन जाकी चाह।

—'तरंगिणी'

'पियत' की प्रेरणा 'पियावति' है, पाञ्चाली-पद्धति पर।

सो, ब्रज पर खड़ी-बोली, राजस्थानी तथा पश्चिमी पाञ्चाली का स्पष्ट प्रभाव है। 'शौरसेन'-अपभ्रंश नाम से जो भाषा हमारे सामने है, उससे ब्रज की बोली का कोई सामञ्जस्य नहीं बैठता। उस अपभ्रंश से यह ब्रजभाषा एकदम कैसे निकल पड़ी? ये 'गो' 'गे' 'गी' कैसे यहाँ आ कूदे? इतने थोड़े से समय में यह भेद कैसे हो गया? सोचने की बात है। 'शौरसेन अपभ्रंश' से ब्रजभाषा का वैसा ही संबन्ध है, जैसा 'गौड़' ब्राह्मणों का 'गौड़' (बंगाल) प्रदेश से! 'सरयूपारी ब्राह्मण' सरयू नदी के उसपार रहनेवाले। 'सारस्वत' ब्राह्मण उस प्रदेश के, जहाँ सरस्वती नदी बहा करती थी। 'गौड'

का हिन्दी में 'गौड़' हो गया है ! संस्कृत 'गुड' हिन्दी में 'गुड़' है। जिस प्रदेश में 'गुड' (गुड़) अधिक होता है, वह 'गौड' (गौड़)। वहाँ के रहने वाले ब्राह्मण भी 'गौड'—'गौड़'। उत्तर प्रदेश के मेरठ डिवीजन, यानी 'कुरुजनपद' में गुड़ सब से अधिक होता है और गौड़ ब्राह्मण भी यहीं सब से ज्यादा आज भी हैं। एक मात्र गौड़ ब्राह्मण ही इस गुड़ वाले प्रदेश, यानी 'गौड़ प्रदेश' में हैं। ब्राह्मणों का और कोई भी भेद मूलतः यहाँ नहीं है। इस बात को भूल कर लोग गौड़ ब्राह्मणों का निकास बंगाल से मानने लगे; क्योंकि बंगाल को किसी समय 'गौड़' ('गौड') कहते थे। परन्तु बंगाल से इन गौड़ ब्राह्मणों का कोई दूर का भी संबन्ध नहीं, कोई मेल नहीं ! बंगाली ब्राह्मण मांसभोजी और गौड़ ब्राह्मण पूरे शाकाहारी। कोई रीति-रिवाज भी नहीं मिलता। बंगाली ब्राह्मण (चटर्जी, बनर्जी, भट्टाचार्य आदि) अपने को कान्यकुब्जों का वंशज बतलाते हैं। फिर भी गौड़ ब्राह्मणों का संबन्ध लोग बंगाल से जोड़ते हैं ! कहते हैं, राजा लोगों ने यज्ञ के लिए बंगाल से इन्हें बुलाया था और फिर यहीं ये बस गए ! विद्या का केन्द्र काशी और विद्वान् ब्राह्मण बुलाए गए बंगाल से ! जिस देश में 'त्रिवेणी' के 'वेणी' शब्द को नदी का पर्य्याय समझ लिया गया और फिर यह कल्पना कर ली गई कि सरस्वती नदी भी प्रयाग में आकर गंगायमुना से मिलती थी, वहाँ 'गौड़' ब्राह्मणों का विकास बंगाल से और ब्रजभाषा का विकास तथोक्त 'शौरसेन' अपभ्रंश से मानना कोई आश्चर्यजनक नहीं।

परन्तु न गौड़ ब्राह्मण बंगाल के, न सरस्वती नदी ही कभी प्रयाग पहुँची, न 'त्रिवेणी' के 'वेणी' शब्द का अर्थ ही 'नदी' और न 'शौरसेन' अपभ्रंश से ब्रजभाषा का विकास। 'शौरसेन' नाम उस अपभ्रंश का क्यों और बंगाल का 'गौड़' नाम क्यों; यह अलग सोचने की बात है।

ब्रजभाषा और हिन्दी के कोश-ग्रन्थ

जैसा कि पीछे कहा गया है, किसी समय ब्रजभाषा देश भर की सामान्य साहित्यिक भाषा थी, यानो साहित्यिक राष्ट्रभाषा। इससे पहले जो देश की साहित्यिक राष्ट्रभाषा थी, उसे साधारणतः 'अपभ्रंश' लोग कहते हैं। हम ने उसे तृतीय प्राकृत का आद्य रूप कहा है। परन्तु 'अपभ्रंश' या तृतीय प्राकृत का 'आद्य रूप' भी तो प्रदेश-भेद से भिन्न-भिन्न होगा न ! यह हो नहीं सकता कि इतने बड़े राष्ट्र में एक ही 'अपभ्रंश' जन-व्यवहार में रहा हो। परन्तु 'अपभ्रंश'-साहित्य देखने से जान पड़ता है कि मानो कोई खास भाषा-भेद

था ही नहीं और उसी साहित्यिक 'अपभ्रंश' से आगे चलकर थोड़े ही दिनों में बँगला, मराठी, गुजराती तथा हिन्दी की विभिन्न 'बोलियाँ' निकल पड़ीं! 'करिहहि' या 'करिहै' से 'करै गो' का निकल पड़ना जादू से कम नहीं है। यह भाषा-विज्ञान की चीज नहीं है।

अभी आगे हम बताएं गे कि 'अपभ्रंश' साहित्य में भाषा का जो रूप देखा जाता है, वह 'कन्नौजी' या 'पाञ्चाली' का ही रूप हो गा। उसके अनन्तर देश ने व्रजभाषा को सामान्य भाषा के रूप में ग्रहण कर लिया। फलतः व्रजभाषा ने उस साहित्यिक 'अपभ्रंश' से बहुत-सी चीजें उत्तराधिकार में लीं। बहुत से ऐसे शब्द साहित्यिक अवधी तथा व्रजभाषा में हैं, जो 'अपभ्रंश' के साहित्यिक रूप से आए हैं। आज की हिन्दी-बोलियों में वे (शब्द) जन-प्रचलित नहीं हैं; जैसे 'दो' के लिए 'बिन्नि' या 'बिय' शब्द। बहुत से शब्द ऐसे हैं, जो कहीं जन-गृहीत हैं; पर उनका तात्त्विक अर्थ उड़ गया है, जैसे व्रज का 'दारी' शब्द। व्रज में औरतों को गाली देने में 'दारी' शब्द का प्रयोग आज भी है; पर इस का तात्त्विक अर्थ लोग भूल गए हैं—व्रजवासी भी भूल गए हैं! फलतः हिन्दी-कोशकारों ने 'दारी' की व्युत्पत्ति 'दासी' से कर दी है! 'दासी' से 'दारी' कैसे बन गया? अजीब बात है! कभी 'दासी' या 'बाँदी' कह कर कोई उस तरह गाली तो नहीं देता, जैसे 'दारी' कह कर! मुझे भी पता न था। परन्तु स्वामी हरिदास की 'बानी' पढ़ते-पढ़ते इस शब्द का अर्थ खुल गया। स्वामी हरिदास भगवान् की अनन्य-भक्ति का वर्णन करते हुए विविध देवी-देवताओं की उपासना की निन्दा करते हैं और कहते हैं कि ऐसा उपासक निन्दित है—'ज्यों दारन में दारी'। 'दारा' का रूप 'दारन' है। जैसे सद्गृहस्थ स्त्रियों के बीच 'दारी'; उसी तरह भगवान् के अनन्य भक्तों में वह अनेक देवी-देवताओं का उपासक। स्पष्ट ही 'दारी' शब्द का अर्थ 'वेश्या' 'पुंश्चली' है। परन्तु यह अर्थ व्रज में भी आज भूल गए हैं। तो भी, कोशकार को तो सावधान होना चाहिए न!

इसी तरह व्रजभाषा-साहित्य में आया हुआ 'सहरी' संज्ञा-शब्द है। 'सहर' (<शहर) से बना 'सहरी' विशेषण अलग है, स्पष्ट है। हम 'सहरी' संज्ञा का जिक्र कर रहे हैं। तुलसी ने व्रजभाषा में भी कविता की है। उन्होंने केवट के मुख से कहलाया है—"पात भरी सहरी···"। इस 'सहरी' शब्द का चलन अभी काशी के ही इधर-उधर देहात में है। और 'अमरकोश'

के एक टीकाकार ने वैसा कुछ संकेत भी किया है। परन्तु साधारणतः अटकल से ही लोग 'सहरी' शब्द का अर्थ 'मछली' करते हैं, जो जम जाता है।

परन्तु आदरणीय बन्धु, हिन्दीशब्दों के सुप्रसिद्ध चिन्तक, विद्वद्वर बाबू रामचन्द्र वर्मा ने 'सहरी' शब्द का 'मछली' अर्थ नहीं माना है। वे 'सहरी' शब्द का अर्थ 'नाव' करते हैं! 'पोद्दार-अभिनन्दन ग्रन्थ' में आप का लेख है—'हिन्दी में शब्द-समस्या'। इस लेख में पृ० ५५१ पर आपने लिखा है—

"व्रजभाषा के कवि-प्रयुक्त शब्दों, यथार्थ रूपों और उन के वास्तविक अर्थों को जानने की एक कठिन समस्या है। हिन्दी के शब्दकोशों से, जो अब तक प्रकाशित हुए हैं, जहाँ इन के सुलझाने की आवश्यकता थी, वहाँ उन्हों ने उसे और भी दुरूह ही बनाया है। उदाहरण के लिए तुलसी द्वारा प्रयुक्त 'सहरी' शब्द ले लीजिए।.........!

गोस्वामी जी को 'केवट' की क्षुद्रता, दीन-हीन अवस्था के साथ प्रकट करते हुए उस की आजीविका की साधन 'नौका' की भी क्षुद्रता, अल्पता—हलकापन प्रकट करना है।

'सहरी' का वास्तविक अर्थ जल में चलने या रहने वाला होता है; अतः 'सहरी' का अर्थ 'मछली' ही क्यों माना जाए, जब कि जल में चलने या रहने के कारण उस ('सहरी' शब्द) का अर्थ 'नौका' ('नाव') भी हो सकता है, जो कि यहाँ अभीष्ट है। 'भरी' का अर्थ भी तुल्य, बराबर और हलकेपन का द्योतक है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'पाहन ते न काठ कठिनाई' द्वारा नाव के हलकेपन की ओर इशारा करते हुए उस (नाव) के, प्रभु के रज-रंजित पाद-स्पर्श से, सुन्दरी बन जाने का भय दिखलाते हुए भक्त की चरण-अर्चना की उत्कट अभिलाषा को प्रकट किया है, जो कि उन का अभीष्ट अर्थ है, पर आज भी इस ('सहरी' शब्द) के प्रति वही धाँधली चल रही है—उस का 'नौका' अर्थ न मान कर 'मछली' ही अर्थ माना जा रहा है, जो सारहीन है, व्यंजना-रहित है और अर्थ के चमत्कार से शून्य है!"

बहुत देर में वाक्य पूरा हुआ; पर एक ही वाक्य में सब कुछ आ गया। हम ने वर्मा जी का मत इस लिए उद्धृत किया है कि इस समय हिन्दी के वे ही सब से बड़े और अच्छे कोशकार हैं। वे जो कुछ कहते हैं, उस पर विचार करना चाहिए। उन की बात ऐसी उपेक्षणीय नहीं कि यों ही टाल दी जाए।

जैसा कि हम ने कहा, 'सहरी' शब्द का 'मछली' अर्थ लोगों ने किया है, चाहे सोच-समझ कर, पता लगा कर और चाहे अटकल से ही ! हम ने भी 'सहरी' शब्द का 'मछली' ही अर्थ किया है और 'हिन्दी निरुक्त' में लिख कर प्रकाशित भी कराया है। उस के बाद वर्मा जी ने उपर्युक्त विचार प्रकट किया है। यद्यपि उन्हों ने कोशकारों का ही नाम लिया है; पर आ जाते हैं वे सब, जो 'सहरी' का अर्थ 'मछली' करते हैं। इसीलिए व्रजभाषा-चर्चा में इसे ले लिया है—शब्द-चिन्तन की गति-विधि दिखाने के लिए।

वर्मा जी ने 'सहरी' शब्द का अर्थ 'जल में चलने वाला' या 'रहनेवाला' इस ढंग से बतलाया है कि जैसे वह बहुत प्रसिद्ध हो, सब जानते-मानते हों ! हो गा ! मैं सब की नहीं जानता, अपनी बात कहता हूँ कि 'सहरी' का अर्थ वह मुझे मिला नहीं, जो वर्मा जी ने बतलाया है। 'भरी' का अर्थ 'तुल्य' या 'बराबर' भी मुझे नहीं मिला !

हम तो 'पात भरी सहरी' का अर्थ सीधा करते हैं—'पत्तल भर मछलियाँ'। 'सहरी' तथा 'भरी' शब्द विचारणीय हैं, पर बहुत स्पष्ट हैं।

भाषा में वर्गीय महाप्राण व्यंजनों से अल्पप्राणीय अंश घिस कर नष्ट हो जाता है और शक्तिशाली ('महाप्राण') 'ह' बचा रहता है। 'क्रोध' के 'ध' से 'द्' हट गया, 'ह' रह गया—'कोह'। 'नख' के 'ख' से 'क्' उड़ गया, 'ह' बचा रहा 'नहँ'। संस्कृत 'शफरी' शब्द है, एक प्रकार की 'मछली' का वाचक। भाषा में 'श' का 'स' हो ही जाता है। 'फ' से 'प्' अल्पप्राण घिस कर उड़ गया 'ह' बाकी रहा और 'शफरी' बन गया 'सहरी'। काशी के ही इधर-उधर 'सहरी' शब्द मत्स्यविशेष के लिए प्रसिद्ध है; इसीलिए 'अमरकोश' के टीकाकार शक्तिधर ने 'शफरी' इति, सहरीतिख्यातमत्स्यः' लिखा है।

'भर' अव्यय है, जो व्रजभाषा तथा अवधी में 'भरि' हो जाता है—'थाली भर खीर'—'थारी भरि खीर'। यही 'भरि' कविता में 'भरी' है। 'तुल्य' या सदृश अर्थ में हमें यह नहीं मिला। परन्तु विद्वद्वर वर्मा जी का विचार पत्ते की तरह उड़ाया नहीं जा सकता; विशेषतः जब इतने जोर से उन्होंने कहा है। यह 'शब्दानुशासन' है; कोश—ग्रन्थ नहीं कि इस तरह के विचार पल्लवित किए जाएँ। प्रसंगतः इतना कहना था—जैसा कि वर्मा जी ने भी कहा है—कि व्रजभाषा-साहित्य में आए हुए बहुत से शब्द विचारणीय हैं। इन का अध्ययन होना चाहिए।

(ग) कन्नौजी या पाञ्चाली

पीछे हिन्दी की जिन बोलियों का उल्लेख हुआ है, वे सब (खड़ी-बोली, राजस्थानी तथा ब्रज-बोली) विशेष रूप से कृदन्त-प्रधान हैं। जाता है—जाती है, जात है—जाति है; आदि वर्तमान (या सामान्य प्रयोग); जाता था-जाता थी, गया था-गई थी और जात हो-जाति ही, जात रह्यो-जात-रही, जाति हतो-जात हती आदि भूतकाल के क्रिया-रूप तो कृदन्त हैं ही, भविष्यत् में भी कृदन्त की छाया है—'जाए गा-जाए गी' और 'जाए गो-जाए गी।' राजस्थानी में भी यही बात है। यानी हिन्दी की ये तीनो बोलियाँ कृदन्त-बहुल हैं। कन्नौजी या पाञ्चाली की सीमा ब्रज से मिलती है और इस का 'उ' पुंप्रत्यय ब्रज में भी पहुँच गया है; परन्तु फिर भी इस (कन्नौजी या पाञ्चाली) की पद्धति स्पष्टतः बदली हुई है। यह बोली कृदन्त-बहुल वैसी नहीं है, जैसी कि वे तीनो। हिन्दी की उन तीनो बोलियों के साथ पंजाबी को भी देखें, तो कृदन्त-प्रियता एक लंबी पट्टी में दूर तक चली गई है। राजशेखर ने इसी विस्तृत भू-भाग को कदाचित् 'उदीच्य' शब्द से याद किया है—'कृत्प्रिया उदीच्याः'-उत्तर के लोग कृदन्त-प्रिय हैं।

'कन्नौजी' से दूसरी धारा शुरू होती है, जो कि आगे पूरब में बढ़ती हुई बैसवाड़ी, अवधी, भोजपुरी, मगही, मैथिली आदि रूप धारण करती हुई विहार में पँचरंगी हो जाती है। बिहार तक ही 'हिन्दी की बोली' है। आगे बंगाल है, जहाँ 'क' तथा 'के' प्रत्यय-विभक्तियाँ हैं ही नहीं, जो हिन्दी की बोलियो की पहचान हैं।

हमारे कहने का मतलब यह कि हिन्दी की बोलियाँ दो समूहों में बँटी हुई हैं। पर्वतीय बोलियाँ (गढ़वाली तथा कूर्मांञ्चली आदि) भी इन्हीं दोनो भागों में आ जाती हैं। एक भाग कृदन्त-बहुल है, दूसरा तिङन्त-बहुल। दोनो समूहों में दोनो तरह की क्रियाएँ हैं, परन्तु कम-ज्यादा की बात है। बोलियों को ही नहीं, भिन्न (बँगला, पंजाबी, मराठी आदि) भाषाओं को भी एक दूसरी से विभक्त करनेवाली विभक्तियाँ ही हैं; जो संज्ञा-विभक्ति 'को-ने' आदि रूप में सामने आती हैं। विभक्ति ही 'प्रातिपदिक' को विभिन्न कारकों में तथा 'धातु' को विभिन्न कालों की और पुरुष-'वचनों' की क्रियाओं के रूपों में विभक्त करती है। वही विभक्ति एक व्यापक भाषा की विभिन्न 'बोलियों' को आपस में तथा एक ही मूल से

निकली विभिन्न भाषाओं को एक दूसरी से विभक्त करती है। 'धातु' तो 'कर' 'जा' आदि सर्वत्र प्रायः समान ही हैं; उन में लगनेवाली विभक्तियाँ भिन्न हैं। इन्हीं से भाषा-भेद होता है। 'बालक' शब्द संस्कृत का सर्वत्र समान है। इस से भाषा-भेद न हो गा। परन्तु 'बालक का' हिन्दी, 'बालक दा' पंजाबी, 'बालकेर' बंगला, 'बालक चा' मराठी, 'बालक नो' गुजराती। संबन्ध-प्रत्यय या विभक्ति से भाषा-भेद हो गया। 'प्रत्यय' से भाषा-भेद का प्रत्यय (बोध) होता है। विभक्ति बोलियों को तथा भाषाओं को विभक्त करती है। 'बटन से' 'कोट में' ये हिन्दी के पद हैं; क्योंकि विभक्तियाँ 'से'-'में' हिन्दी की हैं। 'धोतीज़' अंग्रेजी का 'पद' हो गया; क्योंकि बहुवचन बनाने वाली विभक्ति या प्रत्यय अंग्रेजी का है। 'बटन' शब्द अंग्रेजी का; पर 'बटन से' पद हिन्दी का और 'धोती' प्रातिपदिक हिन्दी का; पर 'धोतीज़' पद अंग्रेजी का।

सो, प्रत्यय-विभक्तियों के अन्तर के कारण हिन्दी की सब बोलियाँ दो मुख्य समूहों में विभक्त हैं। मुरादाबाद, सहारनपुर, मेरठ और दिल्ली में ('खड़ी पाई' के कारण) 'खड़ी बोली' कृदन्त-बहुल है। दिल्ली से आगे मथुरा, आगरा, भरतपुर 'ओ'-बहुल (और 'आ' को भी कहीं लिए हुए) भाषा भी कृदन्तबहुल—ब्रज की बोली, जिस का साहित्यिक रूप 'ब्रजभाषा' है। दिल्ली से छोटी लाइन पकड़ो और आगे जरा ही बढ़ो, तो रेवाड़ी से 'राजस्थानी' शुरू हो जाती है। 'ओ' पुंविभक्ति के साथ कृदन्त-बहुल भाषा 'राजस्थानी।' 'गुड़गाँव' खड़ी-बोली, ब्रजभाषा तथा राजस्थानी के मिश्रण से ही गुड़-जैसा मधुर हो गया है। उधर भरतपुर—जयपुर के क्षेत्र ब्रज और राजस्थानी की बोलियों को मिलाते हैं। वहीं ब्रज की बोली राजस्थानी से 'ओ' ग्रहण करती है। इधर 'गुड़गाँव' के पास वह 'खड़ी बोली' से भी प्रभावित हो जाती है। यों, हिन्दी की ये तीनो बोलियाँ एक दूसरी को प्रभावित करती हुई भी स्वरूपतः पृथक्-पृथक् हैं। ये तीनो धाराएँ—कृदन्त-बहुल हैं। 'आ' की गंगा और 'ओ' की यमुना का संगम 'त्रिवेणी' की सृष्टि करता है—'छोरा आयो' रूप प्रकट होता है। न 'लड़का आया' की तरह और न 'लड़को आयो' की तरह ही—'लड़का आयो' जैसा पृथक् रूप। यह सब पीछे कह आए हैं। यहाँ तो केवल यह याद दिलाने के लिए कि कृदन्त-बहुल हिन्दी-बोलियाँ छूट गईं, अब तिङन्त-बहुल हिन्दी की 'प्राच्य'-बोलियाँ देखिए। वे तीनो 'उदीच्य'-'प्रतीच्य' हैं। 'प्राच्य' बोलियाँ हैं—कनौजी, अवधी,

बैसवाड़ी, भोजपुरी, मगही, मैथिली आदि। दाहिने हाथ 'बुँदेलखंडी प्रायः प्रतीच्य-उदीच्य-वर्ग में है और बघेलखंडी, छत्तीसगढ़ी आदि 'प्राच्य' वर्ग में हैं। 'मालवी' आदि का कदाचित् कोई पृथक् वर्ग बनाना पड़े। वैसे 'कृदन्त'-'तिङन्त' इन दो ही वर्गों में सब का समावेश संभव है। अपनी-अपनी विशेषता तो सब में रहे गी ही। बोली ही भिन्न ठहरी !

खैर, हम यहाँ कन्नौजी, यानी पाञ्चाली के बारे में कुछ कह रहे हैं। यह 'प्राच्य' वर्ग में है; यहीं से हिन्दी की प्राच्यता आरम्भ होती है। उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले का पश्चिमी भाग व्रज से प्रभावित है और पूर्वी भाग कन्नौजी प्रारम्भ करता है। 'कन्नौज' इसी जिले के पूर्वी भाग में है। कन्नौज से पाञ्चाली भाषा शुरू होती है और कानपुर, फतेपुर, बाँदा तथा प्रयाग (इलाहाबाद) के पश्चिमी क्षेत्र में यह बोली जाती है। पाञ्चाली से मिला हुआ 'बैसवाड़ी' बोली का क्षेत्र है—रायबरेली-उन्नाव के जिले। यानी पाञ्चाली और अवधी के बीच में 'बैसवाड़ी' पड़ती है। आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की मातृभाषा 'बैसवाड़ी' थी और मेरी अपनी मातृभाषा 'पाञ्चाली' है।

'पाञ्चाली' की अपेक्षा इस बोली का नाम 'कन्नौजी' अधिक प्रसिद्ध है; क्योंकि कन्नौज एक बहुत बड़े साम्राज्य की राजधानी के रूप में एक युग तक जगमगाता रहा है। पाञ्चाल-प्रदेश का ही पुराना नाम 'कान्यकुब्ज' भी है। यहाँ 'गार्गी' 'मैत्रेयी' जैसी विदुषियाँ हुई हैं, जो कन्या ही रह कर अध्ययन-अध्यापन में कुब्जाएँ (कुबड़ी) हो गई थीं—बुढ़ियाँ हो गई थीं ! "कन्याः एव कुब्जाः (अध्ययनाध्यापनेन) भवन्ति यत्र, असौ कान्यकुब्जः प्रदेशः"—कन्या ही रह कर अध्ययन-अध्यापन में जहाँ नारियाँ कुबड़ी हो जाती थीं, वह प्रदेश 'कान्यकुब्ज'। कान्यकुब्ज की राजधानी 'कन्नौज'। प्रदेश तथा राजधानी के नामाक्षर मिलते-जुलते हैं। 'कन्नौज' से ही 'कन्नौजी' नाम; यद्यपि इस बोली का मध्यवर्ती भाग कानपुर है।

पश्चिमी पाञ्चाली उधर व्रज को प्रभावित करती है और स्वयं भी प्रभावित होती है। इधर पूर्वी पाञ्चाली अवधी को प्रभावित करती है और स्वयं भी प्रभावित होती है। पाञ्चाली, बैसवाड़ी तथा अवधी बोलियाँ तिङन्त-प्रधान हैं और इतनी मिलती-जुलती हैं कि इन के स्वरूप का स्पष्ट विवेचन-विभाजन बहुत सरल काम नहीं है। यह भी कह सकते हैं कि पश्चिमी अवधी का ही एक रूप पूर्वी-'पाञ्चाली' है। बाँदा-जिला पाञ्चाली के क्षेत्र में ही है और

इसी लिए गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरित-मानस' पश्चिमी अवधी का महाकाव्य है। पूरबी अवधी में कुछ अन्तर अवश्य है और यह अन्तर ही 'अवधी' से इस (पाञ्चाली) को पृथक् करता है।

राजस्थानी तथा व्रजभाषा में 'ओ' पुंविभक्ति जो 'ऐसो' 'मीठो' आदि में है, पाञ्चाली में नहीं है। न यहाँ 'मीठो पानी' है, न 'मीठा पानी' है। यहाँ 'मीठ पानी' चलता है। परन्तु पश्चिमी पाञ्चाली में भूतकाल की क्रियाओं में व्रज का 'ओ' दिखाई देता है—'लरिकवा आओ कि नाईं ?'—लड़का आया कि नहीं ? यह 'आओ' स्पष्टतः व्रज के 'आयो' का रूपान्तर है। यानी, 'य्' का लोप हो गया है; बस ! बहुवचन 'आए' यहाँ भी है—'उइ आए तौ रहैं, तुम मिले ह्यो नाईं।' वे आए तो थे, तुम मिले ही नहीं ! 'मिले ह्यो' में 'ले' के 'ए' का उच्चारण बहुत हलका होता है। स्त्रीलिङ्ग में तो 'आई' जैसे रूप हिन्दी की सभी बोलियों में होते हैं। यह 'ओ' व्रज का प्रभाव है। आगे पूर्वी-कनौजी में, बैसवाड़ी में तथा अवधी में यह नहीं है। 'मानस' में 'आवा' जैसी क्रियाएँ ही हैं। परन्तु भविष्यत् काल की 'इहै'-प्रत्ययान्त क्रियाएँ पाञ्चाली की ही हैं 'मानस' में। 'करिहै' आदि के प्रसृत प्रयोग 'करिहहि' आदि हैं। तुलसी ने पदों का प्रसार संस्कृत शब्दों में भी कहीं-कहीं कर दिया है—'मैत्री' का 'मयत्री' कर दिया है। यह 'इहै' व्रजभाषा में भी खूब है। 'इहै' के 'है' को हटा कर और बची 'इ' को 'ई' बना कर यह एक पृथक् भविष्यत्-प्रत्यय है—'मानी कि न मानी' ! माने गा कि न माने गा ! व्रज की बोली में तो 'गो'-'गे' 'गी' ही का चलन है; पर साहित्यिक व्रजभाषा में 'इहै' का खूब प्रयोग है। सूरदास जैसे महाकवियों ने भी 'इहै' का प्रयोग किया है।

गो, गे; गी में कृदन्त-छाया है। पुल्लिङ्ग—स्त्रीलिङ्ग में रूप बदलता है; पर 'इहै' सर्वत्र एक-सा रहता है—'लरिका पढ़िहै' 'बिटिया पढ़िहै'। बचन-भेद तथा पुरुष-भेद तिङन्त-क्रिया में होता ही है—'पढ़िहै-पढ़िहैं' और 'पढ़िहौ'-'पढ़िहौं' आदि।

पाञ्चाली में 'उ' पुंविभक्ति दिखाई देती है, जो 'ओ' का ही घिसा हुआ रूप है। 'घरु'-'आँगनु' आदि पद चलते हैं। यही 'उ' अवधी में भी है। इस ने व्रज को भी प्रभावित किया है। व्रज में भी 'घर' को 'घरु' जैसा बोलते हैं। परन्तु जहाँ खड़ी बोली में 'आ' और व्रजभाषा-राजस्थानी में 'ओ' विभक्ति लगती है, वहाँ इस 'उ' का प्रयोग नहीं होता। 'मीठा पानी' 'मीठो पानी' की जगह 'मीठु पानी' न हो गा—'मीठ पानी' रहे गा। जहाँ 'खड़ी

बोली' अपनी 'आ' पुंविभक्ति नहीं लगाती और न व्रजभाषा 'ओ' लगाती है, वहीं पाञ्चाली अपनी 'उ' पुंविभक्ति लगाती है—बाँस-बाँसु, आँगन-आँगनु छोर-छोरु, भोर-भोरु आदि। यह 'उ' पुंविभक्ति तृतीय प्राकृत के आद्य रूप (अपभ्रंश साहित्य) में दिखाई देती है—

'रावणु दसमुँहुँ बीसहत्थु'
'कवलु किउ'
'कवणु गुणु अवगुणु' आदि।

निश्चय ही 'आ' तथा 'ओ' पुंविभक्तियों के क्षेत्र पृथक् हैं और प्रयोग-क्षेत्र भी पृथक् हैं। फलतः 'अपभ्रंश'-साहित्य में दृष्ट 'उ' पुंविभक्ति पाञ्चाली की चीज है। इस ने व्रज को भी प्रभावित किया है; इस में सन्देह नहीं; पर व्रज की 'अपनी' पुंविभक्ति 'ओ' है, 'उ' नहीं। यह कह सकते हैं कि व्रज के पूरबी छोर पर पहुँच कर 'ओ' संकुचित हो कर 'उ' बन गया है। परन्तु 'ओ' तथा 'उ' के प्रयोग-स्थलों की भिन्नता देखते हुए कहना पड़ता है कि 'उ' व्रज की 'अपनी' चीज नहीं है। 'उ' पुंविभक्ति 'प्राच्य' हिन्दी-बोलियों की चीज है, जिसे व्रज ने भी ग्रहण किया है; पर 'खड़ी बोली' ने नहीं। 'ओ' का 'उ' से मेल है; पर 'आ' एकदम अलग है।

इस 'उ' पुंविभक्ति के प्रयोग में वैसी नियमबद्धता नहीं दिखाई देती, जैसी कि 'आ' तथा 'ओ' के प्रयोग में। आगे चलते-चलते 'उ' घिस कर लुप्त ही हो गया है! तो, जो बराबर छीज रहा हो, उस का क्या नियमन! 'आज' अव्यय है, उस में भी 'उ' लग जाता है—'आजु'। यों, विध्यात्मक नियम बनाना तो कठिन है; पर निषेधात्मक नियम दिया जा सकता है कि यह 'उ' स्त्रीलिङ्ग शब्दों में नहीं लगता और पुल्लिङ्ग बहुवचन में भी नहीं लगता। 'जामुन' का 'जामुनु' न हो गा और न 'कागजु' के बहुवचन में ही यह रहे गा—'कगजन माँ का धरो है!' 'सब घर हमार दीख हैं'। यहाँ 'कगजनु' या 'घरु' रूप न हों गे। इसी लिए हम इसे पुंविभक्ति-एकवचन कहते हैं, भले ही कहीं अव्यय में लग जाए! संस्कृत के तद्धितान्त तथा कृदन्त अव्ययों में भी तो नपुंसकलिङ्ग-एकवचन होता है! वही बात समझिए।

'आओ कि नाईं' आदि में 'ओ' व्रज का प्रभाव है। 'तुम आओ तौ' यहाँ 'आओ' मध्यम-पुरुष 'खड़ी बोली' के अनुसार है, जो 'आवहु' का सन्धि-रूप है—आवहु>आवउ>आओ। 'गा' 'भा' जैसी आकारान्त भूतकालिक क्रियाएँ पाञ्चाली में और अवधी में समान हैं और इन के स्त्रीलि-

ङ्ग रूप 'गे' 'भे' भी समान। अन्यत्र 'आई' आदि। धातु-रूप हिन्दी की अन्य बोलियों की तरह पाञ्चाली में भी 'आव'-'सोव' जैसे हैं। प्रत्यय 'ई' सामने आने पर 'व' उड़ जाता है। आवा-'आई'।

अपभ्रंश-साहित्य में जो 'उ' दिखाई देता है, उस से कुछ अनुमान किया जा सकता है। ऐसा जान पड़ता है जि जब कन्नौज-साम्राज्य तारुण्य पर था, तो वहाँ की जनभाषा ने व्यापक साहित्यिक-भाषा का रूप ग्रहण कर लिया था। देश भर में उसी (कन्नौजी या पाञ्चाली) में लोग साहित्यिक रचना करते थे। प्रादेशिक प्रभाव पड़ता ही है। व्यापकता के कारण उस अपभ्रंश को 'लोक भासा' कहते थे, 'कन्नौजी' नहीं; जैसे कि आज हम अपनी राष्ट्रभाषा को 'मेरठी', या 'कौरवी' आदि नहीं कहते। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का भी यही मत है। पाञ्चाली के प्रयोग-वैशिष्ट्य पर हम यहाँ कुछ अधिक न कहें गे; क्योंकि इस की आद्यावस्था या मध्यावस्था में चाहे जो साहित्य बन गया हो, आधुनिक रूप में कोई साहित्य इस में नहीं बना! हाँ, तुलसी के 'रामचरित-मानस' जैसे ग्रन्थों को हम पाञ्चाली-अवधी की चीज जरूर कह सकते हैं। पाञ्चाली, बैसवाड़ी तथा अवधी में उतना ही अन्तर है, जितना व्रजभाषा, ग्वालियरी तथा बुँदेलखण्डी में; या कुरुजनपद तथा कुरुजाङ्गल की भाषा में। अवधी का विस्तार से परिचय आगे हम दे ही रहे हैं।

एक विशेष बात पञ्चाली में यह दिखाई देती है कि मध्यम-पुरुष तथा उत्तम-पुरुष सर्वनामों का एकवचन में प्रयोग नहीं सुनाई पड़ता! खड़ी बोली में—'तू करता है' 'तुझे मैं ने देखा' 'तेरा काम ठीक' जैसे प्रयोग होते हैं। व्रज में 'तू कहा करै गो?' 'तेरो कहनो कहा है' जैसे प्रयोग होते हैं। 'मैं जाऊँ गा' 'मेरा काम है' और 'मैं जाऊँ गो' 'मोकौं (मोकूँ, मोय) कामु है' ऐसे व्रज में भी। अवधा में 'मैं अरु मो-तोर तैं' चलता है। बघेलखण्डी और बुँदेलखण्डी में भी एकवचन चलता है; परन्तु पाञ्चाली में में 'तू जात है' (या 'जाति है') 'मैं जैहों' आदि प्रयोग नहीं सुन पड़ते! 'तुम का करत हौ' 'हम न जैहन' (या, 'न जैबे') जैसे बहुवचन ही चलते हैं। 'हमार घरु' 'तुम्हार कामु' इस तरह संबन्ध में तथा विभिन्न कारकों में रूप चलते हैं। यह बात विशेष ध्यान देने की है। अंग्रेजी में जैसे शिष्ट प्रयोगों में 'यू' बहुवचन ही चलता है, इस का एकवचन नहीं; उसी तरह पाञ्चाली में 'तुम' चलता है; 'तू' नहीं। परन्तु अंग्रेजी में उत्तम पुरुष का

एकवचन चलता है; पाञ्चाली में नहीं। 'हम' 'हमैं' 'हमार' जैसे बहुवचन प्रयोग ही सुने जाते हैं। भाववाचक संज्ञा प्रायः एकवचन ही रहती है और इस लिए इस का एकवचन चलता है—'अरे बुढ़ापा तोरे मारे'…'।

भविष्यत् काल 'इहै' प्रत्यय का घिसा-बढ़ा रूप 'ई' प्रत्यय भी बहुत दूर तक चला गया है। काशी से शुरू हो कर बिहार के बहुत बड़े भाग तक 'भोजपुरी' चलती है। इस भोजपुरी में भी 'ई' प्रत्यय है—पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग में समान।

(घ) अवधी का परिचय

उत्तर प्रदेश के एक भाग में 'खड़ी बोली' चलती है, मेरठ आदि दो-तीन जिलों में; जो उर्दू-रेखता आदि नामों से देश भर में फैली और फिर विदेशीपन दूर कर के जो 'हिन्दी' नाम से आज प्रसिद्ध है। इसी उत्तर प्रदेश के एक भाग में 'व्रज' है, जहाँ की 'बोली' ने साहित्यिक रूप प्राप्त कर के महाकवि सूरदास जैसे रत्न देश को दिए और जो किसी समय देश की सामान्य साहित्यिक भाषा थी। ऐसी विशेषता कि देश भर की सामान्य साहित्यिक भाषा बन गई—किसी की आज्ञा से किसी पर लादी नहीं गई थी—स्वतः सब ने सिर-माथे लिया था। उत्तर-प्रदेश का ही एक भाग 'अवध' है। अवध की बोली 'अवधी'। अवधी बोलने वाले दो करोड़ जन हैं। अवधी में ही मलिक मुहम्मद जायसी आदि मुसलमान फकीरों ने प्रेम-काव्य लिखे हैं; पर वे सब अवधी के तारे-चाँद ही हैं। सूर्य तो एक तुलसी ही प्रकट हुए, जिन के 'रामचरित-मानस' ने अवधी को संसार भर के सभ्य देशों में पहुँचा दिया! संस्कृत से हिन्दी में साहित्य आता है; पर अवधी-'मानस' का संस्कृत में भी अनुवाद हुआ! अंग्रेजी जैसी समृद्ध भाषा में 'मानस' का अनुवाद हुआ और बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध जब आधा बीत चुका है और रूस का ज्ञान-विज्ञान संसार को जब चकित कर रहा है, तब रूसी भाषा ने अवधी का यह मधुर प्रसाद 'रामचरित-मानस' प्राप्त किया है! रूस के महान् साहित्यकार श्री वारान्निकोव ने 'मानस' का रूसी भाषा में छन्दोबद्ध अनुवाद किया है, जो प्रकाशित हो चुका है।

मुझे पता नहीं कि अन्य किस भाषा को इतना अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व मिला है। संसार का यह अद्वितीय ग्रन्थ है, 'रामचरित-मानस'!

साहित्यिक अवधी

अवधी एक व्यापक भाषा है; परन्तु कई जिलों में कुछ-कुछ रूप-परिवर्तन है। थोड़ी-थोड़ी दूर पर भाषा में कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। इन अवान्तर 'बोलियों' का पृथक्-पृथक् विश्लेषण अलग चीज है। हम यहाँ साहित्यिक अवधी पर ही विचार करें गे, जिस का मोहक रूप गोस्वामी तुलसीदास ने हमारे सामने रखा है। उत्तर प्रदेश की 'बैसवाड़ी' तथा 'पाञ्चाली' भी अवधी से प्रभावित हैं; या इन से अवधी प्रभावित है। व्रज-भाषा से जैसा मेल बुन्देलखण्डी या 'ग्वालियरी' बोली का है, वैसा ही समझिए। परन्तु साहित्यिक भाषा का रूप तो ऐसा हो जाता है कि उसे किसी भी 'बोली' का पूरा प्रतिबिम्ब नहीं कहा जा सकता। एक अलग रूप हो जाता है; यद्यपि वह निराधार नहीं होता। राष्ट्रभाषा का मूल 'खड़ी बोली' है; व्रजभाषा का व्रज की 'बोली' और अवधी (साहित्यिक भाषा) का मूल अवध की 'बोली' है। इसी लिए तो इन के वैसे नाम हैं। 'अवध' तथा 'व्रज' का धार्मिक महत्त्व भी है—रामकृष्ण के संबन्ध से। अवधी तथा व्रजभाषा कहने में एक गौरव सामने आता है; परन्तु 'खड़ी बोली' के क्षेत्र का पुराना नाम 'कुरुजनपद' है और (दुर्योधन आदि) कौरवों को लोग अच्छी दृष्टि से नहीं देखते ! इसी लिए इस का 'कौरवी' नाम न पड़ा ! मेरठ डिवी-जन के जिले 'कुरुजनपद' हैं। परन्तु 'मेरठी बोली' नाम इस लिए नहीं पड़ा कि वह अति संकुचित हो जाता ! सो, खड़ी पाई के कारण 'खड़ी बोली' नाम पड़ गया। परन्तु इन 'बोलियों के रूपों में और इन के साहित्यिक रूपों में कितना अन्तर है !

मैं अपनी छात्रावस्था में सुना करता था कि हिन्दी के एक बहुत पुराने कवि 'शंभू' या 'स्वयंभू' हो गए हैं, जिन के ग्रन्थों का पता नहीं चलता ! बहुत दिन बाद महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अनेक सिद्धों की वाणी प्रकट की और महाकवि स्वयंभू को भी वे सामने लाए। स्वयंभू का समय ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी ठहरता है। इन्हों ने कितने ही ग्रन्थों की रचना की है, जिन में 'पद्म-चरित' या 'रामायण' सब से अधिक बड़ी तथा महत्त्वपूर्ण रचना है। राहुल जी का अनुमान है कि गोस्वामी तुलसीदास इनकी रामायण से अवश्य प्रभावित हुए हों गे और 'प्राकृत जे हरिचरित बखाने' में इन्हीं की ओर उन का संकेत है। वर्णनशैली देखते भी इस

अनुमान की पुष्टि होती है। परन्तु भाषा में बड़ा अन्तर है ! सात-आठ सौ वर्षों में बहुत अन्तर पड़ गया है। वस्तुतः स्वयंभू के समय तृतीय प्राकृत का आद्य रूप ('अंपभ्रंश') था और उस से आधुनिक जनभाषा का विकास हो रहा था। आगे चलते-चलते अवधी का रूप सामने आया। मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' में हमें इस भाषा का पर्याप्त विकसित रूप देखने को मिलता है। जायसी के कुछ हां दिन बाद गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' में अवधी का पूर्ण परिपाक हो गया-सुमधुर आस्वाद, मोहक रूप। निश्चय ही समुचित संस्कृत शब्दो के सम्मिश्रण से गोस्वामी जी ने अवधी के रूप को अधिक मोहक बना दिया है। 'पद्मावत' में यह बात नहीं है।

अपभ्रंश-काल में प्राकृत-व्याकरणो के नियम साहित्यिकों पर हावी थे। वे उन व्याकरणो के अनुसार ही शब्द गढ़ते थे; 'जानकी' को 'जःणई' या 'जाणइ' कर देते थे; भले ही जनभाषा में 'जानकी' चलता रहे ! स्वयंभू को व्याकरण का बड़ा ध्यान था:—

'तो कवणु गहणु अम्हारि सेहिं,
वायरण-विहूणहिं आरिसेहिं !'

—तो फिर हमारे जैसे व्याकरण-विहीन को कौन पूछे गा !

'वायरण'-व्याकरण। यह विनय है; जैसे कि तुलसीदास का 'कवि न होउँ नहिं चतुर कहाऊँ' आदि। स्वयंभू ने संस्कृत का भी अच्छा पाण्डित्य प्राप्त किया था और बाण, भरत, भामह, दण्डी आदि के नाम ले-ले कर यह ध्वनित किया है कि मैं ने इन सब की रचनाएँ पढ़ी हैं। परन्तु अपनी रचना में तो उन्हें प्राकृत-व्याकरण का ध्यान रखना था ! कई बार व्याकरण में ऐसे नियम लोग रख देते हैं, जो लोक तथा साहित्य दोनो से उलटे जाते हैं ! यदि आगे के कवि अपनी भाषा 'व्याकरण-सम्मत' बनाने के लिए वैसा कुछ लिखें, तो उन का क्या दोष ? हिन्दी-व्याकरणों में एक नियम दिया रहता था—'हिन्दी में सकर्मक क्रियाओं के भाववाच्य प्रयोग नहीं होते हैं'। इस नियम के अनुसार यदि कोई हिन्दी-कवि लिखे—'हम तुम बुलाए' तो कैसा लगे गा ? प्रचलन तो भाववाच्य का है—'हम ने तुम को बुलाया'; परन्तु 'व्याकरण' इसे गलत बतलाए, तो बेचारा कवि क्या करे ? उसे तो 'व्याकरण' का ध्यान रखना है !

सम्भव है कि स्वयंभू के समय जनभाषा का रूप वही रहा हो; यह भी कह सकते हैं। परन्तु कुछ ही दिन बाद फिर 'जाणई' 'जानकी' क्यों बन गई? कैसे बन गई? गंगा फिर हिमालय पर कैसे चढ़ गई? इस लिए, अधिक संभावना यही है कि प्रचलित प्राकृत–व्याकरणों का अधिक ध्यान रखने का ही फल वैसी भाषा है।

परन्तु 'कवणु' 'गहणु' आदि में 'उ' के देखने से इतना स्पष्ट है कि यह अवधी या पाञ्चाली का ही तत्कालीन साहित्यिक रूप है। एक ऐसी बात जरूर है, जो कुछ भ्रम पैदा कर सकती है। अवधी में भूतकाल की क्रियाएँ 'ने' विभक्ति नहीं रखतीं। और, यह 'ने' विभक्ति संस्कृत 'बालकेन' आदि की तृतीया ('इन') के वर्ण-व्यत्यय तथा सन्धि–निष्पादन से सिद्ध है; यह इस पुस्तक में बतलाया गया है। स्वयंभू की कविता में संस्कृत की तृतीया विभक्ति का अनुकरण हुआ है, जो अवधी–पाञ्चाली से उसे दूर हटा कर 'खड़ी बोली' के समीप ले जाता है—

'इन्देण समप्पिउ वायरणु'
—इन्द्र ने व्याकरण दिया।
'पिंगलेण छन्द–पय–पत्थारु'
—पिङ्गल ने छन्दों में पदों का प्रस्तार दिया।

यह 'इन्देण' 'पिंगलेण' खड़ी बोली के 'इन्द्र ने' तथा 'पिंगल ने' के समीप हैं। अवधी में प्रयोग होंगे—'इन्द समप्पेउ 'वायरणु' और 'पिंगल छन्द–पय–पत्थारु समप्पेउ'। किन्तु स्वयंभू की भाषा निश्चय ही 'खड़ी बोली' का पूर्व रूप नहीं है। यहाँ तिङन्त की प्रधानता है, जब कि खड़ी - बोली में कृदन्त की। 'वायरणु' आदि का 'उ' भी सामने है। निश्चय ही 'इन्देण' आदि में प्रयुक्त विभक्तियाँ उन्हीं व्याकरणों के कारण हैं, जो प्राकृत-भाषाओं के लिए बने थे और जिनका सिक्का इस काल के भी भाषा-कवि मानते थे। वैसे भी कवि-जन संस्कृत-विभक्तियों का प्रयोग क्वचित् कर जाते हैं। तुलसीदास के अवधी-काव्य में 'जाहु सुखेन' जैसे प्रयोग देखे जाते हैं। 'सुखेन'–(सुख से) विशुद्ध संस्कृत-पद है, 'प्राकृत'–विकृत नहीं। प्राकृतों में तो संस्कृत-विभक्तियों की छाया चल ही रही थी। सो, 'इंदेण' साहित्यिक प्रयोग है। इस से भाषा का निर्णय नहीं हो सकता। एकाध ऐसे प्रयोग देख कर इसे 'खड़ी-बोली' का पूर्व रूप नहीं कहा जा सकता! तब तक 'खड़ी-बोली' साहित्य के लिए गृहीत ही नहीं

हुई थी। आज भी हम राष्ट्रभाषा में—'कृपया यहाँ कूड़ा न फेंकिए' लिखते-बोलते हैं। यह 'कृपया' संस्कृत की तृतीया-विभक्ति से युक्त पद चलता है; पर इस के कारण इस भाषा का विकास प्रचलित संस्कृत से न कह दिया जाए गा। तुलसी का 'सुखेन' पद और आज की राष्ट्रभाषा का 'कृपया' आदि 'अव्यय' के रूप में यहाँ गृहीत हैं; क्योकि वैसी विभक्तियाँ यहाँ हैं ही नहीं !

हम पीछे कह आए हैं कि कन्नौज के उत्कर्ष-काल में कन्नौजी 'बोली' को, यानी पाञ्चाली भाषा को देश ने सामान्य साहित्यिक भाषा के रूप में कदाचित् ग्रहण कर लिया था और इसी भाषा में वह सब साहित्य लिखा गया, जो आज 'अपभ्रंश-साहित्य' के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसी व्यापक भाषा में विभिन्न प्रदेशो की छाया आ ही जाती है, जब वहाँ के साहित्यिक रचना करते हैं। इसी लिए 'अपभ्रंश-साहित्य' की भाषा एकरूप होने पर भी विभिन्न प्रादेशिक साहित्य-कृतियों में किञ्चित् भिन्नरूपता से दिखाई देती है।

इस के अनन्तर जब देश पर विदेशी शासन जमा और उन (विदेशी शासकों) का काम इस देश की भाषा के बिना चलना संभव न हुआ, तो दिल्ली और उस के इधर-उधर (कुरुजनपद तथा कुरुजाङ्गल) की 'बोली' को उन्हो ने अपनाया; उसे अपनी (फारसी) लिपि में लिखने लगे और फारसी-अरबी के शब्दों के साहचर्य से काम चलाने लगे। इस नई राजकीय भाषा का नाम पहले 'हिन्दुई' 'हिन्दवी' आदि और बाद में 'उर्दू' पड़ा। शासन के द्वारा देश भर में इस का प्रचार हुआ।

आगे चल कर उर्दू एक परिष्कृत साहित्यिक भाषा भी हो गई; अच्छी-अच्छी रचनाएँ इस में होने लगीं।

हिन्दू जनता राजकीय भाषा के रूप में उर्दू को ग्रहण कर के भी उस के विदेशी रँग ढँग से उद्वेजित थी और इस लिए दिल्ली के पड़ोस की (व्रज की) बोली को साहित्यिक भाषा के रूप में इस ने ग्रहण किया। उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान आदि ही नहीं, गुजरात, पंजाब, बंगाल तथा महाराष्ट्र आदि के भी महान् सन्तों ने और समाज-नेताओं ने व्रजभाषा के द्वारा अपना-अपना सन्देश देश भर को दिया। यों हिन्दी के ये दो रूप देश भर में इस समय फैले—उर्दू के रूप में 'खड़ी बोली' और व्रजभाषा के रूप में व्रज की 'बोली'। यह सब हम 'पूर्वपीठिका' में विस्तार से कह आए हैं।

इसी समय कुछ मुसलमान फकीरों ने अवधी भाषा में प्रेम-कहानियाँ लिखीं और अच्छी लिखीं। 'पद्मावत' आदि का बड़ा मान है। परन्तु इन प्रेमकथाओं का जनता में वैसा प्रचार न हुआ; क्योंकि वे लोग विदेशी (फारसी) लिपि में ही लिखते थे और आदि-अन्त में इस्लाम-प्रचार का पुट देते थे और मुसलमानी शासन के प्रति अनुराग पैदा करने की प्रवृत्ति भी प्रकट करते थे।

यों, वह पुरानी (कन्नौजी या पाञ्चाली) 'अपभ्रंश'-भाषा छूट गई और उर्दू, व्रजभाषा, अवधी आदि का उदय हुआ।

उस पुरानी भाषा की कोई-कोई निशानी अब तक इन नई साहित्यिक भाषाओं में उपलब्ध है। 'हिं' विभक्ति तथा इस के संक्षिप्त रूप 'इं' या 'ह' आदि प्रायः सर्वत्र मिलें गे। 'रामहिं' कर्ता कारक जैसा अवधी में, वैसा ही व्रजभाषा में भी। व्रज की बोली में 'राम कूँ' चलता है, जिस का परिष्कृत रूप साहित्य में 'राम कौं' है। परन्तु 'रामहिं' भी टकसाली प्रयोग है। व्रज की बोली में 'रामहिं' तो नहीं चलता; परन्तु सर्वनामों में 'हिं' का अस्तित्व बराबर देखा जाता है। व्रज में बोलते हैं—'मोय कहा परी है ?' 'तोय कहा लेनो है'—मुझे क्या पड़ी है, तुझे क्या लेना है। यह 'मोय' और 'तोय' कन्नौजी 'हिं' विभक्ति से हैं। 'ह्' का लोप और 'इ' को 'य'। 'खड़ी बोली' के सर्वनामों में भी विकल्प से 'हिं' चलती है—मुझे—मुझ को, तुझे—तुझ को, हमें—हम को, तुम्हें—तुम को, इसे—इस को; आदि। 'ह्' का लोप और गुण-सन्धि।

इसी तरह क्रिया-विभक्ति 'हिं' का अस्तित्व सर्वत्र देख सकते हैं—'प्रान रहहिं की जाहिं'। 'ह्' का लोप—'प्रान रहइं की जाइं'। सन्धि-'प्रान रहैं की जायँ'। 'खड़ी बोली' में 'गुण—सन्धि' होती है—'रहें'। अवधी और व्रजभाषा में 'रहैं'। धातु के दीर्घ स्वर से परे व्रजभाषा में 'इ' को प्रायः 'य' हो जाता है—'जाय' 'जायँ'। 'खड़ी बोली' में ऐसी जगह 'इ' को 'ए' हो जाता है—'जाए' 'जाएँ'।

जब, तब, कब आदि सार्वनामिक अव्यय सब जगह एक से हैं; परन्तु 'ही' आदि अन्य अव्ययों के साथ सन्धि आदि में अन्तर आ जाता है। कोई-कोई अव्यय 'अपने' अलग भी हैं; जैसे अवधी में 'बादि'। 'बादि' अव्यय व्यर्थ के अर्थ में अवधी-साहित्य में चलता है; अन्यत्र नहीं। इसी तरह 'चाहि' है, अपेक्षार्थक।

इस ग्रन्थ में पीछे बतलाया गया है कि संस्कृत के 'रामः' (पुं० एकवचन) के विसर्गों का विकास 'खड़ी बोली' में खड़ी पाई (ा) के रूप में हुआ है—व्रजभाषा में यह 'ओ' रूप से गृहीत है। व्रजभाषा की परम्परा उपलब्ध प्राकृत साहित्य में विद्यमान है; परन्तु 'खड़ी बोली' की कोई शृंखला प्राप्त नहीं है। 'जो' जैसे सर्वनामों में 'खड़ी बोली' ने भी 'ओ' ग्रहण कर लिया है। अवधी में न तो विसर्गों को 'ओ' के रूप में ही ग्रहण किया गया; न 'आ' के रूप में ही। 'खड़ी बोली' में 'मीठा पानी' और व्रजभाषा में 'मीठो पानी'; परन्तु अवधी में 'मीठ पानी'। अलग मार्ग। परन्तु 'जो' 'सो' 'को' जैसे अव्ययों में अवधी ने भी 'ओ' को अपनाया है। इन के बहुवचन में 'जे' 'ते' रूप हो जाते हैं। 'को' का रूप बहुवचन में 'के' (साहित्य में) कदाचित् न मिले गा।

हिन्दी की सभी बोलियों में 'नपुंसकलिङ्ग' का पूर्ण बहिष्कार है—पंजाबी में भी। और, जो शब्द पंजाब में पुल्लिंग चलता है, वह राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा बिहार आदि सभी क्षेत्रों में पुल्लिङ्ग ही मिले गा। 'रात' शब्द राजस्थान में भी स्त्रीलिङ्ग है और अवध में भी; यद्यपि 'भात' सर्वत्र पुल्लिङ्ग है। 'रात्रि' से 'रात' है; इस लिए स्त्रीलिङ्ग। 'रात बीत गई'। बिहारमें 'रतिया' हो जाए गा। 'बात' का 'बतिया' हो जाए गा।

अवधी में 'सम्प्रसारण' करने की भी प्रवृत्ति देखी जाती है। व्रज में 'पीहैं हलाहल नन्द के द्वारे' चलता है; पर अवधी में 'दुआरे' चलता है। 'द्व' के 'व' को 'उ' कर दिया—'दुआरे'। इसी तरह 'प्यार' को 'पियार' हो जाता है। 'य्' को सम्प्रसारण ('इ') कर देने पर 'पिआर' शब्द बनता है, जो पुराने साहित्य में देखा भी जाता है। यहाँ विकल्प से 'इ' को 'इय्' कर के 'पियार' समझिए। इस के विपरीत, 'खड़ी बोली' में प्राप्त 'इ' का भी कभी-कभी उड़ा दिया जाता है—'स्यार' <'सियार'। अवधी में 'सियार' ही चलता है। 'शृगाल' का 'सिआर' हुआ, 'ग' का लोप कर के; और फिर 'इ' को 'इय्'—'सियार'।

अवधी में 'इ' को भी 'उ' कर देने की प्रवृत्ति है—'जाउ राज तौ जाउ'—राज जाए, तो चला जाए। 'जाहि तौ जाहि'। 'ह्' का लोप—'जाइ तौ जाइ'। 'इ' को 'य'—'जाय तौ जाय'। 'इ' को 'ए'—'जाए तो जाए'। इन सब प्रयोगों में एकजातीयता है। 'इ, य, ए' तीनो एक ही वर्ग के हैं—

तालुस्थानीय। परन्तु अवधी 'स्थान' की कोई परवा न कर के 'इ' को 'उ' भी कर देती है—'राज रहौ की जाउ'। 'अजस होउ जग सुजस नसाऊ' (तुलसी)। 'रहहिं' 'रहइ' 'रहउ' और 'रहौ'। मध्यमपुरुष-एकवचन (आज्ञा-अनुनय आदि) में आनेवाला 'उ' प्रत्यय भिन्न है। उस की निष्पत्ति 'हु' विभक्ति से है—'करहु न पिय अभिमान'। 'ह्' का लोप-'करउ'। सन्धि हो कर 'करौ' और 'खड़ी बोली' में 'करो'। ऐसे प्रयोग इस बात के साक्षी हैं कि किसी एक ही मूल-भाषा के ये सब विकास हैं। व्रज से आगे बुँदेलखण्ड में भी 'सम्प्रसारण' का चलन है—'आवत है' > 'आउत है'। एक ही चीज़ भिन्न रूपों में है।

स्वयंभू की भाषा देखने से पता चलता है कि तब तक भाषा का निखार न हुआ था। वहाँ सर्वनामों में स्त्रीलिंग-पुल्लिङ्ग भेद देखा जाता है। स्त्री के लिए वहाँ-'कावि' और पुरुष के लिए 'कोवि' देखा जाता है। ये संस्कृत 'काऽपि' तथा 'कोऽपि' के रूप हैं। परन्तु जायसी की अवधी भाषा में सर्वत्र 'कोउ' मिले गा। 'खड़ी बोली' में 'कोऽवि' के 'व्' का लोप और दीर्घान्त कर के 'कोई' समान रूप से चलता है—कोई पुरुष, कोई स्त्री। परन्तु अवधी ने 'इ' को 'उ' कर लिया है और सर्वत्र समान प्रयोग। स्वयंभू की भाषा में 'वायरणु' जैसे उकारान्त शब्दों की भरमार है; पर जायसी की भाषा में परिष्कार है। अनावश्यक (चेचक के से दाग) जायसी की भाषा में 'उ' के नहीं हैं। प्रमाण के लिए आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा सम्पादित 'जायसी ग्रन्थावली' देख सकते हैं। जायसी की भाषा से भी बढ़ कर सुसंस्कृत तथा सरस भाषा तुलसी के 'रामचरित-मानस' की है। परन्तु प्रतिलिपिकों ने तथा पण्डितम्मन्य सम्पादकों ने अपनी बुद्धि लड़ा कर इस सुन्दर भाषा को विकृत कर दिया है! 'रामु' 'लखनु' विश्वामित्रु, वसिष्ठु, मानसु, आदि की भरमार कर दी है! 'ठेठ अवधी' बनाने की सनक! संस्कृत के पण्डितों ने भी अपनी टाँग अड़ाई है। 'लखन' को 'लषण' कर दिया है! खैर, हम कह रहे थे कि तुलसी की अवधी भाषा 'मानस' में परिष्कृत तथा नियमबद्ध है। हम यहाँ इसी का स्वरूप सामने रखें गे।

सर्वनाम और विशेषण

'सर्वनाम' हिन्दी की सभी बोलियों में प्रायः एक ही हैं; परन्तु कुछ रूप-भेद देखा जाता है। अवधी में 'मैं'-'तू' दोनो हैं; परन्तु 'मैं' के वजन पर 'तैं' भी देखा जाता है—'मैं अरु मोर तोर तैं माया'

—मैं और मेरा, तू और तेरा, यह सब माया है। 'तुम' को 'तुम्ह' भी हो जाता है। 'सो' का बहुवचन में 'ते' हो जाता है—'ते जनमे कलिकाल कराला' वे इस कराल कलियुग में पैदा हुए हैं! यानी 'वह' की जगह 'सो' और 'वे' की जगह 'ते'। परन्तु सर्वत्र एकवचन में 'सो' नहीं है। 'हि' विभक्ति लगने पर 'सो' को 'ते' हो जाता है, एकवचन में। बहुवचन में 'तिन' होता है और 'हि' विभक्ति की 'इ' को 'अ' हो जाता है; साथ ही 'तिन' के अन्त्य स्वर का लोप हो कर 'तिन्ह' हो जाता है। 'जो' का बहुवचन 'जे' होता है; परन्तु 'हि' विभक्ति लगने पर एकवचन में भी 'जे' होता है—'जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई' जब जिस यत्न से जहाँ जिसने पाई। खड़ी बोली में भी 'लड़के' बहुवचन; परन्तु विभक्ति लगने पर एकवचन में भी 'आ' को 'ए'—'लड़के को', 'लड़के से' आदि। 'जो' के साथ 'सो' और 'जेहि' के साथ 'तेहि' आता है; परन्तु साधारण स्थिति में 'वह' का रूप 'ओहि' भी देखा जाता है। 'कौन' की जगह 'कवन' प्रायः चलता है और स्त्रीलिङ्ग में 'कवनि' हो जाता है। 'हू' के साथ मिल कर 'कवनिउ' रूप हो जाता है। 'हू' के 'ह्' का लोप और ह्रस्वता। 'खड़ी बोली' में 'कौन' उभयत्र रहता है। 'कौन' के आगे 'हू' का 'ऊ' आने पर संधि हो जाती है, भोजपुरी में—'कौनौ ठगवा गठरिया लूटल हो।'

विशेषणों के संबन्ध में मोटी बात यही कि पुंविभक्ति (ा) यहाँ प्रायः नहीं है। 'भला-बुरा' व्रजभाषा में हो जाए गा—'भलो बुरो'। परन्तु अवधी में न 'भला' न 'भलो'। यहाँ 'भल' हो गा। 'भल-पोच'—भला-बुरा। 'भला' की जगह 'भल' का प्रयोग है; पर 'बुरा' की जगह 'पोच'। इस का कारण है। 'बुरा' की पुंविभक्ति हटा कर अवधी में प्रयोग न हो गा; क्योंकि वैसा करने से वह पद अवध में अश्लील हो जाए गा। इसी लिए 'भल पोच' का प्रयोग तुलसी ने किया है। अन्यत्र 'छोटा-बड़ा' आदि 'छोट'-'बड़' जैसे रूपों में चलते हैं—'को बड़ छोट कहत अपराधू'—कौन बड़ा और कौन छोटा, यह कहना-समझना एक अपराध है!

सार्वनामिक विशेषणों में भी पुंविभक्ति नहीं है। 'ऐसा' खड़ी बोली में 'ऐसो' व्रजभाषा में और 'अस' अवधी में। 'बड़ छोट' आदि को स्त्रीलिङ्ग में 'बड़ि छोटि' जैसा रूप मिल जाता है; परन्तु 'अस' 'जस' 'तस' 'कस' आदि प्रायः एकरस रहते हैं—

'जस दूलह तस बनी बराता'

जैसा दूल्हा, वैसी ही बरात बनी। बहुवचन में कोई परिवर्तन नहीं होता। क्रिया-विशेषण के रूप में भी 'अस' 'कस' आदि का प्रयोग होता है। 'खड़ी बोली' में क्रिया-विशेषण के 'आ' को 'ए' हो जाता है—'ऐसे करो'। अवधी में सीधे 'अस करहु'।

परन्तु कहीं-कहीं 'भलो' जैसे प्रयोग भी मिलते हैं, जब साथ में विशेष्य न हो—'भलो भलाइहि पै लहै'। यह ब्रजभाषा की झलक है। कहीं 'खड़ी बोली' की (ा) पुंविभक्ति भी तुलसी की भाषा में देख सकते हैं—'जानि न जाइ निसाचर-माया ! कामरूप केहि कारन आया।' 'आया' में प्रकृति-प्रत्यय और पुंविभक्ति, सब कुछ 'खड़ी बोली' का है; 'माया' के साथ तुक मिलाने के लिए। अवधी में 'आवा' होता है। कहीं-कहीं विशेषण भी 'खड़ी बोली' के (आकारान्त) रखे हैं—

"साधु अवज्ञा कर फल ऐसा,
जरइ नगर अनाथ कर जैसा।"

अवधी के धातु-रूप

अवधी में धातु सब प्रायः वे ही हैं, जो हिन्दी की अन्य बोलियों में। बहुत कम, कुछ 'अपने' पृथक् धातु भी हैं। उदाहरण के लिए 'बचने' की जगह 'उबरना'। 'उबरा सो जनवासेहिं आवा'—जनक का दिया हुआ सब साज-सामान दशरथ ने गरीबों को बाँट दिया और जो बचा (उबरा), सो जनवासे आया। इसी तरह 'भेजा' की जगह 'पठवा' अवधी में चलता है। 'पठवा जनक बुलाइ'—जनक ने बुला भेजा।

जो धातु समान हैं, उन में (कहीं एकाध में) कुछ परिवर्तन भी हो गया है। पहले मैं 'आवा' को 'आया' का ही परिवर्तित रूप समझता था। परन्तु जब अवधी के स्वरूप पर कुछ अधिक ध्यान गया, तो वह बात गलत जान पड़ी। 'आवा' स्वतंत्र निष्पत्ति है; 'आया' का ही परिवर्तित रूप यह नहीं है। धातु-भेद भी हो गया है—एक ही धातु के दो रूप हो गए हैं। 'खड़ी बोली' में 'आ' धातु है, जिस से 'य' प्रत्यय तथा पुंविभक्ति के योग से 'आया' रूप बनता है। परन्तु 'अवधी' में 'आव' धातु है, 'आ' नहीं। वर्तमान काल में 'जा' का 'जाहि' रूप होता है; पर ('आता है' के लिए) 'आहि' नहीं होता। इस लिए नहीं होता कि सत्तार्थक 'अह' धातु का भी

एक रूप यहाँ 'आहि' होता है। 'आहि'–'है'। अहहि, अहइ, अहै और आहि, ये सब रूप यहाँ प्रयोग में आते हैं। इस लिए अवधी ने 'आने' के अर्थ में 'आव' धातु रखी—आवहि, आवै, आवा आदि। 'उ' प्रत्यय परे हो, तो 'व' को 'य' हो जाता है—'आयउ'। इसी तरह 'सोव' 'रोव' आदि धातु-रूप हैं; व्रजभाषा में भी और पंजाबी में भी—आवत है, सोवत है—आवँदा है, सोवँदा है। इन सब के बीच में खड़ी बोली है, जिस ने 'आ' 'सो' 'रो' जैसी धातुओं को पसन्द किया; यह विचित्र बात है!

सो, अवधी में 'आव' धातु है और यहाँ भूतकाल में 'य' प्रत्यय भी नहीं होता, केवल 'अ' होता है, सो भी वैकल्पिक। कह–कहा, आव–आवा, लाव–लावा आदि वैकल्पिक रूप होते हैं। यानी 'अ' प्रत्यय विकल्प से लुप्त हो जाता है।

भूतकाल में कई धातुओं को 'आदेश'-प्राप्त रूप मिल जाते हैं। खड़ी बोली' में तो कहीं एकाध जगह 'जा' जैसी धातु को 'ग' जैसा आदेश होता है; पर व्रजभाषा में 'है' को 'भ' हो जाता है—'सबेरो भयो'। अवधी में भी 'भ' होता है—'भा भिनसारा'—सबेरा हो गया। इसी तरह 'जा' को 'ग' हो जाता है—'सत जोजन गा लंका पारा'। 'गा'—गया। व्रजभाषा में 'गयो' और खड़ी बोली में 'गया'। दोनो जगह यहाँ 'य' प्रत्यय है—पुंविभक्ति में भेद। अवधी में 'ग' तथा 'भ' से भूतकालिक 'अ' प्रत्यय और सवर्णदीर्घ-एकादेश—'गा' 'भा'। 'आदेश' पारिभाषिक शब्द है। 'ह' का विकास 'भ' है; यह मतलब नहीं। 'ह' या 'अह' की जगह 'भवति' का 'भ' चलता है, यह मतलब।

आप कह सकते हैं कि यह जो भूतकाल में 'अ' प्रत्यय की कल्पना तुमने की है, उसी के कारण ह्रस्व 'ग' 'भ' का आदेश कह रहे हो; नहीं तो सीधे 'गा' 'भा' आदेश स्पष्ट हैं।

इस पर हम विचार कर सकते हैं। आदेश ह्रस्व 'ग' तथा 'भ' रूप ही हैं। तभी तो 'खड़ी बोली' में 'गया' और व्रजभाषा में 'गयो'–'भयो' रूप होते हैं। यदि दीर्घान्त आदेश होता, तो वहाँ 'गायो' 'भायो' रूप होते। परन्तु 'गायो' और 'भायो' रूप अन्य धातुओं के भूतकाल में बनते हैं—'सखी नैं सोहर नीको गाय्यो' और 'मोहन मेरे मन: भायो'। 'खड़ी बोली' में भी 'गाया' अन्य धातु का रूप है। इसी लिए 'ग' तथा 'भ' धातु लिए। अवधी तो हिन्दी की ही एक 'बोली' है न! तब धातुओं की एकरूपता क्यों

बिगाड़ी जाए ? अवधी के ही एक अञ्चल में 'गवा' और 'भवा' रूप बोले जाते हैं—'राम गवा की नाईं'—राम गया कि नहीं ! 'नहीं' का 'नाहीं' हुआ और फिर 'ह्' लुप्त हो कर 'नाईं'। इसी तरह 'का भवा जो कहि दिहिन कोऊ न आय !' क्या हुआ, जो कह दिया कि कोई नहीं है। 'भवा' हुआ। 'आय'–है। आहि, आइ, आय। 'इ' को 'य' होता रहता है। तो, अवधी के ही एक अञ्चल में 'गवा' 'भवा' बोला जाता है; 'गावा''भावा' नहीं। 'गावा' 'भावा' तो 'गाया' 'भाया' के प्रतिरूप हैं। निःसन्देह 'गवा' पर 'गया' का प्रभाव है। ठेठ अवधी और 'खड़ी बोली' के बीच में (लखनऊ के इधर–उधर) 'गवा' 'भवा' रूप चलते हैं। अवध से पश्चिम (उत्तर पाञ्चाल) में ('इ' को 'उ' की तरह) 'य' को 'व' हो जाता है। अवधी–साहित्य में 'गा' 'भा' का चलन है। तो, जब कि 'गयो' में 'ग' है, 'गयो' में 'ग' है और 'गवा' में 'ग' है, तब 'गा' में भी 'ग' धातु न्यायसंगत है कि नहीं ? इसी तरह 'भयो' तथा 'भवा' को देखते, 'भा' में 'भ' धातु है। जब 'ग' धातु है, तो उस के भूतकालिक रूप में 'अ' प्रत्यय की कल्पना तर्क–सम्मत है कि नहीं ?

यह 'अ'–प्रत्ययान्त रूप स्त्रीलिङ्ग में 'ऐ'–कारान्त हो जाता है—'गै विपदा'–विपत्ति गई। 'भै राति'–रात हुई। परन्तु बहुवचन में 'भै' 'गै' नहीं, 'भईं'–'गईं', रूप ही होते हैं। अनेक स्वरों की धातु हो, तो स्त्रीलिङ्ग में ईकारान्त ही रूप होते हैं—'पाती लिखी बनाइ'। 'लिखा' का स्त्रीलिङ्ग 'लिखी'। स्त्रीप्रत्यय 'ई' परे होने पर (खड़ी बोली तथा व्रजभाषा की ही तरह) पुंप्रयोग के अन्त्य स्वर का लोप—पढ़ा-'पढ़ी'। यदि पुंप्रयोग में 'व' हो, तो उस का भी लोप हो जाता है—आवा-'आई'—भावा-'भाई'। कभी-कभी 'गा' तथा 'भा' के स्त्रीलिङ्ग रूप भी ईकारान्त देखे जाते हैं—'गई' 'भई'। यानी 'गा' को 'ग' तथा 'भा' को 'भ' हो जाता है—प्रत्यय का 'अ' लुप्त हो जाता है। 'लोप' का मतलब 'अदर्शन' ही है। वैसे उस की अदृश्य सत्ता है, तभी तो भूतकाल प्रतीत होता है।

'कर' 'दे' तथा 'ले' जैसी धातुओं के भूत काल में 'कीन्ह' 'दीन्ह' तथा 'लीन्ह' जैसे रूप हो जाते हैं; परन्तु विकल्प से तिङन्त में और नित्य कृदन्त में। मूलतः धातु हैं 'कर' 'दे' तथा 'ले' आदि। वर्तमान काल में 'करहि' 'देहि' तथा 'लेहि' जैसे प्रयोग होते हैं। करहु, देहु, लेहु आज्ञा आदि में। इस से स्पष्ट है कि धातुओं के मूल रूप वे ही हैं, जो 'खड़ी बोली' तथा

व्रजभाषा आदि में। भूतकाल की भी तिङन्त क्रियाओं में यही स्थिति है—'करेउ' 'करेसि' आदि। ऐसी जगह 'इउ' प्रत्यय भूतकालिक है, तिङ्-पद्धति का। पुल्लिग-स्त्रीलिङ्ग में समान रूप रहते हैं। 'कर' तथा 'इउ' में सन्धि-'करेउ'। यहाँ 'ए' का बहुत हलका उच्चारण है। 'वेद अब पढ़ना' और 'अब वह काम अवश्य करना' जैसी भविष्यत् काल से युक्त विनय या आज्ञा की क्रियाओं की जगह अवधी में भी तिङन्त क्रियाएँ 'करेउ' जैसे रूप में चलती हैं। भूतकाल के 'करेउ' में 'ए' का हलका उच्चारण होता है और भविष्यत्-आज्ञा की 'करेउ' में स्थित 'ए' का गुरु या दीर्घ उच्चारण होता है।

'दे-ले' को 'दि' 'लि' हो जाता है और 'इउ' को 'एउ' हो कर 'ह्' का आगम भी हो जाता है—'दिहेउ' 'लिहेउ'। 'कर' को भी विकल्प से 'कि' होते देखा जाता है—'किहेउ'। यह 'दिया' 'लिया' 'किया' की झंकार है। 'ह्' का आगम भाषा में बहुत प्रसिद्ध है। 'एक' को 'इक' हो कर पंजाबी मे 'हिक' हो जाता है। 'पढ़हि' आदि में चलने वाली 'हि' विभक्ति में भी 'ह्' का आगम ही जान पड़ता है। 'पठति' का रूप 'पढ़इ' हुआ। 'ति' के 'त्' का लोप और 'ठ' को 'ढ़'। इसी 'इ' में 'ह्' का आगम हो गया—पढ़हि, करहि, जाहि। 'हि' विभक्ति बन गई। इस 'हि' को म० पु० एकवचन में 'सि' हो जाता है—'कहसि साँच किन बात—' तू सच क्यों नहीं कहती? इसी तरह 'दिहेउ' आदि समझिए।

'पढ़इ' विधि के रूप में इष्ट 'इ' अलग चीज है। यह 'पठेत्' आदि के 'इय्' का अवशेष है। हिन्दी की प्रवृत्ति ही ऐसी है। 'महान्' के 'न्' को अलग कर के 'महा' विशेषण रख लिया। अवधी तथा व्रजभाषा में भी 'महा' चलता है। सब कुछ स्वरान्त इष्ट है। सो, विधि का 'इय्' यहाँ 'इ' बन गया—पढ़इ, करइ, जाइ आदि। वृद्धि-सन्धि हो कर पढ़ै, करै। 'खड़ी बोली' में 'पढ़े' 'करे'। 'जाइ' आदि के 'इ' को व्रजभाषा में विकल्प से 'य' भी हो जाता है। खड़ी बोली में भी लोग 'लड़का आ जाय' लिखते हैं; परन्तु प्रवृत्ति 'ए' की ही ओर है, जो कि सोए, रोए, धोए आए आदि से स्पष्ट है।

हम कह रहे थे कि 'कर' आदि का विकल्प से 'कि' आदि हो जाता है, भूतकालिक 'इउ' प्रत्यय परे होने पर। 'सोएउ' आदि में केवल 'इ' ही 'ए' के रूप में है। 'गएउ' आदि के साथ 'गयउ' जैसे वैकल्पिक रूप भी चलते हैं—'इ' को 'य्' कर के।

यह तो तिङन्त भूतकालिक स्थिति हुई। कृदन्त में कर, दे, ले जैसी धातुओं को 'कीन्ह' 'दीन्ह' तथा 'लीन्ह' जैसे रूप मिल जाते हैं। 'कर' आदि को 'कीन्ह' आदि आदेश हो जाता है। ये कृदन्त क्रियाएँ पुंस्त्री-भेद से रूप बदलती हैं—'कीन्ह अनुग्रह' और 'दया कीन्हि'। यहाँ दिखाई देनेवाला 'ह' उस 'हि' विभक्ति का अवशेष नहीं है। तिङन्त के भी 'कीन्हेउ' जैसे रूप बनते हैं। 'सो' 'कर' को 'कीन्ह' आदेश है। भूतकालिक 'अ' प्रत्यय का लोप हो जाता है। अन्यत्र स्पष्ट दिखाई देता है—रहा, पढ़ा, लिखा आदि। कभी-कभी 'देखिन्ह जाई' जैसे भूतकालिक प्रयोग तुलसी ने किए हैं—'देखिन्ह जाई'—जा कर देखा। प्रायः भूतकाल में पूर्वकालिक क्रिया के अनन्तर ही ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं। यह भूतकालिक 'इन' प्रत्यय है —'करिन'-किया। जिस धातु में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से 'ह्' की सत्ता होती है, उस के 'इन' प्रत्यय में 'ह' अन्त में प्रायः आ जुड़ता है—अपनी बिरादरी का स्वागत समझिए। 'न' के 'अ' का लोप—'कहिन्ह' 'पढ़िन्ह' 'देखिन्ह'। 'ढ़' तथा 'ख' में भी 'ह्' विद्यमान है।

सत्तार्थक 'अह' धातु का वर्तमान काल में ('हि' विभक्ति से) 'अहहि' रूप होता है। इसी से 'अहइ' और फिर 'अहै' रूप बने हैं—बनते हैं। इस 'अह' से भूतकालिक 'अ' प्रत्यय हो कर 'अहा' रूप बनता है—'अहा'—था। इस 'अहा' का प्रयोग ('था' के अर्थ में) श्री मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने 'पद्मावत' में बहुत जगह किया है; पर तुलसी ने 'अहा' की राह छोड़ दी है—'रहा' आदि का प्रयोग किया है। 'खड़ी बोली' के क्षेत्र (मेरठ) में जैसे 'अहै' का 'है' हो गया, उसी तरह 'अहा' का वहाँ 'हा' हो गया। मेरठीय क्षेत्र में अब भी बोला जाता है—'एक राजा हा, एक रानी ही।' पंजाबी में भी 'अहा' मिलता है—'था' के अर्थ में।

जायसी ने 'हता' का भी प्रयोग किया है। यह 'हता' व्रज के 'हतो' का अवधी रूप है, जो कानपुर-लखनऊ के रास्ते आ गया है। यही 'हतो' दिल्ली-मेरठ के रास्ते 'खड़ी-बोली' में पहुँच कर 'था' हो गया है। 'हता'; वर्ण-व्यत्यय 'तहा' और 'त' के 'अ' का लोप, 'त् हा'—'था'। 'रहा' का प्रयोग 'शेष रहा' के अर्थ में भी है—'रहा एक दिन अवधि अधारा।' एक ही धातु का द्विधा प्रयोग है, या पृथक्-पृथक् दो धातुएँ हैं; यह विचारणीय है। 'अहहि' के अर्थ में 'रहहि' नहीं देखा जाता। 'रहहि'—रहता है। 'होगा' के अर्थ में 'रहिहि' या 'रहिहहि' भी नहीं देखा जाता। तो, क्या

'अह्रा' के पूर्व 'र्' का आगम हो गया है? य् र् ल् व् इन चार वर्णों का प्रायः आगम हुआ ही करता है। यह विषय भाषाविज्ञानियों के लिए विचारणीय है।

'रहिहि' को हम ने भविष्यत् - काल का प्रयोग बतलाया है। 'रहहि' इस से भिन्न है। 'रहहि' में 'रह' धातु से 'हि' वर्तमान काल का प्रत्यय है और 'रहिहि' भविष्यत् काल में 'इहहि' प्रत्यय है। 'इहहि' प्रत्यय होने पर अकारान्त धातु के अन्त्य (स्वर) का लोप हो जाता है—'कर + इहहि = 'करिहहि'—करे गा, करे गी। यह 'इहहि' प्रत्यय तिङ्-पद्धति का है—पुंस्त्री-लिङ्गों में एक-सा रहता है। बहुवचन में प्रत्यय का अन्त्य स्वर अनुनासिक—'रहिहहिं'। एक जगह दो हकार श्रवणसुखद नहीं लगते; इस लिए प्रत्यय के प्रथम 'ह्' का वैकल्पिक लोप—'रहिहि'। 'रहिहहि' और 'रहिहि' एक ही चीज हैं—रहे गा–रहे गी। जब लोप स्वीकार ही हो गया, तो अन्यत्र भी 'करिहि' 'जाइहि' 'आइहि'। वकारान्त धातुओं के 'व' का लोप हो जाता है—'इहहि' या 'इहि' परे होने पर। 'आव'–'आइहि', 'सोव'–'सोइहि' 'जोव'–'जोइहि' आदि। वर्तमान काल में 'व' बना रहता है—आवहि, सोवहि, जोवहि आदि।

यह 'इहहि' प्रत्यय ही मध्यलोप कर के और 'अ' 'इ' में 'ऐ' सन्धि कर के 'इहै' बन जाता है। अवधी में 'इहहि' या 'इहइ' और जरा पश्चिम चल कर 'पाञ्चाली' में मधुर रूप 'इहै'। कानपुर–कन्नौज आदि में बोलते हैं—'करिहैं'। 'उइ कुछु करिहैं थोरै'—वे कुछ करें गे थोड़े ही! 'वह' को 'उहि'। 'ह्' का लोप—'उइ'। 'थोरा' और 'ही' में सन्धि 'थोरै'। व और य को अवधी में भी 'उ'—'ओ' तथा 'इ' को 'ए' होते देखा जाता है। आगे हम तुलसी के 'रामचरित-मानस' से कुछ पद्य उद्धृत करें गे। वहीं ये सब चीजें स्पष्ट हो जाएँ गी।

पञ्चाल और व्रज मिले-सटे हैं। परन्तु तो भी न पञ्चाल ने 'करै गो' लिया, न व्रज-जनपद ने 'करिहै' लिया। परन्तु व्रजभाषा-साहित्य में 'इहै'-प्रत्ययान्त भविष्यत् काल की तिङन्त क्रियाओं का प्रचुर प्रयोग है। केवल पाञ्चाल के ही व्रजभाषा-साहित्य में नहीं, सूर-साहित्य में भी 'इहै' प्रत्यय का खूब प्रयोग है। वस्तुतः 'करै गो' की अपेक्षा 'करिहै' में लाघव है, श्रुतिसुखदता भी है। परन्तु हकारान्त धातुओं से परे व्रजभाषा–साहित्य के मर्मज्ञों ने 'इहै'

का प्रयोग बहुत कम किया है; ब्रज की कृदन्त क्रियाएँ ही रखी हैं। 'रहिहौं' की अपेक्षा 'रहौं गी' अच्छा प्रयोग है—'हिन्दुआनी ह्वै रहौंगी मैं।'

तुलसी ने भी व्रजभाषा-साहित्य में 'इहै' का प्रयोग किया है—

'लरिहै मरिहै करिहै कछु साको'

सो; 'कहहि' तथा 'कहिहि' क्रियाओं में अन्तर है। दोनो तिङन्त हैं; पर एक वर्तमान-कालिक, दूसरी भविष्यत्-कालिक।

'करहि' के 'ह्' का कभी-कभी लोप भी हो जाता है—'करइ'। सन्धि हो कर 'करै' भी देखा जाता है। परन्तु अधिकतर 'करहि' जैसे प्रयोग ही वर्तमान काल में होते हैं। 'करइ' जैसे प्रयोग विधि-आज्ञा आदि में चलते हैं। एक जगह 'ति' का रूपान्तर है और अन्यत्र संस्कृत के 'पठेत्' आदि की 'इ' है। प्रसंग से सब स्पष्ट हो जाता है। अवधी में 'ब' प्रत्यय भी भविष्यत् काल में आता है; पर इस का प्रयोग प्रायः उ० पु० बहुवचन में ही होता है-'करब न पुनि अस काम।' वकारान्त धातुओं के 'व' को 'उ' हो जाता है—'पुनि आउब एहि बेरिया काली'। 'सोउब आजु न राति।'

विधि-आज्ञा आदि के मध्यमपुरुष—एकवचन में प्रायः 'उ' प्रत्यय होता है और अकारान्त धातुओं के अन्त्य 'अ' का लोप हो जाता है—करु, सुनु, गुनु आदि। 'कहु जड़ जनक धनुष केहि तोरा'—तुलसी। बहुवचन में 'हु' प्रत्यय होता है—करहु, सुनहु, गुनहु। 'ह्' का लोप भी हो जाता है—करउ, सुनउ, गुनउ। इस ('हु' के अवशिष्ट) 'उ' के परे होने पर अकारान्त धातुओं के 'अ' का लोप नहीं होता है। 'करु' एकवचन और 'करउ' बहुवचन। 'खड़ी बोली' में एकवचन का 'उ' प्रत्यय लुप्त हो जाता है—कर, सुन। ब्रजभाषा में बना रहता है—'करु न निरादर लौंग कौ, एरे कूर कपूर!' ('तरंगिणी')

'करउ' का ब्रजभाषा में 'करौ' हो जाता है और 'खड़ी बोली' इसे भी तराश कर 'करो' बना लेती है। इसी तरह प्र० पु० एकवचन का 'करइ' ब्रजभाषा में 'करै' और 'खड़ी बोली' में 'करे' रूप लेता है। बहुवचन में अनुनासिक—करइं, करैं, करें। अन्य धातुओं में—जाहु, जाउ, जाओ जैसे रूप हो जाते हैं।

उत्तमपुरुष-एकवचन में 'हुँ' तिङ्-प्रत्यय प्रश्न-सम्भावना आदि में होता है-सुनहुँ, करहुँ, जाहुँ, आवहुँ। कभी 'ह्' का लोप भी हो जाता है—

सुनउँ, करउँ, जाउँ, आवउँ। ब्रजभाषा में सन्धि हो कर—सुनौं, करौं, 'आवौं', जैसे रूप चलते हैं। 'खड़ी बोली' में अकारान्त धातुओं के अन्त्य स्वर का लोप हो जाता है और प्रत्यय दीर्घ हो जाता है—सुनूँ, करूँ, पढ़ूँ। दीर्घान्त धातुओं के रूप—आऊँ, जाऊँ, पढ़ाऊँ, सुनाऊँ आदि होते हैं।

उत्तमपुरुष—बहुवचन में अवधी 'इ' प्रत्यय ही रखती है—'जो हम जाइँ'—यदि हम जाएँ। करइं, सुनइं आदि में कहीं-कहीं 'ह्' भी लोग जोड़ देते हैं—'करहिं' 'सुनहिं'। प्रसंगानुसार वर्तमान तथा सम्भावना आदि का अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

'सुनउँ' आदि के सन्धि-युक्त रूप ब्रजभाषा में 'सुनौं' जैसे चलते हैं; उसी तरह 'सुनइं' आदि 'सुनैं' जैसे रूप ग्रहण करते हैं। 'खड़ी बोली' में 'सुनें' रह जाता है—'हम कुछ कहें-सुनें तब रोक देना!'

जैसा कि पहले कह आए हैं, 'सुनेउ' 'सुनेहुँ' जैसे रूप भूतकाल के हैं। 'सुनेउँ' उत्तमपुरुष—एकवचन। मध्यमपुरुष एकवचन में 'सुनेहु' रूप होता है। 'सुनउ' 'सुनउँ' तथा 'सुनहु' वर्तमान काल के रूप हैं।

इसी तरह 'होहि' वर्तमान काल, 'होइहि' भविष्यत् काल है। 'अहहि' 'अह' (<अस्) का रूप है, सत्ता मात्र का कथन; परन्तु 'होहि' 'हो' का रूप है। 'राम विद्वान् है ('अहहि') और 'कोई भी पढ़-लिख कर विद्वान् होता है ('होहि'), यों दोनो तरह के प्रयोगों में अन्तर है। भविष्यत् काल में 'अह' का प्रयोग नहीं होता, 'हो' का होता है। 'खड़ी बोली' में भी यही स्थिति है, जो संस्कृत का अनुगमन है। वहाँ भी भविष्यत् काल में 'अस्' का नहीं, 'भू' का प्रयोग होता है—'भविष्यति'-'हो गा'। पहले से विद्यमान वस्तु का कथन 'अस्' या 'अह' से होता है। भविष्यत् में होनेवाले की क्या सत्ता? इसी लिए 'हो' का प्रयोग। पहले विस्तार से कह आए हैं कि 'हो' का विकास 'भू' धातु से है। संस्कृत में 'अस् भुवि' तथा 'भुवि सत्तायाम्' लिखा है जरूर; परन्तु इन दोनो ('अस्' तथा 'भू') के अर्थों में भेद है। अस्ति—है और भवति—होता है। इसी लिए 'भवति' का अर्थ 'उत्पद्येत' भी है।

'अहहि' की तरह 'करहि' आदि तिङन्त प्रयोग तो अवधी में होते ही हैं; साथ ही 'करत' 'रहत' जैसे कृदन्त प्रयोग भी होते हैं। स्त्रीलिङ्ग में 'करति'

'रहति' जैसे रूप हो जाते हैं। विशेषण तथा क्रिया-विशेषण की तरह भी कृदन्त प्रयोग होते हैं। ऐसे प्रयोग कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य तथा भाववाच्य; तीनो पद्धतियों पर चलते हैं।

'करिअ' 'जाइअ' 'सोइअ' जैसे प्रयोग भाववाच्य भी बहुत देखे जाते हैं। व्रजभाषा में 'करिय' 'जाइय' जैसे रूप रहते हैं। 'खड़ी बोली' में 'य' का 'ए' हो जाता है—जाइए, कीजिए, लीजिए आदि। अवधी में 'य्' कभी उड़ भी जाता है, 'अ' मात्र दिखाई देता है—'मजन फल देखिअ ततकाला'।

'जागते-सोते मैं तुम्हारी शरण में हूँ' में पुंविभक्ति 'आ' को 'ए' हो गया है; जो अवधी में है ही नहीं। यहाँ 'जागत सोवत सरन तुम्हारी' चलता है।

प्रेरणा अवधी में प्रायः 'आव' प्रत्यय से बनती है—पढ़>'पढ़ाव' और कर>'कराव' धातु-उपधातु। 'पढ़ावहि' 'करावहि' क्रियाएँ। भविष्यत् में 'इहहि' प्रत्यय प्रेरणा में नहीं देखा जाता; यदि आता भी है, तो 'व' का लोप हो जाता है—'कराइहि'-'पढ़ाइहि' आदि। भूतकाल में वही 'अ' प्रत्यय—करावा, पढ़ावा आदि। 'देख' आदि की प्रेरणा में यहाँ 'ए' को 'इ' नहीं होता; 'ए' ही रहता है; परन्तु उच्चारण ('ए') का बहुत हलका हो जाता है—'देखावा'। 'र' का आगम भी विकल्प से—'देखरावा'। दोनो तरह के प्रयोग होते हैं, जैसे 'खड़ी बोली' में 'दिखाया' और 'दिखलाया'।

पूर्वकालिक क्रिया अवधी में 'इ' प्रत्यय से बनती है। अकारान्त धातुओं के अन्त्य स्वर का लोप हो जाता है—'पढ़ि आवा'—पढ़ कर आया, या 'पढ़ आया'। दीर्घान्त धातुओं के 'जाइ' जैसे रूप होते हैं। 'जाइ'-जाकर। वकारान्त धातुओं के व' का लोप हो जाता है, पूर्वकालिक 'इ' सामने आने पर। 'सोवहि' 'आवहि' 'पठवहि' आदि क्रियाओं की धातुएँ स्पष्टतः वकारान्त हैं। इन के पूर्वकालिक रूप—'सोइ', 'आइ', 'पठइ' जैसे होते हैं—सो कर, आ कर, भेज कर। स्पष्ट है कि 'व' का लोप होने पर जो धातु-रूप रह जाता है, उस के अन्त्य 'अ' का लोप नहीं होता-'पठइ' 'अँचइ'। व्रजभाषा में भी यही 'इ' प्रत्यय है; पर वहाँ आगे 'कै' भी जोड़ देते हैं—'पढ़ि कै' 'करि कै' आदि। सन् १६०० से १६०३ तक, 'सरस्वती' के (इन तीन प्रारम्भिक वर्षों के) लेख देखिए, तो आप को 'कर' की जगह 'के' भी मिले गा। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल भी उस समय 'देख के' 'जा के' जैसे प्रयोग करते थे, जो स्पष्टतः 'देखि कै' 'जाइ कै' की छाया है। आगे

फिर द्विवेदी जी के हाथ में 'सरस्वती' आई और उन्हों ने अपनी भाषा का रूप स्थिर किया—'जा कर' 'देख कर' जैसे रूप स्थिर हो गए। अब 'के' केवल 'कर' के आगे लगता है—'कर के'। स्वयं द्विवेदी जी भी पहले 'जा के' लिखते थे।

मतलब यहाँ इतने से कि अवधी में पूर्वकालिक प्रत्यय 'इ' है। ब्रजभाषा में 'के' भी लगाते हैं।

तद्धित (अवधी का) अन्य 'बोलियों' की ही तरह है। 'जो' आदि से 'जब' आदि अव्यय भी समान और 'जब से' की तरह 'जब ते राम ब्याहि घर आए' विभक्ति-प्रयोग भी उसी तरह है।

'वाला' की जगह अवधी में 'हारा' प्रत्यय है—'बिधि हरि सम्भु नचावनिहारे' और 'जग पेखन तुम्ह देखनिहारे'। 'हारा' का बहुवचन में 'हारे' है। स्पष्ट रूप से यहाँ 'खड़ी बोली' की छाया है। देखने वाले—'देखनिहारे'। अवधी में 'न' को 'नि' हो जाता है—'हारा' प्रत्यय परे होने पर।

यहाँ एक बात और कह दी जाए। अवधी में संस्कृत की (उपसर्ग-सहित) धातुओं को भी आत्मसात् कर लिया गया है। 'प्र' उपसर्ग और 'विश' धातु का 'प्रविस' रूप बना लिया। 'श' को अवधी में 'स' हो ही जाता है और हिन्दी की अन्य बोलियों की ही तरह यहाँ भी सभी धातु स्वरान्त हैं, कोई व्यञ्जनान्त नहीं। सो, 'प्रविश' का 'प्रबिस' बन गया—'प्रविसहिं सब नर-नारि'। तुलसी का प्रयोग है—'प्रविसि नगर कीजिअ सब काजा'। 'प्रविसि'—प्रवेश कर के।

अवधी की कारक—विभक्तियाँ

विविध कारकों में तथा संबन्ध आदि में लगने वाली संज्ञा-विभक्तियों का परिचय भी संक्षेप में चाहिए।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, विभिन्न प्रादेशिक प्राकृत भाषाओं के अतिरिक्त कोई एक ऐसी अखिल भारतीय या अन्तर-प्रान्तीय प्राकृत अवश्य थी, जिसे सब ने साहित्य का समान माध्यम बना रखा था। उसी प्राकृत की एक कड़ी वह है, जो हमें कविवर स्वयंभू के ग्रन्थों में और 'पृथ्वीराज रासो' आदि में प्राप्त है। इस भाषा में 'हि' कारक-विभक्ति व्यापक रूप से विद्यमान है। आगे चल कर जब प्रादेशिक भाषाओं ने-हिन्दी की विभिन्न

बोलियों ने—पृथक्-पृथक् मार्ग ग्रहण किए; साहित्य में भाषा-भेद हुआ, तो भी वह 'हि' विभक्ति एकता के (प्रतीक) रूप में सर्वत्र (न्यूनाधिक रूप में) बनी रही। आज भी 'हि' को हम सर्वत्र देखते हैं; परन्तु अवधी में यह बहुत व्यापक है। ऐसी कोई जगह नहीं, जहाँ 'हि' की पहुँच न हो! कर्ता में, कर्म में, करण में, सम्प्रदान में, अधिकरण में और सम्बन्ध में; सभी जगह 'हि' चलती है। अपादान में नहीं दिखाई देती है; पर एकदम निषेध हम न करें गे! इतनी व्यापक चीज, सम्भव है, अपादान में भी हो; मेरी दृष्टि न पड़ी हो; या मुझे याद न पड़ती हो! इस के उदाहरण तुलसी के बचनों में ही आगे मिलें गे।

'हि' के अतिरिक्त अन्य भी कुछ विभक्तियाँ हैं—'कहँ' जो कि सम्प्रदान में लगती है, कभी कर्म में भी। 'महँ' अधिकरण में काम आती है। 'क' 'केर' तथा 'कर' प्रत्यय संबन्ध में आते हैं। तद्धित'क' तथा 'केर' के रूप भेद्य के अनुसार बदलते हैं। यानी 'क' तथा 'केर' संबन्ध-प्रत्यय हैं। यह सब उदाहरणों से स्पष्ट हो जाए गा। 'के' 'रे 'ने' संबन्ध-विभक्तियाँ भी हैं।

विभक्तियों का क्रम—विकास बताना व्याकरण का काम नहीं है; परन्तु तो भी 'हि' बहुत ध्यान खींचती है। संस्कृत में 'बालकैः' तृतीया के बहुवचन में बनता है; परन्तु वेदभाषा में ''बालकेभिः' जैसे प्रयोग भी देखे जाते हैं। सम्भव है, 'प्रथम-प्राकृत' में वैसे प्रयोग होते रहे हों, जो आगे 'दूसरी प्राकृत' में भी पहुँचने ही थे। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते शब्द घिस-घिस कर दूसरे ही रूप में हो गए थे। विसर्गों का अस्तित्व प्रायः समाप्त हो चुका था और 'भ' 'घ' 'घ' आदि से 'अल्पप्राण' स्पर्श वर्ण लुप्त हो कर कहीं-कहीं 'ह' मात्र रह गया था। 'रामेभिः' का 'रामहिं' हो गया था। अनुनासिकता की वृद्धि। इसी 'हिं' के साथ 'तो' लगा कर हिंतो' एक संयुक्त विभक्ति भी बना ली गई थी—अपादान के लिए।

द्वितीय प्राकृत की वह 'हिं' विभक्ति तृतीय प्राकृत (अपभ्रंश) में आ कर पर्य्याप्त व्यवस्थित हो गई और अन्यान्य विभक्तियो के बदले इसी का सर्वत्र प्रयोग होने लगा। अवधी-साहित्य में अब तक वही स्थिति है। एक विशेष बात यह हुई कि एकवचन में 'हिं' का रूप 'हि' निरनुनासिक कर लिया गया। अनुनासिक कर देने से जब बहुवचन बन जाता है—('है-हैं'); तब निरनुनासिक कर देने से एकवचन ठीक ही है।

अवधी-साहित्य में विभक्ति-प्रयोग के बिना भी कारकों की स्पष्ट प्रतिपत्ति

हो जाती है। 'कर्तरि' प्रयोग हो, तो कर्ता कारक में नियमतः निर्विभक्तिक संज्ञाएँ आती हैं। अकर्मक-सकर्मक सभी प्रयोगों में कर्ता कारक निर्विभक्तिक रहता है—सभी कालों में और विधि–आज्ञा आदि में भी !

'राम करहि' 'राम करेउ' 'राम करइ' 'राम कीन्ह बड़ काज' आदि प्रयोग निर्विभक्ति ही हों गे। यहाँ विभक्ति का प्रयोग गलत हो गा—'रामहि करहि' जैसे प्रयोग न हों गे। हाँ, अव्यय 'ही' का प्रयोग हो—'राम ही करता है' कहना हो, तब 'रामहि करहि' अवश्य कहा जाए गा। सो, यहाँ 'रामहि' में 'हि' विभक्ति नहीं; 'ही' अव्यय का ह्रस्व रूप है।

सर्वनाम भी कर्तृ-कारक में निर्विभक्तिक ही रहते हैं—'जो करहि' 'सो जाहि' आदि। कृदन्त कर्तृवाच्य अकर्मक क्रियाएँ भी निर्विभक्तिक कर्ता के साथ आती हैं—'जो जागा' 'सो नहिं सोवा'। गत्यर्थक सकर्मकों का कर्ता—'जो आवा एहि लोक'। अन्य धातुओं के कर्मवाच्य या भाववाच्य प्रयोगों के साथ जो, सो, को आदि सर्वनामों को 'जेहि' 'तेहि' 'केहि' जैसे रूप मिल जाते हैं—'जेहि कीन्ह अस पापु' 'तेहि पावा परिनामु' 'केहि मोहि अस दुख दीन्ह' आदि। 'जेहि' 'तेहि' आदि में 'हि' विभक्ति स्पष्ट है। जो–सो के बहुवचन रूप 'जे' 'ते' होते हैं। परन्तु 'जेहि' 'तेहि' से कभी भी बहुत्व प्रकट नहीं होता। बहुवचन में ऐसी जगह 'जिन्ह' 'तिन्ह' 'किन्ह' रूप होते हैं—'जिन्ह सब सुख दुख दीख'—जिन्हों ने सब सुख-दुख देखा है। 'जिन्ह पावा राखा तिन्ह नाहीं'—जिन्हों ने पाया, उन्हों ने रखा नहीं।

'जिन्ह पाई सब संपदा, ते नर जग बौरान' यहाँ 'संपदा' के अनुसार क्रिया 'पाई' है; यद्यपि कर्ता-कारक पुल्लिङ्ग है। राष्ट्रभाषा में 'जिन्हों ने सब संपदा पाई है'। और 'पावा सखिन्ह परम सुखु' में 'पावा' पुल्लिङ्ग क्रिया है; यद्यपि कर्ता स्त्रीलिङ्ग 'सखिन्ह' है। स्पष्टतः ये क्रियाएँ कर्मवाच्य हैं। 'तेहि पाए भूखन-बसन' यहाँ कर्ता एकवचन है 'तेहि' और क्रिया 'पाए' बहुवचन है; कर्म 'भूखन-बसन' के अनुसार। 'जिन्ह पावा अति मानु' में कर्ता बहुवचन है—'जिन्ह' और क्रिया 'पावा' एकवचन है, कर्म ('मानु') के अनुसार। सो; ये कर्मवाच्य कृदन्त क्रियाएँ हैं; क्योंकि पुल्लिङ्ग–स्त्रीलिङ्ग का भेद इन्हीं में रहता है—'तिन्ह तब पाई बिपति मग' और 'तिन्ह पावा बिस्रामु मग'। भाववाच्य प्रयोगों में क्रिया सदा पुल्लिङ्ग–एकवचन रहती है—'जननि जानकिहिं तुरत बोलावा'—मा ने जानकी को तुरन्त बुलाया।

कर्ता और कर्म स्त्रीलिङ्ग हैं; पर क्रिया पुल्लिङ्ग–एकवचन। अन्तर यह कि 'ने' विभक्ति नहीं है और क्रिया-रूप में अन्तर है। धातु वही, पद्धति भी वही।

ऐसा जान पड़ता है कि 'जिन्हों ने' आदि में अवधी 'जिन्ह' आदि की छाया है।

वर्तमान में कर्तृवाच्य—'करत रहत मुनि जग्य'—मुनि यज्ञ करते रहते हैं। प्रकरण से यही वाक्य भूतकाल का भी अर्थ दे देगा—'मुनि यज्ञ करते रहते थे'। 'त' प्रत्यय तो मधु की तरह 'योगवाह' है। सब जगह खप जाता है। परन्तु है यह 'कर्तृवाच्य'। यहाँ कर्ता में 'जेहि' 'जिन्ह' 'सखिन्ह' जैसे रूप न हों गे और न कर्म के अनुसार क्रिया का रूप ही पुल्लिङ्ग–स्त्रीलिङ्ग हो गा।

'ने' आदि विभक्तियों की जगह अवधी 'हि' से काम लेती है और उस का रूप बहुवचन में 'न' से मिल कर अकारान्त हो जाता है—'मुनिन्ह कही सोइ बात'। ऐसी स्थिति में 'जो' को एकवचन में 'जे' और 'सो' को 'ते' हो जाता है—'जेहि'–'तेहि'। बहुवचन 'जिन्ह'–'तिन्ह'। राष्ट्रभाषा में 'लड़का' एकवचन और 'लड़के' बहुवचन रूप हैं; परन्तु 'ने' आदि विभक्तियाँ आगे आने पर एकवचन में 'लड़का' का 'लड़के' रूप हो जाता है—'एक लड़के ने कहा था'। इसी तरह अवधी में 'जो' एकवचन, 'सो' एकवचन और 'जे' 'ते' इन के बहुवचन; परन्तु 'हि' विभक्ति या उस के संक्षिप्त रूप 'ह' की उपस्थिति में 'जो'–'सो' के एकवचन में 'जे'–'ते' रूप हो जाते हैं—'जेहि'–'तेहि'। बहुवचन में 'जो'–'सो' को 'जिन'–'तिन' हो जाता है और अन्त्य 'अ' का लोप—'जिन्ह'–'तिन्ह'

'जेहि'–'तेहि' के आगे दूसरी विभक्तियाँ भी आ जाती हैं—'जेहि कर' 'एहि महँ' और 'तिन्ह कर' 'जिन्ह महँ' आदि। सो, यह विभक्ति के आगे दूसरी विभक्ति लगाना पुरानी परम्परा है। प्राकृत में 'हिं' के आगे 'तो' लगा कर 'हिन्तो' जैसा रूप चलता था। अवधी में 'हि'–'ह' के आगे 'कर' आदि।

कर्म कारक

कर्म कारक में 'हि' का प्रयोग व्यापक रूप से होता है। दीर्घान्त शब्द ह्रस्व हो जाते हैं—लरिकहिं, राजहिं, सभहिं। 'सभहिं कह्यो समुझाइ'—सभा को समझा कर कहा। यहाँ नियम सब पर एक-सा—संस्कृत शब्दों पर भी।

'सभा' यहाँ गौण कर्म है। मुख्य कर्म में भी यही स्थिति है—'तब रानी उठि दासिहिं देखा'। भाववाच्य प्रयोग है—'देखा'। 'दासी' के 'सी' को 'सि'।

भाववाच्य कृदन्त क्रिया में कर्म सविभक्तिक रहते हैं—'तब तिन्ह हमहिं बोलावा'। यहाँ 'बोलावा' किया भाववाच्य कृदन्त है। कर्म में 'हि' विभक्ति लगी है। 'तब उन्हों ने हमें बुलाया'-राष्ट्रभाषा।

सर्वनामों पर कर्मत्व हो, तो 'हि' विभक्ति अवश्य रहे गी—

'तिनहिं कहा समुझाइ नृप'
'जिनहिं दीख तुम साँझ'

विभिन्न पदों की स्थिति अब गोस्वामी तुलसीदास की वाणी में ही देखिए। जो कुछ अभी तक कहा गया है, वह (और जो कुछ नहीं कहा गया, वह भी) सब कुछ स्पष्ट हो जाए गा।

मानस के कुछ उदाहरण

जानि सभय सुर भूमि सुनि, बचन समेत सनेह।
गगन गिरा गम्भीर भइ, हरनि सोक सन्देह।

'जानि' पूर्वकालिक क्रिया स्पष्ट है। 'सभय' सुरों का विधेय विशेषण है, जिस का पूर्व प्रयोग हो गया है। 'सभय' विशेषण 'भूमि' का भी है। 'सनेह समेत' का प्रयोग 'समेत सनेह' है। ऐसे प्रयोग सर्वत्र यहाँ मिलें गे। 'भई' तथा 'हरनी' को ह्रस्व हो गया है। 'भा' का स्त्रीलिङ्ग 'भई' जैसे 'गा' का 'गई'। 'ई' स्त्रीप्रत्यय आने पर पुंविभक्ति (ा) का हट जाना स्वाभाविक ही है। 'आवा' 'बोलावा' का 'वा' लुप्त हो जाता है—'आई' 'बोलाई'। खड़ी बोली में 'आया' का रूप 'आयी' भी होता है; पर यहाँ 'बोलावा' 'आवा' का 'बोलावी'-'आवी' कभी भी नहीं होता। 'भइ' का सन्धि-रूप 'भै' भी चलता है। 'हरनि सोक सन्देह' पृथक्-पृथक् (असमस्त) पद हैं। 'सोक' तथा 'सन्देह' को जोड़ने के लिए कोई अव्यय-मसाला भी नहीं। 'सामर्थ्य' से सब सिद्ध है। संबन्ध-सूचन के लिए भी कोई प्रत्यय-विभक्ति नहीं है। आगे यही सब इसी तरह मिले गा।

एक बार भूपति मन माहीं, भइ गलानि मोरे सुत नाहीं

'मोरे सुत नाहीं' में 'मोरे' संबन्ध प्रकट करता है ऐसा, जिसमें विधेयता विवक्षित है। इस का रूप सदा ऐसा ही रहे गा—'मोरे भूमि सम्य . ।'

'मोरी' नहीं। यदि विधेयता अन्यत्र हो, तब अवश्य 'मोरी भूमि हरी तब तेही' जैसा कुछ हो सकता है। 'खड़ी बोली' में 'मेरे' 'हमारे' 'उनके' 'रामके' आदि प्रयोग इसी तरह होते हैं। यानी 'के' 'रे' 'ने' विभक्तियाँ हैं।

गुरुगृह गयउ तुरत महिपाला;
चरन लागि करि बिनय बिसाला
निज दुखसुख सब गुरुहिं सुनायेउ;
कहि बसिष्ठ बहुविधि समुझायेउ

'सुनायेउ' तथा 'समुझायेउ' मैं यथादृष्ट लिख रहा हूँ। 'मानस' की विभिन्न प्रतियों में ऐसे शब्दों की वर्तनी विभिन्न रूपों में है। 'सुनायेउ' प्रयोग 'खड़ी-बोली' के 'चलिये' 'पढ़िये' जैसे प्रयोगों की तरह गड़बड़ है। 'चलिय' का अवधी 'चलिअ' और 'चलिए' खड़ी बोली में शुद्ध है। व्याकरण की दृष्टि से या तो 'सुनायउ' चाहिए, या फिर 'सुनाएउ'। यानी 'इउ' प्रत्यय के 'इ' को या तो 'ए' हो गा, या फिर 'य'। 'ये' नहीं हो सकता। यह मेरा मत है। गोस्वामी जी ने क्या लिखा है और प्रतिलिपिकों ने तथा 'संशोधक'-सम्पादकों ने क्या कुछ किया है; यह मैं नहीं कह सकता!

वशिष्ठ ने समझाया—

धरहु धीर होइहहिं सुत चारी;
त्रिभुवन बिदित भगत भय हारी।

'चारि' का चारी' चौपाई बनाने के लिए। ह्रस्व का दीर्घ इसी तरह अन्यत्र भी मिले गा।

स्रृंगी रिषिहिं बसिष्ठ बोलावा;
'पुत्रकाम' सुभ जग्य करावा

'श' का अवधी में भी प्रायः सर्वत्र 'स' के रूप में व्यवहार है और 'ज्ञ' का 'ग्य' के रूप में। तुलसी से कुछ दिन पहले मलिक मुहम्मद जायसी अवधी के अच्छे कवि हुए हैं। उन्हों ने 'अखरावट' नाम की एक ज्ञान—पुस्तक अवधी में लिखी है। क, ख, ग, आदि अक्षरों के क्रम से ज्ञान-वर्णन है; जैसे:—

का—करतार चंहिय अस कीन्हा

\+ \+ \+

खा–खेलार जस है दुइ करा

+ + +

गा–गौरहु अब सुनहु गियानी; इत्यादि ।

'आखर' (अक्षर) से 'अखरावट' है ।

'अक्षर-ज्ञान' से मतलब । इस अक्षरानुक्रम में ङ, ञ, ण की जगह मलिक साहब ने 'न' लिखा है । 'श की जगह 'स' लिखा है और 'य' की जगह 'ज' । 'ष' तथा 'क्ष' की जगह 'ख' लिखा गया है । इस का मतलब यह कि वे वर्ण अवधी में नहीं चलते, जिन का ग्रहण 'अखरावट' में नहीं है। परन्तु यह बात प्रायिक है। स्वयं जायसी ने 'वियोगी' को सर्वत्र 'बियोगी' ही लिखा है—'बिजोगी' नहीं ।

ङ, ञ, ण, तो 'अखरावट' में वैसे भी नहीं आ सकते; क्यों कि हिन्दी क्या, (उस बनावटी 'प्राकृत' को छोड़) संसार की किसी भी भाषा का कोई भी शब्द इन अक्षरों से उपक्रान्त नहीं होता ।

'मानस' में हम 'ष' की भी स्थिति अनिश्चित पाते हैं ! कहीं 'ष' और कहीं 'ख' लिखा मिलता है ! परन्तु ङ, ञ और ण का एकान्त अभाव है ! यही बात ब्रजभाषा में है और यही 'राष्ट्रभाषा' के आत्म–गठन में । संस्कृत तत्सम शब्दों में ही इन का तथा श, ष, क्ष, ज्ञ आदि का प्रयोग होता है। परन्तु अवधी तथा ब्रजभाषा काव्य में वैसे तत्सम शब्द प्रायः गृहीत नहीं होते । फारसी आदि से आए तत्सम शब्दों में भी 'श' काम आता है—राष्ट्रभाषा में । परन्तु 'ढङ्ग' 'अर्जराट' 'जञ्जीर' जैसा लिखना एकदम गलत है ।

कहीं–कहीं 'जग्य' को 'जग्यँ' या 'जग्यं' भी लोग लिख देते हैं ।

यह हवि बाँटि देहु नृप जाई;

जथाजोग जेहि भाग बनाई

'जाइ'–'बनाइ' का 'जाई–बनाई' । साधारणतः कर्ता और कर्म में 'यह' रूप रहता है; विशेषण–दशा में भी । 'कहँ' 'महँ' 'कर' आदि विभक्तियों का विषय हो, तभी 'एहि' 'ओहि' 'जेहि' आदि रूप होते हैं—'एहि महँ'—इस में; 'ओहि कहँ'–उस को; 'जेहि कहँ'–जिस को । विशेषण दशा में—'वे आवहिं एहि बाट' आदि । संक्षेप में यह समझिए कि जिस स्थिति में

'खड़ी बोली' 'यह—वह' आदि को 'इस'–'उस' जैसे रूपों में लेती है, उसी स्थिति में अवधी 'एहि'–'ओहि' करती है। 'इस तरह'—'एहि विधि' और 'उस तरह'—'तेहि विधि'। 'जेहि' के साथ 'तेहि' और अन्यत्र 'ओहि'।

तबहिं राउ प्रिय नारि बोलाईं;
कौसल्यादि सकल चलि आईं

कई प्रतियों में 'बोलाई'–'आई' यों निरनुनासिक 'ई' का प्रयोग देखने में आता है, जो गलत है। बहुवचन में अनुनासिक प्रयोग होता है। 'खड़ी बोली' में ऐसे कर्ता-कारकों का रूप 'नारियाँ' या 'नारियों को' होता है; पर अवधी में कोई परिवर्तन नहीं होता। 'नारी' का 'नारि' तो चौपाई बनाने के लिए है। 'मन्दिर महँ सब राजहिं रानी' यहाँ भी 'राजहिं' क्रिया के बहुवचन से ही 'रानी' बहुवचन ज्ञात होता है। एकवचन—'राजहि रानी' हो गा। कभी-कभी कर्ता-कारक का भी अन्त्य स्वर ऐसी जगह अनुनासिक कर देते हैं—'बृन्द बृन्द मिलि चलीं लोगाईं।' यह 'धाईं' के साथ तुक मिलाने के लिए। ब्रजभाषा में भी ऐसी जगह निरनुनासिक ही प्रयोग होता है:—

आगि लगै ब्रज के बसिबे महँ,
पानी में आगि लगावैं लुगाई!

अनुनासिक 'लुगाईं' नहीं। अवधी में 'लोग' का स्त्रीलिङ्ग 'लोगाई' होता है। 'लोग' में 'ओ' पूर्ण या दीर्घ उच्चरित है; पर 'लोगाई' में ह्रस्व या हलका है। यही हलकापन आगे बढ़ कर (ब्रज में) 'उ' हो गया है—'लुगाई'।

खड़ी-बोली में स्त्रीलिङ्ग-बहुवचन में 'आँ' लगता है, या फिर 'ओं' विकरण—'नारियाँ'–'रानियाँ'; 'रानियों को'–'नारियों को'। पुल्लिङ्ग इकारान्त (खड़ी बोली में भी) निर्विकार रहते हैं—'तब कवि आए राह पर।' 'आए' से 'कवि' (कर्ता) का भी बहुत्व स्पष्ट है। राष्ट्रभाषा में भी कभी-कभी ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द बहुवचन 'ओं' के बिना होते हैं—'वह दस रोटी खा गया'—'मुझे चार पूड़ी दे गया था'।

अरध भाग कौसल्यहि दीन्हा;
उभय भाग आधे कर कीन्हा

'हि' विभक्ति 'सम्प्रदान' में है और प्रकृति ('कौसल्या') को ह्रस्वान्त हो गया है। परन्तु 'कहँ' का प्रयोग यदि 'सम्प्रदान' में होता, तब ह्रस्व न

होता; रहता—'कौसल्या कहँ'। यही स्थिति 'महँ' आदि की है। 'हि' की पृथक् पद्धति है।

जा दिन तें हरि गर्भहि आए;
सकल लोक सुख सम्पति छाए

'गर्भहि' में 'हि' अधिकरण कारक में है। 'जो' का वैकल्पिक रूप 'जा' है; 'जेहि दिन तें' भी होता है। 'सकल लोक' निर्विभक्तिक अधिकरण, बहुवचन। 'सुख सम्पति छाए' में 'छाए' पुल्लिङ्ग 'सामान्य'–प्रयोग है; जैसे 'नर नारी आए'।

कह दुइ कर जोरी, अस्तुति तोरी,
केहि विधि करौं अनन्ता !

'दुइ' यहाँ 'दोनो' के अर्थ में है। मेरे सामने त्रिपाठी जी का संस्करण है। सम्भव है, अन्यत्र कहीं 'दोउ' पाठ हो। मुझे तो 'दोउ' ही याद है। 'दुइ' दो और 'दोउ'-दोनो। 'दोउ' या 'दोऊ' की जगह 'खड़ी बोली' में 'दोनो' आता है। अवधी कहीं खड़ी-बोली से भी प्रभावित है—'भरत सत्रुहन दूनउ भाई।' 'दोनो' की सन्धि तोड़ कर 'दूनउ'। परन्तु अवधी का अपना प्रयोग है—'दोऊ'—'कागभुसुंडि संग हम दोऊ।' इसी तरह 'कोई' की जगह यहाँ 'कोऊ' है; पर कहीं 'खड़ी-बोली' की तरह 'कौन' भी आ जाता है—'कौनउ' 'कौनिउ'। 'दुइ कर जोरी' से तो जान पड़ता है कि कौसल्या के बहुत हाथ थे, उन में से दो को जोड़ कर उन्हों ने स्तुति की !

गुरु बसिष्ठ कहँ गयेउ हँकारा;
आए द्विजन्ह सहित नृप द्वारा

'गयेउ' पर मैं ने विचार प्रकट कर दिया है। सर्वत्र आगे यथास्थित प्रयोग ही लिखने हैं।

'द्विज आए' आदि में बहुवचन कर्ता ज्यों का त्यों रहता है; परन्तु कर्मवाच्य कृदन्त क्रिया का जब कर्ता हो, या अन्य किसी विभक्ति का विषय हो, तो 'न्ह' आगे लग जाता है—'द्विजन्ह कहा'—ब्राह्मणों ने कहा। 'द्विजन्ह सहित'—ब्राह्मणों के साथ। संबन्ध-विभक्ति का विषय है।

अनुपम बालक देखिन्ह जाई

'देखिन्हि जाई'—जा कर देखा। 'कीन्हेन्हि' आदि की तरह भूतकालिक क्रिया।

बृन्द बृन्द मिलि चलीं लोगाईं;
सहज सिंगार किए उठि धाईं ।

'लोगाईं' 'धाईं' के साथ मेल मिलाने के लिए है। धाईं को अनुनासिक रखना ही है। उस के मेल में 'लोगाई' बेमेल बैठता; इस लिए 'लोगाईं' अनुनासिक कर दिया गया है।

कनक कलस मंगल भरि थारा,
गावत पैठहिं भूप दुआरा ।

'कनक कलस' और 'थारा' अधिकरण कारक में हैं। 'मंगल' से मतलब है—'माङ्गलिक द्रव्य'। यह कर्म कारक है। अवधी में 'थार' है <'थाल'। चौपाई बनाने के लिए दीर्घ कर दिया है। महाकवि भूषण ने भी (ब्रजभाषा में) 'थारा' का प्रयोग अधिकरण कारक में ही किया है। 'दुआरा' भी 'दुआर' का दीर्घान्त रूप है, चौपाई बनाने के लिए। अधिकरण में अवधी साधारणतः 'दुआरे' रूप रखती है। ब्रजभाषा में 'द्वारे' होता है—'सब पीहैं हलाहल नन्द के द्वारे'। 'खड़ी बोली' में न 'दुआरे' और न 'द्वारे'। यहाँ 'द्वार पर' चलता है; 'दरवाजे में' चलता है।

अवधी के 'दुआरे' में और ब्रजभाषा के 'द्वारे' में 'हि' ('इ') विभक्ति अधिकरण कारक में है। संस्कृत में भी 'द्वारे' ही होता है। वही समझिए!

'गावत' भाववाच्य प्रयोग है—'गाते-गाते प्रवेश करती हैं।' 'खड़ी बोली' का भाववाच्य प्रयोग पुंविभक्ति के साथ एकवचन होता है और 'आ' को 'ए' हो जाता है—'राम ने गाते हुए प्रवेश किया' 'लड़कों ने (या लड़कियों ने) गाते हुए (या 'गाते-गाते') प्रवेश किया।' अवधी में पुंविभक्ति नहीं है; पर भाववाच्य क्रिया रहती है उसी तरह—पुल्लिङ्ग एकवचन। 'गावत पैठहिं भूप दुआरा'। कर्ता बहुवचन है। 'पैठहिं' आख्यात कर्तृवाच्य तिङन्त है ही। 'गावति' पाठ हो, तो विशेषण।

करि आरति न्यौछावरि करहीं,
बार बार सिसु चरनन्हि परहीं

'करहिं' ('करहीं') यहाँ भूतकाल में प्रयुक्त है। 'खड़ी बोली' का वर्तमानकालिक 'त' भी सहायक ('है') के अभाव में कालान्तर की व्यञ्जना कर देता है—'वे वहाँ आरती कर-कर के न्यौछावर करतीं और बार-बार शिशु के चरणों पड़तीं।' 'चरनन्हि' अधिकरण—बहुवचन है। 'हि' विभक्ति

अधिकरण कारक में है। 'चरन' का बहुवचन 'चरनन' और उस से आगे 'हि' विभक्ति।

सरबस दान दीन्ह सब काहू;
जेहि पावा राखा नहिं ताहू

'सब काहू'—सब ने ही। 'ताहू'—उसने भी। सभी ने सब कुछ दान कर दिया और जिस ने पाया, उस ने भी अपने पास नहीं रखा! उस ने भी दान कर दिया!

'काहू' और 'ताहू' पर विचार करना है। ये 'काहि'-'ताहि' के रूप नहीं हैं। 'हू' अव्यय 'भी' के अर्थ में आता है—अवधी में भी और ब्रज-भाषा में भी। यहाँ वही 'हू' प्रकृति के साथ सट कर बैठा है। 'हि' विभक्ति परे हो, तो भी को, जो, सो को प्रायः का, जा, ता हो जाता है—काहि, जाहि, ताहि। 'केहि' 'जेहि' 'तेहि' में भी 'हि' विभक्ति है। 'जो' आदि को 'जे' आदि आदेश हो गए हैं। 'काहि' आदि रूप कर्म-सम्प्रदान आदि कारकों में आते हैं। इसी तरह 'जो' 'जेहि' जैसे रूप भी चलते हैं। रुच्यर्थक धातुओं के साथ 'हि'-विभक्ति कर्ता कारक में लगती है—'ताहि न लागै नीक'—उसे अच्छा नहीं लगता। 'ताहि' कर्ता ही है; यद्यपि 'मह्यं दधि न रोचते' आदि संस्कृत-प्रयोगों में 'मह्यम्' आदि की गणना कर्ता-कारक में लोग नहीं समझते हैं। सोचने की चीज है कि जो पसन्द या नापसन्द करता है, वह कर्ता नहीं, तो क्या है? खैर, यह प्रासंगिक बात है। संस्कृत में जहाँ (ऐसी जगह) चतुर्थी 'मह्यम्' आदि आती है, हिन्दी में 'को' आदि आती हैं। अवधी आदि में 'हि' लगती है—'ताहि'। परन्तु 'तेहि' भिन्न चीज है। 'तेहि लाग न नीक' प्रयोग भूतकाल में होता है। यह कर्मवाच्य प्रयोग है भूतकाल में। 'तेहि नीक न लाग' 'तेहि नीक न लागि' रूप पुल्लिङ्ग स्त्री-लिङ्ग कर्मकारकों के अनुसार बदलें गे।

'काहि' 'ताहि' में 'भी' का अर्थ नहीं है। 'काहू' 'ताहू' निर्विभक्तिक प्रयोग हैं। 'ताहू'—उस ने भी। 'हू' के आगे विभक्ति लग सकती है—सम्प्रदान में 'काहुहि'—किसी को भी।

वोह सुख सम्पति समय समाजा;
कहि न सकै सारद अहिराजा

पृथक्-पृथक् अन्वय है; इस लिए 'सकै' एक वचन—'न सारद कहिं

सकै, न अहिराज कहि सकै ।' बहुवचन 'सकैं' प्रयोग कर देने से जोर कम हो जाता । 'वोह' एकवचन भी इसी तरह—वह सुख, वह सम्पति, वह समय और वह समाज ।

त्रिपाठी जी के द्वारा सम्पादित संस्करण से मैं यहाँ सब उद्धरण दे रहा हूँ । यहाँ 'सो' का 'वोह' प्रयोग है । 'सो' का बहुवचन 'ते' होता है । एकवचन में विभक्ति परे होने पर (या विभक्ति के विषय में) 'सो' को 'ओह' होता है—'ओहि महँ' । परन्तु यहाँ 'वोह' में 'व्' भी है । यही 'वोह' आगे चल कर 'वह' हो गया है । यहाँ 'ओह' तो आ ही नहीं सकता; 'सो' भले ही हो । 'वह' और 'ओह' का संकर-प्रयोग 'वोह' है । 'ओह' बना है 'सो' से ही ।

कौतुक देखि पतंग भुलाना;
एक मास तेइ जात न जाना

'तेइ'—तेहि । उस ने एक महीना जाते न जाना ! 'जाना' 'अ'–प्रत्ययान्त भूतकालिक क्रिया है । 'तेहि' के 'ह्' का लोप ।

यह रहस्य काहू नहिं जाना,
दिनमनि चले करत गुन गाना

'काहू'—किसी ने भी । 'हू' अव्यय के साथ 'को' को 'का' हो गया है । 'करत' भाववाच्य क्रिया है । 'ताहू'—उसने भी । 'ने' अवधी में है नहीं । इसी लिए—ताहू, काहू । 'ओह' के 'ह' का लोप—'ओहू'—उस ने भी ।

औरौ एक कहौं निज चोरी;
सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी

'तोरी मति'–तेरी मति । 'औरौ'–और भी । 'और हू' । ब्रजभाषा में हो गा—'औरहु' । अवधी में 'ह्' का लोप और वृद्धि-सन्धि–'औरौ' ।

यह सुभ चरित जान पै सोई;
कृपा राम कै जा पर होई

'पै' अव्यय । पर यह चरित्र वही जान सकता है, जिस पर राम की कृपा हो । 'कै'–की । 'सोई'–वही । 'सो' के आगे यहाँ 'ही' अव्यय है । 'ह्' का लोप और सटा कर प्रयोग–'सोई'–वही । 'हू' के साथ–'सोऊ' होता है—वह भी ।

परमानन्द प्रेम सुख भूले;
बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले।

तुलसी ने 'प्रेम' को 'पेम' प्रायः नहीं किया है। परन्तु जायसी ने 'पेम' का ही प्रयोग किया है। इन दोनो में आधी शताब्दी से भी कम का अन्तर है; फिर भी साहित्य की भाषा में काफी अन्तर पड़ गया है! तुलसी ने 'था' के अर्थ में 'अहा' का प्रयोग नहीं किया है; पर जायसी ने बहुत किया है। जनता की बोली में इतनी जल्दी इतना परिवर्तन नहीं होता; परन्तु साहित्य की भाषा का तो परिष्कार होता है न। इसी लिए बहुत अन्तर पड़ जाता है। भारतेन्दु की भाषा और उन के बाद को भाषा देखिए; कितना अन्तर है? भारतेन्दु के साथी ही पं० प्रताप नारायण मिश्र की भाषा देखिए; कितना निखरा हुआ रूप है! प्रयोग का भेद है।

हम आगे जायसी की भी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करेंगे, तुलसी की भाषा से मिलान करने के लिए। परन्तु यहाँ कुछ विचार सामान्य पद्धति पर कर लें, जो तुलसी तथा जायसी आदि सभी कवियों की भाषा पर समान है।

उकारान्त प्रयोग

अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द अवधी में तथा पाञ्चाली में प्रायः उकारान्त हो जाते हैं। 'मानस' की रचना पश्चिमी अवधी या पूर्वी पाञ्चाली में है। तुलसी का जन्म पूर्वी पाञ्चाल (बाँदा जिले) में हुआ था। 'रामचरित' का अवध से संबन्ध और इसी प्रेम से 'मानस' की भाषा का नाम 'अवधी'। हमारा मतलब अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के उकारान्त प्रयोग से है। 'कारन' का 'कारनु' हो जाता है; पर एकवचन में ही; बहुवचन में नहीं। स्त्रीलिङ्ग अकारान्त शब्द भी उकारान्त नहीं होता। 'रात' कभी भी 'रातु' रूप में न मिले गा, न 'खाट' का 'खाटु' प्रयोग हो गा। स्पष्ट है कि यह पुल्लिङ्ग संज्ञाविभक्ति 'ओ' का संकुचित रूप ही है; यद्यपि इस का प्रयोग उतना व्यवस्थित नहीं, जितना राष्ट्रभाषा में 'आ' पुंप्रत्यय का और राजस्थानी तथा व्रजभाषा में 'ओ' का। 'ओ' का रूप 'उ' हो गया और आगे चलते-चलते वह भी घिस गया! यानी पुल्लिङ्ग एकवचन में भी वैकल्पिक प्रयोग हो गया—कभी 'उ' और कभी 'अ'। परन्तु निषेधार्थक नियम वैसा ही कड़ा है; यानी स्त्रीलिङ्ग शब्द के अन्त्य 'अ' को 'उ' न हो गा और पुल्लिङ्ग-बहुवचन में भी न हो गा। 'राकसु आवा' हो गा; पर 'राकसु आए' न हो गा। यहाँ प्रश्न है कि

आदरार्थ जिन का प्रयोग बहुवचन में होता है, उन 'राम' 'लखन' 'वसिष्ठ' आदि शब्दों को उकारान्त लिखना क्या ठीक है ? तुलसी के हाथ की लिखी प्रति मिल नहीं रही है, जिस से कि असन्दिग्ध निर्णय हो सके। परन्तु बहुत पुरानी प्रतियों में भी 'रामु' जैसे प्रयोग मिलते हैं। तो क्या इन्हें प्रामाणिक माना जाए ? क्यों ? कैसे समझा जाए कि प्रतिलिपि सही हुई होगी ? तुलसी के पचास वर्ष बाद की बात जाने दीजिए, उन के सामने ही स्थानान्तर में अन्यथा प्रतिलिपि क्या सम्भव नहीं है ? बहुवचन प्रयोग आदर में होता है। तब एकवचन 'रामु' 'दसरथु' आदि तुलसी ने प्रयोग किए हों गे क्या ? 'सभा' के संस्करण में भी इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है, जिस का अनुकरण सब ने किया है। 'कारनु एकु' तो हो गा; पर 'कारनु चारि' नहीं हो सकता। तब बहुवचन में 'रामु' 'दसरथु' आदि कैसे ? विद्वानों के सोचने की बात है। हम इस पर कोई 'निर्णय' नहीं दे रहे हैं।

तुलसी ने चौपाइयों को अन्त्य गुरु करने के लिए जहाँ ह्रस्व शब्दों के भी दीर्घान्त प्रयोग किए हैं, वहाँ पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग का पूरा ध्यान रखा है। पुल्लिङ्ग शब्दों को या तो ऊकारान्त कर दिया है—'सेवक-सदन स्वामि-आगमनू' और या फिर आकारान्त कर दिया है (गमन > गवन >) 'गवना' आदि। 'उ' अवधी की पुंविभक्ति और 'आ' राष्ट्रभाषा की पुंविभक्ति। इन्हीं का दीर्घान्त प्रयोग किया गया है। अन्य किसी स्वर का दीर्घान्त प्रयोग इस मतलब से नहीं है। पूर्वकालिक क्रिया 'जाई' आदि दूसरी चीज है।

यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि राष्ट्रभाषा की 'आ' तथा व्रजभाषा की 'ओ' पुंविभक्ति से अवधी की इस 'उ' की प्रयोग-विधि भिन्न है। भाववाचक संज्ञाएँ 'जागना'-'जागनो' वहाँ हैं; पर यहाँ 'जागनु' नहीं। वहाँ पानी 'मीठा' या 'मीठो' होता है; पर यहाँ 'मीठु' नहीं। यहाँ 'राकसु' होता है; पर वहाँ 'राकसा' या 'राकसो' नहीं।

'ए'—'ओ' का हलका उच्चारण

अवधी में भी पाञ्चाली की तरह 'ए' तथा 'ओ' स्वरों के द्विविध उच्चारण हैं—दीर्घ और ह्रस्व। 'एकु' में 'ए' का पूरा या दीर्घ उच्चारण है; परन्तु 'जनु एतनिय बिरंचि करतूती' में 'ए' का ह्रस्व उच्चारण है। राष्ट्रभाषा में 'इतना' और अवधी में 'एतना'। यहाँ ह्रस्व 'ए' है; जिस के लिए 'सभा'

ने एक चिह्न बनाया है; पर वह तभी काम दे सकता है, जब ('ओ' 'औ' की तरह) 'ए'-'ऐ' को भी 'अ' की बारहखड़ी से लिखें—'अॆतना'। इसी तरह 'जॆतना' और 'ऒतना' आदि हैं। 'ओस-बूँद' में 'ओ' का पूरा या गुरु उच्चारण है; परन्तु इस से बनी नामधातु में हलका उच्चारण होगा—'बिस्तरु ओसान जाति है'।

नियम यह बन सकता है कि अवधी में भी मूल शब्दों के 'ए' तथा 'ओ' पूरे या दीर्घ उच्चरित होते हैं; परन्तु 'हि' 'महँ' आदि विभक्तियाँ परे होने पर, 'आदेश' स्थल में तथा यौगिक शब्दों में इन के उच्चारण हलके हो जाते हैं। संस्कृत में भी इन स्वरों को ह्रस्वता मिलती है; पर पूरी। यानी 'ओ' को 'उ' हो जाता है और 'ए' को 'इ' हो जाता है। यही स्थिति राष्ट्रभाषा में है—एक-'इकट्ठा' और 'दो पहर'—'दुपहरी'। परन्तु अवधी में 'ए'-'ओ' का पूरा नहीं, कुछ ही हलका उच्चारण होता है। 'इतना'-'एतना' और 'उतना'-'ओतना'। यहाँ 'ए'-'ओ' का हलका उच्चारण है; क्योंकि ये मूलतः यहाँ नहीं हैं, 'यह'-'वह' के बने रूप हैं। राष्ट्रभाषा में 'यह' को 'इ' और 'वह' को 'उ' हो जाता है, तद्धित 'तन' प्रत्यय परे आने पर; अवधी में हलके 'ए'-'ओ' हो जाते हैं—'एतना'-'ओतना'। इसी तरह 'एहि महँ' 'तेहि महँ' तथा 'जेहि' आदि में 'ए' ह्रस्व है। 'तोहि' में 'तो' गुरु है; पर 'ओहि महँ' में 'ओ' लघु है। (ह्रस्व 'ए' 'ओ' का उच्चारण हलका बतलाने के लिए जो टाइप बनवाया गया है, इतना 'सभा' के प्रेस में नहीं है कि हम सर्वत्र उस का उपयोग कर सकें। समझ लीजिए।)

परन्तु कहीं-कहीं अवधी में भी पूरी ह्रस्वता होती है। 'दुअन्नी' को 'दोअन्नी' नहीं बोला जाता है; 'दुअन्नी' ही लोग बोलते हैं।

पुल्लिङ्ग आकारान्त भूतकाल की क्रियाएँ भी समान हैं—'आया-आई'—'आवा-आई'। बहुवचन भी समान—'आईं'। 'आवा' का बहुवचन भी राष्ट्रभाषा की ही तरह 'आए' होता है; पर संज्ञा को एकारान्त नहीं करते—'लरिका आवा'-'लरिका आए'। 'जो लरिका कछु अनुचित करहीं'। यही स्थिति पाञ्चाली में भी है। पूरबी पाञ्चाली में अवधी की तरह—'लरिका आवा' और पश्चिमी पाञ्चाली में 'लरिका आओ'। परन्तु बहुवचन और स्त्रीलिङ्ग रूप एक समान।

साहित्यिक अवधी का परिष्कार हुआ है। जायसी की भाषा में और तुलसी की भाषा में अन्तर है। स्वाभाविक बात है। १६०३ ई० तक की

'सरस्वती' की भाषा देखिए और उस का मिलान १६१५ ई० की 'सरस्वती'-भाषा से कीजिए। आकाश-पाताल का अन्तर मिले गा। ऐसा ही अन्तर जायसी और तुलसी की भाषा में है। स्पष्टता के लिए कुछ उद्धरण 'जायसी' के भी लीजिए।

'पद्मावत' की भाषा

जायसी का मुख्य ग्रन्थ 'पद्मावत' ही है। इस लिए इसी से उद्धरण लिए जाएँ गे।

> चितउर गढ़ कर एक बनिजारा;
> सिंघलदीप चला बैपारा।

'बनजारा'—वाणिज्यकार, व्यापारी। 'एक' की जगह शायद 'इक' रहा हो, जो आगे प्रतिलिपिकों ने 'एक' कर दिया हो। इसी तरह अगली पंक्ति में भी 'इक' ही ठीक बैठता है। अवधी में 'ए' का हलका उच्चारण ऐसी जगह नहीं होता है।

> बाम्हन हुत एक निपट भिखारी;
> सो पुनि चला चलत बैपारी।

'हुत'-हुता, था। भूतकाल के 'अ' प्रत्यय का वैकल्पिक लोप है। तुलसी लिखते—'सोऊ चला चलत बैपारी'। वे 'बाम्हन' न लिखकर 'द्विज' जैसा कोई शब्द देते। तुलसी यहाँ 'भिखारी' भी न रखते। 'भिखारी' का व्यापार करना कैसा! उसे रुपया भी कर्ज कौन देगा! 'गरीब-दुखारी' वैसा सोच-विचार कर सकता है।

> ऋन काहू सन लीन्हेसि काढ़ी;
> मकु तहँ गए होइ किछु बाढ़ी।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित 'जायसी ग्रन्थावली' से ये उद्धरण दिए जा रहे हैं। 'ऋन' कदाचित् जायसी ने न लिखा हो, 'रिन' लिखा हो! फारसी-अक्षरों में लिखी प्रति पढ़ कर अपनी प्रवृत्ति से 'ऋन' लिख लिया गया हो! अवधी तथा व्रजभाषा में 'ऋ' की जगह प्रायः 'रि' का व्यवहार ही होता है। 'उरिन' अवधी-व्रजभाषा को भी राष्ट्रभाषा में 'उऋण' बना लिया गया है, जो 'अर्द्धतत्सम' रूप में चल निकला है।

'मकु' अव्यय का जायसी ने बहुत प्रयोग किया है। 'मकु'–कदाचित्।

'होइ' सम्भावना है। 'काहू सन'—किसी से। 'सन' विभक्ति का तुलसी ने भी खूब प्रयोग किया है। 'हू' अव्यय है ही।

मारग कठिन बहुत दुख भएऊ;
नाँघि समुद्र दीप ओहि गएउ।

'ओहि' की जगह 'तेहि' तब होता, यदि पहले 'जेहि' आता!

देखि हाट किछु सूझ न ओरा;
सबै बहुत किछु दीख न थोरा

'देखि' की जगह भी शायद भूतकालिक 'दीख' ही रहा हो! 'देखि' का कुछ मेल नहीं मिलता। फारसी लिपि में लिखने के कारण बहुत गोल-माल हो गया है।

पै सुठि ऊँच बनिज तहँ केरा;
धनी पाव, निधनी मुख हेरा।

'तहँ केरा'—वहाँ का। अधिकरण-प्रधान स्थानवाचक अव्ययों के आगे विभक्तियों का या संबन्ध-प्रत्ययों प्रयोग हिन्दी की सभी बोलियों में होता है।

लाख करोरिन्ह वस्तु बिकाई;
सहसन केरि न कोउ ओनाई

'न ओनाई'–सुनता न था!

सब ही लीन्ह बेसाहना, औ घर कीन्ह बहोर।
बाम्हन तहँवा लेइ का? गाँठि साँठि सुठि थोर!

'बेसाहना'—सौदा-पत्ता। 'तहँ' में वैकल्पिक स्वार्थिक 'वाँ' प्रत्यय। तुलसी को 'तहवाँ' 'जहँवा' आदि प्रायः पसन्द नहीं।

झूरै ठाढ़ सो काहे क आवा;
बनिज न मिला, रहा पछिताबा।

'झूरै' की जगह कदाचित् 'झुरै' रहा हो—सूख रहा था! 'हि' का भूतकाल में प्रयोग।

लाभ जानि आएउँ एहि हाटा;
मूर गवाँइ चलेउँ तेहि बाटा!

का मैं बोआ जनम ओहि भूँजी;
खोइ चलेउँ घर हू कै पूँजी !

'बोआ' की जगह 'बोअ' कदाचित रहा हो ! 'अ'–लुप्त प्रयोग अवधी-साहित्य में भरे पड़े हैं—'कह'–कहा; 'आव'–आवा; आदि । 'ओहि' अधिकरण-विभक्ति का विषय है । 'वह' को 'ओह' आदेश और 'हि' विभक्ति का 'इ' । 'ह' के 'अ' का लोप । अवधी में सर्वनाम-विशेषणों में विभक्ति लगती है—'ओहि जनम'–उस जन्म में ।

यों यह अवधी का आभास दिया गया । वर्तमान काल की 'हहि' क्रिया की तरह मध्यम पुरुष में 'हहु' भी देखा गया है—अहहि–हहि; अहहु–हहु । 'हहि' से 'है' और 'हहु' से 'हो'; व्रजभाषा में 'हौ' और बँगला में 'हओ' का विकास स्पष्ट है ।

(ङ) 'भोजपुरी' और 'मगही'

'भोजपुरी' बोली वहीं से शुरू हो जाती है, जहाँ 'अवधी' छूटती है । काशी से पहले ही, जौनपुर जिले के पूर्वी अंचल में 'भोजपुरी' का अस्तित्व प्रकट हो जाता है और आगे बिहार में बहुत दूर तक यही बोली जाती है; यद्यपि कुछ अवान्तर भेद होता जाता है । काशी–जैसे महत्त्वपूर्ण नगरों पर इस का नाम न पड़ कर 'भोजपुरी' नाम क्यों पड़ा ! 'भोजपुर' तो इधर कोई नगर कभी प्रसिद्ध रहा नहीं, न अब ही है ! कहीं कोई गावँ 'भोजपुर' हो, तो उसे ले कर इतनी बड़ी बोली का नामकरण विचित्र जान पड़ता है । बिहार में यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि किसी व्यापक चीज के ऐसे नाम रख दिए जाते हैं । बिहार में 'शाहाबाद' एक जिला है; पर शाहाबाद' नाम का कोई शहर उस क्षेत्र में नहीं है । जिले का प्रशासन-केन्द्र 'आरा' है । परन्तु जिले का नाम 'शाहाबाद' है । इसी तरह 'छोटा नागपुर' है । इसी प्रवृत्ति के अनुसार 'भोजपुरी' नाम कदाचित् हो ! जो भी हो, 'भोजपुरी' हिन्दी की एक बहुत दूर तक बोली जाने वाली 'बोली' है ।

'मेरठी' में जैसे पहले साहित्य नहीं बना, या बना हुआ लुप्त हो गया, वही बात इस 'भोजपुरी' के बारे में भी है । जैसे पाञ्चाली में कोई साहित्य इधर के युग में नहीं बना, उसी तरह 'भोजपुरी' में भी नहीं बना । पूर्वी पाञ्चाली तुलसी के 'रामचरित-मानस' को अपनी चीज कह ले, यह अलग बात है । वस्तुतः 'मानस' पश्चिमी अवधी और पूर्वी पाञ्चाली के साझे की चीज है ।

पूर्वी पाञ्चाली और पश्चिमी अवधी में स्पष्ट सीमा-रेखा खींचना सरल काम नहीं है। परन्तु अवधी और भोजपुरी में स्पष्ट अन्तर है।

गोस्वामी तुलसी दास ने 'मानस' का अधिकांश 'भोजपुरी' के केन्द्र (काशी) में रह कर ही लिखा था; परन्तु उन्हों ने 'भोजपुरी' के प्रयोग 'मानस' में नहीं दिए। भोजपुरी में क्रियाओं का उच्चारण भिन्न प्रकार का है और विभक्तियों में भी अन्तर है। तुलसी के 'मानस' ने यह सब ग्रहण नहीं किया है। सच बात तो यह है कि गोस्वामी जी ने 'अपनी' बोली में 'मानस' की रचना की है। बाँदा जिला पाञ्चाली के क्षेत्र में आता है, जिस के एक गावँ (राजापुर) में उन का जन्म हुआ था। 'चित्रकूट' (गोस्वामी जी का प्रिय तीर्थ-स्थान) भी बाँदा जिले में ही है। यहाँ की (पाञ्चाली) बोली के पड़ोस में 'बुंदेलखंडी' बोली है। परन्तु बुँदेलखंडी पर ब्रजभाषा (या ग्वालियरी बोली) का अधिक प्रभाव है; पाञ्चाली का कम। गोस्वामी जी ने बुँदेलखंडी बोली का कोई-कोई शब्द कविता में लिया है; पर 'अवधी'-काव्य 'मानस' में नहीं, अपने ब्रजभाषा-काव्य में। बुँदेलखंड में सौतेली मा को 'मतेई' कहते हैं। बहुत बढ़िया शब्द है। हिन्दी की किसी भी दूसरी बोली में यह शब्द नहीं है। 'सौतेली' में तो 'सौ तेली' दिखाई देते हैं, जब कि एक ही 'तेली' को सामने से निकल जाने पर सनातनी लोग असगुन मानते हैं! 'मतेई' मधुर शब्द है। इसे तुलसी ने अपनी ब्रजभाषा-कविता में ग्रहण किया है—'जानी न मतेई है'।

इसी तरह भोजपुरी बोली का भी कोई-कोई 'राउर' आदि शब्द गोस्वामी जी ने लिया है। 'सहरी' या 'सहरिया' एक तरह की मछली भोजपुरी (देहाती क्षेत्रों) में प्रसिद्ध है, जिसे संस्कृत में 'शफरी' कहते हैं। गोस्वामी ने केवट के मुहँ से 'सहरी' कहलाया है—'पात भरि सहरी'—'पत्तल भर सहरी मछलियाँ'। (विद्वद्वर बाबू रामचन्द्र वर्मा भोजपुरी के क्षेत्र (काशी) में ही रहते हैं; पर गोस्वामी जी के द्वारा प्रयुक्त 'सहरी' शब्द का अर्थ करने में गड़बड़ा गए हैं! 'सहरी' का अर्थ 'नाव' कर दिया है! गोस्वामी जी का जनसम्पर्क व्यापक था, जान पड़ता है!)

परन्तु गोस्वामी जी ने अपनी कविता में भोजपुरी की विभक्तियाँ या प्रत्यय नहीं दिए हैं। भोजपुरी में कई प्रत्यय बहुत ही अच्छे हैं; जैसे कि कृदन्त 'ल' प्रत्यय। राजस्थानी में 'ड़' है, अपनी 'ओ' संज्ञा-विभक्ति के साथ; भोजपुरी में 'ल' है। 'ल' और 'ड़' मिलते-जुलते शब्द हैं। भोजपुरी में

'आ' या 'ओ' संज्ञा-विभक्तियों की कोई स्थिति नहीं, कृदन्त प्रत्यय अपने असली रूप में रहता है; बहुत अच्छा विशेषण जान पड़ता है। राष्ट्रभाषा में तो 'हुआ' चलता है। नीचे प्रयोग देखिए—

राष्ट्रभाषा छिला हुआ कसेरू, छिले हुए खरबूजे, छिली नारंगी
राजस्थानी छिल्योड़ो कसेरू, छिल्योड़ा खरबूजा, छिल्योड़ी नारंगी
भोजपुरी छिलल कसेरू, छिलल खरबूजा, छिलल नारंगी।

भोजपुरी में 'दो' 'लो' 'करो' आदि को 'दा' 'ला' 'करा' जैसा बोलते हैं। 'आओ न!' की जगह 'आवा न!' चलता है। यानी धातुरूप समान, पर प्रत्ययों में भेद। 'क्या करते हो' राष्ट्रभाषा में, 'का करत हौ' अवधी-पाञ्चाली में और 'का करत हौआ' भोजपुरी में। वर्तमान काल की 'है' की जगह 'ह' जरा भारी कर के चलता है, जो 'हौ' से मिलता-जुलता जान पड़ता है। लगभग यही उच्चारण 'है' का कुरुजनपद में (यानी राष्ट्र-भाषा के उद्भव-क्षेत्र में) भी है। बीच में सर्वत्र 'है' गृहीत है। इस से स्पष्ट है कि भाषा का विकास सर्वत्र स्वतंत्र रूप से हुआ है। 'छै' राजस्थान में है, जो पड़ोस के 'से' का रूपान्तर है। बीच में 'है' और पर्वतीय क्षेत्र में फिर 'छै'; कहीं-कहीं बँगला में भी। भोजपुरी में कोई वैसा साहित्य नहीं, इस लिए पाञ्चाली की ही तरह इस पर भी हम अधिक कुछ न लिखेंगे।

बिहार की मगही :

भोजपुरी से आगे बिहार की 'मगही' बोली का क्षेत्र है और (मैथिली के क्षेत्र को छोड़कर) सम्पूर्ण बिहार में यह बोली जाती है। 'मगही' शब्द स्पष्टत; 'मागधी' का रूपान्तर है; परन्तु 'मागधी' प्राकृत के कितने तत्त्व इस से मिलते हैं, देखने की चीज है। यदि मूल तत्त्व एक नहीं मिलते, तो कहना पड़े गा कि 'मागधी' प्राकृत या 'मागध' (अपभ्रंश) स्वरूपतः किंवा नामतः चिन्त्य हैं। या तो वह 'मागध प्राकृत' कृत्रिम है, जो 'मगही' से मेल नहीं खाती और या फिर किसी दूसरे ही प्रदेश की प्राकृत का नाम लोगों ने 'मागधी प्राकृत' रख दिया है! 'मगही' बोली को कौन कृत्रिम कहे गा? यह तो जनता के प्रवाह में है। इस से मागधी प्राकृत के तत्त्व मिलने चाहिए; यानी संज्ञाओं के तथा क्रियाओं के प्रत्यय-विभक्ति आदि रूपों में वर्तमान 'मगही' तथा 'मागधी प्राकृत' में कोई एकसूत्रता चाहिए। 'जो'–'सो' की जगह 'जे'–'से' रूप जरूर मागधी-मगही में एक सूत्र हैं।

(च) 'मैथिली'-माधुरी

'मैथिली' हिन्दी की सुसमृद्ध साहित्यिक बोली है, जो अपने बहुमूल्य साहित्य के कारण एक अत्यन्त समृद्ध भाषा गिनी जाती है। मैथिली की लिपि भी एक पृथक् है, जो बहुत कुछ बँगला लिपि से मिलती-जुलती है। मराठी और हिन्दी की लिपि एक ही है—'नागरी'। परन्तु मराठी में 'क' प्रत्यय नहीं; इस लिए हिन्दी की बोली नहीं। मैथिली की लिपि भिन्न; पर 'क' के कारण हिन्दी-परिवार। वस्तुतः मैथिली भाषा हिन्दी तथा बँगला के बीच की कड़ी है। इस पर बँगला का भी प्रभाव है। परन्तु 'क' के न होने से बँगला की गिनती हिन्दी की बोलियों में नहीं है। मैथिली में 'क' की स्थिति है; इस लिए इसे हिन्दी की बोलियों में गिना जाता है। परन्तु यहाँ न 'खड़ी बोली' की 'आ' संज्ञा-विभक्ति है, न व्रजभाषा या राजस्थानी की 'ओ'। न 'राम का सुत' न 'राम को पूत'। यहाँ चलता है—'रामक सुत'—मैथिल-कोकिल विद्यापति का प्रयोग है—

'नन्दक नन्दन कदमक तरुतर धिरे धिरे मूरली बजाव'

व्रजभाषा—

'नन्द को नन्दन कदम के तरु तर धीरे धीरे मुरली बजावै'

राष्ट्रभाषा—

नन्द का नन्दन कदम्ब के पेड़ के नीचे धीरे धीरे मुरली बजाता था।

मधुरता देखिए, कहाँ कितनी है !

परन्तु नित्य के व्यवहार में मोटा आटा ही सब लेते हैं। बढ़िया हलवा आदि बनाना है, कचौड़ियाँ बनानी हों, तो कभी-कहीं सूजी-मैदा लेनी हो गी।

महाकवि विद्यापति का स्थान हिन्दी में वही है, जो व्रजभाषा में सूरदास का। एक मैथिली-कोकिल, दूसरे ब्रजभाषा-कोकिल। परन्तु विद्यापति से भी पहले 'मैथिली' के अच्छे-अच्छे कवि और लेखक हो गए हैं। महाकवि चन्द-वरदाई के समकालीन पं० ज्योतिरीश्वर ठाकुर मैथिली के कुशल कवि हो गए हैं। उन्हों ने 'वर्णरत्नाकर' नाम का बहुत अच्छा ग्रन्थ मैथिली में लिखा था; यह बात डा० अमरनाथ झा की लिखी 'मैथिली-लोकगीत' की भूमिका से मालूम हुई। उन की भाषा का नमूना भी डा० झा महोदय ने दिया है। देखिए, अन्धकार का वर्णन है—

"पाताल अइसन दुःप्रवेश, स्त्रीक चरित्र अइसन दुर्लक्ष्य, कालिन्दीक कल्लोल अइसन मांसल, काजरक पर्वत अइसन निविड, आतंकक नगर अइसन भयानक, कुमंत्र अइसन निफल, अज्ञान अइसन सम्मोहक, मन अइसन सर्वतोगामी, अहंकार अइसन उन्नत, परद्रोह अइसन अभव्य, पाप अइसन मलिन; एवंविध अतिव्यापक दुःसंचार, दृष्टिबन्धक, भयानक, गम्भीर, सूचीभेद्य अन्धकार देखू।"

संस्कृत-शब्दों के बाहुल्य से कोई भी भारतीय भाषा सम्पूर्ण भारत के लिए कितनी सुबोध हो जाती है! 'ऐसा' का प्रयोग 'जैसा' की जगह भी करते हैं—'पाताल जैसा दुःप्रवेश' और 'राम ऐसा वीर और कहाँ मिले गा?' 'ऐसा' को 'ऐस' (*अइस) रूप पञ्जाल तथा अवध में ही प्राप्त हो जाता है। 'अइसन' माने 'ऐसा'। राष्ट्रभाषा में संबन्ध का 'क' प्रत्यय (पुंविभक्ति लगा कर) का, के, की रूपो में आता है; परन्तु मैथिली में सदा एकरस 'क' ही रहता है। (पुंविभक्ति) व्रजभाषा में 'ओ' लगकर 'को' 'के' 'की'। मैथिली के आगे बँगला भाषा है। मैथिली का साहित्यिक रूप आप ने देखा। कैसा मोहक है? अब जनपदीय रूप देखिए:—

जे हो मुँदरि छल आँगुरि कसि कसि, से हो भेल हाथक कंगन!

वियोग की कृशता पराकाष्ठा पर है! जो मुँदरी (अँगूठी) किसी समय अँगुली में खूब कसी आती थी, वही अब हाथ का कंकण बन गई है!

'जे' 'से'—'जो' 'सो'। अवधी में 'जो' और 'सो' एकवचन हैं और 'जे' 'ते' बहुवचन। मैथिली में 'जे' 'से' एकवचन हैं। 'हाथ क कंगन' में 'क' अपने रूप में है। 'भेल' अवधी में 'भई' या 'भै' के रूप में आए गी—'हो गई'।

मैथिली में स्वार्थिक प्रत्यय पुंस्त्री में 'वाँ' तथा 'इया' होते हैं। समस्त बिहार में यही बात है। 'अनार' का 'अनरवा' और 'जामुन' का 'जमुनियाँ' रूप हो जाता है। 'टिकट' का 'टिकटिया' और 'जामुन' का 'जमुनियाँ'। यानी अनुनासिकान्त को अनुनासिक 'वाँ' 'याँ'—'जमुनियाँ' 'मुहवाँ'। कभी-कभी 'वाँ' को 'मा' भी हो जाता है—'मुहवाँ'–'मुहमा'। 'मैथिली लोकगीत' का उदाहरण:—

'मुहमा उघारि जब प्रभु देखलिन्ह'

जब मुहँ (घूँघट) खोल कर प्रियतम ने देखा।

कभी-कभी संबन्ध का 'क' प्रत्यय 'के' रूप में भी आता है:—

माँगके टीका प्रभु तोहे छहु,
पूत मोरा नयनाके इंजोरवा
भइँसुर माँथके टिकुलिया,
एहो रे सब अभरन हे !'

—हे मेरे स्वामी, मेरी माँग के टीका तुम हो; मेरा पूत मेरे नेत्रों का उजाला है और मेरा जेठ मेरे मस्तक की टिकुली है। ये ही सब मेरे आभरण हैं। परन्तु 'के' भी 'क' की तरह एकरस है—'माँगके टीका' और 'माँथके टिकुलिया'। 'जिस समय' 'उस समय' आदि के लिये समस्त शब्द 'जखन' 'तखन' बड़े भले मालूम देते हैं। 'क्षण' को व्रजभाषा में 'छन' 'छिन' जैसे रूप मिलते हैं; मैथिली में 'खन'।

'जखन गगन घन बरसल सजनि गे,
सुनि हहरत जिव मोर।'

—जिस समय आकाश में (गरजते हुए) बादल बरसते हैं, मेरा कलेजा काँप उठता है—दिल धड़कने लगता है।

कभी-कभी 'चैन' जैसे शब्दों को 'चयन' जैसा कर के स्वार्थिक प्रत्यय होता है:—

'रतियाक देखलौं सपनवाँ रामा,
कि प्रभु मोर आयल।
मोहि बिरहिनिक बान सम लागय,
पपिहाक निठुर बयनमा रामा।
खान-पान मोहिं किछु ने भावय,
न भावय सुखक सयनमा रामा !
छन नहिं मोहिं चयनमा !

'चयनमा'-चैन। इधर की ओर 'चैन' को स्त्रीलिङ्ग में बोलते हैं; पर मिथिला में कदाचित् पुल्लिङ्ग-'चयनमा'। समास में 'क्षण' को 'खन' देखा; परन्तु यहाँ खुले प्रयोग में 'छन' है। 'लागय' अवधी में 'लागहि' के रूप में चलता है, ह-लोप से 'लागइ' भी। मिथिला में 'इ' को 'य' कर के 'लागय' 'भावय' आदि। 'खान-पान' खड़ी-बोली के 'खाना-पीना' की पुंविभक्ति हटा

कर। संस्कृत का 'खानपान' ही चाहे आ गया हो! संस्कृत में 'खानपानम्' चलता रहा है; पुराण-प्रयोग कोशों में उद्धृत हैं।

'क' को 'के' रूप में ही नहीं, 'कै'-रूप में भी प्रयुक्त करते हैं:—

'आजु मोहनकै आँगन सखि हे,
बड़ि बड़ि बूँद गहागहि बरिसै!'

'बिन्दु' संस्कृत में पुल्लिङ्ग है; पर उस का तद्भव रूप 'बूँद' हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग। मैथिली में भी 'बड़ि बड़ि बूँद' सामने है।

यहाँ अधिक और कुछ न कहा जाए गा। मैथिली के काव्य-ग्रन्थ छपे हुए हैं। उन्हें पढ़िए और आनन्द लीजिए।

मैथिली तक ही हिन्दी-परिवार है, आगे नहीं। बँगला भाषा हिन्दी-परिवार में नहीं; 'हिन्दी की बोली' नहीं, हिन्द की बोली है ही। बँगला में वह 'क' नहीं है, जो 'हिन्दी' का एक 'भाषा-संघ' बनाने का 'सूत्र' है। बँगला के सुप्रसिद्ध कवि कृत्तिवास का 'रामायण' महाकाव्य 'मानस' से बहुत पहले की रचना है। कृत्तिवास की बँगला भाषा पर उस अन्तरप्रान्तीय 'अपभ्रंश' का प्रभाव स्पष्ट है, जिस का प्रभाव जायसी, तुलसी, सूर तथा चन्द आदि विभिन्न 'हिन्दी'-कवियों पर है। इसी लिए कृत्तिवास की 'रामायण'-भाषा में ऐसे वाक्य देखे जाते हैं—

'मथा चडावइ गाइक चुडुआ'

मथा—'माथा'। 'गाइक'—गाय का। 'चडावइ'—चढ़ावहि—चढ़ावइ—चढ़ावै। ये ऐसे प्रयोग उसी साहित्यिक 'अपभ्रंश' के प्रभाव के कारण हैं। यह प्रभाव हिन्दी के पुराने सभी कवियों पर तो दिखाई देता ही है, गुजराती-मराठी आदि हिन्द की सभी बोली-भाषाओं पर भी है, जो पुराने काव्यों में सुरक्षित हैं। आगे चल कर प्रादेशिक भाषाओं का निखरा हुआ व्यक्तित्व सामने आया और तब उस पुरानी भाषा (साहित्यिक 'अपभ्रंश') का प्रभाव उड़ गया।

ऊपर हम ने विद्यापति के 'नन्दक नन्दन' पद्य उद्धृत कर के बतलाया है कि मैथिली में कितना मिठास है। उत्तर प्रदेश के 'नरहरि' कवि के ब्रजभाषा-पदों से मिलान कीजिए—

"नरहरि निरखि जरत जोवन बन, प्रगटित प्रेम बृथा बिन जादव।
अवतकि परति विकल ब्रजसुन्दरि, दुहुँ भरि नयन स्रवति भरि भादव!"

———

परिशिष्ट–२

पंजाबी 'बोली' या भाषा

अन्यान्य 'बोलियों' की तरह पंजाबी यद्यपि हिन्दी की 'बोली' नहीं, क्योंकि वहाँ 'क' प्रत्यय नहीं है; पर 'खड़ी बोली' के बहुत सन्निकट है। इस लिए थोड़ा परिचय लीजिए। 'खड़ी बोली' के उद्गम (कुरुजनपद) से सटा हुआ 'कुरुजाङ्गल' प्रदेश है, जिसे 'हरियाना' या 'हरियाणा' कहते हैं। यह प्रदेश पंजाब का 'हिन्दीभाषी अञ्चल' कहलाता है। दिल्ली से परे, अम्बाला जिले के प्रारम्भ तक, यह 'कुरुजाङ्गल' है। 'कुरुजनपद' की 'खड़ी बोली' ही किञ्चित् हेर-फेर के साथ 'कुरुजाङ्गल' की 'बोली' है। 'खड़ी बोली' का 'है' यहाँ 'सै' बोला जाता है, जो आगे (पंजाब में) फिर 'है' के रूप में हो गया है। कुरुजाङ्गल का एक सिरा राजस्थान से मिलता है, जहाँ 'सै' को 'छै' हो गया है। 'छै' को भी 'सै' कह सकते हैं; जैसे 'छाया' का उर्दू में 'साया'; परन्तु मूलतः 'स' है, 'छ' नहीं। 'अस्' धातु मूल में है, 'अछ्' नहीं। इस लिए 'सै' का ही 'छै' होना जँचता है। 'स' को 'छ' अन्यत्र भी हुआ है। अवधी में 'तुमहिं अछत को बरनै पारा!' यह 'अछत' 'अस' का ही परिवर्तित रूप है—तुम्हारे होते हुए—'तुमहिं अछत'। 'गढ़वाली' आदि हिन्दी की अन्य बोलियों में भी 'छ' श्रुत है।

कुरुजाङ्गल से आगे पंजाब है—पंजाबी-बोली का क्षेत्र है। वस्तुतः पंजाबी हिन्दी की एक 'बोली' नहीं, शाखा है; जैसा कि अभी आगे आप 'पंजाबी रामायण' के उद्धरणों में देखें गे। सिख-गुरुओं ने 'नागरी' में कुछ परिवर्तन कर के 'गुरुमुखी' नाम की एक अलग लिपि बना ली और फिर आगे इस नई लिपि में ही पंजाबी लिखी जाने लगी। अवधी, मैथिली तथा व्रजभाषा की टक्कर का साहित्य पंजाबी में नहीं है; परन्तु एकदम शून्य भी नहीं है। पंजाबी के पुराने और प्रसिद्ध कवि एक मुसलमान हैं, जिन्हों ने 'हीर राँझा' की प्रेम-कहानी का वर्णन किया है; जैसे कि मलिक मुहम्मद जायसी ने अवधी-काव्य 'पद्मावत' लिखा। गुरु नानक आदि सिख-गुरुओं की 'बानी' तो प्रायः व्रजभाषा में है, पंजाबी में नहीं। दशम गुरु श्री गोविन्द सिंह जी व्रजभाषा के टकसाली कवि थे। वीर रस की उन की बड़ी अच्छी कविता

है। उस समय व्रजभाषा के द्वारा ही अपने विचार सम्पूर्ण भारत में पहुँचाए जा सकते थे। 'अज्ञा भई अकाल की, तबहिं चलायो पन्थ, सब सिक्खन को हुकुम है, गुरू मानियो ग्रन्थ' इस में तथा 'नानक दुखिया सब संसारा, सुखी सोइ जेहि नाम अधारा' आदि में कोई भी चीज पंजाबी की नहीं है। केवल गुरुमुखी लिपि में लिखने के कारण ही 'गुरु-वाणी' को लोग 'पंजाबी' कह देते हैं। हम 'पंजाबी रामायण' के कुछ उद्धरण यहाँ दें गे, जिस से 'हिन्दी' की इस शाखा का स्वरूप सामने आ जाए। वह खड़ी पाई पंजाबी में सर्वत्र आप को मिले गी, जिस के कारण 'खड़ी बोली' नाम हिन्दी का पड़ा है। 'पंजाबी रामायण' कविवर 'दिलशाद' की कृति है।

शूर्पणखा की बातें सुनने के बाद रावण का वर्णन है—

लेआ सुण रावण जदों हाल सारा,
बिच दिल दे होण हैरान लग्गा।
सुणी भाइआँ दी मौत भी नाल जदों,
हो गमगीन फिर आँसू बहाण लग्गा।

'लिया' की जगह 'लेआ' है; इसी तरह 'गया' की जगह 'गेआ' आदि है। 'खड़ी पाई' ज्यों की त्यों है। 'न' को 'ण' कर देने की प्रवृत्ति कुरुजनपद में भी है, हरियाणे में भी और राजस्थान में भी। 'भगिनी' का 'भैण' हो जाता है। 'भाइयों की'—'भाइआँ दी'। यानी 'क' की जगह 'द' संबन्ध-प्रत्यय है; परन्तु पुंविभक्ति 'आ' (ा) वही है और उस का चलन भी वैसा ही—राम का—राम दा, राम के—राम दे, राम की—राम दी। पंजाबी में 'ओं' की जगह भी 'आँ' है—'भाइआँ दी'। 'इय्' भी नहीं, यद्यपि 'इ' हो गया है। 'लगा' की जगह 'लग्गा'।

'नासिका' का तद्भव रूप 'नाक' है; इस लिए 'खड़ी बोली' में तथा अवधी-व्रजभाषा आदि हिन्दी की अन्य सभी बोलियों में यह स्त्रीलिङ्ग ही है; परन्तु मर्दाने पंजाब की भाषा में यह पुल्लिङ्ग है :—

मैरी भैन दा भी कट्टेआ नक उसने;
ओह हुण दुनिआ थीं समझो जान लग्गा।
मैरे ज़ोर नूँ शायद ओह जाणदा नहिं,
ताहीं नाल मैरे हत्थ पाण लग्गा।

यहाँ 'भैन' है, कहीं 'भैण' रहता है। 'मेरी—मेरे' यहाँ 'मैरी'–'मैरे' होते

हैं। 'ने' का कहीं ही प्रयोग होता है। 'लेआ सुण रावण जदों'—जब रावण ने सुन लिया। यहाँ 'रावण' ने-रहित है; परन्तु 'उस ने' में 'ने' स्पष्ट है। 'साथ' के अर्थ में पंजाबी अव्यय 'नाल' है। 'जाने लगा'—'जाण लग्गा' व्रजभाषा में भी 'जान दै' जैसे ही प्रयोग होते है—पुंविभक्ति-रहित।

विदेशी भाषाओं के 'ज' या 'ज़' आदि को पंजाबी में प्रायः 'झ' हो जाता है—जोर-'झोर', हजार-'हझार', जरा-'झरा'। परन्तु 'अपने' या संस्कृत-प्राकृत से आए हुए शब्दों में 'ज' ज्यों का त्यों रहता है। 'जदों' का 'झदों' नहीं होता। यदा > 'जद'-'जदों'।

सकता, जाता, सुनता आदि के 'ता' को 'दा' हो जाता है।—'अहै' का भूतकाल में कहीं 'अहा' ('था' के लिए) अवधी में प्रयोग मिलता है, जो पंजाबी में भी देखा जाता है—

आया अहा राखश जेहड़ा खबर लैके,
ओही उठ के फिर समझान लग्गा।

लैके' 'उठके' व्रजभाषा-पद्धति पर पूर्वकालिक क्रियाएँ हैं।

रावण से राक्षस कहता है—

देवाँ बात सुणा महाराज सच्ची,
तुस्साँ होवना नहिं खफा चाहिए।
नहिं बराबरी आप दी नाल उस दे,
मैरी मुआफ कर देनी खता चाहिए।
बद ओ तीर चलाउँदा नाल गुस्से,
लैना समझ एह सच्च सफा चाहिए।
निकलन तीर हझार इक तीर विचों,
उस वकत बचाना खुदा चाहिए।

'चलावँदा' के 'वँ' को 'उँ' सम्प्रसारण। व्रज के 'आवत है' को बुँदेलखण्ड में 'आउत है' हो जाता है। वही 'सम्प्रसारण'। स्वर की ओर पंजाबी की अधिक प्रवृत्ति है—वह-ओह, यह-'एह'।

महाप्राण 'स्पर्श' वर्णों से 'अल्पप्राण' प्रायः उड़ जाते हैं और महाप्राण मात्र ('ह') बच रहता है। 'बैठ' का 'बैह' हो जाता है:—

'लग्गा गज्जन् दरबार दे विच्च बैह के'-'बैहके'—बैठ कर।

'सम्प्रसारण' पंजाबी को इतना प्रिय है कि विदेशी शब्दों में भी वही बात—

'कराँ हाल बेश्रान इक रोज़ दा मैं'

'बयान' का 'बेश्रान' हो गया है। इसी तरह—

'लई खिच तलवार मेश्रान विचों,

'ले एह वेख' तलवार दिखला कैहँदा'

'देख' की जगह पंजाबी में 'वेख' धातु है—'वीक्ष्' का विकास।

'देख' इसी 'वेख' को देख कर। हिन्दी ने संस्कृत 'दृष्ट' से 'देख' बनाया। दृष्ट > दृष > दिख, देख। भाषा में कई वर्ण एक की जगह दूसरे प्रायः श्राते रहते हैं। संस्कृत में विसर्गों को 'स्' तथा 'स्' को विसर्ग होते देखा जाता है। संस्कृत के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा में विसर्गों की स्थिति नहीं है। परन्तु विसर्गों का उच्चारण 'ह' से मिलता-जुलता है। फलतः संसार की भाषाओं में 'स' को 'ह' और 'ह' को 'स' होते आप देख सकते हैं। खड़ी बोली का 'स' पंजाब में प्रायः 'ह' हो जाता है। अपने यहाँ भी 'स' को 'ह' होते देख सकते हैं। 'दहला' 'दहाई' आदि में 'स' का 'ह' है और 'ग्यारस' 'बारस' 'तेरस' 'चौदस' जैसी जन-प्रचलित तिथियों के नामों में 'ह' को पुनः 'स' के रूप में देखा जाता है। संस्कृत में 'त्' को 'च्' हुआ करता है और 'च्' को 'क्' हुआ करता है। पंजाबी में 'च' को 'त' होते देखा जाता है :—

लेआ रथ उडा हवा वाँगों, पौंहता जंगल इक जा प्यारे।

करदा जित्थे सी तप मरीच बैह के, उसे जा पें पौंहचेआ आ प्यारे।

एक जगह 'पौंहता' है और दूसरी जगह 'पौंहचेआ' है। यानी 'खड़ी बोली' के 'च' को वैकल्पिक 'त'।

'वाँगों' अव्यय है सादृश्यार्थक। 'सी' सहायक क्रिया पंजाबी में तिङन्त है। 'मरीच जित्थे तप करदा सी'—मारीच जहाँ तप करता था—(कर रहा था)। 'मरीच' की जगह कोई स्त्रीलिङ्ग कर्ता दे दें, तो भी 'सी' में कोई परिवर्तन न हो गा—'ताड़का जित्थे बैह के तप करदी सी'—ताड़का जिस जगह बैठ कर तप करती थी—कर रही थी। यानी 'ताड़का' के अनुसार 'करदी' तो स्त्रीलिङ्ग; पर सहायक क्रिया 'सी' ज्यों की त्यों। 'करदा' कृदन्त और 'सी' तिङन्त। यह 'सी' संस्कृत की 'आसीत्' का मध्य अंश है। बहुवचन में 'सन' होता है, जो 'आसन्' का अन्त्य अंश है। 'न्' को 'न' कर लिया गया।

मारीच से रावण कहता है—

रावण कहे खामोश हो, वक्त नाही,
जैसा बीजिआई वैसा चावसें तूँ।
कीती तूँ बेअदबी है बौहत,
सज़ा समझ लै इस दी पावसें तूँ।

'तू' को 'तूँ' है। 'बीज' से 'बीजिआई' नामधातु है—जैसा बोया है!
'बहुत' का 'बौहत' है। 'किया' 'दिया' की जगह पंजाबी में 'कीता' 'दीता' (कृदन्त कर्मवाच्य ही) प्रयोग हैं और इनका स्त्रीलिङ्ग 'कीती' 'दीती'। बेअदबी 'कीती'—'बेअदबी की'। 'ने' विभक्ति नहीं है—'तूँ बेअदबी कीती'।

परन्तु सर्वनामों में 'ने' का प्रयोग सर्वत्र मिलता है—

बैठा अहा बटाऊ विच राह अग्गे,
सुणेआ रोवने दा जद आवाज़ उसने।
उड के रावन दे सिर ते आन खला,
दित्ते तरोड़ सारे. साज-साझ उसने।

व्रजभाषा की जैसी हो स्थिति 'ने' की यहाँ है। वहाँ भी 'मैया, दाऊ मोहिं, बहुत खिझायो'। 'दाऊ ने' नहीं। परन्तु 'वाने कहा बिगार्‌यो तेरो' में 'ने' है। यहाँ 'वह कहा बिगार्‌यो' न हो गा। पंजाबी में भी कुछ ऐसा ही है। दोनो ही 'खड़ी बोली' के पड़ोस की हैं। कुछ असर हो गा ही।

'आवाज' राष्ट्रभाषा में स्त्रीलिङ्ग है—उर्दू में भी; पर पंजाबी में पुल्लिङ्ग—'सुणेआ आवाझ उसने'। 'रोवने दा आवाज़'। 'रोवने दी' नहीं। 'नाक' का 'नक' पुल्लिङ्ग और 'आवाज' का 'आवाझ' रूप भी पुल्लिंग। मर्दाना सूबा है! अपनी-अपनी प्रवृत्ति। हिन्दी में पुंप्रचलित 'चन्द्रमा' शब्द का प्रयोग कविवर पन्त स्त्रीलिङ्ग में करते हैं! उन की प्रवृत्ति! व्यक्तित्व प्रदेश का भी होता है। 'साज-साझ'—'साज-बाज'। तरोड़ दित्ते'—तोड़ दिए।

'खड़ा' की जगह 'खला' है। 'ल' और 'ड़' बदलते रहते हैं। 'हुड़दंग' में 'ल' का 'ड़' है। होली का दंगा-'हुड़दंग'।

इतने उद्धरण पर्य्याप्त हैं। अब आप ही बताइए कि 'पंजाबी' हिन्दी के कितने निकट है? परन्तु 'का' 'के' 'की' की जगह 'दा' 'दे' 'दी' हैं। यह भेद!

———

परिशिष्ट—३

व्याकरण और भाषा-विज्ञान

व्याकरण और भाषा-विज्ञान परस्पर एक दूसरे से ऐसे संबद्ध विषय हैं कि एक का विचार करते समय दूसरे की उपस्थिति स्वतः हो ही जाती है। इसी लिए भाषा-विज्ञान के परमाचार्य महर्षि यास्क ने अपने 'निरुक्त' में भाषाविज्ञान (निरुक्त) के साथ-साथ व्याकरण के आचार्यों का भी स्मरण बार-बार किया है और उन के मतों का कहीं आश्रय लिया है; कहीं समीक्षण किया है। इसी तरह व्याकरण के ग्रन्थों में यास्क जैसे भाषाविज्ञानी के सिद्धान्त जहाँ—तहाँ उद्धृत हुए हैं—प्रमाण-रूप में उपस्थित किए गए हैं।

व्याकरण का जो ग्रन्थ आप के हाथ में है, उस में भी भाषा-विज्ञान का पुट है। भाषा-विज्ञान के आधुनिक ग्रन्थों में भी व्याकरण की चर्चा रहती है। ऐसी स्थिति में, हमें यहाँ यह देख लेना उचित होगा कि आधुनिक भाषा-विज्ञान के हिन्दी ग्रन्थों में हिन्दी-व्याकरण पर जो कुछ लिखा गया है, कुछ विपरीत दिशा में तो नहीं जा रहा है! इस ग्रन्थ में कुछ हो और इन भाषा-विज्ञान के ग्रन्थों में कुछ और हो, तो भ्रम-सन्देह फैलने को अवकाश रहे गा। हिन्दी के पुराने सभी व्याकरण परीक्षित हो चुके हैं। सन् १९२१ से १९४२ तक पत्र-पत्रिकाओं द्वारा व्याकरणीय भ्रमों का निरसन किया गया। १९४३ में 'व्रजभाषा का व्याकरण' प्रकाशित हुआ, जिसके भूमिका-भाग में स्थायी रूप से भ्रम-निवारण कर दिया गया। इस लिए, उस विषय में अब कुछ कहना नहीं है। परन्तु भाषा-विज्ञान के ग्रन्थों में आए हुए व्याकरणीय अंश अवश्य द्रष्टव्य हैं। हमें भाषा-विज्ञान के हिन्दी-ग्रन्थों से बहुत अधिक असन्तोष है—हमारा बहुत अधिक मत-भेद है। परन्तु वह सब इस परिशिष्ट में न दिया जाए गा—दिया ही नहीं जा सकता! इस के लिए तो एक स्वतंत्र भाषा-विज्ञान का ग्रन्थ लिखा जाना चाहिए। हिन्दी में अभी तक जितने भी भाषाविज्ञान के ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, सब में प्रायः पिष्ट-पेषण ही है! स्वतंत्र मौलिक चिन्तन नजर नहीं आता। इस परिशिष्ट में हम उन्हीं अंशों के नमूने देंगे, जिन का व्याकरण से संबन्ध है।

विभक्तियों का विकास

विभक्तियों का विकास भाषा-विज्ञान के हिन्दी-ग्रन्थों में कैसा समझाया गया है; इस के लिए 'ने' विभक्ति ले लीजिए। हम ने 'ने' विभक्ति का विकास संस्कृत 'इन' ('बालकेन') के वर्ण-व्यत्यय से और गुण-सन्धि से बतलाया है। संस्कृत कृदन्त क्रियाओं में जहाँ कर्ता कारक में तृतीया विभक्ति लगती है, वहीं हिन्दी में यह 'ने' विभक्ति लगती है; यह सब पीछे लिखा जा चुका है।

परन्तु भाषाविज्ञान के ग्रन्थों में संस्कृत 'कर्ण' शब्द से 'ने' की उत्पत्ति बताई गई है! इस गन्थ के पाठक ऐसे बालक नहीं हो सकते कि 'इन' से 'ने' बिभक्ति का विकास समझाने के लिए फिर से वही सब कहा जाए और 'कर्ण' से 'ने' का विकास मानने वालों के मत का खण्डन किया जाए! कोई कहे कि खड़िया से 'खाँड़' की उत्पत्ति है, तो क्या उस के 'मत' का खण्डन आप करने बैठें गे? खड़िया से भी नहीं, कोयले से!

किसी-किसी भाषा-विज्ञानी ने 'लग्य' से 'ने' विभक्ति का विकास माना है!

इसी तरह संबन्ध प्रत्यय 'क' ('राम का') की उत्पत्ति संस्कृत 'कार्य' शब्द से बताई गई है! 'कर्ण' तथा 'कार्य' का कोई अर्थ-विचार भी है? ऊपरी रूप-रंग भी तो नहीं मिलता!

क्रियाशब्दों का विकास

हिन्दी के क्रिया-शब्दों पर और उन के मूल शब्दों (धातुओं) पर भी भाषा-विज्ञान वालों ने मजेदार बातें लिखी हैं!

हिन्दी 'हो' धातु की उत्पत्ति 'अस्' से बतलाई गई है! पूछो, 'अस्' का 'हो' कैसे हो गया? 'भवति–भोदि–होति–होइ' की एक श्रृंखला जरूर है। 'व' को सम्प्रसारण ('उ') और गुण-सन्धि हो कर 'भव' का 'भो' और फिर अल्पप्राण ('ब्') का अवसान। बन गया 'हो'। 'भोदि' के 'द्' का भी लोप—'होइ'–होता है। यों 'भू' से हिन्दी 'हो' की व्युत्पत्ति है। परन्तु बड़े लोगों का अपना चिन्तन है! क्या कहा जाए! 'अस्' से तो हिन्दी की 'ह' धातु है—अस्ति–असति–अहइ–अहै—है। 'अस्ति' माने 'है' और 'भवति' माने 'होता है'। वर्तमान काल का प्रत्यय केवल 'ह' धातु से ('इ') होता है और यही 'करता' 'पढ़ता' आदि की तरह 'होता' के साथ लग कर

'होता है' क्रिया बनाता है। यह सब कुछ पीछे यथाप्रकरण कहा जा चुका है। (अस्>) 'ह' धातु से मध्यमपुरुष-बहुवचन में 'हो' क्रिया-पद जरूर बनता है—'तुम भाषा-विज्ञानी हो'! पर 'हो' धातु 'अस्' से हर्गिज नहीं है!

'अस्' के विकास 'ह' से भूतकालिक 'त' प्रत्यय और पुंप्रत्यय का योग हो कर व्रजभाषा में 'हतो' रूप। 'एक राजा हतो'—एक राजा था। 'हतो' को वहाँ 'हता' बोलते हैं, जहाँ खड़ी-बोली का क्षेत्र लगता है। कोई-कहीं केवल 'ता' बोलते हैं—'एक राजा ता, एक रानी ती'। कहीं 'त' लोप कर के 'हा' बोलते हैं—'एक राजा हा'—'एक रानी ही'। इसी उलट-फेर में 'हता' का 'तहा' हो कर 'त' से स्वर उड़ गया और 'त्+हा='था'। 'एक राजा था' 'एक रानी थी'।

परन्तु भाषाविज्ञान के ग्रन्थों में इस 'था' क्रिया का विकास संस्कृत 'स्था' धातु से बतलाया गया है! 'स्था' का अर्थ है—ठहरना, खड़ा होना, रुकना आदि। 'था' का अर्थ है—'आसीत्'—'एकः राजा आसीत्'-'एक राजा था'। अन्तर यह कि 'आसीत्' तिङन्त है और 'था' कृदन्त है। परन्तु भाषा-विज्ञानवाले कहते हैं कि 'स्था' का ही 'स्' उड़ कर 'था' है! कितना सीधा रास्ता बता दिया! न वह वर्ण-व्यत्यय, न वर्ण-विकार, न पुंप्रत्यय की जरूरत!

गन्ने के रस को पकाना और विविध प्रक्रियाओं में पड़ना बेकार! खड़िया पीस लो, चीनी तयार! कुछ भाषा-विज्ञानियों ने 'स्थित' से 'था' की उत्पत्ति बतलाई है और कुछ कहते हैं कि 'सन्त' के स्थान पर 'असन्त' कर के 'अहन्त'>हन्तौ>हतौ>'था' की शृंखला है! 'हतौ' से 'था'। और 'हतौ' निकला 'सन्त' से।! यह 'सन्त' कौन सा? किस अखाड़े का?

भविष्यत् काल की विभक्ति 'गा' का विकास संस्कृत 'गतः' से बतलाया गया है! भूत से भविष्यत् निकल पड़ा! प्रकाश से अन्धकार का उद्गम! जैसे 'स्था' से 'था' निकला', उसी तरह 'गतः' से 'गा'! बलिहारी!

हिन्दी में भी व्यञ्जनान्त शब्द!

हम ने इस ग्रन्थ में लिखा है कि हिन्दी के स्वरूप-गठन में ऋ, ङ, ञ, ण, वर्ण तथा विसर्ग नहीं हैं और शब्द के अन्त में तो कोई व्यंजन है ही नहीं—सभी स्वरान्त हैं। परन्तु भाषाविज्ञानवालों ने लिखा है कि हिन्दी में—

पढ़् , कर्, उठ्, बैठ्, जाग् , लग् , चल् जैसे रूपों में सभी धातुएँ हलन्त या व्यञ्जनान्त हैं ! यानी हम जिन्हें अकारान्त कहते हैं, उन्हें ही 'भाषा-विज्ञान' के दिग्गज व्यञ्जनान्त कहते हैं ! हमें तो 'पढ़ता है' आदि में 'पढ़' आदि रूप अकारान्त दिखाई देते हैं; इस लिए हम इन्हें अकारान्त कहते हैं; पर भाषा-विज्ञान वाले सोचते हैं कि संस्कृत में 'पठ्' आदि व्यञ्जनान्त हैं, तब हिन्दी की भी 'पढ़' आदि धातुएँ व्यञ्जनान्त ही होनी चाहिए—पढ़् , कर् , चल् आदि !

यही नहीं, हिन्दी के सभी अकारान्त शब्द (संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम तथा अव्यय) भाषा-विज्ञान वालों ने व्यंजनान्त ही माने हैं—राम्, सुन्दर् , इस् , उस् , जब् , तब् आदि ! इस प्रकार इन शब्दों को व्यञ्जनान्त मानने का क्या कारण है, पता नहीं ! हमें तो कवि पुष्पदन्त, चन्द, तुलसी, सूर, कबीर, जायसी, खुसरो आदि की कविताओं में कहीं भी हलन्त जैसी चीज का कोई आभास भी नहीं मिला और न भारतेन्दु तथा आचार्य द्विवेदी आदि ने ही कहीं ऐसे शब्दों का प्रयोग व्यंजनान्त किया है। यही नहीं, ये भाषाविज्ञानी भी (उन शब्दों को व्यञ्जनान्त मान कर भी) प्रयोग सदा अकारान्त ही करते हैं ! कोई नहीं लिखता—"साग् पात् खा कर् जी लेना अच्छा; पर कृपण् मूर्ख् की खुशामद् बुरी !" कहीं ऐसी इबारत देखी ? सब 'साग पात' जैसे अकारान्त ही प्रयोग करते हैं। तब फिर इन्हें व्यञ्जनान्त बतलाना कैसा ? ऐसा—जैसे कि कोई कहे कि 'मेरी मा बाँझ है' !

हिन्दी में—हिन्दी के गठन में—व्यंजनान्त-जैसी कोई चीज है ही नहीं ! यहाँ तक कि संस्कृत के तद्रूप शब्द जो हिन्दी में गृहीत हैं, उन की भी व्यञ्जनान्तता हटा दी गई है। 'राजन्' न ले कर हिन्दी ने 'राजा' लिया—'राजा' को अपना 'प्रातिपादिक' बनाया; इस लिए कि व्यञ्जनान्त शब्द स्वीकार नहीं। 'राजन् को मैं ने देखा' प्रयोग कभी नहीं हुआ; —'राजा को मैं ने देखा' होता है। हिन्दी ने मूल शब्द 'राजन्' न ले कर संस्कृत का प्रथमान्त 'राजा' इसी लिए लिया कि यहाँ सब कुछ स्वरान्त चलता है। इसी तरह 'चर्मन्' 'कर्म्मन्' आदि के 'न्' अलग कर के 'चर्म' 'कर्म' जैसे अकारान्त रूप कर लिए गए। 'रामकुमार वर्मन् भाषाविज्ञान के पण्डित हैं' नहीं; 'रामकुमार वर्मा' हैं। हाँ, संस्कृत-प्रत्ययों के 'न्' को जरूर आज सस्वर प्रायः नहीं किया जाता। लिखा जाता है—'भाग्यवान् छात्र' 'धनवान् व्यापारी' आदि। परन्तु व्रजभाषा तथा अवधी आदि में प्रत्यय

का भी 'न्' सस्वर कर दिया जाता है—'धनवाननि सों पटती नहीं मेरी'। खड़ी बोली की भी पुरानी कविता में यही बात है।

कहने का मतलब यह कि जब हिन्दी संस्कृत तद्रूप (तत्सम) शब्दों के भी अन्त्य व्यंजन काट कर स्वरान्त रूप ग्रहण करती है; तब वहाँ के अकारान्त शब्दों को भी यहाँ व्यञ्जनान्त (हलन्त) बतलाना कैसी ऊँची उड़ान है! यदि कहा जाए कि हिन्दी में अन्त्य 'अ' का उच्चारण इतना हलका होता है कि मालूम ही नहीं देता; इस लिए वैसे शब्दों को व्यंजनान्त मान लिया गया; तो हम पूछेंगे कि 'पुत्र' 'कलत्र' आदि में भी हिन्दी अन्त्य स्वर का उच्चारण नहीं करती है क्या? 'साग विदुर घर खायो' में क्या 'साग्' सुनाई देता है?

और, यह मान लेने पर भी कि हिन्दी में अन्त्य 'अ' का हलका उच्चारण होता है; अकारान्त शब्दों को व्यंजनान्त कैसे कह दिया जाए गा? हिन्दी प्रकृति के विरुद्ध यह बात है। हलके उच्चारण के कारण उसे ह्रस्वतर कह लीजिए, यदि जरूरत है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, ये तीन भेद हैं; वहाँ चौथा 'ह्रस्वतर' भी सही। परन्तु 'अ' का अभाव कैसे कहा जा सकता है? हिन्दी की प्रकृति देखनी होगी।

अंग्रेजी के 'जज' 'नाइफ' आदि शब्दों में कितने ही ऐसे वर्ण सन्निविष्ट हैं, जिन का कतई उच्चारण नहीं होता; पर यह तो कोई नहीं कहता कि वहाँ वे वर्ण हैं ही नहीं! जिस का कतई उच्चारण न हो, उसका अस्तित्व स्वीकार और जिसका उच्चारण है, भले ही हलका, उस का अस्तित्व अस्वीकार! अंग्रेजी जबर्दस्त भाषा है न!

हिन्दी में विसर्गान्त भी!

भाषा-विज्ञानियों ने हिन्दी में विसर्गान्त शब्द भी माने हैं! संख्यावाचक 'छः' शब्द (विसर्गान्त) स्वीकार किया गया है और फिर लिखा गया है कि हिन्दी में संस्कृत 'षष्' का 'छः' कैसे हो गया, समझ नहीं पड़ता! इसे 'एक समस्या' बतलाया गया है! कहा गया है—'सोलह' आदि को देखते 'छः' विसर्गान्त एक समस्या है!

हम सन् १९४३ में ही प्रकट कर चुके हैं कि हिन्दी के गठन में विसर्गों का कोई स्थान नहीं और इसी लिए प्रथमा—एकवचन 'रामः' 'कविः' आदि के विसर्ग हटा कर 'राम' 'कवि' जैसे निर्विसर्ग शब्दों को हिन्दी ने अपना 'प्रातिपदिक' माना है; जब कि 'राजन्' का 'राजा' रूप ग्रहण किया है।

संस्कृत के 'यशः' 'नभः' 'पयः' 'चन्द्रमाः' 'आयुः' आदि के विसर्ग हटा कर 'यश' 'नभ' 'पय' 'चन्द्रमा' 'आयु' जैसे रूप हिन्दी ने ग्रहण किए हैं। हिन्दी शब्द है—'छह'। लोग गलती से लिखने लगे—'छः'! जैसे 'भामह' को एक बड़े हिन्दी-'डाक्टर' ने सर्वत्र 'भामः' लिखा है, उसी तरह हिन्दी का 'छह' भी 'छः' हो गया! हिन्दी की प्रकृति पर कौन विचार करता है!

हिन्दी की यह प्रकृति ही है कि 'ऋ' को अपने रूप-गठन में नहीं रखा। 'पृष्ठ' को 'पीठ' कर लिया। और संस्कृत तत्सम शब्दों में भी 'ऋ' ग्रहण नहीं—'मातृ को नमस्कार' 'पितृ जी आए थे' नहीं—'माता को नमस्कार' 'पिता जी आए थे' ऐसे प्रयोग होते हैं। यह सब पीछे कहा जा चुका है। परन्तु हिन्दी के 'भाषा-विज्ञानी' अपना पृथक् मत रखते हैं। कहीं-कहीं लिखा देखा जाता है—'श्री गणेशाय नमह'। लाला लोगों की दूकानों पर ऐसे शब्द-रूप देखने को प्रायः मिलते हैं। तो भाषाविज्ञानियों के सामने एक समस्या खड़ी हो जाए गी—'संस्कृत 'नमस्' अव्यय को 'नमह' कैसे हो गया! ये ऐसी 'समस्याएँ' हैं, जो सुलझ नहीं सकी हैं! कभी भी न सुलझें गी! सुलझा रहे हैं भाषाविज्ञानी!

'क्रिया का संबन्ध कर्म से नहीं'

सुना है कहीं कि किसी क्रिया का संबन्ध 'कर्म' से न हो? किसी 'कर्म' पर क्रिया का फल दिखाई देता है, किसी पर नहीं; यह तो हम सब जानते हैं; परन्तु भाषाविज्ञान वाले कभी-कभी क्रिया का संबन्ध ही 'कर्म' से नहीं मानते!

विवेचन करते हुए लिखा गया है—

"मैं ने पुस्तक पढ़ी" कर्मणि प्रयोग है; परन्तु क्रिया का संबन्ध कर्ता 'मैं' से है, कर्म 'पुस्तक' से नहीं।"

विचित्र बात है! सभी कारकों का संबन्ध क्रिया से होता है। जिस का संबन्ध क्रिया से नहीं, उसे 'करक' कहा ही नहीं जा सकता। परन्तु ये कहते हैं कि यहाँ क्रिया का संबन्ध 'कर्म' से है ही नहीं! क्या चीज पढ़ी? 'पुस्तक पढ़ी'। परन्तु भाषाविज्ञानी यहाँ 'पढ़ने' का संबन्ध 'पुस्तक' से नहीं मानते! और तुर्रा यह कि 'कर्मणि प्रयोग' है; फिर भी "क्रिया का संबन्ध कर्म से नहीं है"! तब फिर 'कर्मणि प्रयोग' कैसा? है न झमेला?

इस गड़बड़ी का एक इतिहास है। हिन्दी के व्याकरण-ग्रन्थों में 'राम ने पुस्तक पढ़ी' जैसे प्रयोग 'कर्तृवाच्य' बतलाए गए थे। लक्षण में लिखा रहता था—"जब कर्ता के अनुसार क्रिया के लिङ्ग-वचन आदि हों, तो 'कर्तृवाच्य' प्रयोग कहलाता है।" मैं ने सोचा—'राम ने पुस्तक पढ़ी' में कर्ता पुल्लिङ्ग और क्रिया स्त्रीलिङ्ग है; तब यह 'कर्तृवाच्य' कैसे? यहीं से मेरा व्याकरण-विचार शुरू हुआ। मैंने कहा, ऐसे प्रयोग 'कर्मवाच्य' हैं, 'कर्तृवाच्य' नहीं। यह इतना समझाने में ही बीसों वर्ष लग गए! अन्ततः बड़े लोग भी समझ गए; पर दूसरों को एक उलझन में डाल गए! 'गुरु' जी ने अपने 'हिन्दी-व्याकरण' का संशोधन किया, जिस में 'राम ने पुस्तक पढ़ी' जैसे प्रयोगों को—'कर्तृवाच्य'–'कर्मणि प्रयोग' बतलाया! मैं ने जो 'कर्मवाच्य' बतलाया था, उसे 'कर्मणि प्रयोग' कर के स्वीकार कर लिया और अपना पहले का लिखा हुआ 'कर्तृवाच्य' छोड़ा नहीं! एक झमेला और बढ़ गया! 'कर्तरि प्रयोग' को ही 'कर्तृवाच्य' कहते हैं और 'कर्मणि प्रयोग' तथा 'कर्मवाच्य' एक ही चीज हैं। तब 'कर्तृवाच्य'–'कर्मणि प्रयोग' क्या हुआ? भाषाविज्ञानियों ने यह संशोधित 'हिन्दी व्याकरण' पढ़ा और 'कर्तृवाच्य'–'कर्मणि प्रयोग' को यों समझाया कि 'कर्मणि प्रयोग' है; पर 'क्रिया का संबन्ध कर्ता से है'! वही—'कर्तृवाच्य'–'कर्मणि प्रयोग'! इसी तरह की शतशः मजेदार बातें हैं! कहाँ तक वर्णन किया जाए!

कर्म में 'सम्प्रदान-विभक्ति'!

भाषाविज्ञान में विवेचन करते हुए लिखा गया है—'हिन्दी में कर्म की जगह सम्प्रदान का प्रयोग होता है!' यानी हलवाई का काम बढ़ई करता है! भाषाविज्ञान वालों ने 'ने'–'को' आदि विभक्तियों को ही 'कारक' समझ रखा है और कारक 'संस्कृत में आठ' बतलाए गए हैं! संस्कृत के व्याकरणाचार्यों को बतलाया गया है कि तुम ने छह कारक बतलाए; पर हैं आठ! सो, यह संशोधन संस्कृत-व्याकरण का! हिन्दी में 'कारक बहुत कम' बतलाए गए हैं! हिन्दी की 'को' विभक्ति को 'सम्प्रदान कारक' बतलाया गया है और लिखा है कि 'कभी-कभी कर्म में सम्प्रदान लगता है'! 'हम ने तुम को देखा' यहाँ 'को' सम्प्रदान-प्रयोग बतलाया गया है! कहा गया है कि कर्म में 'को' का प्रयोग अप्राणिवाचक शब्दों में ही नहीं होता है, जब कर्मत्व विवक्षित हो। परन्तु—'कन्या ने वर ढूँढ़ा' 'लड़के ने लड़की देखी'

'मैं लड़का देखता हूँ' आदि में कोई कर्म है कि नहीं? ये सब 'कर्म' अप्राणिवाचक हैं क्या?

प्रतिपादन किया गया है 'भाववाच्य' प्रयोग—'मैं ने रोटी को खाया' आदि के कारण ही हिन्दी में सम्प्रदान ('को') का प्रयोग कर्म में होने लगा!' 'मैं ने रोटी को खाया' कौन बोलता है? रोटी भी क्या कोई जानवर है कि 'उसे' कोई खा जाए गा? खैर, इसे जाने दीजिए! हम पूछते हैं—'लड़के ने बिल्ली को मारा' और 'लड़के ने बिल्ली मारी' में कोई अर्थ भेद है कि नहीं? इसी अर्थ-भेद को प्रकट करने के लिए द्विविध प्रयोग हैं। 'लड़के ने बिल्ली को मारा' भाववाच्य प्रयोग है। इस की जगह कर्मवाच्य 'लड़के ने बिल्ली मारी' नहीं हो सकता। यों भाववाच्य प्रयोग होते हैं। 'मैं ने रोटी को खाया' जैसे नहीं। 'हम ने तुम को बुलाया' भाववाच्य प्रयोग है। बहुत अच्छी तरह समझा दिया गया है। 'को' विभक्ति केवल सम्प्रदान से बँधी नहीं है—कर्ता, कर्म, सम्प्रदान तथा अधिकरण कारक में भी इस का प्रयोग होता है। यह सब इस ग्रन्थ में आ चुका है। संस्कृत में भी 'औ' 'भ्याम्' 'ओस्' 'अस्' ('ङस्') आदि विभक्तियों के प्रयोग कई-कई कारकों में होते हैं।

'मारना' स्वतंत्र क्रिया है!

'मरना' की प्रेरणा 'मारना' नहीं है; यह भाषा-विज्ञान में लिखा है। कहते हैं, 'मारना' एक स्वतंत्र क्रिया है। यानी 'मर' धातु से 'मार' धातु का कोई संबन्ध नहीं। परन्तु 'तरना' की प्रेरणा 'तारना' है! जिसे जैसा कह दिया जाए!

'उजड़ना' का मूल

हिन्दी की 'उजड़ना' क्रिया का विकास संस्कृत 'उज्जाटयति' से बताया गया है! हम ने 'उत्पाटयति' तो सुना था; अब 'उज्जाटयति' भाषाविज्ञान वालों ने बताया! 'उज्जाटयति' कभी उजड़ने-उजाड़ने के अर्थ में आप ने भी कहीं देखा है? 'उत्पाटयति' से भी 'उजड़ना' नहीं है। 'उत्पाटन' से 'पाड़ना' का विकास है। 'गन्ने चार पाड़ ले' कुरुजनपद में बोलते हैं। राष्ट्रभाषा में 'उखाड़ना' है—'गन्ने चार उखाड़ ले'। 'उत्पाट' के 'उत्' को अलग कर के और 'त' को 'ट' कर के कुरुजनपद में 'पांड़' और 'उत्' को 'उ' कर के तथा 'पा' को 'खा' कर के 'उखाड़' इधर पांचाल में। राष्ट्रभाषा में यही

'उखाड़ना' चलता है। 'उजड़ना' इस से भिन्न है। हिन्दी ने यह ('उजड़ना') शब्द संस्कृत 'उन्मूलन' के वजन पर 'अपना' गढ़ा है। किसी संस्कृत शब्द का विकास यह नहीं है। 'मूल' की जगह अपना 'जड़' शब्द रखा और 'उत्' की जगह 'अपना' उपसर्ग 'उ'। धातु बन गई— 'उजड़'—'उजड़ना' 'उजड़ता है'।

भाषा-विज्ञान के हिन्दी-ग्रन्थों में इसी तरह सैकड़ों-हजारों शब्दों की मनमानी व्युत्पत्ति दी गई है! विचार हैं!

'भूखा' 'प्यासा' कृदन्त शब्द!

'भूखा' 'प्यासा' शब्द कृदन्त बतलाए गए हैं—'कर्मवाच्य कृदन्त'। यानी 'भूख' 'प्यास' हिन्दी की धातुएँ हैं। लोग बोलते हैं न—'राम भूखता है' 'राम प्यासता है'! और ये 'भूख' 'प्यास' धातुएँ सकर्मक हैं! तभी तो 'कर्मवाच्य कृदन्त' प्रत्यय 'आ' हुआ है! यानी 'राम रोटी भूखता है' और 'राम पानी प्यासता है' प्रयोग होते हैं! 'राम फल भूखता है'; तो 'भूखा फल' और 'राम पानी प्यासता है' तो 'प्यासा पानी'! कर्मवाच्य कृदन्त!

हम ने इन शब्दों को तद्धितान्त बतलाया है। 'भूख' 'प्यास' शब्दों से तद्धित 'अ' प्रत्यय—'भूखा' 'प्यासा'।

संस्कृत में 'बुभुक्षा' 'पिपासा' शब्दों से 'बुभुक्षितः' 'पिपासितः' शब्द बनाएँ गे, तो तद्धित 'इत' करना हो गा। चाहे कृदन्त वहाँ समझ लो, 'बुभुक्ष' तथा 'पिपास' सन्नन्त धातुओं से 'इत'। परन्तु हिन्दी में 'भूख' 'प्यास' धातु नहीं। इस लिए यहाँ इन से कृदन्त प्रत्यय का कोई संबन्ध ही नहीं। 'बुभुक्षा' तथा ' पिपासा' से 'भूख' 'प्यास' बन गए। 'प्यास' और 'भूख' को धातु बताना (और फिर सकर्मक धातु बताना) कितनी हिम्मत की बात है! हद है न!

शब्द-लिङ्ग

''यहाँ (हिन्दी में) प्रत्यय के अनुसार लिङ्ग निर्धारित नहीं होता। 'ठेठ हिन्दी में स्त्रीवाचक कई प्रत्यय हैं; यथा ई, इनि आदि।' सूत्र है!

'प्रत्यय के अनुसार हिन्दी में लिङ्ग निर्धारित नहीं होता' और 'ई' 'इनि' आदि 'हिन्दी में स्त्रीवाचक प्रत्यय हैं'! कैसी बात है? विवेचन!

ये 'ई' आदि प्रत्यय 'स्त्रीवाचक' हैं! 'स्त्री आ रही है' की जगह—''ई आ रही है'' कह सकते हैं! कारण, इन प्रत्ययों से लिङ्ग निर्धारित नहीं होता; ये केवल 'स्त्रीवाचक' हैं!

विशेषण के लिङ्ग-वचन—"हिन्दी में विशेषण-पदों में प्रायः परिवर्तन नहीं होता। हाँ, कहीं-कहीं संस्कृत के अनुसार इस प्रकार का परिवर्तन दृष्टि-गोचर होता है।" मतलब 'वनवासिनी सीता' आदि से है।

परन्तु हिन्दी के 'अपने' गठन में 'बड़ा लड़का' 'बड़े लड़के' 'बड़ी लड़की' ऐसे जो प्रयोग 'बड़ा' 'बड़े' 'बड़ी' होते हैं; सो क्या है? यह विशेषण में विशेष्य के अनुसार परिवर्तन नहीं है? यह भी संस्कृत के अनुसार है?

नूतन-निर्माण

भाषाविज्ञान के 'पण्डित' हिन्दी में नूतन निर्माण भी करते हैं। डा० बाबूराम सक्सेना ने अपने 'सामान्य भाषा-विज्ञान' नामक ग्रन्थ में 'ऐतिहासिक' और 'भौगोलिक' आदि की जगह 'इतिहासिक' 'भूगोलिक' जैसे शब्द चालू किए हैं! दैनिक को 'दिनिक' और 'वार्षिक' को 'वर्षिक' रूप आगे मिलेगा! 'वैय्याकरण' की जगह सक्सेना साहब ने 'वय्याकरण' शब्द पसन्द किया है! इस पसन्दगी को क्या कहा जाए? क्या कह कर इस की समीक्षा की जाए?

डा० सक्सेना ने अपने ग्रन्थ में भाषा के संबन्ध में बहुत सी भविष्य-वाणियाँ भी की हैं। उदाहरणार्थ, आप ने कहा है कि "ऐसे लक्षण जान पड़ते हैं कि संबोधन के बहुवचन का निरनुनासिक रूप उड़ जाए गा और अनुनासिक रूप ही चलेगा; क्योंकि पं० जवाहर लाल नेहरू अपनी स्पीचों में 'प्यारे भाइयों और बहनों' ही बोलते हैं!" कैसा सुदृढ़ हेतु दिया है अपनी सम्भावना में? जब हमारा सबसे बड़ा नेता वैसा बोलता है, तब भाषा बदलेगी कैसे नहीं? इसी तरह 'भूगोलिक' आदि शब्द ही आगे चलेंगे, 'भौगोलिक' आदि नहीं।

भाषाविज्ञानियों की ऐसी सम्भावनाओं पर हम क्या कहें? सब कुछ हो सकता है! भगीरथ ने गंगा का प्रवाह बदल दिया था! अब कोई पहाड़ पर फिर गंगा जी को क्या चढ़ा नहीं सकता? कहिए—"गंगा ऊपर हिमालय पर जा कर वहीं विलीन हो जाए गी, जहाँ से निकल रही है। संभावना यही है।"

हिन्दी में नपुंसक लिङ्ग!

'अपभ्रंश'-काल के प्रारम्भ में ही लोकभाषा ने नपुंसक लिङ्ग छोड़ दिया था। परन्तु भाषाविज्ञानी विद्वानों ने हिन्दी में—व्रजभाषा में—नपुंसक लिङ्ग की खोज कर ली है—"व्रजभाषा में कभी-कभी नपुंसक लिङ्ग मिलता है।

यहाँ पुल्लिङ्ग रूप 'मारनौ' ही नहीं; अपितु इस का नपुंसक लिङ्ग रूप 'मारनौं' भी मिलता है। साहित्यिक व्रजभाषा की अपेक्षा ग्रामीण व्रजभाषा में नपुंसक का ही रूप अधिक प्रचलित है।"

यानी अनुनासिक रूप नपुंसक लिङ्ग! तब तो 'सरसों' भी नपुंसक लिंङ्ग! और 'पानी' शब्द किसी नपुंसक लिङ्ग का बहुवचन हो गा! 'वनानि' की तरह 'पानी'! बढ़िया अनुसन्धान है! इसी तरह 'सोनो' का नपुंसक लिङ्ग रूप 'सोनों' बतलाया गया है! तब 'बीसों' 'पचासों' आदि भी नपुंसक लिङ्ग ही समझे जाएँ गे! 'अपनो' पुल्लिग और 'अपनों' नपुंसक लिङ्ग बतलाया गया है! पूछा जाए कि कैसे समझा कि 'करनौं' 'सोनों' 'अपनों' नपुंसक लिङ्ग हैं, तो डा० हार्नली, डा० टर्नर और डा० ग्रियर्सन का प्रमाण दें गे कि उन्होंने ऐसा लिखा है। कहें गे, 'क्या वे कम विद्वान् थे?—'कम विद्वान् हैं?' इस का क्या उत्तर दिया जाए?

प्रत्यय-विश्लेषण

अब जरा प्रत्ययों का निकास-विकास भी देखिए। कैसा काम भाषा-विज्ञानियों ने किया है! ओह!! हद है!!! हम ने अपने इस ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है, बिलकुल उलटा-पलटा जँचने लगता है, जब भाषा विज्ञान के व्याकरणीय अंश सामने आते हैं! परन्तु 'संस्कार' तो संस्कार ही होता है! बदलता नहीं है। तुलना करने के लिए कुछ सामग्री लीजिए।

१—'अ' प्रत्यय

चूँकि भाषाविज्ञानी लोग 'चकोर' 'घर' 'भात' 'बात' आदि शब्दों को अकारान्त नहीं, व्यंजनान्त मानते हैं; चकोर्, घर्, भात्, बात् जैसे रूप स्वीकार करते हैं; पर लिखने में अकरान्त ही 'घर में चकोर है' यों चलते हैं। तब सिद्धान्त-रक्षा कैसे हो? इस के लिए 'अ' प्रत्यय कायम किया गया है। कहते हैं, व्यञ्जनान्त 'चकोर्' 'घर्' आदि में लग कर यह प्रत्यय इन शब्दों को 'चकोर' 'घर' जैसा अकारान्त बना देता है! जैसे संस्कृत में 'राम' शब्द के आगे विभक्ति लग कर 'रामः' बन जाता है। यानी 'घर्' आदि हिन्दी के 'प्रातिपदिक' हैं और 'घर' आदि हैं 'पद'! यह है भाषा-विज्ञान!

परन्तु पूछा जाए कि 'चकोर' तो पहले से ही अकारान्त है; तब यह व्यंजनान्त कैसे हो गया? हो गया था, तो फिर वैसा ही चलता! फिर उसे अकारान्त करने के लिए 'अ' प्रत्यय की कल्पना क्यों? इस का कुछ जवाब

नहीं ! 'गृह' अकारान्त है, तब उस से विकसित 'घर' व्यंजनान्त कैसे हो गया ? उसे फिर स्वरान्त करने के लिए यह 'अ' की कल्पना कैसी ? प्रश्न बेकार ! 'विवेचन' है !

हम ने लिखा है कि 'वार्ता' 'जंघा' आदि संस्कृत शब्दों को हिन्दी जब तद्भव रूप में आत्मसात् करती है, तो अन्त्य स्वर ह्रस्व कर देती है, जिस से कि तद्भव पुल्लिङ्ग का भ्रम न हो। परन्तु भाषा-विज्ञानी लोग यहाँ भी 'अ' प्रत्यय करते हैं और उस से 'बात' 'जाँघ' आदि बनाते हैं ! शब्द-विकास (निरुक्त) तथा व्याकरण का समन्वय ! पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग का भी कोई भेद नहीं। जरूरत हो, न हो, 'अ' प्रत्यय जरूर लगे गा !

कोई-कोई भाषाविज्ञानी 'घर' का विकास 'गृह' से नहीं, 'ग्वहोरो' से मानते हैं, जिस का अर्थ 'आग' 'गर्मी' 'चूल्हा' है। यानी जहाँ आग या गर्मी हो, यानी जहाँ चूल्हा जले, वह 'घर' ! 'ग्वहोरो' के अन्त्य 'ओ' का लोप और फिर यह 'अ' प्रत्यय !

इसी 'अ' प्रत्यय से 'जाँच' 'समझ' 'पहुँच' आदि भाववाचक संज्ञाएँ भी निष्पन्न बतलाई गई हैं !

२—'अता'-'अती' प्रत्यय

चूँकि 'पढ़' 'दौड़' आदि धातुओं को भी व्यंजनान्त (हलन्त) माना गया है; इस लिए 'पढ़ता'-'दौड़ता'-'पढ़ती'-'दौड़ती' आदि के लिए 'अता'-'अती' प्रत्यय रखे गए हैं ! परन्तु सोता-सोती, रोता-रोती, पीता-पीती आदि में 'अता'-'अती' के 'अ' का क्या हुआ ? लोप हो गया हो गा ! या फिर यहाँ 'ता'-'ती' सही ! बात क्या है ?

३—'अन्' प्रत्यय

'चलन' 'झाड़न' आदि बनाने के लिए 'अन्' प्रत्यय रखा गया है। व्यंजनान्त 'चल्' आदि में लग कर 'चलन्' और फिर इस 'चलन्' में वही (उपर्युक्त) 'अ' प्रत्यय—'चलन' ! कैसी गंभीर विवेचना है ?

४—'अन्त्' प्रत्यय

'रटन्त' 'गढ़न्त' आदि के लिए यह 'अन्त्' प्रत्यय है। 'रटन्त्' में फिर वही 'अ' प्रत्यय। 'रट्' धातु; रट्+अन्त्+अ = रटन्त् ! समझे ?

५—'आ' प्रत्यय

नीचा, ऊँचा, कौआ, सुआ आदि की सिद्धि के लिए 'आ' प्रत्यय रखा गया है और इस की उत्पत्ति 'आक' से बताई गई है—'आक' के 'क' का लोप कर के। यह 'आक' संस्कृत के 'युष्माक'–'अस्माक' से निकाला गया है, जो कि 'युष्माकम्' 'अस्माकम्' के अंश हैं। 'युष्माक' 'अस्माक' में भी 'आक' प्रत्यय है! 'युष्म'+आक = 'युष्माक' और अस्म+आक='अस्माक'!

परन्तु 'युष्माकम्'–'अस्माकम्' तो पुंस्त्री–नपुंसक तीनों लिङ्गों में एक से चलते हैं और यह 'आ' प्रत्यय केवल पुल्लिङ्ग में चलता है—स्त्रीलिङ्ग में नहीं! यह भेद कैसे हो गया? उँह! हो गया हो गा! ऐसी छोटी-छोटी बातों में भाषाविज्ञानी नहीं उलझते।

हम ने तो 'आ' को पुंप्रत्यय माना है और इसी के प्रयोग-बाहुल्य से 'खड़ी-बोली' नाम पड़ा हिन्दी का; यह लिखा है। 'भाषाविज्ञान' गहराई में उतरा है!

६—'आप्' प्रत्यय

'मिलाप' आदि के लिए 'आप्' प्रत्यय है। मिल्+आप्+अ=मिलाप। इस 'आप्' प्रत्यय का विकास डा० टर्नर आदि ने संस्कृत के 'त्व' से बतलाया है। 'त्व' से 'त्प' और 'त्प' को 'प्प'। इसी 'प्प' के पूर्व 'आ' आ लगा और 'प्' का लोप हो गया। बन गया–'आप'!

डा० टर्नर का परिचय यह कि डा० बाबूराम सक्सेना आदि के विद्यागुरु। और डा० सक्सेना की शिष्य-परम्परा में डा० उदयनारायण तिवारी आदि हैं।

वैसे 'विलाप' 'प्रलाप' 'आलाप' 'संलाप' आदि के वजन पर हिन्दी ने 'मिलाप' बना लिया हो; यह बात भी साधारण जन समझ सकते हैं। इस तरह भाषा में शब्द गढ़ने की चाल देखी भी जाती है—'दहला' के वजन पर 'नहला'। 'दस' में तो 'स' है, 'ह' हो गया। परन्तु 'नौ' में कहाँ वैसी कोई चीज है? स्पष्टतः 'दहला' के वजन पर 'नहला' है। इसी तरह हिन्दी ने सुप्रचलित 'विलाप' आदि के वजन पर 'मिलाप' बना लिया; ऐसा मेरे जैसे साधारण व्यक्ति का विचार। परन्तु यह इतनी उथली चीज है कि 'भाषाविज्ञान' के गाम्भीर्य में क्षुद्र समझी जाए गी!

७—'आर' प्रत्यय

'चमार' 'सुनार' आदि के लिए 'आर' प्रत्यय ठीक ही है और इस का विकास भी संस्कृत 'कार' से ठीक; परन्तु भाषाविज्ञानियों ने 'कहार' में भी यही प्रत्यय माना है और व्युत्पत्ति दी है—'स्कन्धकार' से ! यानी कहार लोग कन्धे बनाया करते हैं ! जब 'लुहार 'सुनार' आदि 'कार'-परम्परा में हैं, तो 'कहार' ही क्यों 'हार' अपने सिर ले ! यद्यपि वह कन्धे से बोझ ढोता है—'स्कन्धेन हरति'—'स्कन्धहार' है; परन्तु फिर भी उसे अलग क्यों किया जाए ! जैसे 'कुम्हार', उसी तरह 'कहार'। 'यथा कर्तरि तथा शब्दरि' ! 'अस्माकं तु भाषाविज्ञानिनां शब्दरि प्रयोजनम्, नत्वर्थरि' !

८—'आरी' प्रत्यय

'भंडार' 'कोठार' आदि से 'आरी' प्रत्यय कर के 'भंडारी' 'कोठारी' आदि शब्द सिद्ध किए गए हैं। 'भंडारारी' 'कोठारारी' शब्द इस लिए नहीं बने कि प्रकृति के 'र' का लोप हो गया है ! केवल 'ई' प्रत्यय से काम चल सकता था; परन्तु गम्भीरता न आ पाती !

९—'वाल' और 'वाला'

'प्रयागवाल' 'अग्रवाल' आदि में जो 'वाल' है, उस की व्युत्पत्ति संस्कृत 'पाल' से बतलाई गई है और 'गाड़ी वाला' 'ठेलेवाला' आदि में जो 'वाला' है, उस की व्युत्पत्ति 'पालक' से बतलाई गई है। पालक>वालअ >'वाला'! 'प' को वैसे 'ब' प्रायः हुआ करता है; परन्तु यहाँ विशेष स्थिति होने से 'व' ही समझिए !

१०—'सर' 'सरा'

'दूसर' 'दूसरा' आदि में दृष्ट 'सर' 'सरा' की उत्पत्ति डा० हार्नले के अनुसार कुछ भाषा-विज्ञानी संस्कृत 'सृतः' से मानते हैं और कुछ डा० चटर्जी के मतानुसार संस्कृत 'सर' से मानते हैं, जो 'सृ' धातु से ही बना है। 'सृ' का अर्थ है 'रेंगना'। 'दूसरा' आदि रेंगते हैं न !

'खँडहर' 'पीहर' आदि के लिए 'हर' प्रत्यय माना गया है ! हम लोग यहाँ कोई प्रत्यय-कल्पना न कर के शब्द-विकास समझा देते हैं। भाषाविज्ञानी लोग इस 'हर' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'मधुर' से मानते हैं !

हम लोग इसे 'समास' का विषय समझते हैं—खंड खंड जो घर हो गया हो, वह 'खँडहर'। 'घ' से अल्पप्राण (ग्) उड़ गया। पिता का घर-'पीहर'। परन्तु समास और सन्धि इतने अलक्षित हैं कि यह निरुक्त का विषय बन जाता है। गहरे 'भाषाविज्ञानी' दूसरे ढँग से सोचते हैं! वे 'मधुर' पसन्द करते हैं।

राष्ट्रभाषा में भी नपुंसक लिङ्ग !

व्रजभाषा में नपुंसक-लिङ्ग शब्द 'करनौं' 'सोनौं' आदि भाषाविज्ञानी बतलाते ही हैं; राष्ट्रभाषा (हिन्दी) में भी उन लोगों ने नपुंसक-लिङ्ग खोज निकाला है—"यद्यपि हिन्दी में नपुंसक लिङ्ग नहीं है; परन्तु प्रकृत्यनुसारी पुल्लिङ्ग एवं नपुंसक-लिङ्ग का थोड़ा सा भेद कर्मकारक के परसर्ग 'को' के प्रयोग में अवश्य दिखाई देता है।"

भाषाविज्ञानी लोगों ने 'विभक्ति' का नया नाम 'परसर्ग' और कहीं 'अनुसर्ग' रखा है!

अच्छा, नपुंसक लिङ्ग देखिए—"साधारणतया कर्मकारक के परसर्ग 'को' का अप्राणिवाचक शब्दों के साथ प्रयोग नहीं किया जाता। हिन्दी के वाग्-व्यवहार के अनुसार 'धोबी को बुलाओ' 'गाय को खोल दो' तो कहते हैं; परन्तु 'कपड़ों को लाओ' 'घास को काटो' न कह कर 'कपड़े लाओ' 'घास काटो' ही कहा जाता है।"

सो, इस से हिन्दी में प्रकृत्यनुसारी पुल्लिङ्ग-नपुंसक-लिङ्ग का भेद दिखाई देता है; भले ही थोड़ा सही! खोज है! समझने वाले चाहिए!

कदाचित् अप्राणिवाचक शब्दों को नपुंसक-लिङ्ग बतलाया गया है! यह 'प्रकृत्यनुसारी' है! संस्कृत में तो जड़ पदार्थ भी पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग होते हैं। और, यदि 'को' के न लगने से ही अप्राणिवाचक शब्दों में नपुंसक लिङ्ग दिखाई देता है, तो फिर 'कन्या ने वर खोज लिया' में 'वर' भी नपुंसक ठहरता है! पर इस से 'भाषाविज्ञानी' को क्या मतलब!

अव्ययों का विकास

अव्ययों का विकास भाषाविज्ञान वालों ने कैसा समझा-समझाया है; सो भी देख लीजिए। सब तरह के नमूने चाहिए।

'यहाँ' अव्यय की व्युत्पत्ति संस्कृत 'यो' से 'इहा' प्रत्यय कर के बतलाई गई है ! 'इहा' क्या है ! और 'यो' के आगे 'इहा' रख देने पर भी 'यहाँ' कैसे बन गया ? 'अहाँ' करते तब तो कोई बात भी थी ।

वस्तुतः 'इह' का विकास 'इहाँ' है, जैसे 'कुह' का 'कहाँ'। इन्हीं की पद्धति पर 'जहाँ' आदि ढले। 'इहाँ' के 'इ' को 'य' कर के 'यहाँ'। अवधी में 'इहाँ'-'उहाँ' रूप चलते हैं—'इहाँ-उहाँ दुइ बालक देखे।' 'उहाँ' के 'उ' को 'व' हो गया—'वहाँ'। यह स्वाभाविक शब्द-विकास है, जो 'निरुक्त' का विषय है। इन 'यहाँ' 'वहाँ' आदि स्वतः-सिद्ध शब्दों को प्रकृति-प्रत्यय रूप से विभक्त कर के भाषा को सुबोध बनाना व्याकरण का काम है। 'यहाँ' 'वहाँ' आदि को 'यह' 'वह, आदि सर्वनामों से सिद्ध करने से अर्थ-बोध में सुगमता हो जाती है। इसी लिए 'अहाँ' प्रत्यय कल्पित कर के 'यह' आदि से 'यहाँ' आदि अव्यय व्याकरण में बनाए जाते हैं—स्वतः-सिद्ध शब्दों को प्रकृति-प्रत्यय विभाजन द्वारा समझाया जाता है। भाषा-विज्ञान में प्रत्यय-कल्पना नहीं की जा सकती; यह व्याकरण का विषय है। कुछ प्रासंगिक कहना ही है, तो ठीक; परन्तु तर्क-संगत कहना चाहिए। 'यो+इहा = 'यहाँ' जैसी बातें ठीक नहीं।

'यहाँ' 'कहाँ' आदि को किसी-किसी भाषा-विज्ञानी ने 'यो × स्मिन्= 'यहाँ' और 'क'+स्मिन्=कहाँ' जैसी पद्धति पर भी समझा-समझाया है ! यानी संस्कृत अधिकरण की 'स्मिन्' विभक्ति से सब हिन्दी अव्यय बन गए। और 'यो' से 'यहाँ' बने गा, तो अर्थ हो गा—'जिस जगह'। 'यो' मानें 'जो'। तब 'जहाँ' किस लिए ?

'बहुत' को भी अव्यय माना गया है और संस्कृत 'बहुत्व' से इस की व्युत्पत्ति दी गई है !

'नहीं' अव्यय की व्युत्पत्ति 'न+अहइ=नहीं' दी गई है ! 'राम नहीं है' कहना हो, तो कह दीजिए—'राम नहीं'। 'अहइ' तो 'नहीं' में विद्यमान है ही ! वस्तुतः न+ही='नहीं' है। 'न' और 'नहीं' का प्रयोग भेद हम पीछे अव्यय-प्रकरण में समझा आए हैं।

बस, ऐसा ही विवेचन (हिन्दी के) 'भाषाविज्ञान'-संबन्धी ग्रन्थों में है। नमूने के लिए इतना पर्याप्त है। व्याकरण के प्रसंग में स्मरण जरूरी था।

ह्रस्व, दीर्घ आदि

हिन्दी के भाषाविज्ञानियों ने ह्रस्व-दीर्घ आदि स्वरों को भी कैसा गोरखधन्धा बना दिया है, देखने की चीज है। 'भोजपुरी' का विश्लेषण करते समय प्रसंग से 'मगही' पर विचार चल रहा है—

"मगही में भी संज्ञा के तीन रूप होते हैं—(१) ह्रस्व (२) दीर्घ (३) अनावश्यक अथवा अतिरिक्त। यथा—ह्रस्व घोरा (घोड़ा), दीर्घ घोरवा, अनावश्यक अथवा अतिरिक्त घोरौआ। ह्रस्व के भी निर्बल तथा सबल दो रूप होते हैं। यथा निर्बल घोर्, सबल घोरा।"

कुछ समझे ? 'घोरा' और 'घोरवा' ठीक; पर 'घोरौआ' अनावश्यक है! भाषा में चलता है; पर 'भाषाविज्ञान' उसे अनावश्यक समझता है!

और भी देखा ? 'घोरा' ह्रस्व है; पर 'सबल'! सबलता क्या चीज है ? हम लोग तो 'घोड़ा' और 'घोरा' को एक-जैसा दीर्घान्त शब्द समझते हैं। दोनो जगह 'आ' है। पर 'भाषाविज्ञानी' 'घोरा' के 'आ' को 'सबल ह्रस्व' कहता है! और 'भाषाविज्ञान' व्यंजनों को भी 'ह्रस्व' 'दीर्घ' मानता है! 'घोर्' का 'र्' 'निर्बल-ह्रस्व' है!

'कारक' विवेचन

भाषाविज्ञान वालो का कारक-विवेचन भी अलौकिक है। दुनिया भर की भाषाओं में कारक छह ही होते हैं, न कम न ज्यादा। परन्तु [illegible] प्रकट करने के ढंग अलग-अलग हैं। हिन्दी के भाषाविज्ञानी कुछ और कहते हैं! वे हिन्दी में 'आठ कारक' मानते हैं और कहीं पाँच, कहीं तीन ही; और 'मैथिली' में वे एक ही कारक मानते हैं! लिखा है—

"इस (मैथिली) में एक ही कारक—करण—मिलता है, जो 'एँ' संयुक्त कर के सम्पन्न होता है। यथा 'नेनें'—लड़के के द्वारा।"

ओ मिथिला विद्वद्-भूमि के माइयो, आप की बोली में कर्ता, कर्म, अपादान, अधिकरण होते ही नहीं ? क्या कमाल ? आप न [illegible] हैं, न कभी घर-द्वार से बाहर ही होते हैं, न कोई किसी को कुछ देता ही है और न कोई कहीं धरती-आकाश में रहता ही है! जब कर्ता ही नहीं, कर्म ही नहीं, तब 'करण' कैसे आ [illegible]! 'राम चाकू से कलम बनाता है' कहें, तभी तो उसे 'चाकू' कहा जाए या न!

केवल 'करण' का क्या उपयोग ? किस का वह करण-उपकरण ? किसी भी नहीं ? अजब समस्या है !

जो भाषाविज्ञानी हिन्दी-व्याकरण में भी बढ़े-चढ़े समझे गए हैं, उन्हीं ग्रन्थों से मैं ने ऊपर कुछ नमूने दिए हैं।

अनुशासन के मार्ग में,
उचित उखाड़ - पखाड़ ।
माली कैसे बाग में,
सहे झाड़ - झंखाड़ ?

इति

जय हिन्दी—जय नागरी